

भ

भक्ति आंदोलन-1

उद्गम संबंधी विवाद

(Bhakti Movement-1)

भारतीय भक्ति आंदोलन के सामाजिक-सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य की व्यापकता और गहराई को ठीक-ठीक समझे बिना भारतीय समाज में उससे होने वाले परिवर्तनों का आकलन नहीं किया जा सकता। भक्ति आंदोलन के पीछे एक सुदीर्घ पृष्ठभूमि है— और दार्शनिक विचारधारात्मक संघर्ष की एक महत्वपूर्ण गाथा। हमारे समाज को वर्तमान रूपाकार देने में भक्ति आंदोलन द्वारा किये गये नवजागरण की केंद्रीय भूमिका रही है। नवजागरण तथा सुधार आंदोलनों की पृष्ठभूमि में भक्ति आंदोलन को भलीभाँति समझना आज आवश्यक है। नवजागरण की अनेक चिंताएँ हमारे भक्ति आंदोलन की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में समझी जा सकती हैं। भक्ति की अखण्ड परम्परा ने अखिल भारतीय रूप धारण कर दक्षिण तथा उत्तर को एकता के सूत्र में दृढ़ता से बाँध दिया। हिंदी-क्षेत्र में तो नवजागरण का पहला प्रबल दौर ही भक्ति एवं भक्ति आंदोलन की चेतना से शुरू होता है। भक्ति आंदोलन की अनेक परिणतियाँ लोक-चित्त में लोक-धर्म बनकर घुल-मिल गयीं। इसलिए आगे की राजनीतिक-सांस्कृतिक घटनाओं पर उनका गहरा प्रभाव पड़ा। यही कारण है कि आज भक्ति आंदोलन को एक महा-आख्यान मानकर उसके पाठ के अनेक भाष्य जरूरी हैं। स्वाधीनता संग्राम में भक्ति संवेदना हमारे नेताओं-समाज सुधारकों के लिए अनिवार्यतः प्रेरणा स्रोत रही है।

अलग-अलग वैचारिक प्रस्थानों ने भक्ति आंदोलन

से जुड़े अनेक तर्क और प्रतिमान निर्मित किये हैं। इसीलिए भक्ति आंदोलन की व्याख्याएँ महत्वपूर्ण हैं। इस आंदोलन की 'सही व्याख्या' को लेकर विवाद भक्ति आंदोलन के आदि-मध्य और अंत तक फैला हुआ है। विद्वानों में न तो भक्ति आंदोलन के उदय पर राय बन पायी है न उसके अवसान के कारणों का विवेकसम्मत भाष्य हो पाया है। हमारे मूर्धन्य विद्वान प्रायः इस जटिल समस्या से टकराते रहे हैं और कोई समाधान नहीं पा सके। उधर पश्चिम के विद्वानों ने योजनाबद्ध होकर यह विचार प्रचारित किया कि भक्ति भारतीय साहित्य को ईसाइयों की देन हैं। इस क्षेत्र में मैक्स वेबर से लेकर ग्रियर्सन तक सक्रिय रहे हैं। विद्वत्ता की इस प्रवृत्ति ने श्वेतद्वीप की चर्चा के साथ कृष्ण को क्राइस्ट का रूपांतर दिखाने की कोशिश की है। अपने विचारों की पुष्टि के लिए विद्वानों ने तमाम कहानियाँ खोज निकाली हैं।

दूसरी तरफ़ इन विद्वानों ने वेदों में भक्ति की मौजूदगी देखने से तो इनकार किया ही, प्राग्वैदिक काल की प्रकृति-पूजा और देव-पूजा पर भी ध्यान नहीं दिया। सातवीं शताब्दी में इस्लाम जब भारत पहुँचा तो उस समय दक्षिण भारत में आलवार भक्तों का आंदोलन पूरी शक्ति से चल रहा था। लेकिन सर चार्ल्स एलियट ने 1921 की अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *हिंदुइज़म ऐंड बुद्धिज़म* में यह विचार प्रचारित किया कि रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, लिंगायत तथा वीर शैवों पर इस्लामी प्रभाव हो सकता है। डॉ. ताराचंद ने दो क्रम और आगे बढ़कर अपनी पुस्तक *इंप्यूज़ंस ऑफ़ इस्लाम ऑन इण्डियन कल्चर* में यह मत व्यक्त किया कि शंकराचार्य, निम्बार्काचार्य, रामानंद, वल्लभाचार्य, दक्षिण के आलवार संत, लिंगायत सम्प्रदाय तथा वीर शैव इस्लामी प्रभाव की देन हैं। इसी लीक को हुमायूँ कबीर ने अपनी पुस्तक *अवर हेरिटेज़* में अपनाया। यह जोर-शोर से कहा गया कि शंकर

ने अपना अद्वैतवाद इसलाम से लिया। यानी भक्ति आंदोलन भी इसलाम की देन ही हुआ। इसी परम्परा में डॉ. आबिद हुसैन ने *भारत की राष्ट्रीय-संस्कृति* पुस्तक लिखकर यह मत स्थापित किया कि भारतीय संस्कृति पर मुसलमान संस्कृति का बहुत दूर तक गहरा प्रभाव पड़ा। यह अलग बात है कि भारतीय चिंतन परम्परा जानती है कि शंकराचार्य का जन्म आठवीं शताब्दी में हुआ था और भक्ति आंदोलन का आरम्भ आलवारों के काव्य के रूप में उससे काफी पहले हो चुका था। खोजने पर पता चलता है कि भक्ति परम्परा प्राग्वैदिक है। अद्वैत और भक्ति आंदोलन भारतीय-संस्कृति के प्राण-प्रवाह रहे हैं। कभी-कभार यह भी दबी जुबान से कहा जाता है कि भक्ति आर्य भी है, अनार्य भी है और सामी भी। भक्ति का रागात्मक विस्तार हृदय की मुक्तावस्था है जो बुद्धि की कर्कशता को पछाड़ती रही है। इसका कारण है कि भारत में इसलाम के उदय के पूर्व भारत के मंदिर देवपूजा, बहुदेववाद, मूर्तिपूजा के केंद्र थे और इनमें भक्ति का प्रवाह प्रवाहित था। शंकर का एकेश्वरवाद भारतीय अद्वैतवाद का विकसित रूप है— इसका इसलामी एकेश्वरवाद से संबंध जोड़ना उचित नहीं है। इसलाम एक ईश्वर को मानता जरूर है, किंतु वह न अद्वैतवादी है और न एकेश्वरवादी। हाँ, सूफियों को यह ज्ञान ब्राह्मण में तथा नव-अफ़लातूनी मत से मिला। बौद्धों ने भी इसे सुलभ बनाया।

शंकराचार्य के पूर्वज बौद्ध दार्शनिक थे। शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध माना भी जाता है। शंकर ने बौद्ध धर्म की बहुत सी बातों को चुपके से अपना लिया। इसलिए वे प्रच्छन्न बौद्ध कहलाये और उन्हें दार्शनिक वसुबंध के विचारों से जोड़ा गया। शंकर-मत के मायावाद को बौद्धों के शून्यवाद की ही तरह ग्रहण किया जा सकता है, क्योंकि शंकर की ब्रह्मकल्पना भक्तों के लिए निराशाप्रद है। यही कारण है कि भक्तिकाल के चार बड़े आचार्यों ने शंकर-मत का प्रतिवाद किया। रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य और निम्बार्काचार्य ने निराकार-उपासना से दूर हट कर साकार-उपासना का प्रचार-प्रसार किया। शंकराचार्य ने उपनिषदों को पुनर्नवा करके उनका नया भाष्य किया। शंकर ने शिव, शक्ति, सूर्य एवं विष्णु पर स्त्रोत भी लिखे। शंकर सुधारक संत थे और प्रचण्ड बौद्धिक।

दक्षिण भारत में जैन-बौद्ध-वैष्णव संघर्ष का एक प्रबल इतिहास रहा है। शंकराचार्य की पीठ पर वैष्णव आचार्य रामानुज और मध्वाचार्य का जन्म होना स्वाभाविक था, क्योंकि सगुणोपासना के लिए शुद्धाद्वैत की आवश्यकता थी। लेकिन इसके पीछे इसलाम का हाथ न था— बौद्धों का आग्रह था। समझा जाता है कि शंकर ने बदरिकाश्रम, द्वारका, जगन्नाथपुरी तथा शृंगेरी में चार पीठों की स्थापना करके सांस्कृतिक एकता की स्थापना की। दूसरी तरफ़ विष्णुस्वामी, रामानुज, निम्बार्क,

मध्व तथा वल्लभाचार्य ने सगुण साकारोपासना का मार्ग खोला जिसने लोक-हृदय को गहराई से प्रभावित किया। इन आचार्यों ने जिस मार्ग का प्रचलन किया, उसमें धर्म के बाह्य उपचार गौण थे और जाति-प्रथा की कठोरता नहीं थी। इन चारों आचार्यों ने अपने-अपने तरीके से प्रपत्तिवाद और शरणागति को प्रधानता दी। जाति-प्रथा की कठोर कड़ियाँ तो बौद्ध-श्रमण ढीली कर ही चुके थे। फिर भक्तों ने उसे अतिशय उदार बना कर मानवतावादी रूप दिया। इस विवरण से स्पष्ट है कि अगर भारत में इसलाम न आता तो भी भक्ति-आंदोलन चलता तथा सिद्ध-नाथ धूनी रमाते। निर्गुण संतों ने गुरु-परम्परा सिद्धों से पायी जिसे आगे चलकर सूफ़ियों ने भी अपनाने में संकोच नहीं किया। ज़ाहिर है कि भक्ति आंदोलन न आसमान से टपका था, न इसलाम का परिणाम था। वह तो गीता-आलवार संत और रामानुजाचार्य के बीच का प्रवाह था। इसी प्रवाह ने भारतीय चित्त को सींच कर हरा-भरा किया।

आलवार-नायनार संतों-भक्तों-कवियों का प्रेम-दर्शन विष्णु और शिव संबंधी चिंतन-प्रवाह से प्रकट हुआ था। दूसरे दक्षिण में उत्तर-भारत की तरह वेद-विरोधी आंदोलनों की हवा नहीं थी। इसी ने दक्षिण को हिंदू लोक-धर्म का गढ़ बनाया। आलवार संतों पर मुसलमानी प्रभाव खोजना एक तरह की कपोल-कल्पना है। वे तो लोक-मंगल की भावना से प्रेरित होकर तीर्थ-यात्रा, व्रत-उपवास, मूर्ति पूजा की निंदा करते हैं। इन संतों का समय तीसरी शताब्दी से नवीं शताब्दी तक है। ध्यान रखना होगा कि भारत में आलवार संतों की परम्परा उस समय शुरू हुई थी जब अरब में इसलाम का जन्म भी नहीं हुआ था। भक्ति के बीज महाभारत-गीता से आये थे। इन्हीं बीजों ने रामानुजाचार्य में अंकुरण-पल्लवन पाया। गीता और रामानुजाचार्य के बीच भक्ति-प्रवाह आलवार भक्तों के रूप में प्रवाहित रहा। वहाँ यह आंदोलन शैव और वैष्णव, दोनों तरह के भक्तों के बीच प्रवाहित था। वहाँ वेद विरोधी आंदोलन किनारे चले गये। रामानंदी तथा वल्लभाचार्य संतों-कवियों की इस-परम्परा पर आलवारों का प्रवाह कम करके न आँकना चाहिए। इसी परम्परा के सुधारकों ने अगड़ी जातियों के कुलीनतावाद-ब्राह्मणवाद की निंदा की। उनके सृजन में इस आक्रोश की अभिव्यक्ति हुई है। अंदाल की गिनती आलवार संतों में है। अस्पृश्य जाति के भी कई संत थे। ईश्वर-भक्ति के लिए उच्चवंश में पैदा होना आवश्यक नहीं है। भक्ति उन्मुक्तता, समानता और बंधुता का क्षेत्र है। इसीलिए भक्ति-दर्शन में प्रेम की महिमा अपरम्पार है। भागवत की यह उक्ति कि भक्ति का जन्म द्रविड़ देश में हुआ, इतिहास-संगत है।

वीर शैव भक्ति-दर्शन में विशेष महत्त्व रखते हैं। ये संत लिंगायत धर्म के अनुगामी थे। इनका दावा रहा है कि शैव धर्म अन्य सभी धर्मों की तुलना में सबसे प्राचीन धर्म है। वीर

शैवों में यज्ञ, पूजा, उपवास का महत्त्व नहीं है। इस धर्म के नेता वसव थे जो जात-पाँत का विरोध करते थे। वीर-शैवों की परम्परा कन्नड़ साहित्य में दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी तक जाती है। लेकिन इनका साहित्य तमिल और तेलुगु में भी कम नहीं है। परम शिव में विश्वास रखने के कारण ये आनंदवादी हैं और संन्यासी सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक भी।

भक्ति आंदोलन तथा भक्ति की प्राचीनता के लिए लोक में प्रचलित दोहे को न भूलें 'भक्ती द्राविड़ रूपजी, लाये रामानंद। परगट किया कबीर ने सात द्वीप नौ खण्ड।' इसी भाव से भरा संस्कृत श्लोक है, 'उत्पन्ना द्राविड़े चाहं कर्णाटे वृद्धि मागता। स्थिता किंचिन्महातत्त्वे गुर्जरे जीर्णतां गता' अर्थात् द्राविड़ देश में जन्मी, कर्नाटक में यौवन को प्राप्त हुई, कुछ समय महाराष्ट्र में रही और गुजरात में पहुँचकर वृद्ध हो गयी।' विद्वान मानते हैं कि भागवत की रचना आठवीं-नवीं शताब्दी में हुई। भक्ति तत्त्व को विष्णु पुराण, देवी पुराण, शिव पुराण आदि पुराणों में स्थान दिया। यह ठीक है कि भक्ति के प्रमाण वेदों में नहीं है लेकिन प्राग्वैदिक प्रमाण मौजूद हैं। आर्य बहुदेववाद में इंद्र, वरुण, आदित्य के लिए यज्ञ करते थे। पीछे से भागवत ने शरणगति-सिद्धांत, प्रपत्ति-सिद्धांत का प्रतिपादन किया जिसका उपदेश भक्ति आंदोलन के चारों बड़े आचार्यों रामानुज, मध्व, निम्बार्क, वल्लभ ने किया है। परम विद्वान काणे ने धर्मशास्त्रों के इतिहास में माना है कि धर्म का अवधारणा के रूप में— भक्ति के रूप में, चलन ई.पू. दूसरी शताब्दी में हुआ। फिर पांचरात्र आगम में गोपालकृष्ण और वासुदेव का एकाकार होना मिलता है। इस तरह भक्ति भारत में ईश्वर में परम अनुरक्ति के रूप में रही है। इसलिए भक्ति पर किसी प्रकार का विदेशी प्रभाव मानना गलत है। यह भी कहा जा सकता है कि उपनिषदों की बौद्धिकता से थके लोग सगुण-साकार वासुदेव की उपासना करने लगे। निगम-आगम, शिव-शक्ति, विष्णु में रमे रहे। आलवारों के बारह संतों की मूर्तियाँ दक्षिण के मंदिरों में स्थापित की गयी तथा नाथमुनि के 'तमिल दिव्य-प्रबंधन' (चालीस हजार पद) को भक्ति का प्रमुख ग्रंथ माना गया। 'प्रबंधन' के विचारों को वैष्णव आचार्यों ने उत्तर भारत में पहुँचाया। यामुनाचार्य (916-1040) ने विशेषतया द्वैत सम्प्रदाय का प्रथम विवेचन किया और उसके बाद इस सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा रामानुजाचार्य ने की। उन्होंने द्विजों के साथ शूद्रों के भी वैष्णव धर्म में आने का मार्ग खोल दिया। रामानुज की परम्परा में रामानन्द आये। रामानंद ने कबीर तथा तुलसी की दोनों निर्गुण-सगुण परम्पराओं का सूत्रपात किया। रामानुज के तीन ग्रंथ (1) वेदांत-संग्रह (2) गीता की टीका तथा (3) वेदांत-सूत्र का श्रीभाष्य ने रामानंद में नया स्वरूप धारण किया।

प्रस्थानत्रयी (ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् तथा भगवद्गीता) के प्रति आस्थावान रामानुज तथा रामानंद ईश्वर को जीव एवं

प्रकृति से एकाकार मानते हैं। स्वामी रामानंद (1299 ई. प्रयाग) ने श्री सम्प्रदाय की दीक्षा काशी में राघवानंद से ली थी। श्री सम्प्रदाय विष्णु और लक्ष्मी की पूजा, रामावतार में विश्वास रखता है। रामोपासना के प्रवर्तक आचार्य रामानंद हैं— इनका सम्प्रदाय 'रामावत-सम्प्रदाय' कहलाता है, परम विशिष्टाद्वैतवाद रामभक्त सम्प्रदाय। रामानंद ने शूद्रों तथा मुसलमानों को वैष्णव मंदिरों में प्रवेश का अधिकार दिया। साथ ही रामानंद ने प्रस्थानत्रयी के भाष्य लिखे। उनकी ब्रह्मसूत्र की टीका 'आनन्द भाष्य' नाम से प्रसिद्ध है। ब्रह्म को 'ब्रह्मशब्दवाच्य राम' कहा और उसे निर्गुण-सगुण दोनों माना। ध्यान रहे रामोपासना का आरम्भ आलवार भक्तों ने किया था, रामानुज तथा रामानंद ने उसे निखार दिया है। तमिल रामायण पहले लिखी गयी, हिंदी में रामायण बाद में। कबीर ने राम की परिकल्पना में परिवर्तन किये निर्गुण की उपासना की। तुलसीदास में राम पूरी सर्जनात्मकता के साथ अपने सगुण में सामने आये।

देखें : अष्टछाप, 'अंग्रेजी हटाओ' आंदोलन, छायावाद, डायग्लॉसिया, नगेंद्र और सैद्धांतिक समीक्षा, नयी कविता, नंद दुलारे वाजपेयी, नामवर सिंह, प्रेमचंद, प्रयोगवाद, प्रगतिवाद, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, भक्ति-काव्य-1 और 2, भारतेंदु हरिश्चंद्र, भारतेंदु युग-1 और 2, भाषा नियोजन-1 से 4 तक, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, महावीर प्रसाद द्विवेदी, महादेवी वर्मा, मीराबाई और प्रेमाभक्ति, राहुल सांकृत्यायन, रामानुजाचार्य, रामानंद, रामचंद्र शुक्ल-1 और 2, रामविलास शर्मा, राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता, रीतिकाल-1 और 2, विजय देव नारायण साही, वैष्णव धर्म, श्याम सुंदर दास, सम्पर्क भाषा-1 से 4 तक, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1, 2 और 3, सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय, संत-काव्य, संस्कृत काव्यशास्त्र, सिद्ध-नाथ परम्परा, सूफीयत और प्रेमाख्यान, हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिंदी विरोधी आंदोलन, हिंदी जाति-1, 2 और 3, हिंदी साहित्य का आदिकाल, हिंदी साहित्य का इतिहास, हिंदी साहित्य का इतिहास : नये परिप्रेक्ष्य, हिंदी-पद्य में इतिहास, हिंदी-जगत और 'लोकप्रिय'-1 और 2, हिंदी नवजागरण, हिंदी-संस्थाएँ।

संदर्भ

1. कृष्णदत्त पालीवाल (2008), *भक्ति काव्य से साक्षात्कार*, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली.
2. रामस्वरूप चतुर्वेदी (1993), *हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास*, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद.
3. वियोगी हरि (2001), *हमारी परम्परा*, सस्ता साहित्य मण्डल, नयी दिल्ली.
4. भरतसिंह उपाध्याय (2002), *ध्यान और नाम*, सस्ता साहित्य मण्डल, नयी दिल्ली.

— कृष्णदत्त पालीवाल

भक्ति आंदोलन-2

हिंदी साहित्य में बहस

(Bhakti Movement-2)

हिंदी-साहित्य में भक्ति आंदोलन की चर्चा आते ही प्रायः रामचंद्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी और रामविलास शर्मा की व्याख्याओं का सहारा लिया जाता है। भक्ति आंदोलन के स्वरूप पर तीनों के विचार आज भी अर्थवान हैं। आज भक्ति आंदोलन को विद्वानों का एक वर्ग 'ग्रैंड नैरेटिव' मानकर कई तरह की बातें कर रहा है। यह खैया भक्ति आंदोलन के अंतर्विरोधों को कई तरह से झुठला देता है। रामचंद्र शुक्ल ने अपनी 'दृष्टि की तार्किक निष्पक्षता' के कारण भक्ति के दो पक्ष उठाये— भारतीय पक्ष तथा अभारतीय पक्ष। भक्ति आंदोलन के उदय पर विचार करते हुए उनके सामने दक्षिण के आलवार सगुण पक्ष, रामानुजाचार्य तथा रामानंद थे। उन्होंने 'मुसलमान-आक्रमण से उत्पन्न हिंदू मन की निराशा' को उभारा। उन्होंने अपनी रचना *हिंदी साहित्य का इतिहास* में भक्ति के सामान्य परिचय के अंतर्गत कहा है, 'देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिंदू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया था। ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे। आगे चलकर जब मुसलमान साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया तब परस्पर लड़ने वाले स्वतंत्र राज्य भी नहीं रह गये। इतने भारी राजनीतिक उलटफेर के पीछे हिंदू जन समुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?' धार्मिक दशा यह थी कि 'वज्रयानी सिद्ध, कापालिक आदि देश के पूरबी भागों में और नाथपंथी जोगी पश्चिमी भागों में रमते चले आ रहे थे। इस बात से इसका अनुमान हो सकता है कि सामान्य जनता की धर्म भावना कितनी दबती जा रही थी, हृदय धर्म से कितनी दूर हटता जा रहा था।' धर्म का प्रवाह कर्म, ज्ञान और भक्ति इन तीन धारणाओं में चलता है— इसका सामंजस्य अपेक्षित होता है— किसी एक के अभाव से वह विकलांग रहता है। कर्म के बिना वह लूला-लंगड़ा। ज्ञान के बिना अंधा और भक्ति के बिना हृदय-विहीन, निष्प्राण रहता है। समस्त जन समुदाय की सम्पत्ति है— कर्म एवं भक्ति।

शुक्ल ने माना है कि भक्ति का सूत्रपात्र महाभारत काल में और विस्तृत प्रवर्तन पुराण काल में हुआ। सिद्ध-नाथ

जनता का ध्यान कर्म क्षेत्र से हटाने लगे और उनकी बानी 'गुह्य, रहस्य और सिद्धि' को लेकर उठी। वे घट के भीतर की बात कहने लगे और भक्ति, प्रेम की प्रकृत भावना पर उनका ध्यान नहीं था। इन सिद्धों-नाथों ने तंत्र-मंत्रवाद, चमत्कार, महासुखवाद दर्शन से भक्ति एवं भक्ति आंदोलन को बड़ा भारी नुकसान पहुँचाया। तुलसीदास को कहना पड़ा 'गोरख जगायो जोग, भगति भगाओ लोग'। खैरियत यह थी कि शास्त्री पण्डितों में ब्रह्मसूत्रों, उपनिषदों, गीता पर भाष्यों की परम्परा जीवित थी जिससे 'परम्परागत भक्तिमार्ग' के सिद्धांत पक्ष का कई रूपों में नूतन विकास हुआ।

भक्ति आंदोलन का ऐसा प्रसार हुआ कि 'क्रमशः भक्ति का प्रवाह ऐसा विस्तृत और प्रबल होता गया कि उसकी लपेट में केवल हिंदू जनता ही नहीं देश में बसने वाले सहृदय मुसलमानों में से भी न जाने कितने आ गये। प्रेमस्वरूप ईश्वर को सामने लाकर भक्त कवियों ने हिंदुओं और मुसलमानों दोनों को मनुष्य के सामान्य रूप में दिखाया और भेदभाव के दृश्यों को हटाकर पीछे कर दिया।' भक्ति का सोता दक्षिण से उत्तर आया उसने जनता के हृदय को प्रेमभाव से सींचने का कार्य किया। रामानुजाचार्य की शास्त्रीय सगुण भक्ति पद्धति की ओर जनता आकृष्ट हुई। स्वामी मध्वाचार्य ने अपना द्वैतवादी सम्प्रदाय चलाया। देश के अन्य भागों में जयदेव के कृष्ण प्रेम-संगीत की गूँज चली आ रही थी, जिसके सुर में विद्यापति ने अपना सुर मिलाया। स्वामी रामानंद ने पंद्रहवीं शताब्दी में विष्णु के अवतार राम की उपासना पर जोर दिया। वल्लभाचार्य ने प्रेममूर्ति कृष्ण को लेकर जनता को रसमय कर दिया। इस प्रकार रामोपासक तथा कृष्णोपासक भक्तों की परम्पराएँ चलीं।

हिंदू-मुसलमानों के मेल से 'सामान्य भक्तिमार्ग' का विकास होने लगा। उसने कबीर के विकृत ज्ञान पक्ष से बचते हुए सूफियों के प्रेम तत्त्व को लिया। हो क्या सकता था— कृष्ण भक्ति की प्रेम साधना ने आगे चलकर अश्लील विलासिता को जन्म दिया। केवल राम भक्ति में कर्म एवं ज्ञान का सामंजस्य हुआ। कृष्ण के माधुर्य-भाव से 'सखी सम्प्रदाय' निकल पड़े। रामानंद और नामदेव ने जाति-पाँति का विरोध किया तथा विष्णु भगवान को भजन-कीर्तन का नया रूप दिया। निर्गुण मार्ग के प्रवर्तक कबीर ने रामानंद को एक नयी छवि के साथ प्रस्तुत किया। इस प्रकार सगुण-निर्गुण नाम से भक्ति काव्य की दो धाराएँ चल पड़ीं। कबीर भारतीय ब्रह्मज्ञान तथा सूफियों की प्रेम साधना को लेकर जनता के बीच गये और खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति में तमाम विकृतियों का निषेध किया। 'कबीर को राम का नाम रामानंद से प्राप्त हुआ पर आगे चलकर कबीर के राम रामानंद के राम से भिन्न हो गये। अतः कबीर को वैष्णव-सम्प्रदाय में नहीं रख सकते।

हाँ, कबीर ने राम-रहीम की एकता का प्रतिपादन किया और हृदय को प्रेममय करने का उपदेश दिया। सूफी प्रेमगाथा-धारा में कुतबन-जायसी ने प्रेम-पंथ का निरूपण किया। सगुण-धारा में रामानुजाचार्य के विचारों का विकास रामानंद, वल्लभ आदि ने किया। 'श्री रामार्चन पद्धति' में रामानंद ने गुरु परम्परा का निरूपण किया।

शुक्ल के बहुत से विचारों का हजारी प्रसाद द्विवेदी ने प्रतिवाद किया। उन्होंने *हिंदी साहित्य की भूमिका* में 'भारतीय चिंता का स्वाभाविक विकास' पर गहन चिंतन करते हुए लिखा 'दुर्भाग्यवश, हिंदी साहित्य के अध्ययन और लोक-चक्षु गोचर करने का भार जिन विद्वानों ने अपने ऊपर लिया है, वे भी हिंदी साहित्य का संबंध हिंदू जाति के साथ ही अधिक बतलाते हैं और इस प्रकार अनजान आदमी को दो ढंग से सोचने का मौका देते हैं— एक यह कि हिंदी साहित्य एक हतदर्प पराजित जाति की सम्पत्ति है, इसलिए उसका महत्त्व उस जाति के राजनीतिक उत्थान-पतन के साथ अंगांगि भाव से सम्बद्ध है और दूसरा यह कि ऐसा न भी हो तो भी वह एक निरंतर पतनशील जाति की चिंताओं का मूर्त प्रतीक है जो अपने आप में कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। मैं इन दोनों बातों का प्रतिवाद करता हूँ और यह बात मान भी ली जाए तो भी यह कहने का साहस करता हूँ कि फिर इस साहित्य का अध्ययन करना नितान्त आवश्यक है, क्योंकि दस सौ वर्षों तक दस करोड़ कुचले हुए मनुष्यों की बात भी मानवता की प्रगति के अनुसंधान के लिए केवल अनुप्रेक्षणीय ही नहीं बल्कि अवश्य ज्ञातव्य वस्तु है। ऐसा करके में इसलाम के महत्त्व को भूल नहीं रहा हूँ लेकिन जोर देकर कहना चाहता हूँ अगर इसलाम नहीं आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।'

रामविलास शर्मा ने *लोकजागरण और हिंदी साहित्य* में लिखा है कि 'शुक्ल जी की स्थापनाएँ द्विवेदीजी के मानस में घुमड़ती रहती थीं। जैसे वह शुक्लजी पर अपनी धारणाएँ आरोपित करते थे वैसे ही उनकी संस्थापनाओं को आत्मसात भी कर लेते थे।' द्विवेदी ने कबीर के ज्ञानमार्ग से रामानंद के भक्ति मार्ग का संबंध न पहचाना था। इस की पहचान करायी शुक्ल ने। न जाने क्यों द्विवेदी के कबीर में तुलसीदास प्रतिद्वंद्वी हैं, जबकि शुक्ल का 'लोक' व्यक्ति का विरोधी नहीं था। द्विवेदी ने इस विचार को बड़ी तार्किकता से प्रस्तुत किया कि 'बौद्ध धर्म क्रमशः लोक धर्म का रूप ग्रहण कर रहा था और उसका निश्चित चिह्न हम हिंदी साहित्य में पाते हैं। इतने विशाल लोकधर्म का थोड़ा पता भी यदि वह हिंदी साहित्य को दे सके तो उसकी बहुत बड़ी सार्थकता है।'

संस्कृत आचार्यों ने तथा वैष्णव आचार्यों ने अपने मत

की पुष्टि के लिए 'प्रस्थानत्रयी' का सहारा लिया। अतः हमारी चिंताओं के मूल स्रोत 'प्रस्थानत्रयी' में रहे, इसलाम-ईसाई चिंतन में नहीं। ब्राह्मण-धर्म धीरे-धीरे बौद्ध धर्म से अलग होता गया— उसका रिश्ता लोक धर्म से कमजोर पड़ता गया। वहाँ टीका-भाष्य परम्पराएँ बलशाली होती गयीं। फिर हिंदू धर्म 'चर्चों' से नियंत्रित नहीं था। उसका खुलापन ही उसकी शक्ति थी। वह संस्थागत धर्म नहीं था। इसलिए जिस अर्थ में ईसाई या मुसलमान धर्म है वह अर्थ हिंदू धर्म पर लागू ही नहीं हो सकता। हिंदुस्तान की हर जाति में आचार-विचार की स्वतंत्रता 'स्वाधीनता' रही है। ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में एक समय ऐसा आया कि पण्डितों को लोक जीवन की ओर झुकने को बाध्य होना पड़ा। स्मार्त पण्डित, बौद्ध पण्डित लोकमत की ओर झुकने लगे। मध्यदेश राजपूताने में 'कुलाभिमान' तथा 'वीरत्व की परम्परा' की राजाओं-सामंतों वाली परम्परा ने साहित्य में चारण-भाट ला दिये। इधर प्रो. हेवेल ने *हिस्ट्री ऑफ आर्यन रूल* में लिखा कि 'हिंदू राजकाज से अलग कर दिये, मुसलमानी सत्ता छाने लगी।' इस विचार का द्विवेदी ने खण्डन किया है। यह भी कहा कि लोक भाषाएँ तो प्राकृत-अपभ्रंश सभी के समय विद्यमान थीं। लोक भाषाओं को इस देश में मुसलमान राज स्थापित होने से पूर्व ही स्थान प्राप्त था। सूरदास-तुलसीदास में संस्कृत शब्दों की प्रचुरता का अर्थ लोक-भाषाओं के विकास के अवरुद्ध हो जाने से लेना गलत होगा। हिंदी का शक्तिशाली भक्ति काव्य लोक भाषाओं के उत्कर्ष का ही स्वर्णकाल है।

रामचंद्र शुक्ल भी यह बताते हैं कि 'भक्तिकाल मुसलमानी प्रभाव भी प्रतिक्रिया नहीं है।' भारतीय इतिहास के आदिकाल से रूढ़ियों और परम्पराओं के विरुद्ध विद्रोह करने वाले निर्गुण-सगुण धारा के संत रहे हैं। कबीर ने गुरु रामानंद का शिष्यत्व ग्रहण करके जन-साधारण में उनकी शास्त्र-सिद्धता का विश्वास पैदा किया और राम नाम अपनाकर जनसाधारण के परिचित भगवान से अपने भगवान की एकात्मकता साबित की।' कबीर ने रूपकों द्वारा योगमार्ग, वैष्णव मत आदि की लोकवादी व्याख्याओं में जनविश्वास को दृढ़ किया।

रामविलास शर्मा ने *परम्परा का मूल्यांकन* में विचार व्यक्त किया है कि 'दक्षिण भारत के अनेक आचार्यों ने अपने मतों का प्रचार उत्तर भारत में किया। इस उत्तर-दक्षिण के नवीन सांस्कृतिक आदान-प्रदान से सूर और तुलसी, हिंदी के इन दो महाकवियों का गहरा संबंध है। आलोचक इन पुराने कवियों को भक्ति मार्गी, ज्ञान यागी, प्रेममार्गी' आदि कहते हैं। ये पद विभाजन बहुत युक्ति संगत नहीं है। ये सभी कवि भक्ति आंदोलन के निर्माता तथा उसी भक्ति आंदोलन की

महान उपलब्धि हैं। यह भक्ति आंदोलन अखिल भारतीय है और ऐसा व्यापक सांस्कृतिक-सामाजिक आंदोलन संसार में दूसरा नहीं है। इन सभी भक्त कवियों ने इस देश को जिस राष्ट्रीय एकता के सूत्र में बाँधने का काम किया है, उसका मूल्य आँकना आज भी चुनौती है।'

देखें : अष्टछाप, 'अंग्रेजी हटाओ' आंदोलन, छायावाद, डायग्लॉसिया, नगेंद्र और सैद्धांतिक समीक्षा, नयी कविता, नंद दुलारे वाजपेयी, नामवर सिंह, प्रेमचंद, प्रयोगवाद, प्रगतिवाद, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, भक्ति-काव्य-1 और 2, भारतेन्दु हरिश्चंद्र, भारतेन्दु युग-1 और 2, भाषा नियोजन-1 से 4 तक, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, महावीर प्रसाद द्विवेदी, महादेवी वर्मा, मीरांबाई और प्रेमाभक्ति, राहुल सांकृत्यायन, रामानुजाचार्य, रामानंद, रामचंद्र शुक्ल-1 और 2, रामविलास शर्मा, राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता, रीतिकाल-1 और 2, विजय देव नारायण साही, वैष्णव धर्म, श्याम सुंदर दास, सम्पर्क भाषा-1 से 4 तक, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1, 2 और 3, सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय, संत-काव्य, संस्कृत काव्यशास्त्र, सिद्ध-नाथ परम्परा, सूफीयत और प्रेमाख्यान, हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिंदी विरोधी आंदोलन, हिंदी जाति-1, 2 और 3, हिंदी साहित्य का आदिकाल, हिंदी साहित्य का इतिहास, हिंदी साहित्य का इतिहास : नये परिप्रेक्ष्य, हिंदी-पद्य में इतिहास, हिंदी-जगत और 'लोकप्रिय'-1 और 2, हिंदी नवजागरण, हिंदी-संस्थाएँ।

संदर्भ

1. रामचंद्र शुक्ल (1940), *हिंदी साहित्य का इतिहास*, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी: ग्रंथवाली 53.
2. डॉ. रामविलास शर्मा (1981), *परम्परा का मूल्यांकन*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
3. डॉ. रामविलास शर्मा (1985) *लोकजागरण और हिंदी साहित्य*, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नयी दिल्ली.
4. कृष्णदत्त पालीवाल (2008), *भक्तिकाव्य से साक्षात्कार*, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली.

— कृष्णदत्त पालीवाल

भक्ति काव्य-1

लोकजागरण का समाजशास्त्र

(Bhakti Poetry-1)

भक्ति काव्य के तहत निर्गुणधारा तथा सगुणधारा का काव्य भारत के सामंती समाज की सीमाओं का अतिक्रमण करता है। वह एक यूटोपिया का वैकल्पिक संसार रचता है। भक्ति-आंदोलन अपने रूप-स्वरूप में अखिल भारतीय है। इससे बड़ा लोक जागरण का आंदोलन भारत ही क्या विश्व में कहीं और दिखाई नहीं देता। जाति-धर्म-वर्ग-वर्ण की दीवारों को तोड़कर यह भक्ति आंदोलन उत्तर-दक्षिण को बाँध कर एक कर देता है और यह पूरा देश इस आंदोलन की भक्ति-लय से नया जीवन पाता है। यह भक्ति काव्य के समाजशास्त्र की शक्ति ही है कि वह 'जनांदोलन' बन सका। भक्ति की परम्परा प्राग्वैदिक-वैदिककाल से भारतीय चित्त को जोड़ती है। भक्ति का अर्थ है अलग करना और अलग करके जोड़ना। भक्त और भगवान दो हो कर ही भक्ति से एक अद्वैत होते हैं। परम्परा का अर्थ ऐतिहासिक स्मृति तक सीमित नहीं है—परम्परा का अर्थ है 'अटूट-प्रवाह'। इस प्रवाह में सातत्य और परिवर्तन का चक्र चलता रहता है। भक्ति के समाजशास्त्र में यहाँ बड़ी बात यह है कि कलाकृति या रचना में लोक और शास्त्र दोनों निचुड़ कर-निथुर कर आते हैं। इसलिए पण्डित-पुराण-पुरोहित वर्ग का परम्परागत वर्चस्ववाद खण्डित होता रहता है। हम भारतीय परम्परा की रक्षा के साथ उसमें पलीता भी लगाते रहते हैं, ताकि वह पुनर्नवा रूप धारण करती रहे। यथास्थितिवाद को चुनौती देती चले।

दरअसल, भक्ति काव्य पर आज हमें नये सिरे से विमर्श की ज़रूरत है। यह काव्य आधुनिक रचनाकारों को अनेक अर्थों में प्रेरित-प्रभावित करता है। यह टूट-फूट, निराशा का काव्य न होकर आशा, उत्साह और आस्था का काव्य है। इस काल की निर्गुण-सगुण दोनों धाराओं में मानवतावाद और वैष्णववाद के उच्चतम मूल्यों को जगह मिली है। भारत का मध्यकाल पश्चिम के मध्यकाल की तरह अंधकार युग नहीं है, इसलिए उसका मध्ययुगीन बोध धर्म से सताये पिछड़े-पछाड़े लोगों का बोध नहीं है। इसीलिए रामविलास शर्मा ने इस काल को लोकजागरण काल की संज्ञा दी है। इस काल के सभी रचनाकारों की विचारधाराओं में समय-समाज की प्रेरणाएँ थीं। इसलिए यह रचना कर्म स्वांतःसुखाय होता हुआ भी 'परहिताय' वाली लोकमंगल की भावना से भरता चला गया। तांत्रिकों, सिद्धों-नाथों, सूफियों, भागवतों, वैष्णवों, अवतारवाद को मानने वाले भक्तों की भाव-राशि इस काव्य में मौजूद है जिसे आज संतों की

अमृत-वाणी कहा जा सकता है। इस वैचारिकता की पृष्ठभूमि में भारत का पूरा अतीत वर्तमान बन कर संवाद कर रहा है। विभिन्नता और मौलिकता एक दूसरे के पर्याय हैं। इसलिए भक्ति काव्य की परीक्षा उस पीठिका के संदर्भ में की जानी चाहिए जिस पर वह स्थित है। यह देखना होगा कि समय-समाज की अभिव्यक्ति और संघर्ष, तनाव और द्वंद्व, अंतर्विरोध और विरोधाभास भक्ति काव्य में रचना-स्तर पर क्या और कैसे हैं।

भक्ति काल हर युग के प्रश्नों से एक खास अर्थ-संदर्भ को लेकर टकराता है। इस रचनाशीलता से उपजी ऊर्जा में एक जीवन-सत्य अनेक रूपों में ध्वनित-प्रतिध्वनित है और मूल्य है प्रेम। यह प्रेम ही परम पुरुषार्थ है और इसी से अर्थ-धर्म-काम-मोक्ष प्राप्त होते हैं और मनुष्य पशुतावाद को त्याग कर मनुष्यता की उच्चभूमि का वरण करता है। प्रेम के कवि मलिक मुहम्मद जायसी ने कहा है : 'मानुष प्रेम भयउ बैकुंठी' अर्थात् मनुष्य प्रेम से ही दिव्य या बैकुंठी हुआ है। नहीं तो मनुष्य में क्या है, एक मुट्ठी धूल ही तो है। यह मूल्य-चिंतन बड़ी मूल्य चिंताओं को लेकर एक वृहत्तर काल में फैलना चाहता है।

भक्तिकाव्य का समाजशास्त्र जागरण की विशाल पृष्ठ-भूमि का समाजशास्त्र है। जिस चेतना को युरोप में 'रिनेसाँ' कहा गया, उसी चेतना को भारतीय चिंतन-धारा ने चेतना का संत-धर्म और 'प्रबोधन' कहा है। रामविलास शर्मा ने चेतना की जिस लहर को लोकजागरण कहा, वही लहर 19-20 वीं शताब्दी में नवशिक्षित बौद्धिकों, समाज सुधारकों, समाजों, आंदोलनों की प्रवृत्तियों के कारण 'नवजागरण' या 'पुनर्जागरण' कहलायी। दयानंद और राजा राममोहन राय में भारतीय संतों का तेज ही नयी रंगत में मौजूद मिलता है, जिसे रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद, महर्षि रमण, अरविंद, गाँधी, आम्बेडकर, जयप्रकाश नारायण जैसे नेता और विचारक नये-भाष्य में ढालते हैं। इस दृष्टि से हमारा नवजागरण पश्चिम से उधार लिए गये 'रिनेसाँ' पर टिका मात्र नहीं है। यहाँ तो रिनेसाँओं का पूरा सिलसिला मिलता है। मसलन, यह कहा जा सकता है कि पहला रिनेसाँ वैदिक युग में हुआ, दूसरा उपनिषेदकाल में, तीसरा पुराणकाल में, और चौथा रामायण-महाभारत काल में। पाँचवाँ जैन-बौद्धयुग में हुआ, तो छठा भक्ति आंदोलन काल में। इस तरह भारत में एक रिनेसाँ नहीं— न जाने कितने रिनेसाँ हुए हैं। भारतीयता का तर्कवाद-विवेकवाद परिस्थितियों का शिकार हो कर शिथिल जरूर पड़ा लेकिन खत्म कभी नहीं हुआ।

भारत की बहुदेववादी, बहुभाषावादी, बहुलतावादी संस्कृति में एक या दो परम्पराएँ नहीं— अनेक परम्पराएँ रही हैं जिनका आज 'पाठ' कर पाना चुनौती है। भारतीय संस्कृति मिश्र-संस्कृति रही है जिसमें 'अन्य' या 'अदर' के लिए

स्थान रहा है। हालाँकि इस संस्कृति को आर्य-अनार्य, आर्य-द्रविड़ संस्कृति के भेद में बाँट कर देखने की कोशिश की गयी, लेकिन सभी तरह के भेदवाद भूल कर भारत में 1857 का प्रथम स्वाधीनता संग्राम लड़ा गया। पराजय के बाद फिर जागरण आया। निराशा हमारा जातीय-मनोभाव नहीं रहा है।

हिंदी प्रदेशों के नवजागरण की चर्चा अंग्रेजीदों भारतीय बुद्धिजीवियों के बीच नहीं सुनायी देती। चूँकि इस बौद्धिक वर्ग ने हिंदी या भारतीय भाषाओं का साहित्य नहीं पढ़ा है इसलिए हिंदी नवजागरण से यह वर्ग अनभिज्ञ रहा है। हिंदी नवजागरण की संत-साहित्य की तरह अपनी विशेषता यह रही है कि यह नवजागरण स्थानीय और अखिल भारतीय दोनों रहा है। हिंदी में नवजागरण का शंख फूँकने वाले प्रथम अग्रदूत भारतेन्दु हरिश्चंद्र हैं, जिनका संकल्प रहा है कि 'स्वत्व निज भारत गहै।' भारतेन्दु का स्वत्व था भारतीयता, भारतीय-अस्मिता, जातीय-स्मृति की रक्षा। स्वभाषा-स्वदेशी-स्वाभिमान तथा देश-प्रेम के चार बीच मंत्र उनके थे। इसी का विकास महावीरप्रसाद द्विवेदी के युग से होता हुआ छायावाद युग के रचनाकारों में हुआ। साहित्य में रीतिवाद के विरुद्ध जोरदार आंदोलन चला और साथ ही अंग्रेजी साम्राज्यवाद की आर्थिक औद्योगिक नीतियों के विरुद्ध भी स्वदेशी आंदोलन चलाया गया। अपनी सांस्कृतिक अस्मिता और सांस्कृतिक विरासत को बचाने के लिए ही रचनाकार आगे आये। इसलिए हमारा नवजागरण भक्ति आंदोलन के नवजागरण से नाभि-नाल संबंध से जुड़ा है।

पहले हम इसे भक्ति आंदोलन का नवजागरण कहते थे बाद में 19-20 वीं शताब्दी में आकर उसका रूप बदला तो उसे 'सांस्कृतिक नवजागरण' नाम दिया गया। इस नवजागरण को कुछ लोग 'पुनरुत्थान काल' या 'सुधारकाल' नाम भी देते हैं। लेकिन यह युरोपीय नवजागरण की तरह चर्चवाद-धर्मवाद के प्रतिकार से पैदा नहीं हुआ। अज्ञेय ने मैथिलीशरण गुप्त के प्रसंग में जिस 'भारतीयता' की चर्चा की है वह हमारी परम्परा-आधुनिकता का उजला संस्कार है। अपने को निरंतर माँजना, संस्कारित करना ही भारतीयता है— आधुनिकता है, परम्परा है। यह भारतीयता 'स्वाधीनता' को सबसे बड़ा मूल्य मानती है।

भक्ति का अपना विकसित सौंदर्य शास्त्र है, काव्यशास्त्र है, दर्शनशास्त्र है। यह शंकराचार्य के निर्गुण से टकरा कर रामानुजाचार्य में नये भाष्य के साथ सामने आया है। इसे भक्तिकाल के चारों आचार्यों का समर्थन प्राप्त है और जिसके मेरुदण्ड हैं— रामानंद। निर्गुण-सगुण, कबीर-तुलसी के सही संयोजन से जो रचना-शीलता फूटी है उसने समाज को सर्वोत्तम दिया है। भारत में भक्ति के स्वरूप पर सामाजिक संरचनाओं का प्रभाव-दबाव रहा है। एक ओर रहा है तंत्र-मंत्रवाद और दूसरी ओर रहा है भक्तिवाद। इसमें जीत

भक्तिवाद की ही हुई है, सिद्ध-नाथ पराजित हुए हैं— कबीर, जायसी, तुलसी, सूर ही जीवन के साथ जीते हैं। प्रेम और सेवा से यह संदेश उठा है कि 'प्रेम ही महान पुरुषार्थ' है। विष्णु को केंद्र में रखकर वैष्णव धर्म का आगे चल कर विकास हुआ जिसे भागवत धर्म भी कहा गया। इंद्र तथा विष्णु के द्वंद्ववाद में इंद्र थक जाते हैं— और विष्णु प्रबल होकर राम और कृष्ण के रूप में त्राणकारी, लीलाबिहारी, दीनदयाल, हितकारी लोकनायक के रूप में अवतारवाद में सामने आ जाते हैं। कृष्ण-काव्य में गोवर्धन पूजा में कृष्ण इंद्र को चुनौती देते हैं— पुकार उठती है 'गर्व मधवाहरण' होता है। इस विजय की वैष्णव धर्म में अनेक नवीन व्याख्याएँ हैं। वैष्णव मत विष्णु को वनस्पति, अन्न, भोग, उर्वरता, जल से जोड़ कर नया समाजशास्त्र रचता है। बहुदेववाद के अवतारवाद और लीलावाद में रूपांतरण से समाज को न जाने कितनी मिथकीय कहानियाँ मिलती हैं।

भक्ति के इस समाजशास्त्र में आधुनिक मनुष्य के लिए प्रखर बौद्धिक प्रयत्न का मूल्यवान खजाना है। कर्मकाण्ड का पक्ष दुर्बल है। लोक संस्कृति का लोकशास्त्र, लोकवेद का पक्ष ही इसका मूलाधार है। यहाँ गीता के कर्मयोग, भावयोग तथा भक्तियोग की महिमा है। पुरोहितवाद और ब्राह्मणवाद के दाँत यहाँ कमजोर पड़ जाते हैं। भक्ति के कल्पवृक्ष में व्यक्तिवाद, जातिवाद, वर्णवाद, अलगाववाद, ऊँच-नीचवाद का कोई स्थान नहीं है। लोकतत्त्व, लोकगाथा, लोकभाषा, लोकधर्म, लोकोत्सव, लोकोक्तियाँ, लोकानुभव सभी से वाचिक परम्परा का तीसरा महाकाव्य निर्मित होता है, जिससे भारतीय सभ्यता, कला, दर्शन, कथा-गाथा का एक नया लोक-सौंदर्यशास्त्र सामने आता है। यह लोक ही रामकाव्य में है, जिसमें जनता दशरथ के कृत्य की निंदा करती है कि 'कहयो तिय को जिन कान कियो है।' तुलसी के *पार्वती मंगल*, *जानकी मंगल*, *विनय पत्रिका* में लोक समाज की खुली उपस्थिति है। इस तरह भक्ति काव्य लोक जीवन की धरोहर राशि है जो हमारी परम्परा है। भारत में आकर इसलाम, सूफीमत में इतने परिवर्तन हुए कि कबीर 'ना हिंदू ना मुसलमान' कहकर आगे बढ़े हैं। निष्कर्ष यह है कि भक्तिकाल के जागरण में लोक का पावनताजनित अर्थ अपने सर्वोत्तम रूप में निखर कर आ गया है। आज अगर हम इस भक्ति काव्य पर नये सिरे से विचार करेंगे तो पश्चिमी आधुनिकता, उत्तर-आधुनिकता, उत्तर-औद्योगिक समाज की समस्याओं के संदर्भ में कुछ नये सूत्र मिल सकते हैं।

देखें : अष्टछाप, 'अंग्रेजी हटाओ' आंदोलन, छायावाद, डायगलॉसिया, नगेंद्र और सैद्धांतिक समीक्षा, नयी कविता, नंद दुलारे वाजपेयी, नामवर सिंह, प्रेमचंद, प्रयोगवाद, प्रगतिवाद, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, भक्ति आंदोलन-1 और 2, भारतेंदु हरिश्चंद्र, भारतेंदु युग-1 और 2, भाषा नियोजन-1 से 4 तक, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, महावीर प्रसाद

द्विवेदी, महादेवी वर्मा, मीराबाई और प्रेमाभक्ति, राहुल सांकृत्यायन, रामानुजाचार्य, रामानंद, रामचंद्र शुक्ल-1 और 2, रामविलास शर्मा, राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता, रीतिकाल-1 और 2, विजय देव नारायण साही, वैष्णव धर्म, श्याम सुंदर दास, सम्पर्क भाषा-1 से 4 तक, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1, 2 और 3, सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय, संत-काव्य, संस्कृत काव्यशास्त्र, सिद्ध-नाथ परम्परा, सूफीमत और प्रेमाख्यान, हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिंदी विरोधी आंदोलन, हिंदी जाति-1, 2 और 3, हिंदी साहित्य का आदिकाल, हिंदी साहित्य का इतिहास, हिंदी साहित्य का इतिहास : नये परिप्रेक्ष्य, हिंदी-पद्य में इतिहास, हिंदी-जगत और 'लोकप्रिय'-1 और 2, हिंदी नवजागरण, हिंदी-संस्थाएँ।

संदर्भ

1. विनैंड एम. कैलेवर्ट और स्वप्ना शर्मा (2009), *डिक्शनरी ऑफ़ भक्ति : नॉर्थ इण्डियन भक्ति टेक्स्ट्स इनटू खड़ी बोली, हिंदी, एंड इंग्लिश*, खण्ड 3, डी.के. प्रिंट वर्ल्ड, नयी दिल्ली.
2. आइवाओ शिमा, तीजी सकाता, कैत्सुयुकी इदा (2011), *द हिस्टोरिकल डिवेलपमेंट ऑफ़ द भक्ति मूवमेंट इन इण्डिया : थियरी एंड प्रैक्टिस*, मनोहर पब्लिशर्स, नयी दिल्ली.
3. गजानन माधव मुक्तिबोध (1980), 'मध्यकालीन भक्ति आंदोलन का एक पहलू', नेमिचंद्र जैन (सम्पा.), *मुक्तिबोध रचनावली*, राजकमल प्रकाशन नयी दिल्ली.
4. शिव कुमार मिश्र (2010), *भक्ति आंदोलन और भक्ति काव्य*, लोकभारती प्रकाशन, नयी दिल्ली.
5. डॉ. प्रेमशंकर (1977), *भक्ति काव्य का समाजशास्त्र*, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली.
6. कृष्णदत्त पालीवाल (2007), *भक्ति काव्य से साक्षात्कार*, भारतीय, नयी दिल्ली.
7. रामस्वरूप चतुर्वेदी (1993), *हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास*, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद.
8. वियोगी हरि (सम्पा.) (2001), *हमारी परम्परा*, सस्ता साहित्य मण्डल, नयी दिल्ली.

— कृष्णदत्त पालीवाल

भक्ति काव्य-2

पश्चिमी दृष्टि की समस्याएँ

(Bhakti Poetry-2)

पश्चिमी विद्वानों ने भक्ति काव्य और भक्ति आंदोलन को अपने ढंग से समझने की काफ़ी चेष्टाएँ की हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पश्चिम के अनेक विद्वानों ने कृष्णोपासना एवं ईसाई धर्म में कई तरह की समानताएँ देखीं। अपने ढंग से इन विद्वानों ने यह निष्कर्ष भी निकाल लिया कि कृष्ण-कथा से सम्बद्ध उपाख्यान तथा भक्ति-सिद्धांत ईसाई धर्म से लिये गये हैं और कृष्ण तो क्राइस्ट का ही रूपांतर हैं। मैक्स वेबर ने 1874 में 'ऐन इनवेस्टिगेशन इन टू द ऑरिजन ऑफ़ फ्रेस्टिवल ऑफ़ कृष्णजन्माष्टमी' शीर्षक निबंध लिख कर इस तरह की धारणाओं का प्रतिपादन किया। इनके कुछ पहलुओं का हॉपकिंस, केनेडी तथा मैकनिकाल ने भी समर्थन किया। मैकनिकाल को विश्वास था कि भारतीय चित्त को शांति-लाभ के लिए ईसा की शरण में जाना ही होगा। इस तरह के कथनों का हजारी प्रसाद द्विवेदी ने तो प्रतिवाद किया ही है, मोनियर विलियम्स ने भी कहा कि पश्चिम भारतीय धर्मों को समझने में भूल कर रहा है।

विलियम्स की इस आलोचना के बावजूद पश्चिमी विद्वान भक्ति आंदोलन और भक्ति काव्य को अपने-अपने ढंग से समझने की चेष्टा करते रहे। 1900 में मैक्सम्यूलर में *सेक्रेड बुक्स ऑफ़ द ईस्ट* की भूमिका में धार्मिक विचारों पर फिर से चर्चा की। 1908 में ग्रियर्सन का भागवत धर्म पर 'नाराणीय ऐंड द भागवताज्ञ' लेख प्रकाशित हुआ। भक्ति के वैष्णव सिद्धांत को लेकर उन्होंने *इनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ रिलीजन ऐंड इथिक्स* में 'भक्ति मार्ग' शीर्षक निबंध लिखा। इसी ग्रंथमाला में अवतारवाद के सिद्धांत को लेकर जेकोबी का एक निबंध प्रकाशित हुआ। उसके बाद 1971 में हॉपकिंस ने 'द एथिक यूज़ ऑफ़ भागवत ऐंड भक्ति' शीर्षक निबंध लिखा जिसमें 'भक्ति' के वैदिक प्रयोग की चर्चा है। इस रचना से एक बार फिर यह स्पष्ट हुआ कि पश्चिमी विद्वान भक्त एवं भगवान की अद्वैतता, अभिन्नता, अनन्यता को समझने में असमर्थ रहे हैं। 1913 में *वैष्णविजम, शैविजम ऐंड माइनर रिलीजस सिस्टम* जैसी रचना आयी। भारतीय विद्वानों ने पश्चिम के इन तमाम प्रयासों को यह कह कह आड़े हाथों लिया कि 'भक्ति' में नवजागरण का जो भारतीय तत्त्व है उसे पश्चिम नकारना चाहता है। हमारा मध्यकाल नवजागरण काल है। ईसाई धर्म की मार से अंधा हुआ 'अंधकार काल' नहीं है। यह भी कहा गया कि रामानुजाचार्य तथा रामानंद में जो प्रपत्तिवाद का चिंतन है— उसका आदि स्रोत प्रागवैदिक चिंतन है।

दरअसल भक्ति काव्य की सही समाजशास्त्रीय समझ तब तक नहीं बन सकती जब तक यह न समझा जाए कि किस तरह भक्तों की कविता ने पुरोहितवाद के हाथों से निकल कर लोक-संस्कृति तथा लोक-भाषा की शक्ति के कारण लोक-हृदय में निवास किया। भक्ति की भावना ने लोकचित्त में एक नया भाव-नवजागरण किया। भक्ति काव्य संदेश ले कर आया कि उस संकुचित चिंतन से पिंड छुड़ाना होगा जिसने नारियों तथा शूद्रों को ज्ञान-भक्ति से वंचित रखा है। भक्ति का मार्ग सभी के लिए खुला होना चाहिए जिससे प्राणीमात्र अपनी आंतरिक निष्ठा तथा भीतरी विषाद को धो सके। विद्वानों का ध्यान इस ओर भी गया कि गीता का भक्ति-योग प्रेमरूप होने के कारण दर्प का दलन करने वाला है। कृष्ण का यह कथन कि सभी धर्मों को छोड़ कर मेरी शरण में आ जाओ, अपने को कर्ता मत मानो— भक्ति-योग के रूप में उपनिषदों के चिंतन का निचोड़ है।

रामानुजाचार्य तथा रामानंद ने विनम्र सुधारक भाव से स्त्रियों, शूद्रों, दलितों, परित्यक्तों और मुसलमानों को जीवनमंत्र दिया जिसमें ऊँच-नीच को कोई स्थान नहीं है। गीता के बीज भाव ही भक्ति में पल्लवित हुए हैं। कुलीनों, द्विजों के अंहकार, सामंतों के वर्चस्व को उस समय चुनौती मिली है जब कृष्ण कहते हैं कि 'मेरा आश्रय लेकर स्त्रियाँ, वैश्य, शूद्र और सभी पिछड़े-दलित परमगति पा सकते हैं।' यही बात आज्ञादी के आंदोलन में बालगंगाधर तिलक ने अपने गीता-भाष्य में नये विमर्श के साथ प्रस्तुत की। उन्होंने पश्चिमी ज्ञान-दम्भ से निकले इस विचार का खण्डन किया कि हिंदू धर्म ग्रंथ भ्रामक तथ्यों से ग्रस्त हैं और ईसाई धर्म ग्रंथ सत्य के प्रतिपादक हैं।

भारतीय भक्तिवाद ने पावनताजनित विवेक की प्रेरणा से प्रकृति-पुरुष का नया भाष्य लगातार किया। इस अटूट परम्परा ने प्रपत्तिवाद तथा शरणागति के मार्ग की व्यवस्था की और उपनिषदों का चिंतन लोक में परोस दिया। तर्कवाद-विवेकवाद से प्रभावित होने के कारण ही भक्ति का आधार-अंधश्रद्धावादी नहीं है। उसमें ज्ञान समन्वित भक्ति का विशेष आग्रह है। गीता का कृष्ण मानव रूप में उपस्थित है। वह अर्जुन की शंकाएँ सुनता है और सखा भाव से उनका निवारण करता है। कृष्ण की विराटता का दर्शन करने के बाद अर्जुन शरणागति का मार्ग अपनाता है। यहाँ प्रपत्तिभाव ही सर्वोच्च भाव है।

भारतीय समाज में भक्ति का लीला-कमल उस समय खिला जब उपनिषदों का ब्रह्मवाद बहुदेववाद और बहुविश्वासवाद में नया रूप धारण कर सामने आया। भारतीय भक्ति आंदोलन को पुराणों की देन का वर्णन-विस्तार सम्भव नहीं है। काल-प्रवाह में पाँच प्रमुख उपासना सम्प्रदाय बने-बढ़े : वैष्णव, शिव, शाक्त, सार और गाणपत्य। इनमें से प्रथम

तीन प्रधानता पा कर पनपते गये। काल प्रवाह में वैष्णव सम्प्रदाय भक्ति सम्प्रदायों का मूलाधार बना और पूरा भक्तिकाल इसी की धुरी पर घूमा।

तुलसी का *रामचरितमानस* तथा सूरदास का *सूरसागर* भक्ति के सागर माने जाते हैं। *भक्ति रसामृत सिंधु* तथा *उज्ज्वनील मणि* जैसे ग्रंथ चैतन्य महाप्रभु के शिष्यों जीव गोस्वामी और रूप गोस्वामी ने रच डाले। बौद्ध-जैन दर्शन इसमें मिल गये। ब्राह्मण धर्म भी उनमें सिमट गया। भक्ति काव्य द्वारा लायी गयी इस नवीनता से भारतीय संस्कृति की जड़ता टूटी। पुराणों ने ब्रह्म को अनेक छवियों में साकार किया। ज्ञान ब्रह्म को लीला ब्रह्म के रूप में ले आना बहुत बड़ा काम था। पुराणों में ही इंद्र के स्थान पर विष्णु की महिमा का विस्तार हुआ। भागवत पुराण ने कृष्ण-कथा को भक्ति-रस से भर दिया। इसी भावभूमि में अष्टछाप के कवि आये—स्वामी हरिदास, हित हरिवंश, राधावल्लभ आदि। सखी सम्प्रदाय बना और नारी-भाव से भगवान की नवधा भक्ति का विधान हुआ। बार-बार कहा गया कि प्रेम ही परम पुरुषार्थ है और प्रेमाभक्ति ही सर्वोच्च भक्ति है। इसी में मीरां, रसखान, चैतन्य नृत्य करते मिलते हैं। संत, भक्त, कवि, दार्शनिक सभी इस प्रेमा भक्ति में ज्ञानमार्ग की अकड़ खो कर यह गाते हुए आ गये— 'छबीले मुरली नेकु बजाउ'। यहाँ मुरली ब्रह्म की नाद शक्ति का प्रतीक है। इस तरह भक्ति काव्य की सांस्कृतिक संवेदना प्रतीकों से पट गयी। बौद्ध, जैन, शैव, शाक्त, वैष्णव, सूफ़ी सभी प्रेरणा स्रोतों से भक्ति प्रवाह ने गति धारण की। दर्शन और संगीत झूम कर इस भक्ति प्रवाह में मिल गये। इसीलिए भक्ति का सामाजिक सांस्कृतिक आधार बहुत व्यापकता रखता है।

ज्ञान और प्रेम भक्ति भावना के संदर्भ में विरोधी समझना नहीं रह गये। विद्वान मानते रहे हैं कि ज्ञान रहित भक्ति अंधविश्वास है जिससे जड़वाद पनपता है। ज्ञान से पवित्र कुछ नहीं है— लेकिन आस्थायुक्त ज्ञान चाहिए। तुलसीदास ने *रामचरितमानस* के उत्तर काण्ड में कहा 'ज्ञानहि भक्तहि नहि कछु भेदा। उभय हरहि भव सम्भव खेदा।' फिर आगे कह दिया कि ज्ञान का दम्भ मिटाने के कारण भक्ति ही श्रेष्ठ है। 'जदपि भगति रघुपतिहि पियारी'। फिर 'ज्ञानपंथ को कृपाण की धार' कहा है, क्योंकि ज्ञानी का ज्ञान कभी भी भ्रष्ट हो सकता है। कलियुग में 'ध्यान' से ज़्यादा 'नाम' की शक्ति है। तुलसीदास ने 'नाम' और 'रूप' दोनों को ही ईश्वर की उपाधियाँ बताया है। इनमें कौन बड़ा, कौन छोटा यह विचार अपराध है— 'को बड़ छोट कहत अपराधू'। दरअसल भक्तिवाद ने लोक-पक्ष का विशेष रूप से प्रतिपादन किया है। इस दृष्टि से आज भक्ति के सामाजिक-सांस्कृतिक स्रोतों का अध्ययन अपेक्षित है।

भक्ति काल एक ऐसी अवधि थी जिसमें दो संस्कृतियाँ आपसी टकराव का दौर निकल जाने के बाद सहअस्तित्व की स्थिति में आ चुकी थीं। इसलामी संस्कृति ने भारत में विजेता रूप में प्रवेश किया था। अरबी, फ़ारसी, मंगोल, तुर्क, अफ़ग़ान सभी आये। साथ में सूफ़ियों के चिशितया, सुहरावर्दी, कादरी, नक्शबंदी आदि सम्प्रदाय भी आये। सूफ़ियों के प्रेमपंथ ने ही इसलामी कट्टरता के दाँत उखाड़े। इसलामी संस्कृति का भारत की समग्र संस्कृति पर प्रभाव पड़ा। कितना प्रभाव पड़ा यह अलग बहस का मुद्दा है और इस पर इतिहासकारों में मतैक्य नहीं है। आर.सी. मजूमदार जैसे इतिहासकार कहते रहे हैं कि हिंदू संस्कृति पर इसलामी संस्कृति का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। लेकिन यह मत एकांगी है। इसमें कोई शक नहीं कि तुर्कों के आने से व्यापार तथा धर्म-कर्म की पद्धतियाँ प्रभावित हुईं। युद्धकला में भी परिवर्तन आया। मुगल कलाओं के मेल से एक नयी शैली पैदा हुई। इस तरह भारतीय संस्कृति का एक नया सौंदर्य शास्त्र सामने आया।

ध्यान रहे कि धर्म का प्रवाह कर्म, ज्ञान और भक्ति की तीन धाराओं में चलता है। इन तीनों के सामंजस्य से धर्म अपनी सजीव दशा में रहता है। किसी एक के भी अभाव में वह विकलांग होता है। शुक्ल ने कहा है कि 'धर्म की भावात्मक अनुभूति महाभारत काल से हुई और विस्तृत प्रवर्तन पुराणकाल में हुआ। भक्ति-प्रेम हृदय का प्रकृत भाव है। कालदर्शी भक्तकवि जनता के हृदय को सँभालने और लीन रखने के लिए दबी हुई भक्ति को जगाने लगे। भक्ति का प्रवाह क्रमशः ऐसा विस्तृत और प्रबल होता गया कि उसकी लपेट में केवल हिंदू जनता ही नहीं, देश में बसने वाले सहृदय मुसलमानों में से न जाने कितने आ गये। प्रेम स्वरूप ईश्वर को सामने लाकर भक्त कवियों ने हिंदुओं और मुसलमानों दोनों को मनुष्य के सामान्य रूप में दिखाया और भेदभाव के दृश्यों को हटाकर पीछे कर दिया।'

भक्ति का जो प्रवाह दक्षिण से उत्तर-भारत में आया, उसने रामानुजाचार्य की सगुण भक्ति का निरूपण किया। इसी भक्ति पद्धति को रामानंद ने जनता के लिए नया अर्थ संदर्भ दिया। रामानंद ने विष्णु के अवतार राम की उपासना पर जोर दिया और बड़ा भारी सम्प्रदाय खड़ा किया। दूसरी ओर वल्लभाचार्य ने प्रेममूर्ति कृष्ण को लेकर जनता को रसमग्न किया। सामाजिक स्थिति ऐसी बनी कि हिंदू-मुसलमान दोनों के लिए एक सामान्य भक्तिमार्ग का विकास हुआ। कबीर ने निचली जातियों में आत्मगौरव का भाव जगाया और भक्ति रस से मानव को सींचकर नया मार्ग सुझाया। इस तरह ज्ञान और भक्ति का योग हुआ। भक्ति आंदोलन अखिल भारतीय था इसलिए यह जन-आंदोलन भी था और लोक जागरण भी। भक्ति आंदोलन का सांस्कृतिक इतिहास लोक-संस्कृति एवं

लोक-भाषाओं से जुड़ा रहा है। भक्ति आंदोलन साहित्य तक ही सीमित नहीं रहा। उसने सभी कलाओं को सांस्कृतिक सर्जनात्मकता का परिवेश प्रदान किया। भक्तों ने न जाने कितनी तरह की संकीर्णताओं-क्षुद्रताओं का निषेध किया। इस प्रयत्न से एक ऐसा लोक-धर्म पैदा हुआ जिसने सगुण-निर्गुण का झगड़ा-रगड़ा कम कर दिया। तुलसी लोक-वेद में लोक और शास्त्र दोनों को लेकर चले। कबीर-तुलसी दोनों रामानंद की परम्परा के कवि हैं। आज हमें एकाग्र होकर भक्ति के समाजशास्त्र-धर्मशास्त्र, आचारशास्त्र के मूल स्रोतों तक जाना होगा। यह भी विचार करना होगा कि यह भक्तिकाव्य इतना विद्रोही क्यों है।

देखें : अष्टछाप, 'अंग्रेजी हटाओ' आंदोलन, छायावाद, डायग्लॉसिया, नगेंद्र और सैद्धांतिक समीक्षा, नयी कविता, नंद दुलारे वाजपेयी, नामवर सिंह, प्रेमचंद, प्रयोगवाद, प्रगतिवाद, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, भक्ति आंदोलन-1 और 2, भारतेंदु हरिश्चंद्र, भारतेंदु युग-1 और 2, भाषा नियोजन-1 से 4 तक, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, महावीर प्रसाद द्विवेदी, महादेवी वर्मा, मीराबाई और प्रेमाभक्ति, रहल सांस्कृत्यायन, रामानुजाचार्य, रामानंद, रामचंद्र शुक्ल-1 और 2, रामविलास शर्मा, राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता, रीतिकाल-1 और 2, विजय देव नारायण साही, वैष्णव धर्म, श्याम सुंदर दास, सम्पर्क भाषा-1 से 4 तक, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1, 2 और 3, सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय, संत-काव्य, संस्कृत काव्यशास्त्र, सिद्ध-नाथ परम्परा, सूफीयत और प्रेमाख्यान, हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिंदी विरोधी आंदोलन, हिंदी जाति-1, 2 और 3, हिंदी साहित्य का आदिकाल, हिंदी साहित्य का इतिहास, हिंदी साहित्य का इतिहास : नये परिप्रेक्ष्य, हिंदी-पद्य में इतिहास, हिंदी-जगत और 'लोकप्रिय'-1 और 2, हिंदी नवजागरण, हिंदी-संस्थाएँ।

संदर्भ

1. कृष्णा शर्मा (1887), *भक्ति ऐंड द भक्ति मूवमेंट : अ न्यू पर्सपेक्टिव, अ स्टडी इन द हिस्ट्री ऑफ आइडियाज़*, मुंशीराम मनोहरलाल पब्लिशर्स, दिल्ली.
2. डी.डी. कोसम्बी (1956), *ऐन इंट्रोडक्शन टु द स्टडी ऑफ इण्डियन हिस्ट्री*, बम्बई.
2. मुंशीराम शर्मा (1958), *भक्ति का विकास*, चौखम्भा, विद्याभवन, वाराणसी.
3. बलदेव उपाध्याय (1953), *भागवत सम्प्रदाय*, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी.
4. रामचंद्र शुक्ल (1940), *हिंदी साहित्य का इतिहास*, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
5. हजारीप्रसाद द्विवेदी (1941), *हिंदी साहित्य की भूमिका*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

— कृष्णदत्त पालीवाल

भगवद्गीता

(Bhagvad Geeta)

भगवद्गीता या *गीता* ने भारतीय समाज में कर्म-सिद्धांत स्थापित करने की महती भूमिका निभायी है। दर्शन और धर्म संबंधी यह पद्यबद्ध रचना *महाभारत* का एक भाग है लेकिन श्रद्धालुओं में इसकी अभूतपूर्व लोकप्रियता के कारण इसने महाकाव्य से स्वतंत्र अस्तित्व ग्रहण कर लिया है। इसके जितने समर्थक हैं उतने ही आलोचक भी। विवादित होने के बावजूद भारतीय चिंतन परम्परा पर अपनी अमिट छाप छोड़ने वाले इस ग्रंथ ने समाज-सुधार के कई आंदोलनों, उपनिवेशवाद विरोधी राजनीति और भारतीय आधुनिकता की निर्मिति के आधारभूत दर्शन का काम किया है। भारत की सांस्कृतिक राजनीति में गीता की व्याख्या करते हुए सिद्धांत-निरूपण की परम्परा तेरहवीं सदी से ही चली आ रही है। ज्ञानेश्वर, एकनाथ और रामदास ने भी अपने सिद्धांतों का निरूपण गीता की व्याख्या के जरिये ही किया था। इसी परम्परा में तिलक ने भी गीता की व्याख्या की और वहीं से सामग्री ले कर ब्रिटिश उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रीय आंदोलन के संदर्भ में अपने राजनीतिक दर्शन के बुनियादी सिद्धांतों का प्रतिपादन किया। भारतीय राष्ट्रवाद के प्रमुख सिद्धांतकार अरविंद घोष और फिर आगे चल कर गाँधी विचार पर भी गीता की छाप स्पष्ट है। स्वामी विवेकानंद पर भी *गीता* का आजीवन असर रहा। ऐनी बेसेंट के अनुसार *गीता* साधक को संन्यास के उस उच्च स्तर पर ले जाती है जहाँ कामना और आसक्ति का त्याग किया जाता है और जहाँ योगी समाधिस्थ होते होते हुए भी शरीर और मन से लोक-कल्याण के लिए कार्य करते हैं।

गीता में दिये गये सूत्रीकरणों ने पश्चिम के मनीषियों को भी अपनी ओर आकृष्ट किया है। अठ्ठारहवीं शती के अंतिम चरण में बंगाल के पहले गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स की आज्ञा से चार्ल्स विलकिंस नामक संस्कृतज्ञ अंग्रेज विद्वान ने इसका सबसे पहले अंग्रेजी अनुवाद किया। इसी अनुवाद को पढ़ कर इमर्सन ने 'ब्रह्म' विषयक अपनी सुप्रसिद्ध कविता का प्रणयन किया। आज विश्व की ऐसी कोई भी प्रमुख भाषा नहीं है, जिसमें *भगवद्गीता* का अनुवाद न हो।' अनेक भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों ने इसकी प्रशंसा में इसे 'मानव धर्म का ग्रंथ' बताया है तथा इसकी तुलना कामधेनु और कल्पवृक्ष से की है।

भगवद्गीता की लोकप्रियता के पीछे उसका आध्यात्मिक एवं दार्शनिक पक्ष ही प्रबल रहा है। *महाभारत* में भीष्म पर्व के तहत संकलित *गीता* भगवान कृष्ण द्वारा कुरुक्षेत्र

के युद्ध में अर्जुन को दिये गये उपदेश के तौर पर दर्ज है। इसे वेदांत दर्शन के सार के तौर पर भी देखा जाता है। एक श्लोक के अनुसार यह उपदेश गोपालनंदन श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को बछड़ा बना कर उपनिषद् रूपी गायों से छोड़ा गया अमृतमय दूध है जिसे सुधीजन पीते हैं : 'सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनंदनः। पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता गीतामृतं महत् ॥'

दृष्टांत के मुताबिक कुरुक्षेत्र में युद्ध के लिए कौरव और पाण्डव सेनाएँ आमने-सामने खड़ी हैं। और अर्जुन के सारथी श्रीकृष्ण दोनों सेनाओं के बीच उनका रथ ले जाकर खड़ा करते हैं। अर्जुन अपने गुरुजनों, संबंधियों और परिजनों से लड़ने से इनकार कर देते हैं और कहते हैं कि युद्ध जीत लेने पर भी अपने परिजनों के रक्त से रंजित राज्य-सुख का उपभोग करने का क्या लाभ, अतः मैं युद्ध नहीं लड़ूँगा चाहे ये हमें मार ही डालें। कृष्ण अर्जुन को समझाते हैं कि क्षत्रिय राजपुत्र और धर्मरक्षक होने के नाते उनका कर्तव्य है कि वे अधर्म और अशुभ से 'धर्मसंस्थापनाय' युद्ध करें और अपने 'स्वभाव' व स्वधर्म का पालन करें। दुविधाग्रस्त अर्जुन कृष्ण से कई सवाल करते हैं और कृष्ण सबका जवाब देते हैं। अंत में श्रीकृष्ण अपने उपदेश की समाप्ति पर कहते हैं : 'जैसी तुम्हारी इच्छा, वही करो'। तब अर्जुन कहते हैं : 'आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया, अतः मैं, जैसा आपने कहा, वही करूँगा।' और यह कहते हुए अर्जुन युद्ध करने के लिए तैयार हो जाते हैं।

गार्वे का मत है कि *गीता* की रचना ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी के मध्य हुई होगी और एकेश्वरवाद के आदर्शवादी समर्थकों ने उसमें आवश्यक परिवर्तन करके उसे वर्तमान रूप दिया होगा। के. दमोदरन का कहना है कि *गीता* की जड़ें उस अत्यंत प्राचीन काल में हैं जब आर्यों का कुल संबंधों पर आधारित ऋबीलाई समाज उस वर्णाश्रम व्यवस्था को स्थान दे रहा था जिसमें चार वर्णों के बीच श्रम-विभाजन तथा अपने वर्ण की सेवा करने पर जोर दिया गया है। अर्जुन अपने दीर्घकालीन रक्त संबंधों और कुल धर्म से बँधे थे किंतु कृष्ण ने अर्जुन का आह्वान किया कि वे अपने वर्ण प्रदत्त कर्तव्य को (स्वधर्म को) अंतःकरण की पीड़ा की चिंता किये बिना पूरा करें। दरअसल यह आह्वान नयी ऐतिहासिक प्रवृत्तियों की बढ़ती हुई शक्ति का द्योतक था। अर्जुन की भावना जहाँ यह थी कि कुल-धर्म का उल्लंघन करना पाप है, वहाँ कृष्ण ने इस बात पर जोर दिया कि स्वधर्म के पालन से बढ़ कर कुछ भी नहीं है और 'युद्ध करने वाले वर्ण (क्षत्रियों) के लिये न्याय पूर्ण युद्ध में भाग लेने से बढ़ कर कोई दूसरा कर्तव्य नहीं है। *गीता* में जो भिन्न-भिन्न दार्शनिक स्थितियाँ अपनायी गयी हैं वे सब इस संसार में अपने कर्तव्य (धर्म) की पूर्ति करने के लिए कर्म करने पर जोर देती हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'मैंने उनके गुणों और कर्मों के अनुसार समाज के चारों

वर्ण बनाये हैं।' 'चातुर्वर्ण्य व्यवस्था वर्गहीन, आदिम, ऋबीली समाज से आगे बढ़ा हुआ ऋदम था। बर्बरता से सभ्यता की ओर समाज को आगे बढ़ाने वाली ऐतिहासिक आकांक्षा को ही *गीता* ने, स्वयं परमात्मा द्वारा प्रणीत बता कर, उसे आदर्शपूर्ण बना दिया। यह बढ़ा-चढ़ा दावा करना सम्भवतः आवश्यक भी था। कारण यह कि आदिम वर्गहीन समाज से वर्गवाले समाज में रूपांतरण तथा वर्णाश्रम व्यवस्था के सृष्टीकरण को शक्तिशाली प्रतिरोध का सामना करना पड़ रहा था। यह प्रतिरोध दार्शनिक स्तर पर भी हो रहा था।' ऐसी ही परिस्थितियों में *गीता* का प्रादुर्भाव हुआ।

गीता में निर्दिष्ट तत्त्वज्ञान को समझने के लिए उसके सिद्धांत-पक्ष और व्यवहार-पक्ष को समझना होगा। सिद्धांत-पक्ष के अंतर्गत पदार्थ-विवेचन और व्यवहार-पक्ष के तहत साधन मार्ग का विवेचन है।

साध्यपक्ष : *गीता* के अनुसार पदार्थों की तीन श्रेणियाँ अपरा प्रकृति, परा प्रकृति और अहम् हैं। अपरा प्रकृति और परा प्रकृति, भगवान की दो प्रकृतियाँ हैं। क्षेत्र तथा क्षर पुरुष अपरा प्रकृति का दूसरा नाम है और परा प्रकृति का दूसरा नाम क्षेत्रज्ञ व अक्षर पुरुष है। *गीता* में 'जगत' अपरा प्रकृति के रूप में आता है। जगत की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय ईश्वर के कारण है। *गीता* में सांख्य का उल्लेख कई जगह मिलता है किंतु उसके विपरीत *गीता* जगत की उत्पत्ति ईश्वर से मनती है तथा ईश्वर प्रकृति का अध्यक्ष है— उसके कार्यों का निरीक्षक व प्रेरक है। ईश्वर की अध्यक्षता में प्रकृति जगत की सृष्टि करती है, नहीं तो जड़त्मक प्रकृति में जगत की रचना करने का सामर्थ्य कहाँ से आ जाता! प्रकृति और ईश्वर के संबंध में *गीता* का विचार है कि महद्ब्रह्म या प्रकृति योनि है और ईश्वर बीज डालने वाला पिता है। *गीता* का स्पष्ट कहना है कि परमात्मा के अलावा और कुछ नहीं है तथा है भी तो वह माया है। जीवन को *गीता* परा प्रकृति मानती है, जो अपरा प्रकृति से भिन्न चेतन होती है। इसे ही क्षेत्रज्ञ कहा गया है— जैसे खेत बीजों को धारण करता है, वैसे ही यह शरीर भी किये गये कर्मों को धारण करता है।

गीता ने आत्मा को अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य तथा अशोध्य माना है। वह सब प्राणियों में व्याप्त, अचल और सनातन है। तथा अव्यक्त, अचिन्त्य व अविकारी है। जीव को अंश तथा भगवान को अंशी माना गया है। ब्रह्म के निर्गुण तथा सगुण स्वरूपों को अभिन्न तत्त्व माना गया है। संक्षेप में यही है *गीता* का साध्य पक्ष।

नाना जीवों के लिए उनकी अभिरुचि के मंगल साधन के लिए *गीता* ने कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्ति योग का प्रतिपादन किया है। *गीता* कर्म को कर्तव्य समझ कर उसे निष्काम-भाव से करने का उपदेश देती है। मीमांसकों के

कर्मवाद में स्वार्थ तथा आसक्ति है किंतु कर्मयोग में निःस्वार्थ तथा अनासक्ति का भाव है। कर्ममार्ग के सिद्धांत से भारतीय क्रांतिकारियों को भी प्रेरणा मिली है। कर्मयोग की तरह *गीता* में ज्ञानयोग की चर्चा जगह-जगह आती है। *गीता* के अनुसार आत्मा की एकता का पूर्ण अनुभव ज्ञान है। इसकी दो दिशाएँ हैं— पहली है सब प्राणियों में आत्मा को देखना। विश्व के सभी प्राणियों में एक ही आत्मा का वास है तथा दूसरी दिशा है— एक ही आत्मा में सब भूतों का प्रत्यक्ष करना। 'सामत्व ज्ञान' उच्च कोटि का माना गया है। भगवत्प्राप्ति के साधनों में भक्तियोग को विशेष महत्त्व प्राप्त है। भक्ति के जरिये ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है। 'अनन्या भक्ति' से तात्पर्य उस भक्ति से है जो भगवान को छोड़कर किसी दूसरे के प्रति नहीं की जाती। *गीता* अवतारवाद स्थापित करती है। श्रीकृष्ण स्वयं ही कहते हैं कि जब धर्म का हास होने लगता है और अधर्म का प्रभाव बढ़ता है तो साधुओं के परित्राण, दुर्जनों के विनाश और धर्म के संस्थापन के लिए अवतार होता है।

यद्यपि गाँधी इसे अहिंसा की शिक्षा देने वाला ग्रंथ मानते हैं, पर *गीता* की एक आलोचना युद्धोन्माद फैलाने वाली या युद्ध का दर्शन स्थापित करने वाली पुस्तक के रूप में भी की गयी है। लेकिन उसकी इससे भी ज्यादा गहरी आलोचना भौतिकवादी विचारकों ने की है। *गीता* में निहित कर्म-सिद्धांत को खारिज करने वाले भौतिकवादियों ने चार्वाकों और अजित केशकम्बली की व्याख्याओं का सहारा लेकर *गीता* को श्रेणीबद्ध जाति-प्रथा पर दैवी मान्यता आरोपित करने का जिम्मेदार तो ठहराया ही है, साथ ही यह भी कहा है कि इसी ग्रंथ के दार्शनिक प्रभाव के कारण भारतीय मानस प्रारब्धवादी हुआ और सब कुछ के पूर्व-निर्धारित होने की भावना घर कर गयी।

देखें : आर्यभट्ट और *आर्यभटीय*, उपनिषद्, कपिल, *अर्थशास्त्र* और कौटिल्य, गोपीनाथ कविराज, गोविंद चंद्र पाण्डे, चैतन्य महाप्रभु, जैन दर्शन, न्याय दर्शन, दया कृष्ण, नंद किशोर देवराज, न्याय दर्शन, नागार्जुन, पतंजलि और *योगसूत्र*, पाणिनि और *अष्टाध्यायी*, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, पुराण, पूर्व-मीमांसा दर्शन, बदरीनाथ शुक्ल, बादरायण, बौद्ध दर्शन, भरत और *नाट्यशास्त्र*, मुकुंद लाठ, *भागवत पुराण*, *महाभारत*, यशदेव शल्य, योग दर्शन, रामानुजाचार्य, लोकायत, वात्स्यायन और *क्रामसूत्र*, वेदांत दर्शन, वैशेषिक दर्शन, शंकराचार्य, षड्-दर्शन-1 और 2, संस्कृत काव्यशास्त्र, स्मृति-साहित्य, सांख्य दर्शन-1 और 2, सिद्ध-नाथ परम्परा।

संदर्भ

1. सतीश चंद्र चट्टोपाध्याय एवं धीरेन्द्र मोहन दत्त, *भारतीय दर्शन*, पुस्तक भण्डार, पटना।
2. के. दामोदरन (1982), *भारतीय चिंतन परम्परा*, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली।

3. चंद्रधर शर्मा (1991), *भारतीय दर्शन : आलोचन और अनुशीलन*, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली।
4. बलदेव उपाध्याय (2000), *भारतीय दर्शन की रूपरेखा*, चौखम्भा पब्लिशर्स, वाराणसी।

— अजय कुमार पाण्डेय

भदंत आनंद कौसल्यायन

(Bhadant Aanad Kauslyaayan)

बीसवीं सदी के बौद्ध भिक्षुओं, विद्वानों और प्रचारकों में भदंत आनंद कौसल्यायन (1905-1988) का नाम अत्यंत सम्मान के साथ लिया जाता है। बौद्ध धर्म के प्रचार एवं प्रसार के लिए उन्होंने विभिन्न देशों का दौरा किया तथा अपने सम्पूर्ण जीवन को धम्म के लिए ही अर्पित कर दिया। वे चिंतक, अनुवादक एवं प्रचुर साहित्य के सृजनकर्ता थे। वे जिस दौर में सक्रिय थे, वह भारतीय समाज के लिए सांस्कृतिक और धार्मिक तनाव का था। जातिगत अस्मिताएँ आपस में टकरा रही थीं। ऐसे समय में बौद्ध आदर्शों के प्रचार-प्रसार के साथ-साथ कौसल्यायन ने हिंदी भाषा के प्रचार और श्री-वृद्धि के लिए भी उल्लेखनीय प्रयास किये। वे अक्सर कहा करते थे : 'मेरा जीवन साईकल के दो पहिये हैं, एक बौद्ध धर्म का प्रचार और दूसरा हिंदी भाषा की सेवा।' इसी के अनुरूप उन्होंने अपना जीवन ढाला। उनकी यात्रा एक वर्तुलाकार पहिये के समान समूचे भारत और उत्तर-पूर्व के धम्म प्रभावित राष्ट्रों में धम्म और हिंदी का परचम लहराते घूमती रही। वे बाबा साहेब आम्बेडकर और राहुल सांकृत्यायन को अपने प्रेरणा पुरुष के रूप में देखते थे। यात्रा साहित्य में कौसल्यायन का योगदान विशेष रूप उल्लेखनीय है।

भदंत आनंद कौसल्यायन ने बाबासाहेब आम्बेडकर की विख्यात जीवनी *यदि बाबा न होते* भी लिखी है। 14 अप्रैल, 1969 को राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा से इसका प्रकाशन हुआ। इस जीवनी-लेखन के पीछे भी एक प्रकरण है। कौसल्यायन किसी कार्य के सिलसिले से दिल्ली गये थे। वहाँ कम्युनिस्ट पार्टी के नेता श्रीपाद अमृत डांगे से उनकी मुलाकात हुई। बातचीत के दौरान डांगे ने सवाल पूछा : बाबासाहेब बौद्ध क्यों हुए? कौसल्यायन को लगा कि इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए एक पुस्तक लिखनी पड़ेगी और उन्होंने डांगे के सवाल का ठोस, युक्ति-युक्त जवाब देने के लिए बाबासाहेब की जीवनी लिखी। इससे पूर्व उन्होंने *बाबासाहेब* नामक एक छोटी सी पुस्तक भी प्रकाशित की



भदंत आनंद कौसल्यायन (1905-1988)

जिसमें एक जगह उन्होंने कहा है— 'इस देश में बाबा भी बहुत हुए और साहब भी, किन्तु बाबासाहब केवल एक ही हुए।'

कौसल्यायन की प्रमुख पुस्तकों में से कुछ इस प्रकार हैं : बुद्ध धर्म : एक बुद्धिवादी अध्ययन, भिक्षु के पत्र, जो भूल न सका, आह! ऐसी दरिद्रता, बहानेबाजी, रेल के टिकट, संस्कृति, देश की मिट्टी बुलाती है, मनुस्मृति क्यों जलायी गयी?, भगवद्गीता की बुद्धिवादी समीक्षा, राम कहानी राम की ज़बानी, ऐन इंटेलिजेंट मेंस गाइड टु बुद्धिज्म, भगवान बुद्ध और उनके अनुचर, आज का जापान, आवश्यक पाली, धम्मपद (हिंदी अनुवाद), ब्राह्मणशाही की ऊहापोह अर्थात् हिंदू धर्म की रिडल्स।

कौसल्यायन का जन्म पंजाब के अम्बाला ज़िले के सुहाना गाँव स्थित फूलवंती और रामशरण दास के घर में 5 जनवरी, 1905 को हुआ था। उनके बचपन का नाम हरिनाम दास था। पिताजी हिंदू मोहम्मडन स्कूल में अध्यापक थे, इसलिए इसी स्कूल में उन्हें दाखिल कराया गया। 1920 में उन्होंने मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण की। इस दौरान उन्हें भाई परमानंद के आश्रम में रहने का मौका मिला जिन्होंने उन्हें आगे पढ़ाई करने की सलाह दी। लाला लजपतराय ने उन दिनों लाहौर में क्रौमी विद्यापीठ की स्थापना की थी जहाँ क्रांतिकारी एवं देशभक्त युवक पढ़ाई करने के लिए जमा हुए थे। उस समय हरिनाम दास भी लाहौर के नैशनल कॉलेज में बीए की पढ़ाई कर रहे थे। उनके सहपाठियों में हिंदी के जाने माने लेखक यशपाल, भगत सिंह और सुखदेव आदि थे। 1924 में 19 वर्ष की आयु में उन्होंने बीए की परीक्षा उत्तीर्ण की।

1924-25 में की एक घटना के बारे में भदंत आनंद कौसल्यायन लिखते हैं : लाहौर का प्रसिद्ध मौहल्ला है, वरघोवाली, वहाँ पर आर्य समाज के व्याख्यान हुआ करते थे।

मैं कभी-कभी वहाँ पर व्याख्यान सुनने जाता। एक दिन देखा कि आर्य समाज की वेदी पर एक साधु बैठा है। उनको लोग उत्सुकतापूर्वक सुन रहे थे : भारत में दो ऋषि हुए, एक बुद्ध और दूसरे दयानंद। ऐसा माना जाता है, ऋषि युगप्रवर्तक होता है, और लोग सामान्य सुधारक। ऋषि में प्रवाह बदलने का सामर्थ्य होता है। ऐसा कहने वाले वे व्याख्याता राहुल सांकृत्यायन साधु थे। लगभग छह साल बाद 1930 में वे श्रीलंका में राहुल सांकृत्यायन के साथ थे, तब उन्होंने राहुल जी को वरघोवाली व्याख्यान की याद दिलायी और पूछा क्या अब भी आप बुद्ध की तरह दयानंद को ऋषि मानते हैं अथवा विचारों में कोई फ़र्क आया है? वे बोले— कहाँ युगप्रवर्तक बुद्ध जिसने भारत को वेद, ईश्वर, आत्मा की गुलामी से स्वतंत्र किया और कहाँ दयानंद जो खुद वेद, ईश्वर, आत्मा की गुलामी से स्वतंत्र नहीं हो सके। डॉ. आम्बेडकर के बाद उनके जीवन में राहुल सांकृत्यायन दूसरे ऐसे व्यक्ति थे, जिनसे वे प्रभावित भी थे और उनसे उनकी बहस भी हुआ करती थी।

उन दिनों लाहौर से उपदेशक नामक अखबार छपता था। सेठ दामोदर इसके सम्पादक थे। हरिनामदास ने सम्पादक के प्रोत्साहन पर 'हमारे भी हैं, मेहरबान कैसे-कैसे' लेख लिखा। कौसल्यायन लिखते हैं कि वह मेरा पहला लेख था : 'अपने नाम को पहली छापे के अक्षरों में देखना कुछ ऐसा उन्माद था कि आज भी उसकी खुमारी का अनुभव कर सकता हूँ।' इसके बाद जो लिखना शुरू किया तो निरंतर लिखते रहे। जितना समाज को देखा और महसूस किया, उतना ही लिखा। हरिनामदास कांग्रेस पार्टी के सक्रिय कार्यकर्ता थे। साथ-साथ में सामाजिक काम भी करते थे। उन्होंने कांगड़ा ज़िले के एक गाँव में दलितोद्धार का कार्य हाथ में लिया। वहाँ पर सराडे और डुमने नामक दो जातियाँ थीं। इन दोनों जातियों के लोगों को वे पढ़ाने जाया करते थे। 1928 में वे सिंहल द्वीप गये। 5 फ़रवरी, 1928 को उन्होंने दीक्षा ली और उनका नाम आनंद रखा गया। एक ही नाम के कई भिक्षु होने के कारण भेद करने के लिए नाम के बाद गाँव का नाम रखा जाता है, लेकिन गाँव का नाम न रखते हुए गोत्र नाम लगाया गया। इस तरह हरिनामदास से आनंदगिरी, आनंदगिरी से विश्वनाथ, विश्वनाथ से भदंत आनंद कौसल्यायन तक का सफ़र हुआ। श्रीलंका निवास के दौरान कौसल्यायन की मुलाक़ात स्वाधीन भारत के प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू के साथ हुई। नेहरूजी ने उनसे पूछा 'आप बौद्ध भिक्षु क्यों बने?' तब उनका उत्तर था, 'आत्मा-परमात्मा, स्वर्ग-नरक की झूठी कल्पनाओं से छुटकारा पाने के लिए मैं बौद्ध भिक्षु बना हूँ।' कौसल्यायन को महाबोधि सोसाइटी की ओर से ब्रिटेन में धर्मदूत के तौर पर धर्म का प्रचार-प्रसार करने भेजा गया। इसी दौरान उन्होंने बहुत से

देशों का भ्रमण किया।

भारतीय स्वाधीनता आंदोलन के दौरान राष्ट्रभाषा को लेकर दो विचार थे। गाँधी चाहते थे कि राष्ट्रभाषा हिंदुस्तानी होनी चाहिए। दूसरी तरफ़ पुरुषोत्तमदास टंडन चाहते थे कि राष्ट्रभाषा हिंदी होनी चाहिए। टंडन के आग्रह पर 12 जुलाई, 1942 को कौसल्यायन राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा के प्रधानमंत्री बने। 1951 तक उन्होंने इसकी सेवा की। कौसल्यायन ने अपने संगठन-कौशल और निष्ठा से राष्ट्रभाषा प्रचार समिति को विश्वास संस्था में परिणत कर दिया।

डॉ. आम्बेडकर ने बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण करने हेतु कौसल्यायन से भारत के सबसे ज्येष्ठ भिक्षु के बारे में पूछा तो उन्होंने ने शास्ता महास्थविर चंद्रमणि का नाम सुझाया। दिलचस्प बात यह है कि डॉ. आम्बेडकर द्वारा 14 अक्टूबर, 1956 को ली गयी धर्म दीक्षा में कौसल्यायन उपस्थित नहीं थे। 1956 में जब वे चीन से बर्मा के रास्ते हवाई जहाज़ से भारत लौट रहे थे, तो विमान में ही उन्होंने पढ़ा कि नागपुर की दीक्षा भूमि में डॉ. आम्बेडकर के साथ उनके लाखों अनुयायियों का बौद्ध धर्म में दीक्षित होने का संस्कार सम्पन्न हो गया।

6 दिसम्बर, 1956 को डॉ. आम्बेडकर का परिनिर्वाण दिल्ली में हुआ। उस वक़्त कौसल्यायन खुद दिल्ली में मौजूद थे। जब आम्बेडकर के पार्थिव शरीर को अग्नि दी जाने वाली थी, तब उनके एक शिष्य दादासाहेब गायकवाड़ ने रुद्ध कंठ से जन-समुदाय को सम्बोधित किया कि 16 दिसम्बर को बम्बई में बाबासाहेब महाराष्ट्र के लाखों दलितों को बौद्ध धर्म की दीक्षा देने वाले थे। अब हम उनके पार्थिव शरीर को साक्षी मान बाबासाहेब की इच्छा-पूर्ति करें। कौसल्यायन ने अपनी किताब *यदि बाबा न होते* में लिखा है, 'दादासाहेब गायकवाड़ की इच्छा के अनुसार इन पंक्तियों के लेखक ने उस अपार जन-समुद्र को सम्बोधित कर पूछा— 'जो लोग दीक्षा लेना चाहते हैं वे हाथ उठा लें।' इतने हाथ उठे कि उनका ओर-छोर कहीं कुछ न दिखाई देता था। यह भी एक ऐतिहासिक तथ्य है कि श्मशान भूमि में ही त्रिशरण, पंचशील का उच्चारण कर कई हजार लोगों ने दीक्षा ग्रहण की।

इस ऐतिहासिक क्षण के साक्षी भदंत आनंद कौसल्यायन स्वयं थे। 1969 में बाबासाहेब आम्बेडकर स्मारक समिति, नागपुर की ओर से उन्हें दीक्षाभूमि स्थित भिक्षु निवास में रहने के लिए आमंत्रित किया गया। यहाँ से उन्होंने *दीक्षाभूमि* तथा *दीक्षाभूमि संदेश* जैसी पत्रिकाओं का सफल सम्पादन किया। उन्होंने नागपुर के समीप नौ एकड़ भूमि में बौद्ध प्रशिक्षण संस्थान की नींव रखी जो आज बुद्ध भूमि नाम से प्रसिद्ध है। इस तरह उन्होंने नागपुर को अपनी कर्मभूमि बनाया।

64 साल के बौद्ध भिक्षु जीवन के बाद 22 जून, 1988

को उम्र के 83वें वर्ष में नागपुर में उनका परिनिर्वाण हुआ। पाली भाषा से बौद्ध त्रिपिटक का हिंदी में अनुवाद हो, या खुद के लिखित ग्रंथ हों, या आम्बेडकर द्वारा अंग्रेज़ी में लिखित ग्रंथों का हिंदी अनुवाद हो— भदंत आनंद कौसल्यायन की ये सारी साहित्य रचनाएँ हिंदी पाठकों के ज्ञान-संवर्धन में गहरा योगदान करने वाली हैं।

देखें : अनुसूचित जातियाँ, अस्मिता की भारतीय राजनीति, अन्य पिछड़े वर्ग, आयोतीदास पांडीतर, आयंकाली, आम्बेडकर-गाँधी विवाद, इरोड वेंकट रामस्वामी नायकर पेरियार, कांशी राम, गाड़गे बाबा, गोपाल बाबा वलंगकर, ज्योतिराव गोविंदराव फुले, जाति और जाति-व्यवस्था-1, 2, 3 और 4, बाबू मंगू राम, बहुजन समाज पार्टी-1 और 2, भारतीय संविधान-1 से 8 तक, भीमराव रामजी आम्बेडकर, स्वामी अछूतानंद हरिहर।

संदर्भ

1. मुरलीधर खोब्रागड़े (2012), डॉ. भदंत आनंद कौसल्यायन : एक परिचय, मैसूर हिंदी प्रचार परिषद् पत्रिका, बंगलुरु .
2. डी.सी.अहीर (1989), *द पायनियर्स ऑफ बुद्धिस्ट रिवाइवल इन इण्डिया*, श्री सतगुरु पब्लिकेशन, नयी दिल्ली.
3. महाबोधि सोसाइटी ऑफ इण्डिया डायमंड जुबिली सुवेनिर (1952), कलकत्ता.
4. भदंत आनंद कौसल्यायन (2000), *यदि बाबा न होते*, बुद्ध भूमि प्रकाशन, नागपुर.

— मोहनदास नैमिशराय

भरत और नाट्यशास्त्र

(Bharat and Natyashastra)

भरत मुनि को भारतीय नाट्यशास्त्र का प्रथम प्रणेता माना जाता है। वे न केवल नाट्यशास्त्र के आदि आचार्य हैं बल्कि उनका ग्रंथ *नाट्यशास्त्र* काव्यशास्त्र का भी आदि ग्रंथ है। भारतीय नाट्य-मीमांसा के आधारभूत ग्रंथ के रूप में यह रचना नाटक, संगीत, छंद, अलंकार, रस आदि नाटक के सभी पक्षों के विशद सिद्धांतों का प्रतिपादन करती है। एक दृष्टांत के अनुसार त्रेतायुग में दुःख और आपदा से पीड़ित लोगों को ध्यान में रखकर इंद्र आदि देवताओं की प्रार्थना पर ब्रह्मा ने चारों वर्णों और विशेषकर शूद्रों के मनोरंजन व अलौकिक आनंद के लिए एक पाँचवें वेद का सृजन किया। ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लेकर ब्रह्मा ने पंचम वेद नाट्यवेद की रचना की। भरत ने अपने एक श्लोक के जरिये दावा किया कि 'न कोई ऐसा ज्ञान

है, न शिल्प, न ऐसी कोई विद्या, न कला, न योग और न ही कोई कर्म है जो नाट्य में न पाया जाता हो।' यह कथन नाट्य-क्षेत्र और उसके कला-विस्तार का प्रमाण है। इन अर्थों में कहना ज्यादा सार्थक है कि संसार में लोगों की रुचि भिन्न-भिन्न होती है— ऐसे सभी लोगों को प्रसन्न करने वाला यदि कुछ है तो वह अधिकांशतः 'नाट्य' है। ऋग्वेद में सरमा-पणि, यम-यमी, अगस्त्य-लोपामुद्रा, पुरुरवा-उर्वशी आदि अनेक संवाद सूक्तों में नाट्य-सूत्र तलाशे जा सकते हैं। भारतीय नाट्य-परम्परा वहाँ से जोड़ कर देखी जा सकती है। भरत मुनि का नाट्यशास्त्र उस परम्परा का विस्तार है।

नाट्यशास्त्र को प्रकाश में लाने का श्रेय कुछ विदेशी विद्वानों को है। उन्होंने इस प्राचीन रचना की खण्डित प्रतियाँ हासिल करके उसे प्रकाशित किया। कालिदास, बाण, श्री हर्ष, भवभूति आदि संस्कृत के नाट्यकारों ने नाट्यशास्त्र के महत्त्व को खुलेमन से स्वीकार किया है। नाट्यशास्त्र के अध्यायों की संख्या को लेकर भी मतभेद है। कुछ विद्वान उसके 37 अध्यायों को मानते हैं तो कुछ 36 अध्याय। अनिभनव गुप्त ने उसके 36 अध्याय माने हैं। ऐसा कहा जाता है कि भरत मुनि रचित प्रथम नाटक समुद्र मंथन का अभिनय देवों की विजय के बाद इंद्र की सभा में हुआ था। उन्होंने नाटक के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कहा था, 'नाट्य तो समग्र त्रिलोक का अनुकीर्तन है। नाटक का उद्देश्य दुःख से पीड़ित, थके, शोक से पीड़ित लोगों और तपस्वियों को उचित समय पर विश्रांति देना है। नाटक में सभी कलाओं का संगम होता है। नाटक प्रेक्षकों के मनोरंजन के साथ ही उनके बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास का निमित्त भी बनता है।'

भरत के जीवन-काल को लेकर विद्वानों के बीच मतैक्य नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टि से किसी व्यक्ति के जीवन-काल के निर्धारण के लिए जिन आधारभूत वैज्ञानिक तथ्यों की आवश्यकता होती है भरत के संदर्भ में उनका काफी हद तक अभाव है। मनमोहन घोष सरीखे कुछ लोग उन्हें काल्पनिक व्यक्ति मानते हैं। थोड़े बहुत उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर विद्वानों का एक वर्ग उनका जीवन-काल विक्रमपूर्व 500 वर्ष से प्रथम विक्रमशताब्दी के बीच मानता है। मत्स्यपुराण में तो उनका उल्लेख है ही, कालिदास ने भी अपनी रचना विक्रमोर्वशीयम में एक घटना विशेष के संदर्भ में भरत मुनि उल्लेख किया है। प्रकरण यह है कि स्वर्ग लोक में लक्ष्मी स्वयंवर का मंचन भरत मुनि ने किया, जिसमें प्रसिद्ध अप्सरा उर्वशी लक्ष्मी का अभिनय करते समय महाराज परुरवा को देख कर उन पर मोहित हो गयी और अभिनय करना भूल गयी। इस पर भरत मुनि ने उर्वशी को शाप दे दिया।

नाट्यशास्त्र पर सबसे प्रामाणिक टीका अभिनव गुप्त ने अभिनवभारती के रूप में लिखी है। अपनी इस टीका में उन्होंने अपने से पहले भट्टोद्भट, भट्टलोल्लट, भट्टशंकुक,

भट्टनायक, कीर्तिधर, भट्टयंत्र और हर्षवार्तिक आदि आचार्यों की लिखी टीकाओं का उल्लेख किया है। इनमें से अभिनवभारती के अलावा कोई भी टीका उपलब्ध नहीं है। अभिनवभारती भी अपने मूल रूप में नहीं मिलती। जो मिलती भी है वह काफी अशुद्ध है। उसकी अशुद्धता तो इस क्रम है कि आचार्य विश्वेश्वर को कहना पड़ा कि 'स्वयं आचार्य अभिनव गुप्त भी उसे नहीं समझ सकते।' हालाँकि विश्वेश्वर ने यथासम्भव अभिनवभारती के दो अध्यायों का संशोधन-सम्पादन करके नये संस्करण की प्रस्तुति की है।

नाट्यशास्त्र में विषय-वस्तु, पात्र, प्रेक्षागृह, रस, अलंकार, वृत्ति, अभिनय, भाषा, नृत्य, गीत, बाद्य, पात्रों के परिधान, प्रयोग के अलग वर्ग, भाव, अभिनय, शैली, सूत्रधार, विदूषक, गणिका, नायिका, नाट्य-पात्रों की अपेक्षित कुशलता आदि पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

भारतीय काव्यशास्त्र की दृष्टि से गद्य और पद्य दोनों तरह की रचनाएँ काव्य के अंतर्गत आती हैं। इस लिहाज से नाटक भी काव्य का एक रूप है। भरत मुनि नाटक को सभी काव्यों में उत्कृष्ट मानते हैं। नाटक को पाँचवाँ वेद मानने के पीछे भी यही धारणा रही है। काव्य-भेदों में नाटक रमणीय होने के साथ ही साथ प्राचीन और महत्त्वपूर्ण रहा है। नाटक को दृश्य-काव्य भी कहा गया है जिसमें अभिनय की प्रधानता होती है। किसी स्थिति-विशेष का अनुकरण नाट्य या अभिनय कहलाता है। नाट्य का अर्थ है विषय-वस्तु, चरित्र एवं अभिनय का ऐसा संयोग है जो रंगमंच पर दिखाया जा सके। संस्कृत में दो प्रकार के नाट्य भेद माने जाते हैं— रूपक और उपरूपक। रूपक के दस भेद हैं : नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, व्यायोग, समवकार, डिम, वीथी, अंक और ईहामृग। उपरूपक के अट्ठारह भेद हैं : नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थान, उल्लाप्य, काव्य, प्रेखण, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिता, दुर्मल्लिका, प्रकरणी, हल्लीश तथा भाणिका। इनमें अपनी प्रधानता के कारण कई बार 'नाटक' शब्द का इस्तेमाल रूपक के अर्थ में भी किया गया है। आधुनिक व्यवहार में तो यह रूपक का वाचक ही हो गया है, किंतु उपरूपकों की अपेक्षा रूपक के भेदों के ही प्रयोग अधिक मिलते हैं। नाटक में वीर या शृंगार रस की प्रधानता होती है और अन्य रस भी गौण रूप में हो सकते हैं। धीर, गाम्भीर्य, शौर्य, त्याग आदि उदात्त गुणों से सम्पन्न राजा, राजर्षि, दिव्य या दिव्यादिव्य पुरुष को नाटक के नायक की मान्यता दी गयी है। उपरूपकों की संख्या बाद के शास्त्रकारों को विवेचनों में बढ़ती गयी है। उपरूपक वस्तुतः लोकनाट्य हैं।

भरत ने नाटक के चार प्रमुख अवयव बताये हैं : कथावस्तु, नायक और पात्र, रस तथा अभिनय। उनके अनुसार नाटक का प्रमुख उद्देश्य कथावस्तु का संगठन है।

संवाद और अभिनय द्वारा कथानक का उद्घाटन होता है। कथा के दो भेद होते हैं : आधिकारिक और प्रासंगिक। आधिकारिक कथावस्तु का संबंध नाटक के फलभोक्ता या अधिकारी से रहता है। यह नाटक के प्रमुख पात्र नायक का प्रश्रय ग्रहण किये रहती है। प्रासंगिक कथाओं का उद्देश्य आधिकारिक कथावस्तु को विकसित करने में सहायता पहुँचाना है। प्रस्तुतीकरण के आधार पर कथावस्तु के दो भेद होते हैं : दृश्य और सूच्य। दृश्य कथावस्तु को रंगमंच पर अभिनीत करता है, जबकि सूच्य की केवल सूचना दी जाती है। सूच्य कथावस्तु के साधनों को अर्थोपक्षेपक कहते हैं। ये पाँच प्रकार के माने गये हैं : विष्कंभक, प्रवेशक, चूलिका, अंकमुख या अंकास्य और अंकावतार। स्रोत या आधार के विचार से कथावस्तु के तीन भेद किये जाते हैं : प्रप्यात, उत्पाद्य और मिश्र। मिश्र कथावस्तु ही आजकल चलन में है।

नाटक के नायक के लिए विनयशील, सुंदर, त्यागी, कार्य-कुशल, मृदुभाषी, लोकप्रिय, पवित्र, वक्ता, कुलीन, स्थिरचित्त, युवा, कुशाग्र, उत्साही, स्मृति-सम्पन्न, प्रज्ञावान, कलाओं का ज्ञाता, स्वाभिमानी, शूर, दृढ़, तेजस्वी, शास्त्रज्ञ, धार्मिक प्रवृत्ति का होना आवश्यक मानता है। इस दृष्टि से नायक के लिए निम्नगुणों का प्रावधान है— धीरोदात्त, धीर ललित, धीरप्रशांत तथा धीरोद्धत। नायक के अलावा प्रतिनायक तथा विट, चेट, शकार, विदूषक तथा नायिका आदि पात्रों के लक्षण तथा उनकी विशेषताएँ भी भरत मुनि ने प्रस्तुत की हैं। विट का लक्षण देते हुए बताया गया है कि वह वेश्या का उपचार करने में कुशल, मधुर, व्यवहारकुशल, कवि, ऊहापोह की परिस्थिति लाने में समर्थ व वाकपटु होता है। कलह प्रिय, अनेक कथाएँ जानने वाला, विकृत रूप वाला, गंध का सेवन करने वाला, मानने और न माननेवाली बातों का विशेष ज्ञान रखने वाला पात्र वेट कहलाता है। श्वेत वस्त्र और आभूषण धारण करने वाला, अकारण क्रोध करने वाला और प्रसन्न होने वाला, अधम कोटि का, विकार-युक्त, मागध भाषा बोलने वाला शकार होता है। वामन, बड़े दाँतों वाला, कुबड़ा, विकृत मुँह वाला, पीली आँखों वाला और द्विअर्थी बातें करने वाला विदूषक कहलाता है। वह नायक का मनोरंजन करता है, उसका संगी होता है तथा प्रेम प्रसंगों में नायक को मंत्रणा देता है।

नाट्यशास्त्र के 35 वें अध्याय के 62वें व 33वें श्लोक में भरतमुनि ने नायिका की विशेषताएँ बतायी हैं। ये हैं : रूपवती, गुण, शील, यौवन, मृदुलता, शक्ति-युक्त, प्रसन्नचित्त, स्नेहपूर्ण, स्निग्ध, भावपूर्ण मधुर-व्यवहार, योग्य, क्षोभरहित, लय-ताल का ज्ञान रखने वाली और रसयुक्तमय।

रस-विचार नाटक का तीसरा तत्त्व और रसनिष्पत्ति नाटककार का प्रमुख लक्ष्य बताया गया है। भरत मुनि ने अपने एक सूत्र— 'विभावनुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः' द्वारा

प्रतिपादन करते हुए कहा है कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इसे और स्पष्ट करते हुए भरत मुनि ने कहा है कि जिस प्रकार अनेक व्यञ्जनों, औषधियों और द्रव्यों से युक्त होने पर भोजी अपने भोजन में एक विशेष स्वाद का अनुभव करता है, उसी प्रकार रसिक जन अनेक भावों के अभिनय से युक्त स्थाई भावों का आस्वादन करते हैं। यही नाटक की रसानुभूति है। उन्होंने रसों की संख्या आठ बतायी गयी है और उसके चार अंग माने हैं— विभाव, अनुभाव, संचारीभाव और स्थाईभाव। नाट्यशास्त्र में इन सभी की व्याख्या एवं लक्षण मिलते हैं। खास बात यह है कि अध्याय छह में आठ रसों का उल्लेख है, जबकि अध्याय 24 में शांत रस का उल्लेख करते हुए नौ रसों की जिक्र मिलता है। अभिनव गुप्त ने भी शांत की रसों में गणना की है।

नाटक का चौथा और अंतिम तत्त्व अभिनय है। समस्त कथावस्तु, चरित्र, अर्थों और भावों का प्रकाशन अभिनय द्वारा ही होता है। अभिनय चार प्रकार का होता है— आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक। आंगिक व वाचिक अभिनय को काफ़ी हद तक उनके शब्दार्थों के जरिये समझा जा सकता है और आहार्य के अंतर्गत विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों का उनके अनुरूप वेशभूषा और अलंकार धारण करने का विधान है। नाट्यशास्त्र में विभिन्न वर्गों और देशों के व्यक्तियों की वेशभूषा का बड़ा ही विस्तृत विवरण है। सात्विक अभिनय सूक्ष्म अंतस्थ भावों का प्रकाशन है।

भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में प्रेक्षागृह का स्वरूप, उसकी स्थापना और शिल्प विधान का व्यापक प्रावधान करते हुए उसकी विधि बतायी है। मंच-सज्जा और शिल्प के विषय में भरत मुनि ने कहा है कि विश्वकर्मा ने प्रेक्षागृह निर्माण तीन प्रकार से करने के लिए व्यवस्था दी है— विकृष्ट, चतुस्त्र और त्र्यस्त्र। पहले को ज्येष्ठ, दूसरे को मध्यम और तीसरे को अवर कहा गया है। पहले की लम्बाई 108 हाथ, दूसरे की 64 हाथ और तीसरे की 32 हाथ बतायी गयी है। देवालियों में प्रथम प्रकार के राजगृहों में द्वितीय प्रकार के और साधारण घरों में तीसरे प्रकार के प्रेक्षागृह का विधान है। मध्यम प्रकार का प्रेक्षागृह उत्तम माना गया है। प्रेक्षागृह का निर्माण करने के लिए कुशल व्यक्तियों द्वारा पहले भूमिशोधन करना चाहिए। समतल, स्थिर, कठोर, काली और गौर वर्ण की ज़मीन को उत्तम हल से जोत कर हड्डी, कील, घास, भूसे आदि निकाल कर प्रेक्षागृह का निर्माण करना चाहिए। शुभ मुहूर्त में भित्तिनिर्माण एवं स्तम्भ-रचना करनी चाहिए। स्तम्भ द्वारा भित्ति की विधिवत स्थापना के बाद रंग-पीठ के पीछे मत्तवारणी की स्थापना करनी चाहिए। यह चार खम्भोंवाली रंगपीठ के आकार की परंतु आधा हाथ ऊँची बनायी जानी चाहिए। काली मिट्टी के बने नेपथ्य गृह में दो द्वार होने चाहिए। पूर्व की ओर हीरा, दक्षिण की ओर नीलम, पश्चिम

में स्फटिक तथा उत्तर में मूँगा जड़ित रंगशीर्ष होता है। कहने का तात्पर्य कि प्रेक्षागृहों का निर्माण विधिसम्मत ढंग से ही होना चाहिए। रंगपीठ में प्रवेश द्वार एक तथा रंगपीठ के सामने जन-प्रवेश के लिए दूसरा मुख्य द्वार होना चाहिए। विकृष्ट में रंगपीठ में अधिक ऊँची होनी चाहिए। चतुस्त्र में समान। त्र्यस्त्र त्रिकोणाकार होना चाहिए और मध्य में रंग-पीठ होनी चाहिए। भरत मुनि ने नाट्य के ग्यारह अंग बताये हैं : रस, भाव, अभिनय, धर्मी, वृत्ति, प्रवृत्ति, सिद्धि, स्वर, आलेख (वाद्य), गान और रंग (नाट्यशाला)। इन ग्यारह तत्त्वों के परस्पर संयोग व सामंजस्य से नाट्य संरचित होता है। इनके भेदों, उपभेदों और उनके विशिष्ट सम्मिश्रण के प्रतिपादन द्वारा भरत मुनि ने समग्र रंगमंच (टोटल थियेटर) की जो अवधारणा रखी है, वह ब्रेख्त और स्तानिस्लाव्स्की जैसे विश्व के श्रेष्ठ रंगकर्मियों के प्रयोगों के परिप्रेक्ष्य में बहुत प्रासंगिक होती गयी है। दुनिया के श्रेष्ठ नाट्य निर्देशक नाट्यशाला से प्रकारांतर से प्रभावित हुए हैं।

प्रेक्षागृह निर्माण के बाद रंगदेवता का पूजन और पूर्वरंग का प्रावधान है। इसके अंतर्गत गायकों का प्रवेश, गीतारम्भ, नांदीपाठ, वंदना आदि की जाती है। सबसे पहले पूर्व दिशा के स्वामी इंद्र की वंदना होती है तब दक्षिण, पश्चिम, और उत्तर दिशा की वंदना की जाती है। इसके बाद सूत्रधार सस्वर नांदीपाठ करता है और विभिन्न गीतों में स्तुति की जाती है। तत्पश्चात् विदूषक और सूत्रधार का संवाद होता है तथा रंगसिद्धि के लिए काव्यवस्तु का निरूपण संक्षेप में किया जाता है। फिर मुख्य अभिनय की शुरुआत होती है। इस तरह से भरतमुनि और उनका नाट्यशास्त्र नाट्यकला के विविध पक्षों का विशुद्ध विवेचन प्रस्तुत करता है।

देखें : आर्यभट्ट और *आर्यभटीय*, उपनिषद्, कपिल, *अर्थशास्त्र* और कौटिल्य, गोपीनाथ कविराज, गोविंद चंद्र पाण्डे, चैतन्य महाप्रभु, जैन दर्शन, न्याय दर्शन, दया कृष्ण, नंद किशोर देवराज, न्याय दर्शन, नागार्जुन, पतंजलि और *योगसूत्र*, पाणिनि और *अष्टाध्यायी*, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, पुराण, पूर्व-मीमांसा दर्शन, बदरीनाथ शुक्ल, बादरायण, बौद्ध दर्शन, *भगवद्गीता*, मुकुंद लाठ, *भागवत पुराण*, *महाभारत*, यशदेव शल्य, योग दर्शन, रामानुजाचार्य, लोकायत, वात्स्यायन और *कामसूत्र*, वेदांत दर्शन, वैशेषिक दर्शन, शंकराचार्य, षड्-दर्शन-1 और 2, संस्कृत काव्यशास्त्र, स्मृति-साहित्य, सांख्य दर्शन-1 और 2, सिद्ध-नाथ परम्परा।

संदर्भ

1. *संक्षिप्त नाट्यशास्त्र* (हिंदी अनु. सहित) (2011), राधावल्लभ त्रिपाठी, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली।
2. राधावल्लभ त्रिपाठी (1987), *भारतीय नाट्य स्वरूप और परम्परा*, संस्कृत परिषद्, सागर।
3. राधावल्लभ त्रिपाठी (2011), *नाट्यशास्त्र विश्वकोश*, दो भाग, भारतीय बुक कॉरपोरेशन, नयी दिल्ली।

— अजय कुमार पाण्डेय

भविष्य-शास्त्र

(Futurology)

अपने वर्तमान और ताज़े अतीत का अध्ययन करके भविष्य पर रोशनी डालने के प्रयासों के इर्द-गिर्द विकसित हुई विद्या को भविष्य-शास्त्र की संज्ञा दी जाती है। इन कोशिशों में लगे हुए विद्वानों को भविष्यवादी और उनके काम को भविष्यवाद की श्रेणी में रखा जाता है। इतिहास की भाँति ही भविष्य-शास्त्र के केंद्र में भी अतीत से भविष्य की ओर प्रवाहित होता हुआ काल है। लेकिन भविष्य-शास्त्री काल के साथ इतिहासकार जैसा सुलूक नहीं करते। उनकी दिलचस्पी अतीत को कमतर और भविष्य को ऊर्ध्वगामी बताते हुए किसी ऐसी मंजिल की शिनाख्त करने में नहीं होती जिसकी तरफ अनवरत बढ़ने के लक्ष्य से मानवता बँधी हुई है। दरअसल, भविष्य-शास्त्र ने विमर्श के मुख्यतः दो क्षेत्रों को प्रभावित किया है। पहला है साहित्य। विशेष रूप से कथा-लेखन के दायरे में यूटोपियायी और भविष्यवादी दृष्टि का उल्लेखनीय स्थान है। लेकिन कल्पनाप्रधान होने के कारण भविष्यवादी साहित्य से उपजे विमर्श को जीवन और जगत में यथार्थपरक और वस्तुगत हस्तक्षेप का श्रेय नहीं मिल सका है। दूसरा है पर्यावरण-अध्ययन, अर्थशास्त्र और जलवायु-शास्त्र के क्षेत्र में। भविष्य-शास्त्रियों ने पर्यावरण से संबंधित मुद्दों पर विशेष ध्यान दिया है। प्रलयकारी ग्लोबल वार्मिंग की भविष्यवाणी करने वाले विशेषज्ञों की रचनाओं ने सारी दुनिया में पर्यावरण और पारिस्थितिकी संबंधी दुश्चिंताओं को जन्म दिया है। इन भविष्यवादी पाठों के परिणामस्वरूप लोकप्रिय संस्कृति के क्षेत्र में फ़िल्मों और साहित्यिक रचनाओं के रूप में नयी कल्पनाशीलता की बुनियाद पड़ी है। सरकारी नीति और नियोजन के क्षेत्रों पर उनकी सिफ़ारिशों का अच्छा ख़ासा असर देखा जा सकता है। समाज-विज्ञान में भविष्य के प्रश्न ने सामाजिक समझौता जैसी स्थापित अवधारणाओं को दिक्कत में डाल दिया है।

मानवता के भविष्य, पृथ्वी के भविष्य, भाषाओं के भविष्य और पूँजीवाद के भविष्य जैसे विषयों पर विचार करने वाले चिंतकों की एक समृद्ध परम्परा है, भले ही वे ख़ुद को भविष्य-शास्त्री की श्रेणी में रखना पसंद न करते हों। स्वयं को बेहिचक भविष्यवादी कहने वाले साहित्यकारों, कलाकारों और विचारकों का इतिहास बीसवीं सदी के पहले दशक से मिलता है। 1909 में इतालवी कवि फ़िलिपो तोमासो मैरीनेती ने एक साहित्यिक घोषणापत्र का प्रकाशन किया जिसमें अतीत की इतालवी संस्कृति को पूरी तरह से ख़ारिज करके नये समाज, साहित्य और कला की स्थापना करने का आह्वान दर्ज था। इस घोषणापत्र में आधुनिक यंत्रोन्मुख सभ्यता का गुणगान किया गया था। भविष्यवाद की

यह पहल इटली में तो ज्यादा नहीं पनपी, लेकिन अगले दशक की शुरुआत में ही इसका प्रभाव ब्रिटेन और रूस के आधुनिक कला आंदोलनों पर दिखाई देने लगा। हालाँकि वैज्ञानिक समाजवाद के संस्थापक कार्ल मार्क्स ने समाजवादी समाज के भविष्य की रूपरेखा बताने से इनकार कर दिया था, लेकिन उनके विचारों से प्रेरित समाजवादी राज्य अतीत और वर्तमान के क्रमिक विकास पर आधारित भविष्य-रचना से प्रतिबद्ध था। उसने 1912 के आसपास उभरे रूस के भविष्यवादी आंदोलन की प्रवृत्तियों के साथ खुद को जोड़ा। ये भविष्यवादी युरोप की आधुनिकतावादी कला से बहुत प्रभावित थे। उन्होंने चित्रकला में पनपे घनवाद और भविष्यवाद से गहरी प्रेरणाएँ लीं और भाषा के प्रति नवाचारमूलक रवैया अपनाया। तकनीक में आस्था रखने वाले ये भविष्यवादी किसी तरह के निर्धारित अर्थों को मानने से इनकार करते थे। उनके इस दृष्टिकोण का लाभ क्रांति के बाद समाजवादी भविष्य की रचना के साथ प्रतिबद्ध कम्युनिस्ट नेतृत्व को मिला। बोलशेविक क्रांति के बाद सोवियत साम्यवाद ने भविष्य-निर्माण के एजेंडे के लिए इसे काफ़ी उपयोगी पाया। बीस के दशक का सोवियत सिनेमा भविष्यवादी आहटों से गूँजने लगा, जिसकी व्यावहारिक निष्पत्ति कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा सिनेमा के प्रचारात्मक उपयोग में हुई।

भविष्य-शास्त्र से जुड़ा एक गम्भीर नैतिक और दार्शनिक प्रश्न यह है कि आने वाली पीढ़ियों के लिए क्या हमारी कोई नैतिक ज़िम्मेदारी है? भविष्यवादी सिद्धांतकार इस प्रश्न का जवाब दो तरह से देते हैं : पहला, हमें अपने वर्तमान आचरण को इस प्रकार विनियमित करना चाहिए कि भविष्य की पीढ़ियों के सुखद जीवन की गारंटी हो सके; दूसरा, हमें जनसंख्या-विस्फोट और धरती के संसाधनों की बर्बादी से बचने के प्रयास करने चाहिए कि आने वाले वक्र में लोग ज्यादा और संसाधन कम का विषम समीकरण न बन सके। ये दो सरल से लगने वाले उत्तर उस समय पेचीदा हो जाते हैं जब सामाजिक संविदा के सिद्धांत का हवाला देते हुए सवाल उठाया जाता है कि क्या इस समझौते में मौजूदा पीढ़ियों के साथ भविष्य की पीढ़ियों को भी उनके अधिकारों और हितों के साथ जोड़ा जा सकता है? इसके भी दो जवाब हैं : पहला, इस सामाजिक समझौते में केवल एक ही पीढ़ी के लोग गिने जाने चाहिए क्योंकि भविष्य के लोग न तो हमें फ़ायदा पहुँचा सकते हैं और न ही कोई नुकसान। दूसरा, इस समझौते में न केवल वर्तमान के बल्कि अतीत में रह चुकी और भविष्य की सभी सम्भावित पीढ़ियों की अवधारणा शामिल की जानी चाहिए। यह बहस उस समय और उलझ जाती है जब भविष्य की पीढ़ियों की ज़रूरतों, अधिकारों और हितों के बारे में अंदाज़ा लगाने की नौबत आती है।

सरकारों और थिंक-टैंक क्रिस्म के प्रतिष्ठानों के साथ करने वाले भविष्य-शास्त्री खुद को परामर्शदाता कहना पसंद करते हैं। उनकी आत्मछवि दार्शनिकों और चिंतकों का न हो

कर विशेषज्ञों की होती है। निजी क्षेत्र में ऐसे विशेषज्ञ आम तौर पर अर्थशास्त्र और वित्तीय दुनिया के जानकारों के बीच से पनपते हैं। भविष्यवाणी करने वाले इन विशेषज्ञों की सक्रियता के दायरे उत्तरोत्तर संकीर्ण होते जा रहे हैं। उनसे उम्मीद की जाती है कि उनके आकलनों के परिप्रेक्ष्य में विभिन्न कम्पनियाँ जोखिम-प्रबंधन बेहतर ढंग से कर पाएँगी। लेकिन इस प्रकार की भविष्यवाणियाँ कभी-कभी पूरी तरह से आधारहीन भी साबित होती हैं।

प्राचीन भारतीय विचार में भविष्य के विचार की मौजूदगी का स्पष्ट उदाहरण भविष्य-पुराण के रूप में मिलता है। इस रचना में भविष्य की घटनाओं की चर्चा है। यह मुसलमानों के आक्रमण समेत भारतीय मध्य-युग की घटनाओं की तरफ़ इशारा करता है। भविष्य-पुराण की प्राचीनता पर विश्वास करने वालों का दावा है कि यह पाँचवीं सदी की कृति है, लेकिन कुछ दूसरे विद्वानों का कहना है कि इसमें बारहवीं से उन्नीसवीं सदी के बीच कई बातें जोड़ी जाती रही हैं।

देखें : चिपको आंदोलन, जैवविविधता, पर्यावरणीय नारीवाद, पारिस्थितिकवाद, पारिस्थितिकीय दर्शन, पेटेंट, भारत में पेटेंट क़ानून, मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी।

संदर्भ

1. डी. लोये (1978), *द नोएबिल फ़्यूचर : द साइकोलॉजी ऑफ़ फ़ोरकास्टिंग एंड प्रोफ़ेसी*, विली, न्यूयॉर्क.
2. विनय लाल और आशिस नंदी (सम्पा.) (2005), *द फ़्यूचर ऑफ़ नॉल्लिज एंड कल्चर : अ डिक्शनरी ऑफ़ द 21स्ट सेंचुरी*, पेंगुइन-वाइकिंग, नयी दिल्ली.
3. ब्राइन बैरी (1991), 'जस्टिस बिटवीन जेनेरेशंस', *लिबर्टी एंड जस्टिस*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.
4. डी. पैरफिट (1984), *रीजंस एंड परसंस*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.

— अभय कुमार दुबे

भागवत पुराण

(Bhagwat Puran)

एक धर्मग्रंथ के रूप में लोक-मानस के लिए *भागवत पुराण* या *श्रीमद्भागवत* या *भागवत* का महत्त्व *वाल्मीकि रामायण*, *रामचरित मानस*, *महाभारत* और *गीता* जैसा ही है। कोई भी हिंदू श्रद्धालु यह ज़रूर चाहता है कि वह भागवत कथा का जीवन में कम से कम एक बार श्रवण ज़रूर कर ले। इसी लोक-मान्यता के कारण शुरुआत से यह पुराण ज्ञानियों के साथ-साथ सर्वसाधारण के चिंतन-मनन का विषय भी रहा

है। लेकिन, उसकी महापुराणता और प्रणेता के सवाल पर विद्वानों में मतैक्य नहीं है। दृष्टान्त के मुताबिक चूँकि महाभारत की रचना के दौरान व्यास को भगवत-धर्मीय भक्ति के यथोचित विवेचन के लिए अपेक्षित गुंजाइश नहीं मिली इसलिए उन्हें भागवत पुराण की रचना करनी पड़ी। उन्होंने सोचा कि महाभारत में निरूपित नैष्कर्म्य प्रधान भागवत धर्म में भक्ति का वैसा निरूपण नहीं हुआ है जैसा होना चाहिए था। व्यास को लगा कि बिना भक्ति के निष्काम कर्म निरर्थक है। यही वजह है कि इस पुराण में भागवत धर्म के कर्म विषयक अंगों के विवेचन की अपेक्षा भगवत भक्ति और उसके माहात्म्य का व्यापक विस्तार किया गया है।

भागवत पुराण के साहित्यिक, सांस्कृतिक और काव्यगत वैशिष्ट्य का गहरा प्रभाव मध्ययुगीन और आधुनिक साहित्य पर पड़ा। तुलसीदास, सूरदास, विद्यापति, जगन्नाथ दास रत्नाकर, भारतेन्दु हरिश्चंद्र तथा अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध जैसे कवियों ने अपने साहित्यिक और सांस्कृतिक मिजाज में उसे शामिल किया। रामकथा को लोककथा में रूपांतरित करने वाले गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस में भागवत के सैद्धांतिक पक्ष अद्वैत तथा साधना पक्ष भक्ति को प्रतिपाद्य बना कर इस पुराण भागवत से अत्यधिक स्फूर्ति और प्रेरणा ग्रहण की। सूरदास का तो साहित्यिक आधार ग्रंथ ही भागवत पुराण है। दरअसल, ज्ञानमार्गी होने के बजाय भागवत भक्तिमार्ग और प्रेममार्ग की आधारभूत की कृति है।

भागवत पुराण और बोपदेव एक-दूसरे के पर्याय जैसे समझे जाते हैं। बोपदेव श्रीमद्भागवत पुराण के मर्मज्ञ विद्वान थे। उन्होंने भागवत विषयक तीन ग्रंथ — हरिलीलामृत या भगवतानुक्रमणी, मुक्ताफल और परमहंसा प्रिया की रचना की। हरिलीलामृत में श्रीमद्भागवत के समस्त अध्यायों की सूची दी गयी है और बड़ी मार्मिकता से उनके पारस्परिक संबंध का प्रदर्शन किया गया है। मुक्ताफल भागवत के श्लोकों का रसानुयायी संग्रह है जिसमें उनका वर्गीकरण नवरस की दृष्टि से किया गया है। तीसरा ग्रंथ परमहंसा प्रिया को श्रीमद्भागवत की टीका कहा जाता है, परंतु अभी तक अप्रकाशित होने से इसके स्वरूप के विषय में विशेष नहीं कहा जा सकता। इस संबंध में बोपदेव ने स्वयं ही अपने एक श्लोक में इस बात की जानकारी दी है। बोपदेव ने श्रीमद्भागवत पुराण के अनुशीलन से भक्ति को रसरूप में प्रतिष्ठित किया तथा भक्ति को केवल भाव मानने वाले कश्मीरी आचार्यों के मतों की तीव्र आलोचना की। भक्तिरस का यह प्रथम विन्यास बोपदेव के महत्त्व का प्रतिपादक है। वे भगवान में 'मनोनिवेश' को भक्ति का स्थाई भाव मानते हैं। उन्होंने मुक्ताफल में युक्ति तथा प्रमाण के आधार पर भक्ति की रसरूपता पुष्ट की है। बोपदेव स्वयं को विद्वद्भ्र धनेश का शिष्य तथा भिषक केशव का पुत्र बताते हैं। इन ग्रंथों

के अंतर्परीक्षण से ज्ञात होता है कि वे रामगिरि के यादव नरेशों के महामात्य धर्मशास्त्री हेमाद्रि के आश्रय में रहते थे तथा उन्हीं की प्रेरणा से उन्होंने अपने पूर्वोक्त ग्रंथों का प्रणयन किया। इनका समय ईसा की तेरहवीं सदी है।

प्रश्न यह है कि क्या बोपदेव ही श्रीमद्भागवत के रचयिता थे। स्वामी दयानंद सरस्वती ने अपने ग्रंथ सत्यार्थ प्रकाश के ग्याहरवें समुल्लास में बोपदेव के ही भागवत पुराण के रचनाकार होने की पुष्टि की है। लेकिन इस बात को लेकर कई आपत्तियाँ भी हैं। बोपदेव के आश्रय दाता हेमाद्रि ने अपनी रचना चतुर्वर्ग चिंतामणि में भागवत के श्लोकों को बतौर साक्ष्य उद्धृत किया है। इससे लगता है कि भागवत पुराण समकालीन रचना नहीं थी। समझा जाता है कि अपने आश्रित की रचना को कोई भी विज्ञ पुरुष अपनी रचना में प्रमाण देने के लिए इस्तेमाल नहीं करेगा।

द्वैतमत के प्रतिस्थापक आचार्य मध्व ने भागवत तात्पर्य निर्णय नामक ग्रंथ में भागवत के तात्पर्य का विश्लेषण करते हुए भक्ति को ही सर्वातिशायी साधन बताया है। स्मृत्यर्थ सागर के एक श्लोक के आधार पर मध्वाचार्य का जन्म 1275 विक्रमी (1200 ई.) में माना जाता है। यानी मध्वाचार्य बोपदेव से लगभग सौ वर्ष पहले पैदा हुए होंगे। इस तथ्य से बोपदेव का श्रीमद्भागवत का रचयिता होना खण्डित हो जाता है। सरस्वती-भवन पुस्तकालय (संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी) में बंगाक्षरों में लिखी हुई भागवत की एक प्रति विद्यमान है जो लिपि-परीक्षा के आधार पर दशम शती में लिखी गयी मानी जाती है— अर्थात् यह हस्तलेख बोपदेव से लगभग दो सौ वर्ष प्राचीन है।

आचार्य शंकर के गुरु थे गोविंदपाद् और गोविंदपाद् के गुरु थे गौड़पादाचार्य। गौड़पाद ने पंचीकरण व्याख्यान में भागवत के प्रथम स्कंध के तृतीय अध्याय के प्रथम श्लोक तथा उत्तर गीता की अपनी टीका में भागवत के दशम स्कंध के चौदहवें अध्याय के चौथे श्लोक को उद्धृत किया है। शंकर का समय अष्टम शती है। फलतः उनके दादागुरु गौड़पाद का काल अष्टम शती का आरम्भ है। उनके द्वारा भागवत के श्लोकों को उद्धृत करने से साबित होता है कि भागवत की रचना सप्तम शती पूर्व अर्थात् तेरहवीं सदी में उत्पन्न बोपदेव से छह-सात सदी पूर्व हुई होगी। इन तथ्यों के आलोक में यह कहना सही नहीं है कि भागवत के प्रणेता बोपदेव थे।

भागवत पुराण में कृष्ण की लीला एवं जीवन-चरित की प्रधानता है। उसमें उनकी विभिन्न मनोहारी एवं लोकरंजक छवियाँ प्रस्तुत की गयी हैं। पहले स्कंध से पहले भागवत का माहात्म्य बताया गया है। इसमें ज्ञान, वैराग्य, भक्ति के साथ ही साथ प्रेम शब्द का भी प्रयोग है। न केवल मनुष्य और ईश्वर के लिए वरन् मिथ्या संसार के लिए भी प्रेम का

संदेश है। यहाँ *भागवत* कहती है, 'साधक केवल इस ज्ञान-दृष्टि का आश्रय लेकर सम्पूर्ण प्राणियों और पदार्थों में ईश्वर का दर्शन करता है और उन्हें उसका ही रूप मानकर सत्कार करता है।' यहाँ सभी प्राणियों सहित पदार्थों में भी परमात्मा के दर्शन करने पर बल है। अतः सम्पूर्ण संसार को ईश्वर स्वरूप मानकर उसका सत्कार करना *भागवत* की मुख्य प्रस्थापना है।

संत कवियों ने *भागवत* को अपना आधार क्यों बनाया, इसका एक कारण *भागवत* के कृष्ण के इस कथन में मिलता है कि जो व्यक्ति ब्राह्मण और चाण्डाल, चोर और ब्राह्मण-भक्त, सूर्य और चिंगारी तथा कृपालु और क्रूर के प्रति समान दृष्टि रखता है, उसे सच्चा ज्ञानी समझना चाहिए। इस दृष्टि में शंकराचार्य के वर्णधर्म पालन के विपरीत ब्राह्मण और चाण्डाल को एक समझने पर बल दिया गया है। *भागवत* में श्रीकृष्ण अपने भक्तों के लिए कहते हैं कि वे पर्व आदि अवसरों पर सबके साथ मिल कर अथवा अकेले ही नृत्य गान, वाद्य आदि महाराजोचित टाट-बाट से मेरी यात्रा आदि का महोत्सव करें। बहुत से शास्त्र और पुराण सुनने से क्या लाभ है। इससे तो व्यर्थ का भ्रम बढ़ता है। मुक्ति देने के लिए एक मात्र *भागवत-शास्त्र* ही काफ़ी है। यहाँ कृष्ण दावा करते हैं कि शास्त्र और पुराण ही नहीं, बड़े-बड़े यज्ञ और तीर्थ-यात्राएँ भी किसी काम की नहीं हैं। जिस घर में नित्यप्रति *श्रीमद्भागवत* की कथा होती है, वह तीर्थरूप हो जाता है और जो लोग उसमें रहते हैं, उनके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। हजारों अश्वमेध और सैकड़ों बाजपेय यज्ञ इस शुक-शास्त्र यानी *भागवत* का सोलहवाँ अंश भी नहीं हो सकते। फल की दृष्टि से इस शुक-शास्त्र कथा की समानता गंगा, गया, काशी, पुष्कर या प्रयाग कोई भी तीर्थ नहीं कर सकता। जो पुरुष अहर्निश अर्थ सहित *श्रीमद्भागवत-शास्त्र* का पाठ करता है, उसके करोड़ों जन्मों का पाप नष्ट हो जाता है, इसमें कोई संदेह नहीं। जो पुरुष नित्यप्रति *भागवत* का आधा या चौथा श्लोक भी पढ़ता है, उसे राजसूय यज्ञ और अश्वमेध यज्ञों का फल मिलता है जो पुरुष अंत समय में *श्रीमद्भागवत* का वाक्य सुन लेता है, उस पर प्रसन्न होकर भगवान उसे बैकुंठ धाम देते हैं। *भागवत* कभी भी सुनी जा सकता है। किसी विशेष दिन या समय में सुनी जाय, यह आवश्यक नहीं। सप्ताहश्रवण यज्ञ, व्रत, तप, योग, ज्ञान से बढ़कर है तथा तीर्थ सेवन से बड़ा है।

इसी के साथ यह दृष्टांत भी जुड़ा है। उद्धव ने कृष्ण से कहा कि भगवान! आपने निराकार और चिन्मात्र होकर भी भक्तों के लिए ही तो यह सगुण रूप धारण किया है। फिर भला आपका वियोग होने पर वे भक्तजन पृथ्वी पर कैसे रह सकेंगे? निर्गुणोपासना में तो बड़ा कष्ट है। इसलिए कुछ विचार कीजिये। तब भगवान ने अपनी सारी शक्ति *भागवत*

में रख दी और अंतर्धान होकर इस *भागवत* समुद्र में प्रवेश कर गये। इसलिए यह भगवान की साक्षात्-शब्दमयी मूर्ति है। इसके सेवन, श्रवण पाठ या दर्शन से ही मनुष्य के सारे पाप नष्ट हो जाते हैं।

एक अन्य दृष्टांत के मुताबिक नारद *भागवत* कथा सुनने के लिए सनकादि के साथ गंगा किनारे पहुँचे। इसमें बताया गया है कि प्राचीन देवकथाओं और आठयानों में जितने प्रसिद्ध ऋषि-मुनि सभी कथा सुनने गये। इनमें भृगु, वशिष्ठ, परशुराम, व्यास और पाराशर भी थे। *भागवत* के आरम्भ में शुकदेव का उल्लेख है कि वे बाल्यावस्था में संन्यास लेकर घर से निकल पड़े थे। नारद कहते हैं कि कलियुग से पहले ज्ञान और वैराग्य मुक्ति के साधन थे। कलियुग में भक्ति मोक्ष का साधन रह गयी है। इस तरह से नारद वैराग्य का विकल्प भक्ति के रूप में प्रस्थापित करते हैं। यह दृष्टांत बताता है कि *भागवत* ऐसा ग्रंथ है जो साधकों के मन में वैराग्य उत्पन्न नहीं करता।

प्राचीन साहित्य को देखें तो ज्ञान-साधना अथवा योग-साधना में स्त्रियों का प्रवेश अपवादस्वरूप ही होता है। लेकिन भक्तिमार्गी समुदाय में वे बहुत बड़ी संख्या में उपस्थित होती हैं। नारद और सनकादि ने जब गंगा किनारे *भागवत* कथा का आयोजन किया, तब वहाँ केवल मुनि नहीं आये, मुनिगण अपने-अपने पुत्र, शिष्य और स्त्रियों समेत बड़े प्रेम से वहाँ आये। ये मुनि संन्यासी नहीं हैं। वे गृहस्थ हैं। उनके पुत्र हैं, स्त्रियाँ हैं और उनके शिष्य भी हैं।

भागवत कहती है कि हे नृसिंह, दुःखों से तप्त हुए मनुष्यों के दुःखों की निवृत्ति के जो उपाय हैं, वे आप से उपेक्षित लोगों के लिए केवल क्षणिक दुःखनिवृत्ति ही करते हैं, स्थाई नहीं। आप से उपेक्षित बालक की न माता-पिता रक्षा कर सकते हैं, न रोगी की औषधि रक्षा कर सकती है और न समुद्र में समुद्र में डूबते हुए ऐसे जीव के प्राणों की रक्षा नाव कर सकती है। इन उपायों के रहने पर फल प्राप्त नहीं होता। तात्पर्य यह है कि भगवान ही सब के रक्षक हैं। उधर ही जीव को अपना जीवन समर्पण करना चाहिए। परमेश्वर सर्वशक्तिमान होने से अपने स्वरूप के साक्षात्कार से स्वतः परिपूर्ण है। उन्हें अपने लिए क्षुद्र पुरुषों से पूजा ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है। वे करुणावश ही भोले भक्तों के हित के लिए ही उनकी पूजा स्वीकारते हैं। जिस प्रकार मुख की सुंदरता दर्पण में दीखने वाले प्रतिबिम्ब को भी सुंदर बना देती है, उसी प्रकार भगवान के प्रति किया गया सम्मान उस भक्त को ही प्राप्त होता है, जो उस सम्मान का करने वाला होता है। पूजा साधक भक्त के कल्याण के लिए होती है, भगवान के लिए नहीं।

भागवत मुक्ति के लिए ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को श्रेष्ठ मानती है। उसके मुताबिक जो प्राणी भक्ति को छोड़

कर केवल ज्ञान पाने के लिए क्लेश उठाते हैं, उन्हें क्लेश ही हाथ लगता है, सुख को तो वे छू भी नहीं पाते। केवल शुष्क ज्ञान का अभ्यासी जीवन दुःख में ही जीवन बिताता है। तथ्य तो यह है कि भक्त ही भगवान को जीत सकता है, वरना वह सर्वदा और सर्वथा अजित है। जो लोग ज्ञान के लिए प्रयत्न न कर अपने स्थान में ही स्थित होकर केवल सत्संग करते हैं और भगवान के प्रेमी संत पुरुषों के द्वारा गायी गयी भगवान की लीला कथा को सुनते हैं, शरीर वाणी मन से नम्र रहकर सेवन करते हैं और उसे ही जीवन बना लेते हैं, ऐसे भक्त तीनों लोकों में अज्ञेय भगवान को जीत लेते हैं अर्थात् भगवान को वश में कर लेते हैं। भगवान को जीतने के लिए भक्ति ही एकमात्र साधन है। भक्ति ही *भागवत* की भक्ति ही अंतर्वस्तु है। पूरे ग्रंथ में यही व्याप्त है।

देखें : आर्यभट्ट और *आर्यभटीय*, उपनिषद्, कपिल, *अर्थशास्त्र* और कौटिल्य, गोपीनाथ कविराज, गोविंद चंद्र पाण्डे, चैतन्य महाप्रभु, जैन दर्शन, न्याय दर्शन, दया कृष्ण, नंद किशोर देवराज, न्याय दर्शन, नागार्जुन, पतंजलि और *योगसूत्र*, पाणिनि और *अष्टाध्यायी*, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, पुराण, पूर्व-मीमांसा दर्शन, बदरीनाथ शुक्ल, बादरायण, बौद्ध दर्शन, *भगवद्गीता*, भरत और *नाट्यशास्त्र*, मुकुंद लाठ।

संदर्भ

1. रामविलास शर्मा (2010), *भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश*, भाग-1, किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली.
2. बलदेव उपाध्याय (2000), *भारतीय धर्म और दर्शन*, चौखम्भा पब्लिशर्स, वाराणसी.

—अजय कुमार पाण्डेय

भारतेंदु हरिश्चंद्र

(Bhartendu Harishchandra)

आधुनिक हिंदी के संस्थापक और हिंदी-साहित्य के मुख्य प्रवर्तक भारतेंदु हरिश्चंद्र (1850-1886) का स्थान भारतीय सांस्कृतिक नवजागरण के अग्रदूतों में बहुत ऊँचा है। आधुनिक साहित्य, विशेषकर हिंदी गद्य, को नये मार्ग पर चलाने वालों में उनका नाम शीर्ष पर है। रामविलास शर्मा ने तो भारतेंदु युग को हिंदी के नवजागरण का पर्याय करार दिया है। यह भारतेंदु की प्रतिभा का ही कमाल था कि उन्नीसवीं सदी में उन्होंने साहित्य की विभिन्न शैलियों को नये भावों और विचारों के साथ एक नयी ऊँचाई पर पहुँचाया। विद्वानों की राय है कि भारतेंदु की कविता का मुँह मध्यकाल की ओर

है, लेकिन उनके गद्य का मुँह खड़ी बोली और आधुनिक काल की ओर। यह अलग बात है कि हाल के अध्ययनों में कथित मध्यकाल को आरम्भिक भारतीय आधुनिक-काल और कथित आधुनिक काल को औपनिवेशिक आधुनिक-काल कहा गया है। प्राचीन और नवीन का सुंदर सामंजस्य उनकी कला का सौंदर्य है। हिंदी में नाट्य कला के तो वे सबसे पहले प्रवर्तक थे। केवल 36 साल तक जीवित रहे भारतेंदु के जीवन-काल में ही उनके इर्द-गिर्द रचनाकारों-पत्रकारों का एक मण्डल तैयार हो गया था। इस मण्डल में बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, राधाचरण गोस्वामी, बाबू तोताराम, ठाकुर जगमोहन सिंह, लाला श्रीनिवास दास, केशवराम भट्ट, अम्बिकादत्त व्यास इत्यादि अनेक प्रतिभाशाली लेखक थे। इन सभी ने हिंदी साहित्य के नूतन विकास में भारी योगदान किया। भारतेंदु मण्डल के इन लेखकों ने तमाम नयी विधाओं पर लेखनी चलाई है।

भारतेंदु का विचार था कि आधुनिक सभ्यता ने जनसाधारण को हमारे देश के शिक्षितों से अलग कर दिया है। शिक्षितों ने आडम्बर की एक दीवार खड़ी की है। उनमें भारतीय ढंग की राष्ट्रीयता लुप्त है। राष्ट्रीयता का उबाल आता है और नष्ट हो जाता है। आधुनिक राष्ट्रवाद ने नये क्रिस्म की क्रांति छेड़ दी है जिसके तहत नारा तो समष्टि और व्यष्टि के स्वातंत्र्य का बुलंद किया गया है, लेकिन सच यह है कि इसने व्यक्ति को मिटा कर रख दिया है। भारतेंदु के ये विचार उनके साहित्य, निबंधों और व्याख्यानों में परिलक्षित होते रहते थे।

रामचंद्र शुक्ल ने अपने निबंध 'भारतेंदु हरिश्चंद्र' में लिखा है कि 'वे सिद्ध वाणी के अत्यंत सरस-हृदय कवि थे। इससे एक ओर तो उनकी लेखनी से शृंगार रस के ऐसे रसपूर्ण और मर्मस्पर्शी कवित्त-सवैये निकलते थे, जो उनके जीवन काल में ही लोगों के मुँह से इधर-उधर सुनायी पड़ने लगे थे और दूसरी ओर स्वदेश-प्रेम से भरे हुए उनके लेख और कविताएँ चारों ओर देश के मंगल का मंत्र-सा फूँकती थीं। अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल से एक ओर तो वे पद्माकर और द्विजदेव की परम्परा में दिखाई देते थे। दूसरी ओर बंगदेश के मधुसूदनदत्त और हेमनंद की श्रेणी में। एक ओर तो राधाकृष्ण की भक्ति में झूमते हुए 'नयी भक्तमाल' गूँथते दिखाई देते थे, दूसरी ओर टीकाधारी बगुला भक्तों की हँसी उड़ाते तथा स्त्री-शिक्षा, समाज-सुधार आदि पर व्याख्यान देते पाये जाते थे। प्राचीन और नवीन का यही सुंदर सामंजस्य भारतेंदु की कला का विशेष माधुर्य है। साहित्य के एक नवीन युग के आदि प्रवर्तक के रूप में खड़े होकर उन्होंने यह भी प्रदर्शित किया कि नये-नये या बाहरी भावों को पचा कर इस ढंग से मिलाना चाहिए कि वे अपने ही साहित्य के विकसित अंग से लगें। प्राचीन और नवीन के इस संधिकाल में जैसी शीतल और मृदुल कला का संचार अपेक्षित था, वैसी

ही शीतल और मृदुल कला के साथ भारतेंदु का उदय हुआ, इसमें संदेह नहीं।

साहित्य की नवीन-धारा के बीच भारतेंदु की वाणी का सबसे ऊँचा स्वर देश-भक्ति का था। भारतेंदु के नाटकों-विशेषकर, 'नीलदेवी', 'भारत-दुर्दशा' आदि में देश-दशा की मार्मिक व्यंजना है। इन रचनाओं में कहीं भारतीय अतीत की गौरव-गाथा का गर्व है, कहीं वर्तमान अधोगति की वेदना है, तो कहीं भविष्य चिंताएँ हैं। उन्होंने मित्र में भारतीय सेना की विजय पर 'विजयिनी विजय वैजयंती' जैसी देश-प्रेम व्यंजक कविता लिखी।

भारतेंदु बचपन में परिवार के साथ जगन्नाथपुरी गये थे और इसी प्रक्रिया में उनका परिचय बंगदेश की नवीन साहित्यिक प्रगति से हुआ। उन्होंने बांग्ला में नये ढंग के सामाजिक-पौराणिक नाटक देखे और हिंदी में इस तरह के नाटकों के अभाव का अनुभव किया। उन्होंने बांग्ला से 'विद्यासुंदर' नाटक का अनुवाद किया जिसमें उनके द्वारा लिखे जाने वाले हिंदी गद्य की सुडौल रचनात्मकता का परिचय मिलता है। 1868 में उन्होंने *कवि वचन सुधा* नामक पत्रिका निकाली, जिसका नाम आठ अंकों के बाद *हरिश्चंद्र चंद्रिका* हो गया। रामचंद्र शुक्ल के अनुसार 'हिंदी गद्य का ठीक परिष्कृत रूप पहले पहल इसी 'चंद्रिका' में प्रकट हुआ। जिस प्यारी हिंदी को देश ने अपनी विभूति समझा, जिसको जनता ने उत्कंठापूर्वक दौड़कर अपनाया, उसका दर्शन इसी पत्रिका में हुआ। भारतेंदु ने नयी सुधरी हुई हिंदी का उदय इसी समय से पाया है। उन्होंने 'कालचक्र' नाम की अपनी पुस्तक में नोट किया है कि 'हिंदी नयी चाल में ढली, (1873)।'

इस नयी 'हरिश्चंद्री हिंदी' के साथ बहुत से नये लेखक तैयार हुए। 'चंद्रिका' में भारतेंदु ने नये लेखकों को उत्साह से छापा। बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने भारतेंदु के सम्पादन-कौशल की बहुत प्रशंसा की है। उन्होंने जिस हिंदी को प्रोत्साहित किया वह किसी भी दृष्टि से अनुवादपरक नहीं थी। अवसर पाकर भारतेंदु ने स्त्री-शिक्षा को ध्यान में रखकर *बालाबोधिनी* पत्रिका निकाली। इन तीन पत्रिकाओं के निकालने से पहले 1873 में उन्होंने 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' नामक प्रहसन लिखा, जिसमें धर्म-उपासना के नाम पर अनाचार करने वालों की खबर ली गयी थी।

भारतेंदु का ध्यान सबसे पहले नाटकों पर गया। उन्होंने 'नाटक' नाम से एक पुस्तिका भी लिखी। भारतेंदु ने अपने नाटकों की सामग्री जीवन के कई क्षेत्रों से ली। 'चंद्रावली' नाटिका में प्रेम का आदर्श है। 'नीलदेवी' में पंजाब के हिंदू

राजा पर मुसलमानों की चढ़ाई का वृतांत। 'भारत-दुर्दशा' में भारत की दीन-दशा और अंग्रेजी साम्राज्यवाद के लूट-तंत्र का खुलासा है। 'विषस्य विषौषधम' में देशी रजवाड़ों की राजनीति और कुचक्र का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया गया है। 'प्रेमजोगिनी' में वर्तमान जीवन के पाखण्डों की व्यथा-कथा है। इस तरह भारतेंदु ने नाटकों में न तो अंग्रेजी नाटकों की नक़ल की और न ही बांग्ला नाटकों की तरह प्राचीन शैली का परित्याग किया तथा न नाट्यशास्त्र की जटिलता में नाटक को फँसाया।



भारतेंदु हरिश्चंद्र (1850-1886)

भारतेंदु ने एकाग्र भाव से हिंदी-साहित्य के सर्वतोमुखी विकास की ओर ध्यान दिया। उन्होंने 'कश्मीर कुसुम' और 'बादशाह दारा' लिख कर इतिहास-रचना की चेतना की तरफ हमारा ध्यान खींचा। वे उपन्यास लिखने की ओर भी प्रवृत्त हुए, लेकिन असमय देहांत के कारण उनकी यह योजना सफल न हो सकी। वे सिद्ध कवि थे। स्वदेश-प्रेम की उनकी अद्भुत संदेशवाहक कविताओं में राज-भक्ति और देश-भक्ति का अनूठा मेल दिखता है। लेकिन उनके कवि की मूल प्रवृत्ति देशभक्ति और स्वदेशाभिमान ही रही है।

भारतेंदु का जन्म काशी के एक सम्पन्न वैश्य कुल में भाद्र शुक्ल 1850 को हुआ था और देहावसान 1886 में। वे बनारस के जाने-माने रईस बाबू गोपाल चंद्र के बेटे थे, जो 'गिरधर' उप नाम से कविता करते थे। नीतिपरक विषयों पर लिखने में भारतेंदु के पिता का मुकाबला न था। इस तरह भारतेंदु ने धन-सम्पत्ति के साथ काव्य-रचना का संस्कार उत्तराधिकार में पाया था। घर में हिंदी-फ़ारसी पढ़ने के बाद वे क्वींस कॉलेज में दाखिल हुए, लेकिन पढ़ाई बहुत दिनों तक चल नहीं पायी। वे पाँच वर्ष के ही थे कि माँ का स्वर्गवास हो गया। दस वर्ष के ही थे कि पिता चल बसे। इस तरह पढ़ाई का काम आगे नहीं बढ़ सका। छुटपन में ही गृहस्थी का बोझ उठाना पड़ा। मगर कवि-प्रतिभा उनमें जन्मजात थी। उन्होंने राजा शिवप्रसाद सिंह से अंग्रेजी पढ़ी और जल्दी ही उस भाषा पर अच्छा अधिकार पा लिया। यह बात शेक्सपीयर के नाटक *मर्चेंट ऑफ वेनिस के दुर्लभ बंधु* शीर्षक अनुवाद से प्रकट होती है। धीरे-धीरे भारतेंदु ने बांग्ला, मराठी, उर्दू, मैथिली आदि कई भाषाओं पर महारत हासिल कर ली।

भारतेंदु ने अपनी धन-सम्पत्ति खुले हाथों लुटायी। कवि-कलाकारों की क्रूरदानी का आलम यह था कि उनके रचना-कर्म से प्रसन्न होने पर वे उन्हें सैकड़ों रुपये दे देते थे। भारतेंदु का कहना था : 'यह दौलत मेरे कितने ही पुरखों को

निगल गयी है, आज मैं इसे खाऊँगा।' इस तरह भारतेंदु ने बड़ा ही रंगीला जीवन जिया। चित्र-प्रेम के कारण उन्होंने एक अनूठा चित्र-संग्रह तैयार किया था। वे जिंदादिली से दान देते रहे। देश-प्रेम, भाषा-प्रेम के कारण नयी पत्रिकाएँ निकालीं और तमाम मित्रों को निकालने की प्रेरणा दी। कुछ दिनों रीडिंग क्लब चलाया और चौखम्भे पर एक अंग्रेजी स्कूल कायम किया। जिंदादिली ऐसी कि होली पर मसखरों के साथ कबीर गाते निकलते थे। कभी-कभार लोगों का दिल बहलाने के लिए नये-नये गुल खिलाते रहते थे। घर के लोग उन्हें उड़ाऊ-खाऊ-आवारा समझते थे। भारतेंदु का साहित्यिक-जीवन अठारह साल की उम्र से शुरू हुआ। उन्होंने बहुत कम उम्र पायी, लेकिन हिंदी साहित्य को वे मालामाल कर गये। प्रेमचंद ने 'भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र' लेख में दुःख व्यक्त करते हुए कहा था कि 'हिंदी-संसार ने भारतेंदु को वह नहीं दिया, जिसके वे सच्चे अधिकारी थे। आज हिंदी में भारतेंदु के अनगिनत उत्तराधिकारी हैं जो उनके कार्य को आगे बढ़ा रहे हैं। यह हम सभी के लिए प्रसन्नता का विषय है।'

देखें : अष्टछाप, 'अंग्रेजी हटाओ' आंदोलन, छायावाद, डायरलॉसिया, नगेंद्र और सैद्धांतिक समीक्षा, नयी कविता, नंद दुलारे वाजपेयी, नामवर सिंह, प्रेमचंद, प्रयोगवाद, प्रगतिवाद, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, भक्ति आंदोलन-1 और 2, भक्ति-काव्य-1 और 2, भारतेंदु युग-1 और 2, भाषा नियोजन-1 से 4 तक, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, महावीर प्रसाद द्विवेदी, महादेवी वर्मा, मीरांबाई और प्रेमाभक्ति, राहुल सांकृत्यायन, रामानुजाचार्य, रामानंद, रामचंद्र शुक्ल-1 और 2, रामविलास शर्मा, राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता, रीतिकाल-1 और 2, विजय देव नारायण साही, वैष्णव धर्म, श्याम सुंदर दास, सम्पर्क भाषा-1 से 4 तक, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1, 2 और 3, सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय, संत-काव्य, संस्कृत काव्यशास्त्र, सिद्ध-नाथ परम्परा, सूफीयत और प्रेमाख्यान, हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिंदी विरोधी आंदोलन, हिंदी जाति-1, 2 और 3, हिंदी साहित्य का आदिकाल, हिंदी साहित्य का इतिहास, हिंदी साहित्य का इतिहास : नये परिप्रेक्ष्य, हिंदी-पद्य में इतिहास, हिंदी-जगत और 'लोकप्रिय'-1 और 2, हिंदी नवजागरण, हिंदी-संस्थाएँ।

संदर्भ

1. रामचंद्र शुक्ल (1956), *चिंतामणि*, भाग 1, इण्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग.
2. रामचंद्र शुक्ल (1940), *हिंदी साहित्य का इतिहास*, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी.
3. कमलकिशोर गोयनका (सम्पा.) (2013), *प्रेमचंद : प्रतिनिधि संचयन*, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
4. रामविलास शर्मा (1981), *परम्परा का मूल्यांकन*, राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नयी दिल्ली
5. रामविलास शर्मा (1981), *भारतेंदु युग और हिंदी भाषा की विकास परम्परा*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

—कृष्णदत्त पालीवाल

भारतेंदु युग-1

नवजागरण की चेतना बनाम
देशभक्ति और राजभक्ति का द्वंद्व

(Bhartendu Period-1)

भारतेंदु युग (1850-1900) से हिंदी-साहित्य में आधुनिक संवेदना का सूत्रपात्र होता है। इस युग में आधुनिक गद्य-साहित्य की परम्परा का प्रवर्तन हुआ। इस युग को नवीन दृष्टि एवं दिशा देने में भारतेंदु हरिश्चंद्र ने युग-प्रवर्तक की भूमिका निभायी। भारतेंदु हरिश्चंद्र का व्यक्तित्व एवं कृतित्व ही ऐसा अनुपम था कि उनका प्रभाव भाषा एवं साहित्य दोनों पर बड़ा गहरा एवं दूर तक पड़ा। उन्होंने गद्य की भाषा का परिष्कार करते हुए उसे स्वच्छ-सुंदर रूप प्रदान किया। रामचंद्र शुक्ल ने *हिंदी साहित्य का इतिहास* के आधुनिक काल में गद्य खण्ड में गद्य के विकास पर विचार करने के बाद कहा कि गद्य-साहित्य परम्परा का प्रवर्तन भारतेंदु बाबू ने ही किया। उन्होंने हिंदी साहित्य को भी नये मार्ग पर लाकर खड़ा कर दिया। उनके भाषा-संस्कार की महत्ता को सभी ने मुक्तकंठ से स्वीकार किया है।

दरअसल हिंदी भाषा का निखरा-खरा रूप भारतेंदु की कला के साथ ही प्रकट हुआ। भारतेंदु ने इससे भी बड़ा काम यह किया कि वे साहित्य को शिक्षित जनता के साहचर्य में ले आये। उस जमाने में नयी शिक्षा के प्रभाव से लोगों की विचारधारा बदल रही थी। उनके मन में देशहित-समाजहित की उमंगें पैदा हो रही थीं। काल की गति के अनुसार उनके भाव और विचार तो बहुत आगे बढ़ गये थे, पर साहित्य पीछे था। भक्ति, श्रृंगार आदि की पुराने ढंग की ही कविताएँ चली आ रही थीं। भारतेंदु ने इस पुराने रास्ते से हिंदी साहित्य को हटा कर समाज और जीवन के साथ इस तरह जोड़ दिया कि साहित्य को सामाजिक-राजनीतिक प्रोजेक्ट के साथ चलाने के सिलसिले की शुरुआत हुई। इस प्रकार जीवन और साहित्य के बीच विच्छेद समाप्त हुआ। साहित्य को नये-नये विषयों की ओर प्रवृत्त करने का श्रेय भारतेंदु युग को जाता है।

रामचंद्र शुक्ल का विचार है कि भारतेंदु युग के नाम से जाने गये इस गद्य-काल ने ही हिंदी को उर्दू के सांस्कृतिक प्रभाव से अलग किया। उन्होंने लिखा है : 'उर्दू के कारण अब तक हिंदी भाषा का स्वरूप ही झंझट में पड़ा था। राजा शिवप्रसाद सिंह और राजा लक्ष्मण सिंह ने जो कुछ गद्य लिखा था वह एक प्रकार से प्रस्ताव रूप में था। जब भारतेंदु अपनी मँजी हुई और परिष्कृत भाषा सामने लाये तब हिंदी बोलने वाली जनता को गद्य के लिए खड़ी बोली का प्रवृत्त



बालकृष्ण भट्ट : हिंदी प्रदीप का प्रकाशन

साहित्यिक रूप मिल गया और भाषा के स्वरूप का प्रश्न न रह गया। प्रस्तावकाल समाप्त हुआ और भाषा का स्वरूप स्थिर हुआ। हिंदी और उर्दू के बीच पृथकता स्थापित हुई। भारतेंदुजी ने अपने अल्पजीवन में 'भारतेंदु मण्डल' तैयार किया, जिसमें पण्डित प्रताप नारायण मिश्र, उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', ठाकुर जगमोहन सिंह, पण्डित बालकृष्ण भट्ट आदि प्रमुख रूप से गिने जा सकते हैं। भारतेंदु के समय में ही देश के कोने-कोने में हिंदी लेखक तैयार हुए जो निरंतर साहित्य-सेवा में लगे रहे। अपने-अपने विषय क्षेत्र के अनुरूप हिंदी को रूप देने में सब का हाथ रहा।'

रामविलास शर्मा को भारतेंदु युग के विविध पक्षों के विशद अध्ययन के लिए जाना जाता है। उन्होंने *भारतेंदु युग और हिंदी भाषा की परम्परा* तथा *भारतेंदु और हिंदी नवजागरण* शीर्षक पुस्तकों में भारतेंदु युग की ऐतिहासिक-सांस्कृतिक संदर्भों में व्याख्या की है। उन्होंने लिखा है, 'भारतेंदु युग का अध्ययन करते हुए प्रायः विद्वानों के दो दृष्टिकोण सामने आते हैं। एक दृष्टिकोण के अनुसार इस युग का साहित्य हमारे नये सामाजिक और सांस्कृतिक नवजागरण का ही परिणाम है, दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार इस साहित्य की मूल प्रेरणा अंग्रेजों से मिली'। डॉ. शर्मा ने पहले दृष्टिकोण का ही समर्थन किया है। यह दृष्टिकोण एक प्रकार

से हिंदी क्षेत्र में आधुनिक संवेदना के उदय की व्याख्या है। इसे प्रायः स्वदेशी भावना और स्वभाषाभिमान से जोड़ कर देखा जाता है। रामविलास शर्मा ने अनेक साक्ष्यों से स्पष्ट किया है कि अंग्रेजी शासन की शोषण-दमन नीति के विरुद्ध भारतेंदु युग के साहित्य ने 'जागरण' की भूमिका निभायी है।

स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार का प्रतिज्ञा-पत्र भारतेंदु ने 23 मार्च, 1874 को अपनी पत्रिका *कवि वचन सुधा* में प्रकाशित किया था। राम विलास शर्मा ने इस पर टिप्पणी की है, 'यह प्रतिज्ञापत्र भारतीय स्वाधीनता के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जाने योग्य है।' यहाँ भारतीय सांस्कृतिक नवजागरण के सामान्यतः दो लक्षण देखे जा सकते हैं। एक तो दो संस्कृतियों की टकराहट से उत्पन्न ऊर्जा है और दूसरे इसमें मनुष्य के समग्र विकास की चेष्टा है। संस्कृतियों की टकराहट इस देश में तब भी हुई थी जब यहाँ इसलाम का आगमन हुआ था। पर इसे नवजागरण या पुनर्जागरण नहीं कहा जा सकता क्योंकि दोनों संस्कृतियाँ अपने मूल रूप में धार्मिक थीं। इस सांस्कृतिक मेलजोल ने साहित्य-कला-संगीत को प्रभावित किया था। डॉ. शर्मा के मुताबिक उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ हिंदी क्षेत्र का नवजागरण अंग्रेज-संस्कृति की देन न हो कर उसके साथ टकराहट का अनिवार्य नतीजा था। दो भिन्न प्रकृति की संस्कृतियों की टकराहट से नयी ऊर्जा का विस्फोट हुआ। इसकी राजनीतिक भाव-भूमि 1857 में लड़े गये भारत के प्रथम स्वाधीनता संग्राम से बनी थी।

भारतेंदु युग के जागरण को कुछ विद्वानों ने हिंदू पुनरुत्थान या हिंदू परम्परा का राष्ट्रीयकरण भी करार दिया है। भारतेंदु द्वारा बलिया में दिया गया भाषण इस सिलसिले में अक्सर उद्धृत किया जाता है। भारतेंदु ने इस भाषण में कहा था, 'इस महामंत्र का जाप करो, जो हिंदुस्तान में रहे, चाहे किसी रंग, चाहे किसी जाति का क्यों न हो, वह हिंदू है। हिंदू की सहायता करो। बंगाली, मराठा, पंजाबी, मद्रासी, वैदिक, जैन, ब्राह्म, मुसलमान सब एक का हाथ पकड़ो।' यहाँ वे हिंदू की संकल्पना में एक सर्वधर्म-राष्ट्र देखते हुए प्रतीत होते हैं।

ज़ाहिर है कि हिंदू-आस्था भारतेंदु के विचार के मर्म में थी। लेकिन वे साथ में समय-समाज-राजनीति पर निगाह रखते थे। एक ओर प्रेमाभक्ति के प्रति उनकी निष्ठा *चंद्रावली* जैसी नाटिका रचवाती है, दूसरी ओर राजनीति के दाँव-पेच उसे *मुद्राराक्षस* नाटक का अनुवाद करवाते हैं। भारतेंदु युग में पत्रकारिता, निबंध और नाटक नवजागरण के माध्यम बने और स्वदेश-प्रेम में स्वदेशी आंदोलन का सूत्रपात किया। प्रताप नारायण मिश्र, प्रेमचंद, राधाचरण गोस्वामी, बालकृष्ण भट्ट आदि लेखक इस आंदोलन को आगे बढ़ाते रहे। उनकी सीमा यह है कि ये लेखक विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार की

बात तो करते हैं लेकिन विदेशी कपड़ा जलाने की प्रेरणा नहीं देते।

भारतेंदुयुगीन साहित्य का शक्ति-स्रोत जनजीवन है। लोकचिन्ता, टैक्स, महामारी, महंगाई, भारतीय कच्चे माल की लूट, अंग्रेज़ी और अंग्रेज़ों के शोषण उनके मुख्य विषय हैं। काव्यरूपों में लोकछंद, मुक्तक, चूरन के लटके, लावनी और समस्यापूर्ति का इस्तेमाल है। वैचारिक गद्य खड़ी बोली में है और कविता ब्रजभाषा में। लेकिन यह कविता रीतिकालीन कविता की तरह है। लोकजीवन से तादात्म्य के कारण ही भारतेंदु ने ग्रामगीतों को प्रोत्साहित किया। रामविलास शर्मा ने इसीलिए भारतेंदु युग के साहित्य को जनता का साहित्य करार दिया है। जनता के साहित्य में साम्राज्यवाद-विरोध का मनोभाव प्रबल है और राजनीतिक स्वर धारदार। अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद के प्रति उनका दृष्टिकोण है, 'पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी'। भारतेंदु युग का मूलमंत्र था, 'परदेशी वस्तु और परदेशी भाषा पर भरोसा मत करो' और *ऋग्विचन सुधा* का सिद्धांत था, 'स्वत्व निज भारत गहै'। इस कथन में भारत की सांस्कृतिक अस्मिता और भारत की स्वाधीनता की व्यंजना इस युग के साहित्य में सर्वत्र मिलती है। 'स्वत्व निज भारत गहै' इसी लय से आधुनिक हिंदी साहित्य की जनोन्मुख चेतना आगे भी गतिमान बनी रही।

अंग्रेज़ों के प्रति भारतेंदु युग के लेखकों को लेकर कई बार प्रश्न किया जाता है कि उनमें जो राज-भक्ति है उसके साथ देश-भक्ति का क्या मेल है? एक ओर उनमें महारानी विक्टोरिया का गुणगान और समस्यापूर्ति है, तो दूसरी ओर आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं पर प्रतिपक्षी ढंग का चिंतन है। नवजागरण की सांस्कृतिक टकराहट से यह अंतर्विरोध व्यक्त हो रहा है। राजभक्ति से देशभक्ति और जन-संस्कृति की परम्परा टकरा रही है। हम यह भी पाते हैं कि भारतेंदु युग की रचनाओं में आंदोलन-विचार खड़ी बोली के गद्य में निकल कर आया है और रचना-संस्कार ब्रजभाषा में। भारतेंदु युग के गद्य का मुँह औपनिवेशिक आधुनिक-काल की ओर है तो कविता का मुँह आरम्भिक भारतीय आधुनिकता की ओर। पहले विचार बदलते हैं, फिर धीरे-धीरे संस्कार। यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि भारतेंदु-युग की संवेदना आधुनिक-संवेदना की जटिलता से दूर सहज-सीधी संवेदना है। भारतेंदु युग के इस अंतर्विरोध और इससे उपजने वाले विरोधाभासों पर वसुधा डालमिया और सुधीर चंद्र जैसे इतिहासकारों ने विश्लेषणात्मक रोशनी डाली है।

लेकिन, दूसरी तरफ़ यह भी एक तथ्य है कि भारतेंदु-युग के लेखकों में निर्भयता का भाव बहुत गहरे तक जड़ें जमाये हुए दिखता है। भारतेंदु ने कहा भी है, 'हरिचन्द-नक्रद दमाद अभिमानी के।' रचनाकार का चरित्र युग के लेखक के

चरित्र का पर्याय कहा जा सकता है। जयशंकर प्रसाद ने *काव्य और कला तथा अन्य निबंध* पुस्तक में भारतेंदु को यथार्थवाद का प्रवर्तक घोषित किया है। पत्रकारिता, निबंध, नाटक सभी इसका साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। भारतेंदु की निबंध कला ही रीतिकाल से नाता तोड़ती है और हिंदी में यथार्थवाद का रास्ता साफ़ करती है।

देखें : अष्टछाप, 'अंग्रेज़ी हटाओ' आंदोलन, छायावाद, डायग्लॉसिया, नगेंद्र और सैद्धांतिक समीक्षा, नयी कविता, नंद दुलारे वाजपेयी, नामवर सिंह, प्रेमचंद, प्रयोगवाद, प्रगतिवाद, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, भक्ति आंदोलन-1 और 2, भक्ति-काव्य-1 और 2, भारतेंदु हरिश्चंद्र, भाषा नियोजन-1 से 4 तक, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, महावीर प्रसाद द्विवेदी, महादेवी वर्मा, मीराबाई और प्रेमाभक्ति, राहुल सांकृत्यायन, रामानुजाचार्य, रामानंद, रामचंद्र शुक्ल-1 और 2, रामविलास शर्मा, राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता, रीतिकाल-1 और 2, विजय देव नारायण साही, वैष्णव धर्म, श्याम सुंदर दास, सम्पर्क भाषा-1 से 4 तक, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1, 2 और 3, सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय, संत-काव्य, संस्कृत काव्यशास्त्र, सिद्ध-नाथ परम्परा, सूफीयत और प्रेमाख्यान, हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिंदी विरोधी आंदोलन, हिंदी जाति-1, 2 और 3, हिंदी साहित्य का आदिकाल, हिंदी साहित्य का इतिहास, हिंदी साहित्य का इतिहास : नये परिप्रेक्ष्य, हिंदी-पद्य में इतिहास, हिंदी-जगत और 'लोकप्रिय'-1 और 2, हिंदी नवजागरण, हिंदी-संस्थाएँ।

संदर्भ

1. रामचंद्र शुक्ल (1940), *हिंदी साहित्य का इतिहास*, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।
2. कृष्णशंकर शुक्ल (1995), *आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास*, भारती-भण्डार, प्रयाग।
3. डॉ. नगेंद्र (सम्पा.) (1980), *हिंदी साहित्य का इतिहास*, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली।
4. डॉ. रामविलास शर्मा (1998), *भारतेंदु युग और हिंदी भाषा की विकास परम्परा*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली।
5. एलिसन बुश (2010), 'हिडेन इन प्लेन व्यू : ब्रजभाषा पोएट्स ऐट द मुगल कोर्ट', *मॉडर्न एशियन स्टडीज़*, खण्ड 44, अंक 2.

—कृष्णादत्त पालीवाल

भारतेंदु युग-2

हिंदी गद्य का बदलता हुआ इतिहास

(Bhartendu Period-2)

भारतेंदु युग हिंदी गद्य के बहुमुखी विकास का युग था। हिंदी नाटकों का आरम्भ भारतेंदु हरिश्चंद्र से ही स्वीकार किया जाता है। इसके पहले प्राणचंद्र चौहान कृत *रामायण महानाटक* (1610), लछिराम कृत *करुणभरण* (1667), महाराज विश्वनाथ कृत *आनंद रघुनंदन* (1700), उदय कृत *हनुमान नाटक* (1820) आदि का उल्लेख अवश्य मिलता है, लेकिन ये नाटक से ज्यादा पद्यात्मक प्रबंध हैं। अमानत की *इंद्रसभा* (1857) और *नीतिनाट्य* की भी विद्वान चर्चा करते हैं। भारतेंदु के पिता गोपालचंद्र गिरधर दास कृत *नहुष* (1857) भी बहुत प्रसिद्ध रहा है। *जानकी मंगल* नाटक के अभिनय में भारतेंदु ने भी भाग लिया था। खड़ी बोली के प्रयोग के कारण यह नाटक भारतेंदु प्रवर्तित नाटकों से जुड़ा माना जाता है। भारतेंदु ने मौलिक तथा अनूदित मिला कर सत्रह नाटकों की रचना की। *रत्नावली*, *पाखण्डविखण्डन*, *कर्पूरमंजरी* और *मुद्राराक्षस* के अनुवाद के साथ शेक्सपीयर के नाटक *मर्चेट आफ वेनिस* का दुर्लभबंधु के नाम से अनुवाद किया। *वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति* (1873), *सत्य हरिश्चंद्र* (1875), *श्रीचंद्रावली* (1876), *विषस्य विषौषधम्* (1876), *भारत दुर्दशा* (1880), *नीलदेवी* (1881), *अंधेर नगरी* (1881), *सतीप्रताप* (1883) और *प्रेमजोगिनी* (1885) जैसे नाटक लिखे। भारतेंदु ने सर्वाधिक पौराणिक नाटक लिखे।

इसी युग में श्रीनिवास दास कृत *संयोगिता स्वयंवर* (1886), राधाचरण गोस्वामी कृत *अमर सिंह राठौर* (1895), राधाकृष्ण दास कृत *महाराणा प्रताप* (1898) आदि लोकप्रिय नाटकों की रचना हुई। श्रीनिवास दास कृत *रणधीर प्रेममोहिनी* (1890), *मयंक मंजरी* (1891) आदि प्रेम प्रधान नाटक रचे गये। सामयिक विषयों पर बालकृष्ण भट्ट कृत *नयी रोशनी का विष* (1884), खड्गबहादुर मल्ल कृत *भारत आहत* (1885), अम्बिकादास व्यास कृत *भारत-सौभाग्य* (1887), राधाकृष्ण दास कृत *दुःखिनी बाला* (1880), काशीनाथ खत्री कृत *विधवा विवाह* और देवकीनंदन त्रिपाठी कृत *भारत-हरण* (1899) जैसे नाटकों का नाम उल्लेखनीय है। इन नाटकों में भारत-दुर्दशा के चित्र हैं और सामाजिक बुराइयों को दूर करने की सलाह है। इनका नाटकों का उद्देश्य जनमानस जागृत करना है। बांग्ला नाटकों में से सर्वाधिक अनुवाद माइकेल मधुसूदन दत्त के नाटकों के हुए और संस्कृत नाटकों में भवभूति, कालिदास, शूद्रक और श्रीहर्ष के। अंग्रेजी

से सर्वाधिक अनुवाद शेक्सपीयर के नाटकों के हुए : जैसे, 1888 में *मर्चेट आफ वेनिस* का अनुवाद आर्या द्वारा *वेनिस का व्यापारी* शीर्षक से, 1885 में *द कॉमिडी आफ एरर्स* का अनुवाद *भ्रमतालक* शीर्षक से मुंशी इमदाद अली ने और *भूलभुलैया* शीर्षक से लाला सीताराम ने, 1886 में *एज़ यू लाइक इट* का अनुवाद *मनभावन* शीर्षक से पुरोहित गोपीनाथ, रोमियो जूलियट - प्रेमलीला-पुरोहित गोपीनाथ ने, 1897 में *मैकबेथ* का अनुवाद *साहसेंद्र साहस* शीर्षक से मथुरा प्रसाद उपाध्याय ने किया।

इन नाटकों के अनुवाद का परिणाम यह हुआ कि *रणधीर प्रेम मोहिनी* जैसे दुःखांत नाटक हिंदी में लिखे जा सके। सृजन और रंगकर्म का एक नया संस्कार हिंदी नाटकों में दिखाई दिया। भारतेंदुयुगीन साहित्यकारों द्वारा अनूदित नाटकों ने हिंदी के सांस्कृतिक-साहित्यिक नवजागरण को एक नवीन दृष्टि प्रदान की। ये अनुवाद या रूपांतरण मुख्यतः संस्कृत, बांग्ला और अंग्रेजी से किये गये। स्वयं भारतेंदु ने इस दिशा में क्रम उठाया। संस्कृत से भास और कालिदास के नाटकों के अनुवाद अधिक हुए। 1862 में राजा लक्ष्मण सिंह ने *अभिज्ञान शाकुंतल* का काव्यात्मक अनुवाद करके हिंदी प्रेमियों का ध्यान आकृष्ट किया। भारतेंदु ने बांग्ला से *विद्यासुंदर* और संस्कृत से विशाखदत्त का अनुवाद किया। देवदत्त तिवारी (1871) ने उत्तर *रामचरित*, लाला सीताराम (1897) ने *मालती-माधव*, महावीर चरित और विश्वनाथ दुबे (1886) ने *मालती-माधव* का अनुवाद किया। लाला सीताराम ने शूद्रक के *मृच्छकटिकम्* तथा कालिदास के *मालविकाग्निमित्र* का अनुवाद किया। बालकृष्ण भट्ट ने माइकेल मधुसूदन दत्त के नाटक *पद्मावती* (1878) और *शर्मिष्ठा* का अनुवाद बांग्ला से किया। रामकृष्ण वर्मा ने *पद्मावती* और *वीर नारी* आदि अनेक नाटकों के अनुवाद किये।

भारतेंदु युग के रचनाकारों को उपन्यास-रचना की प्रेरणा बांग्ला और अंग्रेजी उपन्यासों से मिली। अंग्रेजी ढंग का पहला मौलिक उपन्यास श्रीनिवास दास का *परीक्षा गुरु* 1882 में आया। इससे पूर्व श्रद्धाराम फुल्लौरी ने *भाग्यवती* नाम से 1877 में एक उपन्यास लिखा था। उसके बाद इस काल में सामाजिक-ऐतिहासिक उपन्यासों के साथ जासूसी-तिलस्मी उपन्यासों का रचना-क्रम शुरू हुआ। बालकृष्ण भट्ट ने *नूतन ब्रह्मचारी* (1886), *एक अज्ञान सौ सुजान* (1892), राधाकृष्ण दास ने *निस्सहाय हिंदू* (1890), लज्जाराम शर्मा ने *धूर्त रसिकलाल*, किशोरीलाल गोस्वामी ने *सौभाग्यश्री* (1890) जैसे उल्लेखनीय उपन्यास लिखे। तिलस्मी-ऐयारी उपन्यासों में देवकीनंदन खत्री कृत *चंद्रकांता* (1882), *चंद्रकांता संतति* (1896), *नरेंद्र मोहिनी* (1893), *वीरेंद्र वीर* (1895), *कुसुम कुमारी* (1899) जैसे नामी-गिरामी



प्रताप नारायण मिश्र : प्रताप का प्रकाशन

उपन्यास आये। इन उपन्यासों की लोकप्रियता का यह हाल रहा कि इन्हें पढ़ने के लिए अहिंदी भाषियों ने हिंदी सीखी। रूमानी उपन्यासों में ठाकुर जगमोहन सिंह का *श्यामास्वण* (1888) उल्लेखनीय है। इस युग में प्रताप नारायण मिश्र ने बंकिमचंद्र के उपन्यास *तेजसिंह*, *इंदिरा*, *राधारानी* और *युगलांगुरीय* का अनुवाद करके धूम मचा दी। बांग्ला उपन्यासों के अनुवाद ने हिंदी को राष्ट्रीय जागरण का अर्थ समझाया और एक नया पाठक समाज पैदा किया।

इस युग में हिंदी कहानी ठीक से आरम्भ नहीं हो पायी। कहानी के नाम पर मुंशी नवलकिशोर ने *मनोहर कहानी* (1880), अम्बिकादत्त व्यास ने *कथा कुसुमकलिका* (1888), शिवप्रसाद सितारेहिंद ने *वाया-मनोरंजन* (1886), का लेखन-सम्पादन किया। इस काल में अंग्रेजी कहानियों की आहट भर सुनायी दी। लेकिन इस युग में निबंध-लेखन का क्रम बड़े महत्त्व के साथ सामने आया। पत्र-पत्रिकाओं में शुरू से ही निबंध-लेखन को उत्साहवर्धक परिवेश मिला। भारतेंदु, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट आदि ने निबंध की विधा को गति प्रदान की। बद्रीनारायण चौधरी प्रेमघन, राधाचरण गोस्वामी, काशीनाथ खत्री, श्रीनिवास दास ने नये-नये सामाजिक-राजनीतिक, धर्म-दर्शन, पर्व-त्योहारों पर निबंध लिखे। इन सभी का उद्देश्य जन-चेतना में नवजागरण पैदा करना था।

इस युग में पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से आलोचना का आरम्भ हुआ। *हिंदी प्रदीप* (1877-1910) जैसे पत्र नवीन आलोचनाएँ प्रकाशित करने लगे। इस युग में जगन्नाथ प्रसाद भानु ने *छंद प्रभाकर* (1894), पण्डित जगन्नाथ दास रत्नाकर ने *घनाक्षरी विषय रत्नाकर* (1887), मुरारीदास कविराज ने *जसवंतजसभूषण* जैसे सैद्धांतिक आलोचना के ग्रंथ रचे। नाट्यशास्त्र को आधार बनाकर भारतेंदु ने *नाटक* (1883) जैसा उल्लेखनीय निबंध लिखा। लाला श्रीनिवास दास कृत *संयोगिता स्वयंवर* नाटक की आलोचना छपी। रामचंद्र शुक्ल ने कहा है कि आलोचना का नाटकों से हुआ। इसी युग में महत्त्वपूर्ण यात्रा-वृत्तांत लिखने की परम्परा चली— जैसे *लंदन यात्रा* (1883), *लंदन का यात्री* (1884) और *ब्रजयात्रा* आदि। स्वयं भारतेंदु ने तमाम यात्रा-वृत्त लिखे।

इस युग का एक उल्लेखनीय पक्ष यह भी है कि अनेक प्रकार का ज्ञान-साहित्य सामने आया। जैसे, भारतेंदु ने *बूंदी का राजवंश* (1882), देवी प्रसाद ने *आमेर के राजे* (1893), मारवाड़ के प्राचीन लेख (1896) और महाराज सिंह ने *इतिहास बुंदेलखण्ड* आदि ग्रंथ लिखे। शिवप्रसाद सितारेहिंद ने *भूगोल हस्तामलक* (1870), लक्ष्मीधर मिश्र ने *प्राकृतिक भूगोल चंद्रिका* (1886), भगवान दास वर्मा ने *पश्चिमोत्तर तथा अवध का भूगोल* (1887) जैसी पुस्तकें रचीं। ललित कलाओं पर भक्तराम की *राग रत्नाकर* रची गयी। विचार के क्षेत्र में सर्वाधिक प्रचार दयानंद सरस्वती के *सत्यार्थ प्रकाश* और गोपालदास कृत *वल्लभाख्यान* (1873) का हुआ।

इस युग के पत्र-पत्रिकाओं ने हिंदी-गद्य का पुराना इतिहास बदल दिया और नया लोकजागरण पैदा किया। कलकत्ता से उदंत *मार्तण्ड* (1826), *बंग दूत* और *बनारस अखबार* (1845) निकला। उसके बाद भारतेंदु ने *कविवचन सुधा*, *बालाबोधिनी*, *हर्षिचंद्र चंद्रिका*, प्रताप नारायण मिश्र ने *प्रताप*, बालकृष्ण भट्ट ने *हिंदी प्रदीप*, प्रेमघन ने *आनंद कादम्बिनी* जैसी पत्र-पत्रिकाएँ निकाल कर इस क्षेत्र में नया सवेरा किया। इस युग में अनेक पत्र एक के बाद एक निकलते रहे। इनका इतिहास बहुत गौरवशाली है। इन पत्र-पत्रिकाओं के हँसते-खिलते गद्य ने हिंदी की सर्जनात्मकता में श्रीवृद्धि की। इस प्रकार हिंदी-साहित्य का आधुनिक-काल बड़े उत्साह से सामने आया। इसके माध्यम से जनता की समस्याओं को वाणी दी गयी। इस युग के पूरे चिंतन में ईश्वर-धर्म को हटा कर मानव केंद्र में आया। इसी युग की मूल्यवान परम्परा को आगे बढ़ाने का कार्य द्विवेदी युग में किया गया।

देखें : अष्टछाप, 'अंग्रेजी हटाओ' आंदोलन, छायावाद, डायग्लॉसिया, नगेंद्र और सैद्धांतिक समीक्षा, नयी कविता, नंद दुलारे वाजपेयी, नामवर सिंह, प्रेमचंद, प्रयोगवाद, प्रगतिवाद, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, भक्ति आंदोलन-1 और 2, भक्ति-काव्य-1 और 2, भारतेंदु हरिश्चंद्र, भाषा

नियोजन-1 से 4 तक, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, महावीर प्रसाद द्विवेदी, महादेवी वर्मा, मीराबाई और प्रेमाभक्ति, राहुल सांकृत्यायन, रामानुजाचार्य, रामानंद, रामचंद्र शुक्ल-1 और 2, रामविलास शर्मा, राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता, रीतिकाल-1 और 2, विजय देव नारायण साही, वैष्णव धर्म, श्याम सुंदर दास, सम्पर्क भाषा-1 से 4 तक, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1, 2 और 3, सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय, संत-काव्य, संस्कृत काव्यशास्त्र, सिद्ध-नाथ परम्परा, सूफीयत और प्रेमाख्यान, हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिंदी विरोधी आंदोलन, हिंदी जाति-1, 2 और 3, हिंदी साहित्य का आदिकाल, हिंदी साहित्य का इतिहास, हिंदी साहित्य का इतिहास : नये परिप्रेक्ष्य, हिंदी-पद्य में इतिहास, हिंदी-जगत और 'लोकप्रिय'-1 और 2, हिंदी नवजागरण, हिंदी-संस्थाएँ।

संदर्भ

1. अज्ञेय (1978), *आधुनिक हिंदी साहित्य : एक परिदृश्य*, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.
2. रामस्वरूप चतुर्वेदी (1988), *हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास*, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद.
3. रामस्वरूप चतुर्वेदी (1982), *इतिहास और आलोचक-दृष्टि*, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद.

—कृष्णदत्त पालीवाल

भारत में आतंक-विरोधी क़ानून-1

अपवाद स्थिति का विमर्श

(Anti-Terror Law in India-1)

आतंकवाद की कोई एकरूप परिभाषा न होते हुए भी अंतर्राष्ट्रीय न्यायिक और मानवाधिकार विमर्श में इसे मानवता के विरुद्ध एक अपराध की श्रेणी में रखा जाता है। एक संगठित, व्यवस्थित, हिंसक कार्य जो सामूहिक हत्या को अंजाम दे— आतंकवाद कहलाता है। बीसवीं शताब्दी के मध्य से और खास तौर पर इक्कीसवीं शताब्दी में न्यूयॉर्क में वर्ल्ड ट्रेड टावर्स पर हुए आतंकी हमले के बाद से आतंकवाद एक ऐसे अपराध की श्रेणी में आ गया है जिसके बारे में माना जाता है कि राज्य के साधारण क़ानून इसकी रोकथाम में विफल हैं। इसी के बाद से इसकी रोकथाम के लिए विशेष तरह के क़ानून और उपायों की खोज होने लगी। इसी विमर्श में जो क़ानून निकल कर आये उन्हें आतंक विरोधी क़ानून माना गया। स्वतंत्र भारत ने अभी तक केंद्रीय स्तर पर तीन आतंक विरोधी क़ानून बनाये हैं— ग़ैरक़ानूनी गतिविधि

निवारक अधिनियम (अनलॉफ़ुल एक्टिविटीज प्रिवेंशन ऐक्ट या यूएपीए, 1967, 2004, 2008); टेररिस्ट एंड डिसरप्टिव एक्टिविटीज प्रिवेंशन ऐक्ट (टाडा, 1985) और प्रिवेंशन ऑफ़ टेररिस्ट एक्टिविटीज ऐक्ट (पोटा, 2002)। आतंक विरोधी क़ानूनों की प्रकृति ऐसी है कि इन्हें राष्ट्रीय सुरक्षा से जुड़े क़ानूनों की श्रेणी में रखा जाता है। माना जाता है कि इन क़ानूनों के बनाने का मक़सद है आतंकवाद के 'ख़तरे' से राष्ट्र की सुरक्षा। जाहिर है कि आतंकवाद को राजनीतिक एवं क़ानूनी विमर्श में एक साधारण अपराध की श्रेणी में नहीं देखा जाता। माना जाता है कि आतंकवाद का ख़तरा एक 'असाधारण स्थिति' को जन्म देता है जिससे संघर्ष करने के लिए साधारण क़ानून अपर्याप्त हैं। ऐसी असाधारण या अपवाद की स्थिति ही सुरक्षा क़ानून या आतंक-विरोधी क़ानून के अधिनियमन का औचित्य साबित करती है। चूँकि ये क़ानून अपवाद या असाधारण स्थिति की उपज हैं, इसलिए इनकी प्रकृति भी असाधारण होती है। असाधारण क़ानूनों के संदर्भ में आतंक विरोधी अधिनियमता को समझने के लिए ज़रूरी है कि पहले असाधारण या अपवाद की स्थिति को समझा जाए।

उज्ज्वल कुमार सिंह ने अपनी किताब *स्टेट, डेमोक्रेसी एंड टेरर लॉ इन इण्डिया* में अपवाद की स्थिति के विमर्श के संदर्भ में कार्ल फ्रेड्रिख, कार्ल शिमट और ग्योर्गी अगम्बेन के विचारों के ज़रिये भारत के संदर्भ में आतंक विरोधी क़ानूनों की 'असाधारणता' समझने की कोशिश की है। यह आतंक विरोधी क़ानूनों की असाधारणता ही है जो इनकी उत्पत्ति, प्रकृति, कार्य और प्रयोजन को स्पष्ट करती है।

सुरक्षा से जुड़े क़ानून एक खास तर्काधार का पालन करते हैं, ये तर्काधार है राष्ट्र-राज्य को बनाये रखने का। कार्ल फ्रेड्रिख के विचारों में यह 'रीज़न ऑफ़ स्टेट' की अवधारणा से निकलता है। यह अवधारणा मानती है कि जब राज्य अस्तित्व संबंधी चुनौतियों से जूझ रहा हो तब उसे बनाये रखने के लिए किसी भी तरह के निरोधक उपायों का प्रयोग किया जाना चाहिए। यह अवधारणा चूँकि राष्ट्र-सुरक्षा के आयाम को वर्णित करती है, इससे राष्ट्र-सुरक्षा के लिए बनाये गये क़ानूनों की प्रकृति भी रेखांकित होती है। एक ऐसी स्थिति सामान्य या साधारण स्थिति से अलग मानी जाती है, जब राज्य के अस्तित्व को चुनौती दी जा रही हो। ऐसी स्थिति को असाधारण या अपवाद की स्थिति के रूप में चिह्नित किया जाता है। अपवाद की स्थिति फिर चुनौतियों से लड़ने के लिए असाधारण उपायों की भी माँग करती है।

आतंक विरोधी क़ानून इस अपवाद की स्थिति के विमर्श की पैदावार बन जाते हैं। यह कैसे होता है यह शिमट

और अगम्बेन के विचारों में अपवाद की समझ से स्पष्ट होता दिखता है। शिमट बताते हैं कि अपवाद एक ऐसी स्थिति है जो क़ानून के दायरे से बाहर है। इसलिए साधारण क़ानून असाधारण स्थिति को सम्भालने में सक्षम नहीं है। ऐसी अपवाद की स्थिति, जो संकट की स्थिति मानी जाती है, का समाधान शिमट एक सम्प्रभु तानाशाही के मॉडल में देखते हैं। इस मॉडल में सम्प्रभु वह है जो बताये कि क़ानून क्या है। इस व्यवस्था में व्याप्त साधारण व्यवस्था सम्प्रभु की इच्छा से बदली जा सकती है। आतंकवाद को राज्य सुरक्षा के लिए घातक मानकर अपवाद की स्थिति माना जाता है। ऐसे में आतंक-विरोधी क़ानूनों के अधिनियमन द्वारा व्याप्त व्यवस्था में उभरी अपवाद की स्थिति से निपटने के लिए फेरबदल किया जाता है। यह फेरबदल स्थापित मानक से विपरीत होता है।

इस बात पर विवाद रहा है कि अपवाद की स्थिति को क़ानूनी दायरे के अंदर माना जाए या इसके बाहर। कुछ पक्ष यह कहते हैं कि क़ानूनी दायरे के भीतर ही अपवाद की स्थिति का प्रावधान है जहाँ अपवाद से लड़ने की अनिवार्यता ही क़ानून बनाती है। दूसरा पक्ष यह मानता है कि अपवाद की स्थिति क़ानूनी दायरे के भीतर हो ही नहीं सकती क्योंकि वह क़ानूनी व्यवस्था से परे जाकर अपने ही प्रावधान बना सकती है। इस विवाद में जो पहलू 'अपवाद की स्थिति' और इसके संदर्भ में आतंक-विरोधी क़ानूनों की उत्पत्ति को समझने में सहायता करता है वह है अगम्बेन का विचार। अगम्बेन मानते हैं कि क़ानूनी दायरे के भीतर या बाहर दोनों ही पक्ष अपवाद की स्थिति की वास्तविकता को समझ नहीं पाते। उनके विचारों में अपवाद एक ऐसी स्थिति है जो क़ानूनी दायरे के भीतर और बाहर के अंतर को स्पष्ट करती है। यही अस्पष्टता आतंक-विरोधी क़ानूनों के प्रयोग में झलकती है जहाँ 'साधारण' और 'असाधारण' के बीच का अंतर भी काफ़ी अस्पष्ट रहता है।

आतंक विरोधी क़ानूनों की लोकतंत्र में जगह समझने के लिए इनकी उत्पत्ति के परिप्रेक्ष्य, प्रयोजन एवं प्रयोग के संदर्भ को समझना ज़रूरी है। इन सब पहलुओं में आतंक-विरोधी क़ानूनों की 'असाधारणता' सामने आती है। इसमें इस तरह के क़ानूनों के लोकतांत्रिक मूल्यों से टकराव की बात भी सामने आती है जिससे इनके औचित्य पर भी सवाल उठता है। इस तरह के क़ानूनों की बुनियाद औपनिवेशिक काल में क्रिमिनल लॉ (अमेंडमेंट) ऐक्ट (आपराधिक क़ानून (संशोधन) अधिनियम (1908) में देखी जा सकती है। इस ऐक्ट ने पहली बार 'ग़ैरक़ानूनी संगठन' (या अनलॉफ़ुल ऐसोसिएशन) की परिभाषा रखी थी। ग़ैरक़ानूनी संगठन ऐसा संगठन माना गया जो व्यक्ति को हिंसा या धमकी से जुड़ी गतिविधियों के लिए बढ़ावा दे या मदद करे।

स्वतंत्र भारत में असाधारण शक्तियों वाला क़ानून पहली बार 1967 में बनाया किया गया था। यह क़ानून था- अनलॉफ़ुल एक्टिविटीज़ प्रिवेंशन ऐक्ट (या यूएपीए)। लोकसभा में पारित होने से पहले विधेयक के रूप में इसे दो बार अस्वीकार कर दिया गया था क्योंकि लोग इसकी निरंकुश शक्तियों को लेकर चिंतित थे। 1967 में पृथकतावादी आंदोलनों के कारण सरकार को इन आंदोलनों की रोकथाम के लिए यूएपीए का लाना अनिवार्य लगा। यूएपीए-1967 ने केंद्रीय सरकार को संगठन की स्वतंत्रता के मौलिक अधिकार पर पाबंदी लगाने का अधिकार दिया। इस क़ानून के तहत कोई भी संगठन सिर्फ़ इस आधार पर प्रतिबंधित किया जा सकता था कि केंद्रीय सरकार यह मानती है कि वह ग़ैरक़ानूनी गतिविधियों को अंजाम दे रहा है। यूएपीए में 1967 से लेकर अब तक दो संशोधनों के ज़रिये कई बदलाव लाये गये हैं जो इसकी असाधारण शक्ति को नये आयाम देते हैं। पर यूएपीए में लाये गये हालिया संशोधनों को समझने के लिए यह अनिवार्य है कि इसके पहले अधिनियमित दो आतंक-विरोधी क़ानून टाडा और पोटा की प्रकृति को समझा जाए।

अस्सी के दशक में जब पंजाब में खालिस्तान आंदोलन प्रबल हो रहा था, तो उससे जूझने के लिए सरकार को एक असाधारण शक्तियों वाले क़ानून की ज़रूरत महसूस हुई। मई, 1985 में दिल्ली में हुए लगातार बम विस्फोटों को तत्काल कारण बताते हुए सरकार ने संसद में टाडा पारित किया। चूँकि असाधारण क़ानून स्थाई स्थितियों से जूझने के नहीं बल्कि तत्काल स्थितियों को रोकथाम के लिए बनते हैं, इसलिए इनका जीवनकाल भी अस्थायी माना जाता है। इसी विचार के तहत टाडा को दो साल के लिए लागू किया गया, पर अगले एक दशक तक टाडा का हर दो साल के बाद विस्तार किया जाता रहा।

यूएपीए की ही तरह टाडा के तहत कार्यपालिका के पास टाडा के प्रावधानों के इस्तेमाल की असाधारण शक्ति थी। टाडा के तहत साधारण क़ानूनों के मुक़ाबले निवारक नज़रबंदी, वारंट के बग़ैर गिरफ़्तारी की विस्तृत अवधि और जमानत आदि के लिए असाधारण प्रावधान मौजूद थे। साधारण क़ानून में मुक़दमे से पहले निवारक नज़रबंदी की अवधि 60 दिनों की हो सकती है पर टाडा के तहत इसे बढ़ाकर एक साल कर दिया गया। ग़ौरतलब है कि टाडा के भीतर किसी भी व्यक्ति को बिना किसी आरोप के एक साल तक जेल में रखा जा सकता था। एक सामान्य नियम के रूप में टाडा के अंदर आरोपी को जमानत नहीं मिलती थी। जमानत तभी मिल सकती थी जब अदालत इस बात से संतुष्ट हो कि अभियुक्त दोषी नहीं है और जमानत मिलने के बाद किसी अपराध को अंजाम नहीं देगा। टाडा में स्वीकृति या इक्रबाले-जुर्म का प्रावधान था। इसके दुरुपयोग की सम्भावना

सबसे ज़्यादा थी क्योंकि इसके तहत पुलिस के सामने किये गये इक़बाले-जुर्म को कोर्ट में सबूत को दर्ज़ा हासिल था। इस प्रावधान में इस बात की पूरी तरह उपेक्षा की गयी थी कि पुलिस के सामने अपराध-स्वीकृति ज़्यादातर दबाव में आकर की जाती है। ये प्रावधान टाडा की असाधारणता की पराकाष्ठा थी। टाडा किसी भी ऐसे क्षेत्र में लागू किया जा सकता था जिसे सरकार 'प्रभावित' घोषित करे। टाडा लागू होने के बाद वहाँ टाडा कोर्ट का गठन किया जाता था जिसके पास विध्वंसक और हिंसक गतिविधियों पर विचार करने का व्यापक अधिकार था। टाडा के भीतर ऐसी विध्वंसक और आतंकवादी गतिविधियों को दण्डनीय माना गया जो लोगों में आतंक फैलाये, जिससे जान और माल का नुक़सान हो या ऐसी धमकी दी जाए, कोई भी ऐसी गतिविधि जो भारत की सम्प्रभुता या अखण्डता को नुक़सान पहुँचाये या भारत के किसी भी क्षेत्र में पृथकतावाद से जुड़ी गतिविधियों का समर्थन करे।

टाडा के तहत खालिस्तान आंदोलन से जुड़े व्यक्तियों और कश्मीरी मुसलमानों से लेकर फ़िल्म अभिनेताओं तक, मानवाधिकार कार्यकर्ताओं से लेकर आम किसानों और आदिवासियों तक पर कार्रवाई की गयी। कुछ उदाहरण इस बात पर प्रकाश डालते हैं कि किस तरह इस क़ानून का इस्तेमाल राजनीतिक प्रतिरोध के ख़ात्मे के लिए किया गया है। मसलन, भारतीय किसान यूनियन के नेता बलवीर सिंह पर 1985 में टाडा लगाया गया, जब यूनियन ने किसान-माँगों को आगे रखने के लिए एक रेल रोको अभियान की योजना बनायी। पंजाब हाई कोर्ट के अवकाश-प्राप्त जज अजीत सिंह बेंस, पर यह मानकर टाडा लगाया गया कि वे खालिस्तान के समर्थक हैं। ग़ौरतलब है कि बेंस पंजाब मानवाधिकार संगठनों के अध्यक्ष के तौर पर सरकार के हाथों हो रहे अधिकार हनन के आलोचक भी थे। ऐसे कई पत्रकारों, ट्रेड यूनियन नेताओं एवं जागरूक छात्र नेताओं पर भी टाडा के तहत आरोप दर्ज़ किये गये। ज़्यादातर केसों में लम्बी अवधियों तक अभियुक्तों को जेल में रखा गया, लेकिन बाद में इल्ज़ाम साबित नहीं हो पाया।

1993 में गृह मंत्रालय के आँकड़ों के हिसाब से 52,268 व्यक्ति टाडा के तहत हिरासत में लिये गये, और 1994 के आँकड़ों के अनुसार 67,000 लोगों को हिरासत में लिया गया। टाडा के आकलन के लिए केंद्र द्वारा बनायी गयी समीक्षा समिति ने माना कि केवल 5,000 केसों में ही टाडा के आरोप सही साबित हुए। इसका अर्थ था 60,000 से ज़्यादा लोग टाडा के तहत बेवजह गिरफ़्तार हुए। फिर भी सर्वोच्च न्यायालय ने 1994 के करतार सिंह बनाम पंजाब राज्य केस में टाडा की संवैधानिक वैधता को माना।

धीरे-धीरे टाडा के विरुद्ध नागर समाज में असंतोष काफ़ी बढ़ गया। मानवाधिकार आयोग ने भी इसे ख़त्म करने का सुझाव दिया। 1995 में टाडा का एक दशक पूरा होने के बाद इसका विस्तार नहीं किया गया और इसे भंग माना गया। टाडा के एक क़ानून के रूप में ख़त्म हो जाने के बाद भी इसके प्रावधानों के तहत चलने वाले केस जीवित माने गये हैं। ये आतंक-विरोधी क़ानूनों का सबसे विचलित करने वाला प्रावधान है जहाँ क़ानून के हटा लेने के बाद भी जितने लोगों पर इसके जीवनकाल में आरोप लगाये गये थे, वे चलते रहते हैं, जब तक कि फ़ैसला न हो जाए।

देखें : नागरिकता, भारत में नागरिकता विमर्श-1, 2 और 3, भारत में मानवाधिकार, भारत में मानवाधिकार आंदोलन, मानवाधिकार।

संदर्भ

1. उज्ज्वल कुमार सिंह (2007), *स्टेट, डेमोक्रेसी एंड एंटी टेरर लॉ इन इण्डिया*, सेज पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली.
2. उज्ज्वल कुमार सिंह (2011) 'मैपिंग एंटी टेरर लीगल रिज़ीम्स इन इण्डिया', कामराज और अन्य (सम्पा), *ग्लोबल एंटी टेररिज़म लॉ एंड पॉलिसी*, दिल्ली: ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

— अनुष्का सिंह

भारत में आतंक-विरोधी क़ानून-2

व्यवस्था-विरोध के ख़िलाफ़ दुरुपयोग

(Anti-Terror Law in India-2)

जब तर्क यह हो कि आतंकवाद जैसा अपराध साधारण क़ानून के दायरे में नियंत्रित नहीं किया जा सकता तो असाधारण क़ानून के लिए अनायास ही जगह बन जाती है। टाडा के ख़त्म हो जाने के बाद यह ख़ाली जगह सरकार के लिए चिंता का विषय थी। इसी समय अमेरिका में हुए 9/11 आतंकी हमले के बाद आतंकवाद से निपटने की वैश्विक मुहिम चल पड़ी। थी। 13 दिसम्बर, 2001 को हुए भारतीय संसद पर हमले के बाद आतंकवाद के ख़िलाफ़ संघर्ष का विमर्श इस क्रम में तीव्र हुआ कि पोटा के रूप में तीसरे आतंक-विरोधी असाधारण क़ानून की जगह बन गयी। इसे पहले राजग सरकार ने एक अध्यादेश के रूप में लागू किया जिसने मार्च, 2002 में असाधारण शक्तियों से वाले एक क़ानून का रूप ले लिया।

पोटा को संसद में काफ़ी अवरोध का सामना करना पड़ा। इसका वामपंथी पार्टियों के साथ कांग्रेस ने जम कर विरोध किया। कांग्रेस का विरोध दिलचस्प रहा, क्योंकि 1967 में यूएपीए और 1985 में टाडा लाने के बाद कांग्रेस उसी तर्ज़ पर बने एक आतंक विरोधी क़ानून का विरोध कर रही थी।

टाडा की ही तरह पोटा में भी डिटेंशन (क़ैद करने), अपराध स्वीकृति, ज़मानत, सबूत आदि को लेकर असाधारण प्रावधान थे। पोटा ने आतंकवादी गतिविधि की परिभाषा टाडा की ही तर्ज़ पर रखी पर इसकी सीमा का और भी विस्तार करते हुए कुछ नये प्रावधानों को जोड़ा। इन प्रावधानों के ज़रिये इसने दूसरी कई गतिविधियों को भी दण्डनीय बनाया जैसे— आतंकवादी संगठन की सदस्यता, आतंकवादी संगठन को किसी भी तरह की आर्थिक या अन्य सहायता आदि।

पोटा में भी अपराध स्वीकृति या इक्रबाले-जुर्म को अदालत में सबूत का दर्जा हासिल था। इसने टाडा से एक क़दम आगे जा कर पोटा में इलेक्ट्रॉनिक संचार के अवरोधन का प्रावधान भी शामिल किया गया। पोटा में टेलिफ़ोन को टैप करने की आज़ादी थी और इसे अदालत में सबूत के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता था। यूएपीए के प्रावधान को संलग्न करते हुए पोटा के तहत उन सभी संगठनों को आतंकवादी संगठन माना गया और प्रतिबंधित किया गया जो अब तक यूएपीए की सूची में शामिल थे। प्रतिबंध की कोई अवधि निश्चित नहीं की गयी। इसके अलावा लिबेरेशन ऑफ़ तमिल टाइगर्स ईलम (एलटीटीई), स्टूडेंट्स इस्लामिक मूवमेंट इन इण्डिया (सिमी), भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी-लेनिनवादी), माओवादी कम्युनिस्ट सेंटर (एमसीसी) इत्यादि पर भी प्रतिबंध लगाया गया। ये सभी संगठन किसी न किसी राजनीतिक आंदोलन से जुड़े रहे हैं और व्यवस्था के खिलाफ़ विरोध प्रकट करते रहे हैं। इससे स्पष्ट है कि आतंक विरोधी क़ानून राजनीतिक प्रतिरोध को नष्ट करते हैं।

संसद पर हमले के केस में पोटा के असाधारण प्रावधानों का इस्तेमाल सबसे स्पष्ट रूप से दिखा। इस केस में सभी अभियुक्तों को पुलिस के सामने अपराध स्वीकृति और फ़ोन टैपिंग द्वारा इकट्ठा किये गये सबूतों की बिना पर ही दोषी करार दिया गया। टाडा की तरह ही पोटा को लेकर भी सर्वोच्च न्यायालय का रवैया सकारात्मक था। जब पीपुल्स यूनिनन फ़ॉर सिविल लिबर्टी (पीयूसीएल) ने इस क़ानून पर प्रश्न उठाया तो अदालत ने फ़ैसला पोटा के हक़ में दिया। अदालत ने एक बार फिर 'रीज़न ऑफ़ स्टेट' जैसी अवधारणाओं के आधार पर असाधारण क़ानूनों की अनिवार्यता के विमर्श को क़ायम रखा।

सरकार द्वारा पोटा का इस्तेमाल राजनीतिक विरोध को पूरी तरह ख़त्म करने के लिए किया गया। मसलन, तमिलनाडु में एमडीएमके के नेता वायको और उत्तर प्रदेश में रघुराज प्रताप सिंह उर्फ़ राजा भैया के खिलाफ़ इन राज्यों की सरकारों ने पोटा का इस्तेमाल किया। पोटा के इस्तेमाल का प्रमुख कारण यह था कि इन नेताओं के अपने राज्य के सतारूढ़ दल से संबंध ख़राब हो गये थे। गुजरात सरकार ने गोधरा दंगों के सिलसिले में 59 लोगों पर पोटा लगाया। ये सभी मुसलमान थे और इन्हें ज़मानत नहीं दी गयी। आतंक विरोधी क़ानूनों के भीतर एक और भी चलन दिखाई पड़ा है जहाँ अभियुक्त पर आतंक विरोधी क़ानून के साथ एकाधिक आरोप लगाये जाते हैं। इन आरोपों में ज़्यादातर भारतीय दण्ड संहिता (आईपीसी) की वो धाराएँ शामिल होती हैं जो 'राज्य के विरुद्ध' अपराध की श्रेणी में आती हैं। इसके पीछे मुख्य मक़सद यह होता है कि अभियुक्त की सज़ा की अवधि बढ़ायी जाए और इसके साथ ही अगर आतंकवाद का आरोप सिद्ध न भी हो पाये तो आईपीसी की धाराओं के तहत केस चलता रहे।

पोटा के संदर्भ में पहली बार राज्य स्तर पर भी इस तरह की असाधारण शक्तियों वाले क़ानून लागू किये गये। जहाँ महाराष्ट्र सरकार द्वारा अधिनियमित मकोका (महाराष्ट्र कंट्रोल ऑफ़ ऑर्गनाइज़्ड क्राइम ऐक्ट) (1999, 2002) और गुजरात सरकार द्वारा लागू किया गया गुजरात कंट्रोल ऑफ़ ऑर्गनाइज़्ड क्राइम ऐक्ट इसके उदाहरण हैं। टाडा की तरह ही पोटा में भी यह प्रावधान था कि इसके ख़त्म हो जाने के बाद भी इससे जुड़े मुक़दमे चलते रहेंगे। टाडा की तुलना में पोटा में असाधारण शक्तियाँ ज़्यादा थीं और उनका दुरुपयोग भी ज़्यादा मात्रा में हुआ। टाडा की ही तरह पोटा के खिलाफ़ भी मानवाधिकार और नागर समाज में काफ़ी असंतोष पैदा हुआ। मानव अधिकार आयोग ने इसके औचित्य पर सवाल उठाते हुए कहा कि पोटा जिन गतिविधियों को दण्डित करता है उनके लिए साधारण क़ानून में प्रावधान पहले से मौजूद हैं इसलिए इस असाधारण क़ानून की कोई आवश्यकता नहीं है। चूँकि पोटा को लाते वक़्त कांग्रेस इसके विरोध में थी, इसलिए 2004 में सत्ता में आने पर कांग्रेस गठबंधन की सरकार ने इसे भंग कर दिया।

टाडा के बाद पोटा भी एक क़ानून के रूप में क़ानूनी पायदान से विलुप्त हो गया पर पोटा के प्रावधानों की निरंतरता बनी रही। यूएपीए में लाये गये संशोधनों ने इस निरंतरता को सुनिश्चित करने का काम किया। जहाँ एक ओर कांग्रेस पोटा के खिलाफ़ बढ़-चढ़ कर विरोध में खड़ी रही, वहीं उसने संशोधन के ज़रिये पोटा के प्रावधानों को यूएपीए में डालने में भी पूरा जोश दिखाया। यूएपीए के असाधारण क़ानून में संगठन की स्वतंत्रता का मौलिक अधिकार

प्रतिबंधित करने का प्रावधान 1967 से था। संशोधनों के बाद बन कर तैयार हुआ 'नया यूएपीए' अपनी व्यापकता में और भी विस्तृत था जिसमें भंग हो चुके दो और असाधारण क़ानूनों (टाडा और पोटा) के प्रावधान समाहित थे।

यूएपीए दो तरह की गतिविधियों को दण्डित करता है— ग़ैरक़ानूनी और आतंकवादी। ग़ैरक़ानूनी गतिविधियों से मतलब है कोई भी गतिविधि जो भारत के किसी भी क्षेत्र में पृथकता का समर्थन करे, भारत की सम्प्रभुता और अखण्डता को चुनौती दे या भारत के विरुद्ध असंतोष फैलाने की कोशिश करे। परिभाषा से स्पष्ट है कि इन दो दण्डनीय गतिविधियों के भीतर तमाम क्रिस्म की राजनीतिक गतिविधियों को डाला जा सकता है जो राज्य की विविध नीतियों का विरोध करती हों। जिस प्रकार यूएपीए लागू किया गया है उससे साफ़ होता है कि सरकार इसका इस्तेमाल हर तरह के प्रतिरोध के दमन के लिए कर रही है। इस क़ानून के अंदर सिर्फ़ हत्या ही नहीं बल्कि किसी भी तरह के माल की क्षति को भी आतंकवाद की श्रेणी में डाला जाता है। यूएपीए केवल ग़ैरक़ानूनी और आतंकवादी गतिविधियों को ही नहीं बल्कि ऐसी किसी गतिविधि को अंजाम देने की चेष्टा को भी दण्डित करता है। इसका अर्थ है कि व्यक्ति उस कार्य के लिए भी आजीवन कारावास की सज़ा का हक़दार हो सकता है जिसे कभी अंजाम दिया ही न गया हो।

संगठन पर प्रतिबंध लगाने के प्रावधान में सिर्फ़ इतना ही काफ़ी है कि केंद्र सरकार को ऐसा लगता हो कि ऐसे संगठन पर प्रतिबंध लगा देना चाहिए। जहाँ एक ओर पोटा को भंग किये जाने के बाद उसके प्रावधानों को यूएपीए में डाल दिया गया था वही एक चीज़ छूट भी गयी। पोटा के अंदर प्रावधान था कि अगर पुलिस द्वेष की भावना से किसी पर पोटा लगाये तो उसका यह क़दम दण्डनीय माना जाएगा। यूएपीए के भीतर ऐसे किसी प्रावधान की कोई जगह नहीं रखी गयी। अगर असाधारण शक्तियों वाले क़ानून में नागरिक सुरक्षा की थोड़ी भी गुंजाइश थी तो उसे भी यूएपीए के भीतर से निकाल दिया गया।

यूएपीए जिस तरह से व्यवस्था के विरुद्ध आलोचनात्मक आवाज़ उठाने वाले लोगों पर लगाया गया है उससे यूएपीए के पीछे की राजनीति स्पष्ट हो जाती है। विनायक सेन और सीमा आज़ाद जैसे नागरिक स्वतंत्रता से जुड़े कार्यकर्ताओं पर यूएपीए लगाया जाना इसी बात का सबूत है। एक तरफ़ सेन छत्तीसगढ़ सरकार की सलवा जुड़ूम नीति के आलोचक थे, वहीं सीमा आज़ाद उत्तर-प्रदेश सरकार के गंगा एक्सप्रेस वे योजना की। इन आलोचनाओं की पृष्ठभूमि में इन्हें माओवादी गतिविधियों से जुड़ाव रखने के जुर्म में गिरफ़्तार किया गया। इसी तरह नारी अधिकार कार्यकर्ता कंचन बाला और उनके पति ट्रेड यूनियन नेता

गोपाल पर यूएपीए लगाया गया। इस संदर्भ में सिमी पर लगाये गये प्रतिबंध भी उल्लेखनीय है। 9/11 के आतंकी हमले के बाद सिमी पर सिर्फ़ इसलिए बैन लगाया गया क्योंकि वह एक इसलामिक संगठन था। इससे पहले उसका किसी भी तरह की आतंकी गतिविधि का कोई रिकॉर्ड नहीं था। जिस तरह से यूएपीए का उपयोग किया गया है इससे राजनीतिक प्रतिरोध और आपराधिक गतिविधियों के बीच का अंतर ख़त्म होता रहा है। राजनीतिक प्रतिरोधी आज इन असाधारण आतंक विरोधी क़ानूनों की चपेट में अपराधी की श्रेणी में खड़े हैं। ये लोकतंत्र के भीतर न तो अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता न ही संघ की स्वतंत्रता के मौलिक अधिकार का प्रयोग करने में सक्षम हैं।

आतंक विरोधी क़ानूनों की असाधारणता भले ही लोकतंत्र में एक अपवाद की तरह देखी जाती हो पर सत्य यह है कि यह अपवाद लोकतंत्र का एक स्थाई अंग बन चुका है। अगम्बेन ने अपवाद की स्थिति को क़ानूनी दायरे के भीतर और बाहर के अंतर को अस्पष्ट करने वाली स्थिति के रूप में परिभाषित किया था। लेकिन आतंक-विरोधी क़ानूनों का प्रयोग यही सिद्ध करता दिखता है। उज्ज्वल कुमार सिंह इसी विचार को भारत के आतंक-विरोधी क़ानूनों के संदर्भ में समझते हुए दर्शाते हैं कि किस तरह अपवाद की स्थिति में बनने वाले असाधारण क़ानून धीरे-धीरे साधारण क़ानूनी दायरे के भीतर सामान्यीकृत होते जाते हैं या सामान्य जगह पाते जाते हैं। साधारण और असाधारण क़ानून के बीच का भेद अस्पष्ट होता जाता है। परिणामस्वरूप साधारण क़ानूनों में असाधारण क़ानूनों के हिसाब से फेरबदल किये जाते हैं और कई बार पारस्परिक प्रावधान भी डाले जाते हैं। जिस तरह एकाधिक (मल्टीपल) चार्ज का चलन आतंक-विरोधी क़ानूनों के भीतर है, उससे असाधारण क़ानून के साथ साधारण क़ानून की धाराएँ लगा कर अभियुक्त की सामाजिक वैधता और सज़ा की अवधि दोनों से ही खिलवाड़ किया जाता है। भंग होने के बाद भी आतंक-विरोधी क़ानूनों के तहत अभियोग का लगा रहना इनके स्थाईकरण का सबसे बड़ा नमूना है।

लोकतंत्र के लिए सबसे ख़तरनाक बात यह है कि किसी असाधारण स्थिति से निपटने के लिए बने असाधारण शक्तियों वाले क़ानून का स्थाईकरण हो जाना। ये तमाम क़ानून लोकतांत्रिक अधिकारों को हाशिये पर ला खड़ा करते हैं। इन क़ानूनों के भीतर न तो स्वतंत्रता के मौलिक अधिकार का सम्मान है, न ही विधि के शासन का। इसके अंदर केवल राज्य की सत्ता का सरकार के हाथों निरकुंश इस्तेमाल का प्रावधान है।

देखें : नागरिकता, भारत में नागरिकता विमर्श-1, 2 और 3, भारत में मानवाधिकार, भारत में मानवाधिकार आंदोलन, मानवाधिकार।

संदर्भ

1. कोऑर्डिनेशन ऑफ़ डेमोक्रेटिक राइट्स कमिटी (सीडीआरओ) (2012), *द टेरर ऑफ़ लॉ, यूएपीए एंड मिथ ऑफ़ नैशनल सिक्वोरिटी*, प्रोग्रेसिव प्रिंटेर्स, नयी दिल्ली.
2. पीपुल्स यूनियन फ़ॉर डेमोक्रेटिक राइट्स (पीयूडीआर) (1993), *लॉलेस रोड्स, अ रिपोर्ट टु टाटा : 1985-1993*, नयी दिल्ली.
3. पीपुल्स यूनियन फ़ॉर डेमोक्रेटिक राइट्स (पीयूडीआर) (2003), *ट्रायल ऑफ़ एर्स, अ क्रिटीक ऑफ़ पोटा कोर्ट जजमेंट ऑन द 13 दिसम्बर केस*, नयी दिल्ली.

— अनुष्का सिंह

भारत में उपनिवेशवाद

(Colonialism in India)

भारत को उपनिवेशीकरण के बंधनों में जकड़ने की प्रक्रिया मुख्यतः तीन चरणों में चली। पहला चरण वह था जब पंद्रहवीं, सोलहवीं और सत्रहवीं सदी में पुर्तगालियों, डचों, फ्रांसीसियों और अंग्रेजों ने भारतीय उपमहाद्वीप में तिजारत के लिए अपनी चौकियाँ क्रायम कीं। दूसरा चरण ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रभुत्व का था। कम्पनी ने कभी संधि और कभी युद्ध की रणनीति के चतुर इस्तेमाल से एक-एक करके कमजोर होते हुए मुगल साम्राज्य को, पश्चिम में पेशवाओं और मराठाओं को, दक्षिण में मैसूर के सुल्तान को, हैदराबाद में निज़ाम को और उत्तर में सिक्खों को क्राबू में किया। तीसरा चरण कम्पनी के शासन के खिलाफ़ 1857 में हुए विद्रोह का था जिसके दमन के बाद ब्रिटेन ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी से भारत का शासन हस्तगत कर लिया और प्रतीकात्मक रूप से ब्रिटिश महारानी भारत की साम्राज्ञी हो गयीं।

भारतीय समाज के प्रति अंग्रेजों के रवैये को 1857 से पहले और बाद की अवधियों में बाँटा जा सकता है। 1835 के मशहूर मैकाले मिनट्स के बाद अंग्रेजों ने भारतीय कॉलेजों और स्कूलों में शिक्षा के माध्यम के रूप में अंग्रेजी भाषा को अपनाने का ऐतिहासिक निर्णय लिया। अंग्रेजी की क्लासिक रचनाएँ, कानूनी और वैज्ञानिक पुस्तकें पहले से ही पश्चिम प्रभावित पढ़े-लिखे भद्र वर्ग में लोकप्रिय थीं। अंग्रेजी में शिक्षा शुरू होते ही इस प्रक्रिया का दायरा बढ़ गया। दिलचस्प बात यह है कि कम्पनी अंग्रेजी को थोपने का इरादा नहीं रखती थी। उसकी रुचि तो देशी भाषाओं में ही शिक्षा देने की थी। अंग्रेजी में पढ़ाई की शुरुआत तो राजा राममोहन राय जैसे सुधारवादी भारतीयों के आग्रह के कारण हुई। इसके बाद

अंग्रेजी पढ़े-लिखे और उदारतावादी विचारों में पगे भारतवासियों का एक वर्ग बनता चला गया। ये लोग पश्चिम के प्रशंसक थे और विदेशी आकाओं की सेवा करने के लिए 'क्लर्क' बनने के लिए तैयार थे। इनमें कुछ ने वकालत का, कुछ ने अध्यापन का, कुछ ने वाणिज्य और उद्योग का पेशा अपनाया। कुछ विदेश जाने और वहाँ शिक्षा प्राप्त करने में सफल रहे। इन्हीं में से कुछ ने समाज सुधार का ज़िम्मा उठाया, कुछ ने पत्रकारिता की, कुछ ने डॉक्टरी की और कुछ एकाउंटेंसी में चले गये। कुछ ने राजनीति में जाना पसंद किया।

यह भारत का नया मध्यवर्ग था जिसने हुकूमत करने में अंग्रेजों का हाथ बाँटाया। लेकिन इसी के माध्यम से व्यक्तिवाद और संविधान आधारित शासन के विचार एक परम्परानिष्ठ और अ-राजनीतिक समाज के गले उतारे जा सके। समाज सुधार की आकांक्षा भी इसी वर्ग में सबसे पहले पैदा हुई। 1828 से 1835 के बीच गवर्नर-जनरल विलियम बैंटिक ने राममोहन राय के आग्रह पर सती, ठगी और बालिका शिशुओं की काली देवी के सामने बलि देने की प्रथा पर पाबंदी लगायी। स्त्रियों के खिलाफ़ होने वाले घोर अन्यायों को रोकने के लिए कई क़दम उठाये गये। इसी प्रक्रिया में यह वर्ग आज्ञादी, लोकतंत्र और समाजवाद के विचारों से भी वाक़िफ़ हुआ जिसके कारण उन्हीं के भीतर से अंग्रेजी प्रभुत्व को चुनौती देने वाले लोग निकले जिन्होंने आगे चल कर राष्ट्रवाद का झण्डा बुलंद किया।

1857 के विद्रोह के बाद यह स्थिति बदल गयी। अंग्रेज हुकूमरानों का रवैया समाज-सुधारों को समर्थन देने वाला नहीं रह गया। बगावत कुचलने में उन्हें सफलता ज़रूर मिली और उनकी नीतियों के कारण पुराना भारत राजनीतिक और आर्थिक रूप से एक हद तक बदला भी, पर विद्रोह के कड़वे अनुभव के प्रभाव में अंग्रेज भारतीय समाज के प्रति निःशंक नहीं हो सके। उनका रवैया या तो अनुदार या फिर ज़्यादा से ज़्यादा शंकित उदारता का हो गया। उन्होंने फूँक-फूँक कर क़दम रखे और भारतीय समाज की संरचना में किसी बुनियादी फेरबदल की परियोजना का नेतृत्व नहीं किया। विक्टोरिया की सरकार ने प्रशासन सीधे अपने हाथ में लेकर *पैक्स ब्रिटानिका* के सिद्धांत को लागू किया जिसका एक मतलब स्थानीय प्रथाओं को अस्थिर न करने के आग्रह से जुड़ा था। परिणामस्वरूप ब्रिटिश शासन तटस्थ हो गया और समाज सुधार सरकार प्रयासों से होने के बजाय भारतीय बुद्धिजीवियों और नेताओं की कोशिशों तक सीमित रह गये।

ज़ाहिर था कि अंग्रेज हुकूमत में भारतीय समाज की पुनर्रचना करने की क्षमता का अभाव था। वक्त गुज़रने के साथ-साथ समाज में औपनिवेशिक हस्तक्षेप घटता चला

गया। जिस समय नयी परिस्थितियों के कारण लोगों की सामाजिक स्थिति में भारी असंतुलन पैदा हो रहा था, देश को आधुनिक अधिकारी-तंत्र और सक्षम प्रशासन का ढाँचा प्रदान करने वाली ब्रिटिश सरकार कुल मिला कर सामाजिक और आर्थिक मुद्दों पर अनुदार ताकतों की नुमाइंदगी कर रही थी। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध और बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में भारत की आबादी तेज़ी से बढ़ी, लेकिन खेतिहर पैदावार में उसके मुताबिक बढ़ोतरी नहीं हुई। प्रति व्यक्ति आमदनी गिर गयी। जीवन-स्थितियाँ कठोर हो गयीं। इसी ज़माने में शहरीकरण, रेलवे और संचार के अन्य साधनों का विस्तार हो रहा था। नये समाचार माध्यम विकसित हो रहे थे। मध्यवर्ग मज़बूत हो रहा था, ग़ैर-पारम्परिक सभा-संस्थाओं की संख्या बढ़ रही थी। सामाजिक नवीकरण की परिस्थितियाँ बन रही थीं। पर अंग्रेज़ों ने अपने अनुदार रवैये के कारण समाज के पक्ष में इन परिस्थितियों का लाभ नहीं उठाया और आधुनिकीकरण को उनके कारण किसी तरह का उछाल नहीं मिला। अंग्रेज़ों के इस रवैये की आलोचना अछूतों के नेतृत्व के प्रश्न पर गाँधी से होड़ करने वाले डॉ. भीमराव आम्बेडकर ने भी की है। इन परिस्थितियों का लाभ उठाया उस वर्ग ने जो औपनिवेशिक आधुनिकता के संसर्ग में स्वाधीनता और राष्ट्रवाद से परिचित हुआ था। अंग्रेज़ समझते थे कि वे सामाजिक अनुदारता अपना कर भारतवासियों को फुसला लेंगे। लेकिन उनकी ऐसी हर कोशिश के बदले उन्हें उतने ही अधिक राजनीतिक असंतोष का सामना करना पड़ा।

अंग्रेज़ों की सामाजिक अनुदारता के बावजूद औपनिवेशिक प्रभाव की व्यापकता, ताकत और स्थायित्व से इनकार नहीं किया जा सकता। औपनिवेशिक शासन ने पहली बार भारतीय उपमहाद्वीप के एक बड़े हिस्से को एक केंद्रीय राजनीतिक प्राधिकार के तहत लाने में कामयाबी हासिल की। इससे पहले भारतीय इतिहास में कभी कोई एक राजनीतिक केंद्र की जानकार नहीं मिलती। हालाँकि करीब एक तिहाई भारत राजों-रजवाड़ों के नियंत्रण में रहा, पर अंग्रेज़ों की साम्राज्यिक श्रेष्ठता इन देशी रियासतों द्वारा भी मानी जाती रही। अंग्रेज़ों की हुकूमत को भीतरी और बाहरी हमलों का डर नहीं था। यह एक बड़ी उपलब्धि थी।

मुसलमान शासन में फैली रहने वाली अशांति और असुरक्षा की निरंतरता के बजाय क़ानून और व्यवस्था के शासन का स्वाद अंग्रेज़ों के तहत ही भारतवासियों ने चखा। उन्होंने एकीकृत और अपेक्षाकृत समरूप प्रशासन की स्थापना की। उन्होंने मुगलों द्वारा बनाये गये ज़िलों को ही प्रशासन का आधार बनाया। उनकी पदानुक्रमवादी प्रशासनिक मशीनरी शीर्ष यानी केंद्र से शुरू होती हुई प्रांतों से गुज़र कर ज़िलों तक जाती थी। मुगल काल के विपरीत ज़िला प्रशासन के इंचार्ज अफ़सर को निजी फ़ायदे के लिए आबादी को दबाने

या चूसने की इजाज़त नहीं थी। उसे हर हालत में केंद्र के प्रति जवाबदेह रहना पड़ता था।

अंग्रेज़ों ने भारत में ग्रेट ब्रिटेन से भी पहले योग्यता और खुली प्रतियोगिता के आधार पर आधुनिक नौकरशाही का प्रयोग किया। पहले इण्डियन सिविल सर्विस (आईसीएस) के अधिकारी केवल अंग्रेज़ होते थे, पर बाद में यह मौक़ा भारतवासियों को भी मिलने लगा। सिविल सर्विस के सदस्यों को योग्यता, शिक्षा और भद्र पृष्ठभूमि के आधार पर बड़ी सावधानी से चुना जाता था। ये अफ़सर ज़िलों के इंचार्ज होते थे। उनके नेतृत्व में ही राजस्व वसूला जाता था और जनता को इंसाफ़ देने की कोशिश होती थी। ज़िलाधिकारी न्यायिक मजिस्ट्रेट भी होता था।

समय के साथ अंग्रेज़ों ने धीरे-धीरे अदालती व्यवस्था भी खड़ी की जिसका आधार एंग्लो-सेक्सन न्यायिक सिद्धांत और क्रियाविधि थी। इसके बाद उन्होंने एक ऐसा सामाजिक-आर्थिक प्रशासन स्थापित किया जिसका सैद्धांतिक आधार लोकोपकारी क्रिस्म का था। इससे कई तरह की सामाजिक विषमताओं के खिलाफ़ क्रदम उठाने में मदद मिली। परम्परा को झटका लगा और मनुष्य व समाज को देखने की नयी दृष्टि का प्रचलन हुआ।

भारत पर उपनिवेशवाद के प्रभाव को समझने की मार्क्सवादी दृष्टि मानती है कि अंग्रेज़ों ने भारतीय समाज को आधुनिकता के रास्ते पर चलाने के लिए इतिहास के अनिच्छुक एजेंट की तरह काम किया। मार्क्स ने अपनी भारत संबंधी रचनाओं में दिखाया है कि किस तरह उपनिवेशवादियों ने भारत के कपड़ा उद्योग को नष्ट किया और सरकार द्वारा किये जाने वाले निर्माण कार्यों की उपेक्षा की। वे अंग्रेज़ों द्वारा भारतवासियों पर दासता लादने की कठोर आलोचना करते हैं और 1857 के विद्रोह को पहले स्वतंत्रता संग्राम के रूप में चित्रित करने से भी परहेज़ नहीं करते। लेकिन, दूसरी तरफ़ मार्क्स की निगाह में औपनिवेशिक शासन एक दूसरे ढंग से लाभकारी भी था। उसने एक ऐसी आर्थिक प्रणाली की शुरुआत की जिसके तहत उत्पादन की प्रक्रिया में क्रांतिकारी परिवर्तन किया जा सकता था। अंग्रेज़ों ने ऐसे प्रौद्योगिकीय परिवर्तनों की शुरुआत की जिनका असर दूरगामी तौर पर आम लोगों के जीवन पर पड़ सकता था। मार्क्स भारत को एशियाई उत्पादन प्रणाली के तहत रखते हैं और उनकी मान्यता है कि उपनिवेशवाद के कारण यह ग़ैर-पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली टूट गयी। वे भारतीय समाज को एक परिवर्तन विरोधी जड़ समाज के रूप में देखते हैं जो गाय और बंदर की उपासना के फेर में फँसा हुआ था।

मार्क्स के विश्लेषण का यह अंतर्विरोध काफ़ी विवादास्पद रहा है। एशियाई उत्पादन प्रणाली जैसी अपनी

धारणा को उन्होंने फिर कभी पलट कर स्पर्श तक नहीं किया। मार्क्स के इस सीमित विश्लेषण के आधार पर उनके अनुयायियों ने उपनिवेशवाद और भारतीय समाज की अन्योन्यक्रिया को आर्थिक पहलुओं की रोशनी में देखा जिसके कारण उन्हें आर्थिक नियतिवाद के आरोप का सामना करना पड़ा। मार्क्सवादी विश्लेषण की दूसरी आलोचना इसलिए हुई कि उसके आधार में पूर्वी समाजों के बारे में पर्याप्त प्राक्-औपनिवेशिक जानकारी नहीं थी।

देखें : गैर-सरकारी संस्थाएँ, गैर-सरकारी संस्थाएँ : भारत में, गैर-दलीय राजनीति, धीरूभाई शेठ, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य, नागर समाज, नागरिक समाज : भारतीय बहस, पार्थ चटर्जी, मानवाधिकार, भारत में नागर समाज और गैर-दलीय राजनीति-1 से 3 तक, भारत में नागरिकता-विमर्श-1 से 3 तक, भारत में मानवाधिकार, भारत में मानवाधिकार आंदोलन, भारत में सार्विक मताधिकार, भीखू छोटालाल पारिख, रजनी कोठारी, राजनीतिक समाज, सुदीप्त कविराज।

संदर्भ

1. रजनी कोठारी (1969), *पॉलिटिक्स इन इण्डिया*, ओरिएंट लॉगमेन, नयी दिल्ली, 1969, देखें : दूसरा अध्याय 'हिस्टोरिकल एंटेसिडेंट'
2. बी.बी. मिश्रा (1961), *द इण्डियन मिडिल क्लासेज : देयर ग्रोथ इन मॉडर्न टाइम्स*, लंदन.
3. कार्ल मार्क्स (1985), *द फ़र्स्ट इण्डियन वार ऑफ़ इन्डिपेंडेंस, 1857-1859*, फ़रैन लेंग्वेज पब्लिकेशन हाउस, मास्को.

— अभय कुमार दुबे

भारत में किसान संघर्ष-1

1857 से 1947 के बीच

(Peasant Struggles in India-1)

भारत की बनावट कृषि-प्रधान है। लेकिन खेतिहर उत्पादन की पूरी जिम्मेदारी उठाने के बावजूद किसानों की बहुसंख्या मँझोले, गरीब और भूमिहीन की श्रेणी में आती है। सामाजिक तौर से ये किसान समुदाय निचली जातियों (शूद्र और अंत्यज) के सदस्य हैं। परिणामस्वरूप शोषित, वंचित और दमित स्थितियों में जीवन-यापन करना उनकी विवशता रही है। खेतिहर सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के इस अंतर्विरोध ने अनगिनत किसान आंदोलनों और संघर्षों को जन्म दिया है। कृषक-संघर्षों के अध्येताओं और

सिद्धांतकारों के अनुसार औपनिवेशिक शासन के दौरान 1857 के सिपाही विद्रोह में किसानों ने बड़े पैमाने पर भागीदारी की थी। 1855-56 के बीच बिहार, बंगाल और उड़ीसा में संथालों ने हथियार उठाये। फिर 1836 और 1896 में मलाबार के इलाक़े में मोपला किसानों ने बगावत की। 1860 में बिहार और बंगाल के नील किसानों ने विद्रोह किया। 1873 में पबना (सिराजगंज, बंगाल) के किसानों ने और 1875 में पुणे में मराठा किसानों ने संघर्ष किया। उन्नीसवीं सदी के आखिरी दशक में आदिवासी-किसानों के मुंडा और संथाल विद्रोह हुए। इन बड़े-बड़े आंदोलनों के अलावा अध्येताओं ने ऐसे अपेक्षाकृत छोटे 77 किसान आंदोलनों की सूची भी बनायी है जिनके तहत समय-समय पर हजारों किसानों की गोलबंदी हुई।

बीसवीं सदी के पहले तीन दशकों में किसान आंदोलनों की बागडोर आधुनिक राजनीतिक पार्टियों ने सँभालनी शुरू की। कांग्रेस ने अपनी राष्ट्रवादी परियोजना के लिए किसानों का समर्थन जीतने की कोशिश की जिसका नतीजा चम्पारण, खेड़ा और बारदोली जैसी किसान गोलबंदियों में निकला। कम्युनिस्टों ने किसान सभा के जरिये उनके बीच विचारधारात्मक और राजनीतिक आधार बनाने का कार्यक्रम लिया। कम्युनिस्टों के नेतृत्व में 1946 में बंगाल का जुझारू तेभागा आंदोलन हुआ, और 1946 से 1948 के बीच लाल झण्डे के तहत ही तेलंगाना के किसानों ने हथियारबंद संघर्ष किया। 1946 में ही ट्रावणकोर (कोच्चि) में पुन्नपरा-वायलार किसान आंदोलन और पुणे-थाणे का वरली आदिवासी किसान विद्रोह भी हुआ।

समाज-विज्ञान में भारतीय किसान आंदोलनों को समझने के कई मॉडल प्रचलित हैं। पहला मॉडल एरिक वॉल्फ़ का है जो एशिया, अफ्रीका और लातीनी अमेरिका की किसान क्रांतियों के आईने का इस्तेमाल करता है। इसके मुताबिक मुख्यतः तीन ऐसे संकट हैं जो किसानों में विद्रोही चेतना पैदा करते हैं : जनसंख्यामूलक, पारिस्थितिकीय और सत्ता व अधिकार का संकट। इस मॉडल के भारतीय पैरोकारों का दावा है कि उन्नीसवीं और बीसवीं सदी में बाक़ी कृषक-समाजों की भाँति भारत के किसानों को भी बार-बार इन्हीं संकटों का शिकार हो कर मज़बूरन विद्रोह का रास्ता अपनाया पड़ा। किसी संघर्ष या क्रांति के पचास या सौ साल पहले हुई आबादी में बढ़ोतरी के धीरे-धीरे जमा हुए प्रभावों के कारण कृषक-समाज तनाव का शिकार हो जाता है। जनसंख्या बढ़ने से संसाधन कम पड़ जाते हैं। फलस्वरूप ज़मीन पर दबाव बढ़ता है जिसकी खरीद-फ़रोख़्त और बढ़ते हुए लगान से किसानों के जीवन पर विपरीत असर पड़ता है। यह परिस्थिति दूसरे यानी पारिस्थितिकीय संकट को जन्म देती है। फिर इन दोनों के संयोग से तीसरा और सबसे महत्वपूर्ण संकट पैदा

होता है जिसके तहत संसाधनों के नये नियंत्रक (साहूकार-जमींदार-सरकार की तिकड़ी) सत्ता और अधिकार के अनुपात को अपने पक्ष में झुका लेते हैं। एक सीमा तक बर्दाश्त करने के बाद किसान-समुदायों को संघर्ष में उतरना पड़ता है।

दूसरा मॉडल कैथलीन गफ़ का है जो मुख्यतः भारत के किसान संघर्षों का अध्ययन करके ही बनाया गया है।

उन्होंने अंग्रेजों के जमाने में हुए किसान संघर्षों को उनके लक्ष्यों, विचारधारा और संगठन-पद्धति के लिहाज से समझने के लिए मोटे तौर पर पाँच भागों में बाँटा है : अंग्रेजों को भगा कर उनकी जगह पूर्व-शासकों और पिछले भूमि-संबंधों को फिर से स्थापित करने के लिए हुए संघर्ष, किसानों के लुटेरे गिरोहों द्वारा प्रभुत्वशाली तत्त्वों को लूट कर गरीबों की मदद करने के लिए चलाई गयी मुहिमें, शासन के

नये रूप से किसी क्षेत्र या जातीय समूह को मुक्त करने के लिए चलाये गये धार्मिक क्रिस्म के संघर्ष, समुदाय को इन्साफ़ दिलाने के लिए की जाने वाली आंतकवादी कार्रवाइयाँ और अपनी विशिष्ट माँगों को मनवाने के लिए किये गये जन-विद्रोह। गफ़ मानती है कि ये सभी क्रिस्मों परस्परव्यापी हैं और उनके पीछे मुख्यतः दो कारण रहे हैं : किसानों के बीच लगातार बढ़ती गुरबत के खिलाफ़ गहरा विक्षोभ; और किसानों के खिलाफ़ सत्तारूढ़ शक्तियों द्वारा अपनाया गया क्रूर और अत्याचारी रवैया।

तीसरा मॉडल डी.एन. धनगरे ने सूत्रबद्ध किया है जिसमें उन्होंने गफ़ की धारणाओं का सहारा भी लिया है। धनगरे किसान प्रतिरोधों को छह क्रिस्मों में बाँटते हैं जिनमें पहली दो क्रिस्मों का चरित्र 'रूपांतरकारी' है पर 'क्रांतिकारी' नहीं। ये हैं : स्थानीय शासकों की वापिसी के लिए अंग्रेजों के खिलाफ़ चलाई गयी मुहिमें (मुख्यतः उन्नीसवीं सदी की परिघटना) और किसी एक क्षेत्र की मुक्ति के लिए चलाये गये धार्मिक प्रवृत्तियों वाले विद्रोह (जैसे मोपला किसानों का विद्रोह)। अगली तीन क्रिस्मों को धनगरे सुधारवादी ठहराते हैं जिनका मक़सद आंशिक परिवर्तन से ज्यादा नहीं था, भले ही उनमें आंदोलन के शांतिपूर्ण तरीके अपनाये गये हों या हथियारबंद (जैसे

पैदावार के दो-तिहाई हिस्से पर दावेदारी करने वाला तेभागा आंदोलन)। किसान संघर्षों की आखिरी क्रिस्म धनगरे के मुताबिक वह है जिसमें हिंसक साधनों का सहारा लेने से परहेज किया गया (जैसे खेड़ा, बारदोली और चम्पारण के किसान आंदोलन)।

हालाँकि धनगरे का दृष्टिकोण भी मार्क्सवादी है, पर चौथा मॉडल उन मार्क्सवादियों का है जो मानते हैं कि किसान जमींदारों, सूदखोरों और राज्य द्वारा किये जाने वाले आर्थिक दोहन के खिलाफ़ किसान बगावत पर उतरते हैं। इस मॉडल में किसानों पर जाति-प्रथा के प्रभाव को नज़रअंदाज़ किया गया है और आर्थिक पहलू को बहुत ज्यादा प्रमुखता दी गयी है। कम्युनिस्टों के नेतृत्व में किसान सभाओं द्वारा शुरू की गयी खेत मज़दूर यूनियनों की विफलता इस मॉडल की अपर्याप्तता की तरफ़ इशारा करती है।

भारतीय समाज में ज्यादातर खेत मज़दूर दलित और अन्य निचली जातियों से आते हैं। इसलिए द्विज जातियों के भूमिहीन किसान खेत मज़दूर सभा में शामिल होने के लिए तैयार नहीं हुए। वैसे भी मार्क्सवादी मुख्य तौर पर मिडिल पीजेंट थियरी के अनुयायी रहे हैं जिसकी स्थापना लेनिन ने की थी। लेनिन के विचार में हमज़ा अलवी ने अच्छी-खासी तरमीम की और मँझोले किसान को क्रांतिकारी सम्भावनाओं और एजेंसी से लैस करार दिया। अलवी के हस्तक्षेप के बाद व्यावहारिक रूप से भारत के मार्क्सवादी मानने लगे कि जिसके पास ज़मीन नहीं वह किसान नहीं। इसीलिए किसान सभा में खेतिहर मज़दूरों को शामिल नहीं किया गया, और उन्हें संगठित करने के लिए बहुत बाद में खेत मज़दूर सभा का टूटा-फूटा प्रयोग हुआ।

किसान संघर्षों का पाँचवाँ और बहुचर्चित मॉडल रणजीत गुहा ने पेश किया जिस पर अकादमीय हलकों में ज़बरदस्त बहस हुई। इसे सबाल्टर्न मॉडल के नाम से जाना जाता है। गुहा ने तीन तरह के विमर्श चिह्नित किये जिनके कारण किसान संघर्षों की सही बनावट और उनका सार रेखांकित नहीं हो पाया। सबसे पहले तो औपनिवेशिक प्रभुओं ने 'प्राथमिक' विमर्श के ज़रिये किसान विद्रोहों को ऐसी अवांछनीय बगावतों के रूप में चित्रित किया जिन्हें फ़ौरन



सिदो मुर्मू और कान्हू मुर्मू : संथाल विद्रोह (1857-1858)



बीरसा मुंडा (1875-1900)

कुचल दिया जाना चाहिए था। इसके बाद 'द्वितीयक' विमर्श के रूप में भारतीय अभिजन ने अपनी विचारधारा की पुष्टि के लिए किसान विद्रोहों की अपने हिसाब से व्याख्या की। इस अभिजन ने किसान आंदोलनों का नेतृत्व करने का दावा भी किया। 'तृतीयक' विमर्श रैडिकल विचारधाराओं के पैरोकारों ने पेश किया और किसानों के इतिहास का विनियोग करने की प्रक्रिया अपने विचारधारात्मक मकसदों से चलाई। इन तीनों विमर्शों की आलोचना करने के बाद गुहा ने कहा कि भारतीय या विदेशी अभिजन या रैडिकल तत्त्वों के बजाय किसानों के अपने दृष्टिकोण को सामने लाने की कोशिश करनी चाहिए। अभिजनों या रैडिकल विचारधाराओं के बजाय साधारण किसानों का इतिहास लिखा जाना चाहिए। इस तरह रणजीत गुहा ने 'जनता के इतिहास' या 'आधार से उभरने वाले इतिहास' की वकालत की।

अपनी विख्यात रचना *एलीमेंटरी आस्पेक्ट्स ऑफ पीजेंट इंसरजेंसी इन कोलोनियल इण्डिया* में मुख्य तौर पर पूर्वी भारत में हुए उन्नीसवीं सदी के आखिरी दौर में हुए संथाल और मुंडा विद्रोहों की चर्चा की। उन्होंने इस इतिहास-लेखन को 'प्रोज़ ऑफ़ काउंटर-इंसरजेंसी' की संज्ञा दी। ये आदिवासी समुदाय अपेक्षाकृत समरूप क्रिस्म के थे, इसलिए गुहा का मॉडल उन पर तो फिट हो गया, लेकिन ग़ैर-आदिवासी किसान समुदाय इतने समरूप न हो कर जाति, वर्ग और जेंडर के आधार पर ख़ासे विभेदीकृत थे। आदिवासियों को छोड़ कर अधिकतर किसान समुदाय धनी, मँझोले और ग़रीब किसानों में बँट हुए थे। न केवल उनके बीच विभेद थे, बल्कि निचले वर्ग अपनी सबाल्टर्न हैसियत छोड़ कर क्षत्रिय बनने के ज़रिये ऊपर उठने की महत्वाकांक्षाओं से लैस भी थे। इस आलोचना के जवाब में गुहा ने एक दावा यह भी किया कि एक ख़ास स्थिति में (जैसे, टैक्सों का भारी बोझ) हर तरह के किसानों का हित एक जैसा हो जाता है और वे मिल-जुल कर बगावत का झण्डा उठा लेते हैं। बहरहाल, गुहा ने इतिहास-लेखन के दृष्टिकोण से जिस सबाल्टर्न किसान को कल्पित किया था, वह किसान आंदोलनों की मार्क्सवादी समझ के लिए चुनौती साबित हुआ।

जाहिर है कि समाज-विज्ञान में प्रचलित ये मॉडल किसान विद्रोहों की कोई ऐसी सर्वमान्य थियरी पेश नहीं कर पाये हैं जिसके दायरे में रख कर आज़ादी से पहले के भारतीय किसान आंदोलनों की समग्र समझ बनायी जा सके। लेकिन, इन मॉडलों से किसानों द्वारा विद्रोह करने के कारणों, उनके द्वारा अपनायी गयी संगठन पद्धतियों और किसानों की राजनीतिक चेतना के उलझे हुए प्रश्नों पर रोशनी पड़ती है।

देखें : आंध्र प्रदेश, चीन की कम्युनिस्ट क्रांति, चारु मजूमदार, पश्चिम बंग, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), माओ त्से-तुंग, रणजीत गुहा, सन् 1857 का संग्राम-1 से 4 तक, सहजानंद सरस्वती।

संदर्भ

1. डी.एन. धनगरे (1986), *पीजेंट मूवमेंट्स इन इण्डिया : 1920-1950*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
2. एरिक आर, वॉल्फ़ (1988), 'ऑन पीजेंट रिबेलियंस', तियोदोर शानिन (सम्पा.), *पीजेंट ऐंड पीजेंट्स सोसाइटीज़*, पेलिकन, नयी दिल्ली.
3. रणजीत गुहा (1988), *एलीमेंटरी आस्पेक्ट्स ऑफ़ पीजेंट इंसरजेंसी इन कोलोनियल इण्डिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

— अभय कुमार दुबे

भारत में किसान संघर्ष-2

तेलंगाना और तेभागा

(Peasant Struggles in India-2)

भारतीय किसान आंदोलनों को समझने के लिए बनाये गये मॉडलों से एक बात स्पष्ट होती है कि समाज-वैज्ञानिक आम तौर पर उन्हें क्रांतिकारी या सत्ता दखल के लिए चलाई गयी मुहिमों की श्रेणी में रखने से परहेज़ करते रहे हैं। लेकिन किसानों का राजनीतिक नेतृत्व करने वालों का कम से कम एक हिस्सा ऐसा ज़रूर रहा है जिसने किसानों की प्रतिरोध-कार्रवाइयों में सत्ता की संरचनाओं में बुनियादी तब्दीली लाने की सम्भावनाएँ देखी हैं।

उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन के दौरान भारत के किसान आंदोलनों का नेतृत्व कांग्रेस और कम्युनिस्टों के बीच बँटा हुआ था। धनी किसानों और ज़मींदारों को कांग्रेस के साथ जुड़ने में कोई दिक्कत नहीं थी। इस धारा से बीसवीं सदी के दूसरे दशक में बिहार के चम्पारण एवं गुजरात के खेड़ा और बारदोली में ख़ुशहाल किसानों के नेतृत्व में राजनीतिक गोलबंदियाँ निकलीं। किसान आंदोलन के इस कांग्रेसी प्रसंग की ख़ास बात थी ग़रीब किसानों और भूमिहीनों के राजनीतीकरण की जगह गाँधी उनके पास रचनात्मक कार्यक्रम ले कर गये। दूसरी तरफ़ शोषित बँटाईदारों व ग़रीब-भूमिहीन किसानों को गोलबंद करने की ज़िम्मेदारी कम्युनिस्टों ने सँभाली। परिणामस्वरूप चालीस के दशक में आज़ादी की पूर्व-संध्या पर तेलंगाना और तेभागा नामक दो जुझारू किसान आंदोलन उभरे जिन्होंने आगे चल कर भारतीय राजनीति में प्रतिमानमूलक भूमिका निभायी। इन आंदोलनों ने भूमि-सुधारों की ज़रूरत पर ज़ोर दिया जिसके परिणामस्वरूप ज़मींदारी उन्मूलन किया गया और भूमि



तेलंगाना के हथियारबंद संघर्ष (1946-1951) में स्त्रियों ने उल्लेखनीय भागीदारी की।



तेभागा किसान आंदोलन (1946-1947)

चित्र : सोमनाथ होर

हदबंदी क़ानून बना। तेलंगाना की प्रतिक्रिया में ही विनोबा भावे के नेतृत्व में गाँधीवादियों द्वारा भूदान आंदोलन शुरू किया गया।

दोनों संघर्षों का बिगुल 1946 में बजा। दोनों के भौगोलिक क्षेत्र, परिस्थितियाँ और उनके अनुसार अपनायी गयी रणनीतियाँ बहुत अलग-अलग थीं। तेलंगाना निज़ाम शासित हैदराबाद रियासत का एक निहायत पिछड़ा हुआ इलाक़ा था जिसे जंगलों और पहाड़ों की बहुतायत के कारण एजेंसी एरिया कहा जाता था। तेभागा आंदोलन अविभाजित बंगाल में हुआ। बंगाल के पश्चिमी हिस्से के कुछ इलाकों के साथ-साथ इसका प्रसार उत्तर बंगाल और पूर्वी बंगाल (आज का बांग्ला देश) के ज़िलों में ज़्यादा था।

तेलंगाना का सशस्त्र किसान विद्रोह : 1946 से 1951 के बीच यह आंदोलन मुख्यतः दो चरणों से गुज़रा। पहले दौर में किसानों ने स्थानीय ज़मींदारों और उनका साथ देने वाली निज़ाम की सरकारी मशीनरी और रज़ाकारों के नाम से गठित फ़ौज़ी संगठन की दमनकारी कार्रवाइयों का प्रतिरोध किया, और दूसरे दौर में नेहरू सरकार द्वारा भेजी गयी फ़ौज़ के खिलाफ़ लड़ाई लड़ी। जागीरदारों और देशमुखों के खिलाफ़ आंदोलन की शुरुआत ज़मीनों से ज़बरन बेदख़ल न करने, सामंती जुल्मो-सितम और वेट्टी प्रथा (बँधुआ मजूरी) ख़त्म करने की माँग से शुरू हो कर यह आंदोलन जल्दी ही निज़ाम की हुकूमत का तख़्ता उलटने की हथियारबंद मुहिम में तब्दील हो गया। 1946 में नलगोंडा ज़िले के पोचमपल्ली गाँव से संघर्ष शुरू हुआ। चूँकि निज़ाम आज़ाद भारत में अपनी रियासत का विलय करने के लिए तैयार नहीं था इसलिए इस संघर्ष के प्रति उपनिवेशवाद विरोधी नेतृत्व ने भी हमदर्दी प्रकट करनी शुरू कर दी और उसे राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम की आभा मिलती चली गयी।

कम्युनिस्ट पार्टी 1939-40 से ही हैदराबाद राज्य के तेलुगुभाषियों के राजनीतिक-सांस्कृतिक अधिकारों की माँग करने वाली आंध्र महासभा की आड़ में सक्रिय थी। 1943 में इस जन-संगठन का नेतृत्व पूरी तरह से कम्युनिस्टों के हाथ में चला गया और अगले साल से उन्होंने जागीरदारों और उनके शोषण के खिलाफ़ किसानों की जुझारू मुहिमों की शुरुआत कर दी। 1946 में पार्टी की हैदराबाद इकाई ने मद्रास प्रेसीडेंसी के तेलुगुभाषी हिस्सों को जोड़ कर विशाल आंध्र आंदोलन का झण्डा बुलंद करते हुए अपने नेतृत्व में चल रहे किसान संघर्ष को भाषाई राष्ट्रीयता की इस राजनीति से जोड़ दिया जहाँ आंध्र महासभा निज़ाम विरोधी शक्तियों का मिला-जुला जन-संगठन बन चुकी थी।

जून, 1947 में अंग्रेज़ों ने कांग्रेस को सत्ता दे कर भारत छोड़ने का फ़ैसला किया। सितम्बर में कोमिनफ़ॉर्म के उद्घाटन सम्मेलन में स्तालिन के दामाद झदानोव ने विश्लेषण किया कि दुनिया समाजवादी और साम्राज्यवादी शिविरों में बँटी हुई है और कम्युनिस्टों को दुनिया भर में विस्तार और आक्रमण की साम्राज्यवादी डिज़ाइन के खिलाफ़ लड़ना चाहिए। भारतीय कम्युनिस्टों ने इसका मतलब यह निकाला कि ग़ैर-समाजवादी देशों में स्थानीय पूँजीवाद अपना राष्ट्रीय चरित्र खो कर साम्राज्यवाद के साथ चला गया है। इसलिए उन्होंने भारत की आज़ादी को फ़र्ज़ी करार दिया। इससे भी आगे बढ़ कर भाकपा इस नतीजे पर पहुँची कि अर्ध-सामंती और अर्ध-पूँजीवादी होने के बजाय भारत में पूँजीवाद का पर्याप्त विकास हो चुका है इसलिए लोकतांत्रिक (कम्युनिस्ट शब्दावली में जनवादी) और समाजवादी क्रांति अलग-अलग सम्पन्न करने के बजाय एक साथ जन-विद्रोह की रणनीति अपनानी चाहिए। 1948 में हुई पार्टी कांग्रेस ने यही कार्यदिशा अख़्तियार की जिसे रणदिवे लाइन के नाम से जाना गया। चूँकि तेलंगाना का संघर्ष चल

रहा था और राष्ट्रीय स्तर पर उसकी प्रतिष्ठा थी, इसलिए पार्टी ने देश के सभी हिस्सों में इसी तरह के संघर्ष चालू करने का आह्वान किया और मजदूर वर्ग से अपील की कि वे तेलंगाना के समर्थन में कमर कस लें ताकि हथियारबंद जन-विद्रोह के हालात बन जाएँ। कुल मिला कर क्रांति का यह रास्ता रूस में हुई क्रांति के तर्ज पर था।

फरवरी-मार्च में कांग्रेस हुई, और मई में तेलंगाना का नेतृत्व कर रहे आंध्र के कम्युनिस्टों ने इस लाइन का विरोध कर दिया। वे आंध्रा थीसिस ले कर सामने आये जिसके आधार में माओ द्वारा विकसित नव-जनवाद का सिद्धांत (सर्वहारा की तानाशाही के बजाय जनवादी क्रांति में दिलचस्पी रखने वाले वर्गों की मिली-जुली तानाशाही) था। इसमें दावा किया गया था कि भारतीय क्रांति का रास्ता रूस के मुताबिक नहीं बल्कि चीन के मुताबिक होगा। यानी हर जगह एक साथ किये गये हथियारबंद जन-विद्रोह के बजाय किसानों की छापामार लड़ाई के जरिये एक दीर्घकालीन लोक-युद्ध चलाया जाएगा जिसके अंत में एक जनवादी मोर्चा केंद्रीय सत्ता पर कब्जा कर लेगा। चूँकि आंध्र, केरल और बंगाल में अनुकूल हालात हैं इसलिए वहाँ इस तरह का लोक-युद्ध किया जाना चाहिए। आंध्रा थीसिस ने इस जनवादी क्रांति के लिए एक ऐसे मोर्चे की तजवीज की जिसमें गरीब-भूमिहीन किसानों के साथ धनी किसान और छोटे पूँजीपतियों का समर्थन जुटाया जाना था।

जिस समय पार्टी में रणदिवे लाइन और आंध्रा थीसिस के बीच यह बहस चल रही थी, नेहरू सरकार ने निजाम की रियासत को भारत में मिलाने के लिए फ़ौज का इस्तेमाल करने का फ़ैसला किया जिसे नाम 'पुलिस कार्रवाई' का दिया गया। भारतीय सेना के दबाव से निजाम के रज़ाकार अपने हथियार छोड़ कर बुरी तरह भागे। यह गोला-बारूद पार्टी नेतृत्व में सक्रिय किसान योद्धाओं के दलों को मिला जिससे शुरू में उनकी स्थिति मजबूत हुई। लेकिन जल्दी ही फ़ौज ने किसान क्रांतिकारियों पर हमला शुरू कर दिया। तब जा कर पार्टी को पुलिस कार्रवाई का असली चरित्र समझ में आया। इस दमन के खिलाफ़ जूझते हुए चार हजार किसान और कम्युनिस्ट कार्यकर्ता मारे गये, दस हजार से ज्यादा 3-4 साल तक फ़ौजी कैम्पों और जेलों में बंद रहे। लाठी चार्ज, फ़ायरिंग, अमानुषिक पिटायी, हत्या और बलात्कार को दौर चला। इधर किसान-योद्धा छापामार युद्ध के जरिये किसी न किसी प्रकार फ़ौज के सामने टिके हुए थे, उधर ब्रिटिश कम्युनिस्ट पार्टी के दबाव और सोवियत हस्तक्षेप के कारण भाकपा 1951 तक तेलंगाना के संघर्ष को वापिस लेने की स्थिति में आ चुकी थी। पार्टी ने हिंसा का रास्ता छोड़ने का एलान किया, छापामारों से हथियार डलवाये गये और 1952

के चुनाव में भागीदारी की। यह तेलंगाना की प्रतिष्ठा का ही कमाल था कि इस क्षेत्र से पार्टी के उम्मीदवार रविनारायण रेड्डी देश में सबसे ज्यादा वोट प्राप्त करने वाले सांसद बने।

सशस्त्र संघर्ष की लाइन पराजित जरूर हो गयी, पर कृषक-क्रांति के परिप्रेक्ष्य ने साठ के दशक में जब दोबारा दस्तक दी, तो उसके पीछे आंध्रा थीसिस की पैरोकारी करने वाले नेताओं और कार्यकर्ताओं की प्रभावशाली क्रतार थी।

अविभाजित बंगाल के बैटाईदार किसानों (बंगाल के संदर्भ में छोटे भू-स्वामी और बरगादार) के जुझारू आंदोलन की प्रमुख माँग पैदावार के तीन भाग अपने पास रखने और ज़मींदार (बंगाल के संदर्भ में जोतदार) को केवल एक-तिहाई हिस्सा देने की थी। इसकी पृष्ठभूमि में 1943 का अकाल (जिसने पंद्रह लाख लोगों की जान ली), अनाज की कमी-महँगाई, आबादी में हुई जबरदस्त बढ़ोतरी और गरीब किसानों पर बढ़ता हुआ कर्ज़ था। अकाल के समय कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में किसान सभा ने राहत कार्य की जबरदस्त मुहिम चलाई जिससे किसानों में उसकी लोकप्रियता बढ़ती चली गयी। 1945 तक उसके पास हजारों से ज्यादा पूर्णकालिक कार्यकर्ता, और एक हजार गाँवों में 77,000 के आसपास सदस्य थे। सितम्बर, 1946 में पार्टी ने तेभागा आंदोलन छेड़ने का फ़ैसला किया।

उत्तर-पश्चिम दीनाजपुर के अटवारी गाँव से संघर्ष की शुरुआत हुई जहाँ बरगादारों ने धान की फसल काटी और उसे जोतदार को देने के बजाय खुद अपने पास रख लिया। पुलिस आयी तो बरगादार उससे भिड़ गये। गिरफ्तारी के अंदेश से किसान सभा और पार्टी के नेता भूमिगत हो गये। शुरू में केवल दीनाजपुर के ठाकुरगाँव परगना तक सीमित यह संघर्ष पंद्रह दिनों के भीतर-भीतर ज़िले के दो-तिहाई गाँवों में फैल गया। दिसम्बर तक इसका प्रसार 11 ज़िलों में हो गया और एक हजार से ज्यादा कार्यकर्ताओं और किसानों से जेलें भर गयीं। आंदोलन का पहला दौर गरीब किसानों की पहलकदमी और स्वतःस्फूर्तता से उपजी हिंसक कार्रवाइयों से भरा हुआ था। दीनाजपुर, रंगपुर और जलपाईगुड़ी में किसान नेता के तौर पर युवक चारु मजूमदार ने भी इस विद्रोह में जम कर हिस्सा लिया। भूमिगत राजनीति करने, पुलिस और जोतदारों के खिलाफ़ हथियारबंद कार्रवाइयों करने, पुलिस से राइफलें छीनने और दमन के खिलाफ़ छापामार शैली में किसानों को संगठित करने की प्राथमिक शिक्षा उन्हें इसी आंदोलन से मिली। आंदोलन से मजबूर हो कर बंगाल की सरकार बरगादार बिल लायी। इसमें दो तिहाई-एक तिहाई की माँग तो मान ली गयी, पर जोतदार को अधिकार भी दे दिया गया कि निजी इस्तेमाल के नाम पर वह बरगादार को बेदखल भी कर सकता है। ऊपर से इस बिल के कभी क़ानून

बनने की नौबत भी नहीं आयी। फरवरी, 1947 में दीनाजपुर के ही खानपुर गाँव में पुलिस और किसानों के बीच जम कर टक्कर हुई। किसानों ने खाइयाँ खोद कर घातक हथियारों का भी इस्तेमाल किया। कुल मिला कर इस आंदोलन में साठ लाख किसानों ने भागीदारी की और पचास से ज्यादा पुलिस की गोलियों से मारे गये। चारु मजूमदार जैसे स्थानीय नेताओं का तर्क था कि किसान जनता और भी ज्यादा लम्बे संघर्ष में कूदने के लिए तैयार है, पर उनकी बात नहीं मानी गयी। बंगाल भाकपा ने आंदोलन वापिस लेते हुए तर्क दिया कि किसानों की माँगें मान ली गयी हैं।

तेलंगाना और तेभागा के बीच समानता यह थी कि उनके गर्भ से उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन के दौरान विकसित हुए किसान राजनीति के गाँधीवादी तौर-तरीकों से हटते हुए सशस्त्र कृषक-क्रांति का परिप्रेक्ष्य निकला। दिलचस्प बात यह है कि जिस कम्युनिस्ट पार्टी ने तेलंगाना और तेभागा का नेतृत्व किया, उसी को बीस साल बाद इन आंदोलनों की विरासत के दूरगामी प्रभाव के कारण विभाजन से गुजरना पड़ा। इस विरासत को कृषक-क्रांति की लाइन के रूप में जाना जाता है। इसका मतलब था स्थानीय ताकतों और सरकारी शक्तियों के खिलाफ एक भूमिगत पार्टी के विचारधारात्मक नेतृत्व में किसानों का छापामार युद्ध, लाल सेना का गठन और इलाकावार सत्ता दखल। 1967 के बाद अखिल भारतीय स्तर पर उभरे नक्सलवादी आंदोलन के पीछे यही रणनीतिक तर्क काम कर रहे थे जिससे भारतीय राज्य की वैधता को आजादी के बाद की सबसे बड़ी चुनौती का सामना करना पड़ा।

देखें : आंध्र प्रदेश, चीन की कम्युनिस्ट क्रांति, चारु मजूमदार, पश्चिम बंग, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), माओ त्से-तुंग, रणजीत गुहा, सन् 1857 का संग्राम-1 से 4 तक, सहजानंद सरस्वती।

संदर्भ

1. डी.एन. धनगरे (1986), 'द तेभागा मूवमेंट इन बंगाल, 1946-47' और 'सोशल ऑरिजंस ऑफ़ द पीजेंट इसरेक्शन इन तेलंगाना, 1946-51', *पीजेंट मूवमेंट्स इन इण्डिया : 1920-1950*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली, 1986,
2. पी. सुंदरैया (1972), *तेलंगानाज़ पीपुल्स स्ट्रगल ऐंड इट्स लैसंस*, सीपीआई (एम), कलकत्ता, 1972

— अभय कुमार दुबे

भारत में किसान संघर्ष-3

स्वातंत्र्योत्तर परिप्रेक्ष्य और भूमि-सुधार

(Peasant Struggles in India-3)

तेलंगाना किसान संघर्ष की मिसाल से अंदाज़ा लग सकता है कि 15 अगस्त, 1947 को हुए सत्ता-हस्तांतरण के बाद किसान आंदोलनों की राजनीति पहले की तरह नहीं चलाई जा सकती थी। तेलंगाना का नेतृत्व करने वाली जो कम्युनिस्ट पार्टी निज़ाम के खिलाफ़ बेहिचक लड़ सकती थी, उसी के भीतर नेहरू-सरकार द्वारा भेजी गयी फ़ौज के खिलाफ़ लड़ने के सवाल ने विचारधारात्मक और रणनीतिक हिचक पैदा कर दी। राजनीतिक आजादी के कारण न केवल पूरे भारतीय समाज पर दूरगामी असर पड़ा, बल्कि खेतिहर नज़ारे में भारी तब्दीली हो गयी। देशी रियासतों का भारतीय संघ में विलय हो गया और एक ऐसा भारत उभरा जो राजनीतिक और प्रशासनिक रूप से अधिक सुसंगठित और समरूप संरचना के रूप में सभी नागरिकों को एक जैसे सार्वजनिक क़ानून के तहत शासित करने का आश्वासन देता था। देश के हर वयस्क को वोट का अधिकार मिल गया जिसके कारण राजनीतिक अधिकारों से वंचित रहे किसानों के राजनीतीकरण की सम्भावना खुल गयी। भारतीय राज्य ने देहात में ऐसे वर्गों की रचना करने की योजना बनायी जो बाज़ार और मुनाफ़े के लिए उत्पादन करते हों। कृषि-नीति का मुख्य ज़ोर ज़मींदारों और खुद खेती न करने वाले भू-स्वामियों को हटा कर उनकी जगह धनी किसानों और लाभकर जोतों वाले मँझोले किसानों को स्थापित करने पर हो गया।

सत्तारूढ़ पार्टी कांग्रेस के पास किसानों को सत्याग्रह और गाँधीवादी कार्यक्रम के तहत गोलबंद करने का अनुभव था। वह जानती थी कि छोटे किसानों के बँटाईदार में बदलने, उनके सर्वहाराकरण की प्रक्रिया और उनकी बढ़ती हुई ऋणग्रस्तता से न केवल कृषि-उत्पादन में गिरावट आती है, बल्कि किसान जनता के बीच गहरा असंतोष भी पैदा होता है। उसने 1949 में ही कुमारप्पा के नेतृत्व में एक कृषि सुधार कमेटी गठित की जिसने कृषि ढाँचे के सुधार के लिए दूरगामी सुझाव दिये। एक मैनेजमेंट सर्वे के नतीजों से नयी सरकार को यह भी पता चला कि मँझोली काशतों के ज़रिये ही खेतिहर उत्पादन में बढ़ोतरी होगी और वह अतिरिक्त मूल्य पैदा हो सकेगा जिसके निवेश से औद्योगिक क्रांति को गति मिलेगी। इस परिप्रेक्ष्य ने जोतने वाले के हाथ में ज़मीन का अधिकार देने के नीतिगत आग्रह के साथ भूमि-सुधारों को जन्म दिया। भूमि हदबंदी लागू की गयी और ज़मींदारी उन्मूलन क़ानून बनाया गया। इन सरकारी नीतियों में निहित



तेलंगाना संघर्ष खत्म होने के बाद भूमिगत जीवन से बाहर आते हुए कम्युनिस्ट नेता।

आश्वासनों ने करीब पंद्रह साल तक किसानों के आंदोलनकारी स्वर को खामोश रखा। 1962 के बाद इन सरकारी नीतियों की विफलता के कारण किसानों ने मोर्चे बाँधने शुरू किये।

दरअसल, भूमि-सुधार क़ानून कुछ इस तरह से बनाये गये थे कि उनके रहते ज़मीनों पर अपनी मिल्कियत बचा लेना ग्रामीण समाज पर हावी बड़े भू-स्वामियों के लिए ज़्यादा कठिन साबित नहीं हुआ। अलग-अलग राज्यों में ज़मींदारों ने तरह-तरह के हथकंडे अपना कर भूमि सुधार क़ानूनों को चकमा दिया। खुद कृषि मंत्रालय ने माना कि भूमि हदबंदी असंगतिपूर्ण नीति, अधूरे क़ानून और अकुशल क्रियान्वयन का उदाहरण थी। इनका सबसे ज़्यादा फ़ायदा पट्टेदार बँटाईदारों को मिला जो कमोबेश पहले ही भूमिधर हो चुके थे। साथ में लाखों-लाख छोटे बँटाईदार खुद खेती करने के नाम पर बेदखल कर दिये गये। कृषि का प्रबंध करने भर को सरकार ने खेती करना मान लिया। बँटाईदारी लगातार कम हुई और मज़ूरी पर खेती करवाने की परिघटना बढ़ती चली गयी।

1956 में बिहार में मुज़फ़्फ़रपुर ज़िले के एक गाँव के उदाहरण से पता लग सकता है कि नये क़ानून का क्या असर पड़ा : भूमि सुधार क़ानूनों से पहले यहाँ की छह सौ एकड़ ज़मीन पर एक ही व्यक्ति की मिल्कियत थी। नये क़ानून के तहत 1956 तक करीब सौ एकड़ ज़मीन 61 दखली रैयतों के हाथों में आयी। यानी प्रति परिवार औसत जोत 1.65 एकड़ जो अलाभकारी थी। देहात के अपने मकान से जुड़ी पाँच सौ एकड़ ज़मीन ज़मींदार के पास ही रह गयी और इसके 12 पट्टेदार बेदखल हो कर भूमिहीन हो गये। कुल मिला कर गाँव के 61 भूमिधरों और 12 भूमिहीनों में से कोई भी इस 'पूर्व' ज़मींदार पर आर्थिक निर्भरता से मुक्त नहीं हो सका। दोनों श्रेणियों के परिवार इस पाँच सौ एकड़ पर मज़ूरी करने को मजबूर थे। ज़मींदार ने उनकी मज़ूरी भी घटा दी।

ज़मींदारी उन्मूलन के बाद एक नये तरह के भू-स्वामी ने जन्म लिया। 50 के दशक के आख़िर में सरकार ने सामुदायिक विकास कार्यक्रम चलाया जिसके तहत सहकारी

फ़ार्मिंग, संस्थागत ऋण, मार्केटिंग की सुविधाओं, पंचायतों और खण्ड विकास अधिकारियों की मदद से खुद खेती न करने के बावजूद किसान बने रहना, अतिरिक्त ज़मीन को छिपाये रखना और लगातार आर्थिक ताक़त बढ़ाते रहना इन नये ज़मींदारों के लिए आसान हो गया। अंग्रेज़ों के ज़माने में लगान वसूलने के लिए जो कारिंदे, लटैत और पहलवान रखने पड़ते थे, ज़मींदारों ने उन्हें चुनाव की राजनीति में जातिगत गोलबंदी करने, बूथों पर क़ब्ज़ा करने और देहाती समाज में रंग-रुतबा क़ायम रखने के लिए इस्तेमाल किया। आख़िरकार खेती के अलावा ठेकेदारी करने, बसें चलवाने, ब्याज पर बाँटा गया रुपया वसूलने के लिए भी गुंडों की ज़रूरत थी। सरकार ने अपरोक्ष रूप से ज़मींदारों की इस ताक़त को स्वीकारा और उन्हें देहातों पर दबदबा क़ायम करने के लिए छोड़ दिया। किसानों और ज़मींदारों के हर टकराव में सरकारी मशीनरी ने बार-बार बड़े भू-स्वामियों का ही साथ देना पसंद किया।

कुल मिला कर किसानों की राजनीति दो हिस्सों में बँटती चली गयी। धनी किसानों और ज़मींदारों ने राजनीतिक प्रतिनिधियों के जरिये सरकार से और ज़्यादा रियायतें लेने के लिए पेशबंदी शुरू की। हरित क्रांति की प्रौद्योगिकी ने इस तबक़े को और शक्तिशाली किया। बेहतर खाद, बेहतर बीज, कीटनाशकों और बेहतर सिंचाई के जरिये बढ़ी पैदावार से कमाये गये मुनाफ़े को इन नये ज़मींदारों ने उद्योगों और शहरी क्षेत्रों में नहीं लगाया, बल्कि ठेकेदारी, शराब के धंधे और बस-ट्रक चलाने में खर्च किया। दूसरी ओर छोटे-मँझोले किसान और भूमिहीन मज़दूर थे जिनके लिए अपनी इज़्जत और रोज़ी-रोटी के लिए जुझारू आंदोलन अनिवार्य होता जा रहा था। उनका नेतृत्व समाजवादियों के किसान मोर्चे और कम्युनिस्ट पार्टियों की किसान सभाओं ने सँभाला।

साठ का दशक ख़त्म होते-होते गृह मंत्रालय द्वारा तैयार किये गये एक विश्लेषण के एक अनुसार असम में पाँच, आंध्र प्रदेश में पाँच, बिहार में तीन, गुजरात में एक, केरल में तीन, मध्य प्रदेश में एक, महाराष्ट्र में एक, मैसूर में एक, राजस्थान में दो और तमिलनाडु में दो किसान आंदोलन शुरू हो चुके थे। इनका मक़सद बड़े भू-स्वामियों की ज़मीन पर सत्याग्रह के जरिये या ज़बरिया क़ब्ज़ा करना था। गृह मंत्रालय के अनुसार इन तमाम आंदोलनों में सबसे ज़्यादा अहम और संगीन था पश्चिम बंगाल के नक्सलबाड़ी इलाक़े में जोतदारों के ख़िलाफ़ चलाया गया हिंसक आंदोलन जिसके कारण 1969 के अगस्त तक ज़मीन पर ज़बरिया क़ब्ज़े की 346 घटनाएँ प्रकाश में आ चुकी थीं। किसान आंदोलनों के कारण असम में पाँच सौ, राजस्थान में 775 और उत्तर प्रदेश में चार हज़ार किसानों को गिरफ़्तार करना पड़ा था। गृह मंत्रालय के अनुसार आंध्र प्रदेश, ओडीशा और बिहार के आदिवासी इलाक़े अंसतोष के दौर से गुज़र रहे थे। आंध्र के

श्रीकाकुलम इलाके में गिरिजनों ने ज़मींदारों के खिलाफ संगठित मुहिम छेड़ दी थी। यह विश्लेषण इस बात का सबूत था कि आज़ादी के बाद खेतिहर ढाँचे में आया परिवर्तन गरीब-भूमिहीन किसानों और आदिवासियों की हितों की हिफाज़त करने में नाकाम साबित हुआ था। गृह मंत्रालय के विश्लेषण में स्पष्ट निष्कर्ष निकाला गया कि भूमि-सुधारों के ज़रिये ज़मीन जोतने वाला लाभांश नहीं हुआ था।

यही थी वह ज़मीन जिस पर साठ के दशक में नक्सलवादी विद्रोह और श्रीकाकुलम का किसान संघर्ष खड़ा हुआ था। ये दो आंदोलन किसान असंतोष की घटनाओं से इस मायने में अलग थे कि उनके शीर्ष पर ग्रामीण सर्वहारा के नेतृत्व में कृषक-क्रांति का परिप्रेक्ष्य था। इनकी बागडोर उन कम्युनिस्टों के हाथ में थी जो तेलंगाना और तेभागा की राजनीतिक विरासत के पैरोकार थे और जिन्होंने क्रांति के सोवियत रास्ते को नहीं बल्कि चीनी रास्ते को अपनाया मंजूर किया था।

देखें : आंध्र प्रदेश, चीन की कम्युनिस्ट क्रांति, चारु मजूमदार, पश्चिम बंग, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), माओ त्से-तुंग, रणजीत गुहा, सन् 1857 का संग्राम-1 से 4 तक, सहजानंद सरस्वती।

संदर्भ

1. ए.आर. देसाई (सम्पा.) (1986), *एग्रेरियन स्ट्रगल्स इन इण्डिया आफ्टर इंडिपेंडेंस*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
2. गृह मंत्रालय (रिसर्च ऐंड पॉलिसी डिवीज़न) (1969), 'द कॉन्जेक्ट ऐंड नेचर ऑफ़ करेंट एग्रेरियन टेंशन'.
3. क्रिश्चियन सिग्रिस्ट (1974), *भारत में किसान संघर्ष*, मैकमिलन, नयी दिल्ली.
4. वी.सी. कोशी (1974), 'लैण्ड रिफ़ॉर्म इन इण्डिया अंडर द लैस', *सोशल साइंटिस्ट*, खण्ड 2, अंक 12.

— अभय कुमार दुबे

भारत में किसान संघर्ष-4

नक्सलवादी आंदोलन

(Peasant Struggles in India-4)

मार्क्सवाद-लेनिनवाद में माओ के विचारों का समावेश करके हथियारबंद कृषि-क्रांति के ज़रिये इलाकावार सत्ता दखल करते हुए भारतीय राज्य को उखाड़ फेंकने के कार्यक्रम का लोकप्रिय नाम नक्सलवाद है। आज़ादी मिलने के बाद

भारतीय राज्य की वैधता और सम्प्रभुता को सबसे बड़ी चुनौती देने वाला यह आंदोलन विचारधारा और सांगठनिक बुनावट के लिहाज़ से बेहद पेचीदा है। इसके विकास को तीन चरणों में बाँट कर समझा जा सकता है।

पहले चरण की शुरुआत 1967 में उत्तर बंगाल की तराई में स्थित नक्सलवादी इलाके के आदिवासी किसानों द्वारा स्थानीय ज़मींदारों और सरकार के खिलाफ़ किये गये सशस्त्र विद्रोह से हुई। यह दौर 1972 तक चला। इस दौरान इसका नेतृत्व मुख्य तौर पर चारु मजूमदार की अगुआई वाली भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी-लेनिनवादी) के हाथों में रहा। इस पार्टी की मान्यता थी कि भारतीय समाज का चरित्र अर्ध-सामंती और अर्ध-औपनिवेशिक है; और भारतीय राज्य किसी जनवादी क्रांति की नुमाइंदगी करने के बजाय नौकरशाह (यानी पब्लिक सेक्टर) और साम्राज्यवादी देशों की दलाली करने वाली पूँजी की नुमाइंदगी करता है। सत्तर के दशक के शुरुआती दौर में ज़बरदस्त सरकारी दमन और मजूमदार की पुलिस हिरासत में मृत्यु के बाद आंदोलन बहुत से छोटे-छोटे हिस्सों में बिखर गया।

साठ के दशक के आखिरी वर्षों में नक्सली आंदोलन के उभार की दो मुख्य वजहें थीं : भूमि-सुधारों की विफलता के साथ-साथ आर्थिक विकास और रोज़गार के मोर्चे पर भारतीय राज्य का बुरी तरह से संकटग्रस्त हो जाना; और कम्युनिस्ट आंदोलन के भीतर संसदीय रास्ते और चीनी तर्ज़ पर किसानों की हथियारबंद क्रांति के बीच अंतर्विरोध। दरअसल, कम्युनिस्टों में तेलंगाना के किसान विद्रोह और तेभागा के किसान आंदोलन के ज़माने से ही क्रांति की दिशा को लेकर यह मतभेद चल रहा था। 1964 में भारत-चीन सीमा विवाद के नाम पर कम्युनिस्ट पार्टी दो हिस्सों में बाँट गयी। नवगठित मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी (माकपा) को ई.एम.एस. नम्बूद्रीपाद और ज्योति बसु ने अपने नेतृत्व में संसदवादी रास्ते पर चलाने की कोशिश की, लेकिन पार्टी में चीनी कम्युनिस्ट पार्टी और माओ के विचारों का समर्थन करने वाले तत्व भी ख़ासी संख्या में थे। आंध्र प्रदेश में तो नागी रेड्डी और चंद्र पुल्ला रेड्डी के नेतृत्व में चीनी रास्ते के समर्थकों का बहुमत था। पश्चिम बंगाल के उत्तरी हिस्से में चारु मजूमदार और कानु सान्याल; और दक्षिण बंगाल में अमूल्य सेन, कन्हाई चटर्जी और सुजीत घोष (दक्षिण देश गुट) इसी वैकल्पिक लाइन के पक्षधर थे।

चीन में हुई सांस्कृतिक क्रांति और लिन प्याओ द्वारा दिये गये लोक-युद्ध के नारे से प्रभावित चारु मजूमदार ने 1965 से 1967 के बीच आठ दस्तावेज़ लिख कर पार्टी की क्रतारों के बीच वितरित किये। इनमें शुरु के पाँच दस्तावेज़ इस उम्मीद में लिखे गये थे कि माकपा को सशस्त्र कृषक-क्रांति का नेतृत्व करने वाली एक गोपनीय पार्टी में बदला जा



युवावस्था के दिनों में चारु मजूमदार (बायें से चौथे) रंगकर्मी उत्पल दत्त के साथ।

सकता है। बाद के तीन दस्तावेजों में वे एक नयी पार्टी के बारे में सोचते हुए नज़र आते हैं।

मार्च, 1967 में माकपा की भागीदारी वाली ग़ैरकांग्रेसी संयुक्त मोर्चा सरकार ने पश्चिम बंगाल में शपथ ली। इसी महीने सिलीगुड़ी परगना के किसान सम्मेलन में मजूमदार, उनके साथी कानु सान्याल और जांगल संधाल ने ज़मींदारों की ज़मीन पर क़ब्ज़ा करने का कार्यक्रम लेते हुए किसानों से सरकारी दमन के खिलाफ़ हथियारबंद लड़ाई के लिए तैयार रहने के लिए कहा। चारु मजूमदार ने अप्रैल में आठवाँ दस्तावेज़ लिख कर माकपा की संक्रमणकालीन सरकारों के सिद्धांत और व्यवहार पर आक्रमण करते हुए सवाल उठाया कि कम्युनिस्टों का काम ग़ैरकांग्रेसी सरकार की हिफ़ाज़त करना है या वर्ग-संघर्ष चलाना? 23 मई को नक्सबाड़ी विद्रोह हुआ। यह ख़बर माकपा के हलकों में आग की तरह फैली। पश्चिम बंगाल ही नहीं, बल्कि आंध्र प्रदेश, केरल, पंजाब, उत्तर प्रदेश, कश्मीर और बिहार में चीन के रास्ते और कृषि-क्रांति में भरोसा रखने वाले माकपा की कॉमरेडों ने इस विद्रोह का पक्ष लिया। इनमें प्रादेशिक स्तर माकपा का नेतृत्व करने वाले तत्त्व भी शामिल थे। 28 जून को रेडियो पेकिंग ने इस आंदोलन को 'भारत में वसंत का वज़्रनाद' करार दिया। इसके बाद माकपा के बर्दवान पूर्णाधिवेशन में जमकर विचारधारात्मक जंग हुई और पार्टी अंतिम रूप से टूट की तरफ़ चली गयी। 13 नवम्बर, 1968 को ख़ुद को कम्युनिस्ट क्रांतिकारी मानने वाले ये तमाम लोग कलकत्ता में मिले और क्रांतिकारियों की अखिल भारतीय समन्वय समिति (एआईसीसीसीआर) बना ली। इसके थोड़े दिनों बाद ही आंध्र प्रदेश के श्रीकाकुलम इलाक़े में आदिवासी किसानों ने सशस्त्र विद्रोह कर दिया।

फ़रवरी, 1969 में दूसरी संयुक्त मोर्चा सरकार बनी जिसने नक्सलबाड़ी के नज़रबंद नेताओं को रिहा कर दिया। माकपा से निकले कई नेतृत्वकारी साथी फ़िलहाल पार्टी-गठन के पक्ष में नहीं थे। इसलिए उन्हें छोड़ कर सहमत लोगों

के साथ मिल कर समन्वय समिति के नये संस्करण एआईसीसीसीआर ने 22 अप्रैल, 1969 यानी लेनिन के जन्म दिन पर एआईसीसीसीआर ने भाकपा (माले) का गठन कर लिया जिसकी औपचारिक घोषणा एक मई को कलकत्ता में हुई खुली रैली के ज़रिये की गयी। पार्टी-गठन की प्रक्रिया कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों की सम्पूर्ण एकता की वाहक नहीं बन पायी। मतभेद न केवल पार्टी बनाने को लेकर थे, बल्कि क्रांति की रणनीतियों और कार्यनीतियों को लेकर भी थे। 1969 में ही नागी रेड्डी के नेतृत्व में आंध्र प्रदेश कोआर्डिनेशन कमेटी ऑफ़ कम्युनिस्ट रेवोल्यूशनरीज़ (एपीसीसीआर) और दक्षिण देश गुट द्वारा माओवादी कम्युनिस्ट केंद्र (एमसीसी) का भी गठन हुआ।

बहरहाल, मार्क्सवाद-लेनिनवाद माओ विचार को अपनाने वाली नयी पार्टी ने ट्रेड यूनियनों में काम करने, जन-संगठन बनाने, चुनाव में भाग लेने जैसी गतिविधियों को क्रांति के रास्ते से भटकाव करार दिया। इस दौर में मिली सफलताओं की बदौलत श्रीकाकुलम समेत पश्चिम बंगाल के डेबरा-गोपीबल्लभपुर में, उत्तर प्रदेश के लखीमपुर खीरी में और बिहार के मुशहरी में हथियारबंद संघर्ष शुरू किया जा सका। तमिलनाडु, केरल, असम और त्रिपुरा में भी पार्टी ने अपने क़दम जमा लिये और हथियारबंद कार्रवाईयाँ होने लगीं। शहरों में, ख़ासकर कलकत्ता में मध्यवर्गीय युवकों और छात्रों ने शिक्षा संस्थानों, व्यापारियों, छोटे अफ़सरों और मामूली पुलिसवालों पर हमले शुरू कर दिये। राष्ट्रीय नेताओं और ऐतिहासिक हस्तियों को साम्राज्यवाद का दलाल करार दे कर उनकी तस्वीरें और मूर्तियाँ तोड़ी गयीं। उनके द्वारा लिखी गयी पुस्तकों को जलाया गया। इस नज़ारे से निकले उत्साह में बह कर चारु मजूमदार ने सत्तर के दशक को क्रांति का दशक और 75 तक क्रांति सम्पूर्ण कर लेने की घोषणा कर दी। श्रीकाकुलम में सोमपेट तालुका के एक गाँव में किसानों द्वारा की गयी ज़मींदार की हत्या से फैला उत्साह उन्हें 'वर्ग-शत्रु की हत्या वर्ग-संघर्ष की सर्वोच्च अवस्था' जैसे सूत्रीकरण की तरफ़ ले गया। इससे सफ़ाये की लाइन निकली और देश में जगह-जगह नक्सली कार्यकर्ताओं द्वारा ज़मींदारों की हत्याएँ होने लगीं। चारु मजूमदार मध्यवर्गीय कार्यकर्ताओं द्वारा बारूदी हथियारों से सफ़ाये की कार्रवाई करने के खिलाफ़ थे। उनका कहना था कि आदर्श सफ़ाया किसानों के हाथ से और उन्हीं के अपने हथियारों के ज़रिये होना चाहिए। तभी उनकी चेतना क्रांतिकारी बनेगी।

सफलता का यह दौर बहुत दिन नहीं चला। भारतीय राज्य ने बढ़ते हुए नक्सली ख़तरे को देखते हुए पुलिस, अर्धसैनिक बलों और फ़ौज के सहारे आंदोलन पर चौतरफ़ा हमला किया। सारे देश में जगह-जगह हज़ारों नक्सली कार्यकर्ता या तो मुठभेड़ों में मार डाले गये, या फिर गिरफ़्तार

कर लिए गये। 1972 में चारु मजूमदार भी कलकत्ता के एक मकान से बीमार हालत में गिरफ्तार हुए। लगातार पूछताछ के कारण उनकी हालत खराब होती चली गयी और इलाज के अभाव में उनकी पुलिस हिरासत में ही मृत्यु हो गयी। 1973 तक सरकारी दमन और आपसी मतभेदों से नक्सलवादी आंदोलन का यह दौर खत्म हो गया। नक्सलवादी आंदोलन ने दूसरे चरण में कई संगठनों की मौजूदगी के साथ प्रवेश किया। आपस में घनघोर मतभेदों के बावजूद धीरे-धीरे नक्सलवाद में दो धाराओं की प्रधानता होती चली गयी। एक के शीर्ष पर भाकपा (माले) का लिबरेशन के नाम से मशहूर गुट था, और दूसरे की अगुआयी पीपुल्स वार नामक संगठन के हाथों में थी। लिबरेशन का अधिकतर प्रभाव-क्षेत्र मैदानी खेती करने वाले मध्य बिहार के गरीब और भूमिहीन किसानों के बीच था। पीपुल्स वार की गतिविधियाँ आंध्र प्रदेश, महाराष्ट्र, ओडीशा और मध्य प्रदेश की सीमावर्ती पहाड़ी-जंगली इलाकों में बसने वाले आदिवासियों के बीच थीं।

मैदानी क्षेत्रों में सक्रिय नक्सली कई वर्ष तक जमींदारों और सरकार के खिलाफ हथियारबंद लड़ाई करते-करते इस नतीजे पर पहुँचे कि वे चीन की तर्ज पर न तो कोई आधार-इलाका बना पा रहे हैं और न ही स्थाई चरित्र वाली लाल-फ़ौज गठित हो रही है। इसलिए लिबरेशन गुट ने काफ़ी आत्म-विश्लेषण के बाद यह निष्कर्ष निकाला कि वे सीधे-सीधे छापामार युद्ध के जरिये भारतीय राज्य को पराजित नहीं कर सकते। नतीजतन इस गुट ने इण्डियन पीपुल्स फ्रंट (आईपीएफ़) नामक मोर्चे की स्थापना की जिसमें कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों के साथ-साथ देश भर में फैली छोटी-छोटी ग़ैरचुनाववाज़ ताक़तों को एकजुट करने की कोशिश की। लगभग एक दशक तक चली फ्रंट की राजनीतिक गतिविधियों से इस पार्टी का उल्लेखनीय सांगठनिक प्रसार हुआ। आईपीएफ़ के माध्यम से ही पार्टी बिहार के स्तर पर चुनाव में उतरी। इसके बाद एक लम्बे राजनीतिक घटनाक्रम के परिणामस्वरूप फ्रंट ग़ैरक़ानूनी भूमिगत गतिविधियाँ छोड़ कर चुनाव और लोकतांत्रिक संघर्षों में भागीदारी करने वाली पार्टी बन गया।

दूसरी तरफ़ पहाड़ों और जंगलों में सक्रिय पीपुल्स वार ने अपने अनुभव का निचोड़ यह निकाला कि भारतीय राज्य के खिलाफ़ लगातार छापामार लड़ाई चलाने की ज़रूरत है और संसदीय या लोकतांत्रिक संघर्षों में भाग लेने की कोई ज़रूरत नहीं है। इस निष्कर्ष के आधार पर पीपुल्स वार ने धीरे-धीरे समान विचार वाले संगठनों के साथ एकता के प्रयास किये। नब्बे के दशक में उसने माओवादी कम्युनिस्ट केंद्र और पार्टी युनिटी जैसे नक्सली संगठनों के साथ मिल कर भाकपा (माओवादी) का गठन कर लिया। नक्सलवादी

आंदोलन से निकला यह हिस्सा इस समय माओवाद के नाम से आदिवासी क्षेत्रों में हथियारबंद क्रांति का प्रयास कर रहा है। माओवाद नक्सली आंदोलन के तीसरे चरण का प्रतिनिधित्व करता है। इस तीसरे दौर का राजनीतिक और सांगठनिक चरित्र मूल नक्सलवादी आंदोलन से बहुत हद तक अलग तरह का है।

देखें : आंध्र प्रदेश, चीन की कम्युनिस्ट क्रांति, चारु मजूमदार, पश्चिम बंग, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), माओ त्से-तुंग, रणजीत गुहा, सन् 1857 का संग्राम-1 से 4 तक, सहजानंद सरस्वती।

संदर्भ

1. अभय कुमार दुबे (1989), *क्रांति का आत्म-संघर्ष : नक्सलवादी आंदोलन के बदलते चेहरे का अध्ययन*, विनय प्रकाशन, नयी दिल्ली.
2. समर सेन (सम्पा.) (1978), *नक्सलवादी ऐंड आफ्टर : अ फ्रंटियर एंथोलॉजी*, दो खण्ड, कथाशिल्प, कलकत्ता.
3. शंकर घोष (1975), *नक्सलाइट मूवमेंट*, फ़र्मा के.एल. मुखोपाध्याय, कलकत्ता.
4. सुमंत बनर्जी (1980), *इन द वेक ऑफ़ नक्सलवादी : अ हिस्ट्री ऑफ़ नक्सलाइट मूवमेंट इन इण्डिया*, सुवर्णरेखा, कलकत्ता.

— अभय कुमार दुबे

भारत में गठजोड़ राजनीति

(Politics of Coalition in India)

भारतीय लोकतंत्र में चुनाव की प्रक्रिया सिम्पल प्लूरलिटी इलेक्टोरल सिस्टम या फ़र्स्ट-पास्ट-दि-पोस्ट के मुताबिक़ चलती है। संविधान सभा ने इस प्रणाली का पक्ष जिन आधारों पर लिया था, उनमें से एक आग्रह यह भी था कि देश को एक पार्टी के बहुमत वाली सरकारों की ज़रूरत है। आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली को इसी आधार पर ख़ारिज कर दिया गया था कि उसके कारण छोटी-छोटी पार्टियों के उम्मीदवार भी संसद में आ जाएँगे और अस्थिर बहुदलीय सरकारें बनने लगेंगी। लेकिन हक़ीक़त में जो हुआ वह कुछ और था। भारतीय राजनीति में 1967 से अब तक पार्टियों के गठजोड़ों के आधार पर केंद्र और राज्यों में कम से कम साठ सरकारें बन चुकी हैं। पश्चिम बंगाल में पूरे तीस साल तक हुकूमत करने वाले वामपंथी गठबंधन को छोड़ कर औसतन इन सरकारों के टिकने की अवधि 26 महीने के आस-पास रही है।

दरअसल, इससे पहले भी भारत में दलीय प्रणाली दो पार्टियों की होड़ का पर्याय नहीं थी। साठ के दशक के आखिरी वर्षों तक यहाँ कांग्रेस-प्रणाली काम कर रही थी। नाम से भ्रम जरूर होता है कि यह एकल-पार्टी प्रणाली होगी, लेकिन असल में यह एक पार्टी के दबदबे के तहत चलने वाली एक स्पर्धात्मक प्रणाली थी जिसमें पार्टियों की भूमिका असमान थी। इसका एक हिस्सा 'आमसहमति की पार्टी' से मिल कर बना था और दूसरा 'दबाव की पार्टियों' से मिल कर। इस बंदोबस्त में एक दबाव का हाशिया काम करता रहता था जिसके दायरे के भीतर आमसहमति वाली पार्टी के असंतुष्ट गुट और धड़े कार्यरत रहते थे। उसके बाहर विपक्षी जमावड़े, पार्टियाँ, सत्तारूढ़ पार्टी के नाराज़ तत्त्व, दूसरे हित-समूह और अहम शख्सियतों की मौजूदगी रहती थी। यह पेचीदा कांग्रेस-सिस्टम 1967 के चुनाव में भंग हो गया, क्योंकि हाशिये के बाहर के वे तत्त्व जो सत्तारूढ़ पार्टी की निंदा-आलोचना करने के बावजूद उसका विकल्प तैयार नहीं कर पाते थे, पहली बार देश के कई हिस्सों में ग़ैर-कांग्रेस सरकारें बनाने में कामयाब हुए। इससे एक पार्टी के बोलबाले की जगह वर्चस्व के लिए होने वाली बहुदलीय प्रतियोगिता ने ले ली। इसके बाद कई बार ऐसा लगा कि राष्ट्रीय मंच पर एक बार फिर कांग्रेस का पहले जैसा दबदबा क्रायम हो जाएगा, लेकिन विभिन्न परिस्थितियों वश भारतीय राजनीति उत्तरोत्तर पार्टी-गठजोड़ों की राजनीति बनती चली गयी।

इस समय राष्ट्रीय राजनीति पर कांग्रेस के नेतृत्व में गठित हुए संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन और भारतीय जनता पार्टी की अगुआई में बने राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन की प्रतियोगिता हावी है। प्रादेशिक स्तर पर भी कई अस्थाई और अपेक्षाकृत स्थाई क्रिस्म के गठजोड़ सत्ता के लिए होड़ कर रहे हैं। केरल, पश्चिम बंगाल और त्रिपुरा में वामपंथी पार्टियाँ लगातार गठजोड़ राजनीति चलाती हैं। बिहार, पंजाब और ओडीशा जैसे प्रांतों में भाजपा ने क्षेत्रीय दलों के साथ गठजोड़ बना रखे हैं जो या तो सत्ता में रहते हैं या विपक्ष में। कुछ राज्यों में दो दलों की स्पर्धा है, पर वहाँ भी उनके इर्द-गिर्द छोटे-छोटे दलों का जमावड़ा बनता-बिगड़ता रहता है। चुनाव में कामयाबी का मतलब असल में गठजोड़ की कामयाबी बन गया है।

मोटे तौर पर भारत में दो क्रिस्म की गठजोड़ सरकारें बनती हैं : बड़े-बड़े मोर्चों के बीच गठजोड़ पर आधारित सरकारें (जैसे नैशनल फ्रंट, यूनाइटेड फ्रंट और लेफ्ट फ्रंट के गठजोड़ से बनी सरकार), एक बड़ी राष्ट्रीय पार्टी के नेतृत्व में छोटी पार्टियों के गठजोड़ की सरकार (जैसे भारतीय जनता पार्टी की अगुआई में बनी राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठजोड़ और कांग्रेस के नेतृत्व में बनी संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन की

सरकारें)। राजनीतिक रुझान के लिहाज़ से देखा जाए तो गठजोड़ों की एक तीसरी क्रिस्म समान विचारधारा वाले दलों के गठबंधन रूप में सामने आती है। भारतीय राज्य पश्चिम बंगाल में वाम मोर्चे के रूप में मार्क्सवादी विचारधारा के दल तीस साल तक लगातार हुकूमत करने में कामयाब रहे हैं। लेकिन जरूरी नहीं कि मार्क्सवादी दल हमेशा विचारधारात्मक क्रिस्म का गठजोड़ ही बनाते हों। केरल में यही दल स्थानीय परिस्थितियों के मुताबिक अपने नेतृत्व में ग़ैर-मार्क्सवादी (यहाँ तक कि मुसलिम लीग जैसी धर्म आधारित) पार्टियों को साथ लेकर सरकारें बनाते रहे हैं।

सवाल यह है कि फ़र्स्ट-पास्ट-दि-पोस्ट सिस्टम की चुनाव प्रणाली से एकल-पार्टी बहुमत निकलने के बजाय बहुदलीय गठजोड़ों की प्रतियोगिता क्यों निकली? इसके पहले और प्रकट कारण की शिनाख्त तो भारतीय समाज के संरचनात्मक चरित्र में ही की जा सकती है। एक बेहद बहुसांस्कृतिक समाज में गठजोड़-रचना के बिना विविध अस्मिताओं के राष्ट्रीय मुख्यधारा में आत्मसातीकरण का परिप्रेक्ष्य विकसित नहीं हो सकता था। कांग्रेस-प्रणाली के दिनों में भी वर्चस्व वाली पार्टी अपने भीतर क्रिस्म-क्रिस्म के सामाजिक हितों को जगह देने वाले अधोषित गठजोड़ की ही तरह काम करती थी। दूसरे, कांग्रेस चालीस फ़ीसदी के आस-पास वोट प्राप्त करके पूरे देश पर शासन कर रही थी। विपक्ष के वोट बिखर जाते थे, क्योंकि उसकी पार्टियाँ अपनी-अपनी विचारधारात्मक विशिष्टताओं से चिपकी रह कर एक-दूसरे के वोट ही नहीं काटती थीं बल्कि उस प्रक्रिया में कांग्रेस के लिए बार-बार मददगार भी साबित होती थीं। इस सिलसिले को डॉ. राममनोहर लोहिया के नेतृत्व में तैयार की गयी ग़ैर-कांग्रेसवाद की रणनीति ने तोड़ा। इसके तहत दक्षिणपंथी जनसंघ और वामपंथी पार्टियाँ गठबंधन बनाने के लिए राजी हो गये। इस तरह कहा जा सकता है कि पार्टियों के गठजोड़ मुख्यतः कांग्रेस के विरोध की पैदाइश थे। केरल को छोड़ कर कांग्रेस अन्य पार्टियों के साथ गठजोड़ करने से कतराती रही ताकि उसे किसी के साथ सत्ता में साझेदारी न करनी पड़े। लेकिन जब उसने देखा कि भारतीय जनता पार्टी ने अपने विचारधारात्मक आग्रहों को स्थगित करके गठबंधन किया और छह साल तक उसे सत्ता से बाहर रखा तो 2004 के चुनाव के बाद उसे भी यही रास्ता अपनाना पड़ा।

इस पूरे पैटर्न को और बारीकी से समझने के लिए कई और पहलुओं पर ग़ौर करना होगा जिनमें साठ के दशक के बाद चले राजनीति के क्षेत्रीयकरण का आयाम उल्लेखनीय है। इस दौरान कांग्रेस इंदिरा गाँधी के नेतृत्व में उत्तरोत्तर केंद्रीकरण की तरफ बढ़ी और उसने भाषा, सांस्कृतिक अस्मिता, राजनीतिक स्वायत्तता और आर्थिक विकास के प्रश्न

पर क्षेत्रीय महत्वाकांक्षाओं की जम कर उपेक्षा ही नहीं की, बल्कि एक समय तो क्षेत्रीय राजनीतिक अभिव्यक्तियों को देश की एकता तोड़ने का कारक तक करार दे दिया। इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप आंध्र प्रदेश में तेलुगु देशम और असम में असमगण परिषद् जैसी नयी क्षेत्रीय ताकतों का उदय हुआ। पहले से मौजूद क्षेत्रीय ताकतों (द्रमुक, अन्नाद्रमुक, अकाली दल वगैरह) ने मिल कर विपक्षी गोष्ठियाँ कीं। कांग्रेस उनके मुश्तरका दुश्मन के रूप में चिह्नित होती चली गयी। इसका लाभ भाजपा को उस समय मिला जब पूर्व समाजवादी और कम्युनिस्ट ताकतों द्वारा गठित और समर्थित राष्ट्रीय मोर्चे और यूनाइटेड फ्रंट अपनी एकता कायम रख पाने में असमर्थ हो गये।

1971 से पहले राज्यों और विधानसभाओं के चुनाव साथ-साथ होने के कारण राजनीतिक एजेंडा और उसके इर्द-गिर्द होने वाली सौदेबाजी इतनी पेचीदा और बड़ी हो जाती थी कि गठजोड़ के लिए जरूरी न्यूनतम साझा कार्यक्रम बनने की सम्भावनाएँ कमजोर हो जाती थीं। इस पैटर्न का दूसरा आयाम यह था कि 1971 के बाद लोकसभा और विधानसभा चुनाव अलग-अलग होने लगे। इसके कारण चुनाव-पूर्व और चुनाव-बाद गठबंधनों की सम्भावनाएँ खुलीं, क्योंकि अपेक्षाकृत छोटे एजेंडों के आस-पास चुनावी गतिविधियाँ होने लगीं।

पिछले तीस वर्षों के दौरान मध्यवर्ती और पिछड़ी जातियों, दलितों और अन्य समुदायों के राजनीतीकरण में बढ़ोतरी होना इस पैटर्न का तीसरा आयाम है। ये तबके सत्ता में अधिक सीधी हिस्सेदारी की कामना करने लगे जो उनके हितों की प्रत्यक्ष नुमाइंदगी करने वाली छोटी-छोटी पार्टियों द्वारा ही सम्भव था। इन पार्टियों के उदय ने राष्ट्रीय दलों का समर्थन आधार सीमित कर दिया। सत्ता में आने के लिए उन्हें भी गठजोड़ की जरूरत पड़ी। छोटी पार्टियों को तो इसकी जरूरत पहले से ही थी।

देखें : अकाली दल, कांग्रेस 'प्रणाली', गैर-कांग्रेसवाद, गठजोड़ राजनीति, जनता दल और उसकी विरासत-1 और 2, तेलुगु देशम पार्टी, पार्टी-गठजोड़ की राजनीति, भारतीय जनता पार्टी-1 और 2, भारत में मतदान-व्यवहार-1, 2, 3, 4, 5 और 6, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस-1 और 2, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठजोड़, वाम मोर्चा, शिव सेना, समाजवादी पार्टी, बहुजन समाज पार्टी-1 और 2, शिरोमणि अकाली दल, समाजवादी पार्टी, संयुक्त प्रगतिशील गठजोड़।

संदर्भ

1. ई. श्रीधरन (2008), 'कोआलिशन पॉलिटिक्स इन इण्डिया : टायप्स, ड्यूरेन, थियरी एंड कम्परीजन', *आईएसएस वर्किंग पेपर*, अंक 50.

2. बलवीर अरोड़ा (2000), 'निगोशिएटिंग डिफरेंस : फेडरल कोआलिशन एंड नैशनल कोहिजन', फ्रांसिस फ्रेंकेल, जोया हसन, राजीव भार्गव और बलवीर अरोड़ा (सम्पा.), *ट्रांसफॉर्मिंग इण्डिया: सोशल एंड पॉलिटिकल डायनामिक्स ऑफ़ डेमोक्रेसी*, ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

— अभय कुमार दुबे

भारत में दर्शनशास्त्र : स्वातंत्र्यपूर्व दशा-दिशा

(Philosophy in Colonial India)

उपनिवेशकालीन भारतीय दर्शनशास्त्र अपनी प्रकृति में अधिकांशतः आदर्शवादी और प्रत्ययवादी रहा है। चूँकि वेदांत उसका मूल-स्रोत था, इसलिए उस काल की दार्शनिक पुनर्रचनाओं को नव-वेदांती कहा जा सकता है। इस काल की दार्शनिक प्रवृत्ति को पाश्चात्य विचारकों की उस आलोचना के प्रत्युत्तर में भी देखा जा सकता है जिसे अलबर्ट स्वीट्ज़र (1875-1965) ने अपनी पुस्तक *इण्डियन थॉट एंड इट्स डिवेलपमेंट* (1936) में यह कहते हुए संदर्भित किया था कि भारतीय दर्शन पलायनवादी है। वस्तुतः स्वीट्ज़र का यह दृष्टिकोण शॉपेनहावर (1788-1860) जैसे विचारकों की औपनिषदिक समझ पर आधारित है। इसका पुरजोर जवाब सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने अपनी कृति *ईस्टर्न रिलीजन एंड वेस्टर्न थॉट* (1939) में दिया है। उनके अनुसार यह धारणा ऐतिहासिक रूप से स्वीकार्य नहीं हो सकती कि हिंदू चिंतन में जीवन और जगत के प्रति नकार और निराशा निहित है, जबकि ईसाई चिंतन के स्वरूप में जीवन और जगत के प्रति स्वीकार्यता और आशावाद निहित है। वास्तव में दोनों के बीच का वास्तविक विरोध धर्म और स्वायत्त-मानववादी दृष्टिकोण को लेकर है।

1916 में आमलनेर, महाराष्ट्र में श्रीमंत प्रताप सेठ के सौजन्य से इण्डियन इंस्टीट्यूट ऑफ़ फ़िलॉसफ़ी की स्थापना हुई। 1917 में इण्डियन फ़िलॉसॉफ़िकल एसोसिएशन का पहला अधिवेशन कोल्हापुर में हुआ तथा *इण्डियन फ़िलॉसॉफ़िकल रिव्यू* नामक पत्रिका का प्रकाशन भी प्रारम्भ किया गया। 1925 में इण्डियन फ़िलॉसॉफ़िकल कांग्रेस की स्थापना हुई। यह दार्शनिकों का एक ऐसा संगठन है जो औपनिवेशिक युग से लेकर अब तक अंग्रेज़ी माध्यम से भारतीय दार्शनिक चिंतन के विकास के लिए

सक्रिय रहा है। ये सभी प्रयास औपनिवेशिक युग में भारतीय दर्शन को संस्थागत स्वरूप प्रदान करने वाले साबित हुए।

स्वातंत्र्यपूर्व भारत के प्रमुख विचारक श्री अरविंद (1872-1950) मौलिक रूप से एक प्रत्ययवादी दार्शनिक थे और उन्होंने वैदिक तत्त्वदृष्टि को विकासवादी प्रारूप में देखते हुए एक ऐसा समग्र अद्वैतवादी दर्शन प्रस्तुत किया जिसमें जड़ और चेतन का अंतहीन द्वैत न हो कर दोनों एक ही वैश्विक प्रक्रिया के समान भागीदार हैं। अनंत के तर्क और मायावाद के बदले लीलावाद पर आधारित उनका दर्शन भौतिकवादियों द्वारा किये जाने वाले संन्यास-निषेध और अध्यात्मवादियों द्वारा किये जाने वाले भौतिकवाद-निषेध जैसी दो अतियों से बचते हुए इस पृथ्वी पर दिव्य जीवन के अवतरण का दर्शन है। अपनी तत्त्वदृष्टि, इतिहास दर्शन, संस्कृति दर्शन और योगसमन्वय द्वारा उन्होंने भारतीय सभ्यता-बोध को दुनिया के समक्ष एक ब्रह्मांडीय प्रयोजनमूलकता के साथ प्रस्तुत किया है। उन्हें अपनी दार्शनिक योजना के यथार्थ पर कितना भरोसा रहा होगा कि उन्होंने भारत की स्वाधीनता को भी एक वैश्वीय भवितव्यता की अंगभूत घटना के रूप में देखा।

श्री अरविंद के अतिरिक्त प्रमुख स्वातंत्र्यपूर्व भारतीय दार्शनिकों में कृष्ण चंद्र भट्टाचार्य (1876-1949) का नाम उल्लेखनीय है। वे आधुनिक भारत के ऐसे तत्त्वमीमांसक थे जिन्होंने अद्वैतवेदांत की पुनर्रचना को कांट और हीगेल की विचार-सरणी के समानांतर दुनिया के समक्ष रखा। 'कंसेप्ट ऑफ़ फ़िलॉसफ़ी', 'सब्जेक्ट एज़ फ़्रीडम' और 'द कंसेप्ट ऑफ़ एब्सोल्यूट ऐंड इट्स आल्टरनेटिव फ़ार्म्स' जैसे निबंधों द्वारा उन्होंने अपनी दार्शनिक पुनर्रचना की प्रस्तुति की। यद्यपि उन्होंने भारतीय दर्शन के लगभग सभी सम्प्रदायों पर लेखन किया है लेकिन जैन दर्शन के अनेकांतवाद (1925) की पुनर्व्याख्या लीक से हट कर विशेष महत्त्व की है। उन्होंने अनेकांतवाद के महत्त्व को पुनः उद्घाटित करते हुए दिखाया कि न तो तादात्म्य और न ही विरोध को तार्किक विचार-सरणी के लिए आधारभूत माना जा सकता है। वस्तुतः तादात्म्य और विरोध दोनों ही परस्पर विनियोजनीय हो सकते हैं और दोनों की ऐसी विनियोजनीयता (आल्टरेशन) ही व्यापक दार्शनिक आधार प्रस्तुत करती है। तादात्म्य और विरोध के बदले 'सहावस्थान' (टूगैदरनेस) तार्किक विचार-सरणी की अपेक्षाकृत अधिक आधारभूत कोटि है जिसे जैन दार्शनिकों ने 'क्रमर्पण और सहर्पण' के दो प्रारूपों में देखा है। कुल मिला कर अनेकांतवाद अनिर्वाच्यता का एक विशिष्ट तर्कशास्त्र है जो सप्तभंगी नय के द्वारा सत्य की वैकल्पिकता का सिद्धांत प्रस्तुत करता है।

भारत के पुनर्जागरण के परिप्रेक्ष्य में भट्टाचार्य का 'स्वराज इन आइडियाज़' नामक व्याख्यान भी महत्त्वपूर्ण है जिसे उन्होंने 1929 में हुगली कॉलेज, कलकत्ता के विद्यार्थियों

के बीच दिया था। बाद में 1954 में इसका प्रकाशन *विश्वभारती जर्नल* में हुआ। उनका यह व्याख्यान अपने आप में वैचारिक स्वराज का दार्शनिक घोषणापत्र जैसा है। 1984 में पुणे से प्रकाशित *इण्डियन फ़िलॉसॉफ़िकल क्वार्टरली* में उनके इस व्याख्यान का पुनर्मुद्रण किया गया। दया कृष्ण, राजेंद्र प्रसाद, रामचंद्र गाँधी, एस.पी. गौतम सरीखे लोगों ने इस व्याख्यान के भाष्य किये। यद्यपि यह व्याख्यान उन्होंने अंग्रेज़ी में दिया था लेकिन वैचारिक स्वराज के मातृभाषीय राजपथ के महत्त्व और पश्चिमी विचारों के असमीक्षित पिष्टपेषण के दुष्परिणामों को उन्होंने बख़ूबी उजागर किया। इसके साथ ही उन्होंने यह भी निर्देशित किया कि भारतीय दर्शन को किस प्रकार एक सार्वभौम ज्ञान-विधा के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। वैचारिक स्वराज के आशय को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा कि सांस्कृतिक पराधीनता साधारणतः अचेतन प्रकार की होती है और उसमें दासता प्रारम्भ से ही निहित है। भट्टाचार्य कहते हैं : 'जब मैं सांस्कृतिक पराधीनता की बात करता हूँ तो मेरा अभिप्राय किसी विदेशी संस्कृति को मात्र अपना लेने से नहीं होता। इस प्रकार का अपना लेना सदैव अवांछनीय ही हो, यह आवश्यक नहीं। किसी भी परिस्थिति में उसका अर्थ स्वाधीनता की हानि नहीं होता और होना भी नहीं चाहिए। सांस्कृतिक पराभव केवल तब होता है जब व्यक्ति के अपने परम्परागत विचारों और भावनाओं को, बिना तुलनात्मक मूल्यांकन के ही, एक विदेशी संस्कृति के विचार और भावनाएँ उखाड़ फेंकते हैं और वह विदेशी संस्कृति व्यक्ति को एक भूत या प्रेत की तरह अपने वश में कर लेती है। इस प्रकार की पराधीनता आत्मा की दासता है। जब व्यक्ति अपने आप को उससे मुक्त कर लेता है तो उसे लगता है जैसे उसकी आँखें खुल गयीं। उसे एक नये जन्म की अनुभूति होती है। इसे ही मैं विचारों का स्वराज कहता हूँ।'

स्वराज की भारतीय अवधारणा के संदर्भ में भारत रत्न से विभूषित भगवानदास (1869-1958) के उस आलेख का जिक्र करना प्रासंगिक है जिसे उन्होंने 1921 के बम्बई कांग्रेस अधिवेशन में एक प्रस्ताव-पत्र के रूप में प्रस्तुत किया था। यद्यपि उन दिनों स्वराज के स्वरूप को लेकर बुद्धिजीवियों के बीच मतभेद थे और इन्हीं सब को दूर करने के लिए उन्होंने इस प्रस्ताव-पत्र को तैयार किया था, लेकिन उनके इस आलेख की चर्चा अकादमिक जगत में न के बराबर होती है। भगवानदास कांग्रेस से जुड़े एक बहुमान्य बुद्धिजीवी और थियोसोफ़िकल सोसाइटी में सक्रिय थे। उनके अनुसार स्वराज मूल रूप में एक नैतिक प्रत्यय है और व्यवस्था के अर्थ में यह स्व-शासन है। जिस प्रकार एक व्यक्ति में दो तरह की आत्मा-एक उच्चतर और दूसरा निम्नतर-का निवास होता है अर्थात् व्यक्ति दैवीय और पाशविक दोनों ही प्रवृत्तियों से

संचालित होता है, उसी प्रकार किसी समाज और राष्ट्र की भी उच्चतर और निम्नतर आत्मा होती है। कोई भी सरकार या शासन तभी सुशासन अथवा स्व-शासन माना जा सकता है जब वह उच्चतर आत्मा द्वारा संचालित हो। उच्चतर आत्मा से अभिप्रेरित राज-काज और नीति ही अधिकाधिक समन्वयकारी हो सकती है। इसका लोकतांत्रिक क्रियान्वयन और व्यवस्थापन केवल विवेकवान-विधायिका द्वारा ही सम्भव है जो प्रत्येक व्यक्ति में रहने वाले में और हम को समन्वित कर सके। प्रतिस्पर्धा और परस्पर सहयोग दोनों ही आवश्यक हैं। भगवानदास की यह अंतर्दृष्टि लोकतंत्रात्मक स्वराज की नैतिक आधारभूमि की ओर संकेत है। *द एसेशियल यूनिटी ऑफ ऑल रिलिजंस* (1939) उनकी सबसे प्रतिष्ठित कृति है।

औपनिवेशिक युग के मान्य अध्येताओं में आर.डी. रानाडे (1886-1957) का व्यक्तित्व अलग प्रकार था। उनकी प्रसिद्धि एक दार्शनिक के साथ-साथ रहस्यविद् के रूप में भी थी। *अ कन्स्ट्रक्टिव सर्वे ऑफ उपनिषदिक फ़िलॉसफ़ी* (1927) उनकी बहुमान्य कृति है। इसमें उन्होंने न केवल औपनिषदिक दर्शन को उसकी सम्पूर्ण गरिमा और अंतर्वस्तु के साथ प्रस्तुत किया है बल्कि लॉर्ड रोनाल्ड्से की उस आलोचना को खारिज भी किया है कि भारतीय दर्शन निराशावादी है। उनके जीवनकाल की अंतिम कृति *भगवद्गीता एज़ ए फ़िलॉसफ़ी ऑफ गॉड रियलाइजेशन* (1959) थी। मरणोपरांत उनकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृति *वेदांत : द कल्मीनेशन ऑफ थॉट* (1970) शीर्षक से प्रकाशित हुई। इस ग्रंथ में ब्रह्मसूत्रकार बादरायण को उन्होंने समन्वयकारी दार्शनिक सिद्ध करते हुए प्रतिपादित किया है कि 'स्वाराज्यम्-वैराज्यम्' की वैदिक दृष्टि प्लेटो के दार्शनिक-राजा के सिद्धांत की अपेक्षा उच्चतर आदर्श प्रस्तुत करती है। 'स्वाराज्यम्-वैराज्यम्' की अवस्था को प्राप्त व्यक्ति ही वास्तव में देवाधिदेव अनन्याधिपति होता है। रानाडे के ही समकालीन अनुकूलचंद्र मुखर्जी (1888-1968) थे जिन्हें इलाहाबाद का प्लेटो कहा जाता है। *द नेचर ऑफ सेल्फ* (1938) एवं *सेल्फ, थॉट ऐंड रियलिटी* (1957) उनकी गम्भीर दार्शनिक कृतियाँ हैं जिनमें उन्होंने अद्वैतवेदांत में परम चैतन्य के स्वरूप को ब्रिटिश-नवहीगेलवादी अभिगम में उद्घाटित किया है।

औपनिवेशिक युग के भारतीय दार्शनिकों में सर्वपल्ली राधाकृष्णन (1888-1975) की प्रतिष्ठा 'पूर्व और पश्चिम के प्रवक्ता' के रूप में थी। उन्होंने मानव जीवन के सभी पक्षों की व्याख्या नव-वेदांतवादी दृष्टि से की है। नव-वेदांत की तत्त्वमीमांसा को उन्होंने परमतत्त्ववादी वैश्विक दार्शनिक चिंतन के परिप्रेक्ष्य में पुनर्व्याख्यायित करते हुए प्रतिपादित किया कि यह दृश्यमान जगत परम सत का ही आभास है लेकिन फिर भी यह भ्रम मात्र नहीं जैसा कि अद्वैत वेदांत के परम्परागत चिंतक

मानते रहे हैं। वस्तुतः शंकर के मायावाद का विरोध और जगत की यथातथ्यता का स्वीकार औपनिवेशिक युग के नव-वेदांती चिंतन की प्रस्थानमूलक विशेषता रही है। राधाकृष्णन का धार्मिक अनुभूति के स्वरूप की व्याख्या और धर्म के औचित्य प्रतिपादन के क्षेत्र में भी उल्लेखनीय योगदान रहा है। पूरब और पश्चिम के मध्य दार्शनिक संवाद की आवश्यकता को औचित्यपूर्ण ठहराते हुए उन्होंने तुलनात्मक दर्शन को सदैव बढ़ावा दिया, इसीलिए उन्होंने हवाई विश्वविद्यालय, अमेरिका में ईस्ट-वेस्ट सेंटर की स्थापना में पहलकारी भूमिका निभायी। *ऐन आइडियलिस्टिक व्यू ऑफ लाइफ* में उन्होंने सफलतापूर्वक प्रतिपादित किया कि बुद्धि सत्य को उसकी सम्पूर्णता में नहीं जान सकती। अंतःप्रज्ञा ही मानवीय चेतना का वह आयाम है जहाँ सत्य का अपनी सम्पूर्णता में साक्षात्कार होता है। यह अंतःप्रज्ञात्मक अनुभूति धर्म, नीति और सर्वसमावेशी अद्वैत सत्ता को प्रमाणित करती है। बुद्धि केवल विश्लेषण में ही विश्रांत हो जाती है लेकिन अंतःप्रज्ञा अपने संश्लेषणात्मक व्यापार में एक समग्र बोध के साथ आदर्श जीवन की सम्भावना प्रस्तुत करती है। राधाकृष्णन ने आदर्श जीवन की अवधारणा हिंदू जीवन-दृष्टि पर लागू कर दिखाई है। अपनी एक दूसरी कृति *द हिंदू व्यू ऑफ लाइफ* में उन्होंने पश्चिम के विपरीत इस भारतीय सत्य को उजागर किया कि भारत की सांस्कृतिक-धार्मिक चेतना बहुदेववादी होते हुए भी अद्वैतवाद की विरोधी नहीं है।

यद्यपि नव्य-वेदांत की तर्कसम्मत विश्लेषणात्मक तत्त्वमीमांसा की शुरुआत औपनिवेशिक युग में कृष्ण चंद्र भट्टाचार्य से ही होती है लेकिन उसी परम्परा में रासबिहारी दास (1897-1976) भी आते हैं जिन्होंने उसे अपने तरीके से आगे बढ़ाया। कांट के परमसत् विषयक विशिष्ट संशयवाद और व्हाइटहेड के चिंतन के प्रभाव में वेदांती तत्त्वमीमांसा की पुनर्रचना को उनके दार्शनिक चिंतन का सर्वाधिक मौलिक पक्ष माना जा सकता है। उनकी अन्यान्य कृतियों में *द इसेशियल ऑफ अद्वैतिज्म* (1931) *द फ़िलॉसफ़ी ऑफ व्हाइटहेड* (1937) एवं *इंट्रोक्शन टू शंकर* (1968) उल्लेखनीय हैं। दास के दार्शनिक योगदान को समझने के लिए उनके प्रकीर्ण लेखनों का संग्रह *रासबिहारी दास : फ़िलॉसॉफ़िकल एसेज़* बहुत ही उपयोगी है।

बीसवीं सदी के दार्शनिकों में जिद्दू कृष्णमूर्ति (1895-1986) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। क्रियात्मक मानव स्वातंत्र्य के भाष्यकार कृष्णमूर्ति अकादमिक फ़िलॉसफ़र न हो कर आत्मचेता बुद्ध-पुरुष थे। उनके व्याख्यानों का 18 भागों में संग्रह अपने आप में एक वांगमय है। लेकिन *कमेंटरीज़ ऑन लिविंग, फ्रीडम फ़ॉम नोन, फ़र्स्ट ऐंड लास्ट लिबरेशन* और *यू आर द वर्ल्ड* में उनके मौलिक विचार व्यवस्थित रूप में प्राप्त होते हैं। के.सी. भट्टाचार्य के शिष्य एवं गाँधी के अनुयायी धीरेन्द्र मोहन दत्त (1898-1974) की रचनाएँ *सिक्स वेज़ ऑफ नोइंग* (1932) *द फ़िलॉसफ़ी*

ऑफ महात्मा गाँधी (1953) और चीफ करेंट्स ऑफ कंटेम्पेरी फिलॉसफी (1950) आज भी पठन-पाठन में सर्वाधिक उपयोग की जाने वाली पुस्तकें हैं। इसी बीते हुए काल से पहले के भारतीय दर्शन का लेखा-जोखा तब तक पूर्ण नहीं माना जा सकता जब तक कि सुरेंद्रनाथ दासगुप्ता (1885-1952) द्वारा पाँच खण्डों में प्रकाशित *अ हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी* (1922) का उल्लेख न किया जाए।

1950 में फिलॉसॉफिकल कांग्रेस ने अपना रजत जयंती अधिवेशन इंस्टीट्यूट ऑफ फिलॉसफी (आमलनेर) के तत्वावधान में आयोजित किया। इस अवसर पर 'हैज़ श्री अरविंद रिप्र्यूटेड मायावाद?' पर हुई महत्वपूर्ण परिचर्चा में उस समय के चार मूर्धन्य अध्येताओं ने भाग लिया। ये थे इंद्रसेन, एन.ए. निकम, हरिदास चौधरी और जी.आर. मलकानी। भारतीय दर्शन के भावी विकास की दृष्टि से इस परिचर्चा को स्वातंत्र्यपूर्व भारतीय दर्शन का निचोड़ और न्यू टेस्टामेंट जैसा कहा जा सकता है।

इंद्रसेन (1903-1994) ने अपनी प्रस्तुति में दिखाया कि श्री अरविंद के लीलावाद में प्राचीन वेदांत का मायावाद अपने आप सत्तावाद में रूपांतरित हो जाता है और इस तरह श्री अरविंद के दर्शन में उसका अपने आप खण्डन हो जाता है। अरविंद ने अपने *लाइफ डिवाइन* (1949) में एक समग्र और मर्त अद्वैत को उपस्थापित किया है जिसमें जड़ (मैटर) और चेतना (स्परिट) का एकान्वयन घटित होता है। अनंत के तर्क को आधार में रखते हुए उन्होंने प्रतिपादित किया है कि अतिमानस की विकासावस्था में सगुण और निर्गुण की एकता स्वयं अनुभूति के धरातल से प्रमाणित होती है। मैसूर के एन.ए. निकम (1903-1974) ने शंकर के विवर्तवाद और अरविंद के आविर्भाववाद में अंतर किया। उन्होंने कहा कि अरविंद धातु से निष्पन्न माया का अर्थ मापन परिच्छेदन और भ्रम अथवा धोखा के अर्थ में लेते हैं। श्री अरविंद के अनुसार वस्तुतः मायावाद में माया शब्द दूसरे अर्थ अर्थात् भ्रम या धोखा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। निकम के अनुसार अरविंद के दिव्य जीवन दर्शन में और अद्वैत वेदांत के मायावाद में मूलाविद्या की भूमिका एक ही जैसी है। इस तरह वास्तव में श्री अरविंद में दो प्रकार के तर्क का ऐसा द्वैधीकरण है कि अन्ततः उनके दर्शन में मायावाद अनावृत ही रह जाता है।

हरिदास चौधरी (1913-1975) स्वीकार करते हैं कि परमतत्त्व का स्वरूप ही ऐसा है कि उसमें एक गहन आध्यात्मिक अंतर्दृष्टि के साथ मायावाद के लिए अवकाश रहता ही है। अतः उसे अंतिम रूप से निरस्त नहीं किया जा सकता। श्री अरविंद का दर्शन वस्तुतः मायावाद के अतिक्रमण का अज्ञान-प्रहाण का दर्शन है। तर्कसम्मत अद्वैत वेदांत के प्रबल समर्थक जी. आर. मलकानी (1892-1977) ने बेबाक कहा कि श्री अरविंद मायावाद का खण्डन नहीं करते हैं। उनके अनुसार एकात्मक अनुभव में सगुण और निर्गुण का समन्वय नहीं किया जा सकता। स्वयं शंकर के लिए और

मलकानी के लिए भी सत्ता एक और अद्वैत ही है। तथाकथित अनंत का तर्क अ-विरोध के नियम को निरस्त नहीं कर सकता। वस्तुतः मायावाद ही अद्वैतवाद के सर्वथा निर्द्वंद्व और सुसंगत स्वरूप को प्रस्तुत करता है जहाँ किसी भी प्रकार के तत्त्वमीमांसीय द्वैत के लिए कोई अवकाश ही नहीं है। मलकानी का यह बेबाक विरोध शंकर के अद्वैतवाद के प्रति उनकी गहरी निष्ठा का परिचायक है। *फिलॉसफी ऑफ सेल्फ* (1939) और *मेटाफिजिक्स ऑफ अद्वैत* (1961) जैसी कृतियों से उनकी यह निष्ठा प्रमाणित भी होती है।

इस प्रकार कुल मिला कर स्वातंत्र्यपूर्व भारत में दर्शनशास्त्र की दशा और दिशा नववेदांत कहे जाने वाले दार्शनिक चिंतन के इर्द-गिर्द ही घूमती रही। भारतीय नवजागरण के अग्रदूत राजा राममोहन राय, दयानंद सरस्वती, स्वामी विवेकानंद, बाल गंगाधर तिलक, श्री अरविंद, रवींद्रनाथ ठाकुर और गाँधी इत्यादि के हाथों वेदांत ही नववेदांत के रूप में पुनर्सृजित होकर भारतीय नवजागरण और स्वाधीनता आंदोलन को वैचारिक आधार प्रदान करते हुए 'भारतीय स्वराज' का दर्शन बन कर प्रतिष्ठित हुआ। उस काल के अकादमिक दार्शनिकों ने जीवन और जगत के प्रति मायावादी दृष्टिकोण का नकार, जगत की यथातथ्यता की स्वीकृति तथा वेदांती विश्व-दृष्टि में ही प्रगतिशील एवं रचनात्मक जीवन के लिए अधिकाधिक अवकाश निर्मित करने को अपने नववेदांती दर्शन की प्रस्थानमूलक विशिष्टता बनायी। साथ ही साथ इस काल के नववेदांती चिंतन में उन सामाजिक-सांस्कृतिक विकारों के प्रति भी एक सशक्त आत्मचेतना दिखायी पड़ी जिन्हें परम्परागत वेदांत की अद्वैती विश्व-दृष्टि से कदापि संगत नहीं ठहराया जा सकता। इस तरह स्वातंत्र्यपूर्व नववेदांतवादी चिंतन में परम्परागत वेदांत की न केवल तत्त्वमीमांसीय पुनर्रचना हुई, बल्कि भारतीय संस्कृति और समाज में आक्षिप्त विकारों के परिमार्जन का एक वैचारिक आंदोलन भी खड़ा किया गया।

देखें : गोपीनाथ कविराज, गोविंद चंद्र पाण्डे, दयाकृष्ण, नंद किशोर देवराज, बदरी नाथ शुक्ल, भारत में दर्शनशास्त्र : स्वातंत्र्योत्तर दशा-दिशा, मुकुंद लाठ, यशदेव शल्य, रामअवतार शर्मा।

संदर्भ

1. सर्वपल्ली राधाकृष्णन और जे.एच. म्योरहेड (सम्पा.) (1936), *कंटेम्पेरी इण्डियन फिलॉसफी*, जॉर्ज एलेन ऐंड अनविन, लंदन.
2. नलिनी भूषण और जे.आर. गारफ़ील्ड (सम्पा.) (2011), *इण्डियन फिलॉसफी इन इंग्लिश : फ्रॉम रिनेसाँ टू इंडिपेंडेंस*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
3. एस.पी. दुबे (सम्पा.) (1994-1998) (चार भाग), *फ़ैसेट्स ऑफ़ रीसेंट इण्डियन फिलॉसफी*, भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नयी दिल्ली.

—अम्बिकादत्त शर्मा

भारत में दर्शनशास्त्र : स्वातंत्र्योत्तर दशा-दिशा

(Philosophy in Independent India)

भारतीय दर्शन का औपनिवेशिक युग किस तरह स्वातंत्र्योत्तर युग में रूपांतरित होता है और नये युग में वह क्या स्वरूप ग्रहण करता है, इसकी एक झलक हमें *कंटेम्प्लरेरी फ़िलॉसफ़ी* नामक ग्रंथ के दूसरे परिवर्द्धित संस्करण में देखने को मिलती है। राधाकृष्णन और म्योरहेड ने 1952 में इसका सम्पादन किया था। यह ग्रंथ आज़ादी से पहले और बाद के भारतीय दर्शन की दशा-दिशा को प्रस्तुत करने वाला प्राथमिक और प्रामाणिक प्रयास था। इसके प्रथम संस्करण में (1936) गाँधी, रवींद्रनाथ, स्वामी अभेदानंद, कृष्ण चंद्र भट्टाचार्य, जी.सी. चटर्जी, आनंद कुमारस्वामी, भगवानदास, सुरेंद्र नाथ दासगुप्ता, हीरालाल हलधर, एम. हिरियन्ना, सर्वपल्ली राधाकृष्णन, आर.डी. रानाडे, बी. सुब्रह्मण्यम अय्यर और आर. वाडिया जैसे दार्शनिकों के आलेख सम्मिलित किये गये थे। इसके दूसरे संस्करण में हरिदास भट्टाचार्य, एन.जी. दामले, रासबिहारी दास, डी.एम दत्ता, हुमायूँ कबीर, एस.के. मैत्रा, जी.आर. मलकानी, ए.सी. मुखर्जी, टी.आर.वी मूर्ति, पी.टी. राजू और एम.एम शरीफ़ के लेखों को प्रातिनिधिक दार्शनिक लेखन के रूप में शामिल किया गया।

ग्रंथ के दोनों भागों में जिन दार्शनिकों के आलेखों को तत्कालीन दार्शनिक अध्यवसाय के नमूने के तौर पर सम्मिलित किया गया— उसे दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। पहले वर्ग के दार्शनिकों ने वैदिक परम्परा के दर्शनों की समझ को प्रस्तुत किया है। दूसरे वर्ग के आलेखों की अंतर्वस्तु तो परम्परागत भारतीय दर्शनों से ही ली गयी है, लेकिन उनकी व्याख्या, विश्लेषण और तुलना पाश्चात्य दर्शन और उसकी आधुनिक समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में की गयी है। इस प्रसंग में यहाँ अखिल भारतीय दर्शन परिषद् की स्थापना का उल्लेख भी आवश्यक है। यह परिषद् वास्तव में स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन का एक नया और महत्त्वपूर्ण अध्याय है। इसकी स्थापना में महत्त्वपूर्ण भूमिका यशदेव शल्य की रही। मुखपत्र के रूप में *दार्शनिक* त्रैमासिक पत्रिका का परिषद् की स्थापना के साथ ही 1954 से प्रकाशन प्रारम्भ किया गया और परिषद् का प्रथम वार्षिक अधिवेशन 1956 में इलाहाबाद में हुआ। हिंदी माध्यम से स्वातंत्र्योत्तर भारत में दार्शनिक अध्यवसाय को प्रतिनिधित्व देते हुए परिषद् ने दो दर्जन से अधिक पुस्तकों का प्रकाशन किया है जिसमें के. सच्चिदानंद मूर्ति द्वारा *समकालीन भारतीय दर्शन* (1962) विशेष रूप से उल्लेखनीय है। राधाकृष्णन और म्योरहेड के ही तर्ज पर इस पुस्तक में सम्पूर्णानंद, एन.एस. द्रविड, बी.जी. तिवारी,

एस.एल. पाण्डेय, राजेंद्र प्रसाद, आर.के. त्रिपाठी, एस.एस. बारलिंगे, जे.आर.एल.एस. नारायण मूर्ति, चंद्रशेखर राव और के.एस. मूर्ति के आलेख सम्मिलित किये गये थे। परिषद् के तत्वावधान में स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण के अंतर्गत अम्बिकादत्त शर्मा द्वारा सम्पादित *समेकित दार्शनिक विमर्श* (2005), *समेकित अद्वैत विमर्श* (2005), *भारतीय दर्शन के 50 वर्ष* (2006) और *समेकित पाश्चात्य दर्शन समीक्षा* (2012) भी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

भारतीय दर्शन के स्वातंत्र्योत्तर प्रकरण में टी.आर.वी. मूर्ति (1902-1986) के अध्यवसाय को परम्परा और आधुनिकता का सेतुबंध कहा जा सकता है। उनकी विशेष अभिरुचि माध्यमिक दर्शन, कांट और भाषा दर्शन में रही, लेकिन अपने दार्शनिक अध्यवसाय को उन्होंने माध्यमिक दर्शन की पुनर्रचना में चरितार्थ किया। 1955 में प्रकाशित उनकी कृति *द सेंट्रल फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ बुद्धिज्ञम* के माध्यम से दार्शनिक विचारों के विश्व-इतिहास में नागार्जुन को प्रतिष्ठा मिली है। मूर्ति के लिए माध्यमिक दर्शन का आंतरिक मूल्य बौद्ध दर्शन के एक सम्प्रदाय के रूप में नहीं बल्कि 'क्रिटीक ऑफ़ ऑल फ़िलॉसफ़ीज' के रूप में है। वैसे तो उन्होंने कांट के दर्शन को लक्ष्य करके कुछ नहीं लिखा लेकिन *अज्ञान* नामक पुस्तक (1933), जो जी.आर. मलकानी और रासबिहारी दास के साथ मिल कर लिखी गयी थी, में अद्वैत वेदांत सम्मत अविद्या की अवधारणा को उद्घाटित करते समय उन पर कांट के प्रभाव को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इसी तरह अद्वैतवादी दर्शनों के वैकल्पिक प्रारूपों की गवेषणा भी मूर्ति के दार्शनिक अध्यवसाय का महत्त्वपूर्ण बिंदु रहा है। भाषा दर्शन के क्षेत्र में उनका एक आलेख 'द फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ लेंग्वेज इन कांटेक्ट' (1963) उन्हें भाषा-दार्शनिक के रूप में भी प्रतिष्ठित करता है।

दर्शन के क्षेत्र में हुमायूँ कबीर (1906-1969) के प्रयासों की अनदेखी नहीं की जा सकती। उन्होंने अपने चिंतन से परम्परा और नवोन्मेषी प्रगतिशीलता के बीच सामंजस्य की स्थापना करने वाला अवदान दिया। इसी तरह पी.टी. राजू पारम्परिक भारतीय दार्शनिक चिंतन की आधुनिकोन्मुखी व्याख्या करने वालों में अग्रणी थे। इस प्रकार की व्याख्या का मानक रूप *आइडियलिस्टिक थॉट ऑफ़ इण्डिया* (1953) *थॉट ऐंड रियलिटी* (1957) और *आइडियलिज़म ऐंड मॉडर्न चैलेंजेज़* (1961) नामक उनकी कृतियों में देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त पी.टी. राजू को तुलनात्मक दर्शन की स्वतंत्र विद्या के प्रणेता के रूप में कुछ इने-गिने व्यक्तियों में रखा जा सकता है। उनकी *इंट्रोडक्शन टू कम्परेटिव फ़िलॉसफ़ी* (1962) इस विधा की प्राथमिक संस्थापक कृतियों में एक है। कालिदास भट्टाचार्य (1911-1964) विलक्षण दार्शनिक प्रतिभा वाले अध्येता थे। इनकी दार्शनिक चेतना किसी वाद या सम्प्रदाय से प्रतिबद्ध न होकर इस अर्थ

में स्वतंत्र थी कि उन्होंने मनुष्य की चेतना में निहित तत्त्वमीमांसीय प्रवृत्तियों की वैकल्पिकता का दार्शनिकीकरण करते हुए एक तरह से उसकी ही तत्त्वमीमांसा प्रस्तुत की है। इसका बीज उन्हें अपने पिता कृष्ण चंद्र भट्टाचार्य के *एब्सोल्यूट ऐंड इट्स आल्टरनेटिव स्टैंडपाइंट* में प्राप्त हुआ था लेकिन उसे इन्होंने *आल्टरनेटिव स्टैंडपाइंट इन फ़िलासफ़ी* (1953) के रूप में विकसित किया है। कालिदास भट्टाचार्य ने मनुष्य की स्वतंत्रता और उसकी धार्मिक वैज्ञानिक चेतना के संबंध में भी मौलिक विचार प्रस्तुत किये हैं। भट्टाचार्य की बहुविध रचनाओं में *प्रीसपोज़िशन ऑफ़ साइंस ऐंड अदर एसेज़* (1974), *पॉसिबिलिटी ऑफ़ डिफ़रेंट टाइम्स ऑफ़ रिलीजन* (1975), *द कंसेप्ट ऑफ़ मैन* (1982) तथा बांग्ला में *भारतीय सस्कृति ओ अनेकांत वेदांत* (1982) प्रमुखतम हैं।

टी.एम.पी. महादेवन (1911-1983) वेदांत दर्शन में पारंगत थे। उन्होंने मद्रास स्कूल ऑफ़ वेदांत स्टडीज़ की स्थापना की। *गौडपाद : ए स्टडी इन अर्ली अद्वैत* (1954) के माध्यम से उन्होंने विधुशेखर भट्टाचार्य सरीखे व्यक्तियों द्वारा फैलायी गयी इस भ्रांति का भंजन किया है कि शांकराचार्य के दादागुरु गौडपाद द्वारा प्रयुक्त पदावलियाँ बौद्ध परम्परा की एकल सम्पत्ति नहीं बल्कि परम्परा की सम्पदा हैं जिस पर किसी का एकाधिकार नहीं। *द फ़िलासफ़ी ऑफ़ अद्वैत* (1957), *आउटलाइंस ऑफ़ हिंदुइज़म* (1956) और *टाइम ऐंड टाइमलेस इत्यादि* उनकी प्रमुख कृतियाँ हैं सम्प्रति इस परम्परा की निरंतरता को आर. सुब्रह्मण्यम बनाये हुए हैं। मण्डन मिश्र की ब्रह्मसिद्धि पर आधारित उनकी कृति 'अद्वैत वेदांत' और 'नैष्कर्म्यसिद्धि' अंग्रेज़ी माध्यम से किये गये प्रसादक अध्ययन हैं।

स्वातंत्र्योत्तर युग में नंद किशोर देवराज (1917-1999) सर्जनात्मक मानववाद के प्रतिष्ठापक माने जाते हैं। भुवनेश्वर के गणेश्वर मिश्र (1917-1985) अपने समय के जाने-माने अध्येता थे। ए.जे. एयर के शिष्य के रूप में इन्होंने *सोर्स ऑफ़ मोनोइज़म इन शंकर ऐंड ब्रैडले* विषय पर अनुसंधान किया था। पाश्चात्य विश्लेषणात्मक दर्शन की पद्धति का भरपूर उपयोग करने वाली उनकी रचना *स्टडीज़ इन अद्वैत वेदांत* (1976) एक प्रसिद्ध कृति है। आर. के. त्रिपाठी (1918-1981) का झुकाव वेदांत दर्शन और उसमें भी शांकर वेदांत की ओर सर्वाधिक था। दर्शन की आधुनिक समस्याओं पर अद्वैत वेदांत का पक्ष मज़बूती से रखने की उनमें अद्भुत क्षमता थी। उनके लिए अद्वैत वेदांत की विचार-प्रक्रिया दर्शन की अवधारणा का पर्याय जैसी थी। *प्रॉब्लम्स ऑफ़ फ़िलासफ़ी ऐंड रिलीजन* (1971) नामक ग्रंथ में यह सब कुछ प्रांजल सम्प्रत्ययात्मक स्पष्टता के साथ देखा जा सकता है। आर.के. त्रिपाठी का पहला महत्वपूर्ण कार्य *स्पिनोज़ा इन द लाइट ऑफ़ वेदांत* (1958) काशी हिंदू विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुआ था।

सुरेंद्र सदाशिव बारलिंगे (1919-1997) ने पुणे विश्वविद्यालय से सम्बद्ध रहते हुए अंग्रेज़ी, हिंदी और मराठी तीनों ही भाषाओं में आधुनिकोन्मुख दार्शनिक लेखन द्वारा भारतीय दर्शन को बढ़ावा दिया है। *अ मॉडर्न इंटीडक्शन टू लॉजिक* (1955) नामक पुस्तक में उन्होंने भारतीय तर्कविद्या को आकारिक तर्कशास्त्र की पदावली और तौर-तरीके से प्रस्तुत किया है। इसी तरह भारतीय दर्शन को आधुनिक पदावली में प्रस्तुत करने वाले उनका ग्रंथ *अ मॉडर्न इंटीडक्शन टू फ़िलासफ़ी* (1998) है। बारलिंगे उन शुरुआती विद्वानों में रहे हैं जिन्हें भारतीय सौंदर्यशास्त्र की पहली रूपरेखा प्रस्तुत करने का श्रेय जाता है।

चंद्रधर शर्मा (1920-2004) भारतीय परम्परा के अद्वैतवादी दर्शनों के सिद्धस्थ व्याख्याकार थे। उनकी अंग्रेज़ी रचना *अ क्रिटिकल सर्वे ऑफ़ फ़िलासफ़ी* (1952) और बाद में उसी का परिवर्तित हिंदी संस्करण (1990) आज भी भारत के विद्यार्थियों के द्वारा सर्वाधिक पढ़ा जाने वाला ग्रंथ है। *डायलेक्टिक ऑफ़ बुद्धिज़म ऐंड वेदांत* तथा *द अद्वैतिक ट्रेडिशन ऑफ़ फ़िलासफ़ी* (1996) नामक ग्रंथ उनके अद्वैतवादी अध्यवसाय के प्रांजल पक्ष को प्रस्तुत करते हैं। नागपुर विश्वविद्यालय से सम्बद्ध नारायण शास्त्री द्रविड़ (1923-2010) का भारतीय तर्कशास्त्र और प्रमाणशास्त्र की समस्याओं की विशिष्टता को पाश्चात्य ज्ञानमीमांसा और तर्कशास्त्र के समक्ष उपस्थापित करने वालों में कोई सानी नहीं था। उन्होंने भारतीय प्रमाणशास्त्र के प्रगत स्वरूप को मराठी भाषा में प्रस्तुत किया है। उन्होंने *न्यायकुसुमांजली* और *आत्मतत्त्वविवेक* का अंग्रेज़ी में मानक अनुवाद भी किया है। *भारतीय दर्शन की मूलगामी समस्याएँ* (2009) शीर्षक से अखिल भारतीय दर्शन परिषद् ने उनके प्रकीर्ण हिंदी लेखन को प्रकाशित किया है।

गोविंद चंद्र पाण्डे (1923-2011) की सम्पूर्ण विचार-साधना समवेत रूप से संस्कृति-दर्शन के रूप में फलित हुई है। पाण्डे के संस्कृति-दर्शन पर हीगेल के इतिहास-दर्शन, बौद्ध दर्शन के विज्ञानवाद और श्री अरविंद के मानवचक्र-सिद्धांत का स्पष्ट प्रभाव दिखता है। उनकी बहुविध रचनाओं में मुख्य रूप से *फ़ाउंडेशन ऑफ़ कल्चर ऐंड सिविलाइज़ेशन*, *द मीनिंग ऐंड प्रोसेस ऑफ़ कल्चर*, *कांशसनेस वैल्यू कल्चर*, *मूल्य-मीमांसा*, *भारतीय परम्परा के मूल स्वर* तथा *शांकराचार्य : विचार और संदर्भ* जैसी कृतियाँ उन्हें बीसवीं सदी के विश्वस्तरीय संस्कृति-दार्शनिक के रूप में प्रतिष्ठापित करती हैं। इसके अतिरिक्त *भक्ति दर्शन विमर्श*, *सौंदर्य दर्शन विमर्श* भी उनकी उल्लेखनीय रचनाएँ हैं।

के. सच्चिदानंद मूर्ति (1924-2011) को दार्शनिक समुदाय में द्वितीय राधाकृष्णन माना जाता था। मूर्ति ने वेदांत की मूल भावना 'सर्व खलु इदं ब्रह्म' की धार्मिक चेतना का दार्शनिकीकरण लोक-जीवन के यथार्थ धरातल पर किया है।

रेवेलेशन ऐंड रीजन इन अद्वैत वेदांत (1959) और द रेल्व ऑफ बिटवीन (1993) इत्यादि उनकी प्रसिद्ध कृतियाँ हैं। उन्होंने शांति के दर्शन पर महत्वपूर्ण कार्य किया है। 1960 में प्रकाशित उनकी कृति स्टडीज़ इन द प्रॉब्लम्स ऑफ पीस इसका प्रमाण है।

दया कृष्ण (1924-2007) प्रारम्भ में पाश्चात्य दर्शन के बड़े हिमायती थे, लेकिन बाद में उनकी रुचि भारतीय दर्शन की ओर हुई। उन्होंने भारतीय दार्शनिक परम्पराओं को 'प्रॉपर वर्क ऑफ रीजन' की दृष्टि से देख कर उसकी अविचारित रूप से स्थापित मान्यताओं के विरुद्ध आधारभूत प्रश्न उठाये जो नये ढंग से विचार करने की गुंजाइशें खोलते हैं। 1955 में प्रकाशित उनकी कृति द नेचर ऑफ फिलॉसफी और द आर्ट ऑफ क्रॉसेचुअल से उनके दार्शनिक गोत्र का पता चलता है। प्रोलेगोमेना टू एनी फ्यूचर हिस्टीरियोग्राफी ऑफ कल्चर ऐंड सिविलाइजेशन में दयाकृष्ण एक सभ्यता-विज्ञानी के रूप में सामने आते हैं। दयाकृष्ण की ऐसी कई कृतियाँ हैं जिनमें भारतीय दर्शन को बहुलवादी बौद्धिक परम्परा के रूप में पुनःसंगठित और पुनर्रचित करने की प्रश्नाकुलता दिखाई पड़ती है।

भाषा और तार्किक विश्लेषण को दर्शन का धर्म समझने वाले राजेंद्र प्रसाद (1926-) का चरमोत्कर्ष उनके अतिमहत्वपूर्ण आलेख 'अनऐंडिंग डायलॉग विद गॉड' और 'डायलॉग बिटवीन फ़र्स्ट परसन ऐंड थर्ड परसन' में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। उनके दार्शनिक अध्यवसाय को प्रस्तुत करने वाली महत्वपूर्ण कृति कर्म, काज़ेशन ऐंड रिट्रीब्यूटिव मॉरलिटी (2004) है।

चिद्वैतवाद के संस्थापक यशदेव शल्य (1928-) की दार्शनिक अनुसंधान यात्रा का आरम्भ आधुनिक पाश्चात्य अनुभववादी-तार्किक प्रत्यक्षवादी परम्परा के साथ हुआ, लेकिन उन्हें अनुभववादियों की अवधारणा में कोई युक्तियुक्तता दिखायी नहीं दी। वे इसे छोड़ कर अवधारणात्मक सापेक्षतावाद की ओर आये लेकिन यह दृष्टि भी उनके लिए अधिक समय तक संतोषप्रद नहीं बनी रह सकी। इस तरह यशदेव शल्य अपने ही अवधारणा-सापेक्षतावाद से उत्तीर्ण होकर दूसरे महत्वपूर्ण सोपान पर पहुँचे जिसे चैत-सापेक्षतावाद से निरपेक्ष चैतन्य में उत्क्रमण के रूप में समझा जा सकता है। यशदेव शल्य के दार्शनिक चिंतन का तृतीय और अंतिम प्रस्थान है 'चिद्वैतवाद' जहाँ वे विषय जगत् की चिदगत संरचनाओं की प्रतिष्ठा चेतना की आत्मगत प्राकृतिकता से आत्मोन्मुख निर्वृत्ति में देखते हैं। भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् द्वारा प्रकाशित यशदेव शल्य का दर्शन नामक पुस्तक में गोविंद चंद्र पाण्डे, मुकुंद लाठ इत्यादि के आलेखों से यशदेव शल्य के दार्शनिक चिंतन में निहित मौलिकता और व्यापकता की झलक मिलती है। मुकुंद लाठ (1937-) स्वयं भी एक स्वतंत्र विचारक हैं।

उन्होंने धर्म, कर्म और नीति विषयक चिंतन को अपने अध्यवसाय का विषय बना कर भारतीय औचित्य मीमांसा की मौलिक प्रतिष्ठा की है। इस सम्बन्ध में उनकी पुस्तकें धर्म संकट और कर्म चेतना के आयाम द्रष्टव्य हैं।

इलाहाबाद में संगम लाल पाण्डेय (1929-2002) ने अद्वैत वेदांत की दृष्टि से पाश्चात्य ज्ञानमीमांसा की समीक्षा कर 'डेथ एपिस्टेमोलॉजी' की पुनर्रचना 'फ़िलॉसफी ऑफ प्रयाग स्कूल' के रूप में की है। रामचन्द्र गांधी (1937-2007) की कृतियों में आयी एम दाऊ, जो रमण महर्षि पर केंद्रित है, महत्वपूर्ण है। स्वराज और सीताज क्रिचन जैसे कई छोटे-बड़े ग्रंथ उनकी दार्शनिक परिकल्पनाओं को मूर्त रूप प्रदान करते हैं। पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ के दर्शन-विभाग से संबंधित धर्मेन्द्र गोयल (1934) का आधुनिकोन्मुख चिंतन भी यहाँ उल्लेखनीय है। इनके दार्शनिक अध्यवसाय के प्रमुख उत्पाद 'फ़िलॉसफी ऑफ हिस्टी' (1967), 'फ़िलॉसफी ऑफ सोशल चेंज' (1989) और 'भाषा दर्शन' (1991) हैं। अखिल भारतीय दर्शन परिषद् द्वारा प्रकाशित (2012) इनकी कृति 'स्वतंत्रता मूल्य और परम्परा' स्वातंत्र्योत्तर भारत की समसामयिक चिंताओं पर महत्वपूर्ण दार्शनिक विमर्श प्रस्तुत करती है। इसी काल में जी.सी. नायक (1935-) शंकर, नागार्जुन और कालिदास की कृतियों में अंतरविष्ट दार्शनिक दृष्टियों का विश्लेषणात्मक अध्ययन करने वाले प्रतिबद्ध अध्येता रहे हैं। फ़िलॉसॉफ़िकल रिफ्लेक्शंस (1987), फ़िलॉसॉफ़िकल इंटरप्राइज़ ऐंड द साइंटिफ़िक स्पिरिट (1994) एवं माध्यमिक शून्यता (2001) उनकी महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं।

भारत में क्षेत्रीय भाषाओं के माध्यम से दर्शनशास्त्र के पठन-पाठन की प्राचीन परम्परा रही है। इस दृष्टि से वी.एम. वेडेकर (पुणे) की फ़िलॉसफी इन फ़िफ्टीन मॉडर्न इण्डियन लैंग्वेजेज़ (1979) नामक पुस्तक विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसमें असमिया, बांग्ला, अंग्रेज़ी, गुजराती, हिंदी, कन्नड़, कश्मीरी, मलयालम, मराठी, उड़िया, पंजाबी, सिंधी, तमिल और तेलगु इत्यादि भाषाओं में हुए दार्शनिक लेखन का लेखा-जोखा मिलता है। स्वातंत्र्योत्तर काल में भारतीय दर्शन पर विश्वकोशीय लेखन को लेकर चार महत्वपूर्ण प्रयास सामने आए हैं। इसमें पहला प्रयास अमेरिका के कार्ल एच. पॉट्टर का है। उन्होंने 23 भागों में इनसाइक्लोपीडिया ऑफ इण्डियन फ़िलॉसफी प्रकाशित करने की महत्वाकांक्षी योजना 1968 में बनायी थी। इस विश्वकोश के कई एक खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं और शेष प्रकाशनाधीन हैं। इस क्षेत्र में दूसरा प्रयास इण्डिया हैरिटेज फ़ाउंडेशन द्वारा 1980 के दशक में किया गया और पूर्वी-पश्चिमी विद्वानों के सहयोग से ग्यारह भागों में इनसाइक्लोपीडिया ऑफ हिंदूइज़म तैयार किया गया है। कैलिफ़ोर्निया के के.एल. शेषगिरि राव इसके प्रधान सम्पादक दिल्ली के कपिल कपूर इसके सम्पादक हैं। इन दोनों प्रयासों

से भिन्न अपने ढंग का एक अनोखा भारतीय दर्शन बृहत्कोश' का निर्माण 1980 के दशक में सागर विश्वविद्यालय द्वारा कराया गया था। अर्जुन मिश्र इसके निदेशक और शास्त्रपुरुष बच्चूलाल अवस्थी इसके एकमात्र शोध-कर्ता और लेखक थे। विश्वकोशीय लेखन के क्षेत्र में सबसे बड़ा और सर्वाधिक प्रामाणिक प्रयास देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय (1931-) के नेतृत्व में प्रोजेक्ट ऑफ हिस्ट्री ऑफ साइंस, फ़िलॉसफ़ी ऐंड कल्चर के तहत किया गया है। समस्त भारतीय बौद्धिक सम्पदाओं को एक व्यापक अवधारणात्मक योजना में समाहित करने वाली इस महान परियोजना के 115 खण्डों का प्रकाशन पूर्ण होने को है।

स्वातंत्र्योत्तर भारत में विश्वविद्यालयीय व्यवस्था के माध्यम से जो अकादमिक वातावरण निर्मित हुआ उसके माध्यम से विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों का विकास भी प्रतिबद्ध अध्येताओं के द्वारा सम्भव हुआ है। आजादी के बाद श्रमण परम्परा के बौद्ध और जैन दर्शन का विकास सरकारी तौर पर प्रोत्साहित किया गया। इस दौरान सक्रिय बौद्ध अध्येताओं में भदंत आनंद कौसल्यायन, राहुल सांकृत्यायन, शांति भिक्षु शास्त्री, नरेंद्र देव, सत्कड़ी मुखर्जी, गोविंद चंद्र पाण्डे, आर.सी. पाण्डेय, के. वेंकट रमन, हर्ष नारायण, ए.के. चटर्जी और रामशंकर त्रिपाठी इत्यादि का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। बौद्ध दर्शन के उदीयमान अध्येताओं में एच.एस. प्रसाद, प्रदीप गोखले, मंगला चिन्चोरे और अम्बिकादत्त शर्मा संदर्भित किये जाने की अर्हता रखते हैं। जैन दर्शन के क्षेत्र में नाथमल टाटिया, दलसुख भाई मलवानियाँ, नगिन जे. शाह और सागरमल जैन का योगदान उल्लेखनीय है। भारत की सर्वाधिक प्राचीन दर्शन परम्परा 'सांख्य-योग' को हरिहरानन्द आरण्य एवं रामशंकर भट्टाचार्य ने अपने अध्यवसाय से आधुनिक काल में जीवंत बनाये रखा। इसी तरह आगमिक धारा के शैव एवं काश्मीर शैव दर्शनों के आधुनिकोन्मुखी विकास को महाराज हरीसिंह (काश्मीर दरबार) ने बढ़ावा दिया। के.सी. पाण्डेय, आर.के. काव, बी.एन. पण्डित, नवजीवन रस्तोगी, कमलेश दत्त त्रिपाठी, ब्रज वल्लभ द्विवेदी और कमलाकर मिश्र ने इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। काश्मीर शैव दर्शन के ही प्रतिउत्पाद के रूप में स्वातंत्र्योत्तर काल में भारतीय सौंदर्यशास्त्र का बहुआयामी विकास हुआ है। स्वतंत्रता से पूर्व एवं स्वातंत्र्योत्तर काल में न्यायवैशेषिक दर्शन का विकास भी बहुविध रूप से होता रहा है। बंगाल मूल के न्यायदर्शन के अध्येताओं में अनन्त लाल ठाकुर, बी.के. मतिलाल, जे.एन. मोहंती, शिवजीवन भट्टाचार्य एवं पी.के. मुखोपाध्याय इत्यादि प्रमुख रहे हैं। मिथिला मूल के अध्येताओं में बालकृष्ण मिश्र, महाप्रभु लाल गोस्वामी, शशिनाथ झा, बद्रीनाथ झा, दुर्गाधर झा, आनंद झा एवं किशोर नाथ झा परिगणित किये जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त धर्मेंद्र

नाथ शास्त्री, बलिराम शुक्ल, विश्वम्भर पाही, बी.एन. झा, रघुनाथ घोष एवं सच्चिदानंद मिश्र तथा अरुण मिश्र भी न्यायदर्शन के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण हस्तक्षेप करने वाले सक्रिय विद्वान रहे हैं। मीमांसा दर्शन का विकास स्वातंत्र्योत्तर भारत में उस तरीके से नहीं हुआ जबकि यह एक प्राचीन और समृद्ध परम्परा रही। गंगानाथ झा एवं युधिष्ठिर मीमांसक के बाद केवल गोवर्धन भट्ट ने इस दर्शन के प्रमाणशास्त्रीय पक्ष पर महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। बीसवीं शताब्दी में के.एल. सरकार और काशी प्रसाद सक्सेना ने 'मीमांसा ज्यूरिस्पुडेंस' के क्षेत्र में अपने लेखन के द्वारा एक नयी दिशा ली है। वेदांत दर्शन के अवांतर सम्प्रदायों में शुद्धाद्वैत के आधुनिकोन्मुखी विकास में एम.पी. तेलीवाला, केदार नाथ मिश्र एवं श्याम मनोहर गोस्वामी ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। दक्षिण भारत में रामानुज वेदांत एवं मध्व वेदांत के अध्ययन-अध्यापन की अभी भी नैष्ठिक परम्परा जीवंत है। मध्व वेदांत के अध्येताओं में सत्यप्रमोद तीर्थ, प्रह्लादाचार्य, के.टी. पाण्डुरंगी प्रमुख रहे हैं। रामानुज वेदांत के अध्येताओं में रामानुज ताताचार्य, एस.एम. श्रीनिवासाचारी और अधिष्ठाता विद्वानों में वीर राघवाचार्य एवं परकाल मठाधीश अत्यंत विशिष्ट रहे हैं। सम्प्रति अद्वैत वेदांत के स्वाध्यायी विद्वान् देश भर में अनेक मिल जाएंगे लेकिन पारम्परिक पांडित्य और साधक प्रकृति के विद्वानों में स्वामी योगिंद्रा नंद, पारस नाथ द्विवेदी, सुधांशु शेखर शास्त्री एवं मणि द्राविड़ का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। अद्वैत वेदांत के आधुनिक विद्वानों में ए. राममूर्ति, श्रीनिवास राव, ए.के. नारायण, गोदावरीश मिश्र और आनंद मिश्र संदर्भित किये जाने योग्य हैं। इक्कीसवीं शताब्दी में स्वामी नारायण वेदांत ने भी अपने को एक स्वतंत्र प्रस्थान के रूप में स्थापित करने का महत्त्वपूर्ण प्रयास 'ब्रह्मसूत्रस्वामीनारायणभाष्यम्' और 'उपनिषद् स्वामीनारायणभाष्यम्' लिखकर किया है। साधु भद्रस दास और साधु श्रुति प्रकाश दास इस परम्परा के मान्य अध्येता हैं। स्वातंत्र्योत्तर भारत में भारतीय भाषा दर्शन का विकास भी दर्शन की एक स्वतंत्र विधा के रूप में हुआ है। इस क्षेत्र में के.ए.एस. अय्यर, गौरीनाथ शास्त्री, के.के. राजा, आर.सी. पाण्डेय, बी.के. मतिलाल, के.जे. शाह, पी.के. मुखोपाध्याय एवं डी.एन. तिवारी ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

पाश्चात्य दर्शन का स्वातंत्र्योत्तर क्षेत्र विशेष रूप से एंग्लो-सेक्सन फ़िलॉसफ़ी, फ़ेनोमेनोलॉजी एवं अस्तित्ववाद तथा उत्तर-आधुनिकतावाद से संबंधित रहा है। इस क्षेत्र में जे.एल. मेहता, जे.एन. मोहंती, रिचर्ड सोराबजी और अकील बिलग्रामी ऐसे नाम रहे हैं जिन्हें पश्चिम में मान्यता मिली। इसके अतिरिक्त पश्चिमी दर्शन में दखल रखने वाले भारतीय विद्वानों में नित्यानंद मिश्र, बी.के. लाल, आर.पी. पाण्डेय, डी.एन. द्विवेदी, सभाजीत मिश्र, आर.सी. प्रधान, आर.पी. सिंह, अशोक वोहरा, बी.के. अग्रवाल, पी.आर. भट्ट,

अमिताभ दासगुप्ता, प्रसेनजित विश्वास एवं संजय कुमार शुक्ल उल्लिखित किये जा सकते हैं।

स्वातंत्र्योत्तर भारत में दर्शन की दशा-दिशा और उसकी उपलब्धियों का क्षैतिज विस्तार चाहे जैसा भी रहा हो, हमें इस आलोचनात्मक टिप्पणी का सामना करना ही पड़ता है कि स्वाधीन भारत में हमने कुछ ऐसा उत्पादित नहीं किया जिसे दार्शनिक दृष्टि से मौलिक और विश्वस्तरीय प्रतिष्ठा के योग्य कहा जा सके। इसके बावजूद स्वातंत्र्योत्तरकालीन भारत के दार्शनिक अध्यवसाय को भारतीय दर्शन के वैश्वीय परिप्रेक्ष्य में सकारात्मक-नकारात्मक प्रभावों के साथ उसका युगानुरूप पुनराविष्कार ही कहना उचित है। किसी भी विचार-परम्परा की पुनर्व्याख्या और उसके पुनराविष्कार की अपनी ही गति होती है। इस प्रक्रिया में मूल विचार-परम्परा का उन्नयन भी होता है तो कहीं-कहीं विजातीय प्रभावों के कारण उसके अवमूल्यन की सम्भावना भी बनी रहती है। स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन भी इस तथ्यात्मकता का अपवाद नहीं है। हमारी औपनिवेशिक मनोवृत्ति और ऊपर से अंग्रेजी भाषा के प्रभुत्व ने हमारे वैचारिक स्वराज की धार को अवश्य ही कम किया है लेकिन भारत की ज्ञान सम्पदा की प्राणदा शक्ति अभी भी समाप्त नहीं हुई है। स्वातंत्र्योत्तर भारत में इस ज्ञान-सम्पदा के संवेदनशील ध्रुवों का समुदाय यद्यपि अल्पसंख्यक है लेकिन उन्हीं के अध्यवसाय से इस देश का ज्ञानात्मक अतीत जीवंत और पुरोगामी बना हुआ है।

देखें : गोपीनाथ कविराज, गोविंद चंद्र पाण्डे, दयाकृष्ण, नंद किशोर देवराज, बदरी नाथ शुक्ल, भारत में दर्शनशास्त्र : स्वातंत्र्यपूर्व दशा-दिशा, मुकुंद लाठ, यशदेव शल्य, रामअवतार शर्मा।

संदर्भ

1. सर्वपल्ली राधाकृष्णन और जे.एच. म्योरहेड (सम्पा.) (1936), *कंटेम्परेरी इण्डियन फिलॉसफी*, जॉर्ज एलेन ऐंड अनविन, लंदन.
2. के.एस. मूर्ति (सम्पा.) (1962), *समकालीन भारतीय दर्शन*, अखिल भारतीय दर्शन परिषद् प्रकाशन, नयी दिल्ली.
3. अम्बिकादत्त शर्मा (सम्पा.) (2005), *स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण-1-समेकित दार्शनिक विमर्श*, विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर.
4. अम्बिकादत्त शर्मा (सम्पा.) (2005), *स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण-2-समेकित अद्वैत विमर्श*, विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर.
5. अम्बिकादत्त शर्मा (सम्पा.) (2006), *स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण-3-भारतीय दर्शन के 50 वर्ष*, विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर.
6. अम्बिकादत्त शर्मा और श्रीप्रकाश दुबे (2012), 'भारतीय दर्शन और उसका स्वातंत्र्योत्तर युग', *चिंतन-सृजन*, वर्ष-10, अंक-2.

—अम्बिकादत्त शर्मा

भारत में नवजागरण : तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य

(Navjagaran(s) in India : Comparative Perspective)

उन्नीसवीं सदी के दौरान औपनिवेशिक आधुनिकता के संसर्ग में भारत के कई सांस्कृतिक क्षेत्रों में सामाजिक आंदोलनों की शुरुआत हुई। इनमें समाज-सुधार के पहलू प्रमुख थे, लेकिन सुधार-प्रक्रिया कई जगहों पर रैडिकल और नरम क्रिस्म के तत्त्वों के बीच टकराव के कारण विवादित हुई। इसके गर्भ से एक तरह की सांस्कृतिक राजनीति निकली जिसने आगे जा कर भारत की निर्माणाधीन आधुनिकता के विभिन्न पहलुओं की रचना की। सांस्कृतिक राजनीति के इन केंद्रों में बंगाल और महाराष्ट्र का स्थान सर्वोपरि था। बंगाल में हुए घटनाक्रम को नवजागरण का नाम दिया गया है। महाराष्ट्र में चली इसी प्रक्रिया को सुधारणा के नाम से पुकारा जाता है। इस तरह के सिलसिले गुजरात, पंजाब और हिंदी-भाषी क्षेत्र (मुख्यतः वर्तमान उत्तर प्रदेश) में चले। उत्तर भारत में इस परिघटना को रामविलास शर्मा ने हिंदी नवजागरण का नाम दिया है जिसमें मुख्य भूमिका यहाँ के साहित्यकारों की, खासकर भारतेन्दु हरिश्चंद्र और उनके मण्डल के लेखकों की रही। बंगाल की तर्ज पर हिंदी नवजागरण का नाम दिया जाता है। खास बात यह थी कि किसी भी क्षेत्र का नवजागरण किसी दूसरे क्षेत्र की प्रतिकृति नहीं था, सबकी अलग-अलग खामियाँ और खूबियाँ थीं।

महाराष्ट्र में 1866 में भंग कर दी गयी परमहंस सभा के बिखर गये सदस्यों में से कुछ एक ने 1866 में बम्बई पधारे केशवचंद्र सेन के व्याख्यानों से प्रेरित हो कर जिस संगठन की शुरुआत की थी, उसे ही हम प्रार्थना समाज के नाम से जानते हैं। दूसरी तरफ मराठी सुधारकों ने शूद्र संत तुकाराम के प्रभाव को दूसरे प्रदेशों में भी फैलाया। इन्हीं के जरिये तुकाराम का प्रभाव बंगाल में ब्रह्म समाज तक पहुँचा जहाँ सत्येंद्रनाथ ठाकुर ने तुकाराम के अभंगों का बांग्ला में अनुवाद किया और उनकी जीवनी लिखी। एक दूसरे ब्रह्मसमाजी हरींद्रनाथ चट्टोपाध्याय ने तुकाराम के जीवन को लेकर नाटक लिखा। तुकाराम के अभंगों का अनुवाद गुजराती में भी हुआ और बीसवीं सदी में गाँधीजी उनसे प्रभावित हुए।

महाराष्ट्र में सुधारणा की एक प्रमुख हस्ती संत एकनाथ थे जिन्होंने लोकसंग्रह की धारणा दी और जिन्हें विचार की दृष्टि से संत ज्ञानेश्वर और रामदास के बीच में माना जा सकता है। इस सिलसिले में एकनाथ का खुद का

ऐतिहासिक संदर्भ गौरतलब है। एकनाथ का ऐतिहासिक संदर्भ यह था कि उन्हीं के जीवनकाल में यानी 1533 से लेकर 1599 तक महाराष्ट्र में इसलाम और बहमनी सुल्तानों के शासन का दबाव महसूस होना शुरू हो गया था। इसका एक उदाहरण फ़ारसी के चलन का बढ़ना था। गौरतलब है कि इसी ऐतिहासिक संदर्भ में हिंदी में तुलसीदास और मराठी में एकनाथ, दोनों समकालीन संतकवि राम के आदर्श की ओर मुड़े क्योंकि राम की छवि प्रतिरोध करने वाले और दुष्ट शत्रुओं का संहार करने वाले नायक के रूप में थी। यह महज संयोग नहीं है कि तुलसीदास का विवेचन करते हुए हिंदी के सबसे बड़े आलोचक रामचंद्र शुक्ल ने जिस एक शब्द का प्रयोग बार-बार किया है, वह लोकसंग्रह ही है। इसके अलावा रामदास की तरह क्षात्रधर्म पर जोर देने वाले रामचंद्र शुक्ल हिंदी के पहले आलोचक हैं जिन्होंने उस युग में उभरे संतों के साहित्य को मुसलमानी शासन की प्रतिक्रिया के रूप में भी देखा। गौरतलब यह भी है कि रामचंद्र शुक्ल ब्रिटिश विरोधी राजनीतिक आंदोलन में तिलक के समर्थक थे।

इन नवजागरणों में महाराष्ट्र का नव जागरण सर्वाधिक दीर्घकालीन निकला। इसका एक कारण महाराष्ट्रीय नवजागरण के नेताओं की व्यावहारिकता थी। बंगाल के नवजागरण के नेता भावुक, विद्रोही और परम्पराभंजक थे जो बाक्री समाज से अलग-थलग पड़ जाने और सामाजिक बहिष्कार सहने के बावजूद अपने मूल्यों और आदर्शों से जल्दी पीछे नहीं हटते थे। लेकिन महाराष्ट्रीय नेता ऐसे विद्रोही न थे और ऐसे क्रदम जल्दी नहीं उठाते थे जो उन्हें बाक्री समाज से काट कर अलग-थलग कर दें। दूसरा प्रमुख कारण महाराष्ट्रीय नवजागरण का अपनी जड़ों से जुड़ा होना था। उसने मध्ययुग में हुए महाराष्ट्रीय संतों-भक्तों की विरासत का आधुनिक राजनीतिक ज़रूरतों के साथ तालमेल बैठा कर उसी स्रोत से सांस्कृतिक वैधता हासिल की। बंगाल के विख्यात नवजागरण में यह प्रवृत्ति केवल आंशिक रूप में मिलती है। उन्नीसवीं सदी के आखिरी दशकों में उभरे राष्ट्रीय आंदोलन का ब्रह्म समाज के नेतृत्व में हुए नवजागरण से सजीव संबंध ज़रूर बना; लेकिन बंगाल के अतीत से, बंगाली संतों और भक्तों के आंदोलन से इस नवजागरण ने खुद को सचेत रूप से कभी नहीं जोड़ा। बंगाल में ब्रह्मसमाजियों ने सामान्य तौर पर सभी धर्मों और उनके महात्माओं के प्रति आदर प्रकट करते हुए वैष्णव धर्म और चैतन्य का नाम अवश्य लिया है, लेकिन इससे अधिक और कुछ नहीं। केशवचंद्र सेन ने अपने जीवन के आखिरी सालों में रामकृष्ण परमहंस से आकर्षित होकर काली माँ की रहस्यात्मक भक्ति की ओर जो थोड़ा-बहुत रुझान प्रकट किया था, उसे साधारण ब्रह्मसमाजियों ने नवजागरण के मूल्यों से उनके विचलन के रूप में ही देखा और आलोचना भी की। बहुत बाद में बीसवीं सदी में जाकर रवींद्रनाथ ठाकुर (जिन्हें इस नवजागरण के

समापन दौर का प्रतिनिधि माना जाता है) बाउल गीतों से प्रभावित हुए। स्वदेशी आंदोलन के दौरान उभरी हिंदू-मुसलमान साम्प्रदायिक भावनाओं के राजनीतिक संदर्भ में उन्हें बाउलों की मानववादी विचारधारा बहुत काम की चीज़ लगी। इन सबके बावजूद बंगाल का नवजागरण पंद्रहवीं और सोलहवीं सदी के बंगाली संतों-भक्तों के आंदोलन से उस अर्थ में कभी नहीं जुड़ा जिस अर्थ में महाराष्ट्रीय नवजागरण जुड़ा हुआ था। सच्चाई यह है कि उन्नीसवीं सदी में अंग्रेजी भाषा, पश्चिमी शिक्षा और औपनिवेशिक शासन के प्रभाव में उभरा बंगाली शिक्षित वर्ग अपनी मध्ययुगीन विरासत से पूरी तरह से कटा हुआ नज़र आता है। औपनिवेशिक शासन से पहले का समय उनके लिए अंधकारयुग और मुसलमानी अत्याचारों का युग ही रहा।

यही बात हिंदीभाषी अवध और पश्चिमोत्तर प्रांत में भी दिखाई देती है जहाँ प्रांत के पश्चिमी हिस्सों में नवजागरण का नेतृत्व कर रहा आर्यसमाज संतों-भक्तों की विचारधारा के सख्त खिलाफ़ था। स्वामी दयानंद की रचना *सत्यार्थ प्रकाश* में कबीर और नानक आदि संतों के खिलाफ़ गम्भीर टिप्पणियाँ मिलती हैं और तुलसी के रामचरितमानस को पाठ्यक्रम से प्रतिबंधित करने का सुझाव मिलता है। हालाँकि हिंदीभाषी प्रदेश में अंग्रेजी भाषा और पश्चिमी शिक्षा का प्रभाव बंगाल से आधा भी नहीं था, फिर भी ऐतिहासिक कारणों से भारतेंदु हरिश्चंद्र और राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद जैसे हिंदी के प्रमुख पुरोधाओं ने अंग्रेजों से पहले के भारत को मुसलमानों के अत्याचारों से भरे अंधकार युग के रूप में ही देखा। भक्ति आंदोलन से हिंदी नवजागरण का संबंध होने के एकाध संक्षिप्त और सतही दावों के बावजूद सवाल यह है कि भक्ति आंदोलन के केंद्रीय मुद्दे— जैसे दलितों-शूद्रों में अपने मनुष्यत्व और आत्मगौरव की चेतना का विकास, ऊँच-नीच, जाति-पाँति, छुआछूत, ब्राह्मणवाद की आलोचना, पुरोहिती, धार्मिक कर्मकाण्ड इत्यादि के तीव्र विरोध की जो प्रखर अभिव्यक्ति भक्ति साहित्य में, खास कर कबीर आदि निर्गुण संतों के साहित्य में हुई, उसका संबंध भारतेंदु मण्डल के लेखन से क्या और कितना रहा है?

उन्नीसवीं सदी के हिंदी प्रदेश में कोई ब्राह्मणवाद विरोधी धारा नहीं दिखती। हिंदी नवजागरण के सिद्धांतकार रामविलास शर्मा के हिसाब से चलें और नवजागरण की पहली धारा को भारतेंदु मण्डल के रूप में देखें तो वहाँ इसकी विरोधी धारा किस कहेंगे? उनके बीच विरोध के मुद्दे क्या थे और उनका संघर्ष किस रूप में कहाँ होता है? रामविलास शर्मा के लेखन में ऐसी किसी दूसरी धारा की पहचान नहीं मिलती। सच्चाई यह है कि हिंदी प्रदेश के हिंदुओं के बीच हुए नवजागरण में मुख्य धारा आर्य समाज की थी जो प्रदेश के उत्तरी पश्चिमी जिलों मेरठ, बरेली, बुलंदशहर, सहारनपुर,

रुड़की, शाहजहाँपुर इत्यादि में काफी ताकतवर थी। उनसे विभिन्न मुद्दों पर, जैसे मूर्तिपूजा पर, सनातन धर्म और नियोग विधि या विधवा विवाह इत्यादि पर संघर्ष करने वाले हिंदी के लेखक, सम्पादक और पत्रकार प्रांत के पूर्वी जिलों में जैसे बनारस, इलाहाबाद में प्रबल थे जहाँ उन्होंने आर्यसमाज के पैर जमने नहीं दिये।

गुजरात में स्थिति थोड़ी अलग दिखाई देती है। वहाँ उन्नीसवीं सदी के प्रखर सुधारक और साहित्यकार गोवर्धनराम त्रिपाठी ने 1874 में अपनी एक महत्त्वपूर्ण कृति *क्लासिकल पोएट्स ऑफ गुजरात ऐंड देयर इन्फ्लुएंस ऑन सोसाइटी ऐंड मॉरल* से अट्ठारहवीं सदी तक के गुजराती भक्ति काव्य का आलोचनात्मक मूल्यांकन किया। गोवर्धनराम ने सत्रहवीं सदी के तीन गुजराती कवियों को सबसे ज्यादा महत्त्व दिया। जाति-पांति और सामाजिक हैसियत के बजाय भक्ति के आधार पर भक्तों के बीच समानता के विचार की प्रशंसा करते हुए गोवर्धनराम ने इन कवियों में धार्मिक-सामाजिक रूढ़ियों के खिलाफ मिलने वाले तत्त्वों को, खासकर पितृसत्तात्मक मूल्यों के खिलाफ सामल के स्त्री चरित्रों में अपने प्रेम के लिए मिलने वाले समाजिक विद्रोह के भावों को, साफ तौर पर आधुनिक मानते हुए सवाल पूछा है कि जिस आधुनिकता के लिए हम अंग्रेजी राज की तारीफ करते हैं, वही आधुनिकता क्या सत्रहवीं सदी के इन भक्त कवियों में नहीं दिखाई देती? इस लिहाज से उन्नीसवीं सदी ज्यादा विकसित है या सत्रहवीं सदी?

लेकिन, भक्तिकाव्य के इस असाधारण मूल्यांकन के बावजूद गोवर्धनराम उन्नीसवीं सदी के गुजराती नवजागरण और सत्रहवीं सदी के गुजराती भक्ति आंदोलन के बीच न तो किसी निरंतरता का दावा करते हैं और न कोई विशेष संबंध देखते हैं। इसके उल्टे उनकी शिकायत यह है कि सत्रहवीं सदी के संत भक्तों से कोई प्रेरणा न लेकर उन्नीसवीं सदी के हिंदू सुधारक आधुनिक बनने के लिए अंग्रेजों की ओर देखते रहते हैं। इस तरह वे अपनी विरासत से अनजान और कटे हुए लगते हैं।

गुजराती नवजागरण से ठीक उल्टी स्थिति है महाराष्ट्रीय नवजागरण की जहाँ नवजागरण के सभी नेता बहुत सचेत रूप से अपनी भक्तिकालीन विरासत से खुद को जोड़ते और उस पर अपना दावा जताते दिखाई देते हैं। महाराष्ट्र समेत भारत के विभिन्न प्रांतों के नवजागरण का संतुलित अध्ययन करने वाले चार्ल्स हिमसेथ ने भक्तों-संतों के आंदोलन के प्रभाव का सवाल उठाते हुए बंगाल के संदर्भ में यह बिल्कुल सही नोट किया है कि भक्ति आंदोलन के साथ वहाँ के नवजागरण का कोई संबंध नहीं दिखता। लेकिन ताज्जुब की बात है कि महाराष्ट्र के संदर्भ में इस प्रश्न पर

विचार करने के बावजूद वे इस संबंध को देखने में बिल्कुल असमर्थ रहे। यही वजह है कि उनकी मशहूर किताब *इण्डियन नैशनलिज्म ऐंड हिंदू सोशल रिफॉर्म* से महाराष्ट्रीय नवजागरण की इस महत्त्वपूर्ण चारित्रिक विशेषता का कोई पता नहीं चलता।

ब्राह्मण और गैरब्राह्मण धाराओं के बीच सिर्फ यह संघर्ष ही नहीं, इस संघर्ष की तीव्रता भी महाराष्ट्रीय नवजागरण की एक विशेषता है। यह भारत के किसी भी प्रांत में दिखाई नहीं देती। बंगाल में हमें सुधारकों और परम्परावादियों के बीच संघर्ष ब्रह्म समाज और धर्मसभा के संघर्ष के रूप में दिखाई देता है। लेकिन यह विरोध महाराष्ट्रीय नवजागरण में मिलने वाले विरोध से कुछ अलग ढंग का है। बंगाल में इस विरोध के न सिर्फ कई मुद्दे अलग थे— जैसे सतीप्रथा और ब्रह्मविवाह विधान, बल्कि इसका जातिगत और वैचारिक आधार भी वैसा सुसंगत नहीं था जैसा महाराष्ट्र में था। बंगाल में नये सुधारों के पक्षधर और उनके विरोधी, दोनों खेमों में ब्राह्मण और गैरब्राह्मण, कई जातियों के लोग एक साथ शामिल थे, जबकि महाराष्ट्र में चितपावन ब्राह्मण एकमात्र मुख्य शक्ति थे— सुधारकों में भी, उनके विरोधी परम्परानिष्ठों में भी। महाराष्ट्र और बंगाल के बीच इससे भी महत्त्वपूर्ण फ़र्क इस संघर्ष में शामिल तीसरी धारा गैरब्राह्मण आंदोलन की थी। बंगाल के नवजागरण में यह तीसरी धारा बहुत क्षीण रूप में मिलती है जबकि महाराष्ट्र में यह इतने प्रखर रूप में मौजूद थी कि अपने अकेले दम पर इसने सुधारकों और परम्परानिष्ठों, दोनों तरह के ब्राह्मणों से मोर्चा सँभाल रखा था।

महाराष्ट्रीय नवजागरण में संघर्ष के कई मुद्दे ब्रह्म समाज और आर्य समाज जैसे ही थे, लेकिन भागवत धर्म और महाराष्ट्र धर्म, जातिभेद, वर्ण व्यवस्था तथा मराठा राष्ट्रवाद और महाराष्ट्रीय अस्मिता जैसे मुद्दे न तो बंगाल के नवजागरण में थे और न हिंदी प्रदेश में। बंगाल का नवजागरण बंगाल के कुलीन और सम्पत्तिशाली वर्गों से आये धनी मानी लोगों को आंदोलन था जो मुख्यतः कलकत्ता महानगर में ही प्रभावशाली था। बंगाल की संस्कृति और इतिहास में इसकी जड़ें नहीं थीं और न ही स्थानीय इतिहास और संस्कृति इसके विमर्श के ज्वलंत मुद्दे थे। उदाहरण के लिए जब वे सती प्रथा पर बहस करते हैं तो उसकी जड़ें स्थानीय इतिहास में कम सर्वमान्य हिंदूशास्त्रों के वचनों में ज्यादा खोजते हैं। इसके विपरीत महाराष्ट्रीय नवजागरण के सुधारक धनीमानी परिवारों से नहीं बल्कि साधारण मध्यवर्गीय परिवारों से आये शिक्षित लोग थे और उनका नवजागरण सिर्फ बम्बई नगरी तक सीमित नहीं था। महाराष्ट्र का इतिहास और उसकी संस्कृति इस नवजागरण में तीखी बहस के ज्वलंत मुद्दे थे।

देखें : अरविंद घोष, उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन-1, 2 और 3, गवर्धन राम त्रिपाठी और गुजराती अस्मिता, फ़क़ीर मोहन सेनापति और ओडिया अस्मिता, बंगाल का नवजागरण, भारतीय आधुनिकता, भारतीय नवजागरण : तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य, महाराष्ट्र में सुधारणा-1 से 5 तक, मोहनदास कर्मचंद गाँधी-1 से 3 तक, राजा राममोहन राय, युरोपीय पुनर्जागरण, रवींद्रनाथ ठाकुर, बंकिम चंद्र चटर्जी, विवेकानंद।

संदर्भ

1. सुशोभन सरकार (1981), 'नोट्स ऑन द बंगाल रिनेसाँ', *बंगाल रिनेसाँ ऐंड अदर एसेज़*, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.
2. शिवनाथ शास्त्री (2002), *अ हिस्ट्री ऑफ़ द रिनेसाँ इन बंगाल*, रिनेसाँ, कोलकाता.
3. चार्ल्स हिमसेथ (1964), *इण्डियन नैशनलिज़्म ऐंड हिंदू सोशल रिफ़ॉर्म*, प्रिंस्टन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंस्टन.
4. जे.वी.नाइक (1997), 'द प्रार्थना समाज ऐंड इट्स क्रिटीक', *वेस्टर्न इण्डिया : हिस्ट्री, सोसाइटी ऐंड कल्चर*, इतिहास शिक्षक महामण्डल, कोल्हापुर.
5. गं.बा. सरदार (1969), *संत पोएट्स ऑफ़ महाराष्ट्र : दियर इम्पैक्ट ऑन सोसाइटी*, ओरिएंट लांगमन, नयी दिल्ली.
6. गणेश तुलसीराम अष्टेकर (1980), *मराठी संत कवियों की सामाजिक भूमिका*, पंचशील प्रकाशन, जयपुर.

— वीरभारत तलवार

भारत में नागर समाज और ग़ैर-दलीय राजनीति-1

चुनावी राजनीति से परे जन-आंदोलन

(Civil Society and Non-Party Politics in India-1)

नागर समाज या सिविल सोसाइटी राजनीतिक दर्शन की एक स्थापित अवधारणा है। भारतीय संदर्भ में स्थिति यह है कि ग़ैर-दलीय राजनीति के क्षेत्र में होने वाली विभिन्न राजनीतिक पहलों और अभियानों को एक विचार में समेट कर नागर समाज की संज्ञा दे दी गयी है। मीडिया और इंटरनेट में भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन का वर्णन करने के लिए इस शब्द का खास तौर पर प्रयोग किया गया है। वैसे नागर समाज का भाग समझे जाने वाले लोग अभी हाल तक खुद को नागर समाज के रूप में नहीं देखते थे। इसके बजाय उनके लिए एनजीओ, स्वैच्छिक संगठन, ग्रासरूट संगठन, सामाजिक आंदोलन आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता था। लेकिन आज इन्हें नागर समाज के रूप में पहचाना जा रहा है।

औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक भारत में नागर समाज तीन चरणों में विकसित हुआ है : पहला, आज़ादी के आंदोलन के दौरान, दूसरा, जेपी आंदोलन के दौरान और तीसरा, उत्तर-वैश्वीकरण दौर में। जेपी आंदोलन के बाद देश के विभिन्न भागों में तरह-तरह ग़ैर-सरकारी संगठन (एनजीओ) सामने आये। इसके बाद नागर समाज के विचार को सिर्फ़ भलाई का काम करने वाले संगठनों या विश्वविद्यालय जैसे संगठनों तक सीमित रखना बहुत ही मुश्किल हो गया। आजकल नागर समाज शब्द का उपयोग अपने उस शुरुआती स्तर से आगे जा चुका है जो इस शब्द की पश्चिमी अवधारणा के नजदीक था। अपने नये अर्थ में नागर समाज शब्द में वे सारी परिघटनाएँ शामिल हैं, जिन्हें हम ग़ैर-दलीय राजनीतिक संगठन की श्रेणी में शामिल करते हैं। ग़ैर-दलीय राजनीतिक संगठन के विचार पर जोर देने से फ़ायदा यह होता है कि इसके तहत आंदोलनों की राजनीतिक अंतर्वस्तु छिपती नहीं। यह अवधारणा भारत में लोकतांत्रिक व्यवहार के विविध रूपों की जटिलता सामने लाने के लिए आवश्यक है।

नब्बे के दशक की शुरुआत में भारत ने भूमण्डलीकृत दुनिया में प्रवेश किया और विश्व-अर्थव्यवस्था से अपने एकीकरण के लिए नयी आर्थिक नीतियाँ अपनायीं। इसके साथ ही इस अभिव्यक्ति का भी चलन बढ़ा। विदेशी फ़ंडिंग एजेंसियों ने अपने सहयोगियों अर्थात् आर्थिक मदद लेने वाले ग़ैर-सरकारी संगठनों (एनजीओ) को नागर समाज संगठन कहना शुरू किया। असल में एनजीओ को नागर समाज का अंग बता कर ये विदेशी एजेंसियाँ भारतीय एनजीओ के साथ अपने लेन-देन का औचित्य एक हद प्रमाणित कर पायीं। भारत के ग़ैर-सरकारी संगठनों ने भी खुशी-खुशी खुद को नागर समाज का हिस्सा कहलाना स्वीकार किया। इस संदर्भ में एक रोचक बात यह देखी गयी कि राजनीतिक माहौल में बदलाव और एक नये राजनीतिक विमर्श के उभार के साथ पुरानी स्थापित अवधारणा को नये अर्थ मिल सकते हैं और उसका स्थापित अर्थ धुंधला हो सकता है। यहाँ तक कि पहले की तुलना में इसका अर्थ उलट भी सकता है। ऐसा लगता है कि नागर समाज के विचार के साथ भी ऐसा ही कुछ हुआ है।

शीत युद्ध की अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के कारण भी नागर समाज की अवधारणा को पानी मिला। खासतौर पर शीत युद्ध की समाप्ति के समय सोवियत बुद्धिजीवियों और राजनीतिक विरोधियों ने नागर समाज शब्द का विचार अपनाया। सोवियत शासन का विरोध कर रहे लोगों ने जोरदार तरीके से अपना तर्क रखा। भारत सहित पूरी दुनिया में अमेरिकी अकादमिक जगत ने यह दलील जोर-शोर से पेश की। मोटे तौर पर यह तर्क इस प्रकार था : साम्यवादी राज्य का सिर्फ़ लोगों से

सम्पर्क ही नहीं टूटा, बल्कि वह उनका दुश्मन हो गया। इसका कारण यह था कि इस राज्य में सत्ता एक छोटे समूह में ही केंद्रित हो कर रह गयी थी। राज्य लोगों से बहुत दूर चला गया था। वह लोगों से दूर बैठ कर शासन कर रहा था। सिर्फ़ नागर समाज का पुनः उभार ही राज्य को लोगों तक वापस ला सकता है। दूसरी तरफ़, मार्क्सवादी विश्लेषण में नागर समाज को निष्क्रिय, क्रांति-विरोधी और प्रतिगामी परिघटना के तौर पर देखा जाता है। इसके तहत माना जाता है कि यह बूज्वा लोकतंत्र से जुड़ा हुआ है।

सोवियत शासन ने लोगों को बहु-दलीय व्यवस्था और राजनीतिक आज़ादियों से वंचित रखा था। सोवियत शासन के विरोधियों का विश्वास था कि एक बहुदलीय लोकतांत्रिक व्यवस्था के उभार और राजनीतिक आज़ादी हासिल करने के लिए राज्य को नागर समाज के अंतर्गत लाना ज़रूरी है। इस तरह सोवियत राज्य विरोधी विमर्श में नागर समाज शब्द ने एक ख़ास अर्थ हासिल किया। अब इसे राज्य के ख़िलाफ़ राजनीतिक कार्रवाई के रूप में देखा जाने लगा। जल्द ही यह भारत के सामाजिक एक्टिविस्टों और अकादमीशियनों की पसंदीदा अवधारणा बन गया। इनमें से बहुतों ने नियमित रूप से 'समाज' की जगह नागर समाज शब्द का प्रयोग बहुत गहराई से विचार किये बग़ैर करना शुरू कर दिया। कई मौकों पर इस तरह का प्रयोग पूरी तरह से ग़लत था। जब भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन ने लोगों को अच्छी-ख़ासी संख्या में गोलबंद किया, तो फटाफट इस शब्द को इसके साथ जोड़ दिया गया। इसके उस अर्थ को भी जोड़ा गया जिसमें इसे राज्य के ख़िलाफ़ राजनीतिक कार्रवाई के रूप में देखा जाता है। जब नागर समाज एक अभिव्यक्ति के तौर पर भारतीय राजनीतिक परिदृश्य पर आया, उस समय राज्य की प्रतिनिधिमूलक संस्थाओं (चुनावों और राजनीतिक दलों) के बाहर चलने वाली लोकतांत्रिक राजनीति के बारे में गहरा वाद-विवाद चल रहा था। यह बहस लोकायन आंदोलन से जुड़े एक्टिविस्टों और 'पब्लिक इंटेलिक्चुअल्स' द्वारा शुरू की गयी थी। उन्होंने ग़ैर-दलीय राजनीति की अवधारणा तैयार की और इसे लोकप्रिय बनाया। राजनीति के इस क्षेत्र का वर्णन ग़ैर-दलीय राजनीतिक समूह और आंदोलन के रूप में किया गया। ग़ैर-दलीय राजनीतिक समूहों में ऐसे व्यक्तिगत कर्ता (या एक्टर), सामाजिक एक्टिविस्ट, और समूह शामिल थे जिनका उद्देश्य और कार्यक्रम बुनियादी रूप से राजनीतिक था, लेकिन जो दलों और चुनावों की राजनीति से परहेज़ करते थे।

इस राजनीति का विचार जयप्रकाश नारायण द्वारा 1960 के दशक के शुरुआती वर्षों में विकसित किये गये दलविहीन लोकतंत्र से अलग था। इसमें संसदीय लोकतंत्र की जगह प्रत्यक्ष सहभागी लोकतंत्र लाने की बात नहीं कही गयी

थी। लोकायन द्वारा शुरू की बहस का निचोड़ यह था कि संसदीय राजनीति के उस आयाम/क्षेत्र पर प्रकाश डाला जाए, जो लोकतांत्रिक राजनीति की असाधारण दुनिया (फ़ेनोमेनल वर्ल्ड) का प्रतिनिधित्व करता है। लेकिन संस्थाबद्ध राजनीति करने वाले लोगों (दलों से जुड़े राजनीतिकों) ने इस विचार को संदेह की नज़र से देखा। राजनीतिक सिद्धांतकारों के एक तबके को ऐसा लगा कि मानो यह लोकतंत्र के पुरातन विचार का प्रतिनिधित्व करता है। शायद उन्होंने इसे उदारतावादी लोकतंत्र के लिए ख़तरा भी माना। इस बहस ने नागरिकों को याद दिलाया कि लोकतांत्रिक राजनीति सिर्फ़ दलों और चुनावों तक ही सीमित नहीं है और न होनी चाहिए।

मोटे तौर पर, ग़ैर-दलीय राजनीति ने जन-हित में ख़ास मुद्दों को बुलंद करके राजनीतिक व्यवस्था तक पहुँचाया। लोगों की गोलबंदी के जरिये उसने राजनीतिक व्यवस्था को इन मुद्दों पर कार्रवाई करने के लिए मजबूर किया। ग्रासरूट (या ज़मीनी) आंदोलनों के राज्य स्तरीय समर्थक संगठनों की मुख्य गतिविधि यह थी कि वे राज्य के साथ विरोध और सहयोग का एक द्वंद्वत्मक संबंध क्रायम करते थे। ये लोगों के साथ और लोगों की ओर से काम करते थे। इसमें पूरे देश की अर्थव्यवस्था और समाज में हाशिये पर पड़े लोगों के बहुत से समूह शामिल थे।

राजनीतिक दल इन लोगों की ज़रूरतों और अधिकारों की ओर ध्यान नहीं देते थे; यदि कभी-कभार उनका ध्यान चला भी जाता था तो भी इसे चुनावी राजनीति के लिए महत्वपूर्ण नहीं माना जाता था। लोग जिन समस्याओं का सामना कर रहे थे, उनके आधार पर वोट बैंक नहीं बनाया जा सकता था। स्थानीय और ग्रामीण समुदायों के लिए भ्रष्टाचार इतना ज़्यादा बढ़ चुका था कि उसने उनके लिए ज़िंदगी और मौत से जुड़े मुद्दे की शक्ल अख़्तियार कर ली थी।

इस संदर्भ में एमकेएसएस यानी मजदूर किसान संघर्ष समिति के उदाहरण पर विचार किया जा सकता है। इसका गठन अरुणा राय और उनके सहयोगियों ने किया था। इसने राजस्थान में राजनीतिक दलों से उपेक्षित पड़े लोगों के साथ जुड़ कर काम किया और सरकारी अधिकारियों को मजबूर कर दिया कि वे भ्रष्टाचार-मुक्त तरीके से विकास कार्यों का संचालन करें। बाद में इसी ने सरकारी भ्रष्टाचार से लड़ने के साधन के रूप में सूचना के अधिकार की माँग रखी। जल्द ही यह एक बहुत ही व्यापक अभियान बन गया। इस बार भी एमकेएसएस को सफलता मिली। यह राष्ट्रीय स्तर की सफलता थी। दरअसल, लोकायन की ग़ैर-दलीय राजनीतिक समूह की अवधारणा में इसी तरह की प्रक्रियाओं और आंदोलनों की कल्पना की गयी है। इसी तरह का एक और उदाहरण ग़ैर-दलीय समूहों और आंदोलनों का एक नेटवर्क एनयेपीएम (नैशनल अलायंस ऑफ़ पीपल्स मूवमेंट्स) है।

इसका नेतृत्व मेधा पाटकर कर रही हैं। इला बहन भट्ट की संस्था 'सेवा' भी एक अहम आंदोलन है जिसका रूप एनजीओ का न हो कर स्वरोजगारी स्त्रियों के लिए काम करने वाली ट्रेड यूनियन जैसा है। मधु पूर्णिमा किश्वर के नेतृत्व में चलने वाला मानुषी आंदोलन भी इसी श्रेणी में रखा जा सकता है। इसने गरीबों, खास तौर पर रिक्शा चलाने वालों और रेहड़ी-पटरीवालों के आर्थिक अधिकारों के लिए संघर्ष किया है। देश के दूसरे भागों में ज़मीनी स्तर पर इस तरह के बहुत से आंदोलन चल रहे हैं। यहाँ सिर्फ़ कुछ उदाहरणों का ही उल्लेख किया है।

नागर समाज की अभिव्यक्ति के चलन के कारण गैर-दलीय राजनीतिक संगठनों से जुड़ा वाद-विवाद फीका पड़ गया। लेकिन खास बात यह कि एक्टिविस्टों की एक अच्छी-खासी जमात में ज़मीनी स्तर पर 'ग्रासरूट' आंदोलन का विचार 'जन-आंदोलन' के नाम से क्रायम रहा।

देखें : गैर-सरकारी संस्थाएँ, गैर-सरकारी संस्थाएँ : भारत में, गैर-दलीय राजनीति, धीरूभाई शेट, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य, नागर समाज, नागर समाज : भारतीय बहस, पार्थ चटर्जी, मानवाधिकार, भारत में नागरिकता-विमर्श-1 से 3 तक, भारत में मानवाधिकार, भारत में मानवाधिकार आंदोलन, भीखू छोटालाल पारिख, रजनी कोठारी, राजनीतिक समाज, सुदीप्त कविराज।

संदर्भ

1. अनुपमा रॉय, 'सिटीजनशिप', राजीव भार्गव और अशोक आचार्य (सम्पा.) (2008), *पॉलिटिकल थियरी : ऐन इंस्ट्रुक्शन*, पियर्सन-लॉगमेन, नयी दिल्ली.
2. विल किमलिका (1996), *मल्टीकल्चरल सिटीजनशिप : अ लिबरल थियरी ऑफ़ माइनॉरिटी राइट्स*, क्लैरंडन प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.
3. सारा रुडिक (1989), *मैटर्नल थिंकिंग : टुवर्ड्स अ पॉलिटिक्स ऑफ़ पीस*, बीकन प्रेस, बोस्टन.
4. एमी बार्थोलोमियु (1990), 'शुड अ मार्क्सिस्ट बिलीव इन मार्क्स ऑन राइट्स', *सोशलिस्ट रजिस्टर*

एचटीटीपी://सोशलिस्टरजिस्टर.कॉम/फ़ाइल्स/एसआर_1990_बार्थोलोमियु.पीडीएफ़

— धीरूभाई शेट

भारत में नागर समाज और गैर-दलीय राजनीति-2

लोकतंत्र और आधुनिकता का द्वंद्व

(Civil Society and Non-Party Politics in India-2)

राजनीतिक दल 'गैर-दलीय' संगठनों को महत्त्व देने वाले अकादमीशियनों और एक्टिविस्टों से खुश नहीं थे। यहाँ तक कि उन दिनों (1980 के दशक की शुरुआत में) वे यह मानते थे कि इस तरह के आंदोलन और संगठन उनके राजनीतिक महत्त्व को कम करते हैं। वामपंथी दलों, खास तौर पर कम्युनिस्ट पार्टियों ने इसे पूरी तरह नापसंद किया। आरोप लगाया गया कि गैर-दलीय राजनीतिक संगठनों का उदय बूर्जवा वर्ग की रणनीति है जिसके द्वारा वे वामपंथ की क्रांतिकारी राजनीति का विरोध करना चाहते हैं। जो भी हो, कुछ लोग यह मानते थे कि इस तरह के संगठनों के उभार में व्यवस्था के लोकतंत्रीकरण की नयी राजनीति के बीज छिपे हुए हैं। इनके कारण लोगों की राजनीतिक भागीदारी और जागरूकता में काफ़ी बढ़ोतरी हुयी। साथ ही, इसने विविध समूहों की राजनीतिक कार्रवाइयों को भी एक नयी ऊर्जा प्रदान की। इससे पूरे देश में अधिकारों की राजनीति का गहन उभार हुआ। यह एक ऐसी परिघटना थी जिसे बाद में विद्याधर नैपॉल ने 'मिलियन म्युटीनीज़' की संज्ञा दी। यह परिघटना स्थापित सार्वजनिक संस्थाओं से बुनियादी रूप से अलग थी।

पारम्परिक रूप से विश्वविद्यालय, कॉलेज, दान-पुण्य करने वाले, सामाजिक सेवा उपलब्ध कराने वाले और कल्याणकारी समूहों को 'नागर समाज' का हिस्सा माना जाता रहा है। लेकिन गैर-दलीय राजनीतिक संगठन इससे पूरी तरह अलग थे। वामपंथियों को, खास तौर पर कम्युनिस्ट पार्टियों को, उन अकादमीशियनों से कोई दिक्कत नहीं थी जो नागर समाज का अर्थ इन्हीं संगठनों तक सीमित रखते थे। नागर समाज के इस सीमित अर्थ से रैडिकल/क्रांतिकारी राजनीति पर वामपंथ के एकाधिकार को कोई खतरा नहीं था। दरअसल, इन्हें उन्हीं सार्वजनिक बुद्धिजीवियों और अकादमीशियनों से परेशानी थी जो राजनीति के गैर-वर्चस्वी लोकतांत्रिक रैडिकलाइजेशन को मान्यता देते थे (और इनमें से कुछ ने उसका नेतृत्व भी किया)।

सिर्फ़ वाम दलों को ही गैर-दलीय राजनीतिक प्रक्रिया से दिक्कत नहीं थी, दूसरे दल भी इसे बहुत आलोचनात्मक नज़रिये से देखते थे। उनकी दिक्कतों और आलोचनाओं का कारण काफ़ी स्पष्ट था। तक्ररीबन सभी राजनीतिक दलों ने

यह माना कि ग़ैर-दलीय राजनीतिक समूह दलीय-राजनीति द्वारा छोड़ी गयी जगह पर ही अपना क्रब्जा जमायेंगे। ग़ैर-दलीय राजनीतिक समूहों ने राजनीति में नये मुद्दे उठाये। इन्होंने राज्य के सामने स्पष्ट माँगें रखीं और इन माँगों पर राजनीतिक रूप से जोर दिया। सभी प्रक्रियाओं का पालन करते हुए इन्होंने अपनी माँगों को अधिकारों में तब्दील करवाया। राजनीतिक दल संस्थाकृत होने के साथ ही इस तरह के आंदोलन की राजनीति छोड़ चुके थे। जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में चलने वाले आंदोलन से उभरने वाली इस परिघटना के वर्णन और विश्लेषण के लिए कई सैद्धांतिक और अनुभवसिद्ध अनुसंधान किये गये हैं। अस्सी और नब्बे के दशक में इसका विकास और विस्तार ज़मीनी स्तर पर बहुत से छोटे-छोटे आंदोलनों के रूप में हुआ। इन आंदोलनों ने शहरी और ग्रामीण— दोनों ही क्षेत्रों में सामाजिक और आर्थिक रूप से हाशिये पर पड़े समूहों के अधिकारों की राजनीति का मुद्दा उठाया। ज़मीनी स्तर की राजनीति के इस फैलाव ने भारतीय युवाओं को भी राजनीतिक रूप से आकर्षित किया। इसमें विरोध की राजनीति के संदर्भ में तरह-तरह के प्रयोग किये गये। इसमें वैकल्पिक विकास के लिए कार्यक्रम भी तैयार किये गये।

भारतीय विद्वानों, खास तौर पर समाज शास्त्रियों और राजनीति वैज्ञानिकों ने शीत युद्ध खत्म होने के बाद गम्भीरता से इस शब्द का प्रयोग करना शुरू किया। एक तरह से उत्तर-आपातकाल के दौर से ही इसके प्रयोग की शुरुआत हो चुकी थी। समाजशास्त्रियों ने इसका उपयोग भारतीय समाज में लोकतांत्रिक राजनीति के कारण आये बदलाव को समझने के लिए किया। राजनीतिक वैज्ञानिकों ने शायद औपचारिक, संस्थात्मक लोकतंत्र के बारे में ज़्यादा चिंता दिखाने और आंदोलनों की तात्त्विक राजनीति की उपेक्षा करने से पैदा हुए शून्य को भरने के लिए इसका उपयोग किया। दरअसल, इस तरह के आंदोलनों की उपेक्षा के कारण ही राजनीतिक सिद्धांत की राजनीतिक शक्ति या सत्ता संबंधी दृष्टिकोण सिर्फ आधुनिक लोकतांत्रिक राज्य, खास तौर पर इसकी संस्थाओं तक सिमटी रही है। यह ग़ैर-संस्थात्मक रूपों और प्रक्रियाओं को अपने विश्लेषण में शामिल नहीं कर पाया। सत्ता के इन ग़ैर-संस्थात्मक रूपों का उभार ग़ैर-दलीय लोकतांत्रिक राजनीति से हो रहा था, जो (भारतीय) लोकतंत्र के सिद्धांतिकरण के लिए बहुत ही प्रासंगिक था। नतीजा यह हुआ कि राजनीतिक सिद्धांत ने मुख्य तौर से भारत के लोकतांत्रिक राज्य की आधुनिकता पर ध्यान दिया और उसके लोकतांत्रिक चरित्र पर उतनी गहराई से विचार नहीं किया। इससे लोकतांत्रिक सिद्धांत आधुनिकता के सिद्धांत से बुरी तरह उलझ कर रह गया। इस कारण परिप्रेक्ष्य के गहरे नुकसान का सामना करना पड़ा। चुनावों और राजनीतिक दलों

से अलग होकर सामने आने वाली राजनीतिक भागीदारी के विविध रूपों को मान्यता नहीं दी गयी।

इसके कारण भारत में लोकतंत्र और आधुनिकता के बीच एक खास तरह के द्वंद्व की रचना हुई। लोकतांत्रिक सिद्धांत इसकी उपेक्षा नहीं कर सकता है। इसके अलावा, सिद्धांत ने राजनीतिक सत्ता के ग़ैर (या पूर्व) आधुनिक स्रोतों को आसानी से अपने दायरे में स्वीकार नहीं किया है। दरअसल, ग़ैर-दलीय राजनीति भी ग़ैर (पूर्व) लोकतांत्रिक मानी जाती रही है। बहरहाल, तथ्य यह है कि शक्ति/सत्ता के ग़ैर/पूर्व आधुनिक रूपों का समकालीन रूपों में बदलाव हो गया है। लोकतंत्र की संस्थाओं को नियमित रूप से इनका सामना करना होता है। सत्ता की इस पूर्ववर्ती संरचना में लोकतांत्रिक राजनीति के कारण काफ़ी सुधार और बदलाव हुआ है। लेकिन अब भी यह समकालीन अभिजनों की सत्ता के रूप में मौजूद है। असल में, इस अभिजन सत्ता ने भारतीय आधुनिकीकरण के इंजन के तौर पर काम किया है। लेकिन यह भारत के लोकतंत्रीकरण के लिए बहुत बड़ी चुनौती भी है। यह एक ऐसी ज़बरदस्त चुनौती है जिसने ख़तरे का रूप धारण कर लिया है। इसका कारण यह है कि ऐतिहासिक रूप से मौजूद सत्ता की अभिजन संरचना ने भारत के उदारतावादी लोकतंत्र की संस्थात्मक सत्ता का निर्माण किया है। लेकिन विडम्बना यह भी है कि वही अभिजन इसके आधुनिकीकरण का अग्रदूत रहा है।

भारत में नागर समाज की अवधारणा की बौद्धिक वंशावली की एक धारा राजनीतिक दर्शन में देखी जा सकती है। इसके लिए ध्यान देने की आवश्यकता है कि भारतीय विद्वानों ने मार्क्स, हीगेल और ग्राम्शी का अध्ययन किस रूप में किया, उनकी किस तरह व्याख्या की और उनको नये सिरे से कैसे पढ़ा। इसकी एक दूसरी धारा कुछ ब्रिटिश या उत्तर अमेरिकी विचारकों के लेखन में पायी जा सकती है। इन विचारकों ने लोक-उपकार (फिलेंशॉपी), कल्याण, शिक्षा-स्वास्थ्य और आगे चल कर विकास के क्षेत्र में भी सार्वजनिक संगठनों और संस्थाओं के नागरिक कार्यों की भूमिका पर प्रकाश डाला। इस परिघटना ने भारतीय विद्वानों का ध्यान खींचा। खास तौर पर, 1980 के दशक के आखिर में समाजशास्त्री और राजनीतिक वैज्ञानिक इस ओर आकर्षित हुए। उन्होंने कमोबेश माना कि भारत के सार्वजनिक जीवन के आधुनिक-सेकुलर क्षेत्र में नागर समाज का अस्तित्व है। इस रूप में इसके उभार का सूत्र औपनिवेशिक आधुनिकता में ढूँढ़ा जा सकता है।

औपनिवेशिक शासन को सरकार, खास तौर पर इसके प्रशासनिक संयंत्र को, लोगों से जोड़ने की ज़रूरत महसूस हुई। ऐसे में उसने शासक और शासित के बीच कई मध्यवर्ती संगठनों और संस्थाओं की रचना की। इसका एजेंडा यह था

कि इस विचार को चर्चा में लाया जाए। इसके द्वारा यह प्रांतों में सामाजिक, आर्थिक और कल्याणकारी गतिविधियों की पहल का समर्थन करना चाहता था। वह चाहता था कि इस पूरी प्रक्रिया द्वारा भारतीय जनता के बीच (आधुनिक) औपनिवेशिक शासन के लिए एक सीमा तक राजनीतिक समर्थन कायम रहे। इसमें शिक्षा, स्वास्थ्य और कल्याण के क्षेत्र में कई सहकारी समितियों, सार्वजनिक ट्रस्टों और स्वैच्छिक सामाजिक संगठनों का निर्माण भी शामिल था। स्थानीय प्रशासन के क्षेत्र में जिला विकास बोर्ड जैसे बहुत से जिला स्तरीय संगठनों का निर्माण किया गया। औपनिवेशिक प्रशासन ने इन क्षेत्रों के 'जाने-माने' और 'सम्मानित' लोगों को इसका सदस्य बनाया। यहाँ हम उन्नीसवीं सदी और बीसवीं सदी के भारत की बात कर रहे हैं। इस दौर में औपनिवेशिक शासन ने अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार किया और पारम्परिक सामाजिक अभिजनों से मिलकर इन नीतियों पर अमल किया। इससे 'कोलोनियल पब्लिक' के बारे में जागरूकता बढ़ी। समाज सुधारकों के एजेंडे में भी मध्यवर्ती निकायों के निर्माण और उसमें भागीदारी की बात शामिल थी। मसलन, गुजरात में नर्मदाशंकर दवे (नर्मद) एक प्रभावशाली समाज-सुधारक थे। इन्होंने आधुनिक गुजराती साहित्य का संस्थापक भी माना जाता है। इन्होंने मण्डली बनवाना फ़ायदा (संगठन बनाने के फ़ायदे) शीर्षक से एक छोटा और रोचक निबंध लिखा था। इसमें उन्होंने संगठन बनाने के बहुत से लाभों पर प्रकाश डाला था। इस तरह, जहाँ औपनिवेशिक राज्य ने संगठन बनाने को नीतिगत क्रम के रूप में अपनाया, वहीं समाज सुधारकों ने भी विभिन्न क्षेत्रों में संगठनों को बढ़ावा दिया।

मुख्य बात यह है कि नागर समाज और राज्य का संबंध समझने के लिए औपनिवेशिक आधुनिकता बहुत ही महत्वपूर्ण है। अब ऐसा नहीं हो सकता है कि कोई नागर समाज की बात करे और राज्य का उल्लेख न करे। नागर समाज ने तुलनात्मक रूप से स्वायत्त होकर और लोगों के आम हित में काम किया। लेकिन फिर भी यह राज्य की उपछाया की तरह सामने आया। समाज-वैज्ञानिकों ने इसे आधुनिक राज्य के दायरे के भीतर अवस्थित किया। उन्होंने इस पर विशिष्ट रूप से सेकुलर संदर्भ में विचार करना शुरू किया। यह माना गया कि जाति और धार्मिक संगठन इसके दायरे से बाहर स्थित हैं। इसलिए इसे सार्वजनिक संगठनों की अर्ध-राजनीतिक (पैरा-पॉलिटिकल) संरचना के रूप में देखा गया, जो राज्य से जुड़ी हुई थी। संक्षेप में, वे यह मानते थे कि नागर समाज प्राथमिक रूप से भारत के सामाजिक और राजनीतिक जीवन के आधुनिक क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करता है। इस रूप में यह लोकतंत्र का एक आयाम बना।

आधुनिकता और लोकतंत्र के सिद्धांत एक-दूसरे से

नज़दीकी रूप से जुड़े हुए हैं। इस सीमा तक कि एक में होने वाला बदलाव दूसरे को भी प्रभावित करता है, अर्थात् लोकतंत्र का दायरा आधुनिकता से पूरी तरह मिलता-जुलता लगता है। आज की दुनिया में पॉलिटिकल पब्लिक की क्रिस्मों में जबरदस्त बढ़ोतरी हुई है। खास तौर पर द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के लोकतंत्रों में ऐसा हुआ है। इन लोकतंत्रों में नागर समाज राज्य के मुकाबले आ गया है। इसका राज्य के साथ टकराव और सहयोग का एक गत्यात्मक संबंध है। नागर समाज के मंथन में दीर्घकालिक आधुनिकतावादी प्रोजेक्ट की पड़ताल की जा रही है। इस प्रोजेक्ट का लक्ष्य एक ऐसे लोकतांत्रिक शासन की स्थापना करना था, जिसके नागरिक अपने अतीत की पहचानों से कटे हों। नागर समाज की राजनीति के कारण राज्य-समाज संबंधों के बारे में एक सरल, 'ब्लैक ऐंड व्हाइट' नज़रिया बनाना भी मुश्किल है। अर्थात् एक ऐसा दृष्टिकोण नहीं अपनाया जा सकता जिसमें नागर समाज का अस्तित्व केवल राज्य द्वारा बनाये गये सेकुलर स्पेस में ही कल्पित किया जाए। मानो नागरिक से परे कोई दूसरा समाज ही न होता हो।

देखें : गैर-सरकारी संस्थाएँ, गैर-सरकारी संस्थाएँ : भारत में, गैर-दलीय राजनीति, धीरूभाई शेट, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य, नागर समाज, नागर समाज : भारतीय बहस, पार्थ चटर्जी, मानवाधिकार, भारत में नागरिकता-विमर्श-1 से 3 तक, भारत में मानवाधिकार, भारत में मानवाधिकार आंदोलन, भीखू छोटालाल पारिख, रजनी कोठारी, राजनीतिक समाज, सुदीप्त कविराज।

संदर्भ

1. अनुपमा रॉय (2008), 'सिटीज़नशिप', राजीव भार्गव और अशोक आचार्य (सम्पा.), *पॉलिटिकल थियरी : ऐन इंट्रोडक्शन*, पियर्सन-लॉंगमैन, नयी दिल्ली
2. विल किमलिका (1996), *मल्टीकल्चरल सिटीज़नशिप : अ लिबरल थियरी ऑफ़ माइनॉरिटी राइट्स*, क्लैरेंडन प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.
3. सारा रुडिक (1989), *मैटर्नल थिंकिंग : टुवर्ड्स अ पॉलिटिक्स ऑफ़ पीस*, बीकन प्रेस, बोस्टन.
4. एमी बार्थोलोमियु (1990), 'शुड अ मार्क्सिस्ट बिलीव इन मार्क्स ऑन राइट्स', *सोशलिस्ट रजिस्टर एचटीटीपी://सोशलिस्टरजिस्टर.कॉम/फाइल्स/एसआर_1990_बार्थोलोमियु.पीडीएफ़*

— धीरूभाई शेट

भारत में नागर समाज और गैर-दलीय राजनीति-3

वैकल्पिक राजनीति की सम्भावनाएँ

(Civil Society and Non-Party Politics in India-3)

कोई भी लोकतांत्रिक राज्य अपने संगठनों और संस्थाओं तक सीमित नहीं रह सकता है। इसे एक नागर समाज की जरूरत होती है, ताकि ऐसी राजनीतिक कार्रवाई, जो अमूमन गैरक्रान्तीय और हिंसक हो सकती है, उसे लोकतांत्रिक विरोध और संवाद की रूपरेखा में लाया जाए। यही कारण है कि औपनिवेशिक समय से ही राज्य को विरोध और सहयोग के ऐसे संगठित रूपों की तलाश रही है जिनकी बिना पर वह ऐसी गैर क्रान्तीय राजनीतिक कार्रवाइयों का सामना कर सके। राज्य ने ऐसे संगठित रूपों को बढ़ावा भी दिया है। इसने विकासात्मक योजनाएँ लागू करने में गैर-सरकारी और स्वैच्छिक संगठनों की भूमिका को मान्यता दी है। उसने योजना प्रक्रिया में उनके सुझावों का महत्व भी स्वीकार किया है। दरअसल, सोनिया गाँधी के नेतृत्व में बनी राष्ट्रीय सलाहकार परिषद् (नैशनल एडवाइजरी कमिटी) इसी प्रक्रिया का नतीजा है। राजनीति में बाजार की व्यापक मौजूदगी के कारण एक नया शब्द यानी 'पब्लिक-प्राइवेट पार्टनरशिप' (सार्वजनिक-निजी सहयोग) भी प्रचलन में आया है। यह भी सच है कि जहाँ राज्य पहुँचने में समर्थ नहीं है, वहाँ नागर समाज एक भूमिका निभा रहा है। और जहाँ दोनों ही मौजूद नहीं हैं, वहाँ नक्सलियों का दबदबा है। हम देख सकते हैं कि जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व वाले आपातकाल विरोधी आंदोलन के बाद नागर समाज की भूमिका में बहुत ज्यादा बदलाव हुआ है। अधिकांश समकालीन प्रगतिशील क्रान्ती की शुरुआत नागर समाज से हुई और फिर सरकार ने उसे आगे बढ़ाया। सूचना का अधिकार, शिक्षा का अधिकार आदि जैसे क्रान्ती से यह बात स्पष्ट रूप से सामने आती है।

इस हकीकत से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि जातिगत और धार्मिक संगठनों ने अपने सदस्यों के लिए बहुत से सेकुलर काम किये हैं। शिक्षा, स्वास्थ्य और सामान्य कल्याण के क्षेत्र में काफ़ी काम किया गया है। ये संगठन इस तरह की गतिविधियों के दौरान राजनीतिक प्रभावों से अछूते नहीं रहे। उन्होंने कभी भी अपनी गतिविधियों को कर्मकाण्डीय संविधियों और अपने सदस्यों की पवित्र भूमिकाओं तक ही सीमित नहीं किया। इस बात को याद रखने की जरूरत है कि आधुनिकता से पहले के जमानों में

भी सामाजिक और धार्मिक केंद्रों (मंदिरों) में सामाजिक और राजनीतिक कार्य किये जाते थे। जाहिर है कि नागरिक स्पेसों (सिविल स्पेस) की अवधारणा तैयार करने और नागर समाज की सीमा रेखा तय करने का काम अभी बाकी है।

अब एक ज्यादा तात्कालिक सवाल पर ध्यान देने की आवश्यकता है। आज हम भारत में जो ज़बरदस्त राजनीतिक ऊर्जा देख रहे हैं उसका प्राथमिक स्रोत क्या है : लोकतंत्र या आधुनिकता? यदि हम सैद्धांतिक और फ़ेनोमेनोलॉजिकल रूप से लोकतंत्र को आधुनिकता से अलग करना चाहते हैं, तो इस महत्वपूर्ण सवाल का जवाब देना ज़रूरी है। इससे हमें नागर समाज को तथाकथित विशिष्ट और निष्क्रिय मध्य वर्ग (अभिजन) के प्रभाव और नेटवर्क की राजनीति के बजाय वर्तमान में जारी अर्ध-संस्थात्मक लोकतांत्रिक राजनीति में अवस्थित करने में भी मदद मिलेगी। नागर समाज की राजनीति किसी भूमिगत दल की राजनीति नहीं है। यह 'फ़ेवर बैंक' की औपचारिक (गैर-संस्थात्मक) राजनीति भी नहीं है। 'फ़ेवर बैंक' में किसी व्यक्ति द्वारा अनाधिकारिक आर्थिक उद्देश्य पूरा करने के लिए अपनी आधिकारिक शक्ति के प्रयोग के दौरान दिये गये या लिये गये 'फ़ेवर' (या अनुचित मदद) के आधार पर लोगों के एकाउंट रखे जाते हैं। लेकिन यह शब्द अनौपचारिक अभिजन राजनीति का वर्णन करने के लिए बहुत ही उपयोगी है, जहाँ नौकरशाह, राजनीतिज्ञ और बिज़नेसमैन अंदरूनी तौर पर एक-दूसरे की मदद (फ़ेवर) करते हैं। इससे इन सबको फ़ायदा होता है। इस तरह की 'म्युचुअल फ़ेवर सोसाइटी' (पारस्परिक मददकारी समाज) में वास्तविक अर्थों में नागरिक सार्वजनिक पहचान नहीं होती। इसे किसी भी अर्थ में नागर समाज नहीं माना जा सकता।

नागर समाज तो एक तीसरे तरह की राजनीति है। यह वोट-बैंक राजनीति और 'फ़ेवर बैंक' राजनीति के बीच स्थान बनाता है और उसका विस्तार करता है। हमें सत्ता के गलियारे में होने वाले आंतरिक षड्यंत्रों और सौदेबाज़ियों के लिए कोई दूसरा नाम खोजना होगा। निश्चित रूप से (काम होने के लिए या काम होने की उम्मीद में) बड़े-बड़े 'तोहफ़ों' के आदान-प्रदान का यह नेटवर्क जब बहुत गहरा और व्यापक हो जाता है, तो यह 'पब्लिक' (या लोगों) की नज़र में आ जाता है। ऐसे में, इसे इसके वास्तविक रूप यानी 'क्रोनी कैपिटलिज़्म' के रूप में देखा जाता है। दूसरे संदर्भ में हमने यह देखा है कि नौकरशाह, बड़े बिज़नेसमैन और राजनीतिक नेता आर्थिक और दलीय फ़ायदे के लिए समाजवाद के झण्डे के तले एक हो गये थे। लेकिन फिर भी इसे 'क्रोनी सोशललिज़्म' का लक्रब नहीं दिया गया।

दरअसल, यह नागर समाज को समझने का एक तरीका है, जो मुख्य रूप से अकादमीय और विचारधारात्मक विमर्श में सामने आया है। इसकी वास्तविक राजनीति एक

अलग कहानी है— यह विकासशील, खुला और बहुआयामी है। आंशिक रूप से यह कहानी हाशिये पर पड़े लोगों द्वारा गरिमामय ज़िंदगी के अधिकार के लिए किये जाने वाले संघर्ष और आंदोलनों से जुड़ी है। इस प्रक्रिया में यह राज्य की संस्थात्मक संरचना का लोकतंत्रीकरण करती है। संविधान लोकतांत्रिक राजनीति के इस आयाम को मान्यता देता है। लेकिन यह सिर्फ सामान्य अर्थ में ही ऐसा करता है, अर्थात् यह इसे व्यक्तियों और समूहों के राजनीतिक अधिकारों के रूप में ही मान्यता देता है। कई बार राज्य द्वारा नागरिकों के अधिकारों का अतिक्रमण किया जाता है या फिर कार्यपालिका की शक्तिशाली संस्थाओं या संसद द्वारा इसकी उपेक्षा की जाती है (आपातकाल के दौरान हमने इसी स्थिति का सामना किया है)। कई मर्तबा ग़ैर-राज्य सत्ता-केंद्रों द्वारा भी नियमित रूप से समाज में साधारण नागरिकों के अधिकारों की उपेक्षा हो सकती है। नागरिकों के इन अधिकारों की हिफाजत के लिए नियमित रूप से काम करने वाले आंदोलनों को अब भी क्रान्ती और राजनीतिक रूप से अपनी राजनीतिक वैधता स्थापित करनी है। संविधान में तकनीकी रूप से दिये गये अधिकारों को वास्तव में हासिल करने के लिए बहुत से दूसरे संवैधानिक तौर-तरीकों और प्रावधानों की आवश्यकता है। लेकिन अभी तक इन्हें तात्त्विक रूप से हासिल नहीं किया जा सका है। इन्हें नागर समाज की मुख्यधारा की राजनीति में शामिल करने की सम्भावना नहीं है। ग़ैर-दलीय राजनीति के आंदोलनों में यह सम्भावना निहित है।

आज लोकतंत्र के युग में भी विरोध की राजनीति को पुराने औपनिवेशिक क्रान्तियों द्वारा नियंत्रित किया जाता है। ये औपनिवेशिक क्रान्तियों मोटे तौर पर भारतीय दण्ड संहिता में निहित हैं। इसमें किसी सभा को ग़ैरक्रान्ती घोषित करने वाले क्रान्तियों भी शामिल हैं। दरअसल, संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि ग़ैर-दलीय समूहों और लोकतंत्रों ने भारतीय लोकतंत्र को गहनता और गतिशीलता प्रदान की है। राजनीति को राजनीतिक और सैद्धांतिक वाद-विवादों के केंद्र में लाने की ज़रूरत है। ऐसा होने पर ही नागर समाज की अवधारणा को सही तरह से समझा जा सकता है। फ़िलहाल तो इसकी स्थिति अमीबा जैसी आकारहीन है। उम्मीद की जा सकती है कि ऐसा होने पर यह सिद्धांत को ग़ैर-दलीय राजनीति की दुनिया से जोड़ेगा। अभी तक इस पहलू पर बहुत ही कम ध्यान दिया गया है।

बुनियादी सवाल यह है कि शासितों को किस तरह गवर्नेंस में ज़्यादा-से-ज़्यादा प्रतिनिधित्व मिल सकता है और शासन तक उनकी आवाज़ प्रभावकारी तरीके से पहुँच सकती है। प्रतिनिधित्व की अवधारणा पर ज़्यादा गहराई से सैद्धांतिक और दार्शनिक विचार करने की आवश्यकता है। अब चुनावी राजनीति लोकतंत्र की बुनियादी विशेषता बन चुकी है। चुनाव

वैधता का सबसे मुख्य स्रोत है। ऐसे में, चुने गये राजनीतिक नेता 'ग़ैर-दलीय' सार्वजनिक नेताओं द्वारा निभायी जाने वाली भूमिका को न तो समझ रहे हैं और न ही वे उसे मान्यता देना चाहते हैं। वे यह नहीं समझ पा रहे हैं कि यह एक अलग तरह की किंतु महत्वपूर्ण रूप से लोकतांत्रिक राजनीति है जिसके जरिये राजनीति में लोगों को बेहतर प्रतिनिधित्व मिलता है। दरअसल, चुनाव में भागीदारी के बिना उभरे नेताओं द्वारा प्रतिनिधित्व के दावे के संबंध में राजनीतिक दलों के बीच एक संदेह और डर बैठा हुआ है। शायद इसी कारण दलों से जुड़े और मीडिया में सक्रिय कुछ नेताओं ने अण्णा हज़ारे के आंदोलन को भारतीय लोकतांत्रिक व्यवस्था के लिए खतरा क्रार दिया है।

इसलिए हमारे पास ऐसे विद्वान और राजनीतिक टीकाकार हैं जो अब भी पारम्परिक पश्चिमी अर्थ में नागर समाज शब्द का उपयोग करते हैं। वे यह पसंद नहीं करते कि इस अवधारणा का विस्तार करते हुए इसमें प्रतिरोध के आंदोलन भी शामिल किये जाएँ। दरअसल, यह बुनियादी रूप से राजनीति के प्रति उनका डर है। जब विरोध के आंदोलन सीधी कार्रवाई का रूप धारण कर लेते हैं तो यह डर एक गहरे आतंक में तब्दील हो जाता है। इसका सामना करने के लिए हमारे पास कोई बना-बनाया जरिया नहीं है। हमारे चिंतन में भी इस बारे में पर्याप्त (सैद्धांतिक) स्पष्टता नहीं है कि उस स्थिति में क्या हो सकता है जब लोकतांत्रिक रूप से (चुनावी राजनीति द्वारा) और संविधान द्वारा राजनीतिक सत्ता पाने वाले लोग कार्यपालिका के नाम पर 'ग़ैरक्रान्ती' तरीके से काम करने लगें। ऐसा हो सकता है कि वे व्यवस्थित रूप से सरकार की शक्तियों पर अपना एकाधिकार जमाते जाएँ। यह स्थिति तब और ज़्यादा बुरी हो जाती है जब इस सत्ता का प्रयोग एक ऐसे परिवार या वंश द्वारा किया जाता है, जिसका सरकार बनाने वाले दल में प्रभुत्व होता है या जो सरकार बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। इसलिए सिद्धांतकारों और लोकतांत्रिक राजनीति का व्यवहार करने वाले लोगों की सबसे पहली प्राथमिकता यह होनी चाहिए वे संस्थाओं की गिरावट रोकें। मुद्दा यह है कि इस तरह की स्थिति में लोगों के पास किस तरह के राजनीतिक साधन मौजूद हैं। दरअसल, इसी संदर्भ में सीधी राजनीतिक कार्रवाई का विचार प्रासंगिक हो जाता है। इस पर गम्भीर सैद्धांतिक विचार करने की ज़रूरत है। ग़ैर-चुनावी सत्ता कई मर्तबा ग़ैर-लोकतांत्रिक पाँपुलिस्ट (लोकलुभावनवादी) रूप में सामने आ सकती है। कुल मिलाकर व्यावहारिक चुनौती यह है कि किस तरह इसे लोकतांत्रिक अंतर्वस्तु से जोड़ा जाए। इसलिए यह बहुत ही ज़रूरी है कि लोकतांत्रिक राजनीति के व्यवहार के नये रूप और साधन तैयार किये जाएँ। इसके सिद्धांतों और कार्यों की (विविध सामाजिक-सांस्कृतिक और ऐतिहासिक संदर्भों में) तुलनात्मक सैद्धांतिक समझ विकसित करना भी ज़रूरी है।

संस्थाओं का क्षरण रोकने के लिए कम-से-कम यह तो करना जरूरी है ही। इससे दीर्घकालिक रूप से प्रतिनिधित्व और भागीदारी के एक व्यापक और वैकल्पिक तरीके का विकास किया जा सकता है।

देखें : गैर-सरकारी संस्थाएँ, गैर-सरकारी संस्थाएँ : भारत में, गैर-दलीय राजनीति, धीरूभाई शेट, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य, नागर समाज, नागर समाज : भारतीय बहस, पार्थ चटर्जी, मानवाधिकार, भारत में नागरिकता-विमर्श-1 से 3 तक, भारत में मानवाधिकार, भारत में मानवाधिकार आंदोलन, भीखू छोटालाल पारिख, रजनी कोठारी, राजनीतिक समाज, सुदीप्त कविराज।

संदर्भ

1. अनुपमा रॉय (2008), 'सिटीजनशिप', राजीव भार्गव और अशोक आचार्य (सम्पा.), *पॉलिटिकल थियरी : ऐन इंटीरोडक्शन*, पियर्सन-लॉगमेन, नयी दिल्ली.
2. विल किमलिका (1996), *मल्टीकल्चरल सिटीजनशिप : अ लिबरल थियरी ऑफ़ माइनॉरिटी राइट्स*, क्लैरंडन प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.
3. सारा रुडिक (1989), *मैटर्नल थिंकिंग : टुवर्ड्स अ पॉलिटिक्स ऑफ़ पीस*, बीकन प्रेस, बोस्टन.
4. एमी बार्थोलोमियु (1990), 'शुड अ मार्क्सिस्ट बिलीव इन मार्क्स ऑन राइट्स', *सोशललिस्ट रजिस्टर* एचटीटीपी://सोशललिस्टरजिस्टर.कॉम/फाइल्स/एसआर_1990_बार्थोलोमियु.पीडीएफ़

— धीरूभाई शेट

भारत में नागरिकता-विमर्श-1

संवैधानिक संकल्पना पर बहस

(Citizenship Discourse in India-1)

भारत के संविधान की प्रस्तावना 'हम भारत के लोग' से शुरू होती है। इसी प्रस्तावना में 'नागरिक समुदाय' की संकल्पना है। एक ऐसा नागरिक समुदाय जो खुद को सम्बोधित कर रहा है। 'हम भारत के लोग' वे हैं जो खुद भारत का संविधान अपना रहे हैं। इस 'नागरिक समुदाय' की मौजूदगी न तो संविधान से अलग है, न ही संवैधानिक प्रभावों से स्वतंत्र। देखा जाए तो संविधान ही इस 'नागरिक समुदाय' की संकल्पना का उत्पादन भी कर रहा है। औपचारिक रूप से 'भारत का संविधान' और 'नागरिक समुदाय' का जन्म एक साथ ही हुआ था। इसी संविधान में आदर्श भारतीय नागरिक

की संकल्पना भी निहित है। संविधान में एक तरफ़ व्यक्तिवादी अधिकार पर आधारित नागरिकता का समर्थन किया गया है, वहीं दूसरी तरफ़ व्यक्ति की सामूहिक पहचान और भारतीय सांस्कृतिक विविधता बनाये रखने की कोशिश। राजनीतिक विचारधारा के मुद्दे पर भी उदारतावादी अधिकारों के दृष्टिकोण का सामंजस्य सामाजिक और आर्थिक अधिकारों के साथ बनाने की कोशिश की गयी है। भारतीय राजनीति का अध्ययन करने वाले कई लेखकों ने भारतीय नागरिकता की संवैधानिक संकल्पना का विश्लेषण किया है। इन सभी ने संविधान और नागरिकता के व्यावहारिक पहलू पर कम ध्यान दिया है। इनकी कोशिश नागरिकता संबंधी प्रावधान व नागरिकता की मानकीय नीति बेहतर करने की है। इनमें नागरिकता की हैसियत के बारे में चर्चा तो है, लेकिन नागरिकता संबंधी रोज़मर्रा के आचरण की नहीं। सवाल यह है कि अगर हम नागरिकता को एक हैसियत न मानकर, एक गतिविधि मानें तो आचरण के रूप में नागरिकता के बारे में हम क्या जानते हैं? खुद नागरिक नागरिकता की संकल्पना को अपने व्यवहार में किस तरह शामिल करते हैं?

भारतीय संविधान भारत के राज्य-क्षेत्र के भीतर रहने वाले लोगों को दो श्रेणियों में बाँटा है : पहला, नागरिक और दूसरा, गैर-नागरिक या बाहरी। नागरिकता की हैसियत और उसके कारण प्राप्त अधिकारों के आधार पर ही इन दोनों श्रेणियों में अंतर किया जाता है। गैर-नागरिकों को दो और श्रेणियों में बाँटा गया है : पहली श्रेणी में वे गैर-नागरिक आते हैं जिनका हमारे प्रति दोस्ताना रवैया है, और दूसरी श्रेणी में वे गैर-नागरिक हैं जो दोस्ताना रवैया नहीं रखते या दुश्मनी रखते हैं। अगर हम अपना मापदण्ड बदल कर नागरिक व्यवहार देखें, तो दो नयी श्रेणियाँ बन सकती हैं। आजकल हम देखते हैं कि कई नागरिकों पर राजद्रोह का आरोप लगा है। इसका मतलब है कि हमारे देश में नागरिकों की भी दो श्रेणियाँ हैं : दोस्ताना नागरिक और राजद्रोही नागरिक। देश के भीतर रहने वाले लोगों को इस तरह विभिन्न श्रेणियों में बाँटना कोई मानसिक प्रयोग नहीं है। विडम्बना यह है कि राज्य इन्हें देशद्रोही समझता है, लेकिन ये खुद ऐसा मानते हैं कि इनकी गतिविधियाँ संवैधानिक विचारों के अनुकूल हैं। अगर संविधान पर इनकी आस्था न होती, तो ये शायद ऐसी गतिविधियों में संलग्न नहीं होते। आज के भारत के कई ऐसे लोग हैं जो बड़े सामाजिक दायरे के लिए 'निष्ठावान नागरिक' हैं लेकिन राज्य की नज़र में 'देशद्रोही' भी! ऐसे में क्या 'उचित नागरिक आचरण' की परिभाषा पर राज्य और नागरिकों की सोच में कोई टकराव दिखता है?

भारत में नागरिकता संबंधी अध्ययन तीन मुख्य प्रकारों से किया गया है। पहला— भारतीय संविधान और भारतीय

नागरिकता का सैद्धांतिक आधार और उसका मूलभूत ढाँचा समझने की कोशिश। दूसरा— कुछ लेखकों ने दर्शाया है कि भारतीय नागरिकता जिन आदर्शों को औपचारिक रूप से अपनाती है, वे आदर्श वास्तविकता में लोगों को प्राप्त नहीं हैं। तीसरा— लेखकों ने नागरिकता के मुद्दे पर संवैधानिक, सैद्धांतिक और राजनीतिक टकरावों को उजागर किया है।

भारतीय संविधान पर राजीव भार्गव ने अपने लेख 'आउटलाइन ऑफ़ अ पॉलिटिकल थियरी ऑफ़ कॉन्स्टीट्यूशन' में भारतीय संविधान सभा की प्रमुख उपलब्धियों पर प्रकाश डाला है। उनका मानना है कि नागरिकता पर जिस प्रकार के प्रावधान अपनाये गये, वे अपने आप में एक उपलब्धि हैं। गहरी सामाजिक असमानताओं के बावजूद, संविधान में नागरिक संबंधी प्रावधान, समानता और न्यायपूर्णता के आधार पर बने थे। भार्गव के अनुसार ऐसा इसलिए हो पाया क्योंकि भारतीय संविधान उदारवादी दृष्टिकोण से काफ़ी प्रेरित था। संविधान में व्यक्ति और समुदाय दोनों के प्रति संवेदनशीलता थी। वे लिखते हैं, 'संविधान पर उदार व्यक्तिवादी विचारों का प्रभाव साफ़ है। यह व्यक्ति को सिर्फ़ समूह क्षेत्र के भीतर ही नहीं, सामूहिक गठन से परे भी समझता है।'

भार्गव के मुताबिक 'दूसरी उपलब्धि यह है कि संविधान इन उदार व्यक्तिवादी सिद्धांतों का पुनर्निर्माण भी करता है। व्यक्तिगत नागरिक अधिकारों के मूल्य को सामुदायिक संदर्भ में समझा गया है।' भार्गव का मानना है कि संविधान सभा की चर्चाएँ नागरिकता को समझने का बहुत बड़ा व ज़रूरी संसाधन हैं। ये चर्चाएँ छह दशक पुराना इतिहास ही नहीं बल्कि आज का इतिहास समझने में भी मदद करती हैं। मेरे विचार से नागरिकता का इतिहास समझने के लिए सिर्फ़ संविधान के प्रावधान और संविधान सभा की चर्चाएँ पर्याप्त नहीं हैं। नागरिक समुदाय नागरिकता को कैसे समझता है : यह हमें इन चर्चाओं या प्रावधानों में नहीं मिलेगा। केवल सरकारी दस्तावेजों से नागरिकता को समझना इस अवधारणा को संकुचित करता है। अपनी किताब की प्रस्तावना के 'संविधान सभा की बहस का अध्ययन ज़रूरी क्यों है?' शीर्षक वाले भाग में भार्गव अपने चुने हुए तरीके का औचित्य समझाते हैं। वे लिखते हैं कि 'मुझे नहीं लगता कि हमारी धारणाएँ, मूल्य, आदर्श इतनी गहराई से बदल गये हैं कि हम संविधान सभा की दुनिया से पूरी तरह जुदा हो चुके हैं। संविधान का इतिहास काफ़ी हद तक हमारे वर्तमान का इतिहास है।'

कई लेखकों ने संविधान की इस एकीकृत और गैर-जटिल समझ का विरोध किया है। उनका तर्क है कि संविधान सभा में कई मूल्यों पर गहरे टकराव थे। न तो संविधान किसी

सरलता से हासिल 'आम सहमति' पर आधारित है, न ही संविधान सैद्धांतिक रूप से एकीकृत है। इस 'आम सहमति' के पीछे कुछ ख़ास समूहों की इच्छाएँ हैं जो अपने आपको 'आम सहमति' के रूप में प्रदर्शित करते हैं। जैसे-जैसे सामूहिक पहचान की राजनीति ने जोर पकड़ा वैसे-वैसे संविधान की इस एकीकृत और सार्वभौमिक संकल्पना का चरित्र उजागर होता गया। यदि हम नागरिकता को पल भर के लिए सिर्फ़ उसके मानकीय स्वरूप में देखें तब भी उसके तनावग्रस्त चरित्र को अनदेखा करना मुश्किल है।

आदित्य निगम ने अपने लेख 'अ टेक्स्ट विदाउट ऑथर' में संविधान के इस एकीकृत आंतरिक तर्क और एकात्मक संरचना की समझ को चुनौती दी है, 'मैं कहूँगा कि संविधान सभा की चर्चाओं को अगर एक सरसरी निगाह से भी देखा जाए तो किसी एक दृष्टिकोण की प्रभुता नहीं दिखती। कोई एक प्रबल आवाज़ नहीं मिलती।' उनका मानना है कि 'संविधान सभा में बैठे लोगों को हम विरक्त नहीं आसक्त मानें। इसलिए संविधान बनाने की प्रक्रिया को समझने के लिए हमें संविधान-सभा के सदस्यों की आत्म-समझ पहचाननी होगी। उनके तर्कों में उनके भविष्य की संकल्पना जुड़ी हुई थी। उन्होंने जिस सैद्धांतिक मार्ग का चुनाव किया वह उनके पद, शक्ति, निहित-स्वार्थ, स्वायत्तता से परे नहीं था।' निगम यहाँ जिस आत्म-समझ की बात कर रहे हैं, उसे हम सिर्फ़ संविधान-सभा की बहसे ही नहीं बल्कि नागरिकता को समझने के लिए भी इस्तेमाल कर सकते हैं।

संविधान-सभा के टकरावों के बारे में वेलैरियन रॉड्रिगज़ ने भी लिखा है। उन्होंने अपने अनुसंधान में संविधान सभा में हुए वाद-विवाद के उद्धरण दिये हैं। उनके लेखन से यह साबित होता है कि ये चर्चाएँ काफ़ी विवादपूर्ण थीं। इस बहस को देखने से यह भी पता चलता है कि नागरिकता के प्रावधानों में अंदरूनी टकराव क्यों है? रॉड्रिगज़ लिखते हैं कि 'सभा में बहुत कम सैद्धांतिक एकता थी। लोगों के बीच विचारों का काफ़ी टकराव रहा। इस कारण नागरिकता संबंधी प्रावधान बहुत बार लिखे गये।' यह सच है कि अंततः ये प्रावधान पारित कर दिये गये, लेकिन इसका यह मतलब बिल्कुल नहीं है कि इन पर लोगों में आम राय थी। इन प्रावधानों में बाद में कुछ ख़ास परिवर्तन भी किये गये हैं। इन बदलावों पर कुछ लेखकों का ध्यान भी गया है। सरसरी निगाह से देखने में ऐसा लग सकता है कि ये परिवर्तन लोकतांत्रिक दिशा में हैं, परंतु गहरी समीक्षा से यह कहानी बदल जाती है। इनमें से कई बदलाव नागरिकों की सुविधा के लिए नहीं बल्कि सत्तावादी चिंताओं के कारण हुए हैं। *सिविल सोसाइटी, पब्लिक स्पिचर और सिटीज़नशिप* नाम की किताब में वेलैरियन रॉड्रिगज़ और बी.एस. चिमनी ने

नागरिकता संबंधी प्रावधानों में आये बदलावों पर खास ध्यान दिया है। रॉड्रिगज़ का तर्क है कि संविधान सभा की संकल्पना बाद में किये गये बदलावों से कहीं ज्यादा लोकतांत्रिक थी। वे लिखते हैं नागरिकता की संवैधानिक संकल्पना अपेक्षाकृत समावेशी थी लेकिन अब वह लगातार जातीय होती जा रही है। नागरिकता प्राप्त करने में भारतीय माता-पिता का होना अनिवार्य सा होता जा रहा है। भारत सरकार इस बदलाव का औचित्य समझाने के लिए अन्य देशों की नीतियों की तरफ इशारा करती है, जबकि खुद भारतीय संविधान में अपनायी नीतियों को दरकिनार करती है। इसी किताब में बी.एस. चिमनी ने अपने निबंध में प्रवासी मजदूर शरणार्थियों के प्रति भारतीय राज्य के रवैये के बारे में लिखा है। राज्य के इस रवैये के पीछे भारतीय राज्य की सीमाओं को बनाये रखने की चुनौती और नागरिकों में पैदा होते विरोध के स्वर हैं। इन दोनों कारणों से भारतीय राज्य का बर्ताव मनमाना हो गया है। कई प्रवासी गुटों के बीच भारतीय राज्य अपने हित में मनमाने ढंग से बर्ताव करने लगा है।

देखें : गैर-सरकारी संस्थाएँ, गैर-सरकारी संस्थाएँ : भारत में, गैर-दलीय राजनीति, धीरूभाई शेठ, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य, नागर समाज, नागर समाज : भारतीय बहस, पार्थ चटर्जी, मानवाधिकार, भारत में नागर समाज और गैर-दलीय राजनीति-1 से 3 तक, भारत में मानवाधिकार, भारत में मानवाधिकार आंदोलन, भीखू छोटालाल पारिख, रजनी कोठारी, राजनीतिक समाज, सुदीप्त कविराज।

संदर्भ

1. आदित्य निगम (2008), 'अ टेक्स्ट विदाउट ऑथर : लोकेटिंग द कांस्टीट्यूएंट असेम्बली एज इवेंट', राजीव भार्गव (सम्पा.), *पॉलिटिक्स एंड एथिक्स ऑफ कांस्टीट्यूशन*, ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
2. राजीव भार्गव (सम्पा.)(2008), *पॉलिटिक्स एंड एथिक्स ऑफ कांस्टीट्यूशन*, ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
3. बी.एस. चिमनी (2005), 'आउट साइड द बाउंड्स ऑफ सिटीजनशिप', हेल्मेट रीफ्रील्ड और राजीव भार्गव (सम्पा.), *सिविल सोसाइटी, पब्लिक स्फियर एंड सिटीजनशिप*, सेज पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली.
4. वेलेरियन रॉड्रिग्स (2008), 'सिटीजनशिप एंड द कांस्टीट्यूशन', राजीव भार्गव (सम्पा.), *पॉलिटिक्स एंड एथिक्स ऑफ कांस्टीट्यूशन*, ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
5. *भारत का संविधान* (2008), द्विभाषी संस्करण, चौथा संस्करण, सेंट्रल लॉ पब्लिकेशंस, इलाहाबाद
6. शिवानी किंकर चौबे (1972), *कांस्टीट्यूएंट असेम्बली ऑफ इण्डिया : स्प्रिंगबोर्ड ऑफ अ रैवोल्यूशन*, मनोहर पब्लिशर्स, दिल्ली.

— अंकिता पांडेय

भारत में नागरिकता-विमर्श-2

आचरण के रूप में नागरिकता

(Citizenship Discourse in India-2)

वैलेरियन रॉड्रिगज़ और बी.एस. चिमनी द्वारा उठाये गये मुद्दों को अनुपमा रॉय ने एक नयी दृष्टि से परखा है। उनकी किताब *मैपिंग सिटीजनशिप* में नागरिकता प्रावधानों में आये बदलावों के फ़ैसले, और प्रवासी मजदूर की स्थिति पर गौर किया गया है। वे यह नहीं मानती कि नागरिकता संबंधी प्रावधान लगातार सत्तावादी ही होते जा रहे हैं। उनका मानना है कि 'राज्य की नीतियाँ प्रगतिशील / लोकतांत्रिक होने से लेकर हानिकारक / बाधित होने के बीच झूलती रहती हैं। लोकतांत्रिक विकल्पों को खोलने के साथ ही उन्हें बंद करने का काम भी हो रहा है। इस प्रकार नागरिकता की संकल्पना में एक विरोधाभास है, जो एक तरफ़ इस गतिशील संकल्पना की स्वतंत्रता ज़ाहिर करता है, वहीं दूसरी तरफ़ नागरिकता पर सत्तावादी प्रथाओं (जो सामाजिक और आर्थिक संदर्भ से निकली हैं) को जीवंत भी रखता है।' अनुपमा रॉय की किताब से यह तो साबित हो जाता है कि राज्य की नीतियाँ नागरिकों की रोज़मर्रा की गतिविधियों से प्रभावित हैं, हालाँकि इस किताब में इस आम व्यवहार पर नहीं बल्कि राज्य की बदलती नीतियों का नागरिकता पर असर देखने की कोशिश की गयी है।

इन सभी वृत्तान्तों से हम यह तो कह सकते हैं कि रोज़मर्रा का नागरिक व्यवहार नागरिकता के मानक को प्रभावित करता है पर इन प्रावधानों में कौन से बदलाव किस राजनीतिक पल में लाये जा रहे हैं, इसका कारण भी कभी-कभी रोज़मर्रा के नागरिक व्यवहारों में छुपा होता है। जैसे, जब भारतीय संविधान में नागरिकता की परिकल्पना की गयी, तो मौलिक कर्तव्यों को उसका हिस्सा नहीं बनाया गया। लेकिन 1970 के दशक में संविधान में इन कर्तव्यों की सूची को जोड़ा गया। ज़ाहिर है कि यह बदलाव खुद-ब-खुद नहीं हो सकता था। नागरिकता के सिद्धांत राजनीतिक और सामाजिक दबावों की वजह से बदले जाते हैं। निश्चित तौर पर इस तरह के बदलावों में नागरिक व्यवहार का दबाव प्रमुख भूमिका निभाता है। लेकिन अभी तक इन व्यवहारों का पर्याप्त अध्ययन नहीं हुआ है।

नागरिकता पर लिखे गये साहित्य, निबंधों व पुस्तकों की समीक्षा करने पर हम पाते हैं कि ये सभी नागरिक की पहचान का पुनः संयोजन करते आये हैं। लेकिन 'नागरिक-पहचान' से 'आचरण के रूप में नागरिकता' तक का सफ़र इनमें नहीं मिलता। ये नागरिक-व्यवहार की तरफ़ संकेत तो

करते हैं लेकिन नागरिक-व्यवहार का अध्ययन नहीं करते। ऐसा अध्ययन करने से हम जान पायेंगे कि नागरिकता की संकल्पना पर राज्य और नागरिकों के बीच क्या टकराव है? राज्य और उसके नागरिकों के विरोधों के मुद्दों पर उज्ज्वल सिंह ने अपनी किताब *पॉलिटिकल प्रिंजिपल्स इन इण्डिया* में दिखाया है कि जहाँ राज्य कुछ कार्यकर्ताओं को आम अपराधी के रूप में समझता है, वहीं ये कार्यकर्ता स्वयं को 'राजनीतिक कैदी' की संज्ञा देते हैं। सिंह के अनुसार भारतीय राज्य में भी औपनिवेशिक राज्य की तरह राजनीतिक रूप से सक्रिय कार्यकर्ताओं को आम अपराधी समझने की प्रवृत्ति बनी रही है। राज्य का प्रयास हमेशा यह रहा है कि अपने सैद्धांतिक विरोधी को अपराधी करार दे दिया जाए। इन 'राजनीतिक कैदियों' की ये माँग रही है कि जेल में इन्हें बाकी सामान्य अपराधियों से अलग सुविधाएँ, लाभ और रियायतें मिलनी चाहिए। इस किताब से नागरिकों की आत्म-समझ जानने की कोशिश को प्रोत्साहन मिलता है। सिंह लिखते हैं 'आपराधिक कैदी से जुदा, राजनीतिक कैदी की धारणा भारतीय राष्ट्रवादी धारा की देन है। राष्ट्रवादी समझ में राजनीतिक कैदी होना आम अपराधी से अलग दर्जा था।' इन कैदियों के दावे से यह दिखता है कि आधिकारिक / राजकीय समझ से नागरिकों की समझ अलग है। स्वतंत्रता के बाद दो महत्वपूर्ण क्षणों पर ये हुआ, एक 1940 का तेलंगाना आंदोलन और दूसरा 1960-70 का भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी-लेनिनवादी) का आंदोलन। इन दोनों ही क्षणों में कई कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं को जेल भेजा गया था और इन पार्टियों ने माँग की थी कि इन्हें साधारण कैदियों की तरह न रखा जाए। उनकी घोषणा थी कि 'कार्यकर्ताओं को अपराधी नहीं बल्कि नागरिक का दर्जा मिलना चाहिए। उन्हें रहने की सभ्य जगह, खाना-पीना, चिकित्सा सुविधाएँ और परिवारों को भत्ता मुहैया कराया जाना चाहिए।'

इस किताब के अंत में सिंह लिखते हैं कि आज राजनीतिक कैदी होना कोई रणनीति नहीं बल्कि विरोध का परिणाम बन चुका है। 'जेल भरो' या गिरफ्तारी देने की पहले जैसी नैतिक वैधता नहीं रह गयी है। अगर हम राजनीतिक कैदियों के इन दावों को नागरिक आचरण और नागरिकता की आत्म-समझ का हिस्सा मानें तो देखना पड़ेगा कि समकालीन भारत में किन गतिविधियों ने इन दावों की जगह ले ली है?

'नागरिक-आचरण' के एथनोग्राफिक अध्ययन की भी कुछ लेखकों ने पहल की है। ये सभी लेखक किसी एक सैद्धांतिक गुट का हिस्सा नहीं हैं लेकिन इनकी पद्धति पहले गुट के लेखकों से अलग है। भारतीय संविधान पर हुई अकादमिक चर्चा में उषेन्द्र बख्शी का योगदान ऐसी ही एक पहल है। अपने निबंध 'आउट लाइन ऑफ़ अ थियरी ऑफ़ प्रैक्टिस ऑफ़ इण्डियन कॉन्स्टिट्यूशनलिज़्म' में बख्शी ने एथनोग्राफिक पद्धति अपनाने की ज़ोरदार सिफ़ारिश की है।

इनका तर्क है कि नागरिक-आचरण की शक्ति और उसकी प्रथाओं को भारत में उचित महत्त्व नहीं दिया गया है। एक तरफ़ यूरोप और अमेरिका में मई, 1968 की घटनाओं और विधनताम युद्ध विरोधी आंदोलनों को राजनैतिक व सैद्धांतिक चिंतन में समाहित कर लिया गया है। लेकिन ऐसी 'निर्णायक घटनाओं' ने भारतीय संवैधानिक अध्ययन के तरीकों पर कोई छाप नहीं छोड़ी है। बख्शी के अनुसार संविधान समझने की प्रक्रिया में उन लोगों की रोज़मर्रा की गतिविधियों का अध्ययन करने की ज़रूरत है जो संविधान या क़ानून से जुड़े व्यवसायों में हैं। यह लेख नागरिक-आचरण के बारे में कई महत्वपूर्ण सवाल उठाता है। मसलन, 'विभिन्न नागरिक संविधान के प्रावधानों को किस प्रकार समझते हैं? हमें नागरिकों के व्यवहार की कितनी समझ है? क्या हम इस अध्ययन में विद्रोही या राजद्रोही गतिविधियाँ शामिल कर सकते हैं? संवैधानिक मूल्यों और उनके रोज़मर्रा के अनुभवों में क्या कोई टकराव है? क्या हम राजनीतिक चिंतन में संविधान की प्रभावशाली प्रथाओं और संविधान से उपजी हाशिये की प्रथाओं की बात कर सकते हैं।' इसी निबंध में बख्शी ने यह भी कहा है कि भारत में गणतांत्रिक नागरिकता पूरी तरह से ध्वस्त हो चुकी है। भारतीय नागरिक जब भी सरकारी तंत्र से मुख़ातिब होते हैं तो उन्हें ग़ैर-नागरिक सा व्यवहार मिलता है। हिंसात्मक भारतीय राज्य ने लोगों से नागरिकता छीन ली है।

क्या बख्शी की तरह भारतीय नागरिकता को पूरी तरह से क्षीण समझा जाना चाहिए? यदि हम ऐसे नागरिकों की गतिविधियाँ देखेंगे जो राजनीतिक या सामाजिक रूप से सक्रिय हैं, तो हम नागरिक-आचरण के नये आयाम पायेंगे। परंतु जब तक व्यापक तरीके से नागरिक-आचरण का अध्ययन न हो तब तक नागरिकता की विफलता या सफलता का फ़ैसला असामयिक है। इस असहमति के बावजूद बख्शी का यह लेख हमें 'हैसियत के रूप में नागरिकता' से हट कर 'आचरण के रूप में नागरिकता' की तरफ़ पहल करने की प्रेरणा देता है। ऐसी पहल जो हमें नागरिकों के साथ हो रहे भेदभाव के अलावा उनके रोज़मर्रा के अनुभवों के बारे में भी हमें बताये। ऐसी पहल से हमें शायद नागरिकता के प्रावधानों में संशोधन के कारण भी बेहतर समझ में आयें।

हैसियत के रूप में नागरिकता के आधार पर चिंतन करने वाले विद्वानों की कुछ ऐसी मान्यताएँ हैं जिन पर 'आचरण के रूप में नागरिकता' के परिप्रेक्ष्य से सवाल उठाये जा सकते हैं। उदाहरण के तौर पर पहले क्रिस्म के विद्वान राज्य को एकीकृत इकाई मान कर चलते हैं। लेकिन, अगर नागरिकों के आचरण को देखा जाए तो यह साफ़ हो जाएगा कि अपने रोज़मर्रा के जीवन में आम लोग राज्य को स्थानीय

आईने में देखते हैं। उनके लिए राज्य की संस्था सेना हो सकती है या पुलिस स्टेशन, नगर निगम या पोस्ट ऑफिस। इससे पता चलता है कि राज्य एकीकृत नहीं खण्डित इकाई का नाम है। राज्य और नागरिक संबंधों के बारे में प्रचलित दो आम धारणाओं को खारिज किया जा सकता है। पहली धारणा तो यह है कि नागरिक की आत्म-समझ पूरी तरह से राज्य की नीतियों द्वारा निर्धारित होती है, और दूसरा नागरिक और राज्य दो पृथक इकाइयाँ हैं, जिनमें परस्पर विरोधाभास है। नागरिक-आचरणों को देखने से पता चल सकता है कि नागरिकों की आत्म-समझ किस हद तक राज्य-निर्धारित है और कितनी नहीं, राज्य का निर्धारण कितना प्रबल है और ऐसे कौन से क्षण हैं जो इस निर्धारण से छूट जाते हैं।

इसी दिशा में एक पहल पार्थ चटर्जी की है। उनका मानना है कि सार्वभौम नागरिकता एवं लोकप्रिय सम्प्रभुता जैसे विचारों का भले ही दुनिया भर में बोलबाला रहा हो, लेकिन उत्तर-औपनिवेशिक दुनिया में इन विचारों का उपयोग कम है। उदारतावादी, समुदायवादी, बहुसांस्कृतिक या नागरिक गणतंत्रवाद— हर अवधारणा में 'सार्वभौम नागरिकता' और 'लोकप्रिय सम्प्रभुता' को प्रमुख माना जाता है। इन सभी अवधारणाओं का यह भी मानना है कि राज्य के प्रभावी ढंग से काम कर पाने के लिए एक नागर समाज की उपस्थिति भी जरूरी है। यह नागर समाज संवैधानिक दायरे में रहते हुए स्वतंत्र रूप से काम करता है। चटर्जी ऐसा मानते हैं कि नागर समाज के बाहर भी ऐसी नागरिक गतिविधियाँ हैं जो लोकतंत्र को समझने में सहायक हैं।

देखें : गैर-सरकारी संस्थाएँ, गैर-सरकारी संस्थाएँ : भारत में, गैर-दलीय राजनीति, धीरूभाई शेट, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य, नागर समाज, नागर समाज : भारतीय बहस, पार्थ चटर्जी, मानवाधिकार, भारत में नागर समाज और गैर-दलीय राजनीति-1 से 3 तक, भारत में मानवाधिकार, भारत में मानवाधिकार आंदोलन, भीखू छोटालाल पारिख, रजनी कोठारी, राजनीतिक समाज, सुदीप्त कविराज।

संदर्भ

1. अनुपमा रॉय (2010), *मैपिंग सिटीजनशिप*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
2. उज्ज्वल कुमार सिंह (1998), *पॉलिटिकल प्रिजनर्स इन इण्डिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
3. उपेन्द्र बख्शी (2008), 'आउटलाइन ऑफ़ अ थियरी ऑफ़ प्रैक्टिस ऑफ़ कांस्टीट्यूशनलिज़म', राजीव भार्गव (सम्पा.), *पॉलिटिक्स ऐंड एथिक्स ऑफ़ कांस्टीट्यूशन*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
4. ग्रैनविले ऑस्टिन (1999), *द कांस्टीट्यूशन : कॉर्नर स्टोन ऑफ़ अ नेशन*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
5. पार्थ चटर्जी (2004), *पॉलिटिक्स ऑफ़ गवर्नर्स : रिफ्लेक्शंस आन पॉलिटिक्स इन मोस्ट ऑफ़ द वर्ल्ड*, परमानेंट ब्लैक, नयी दिल्ली.

— अंकिता पांडेय

भारत में नागरिकता-विमर्श-3

विद्रोही नागरिकता

(Citizenship Discourse in India-3)

राजनीतिक नागरिक गतिविधि का एक और क्षेत्र है जिसे पार्थ चटर्जी पॉलिटिकल सोसाइटी या राजनीतिक समाज की संज्ञा देते हैं। इस समाज के गठन के पीछे दो कारण हैं— कल्याणकारी कार्यों पर सरकारी जोर और चुनावी गोलबंदी का बढ़ता दायरा। चटर्जी अनधिकृत बस्तियों और अवैध प्रवासियों का उदाहरण देते हुए लिखते हैं कि नागर समाज के विपरीत राजनीतिक समाज के अपने अलग आंतरिक तर्क हैं। इनकी गतिविधियाँ ऐसी हैं कि हम इन्हें नागर समाज की श्रेणी में शामिल नहीं कर सकते हैं। नागर समाज में नागरिक हैं तो राजनीतिक समाज में सिर्फ़ जनसंख्या। राजनीतिक समाज हमें नागरिकता के उन पहलुओं से अवगत कराता है जो कि नागरिकों के आचरण के अध्ययन से ही सम्भव है।

ऐसा ही एक प्रयास अखिल गुप्ता के शोध में दिखता है। इनका तर्क है कि इन्हीं गतिविधियों और नागरिक व्यवहारों से 'समाज' और 'राज्य' की अवधारणा निर्मित होती है। गुप्ता उदाहरण स्वरूप भ्रष्टाचार के खिलाफ़ नागरिक रोष और कार्यवाही को दर्ज करते हैं। इन मुद्दों पर सक्रियता के जरिये ही नागरिक अपने लिए एकीकृत राज्य की कल्पना करते हैं। गुप्ता लिखते हैं 'समाज, समुदाय और राज्य की प्रकृति समझने के लिए भ्रष्टाचार के मामलों और उस पर हो रहे विमर्श को समझना महत्वपूर्ण है। यह विमर्श दोहरी भूमिका निभाता है। जहाँ एक तरफ़ यह प्रतीकात्मक रूप से राज्य का निर्माण करता है, वहीं दूसरी तरफ़ खुद को नागरिक के रूप में परिभाषित भी करता है।'

अपनी किताब *इनसरजेंट सिटीजनशिप* में मानवशास्त्री जेम्स होलस्टन ने एक खास तरीके की विद्रोही नागरिकता के बारे में लिखा है। इस किताब में इन्होंने शहरी गरीब तबके की गतिविधियाँ दर्ज की हैं। इनके अनुसार, इस विद्रोही नागरिकता के कारण ब्राजील की नागरिकता पहले से ज्यादा समतावादी हो गयी है। घरों का निर्माण और भूमिहीनों की लड़ाई इन गतिविधियों का हिस्सा है। नागर समाज में रहते हुए ऐसी गतिविधियाँ नामुमकिन हैं, शायद इसीलिए विद्रोही नागरिकता का तरीका अपनाया गया है। अपने नागरिकता अध्ययन में होलस्टन को एक स्थापित और दूसरी उभरती नागरिकता दिखती है। 'आज दुनिया भर में उभरते लोकतांत्रिक नागरिक आचरण के मामलों को देखते हुए लोकतांत्रिक सिद्धांतों का पुनः संयोजन जरूरी हो चुका है।'

उनका तर्क है कि ये सभी विद्रोही नागरिकताएँ सार्वभौम नागरिकता की प्रतिक्रियाएँ हैं। सार्वभौम नागरिकता अपनी सदस्यता में तो समान अधिकार देती है, लेकिन वितरणमूलक नीतियों में नहीं। होलस्टन के सूत्रीकरण से यह पता चलता है कि नागरिक-आचरण का अस्तित्व है और नागरिकता के अध्ययन के लिए जरूरी भी है। नागरिक-आचरण और नागरिकों की आत्म-छवि राजनीतिशास्त्र में समाहित की जानी चाहिए। अक्सर नागरिक विद्रोह को सविनय अवज्ञा के माध्यम से समझा जाता है। मतलब किसी कथित अन्यायपूर्ण कानून का विरोध, जो होशमंद और सार्वजनिक तरीके से व्यक्त किया गया हो। ऐसे लोग कानून तोड़ने का दावा करते हैं और सजा के लिए तैयार रहते हैं। जिन गतिविधियों/विद्रोह की बात इस निबंध में की जा रही है, वह सविनय अवज्ञा की श्रेणी से पूरी तरह अलग है। यहाँ कानून तोड़ने का दावा नहीं, उलटा राज्य/सरकार की नीतियों को अपने नजरिये से देखने का सवाल है।

इस बात पर भी आम राय नहीं है कि भारत में हुए सविनय अवज्ञा के प्रयोगों से नागरिक विद्रोह की चेतना को बल मिला या वो पहले से ज्यादा क्षीण हो गयी है। जहाँ एक तरफ़ भीखू पारिख जैसे लेखकों ने 'सविनय अवज्ञा' को एक ऐसी गतिविधि माना जिसमें कई प्रगतिशाली सम्भावनाएँ हैं। अपनी किताब *कोलोनीयलिज़म, ट्रेडिशन एंड रिफॉर्म* में उन्होंने लिखा है कि सविनय अवज्ञा तीन बेहतरीन स्तम्भों पर टिकी हुई है। मानव जाति की एकता, साधनों और ध्येय की बराबरी, और मानव-स्वभाव के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण। इन तीन मानकों ने नागरिकों को विद्रोह का एक नया तरीका सुझाया था। दूसरी तरफ़ पार्थ चटर्जी जैसे लेखक मानते हैं कि इस सिद्धांत के पीछे एक रणनीति छुपी हुई है। इस तरीके से महज विरोधों का प्रबंधन हो सकता था, उनका हल नहीं निकाला जा सकता था। अपनी किताब *नैशनलिस्ट थॉट इन द कोलोनीयल वर्ल्ड* में उनका तर्क है कि सविनय अवज्ञा किसानों को वर्ग संघर्ष के लिए तैयार करने के बजाय विरोधाभास से बचने की एक तकनीक बन गयी थी। इस तकनीक से राष्ट्रीय संघर्ष वर्ग संघर्ष में परिवर्तित नहीं हो पाया। यह अलग बात है कि गाँधीवादी संघर्ष की यात्रा गाँधी के साथ खत्म नहीं हुई। समकालीन भारत में नागरिक स्वतंत्रताओं और लोकतांत्रिक अधिकारों के लिए काम कर रही संस्थाएँ गाँधीवादी संघर्ष के तरीके अपनाती हैं लेकिन वे खुद सविनय अवज्ञा की श्रेणी का इस्तेमाल नहीं करतीं।

भारतीय राजनीति में सरकारी नीति, संवैधानिक सिद्धांतों ने जिस आचरणमूलक नागरिकता की उपेक्षा करनी चाही है, उसकी आत्म-छवि का टकराव आज राज्य से होता दिखाई देता है। आज भारत में संवैधानिक आचरणमूलक नागरिकता अपने लिए संकट पैदा करती दिखती है। भारत में

इस प्रकार आचरणमूलक नागरिकता दो समूहों में सामने आती है। एक प्रगतिशील समूह में सामाजिक कार्यकर्ता, वामपंथी कार्यकर्ता और मानवाधिकार कार्यकर्ता इत्यादि हैं। दूसरी तरफ़ इसका एक रूढ़िवादी हिस्सा भी है जिसमें अभिजन और कई दक्षिणपंथी कार्यकर्ता हैं जिनकी निष्ठा कभी राज्य के प्रति तो कभी राष्ट्र के प्रति रहती है। अक्सर इन नागरिकों की गतिविधियाँ एक आदर्श नागरिक व्यवहार से मेल नहीं खातीं। लेकिन इन कार्यकर्ताओं को ऐसा लगता है कि ये संवैधानिक दृष्टिकोण पर अमल कर रहे हैं। अलगाववादियों के विपरीत इनकी आस्था देश के संविधान के प्रति है। इनमें से कई पूर्ण रूप से सामाजिक या राजनीतिक कार्यकर्ता भी नहीं हैं। इन्होंने अपने आचरणमूलक नागरिक व्यवहार को अपनी पेशेवर जिम्मेदारियों के साथ जोड़ लिया है। इनकी सक्रिय नागरिकता की संकल्पना इनकी अपनी है।

आचरणमूलक नागरिकता का ऐसा रूप (जिसे गैर-दोस्ताना/विद्रोही समझा गया) कपिल प्रसाद भट्टाचार्य ने पेश किया था। आशिस नंदी ने अपनी किताब *द रोमांस ऑफ़ द स्टेट* में इस कहानी के बारे में लिखा है। उनके हिसाब से कपिल प्रसाद भारत के पहले आधुनिक पर्यावरणविद् थे। इस विद्रोही नागरिक की कहानी 1960 के दामोदर घाटी बाँध परियोजना की आलोचना से शुरू हुई। नंदी लिखते हैं, '1950-60 के माहौल में कपिल प्रसाद भट्टाचार्य दामोदर घाटी की कड़ी निंदा कर रहे थे। वे विशाल बाँधों की सबसे पहली, व्यवस्थित, तकनीकी एवं सामाजिक आलोचना करने वाले पहले नागरिक थे।' जैसा कि अनुमान लगाया जा सकता है भट्टाचार्य के लिखे आलोचनात्मक लेख की वजह से उन्हें देश का दुश्मन करार दे दिया गया। 1961 में आनंद बाज़ार पत्रिका में प्रकाशित एक ख़बर के ज़रिये नंदी ने कपिल प्रसाद के प्रति राज्य का रवैया दर्शाया है। पत्रिका में यह ख़बर छपी कि 'केंद्र सरकार को ऐसे हानिकारक प्रचार की जानकारी मिली है जिसमें पश्चिम बंगाल के फरक्का बाँध को बदनाम किया जा रहा है। राज्य सरकार को निर्देश दिये गये हैं कि इस आंदोलन के प्रमुख नेता का पता लगाये। यह भी पता चला है कि पाकिस्तान इस मौक़े का फ़ायदा उठाकर भारत के खिलाफ़ अंतर्राष्ट्रीय प्रचार में लग गया है।' यहाँ हम देखते हैं कि भट्टाचार्य के असंतोष या विद्रोह को देश के दुश्मन का सहयोग माना जा रहा है। यह विद्रोह उचित नागरिक-व्यवहार नहीं समझा जा सकता। भट्टाचार्य ने बीस साल तक पर्यावरण संबंधी सामाजिक कार्य करने के बाद अपने जीवन के अंतिम वर्ष मानवाधिकार से संबंधित कार्यों में बिता दिये। 68 साल की उम्र में उन्होंने मानवाधिकार पर काम कर रही संस्था एसोसियेशन फ़ॉर प्रोटेक्शन ऑफ़ डेमोक्रेटिक राइट्स की सभापति की कुर्सी सँभाली।

नागरिकों के इन व्यवहारों को हम किस प्रकार परिभाषित करें? क्या ये घटनाएँ नागरिकता-अध्ययन से परे हैं? जैसा कि इस निबंध की शुरुआत में लिखा गया है कि, आचरणमूलक नागरिकता नागरिकता की सीमा, विषय-वस्तु या गहराई से संबंधित सवाल नहीं हैं। यह हैसियत के रूप में नागरिकता की श्रेणी में समाहित हो ही नहीं सकती। यह आचरण राज्य को भले ही देशद्रोह लगे लेकिन नागरिकों को संवैधानिक लगता है। नंदी अपने लेख में भी इस बात की पुष्टि करते हैं। वे लिखते हैं कि 'उनकी सिर्फ इतनी इच्छा थी कि जल प्रबंधन वैकल्पिक तरीकों से हो। देखा जाए तो भट्टाचार्य के लक्ष्य और भारत की औपचारिक विकास नीति के घोषित लक्ष्यों में कुछ खास फ़र्क नहीं था।'

कई साल बाद एक अलग संदर्भ में यही क्रम अपने आपको दोहराता नज़र आता है। डॉ. बिनायक सेन अपने आपको सिर्फ नागरिक ही नहीं नागरिक कार्यकर्ता के रूप में देखते हैं। वे या तो नीतियों में बदलाव की माँग करते हैं या घोषित नीतियों को बेहतर तरीके से लागू करवाना चाहते हैं। उन पर राजद्रोह का आरोप है। उनको न ही अलगवावादी कहा जा सकता है और न ही क़ानून के हाशिये पर रहने वाले 'राजनीतिक समाज' में इनकी गिनती हो सकती है। शोमा चौधरी ने अपने लेख में डॉ. बिनायक सेन की कही हुई बात का, जो उन्होंने न्यायालय से जेल जाते समय कही थी, बयान करते हुए लिखा है, 'अगर ये मुझ जैसे लोगों को गिरफ़्तार करेंगे तो मानवाधिकार पर काम करने वालों की कोई सुनवाई नहीं रह जाएगी... यहाँ की शिकायतें वास्तविक हैं। इस प्रांत में एक अकाल आया हुआ है, यहाँ का शरीर-द्रव्यमान 18.5 से कम है, देश का 40 फ़ीसदी हिस्सा कुपोषण के साथ जी रहा है। अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजातियों में ये संख्या 50-60 फ़ीसदी तक पहुँच जाती है। हमें और ज़्यादा समावेशी विकास के लिए प्रयास करना चाहिए। आप लोगों को दो श्रेणियों में नहीं बाँट सकते। सभी को क़ानूनी सहायता और चिकित्सीय देखभाल का अधिकार है। यह संविधान में लिखा है, यही व्यक्ति के मानवाधिकारों का आधार है।'

यदि कोई यह न जानता हो कि ये डॉ. बिनायक सेन के शब्द हैं— जिन पर देशद्रोह के अलावा आपराधिक षड्यंत्र का आरोप है— तो उसे ये लगेगा कि ये बातें नागरिकता की राजकीय संकल्पना की भावनाओं से संचारित हैं। इनमें हमें संविधान के प्रति आदर और संस्थाओं के प्रति आस्था नज़र आती है। इनमें अधिकारों की जुबान और समानता के प्रति संजीदगी दिखती है। इसमें समावेशी विकास और नागरिक सक्रियता से सरकारी परियोजना को लागू करने के प्रति आशा दिखाई देती है। लेकिन नागरिक के प्रतिमान में यह क्या असंगति है? क्या यह इसलिए उत्पन्न हो रही है क्योंकि नागरिक अपनी इस पहचान को कुछ ज़्यादा ही संजीदगी से

समझ रहा है? नागरिकता का मानकीय प्रतिमान अपने ही अधिकार, समानता और सक्रियता की उपज को चुनौती समझने लगा है। इस तरह का नागरिक प्रतिमान खुद के द्वारा उत्पन्न की जाने वाली आत्म-चेतना को समायोजित नहीं कर पा रहा है।

नागरिकता-अध्ययन के इस संकट से हमें नागरिकता को समझने का एक अलग साधन मिलता है। लेखक और सामाजिक कार्यकर्ता अरुंधती रॉय एक ऐसी ही नागरिक हैं। उन पर आरोप है कि वे अपने राज्य विरोधी, राष्ट्र विरोधी लेखों व भाषणों से लोगों के बीच राज्य के प्रति अनासक्ति या नफ़रत का प्रचार कर रही हैं। अपने कई साक्षात्कारों में उन्होंने संविधान के प्रति उत्साह दिखाया है। वे नर्मदा बचाओ आंदोलन में एक ऐसे गुट का हिस्सा थीं जिसने विवाद का समाधान पाने के लिए न्यायपालिका का रास्ता चुना था। 2010 में कथित तौर पर जम्मू-कश्मीर मुद्दे पर एक भाषण के कारण दिल्ली पुलिस ने उन पर राजद्रोह का आरोप लगाया है। अपनी प्रतिक्रिया में रॉय ने कहा, 'शायद भारतीय सरकार को जवाहरलाल नेहरू पर मरणोपरांत देशद्रोह का आरोप लगाना चाहिए। मैंने कश्मीर मुद्दे पर ऐसा कुछ नहीं कहा जो उन्होंने पहले नहीं कहा है।'

आज भारतीय राजनीतिशास्त्र के अध्ययन में अनधिकृत बस्तियाँ, रास्ते, अवैध प्रवासी, शरणार्थी, दिहाड़ी मज़दूर, भूमिहीन सभी के लिए सैद्धांतिक गुंजाइश है। पार्थ चटर्जी के नागर समाज की अवधारणा के जरिये लोकतांत्रिक राजनीति के इन उपेक्षित पहलुओं पर संजीदगी से चर्चा की जा रही है। लेकिन इस विद्रोही नागरिक की पहचान न तो नागर समाज के दायरे में पड़ती है, और न ही क़ानून के उस हाशिये पर पायी जाती है जिसे हम पॉलिटिकल सोसाइटी या राजनीतिक समाज की धारणा के जरिये समझते हैं। खुद को निष्ठावान नागरिक समझने वालों का विद्रोह आज नागरिकता के अध्ययन में एक प्रश्नचिह्न तो है ही, साथ ही यह एक अवसर के रूप में भी हमारे सामने है।

देखें : ग़ैर-सरकारी संस्थाएँ, ग़ैर-सरकारी संस्थाएँ : भारत में, ग़ैर-दलीय राजनीति, धीरूभाई शेट, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य, नागर समाज, नागर समाज : भारतीय बहस, पार्थ चटर्जी, मानवाधिकार, भारत में नागर समाज और ग़ैर-दलीय राजनीति-1 से 3 तक, भारत में मानवाधिकार, भारत में मानवाधिकार आंदोलन, भीखू छोटालाल पारिख, रजनी कोठारी, राजनीतिक समाज, सुदीप्त कविराज।

संदर्भ

1. अखिल गुप्ता (2000), 'वर्ल्ड बाउंड्रीज़ : द डिस्कोर्स ऑफ़ करणन, द कल्चर ऑफ़ पॉलिटिक्स ऐंड द इमेज़िड स्टेट', जोया हसन (सम्पा.), *पॉलिटिक्स ऐंड द स्टेट इन इण्डिया*, सेज

- पब्लिकेशन्स, नयी दिल्ली.
2. आशिस नंदी (2003), 'द स्कोप ऐंड लिमिट्स ऑफ़ डिसेंट : इण्डियाज़ फ़र्स्ट मॉडर्न इनवायरनमेंटलिस्ट ऐंड हिज क्रिटिक ऑफ़ डी.वी.सी.', आशिस नंदी, *रोमांस ऑफ़ द स्टेट : ऐंड द फेट ऑफ़ डिसेंट इन द ट्राॅपिक्स*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
 3. इंजन एस. आइसिन और ब्रायन टर्नर (2002) 'सिटीज़नशिप स्टडीज़ : ऐन इंट्रोडक्शन', इंजन एस. आइसिन और ब्रायन टर्नर (सम्पा.), *हैंडबुक ऑफ़ सिटीज़नशिप स्टडीज़*, सेज प्रकाशन, लंदन.
 4. जोया हसन, ई. श्रीधरन और अन्य (सम्पा.) (2002), *इण्डियाज़ लिविंग कांस्टीट्यूशन : आइडियाज़, प्रैक्टिसिज़, कंट्रोवर्सीज़*, परमानेंट ब्लैक, दिल्ली.
 5. जेम्स होलस्टन (2008), *इनसर्जेंट सिटीज़नशिप : डिसजंक्शंस ऑफ़ डेमोक्रेसी ऐंड मॉडर्निटी इन ब्राज़ील*, प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन.

— अंकिता पांडेय

भारत में नियोजन

(Planning in India)

भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद 1951 से नियोजित विकास की पद्धति अपनायी गयी है। 1951 में बनी पहली पंचवर्षीय योजना से लेकर 2007 में बनी ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना तक नियोजन की भारतीय पद्धति ने कई वैचारिक और राजनीतिक उतार-चढ़ाव देखे हैं। बीच में नियोजन प्रक्रिया विवादग्रस्त हो कर थम भी गयी थी। लेकिन, इस या उस पहलू पर जोर देने के कारण हुए थोड़े-बहुत फेरबदल के साथ उसका मुख्य सैद्धांतिक आधार द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद उभरे वैकासिक अर्थशास्त्र से निकले राजनीतिक-आर्थिक विमर्श पर टिका रहा है। इसके मुताबिक अगर गरीब देशों की कृषि आधारित अर्थव्यवस्थाओं को निर्यात-आयात आधारित वाणिज्य और कारखाना उत्पादन का आधार मिल जाए तो उनका आर्थिक कल्याण हो सकता है। वैकासिक अर्थशास्त्र के सिद्धांत दीर्घकाल तक की जाने वाली बचत, उसके निवेश और प्रौद्योगिकीय प्रगति की भूमिका के इर्द-गिर्द सूत्रबद्ध होते हैं। इसमें एक तरफ़ मुक्त व्यापार का रवैया अपनाते हुए बाज़ार की ताकतों के जरिये आर्थिक वृद्धि हासिल करने की कोशिश की जाती है। दूसरी ओर सरकारी हस्तक्षेप और आर्थिक नियोजन का सहारा लिया जाता है।

भारत में नियोजन की छवि बनाने में कुछ प्रचलित धारणाओं का बहुत बड़ा हाथ है। जैसे, यह माना जाता है कि पहले प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने सोवियत संघ की

पंचवर्षीय योजनाओं से प्रभावित हो कर नियोजन का रास्ता अपनाया। असलियत इसके विपरीत है। 1927 में स्तालिनवाद के जन्म से पहले किये गये अपने सोवियत दौर के बाद ही नेहरू सोवियत अनुभव के राजनीतिक परिणामों की आलोचना करने लगे थे। 1947 के बाद पहले प्रधानमंत्री के रूप में उन्होंने आर्थिक विकास की जो रणनीति उन्होंने अपनायी, उसके पीछे उनका रवैया विचारधारात्मक कम और तात्कालिक परिस्थितियों के मुताबिक व्यावहारिक अधिक था। वे सोवियत तर्ज पर बाज़ार की जगह नियोजन को स्थापित करने के बजाय योजनागत प्रयासों को बाज़ार के पूरक की तरह इस्तेमाल करना चाहते थे। यह गुंजाइश वैकासिक अर्थशास्त्र के विमर्श में उपलब्ध थी। इस रणनीति को सोवियत अनुभव से भिन्न युरोपीय सामाजिक जनवाद के अधिक नज़दीक समझा जाना चाहिए। दूसरे, भारत में नियोजन प्रक्रिया को निजी क्षेत्र का न केवल समर्थन था, बल्कि देश के बड़े-बड़े औद्योगिक घराने इस पक्ष में थे कि सरकार स्वयं निवेश करके भारी उद्योगों और अधिरचनात्मक निर्माण को बढ़ावा दे। 1944 में ही इन घरानों ने 'बाम्बे प्लान' नामक योजना बना कर कांग्रेस के नेतृत्व के सामने पेश कर दी थी। द्वितीय विश्व-युद्ध ख़त्म होने तक मुख्यतः कृषि प्रधान होने के बावजूद भारत कारखाना आधारित माल पैदा करने वाला दुनिया का दसवाँ सबसे बड़ा देश बन चुका था। लेकिन भारत के आकार, ज़रूरतों और सम्भावनाओं को देखते हुए यह औद्योगिक प्रगति बेहद नाकाफ़ी थी। राजनीतिक नेतृत्व के सामने दुविधा यह थी कि विकास की छलांग लगाने के लिए खेती के पारम्परिक आधार को ही अपनाया जाए, या भारी उद्योगों का विकास करके पश्चिमी तर्ज पर अर्थव्यवस्था का ढाँचा खड़ा किया जाए।

15 मार्च, 1950 को नेहरू ने अपनी अध्यक्षता में योजना आयोग का गठन करके नियोजन प्रक्रिया की बाकायदा शुरुआत की। नेहरू की पूरी कोशिश थी कि योजना आयोग राजनीतिक दबाव से मुक्त रहे। इस अवधि में उन्होंने अमेरिकी विशेषज्ञों पर भरोसा किया जिनकी राय थी कि भारत को अपना विकास कृषि तथा उपभोक्ता माल बनाने वाले उद्योगों में निवेश के जरिये करना चाहिए। उन दिनों फ़ोर्ड फ़ाउंडेशन की भारतीय शाखा का नेतृत्व करने वाले अल्बर्ट एंसमिंगर एक कृषि-अर्थशास्त्री ही थे। पहली पंचवर्षीय योजना (1951-1956) पर एंसमिंगर द्वारा नेहरू को दिये गये सुझावों की छाप स्पष्ट रूप से देखी जा सकती थी। इसमें कृषि क्षेत्र और सामुदायिक विकास पर बहुत जोर था। बाँधों और सिंचाई में जम कर निवेश करने का प्रावधान किया गया था। पहली योजना के हिस्से में उद्योगों का हिस्से में केवल 8.4 फ़ीसदी निवेश ही आया था। इसी दौरान भाखड़ा और हीराकुंड बाँधों का निर्माण शुरू हुआ, कई

सिंचाई परियोजनाएँ प्रारम्भ की गयीं, देश भर में पाँच भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थानों (आईआईटी) की शुरुआत हुई, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग गठित किया गया, शिशु मृत्यु दर घटाने के लिए सघन मुहिम चलाई गयी। इस योजना का लक्ष्य कुल घरेलू उत्पाद में 2.1 प्रतिशत की वृद्धि दर हासिल करने का था, लेकिन इसने 3.6 फ़ीसदी की दर हासिल करके दिखाई। निबल घरेलू उत्पाद में 15 फ़ीसदी वृद्धि दर्ज की गयी। यह नियोजन के कामयाब कार्यान्वयन का उदाहरण था।

दूसरी पंचवर्षीय योजना (1956-1961) में अमेरिकी विशेषज्ञों की ज़्यादा नहीं सुनी गयी। 1955 में ही सत्तारूढ़ कांग्रेस पार्टी ने 'समाजवादी प्रारूप का समाज' बनाने के लिए अपनी प्रतिबद्धता जता दी थी। इसके लिए उद्योगीकरण पर बल देना आवश्यक समझा जा रहा था। इसलिए दूसरी योजना में पूरा जोर भारी उद्योगों, खास कर सरकारी क्षेत्र में खड़े किये जाने वाले अधिरचनात्मक उद्योगों पर था। लेकिन इसका मतलब यह नहीं था कि पहली योजनाओं की कामयाबियों को सुदृढ़ न किया गया हो। सामुदायिक विकास परियोजना का बहुत बड़े पैमाने पर विस्तार किया गया। देश भर में विकास खण्डों का गठन करके उन्हें पंचायती राज व्यवस्था से जोड़ कर विकेंद्रीकरण को बढ़ावा दिया गया। यह केंद्रीकृत नियोजन के माध्यम से किये गये 'लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण' की मिसाल थी। 1957 में आयी बलवंत राय मेहता कमेटी की चर्चित रपट में इसका ब्योरा दर्ज है। दूसरी पंचवर्षीय योजना के पीछे सांख्यिकीविद् प्रशांत चंद्र महलनोबीस की मुख्य भूमिका थी जिसके कारण इसे महलनोबीस मॉडल की संज्ञा भी दी जाती है। नेहरू 1940 से ही महलनोबीस से परिचित थे। उन्हें लगा कि महलनोबीस उनके राजनीतिक और लक्ष्यों को अर्थनीति की वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दावली में व्यक्त कर सकते हैं। शुरु में महलनोबीस को राष्ट्रीय आमदनी के सांख्यिकीय आँकड़े जमा करने का काम मिला, लेकिन जल्दी ही नीति-निर्माण में उनकी हैसियत बढ़ती चली गयी। महलनोबीस को एहसास था कि भारत आर्थिक सिद्धांत में दरिद्र है और यहाँ योजना-निर्माण में इस्तेमाल किये जा सकने वाले अर्थशास्त्री भी उपलब्ध नहीं हैं। 1951 में उन्होंने सोवियत संघ की यात्रा की और उसके बाद वे युरोप और अमेरिका की यात्राओं पर निकल गये। उन्होंने उस ज़माने के कई मशहूर अर्थशास्त्रियों (रैगनैर फ्रिश, जॉन टिन्बर्जन, ऑस्कर लांगे, चार्ल्स बेतेलहम, रिचर्ड स्टोन, जोआन रॉबिंसन, साइमन कुर्जनेट्स और पॉल बरान आदि) से मुलाकातें कीं। महलनोबीस के निमंत्रण पर कई अर्थशास्त्री भारत भी आये और नियोजन में योगदान किया। इन्हीं अर्थशास्त्रियों की सोहबत में महलनोबीस ने वैकासिक अर्थशास्त्र का प्रगाढ़ परिचय प्राप्त किया।

दूसरी योजना में निवेश को निर्णायक ढंग से उद्योगों में झोंक दिया गया। इस योजना के पीछे पूर्व-धारणा काम यह कर रही थी कि अर्थव्यवस्था अपने दरवाज़े बंद रखेगी और अधिकतर व्यापार पूँजीगत माल के आयात के इर्द-गिर्द होगा। इसी दौरान भिलाई, दुर्गापुर और राउरकेला जैसे इस्पात संयंत्र स्थापित हुए। पनबिजली परियोजनाएँ शुरू हुईं, कोयले का उत्पादन बढ़ा और रेल की पटरियों का जाल और विस्तृत किया गया।

ज़ाहिर है कि दूसरी योजना पहली के मुकाबले बहुत महत्वाकांक्षी थी। महलनोबीस का ध्येय-वाक्य था : 'समस्या का मर्म यह है कि सभी आवश्यक दिशाओं को एक साथ संतुलित करते हुए परिवर्तनों को इस प्रकार अंजाम कैसे दिया जाए कि संस्थागत रूपांतरण जल्दी से जल्दी सम्पन्न हो जाए।' इस तरह के आकर्षक इरादों के कारण योजना आयोग की हैसियत काफ़ी बढ़ी। लेकिन, दस साल के बोलबाले के बाद तीसरी पंचवर्षीय योजना (1961-1966) की समाप्ति तक योजना का विचार कुछ-कुछ संकटग्रस्त प्रतीत होने लगा। तीसरी योजना में वृद्धि दर 4.5 फ़ीसदी तय की गयी थी, पर केवल 4.3 फ़ीसदी ही हासिल हो पायी। यह अवधि नेहरू के देहांत के साथ-साथ 1962 के चीन-युद्ध और 1965 के पाक-युद्ध की भी थी। इसलिए प्रतिरक्षा उद्योगों पर जोर देने का रुझान पैदा हुआ। कुल मिला कर महलनोबीस ने भी माना कि जिस आर्थिक और सामाजिक क्रांति का वायदा किया गया था, उसे नियोजन उसे मूर्त रूप देने में नाकाम रहा है। भारतीय अर्थव्यवस्था प्रगति के रास्ते पर 'प्रस्थान' नहीं कर पायी है, न ही उसमें 'स्व-उत्पादक विकास' का आवेग पैदा हो पाया है और न ही 'औद्योगिक क्रांति' हो सकी है। ज़ाहिर है कि नज़ारा नियोजन प्रक्रिया की आधी-अधूरी सफलताओं का ही था। इसके तहत चार सकारात्मक उपलब्धियाँ ज़रूर हुईं : एक साधारण वृद्धि दर प्राप्त हुई, पंजाब में हरित क्रांति का असर गेहूँ के ज़बरदस्त उत्पादन में दिखाई पड़ने लगा, अर्थव्यवस्था की लोकतांत्रिक साख़ क्रायम रही (ग्रामों में प्राथमिक शिक्षा का प्रसार, पंचायती चुनाव और राज्यों को वैकासिक ज़िम्मेदारियों का आबंटन) और विवेकपूर्ण राजकोषीय प्रबंधन के कारण आर्थिक स्थिरता भंग नहीं हुई।

बहरहाल, तीसरी योजना के बाद नियोजन की साख़ इस हद तक गिर गयी कि 1966 से 1969 तक योजना-अवकाश घोषित कर दिया गया। दिलचस्प बात यह है कि इसका मतलब नियोजन को पूरी तरह से ख़त्म करने से नहीं था। इंदिरा गाँधी ने प्रधानमंत्री बनने के बाद योजनागत विकास पर फिर से ध्यान दिया और चौथी पंचवर्षीय योजना (1969-1974) बनायी। यह 14 बैंकों के राष्ट्रीयकरण, कोयला-बीमा-बीमार उद्योगों के सरकारीकरण, हरित क्रांति के कारण खाद्यान्न में आत्मनिर्भरता और 1971 के बांग्ला देश युद्ध की अवधि थी। युद्ध के कारण औद्योगिक विकास के लिए तय किये गये धन को प्रतिरक्षा पर

खर्च करना पड़ा। पाँचवीं पंचवर्षीय योजना (1974-1979) में रोजगार बढ़ाने और गरीबी कम करने पर जोर था। दोनों योजना-अवधियों के सात-आठ साल समाजवादी प्रभाव समाजवादी प्रभाव के माने जाते हैं। शायद इसलिए कि इंदिरा गाँधी के नेतृत्व ने इस दौर का इस्तेमाल अर्थव्यवस्था में सरकारी हस्तक्षेप की बहुत ज्यादा बढ़ोतरी और सरकारी क्षेत्र का आकार बढ़ाने में किया। राष्ट्रीय सम्प्रभुता के नाम पर विदेशी निवेश पर प्रतिबंध इसी दौर में लगे। लेकिन समाज में सम्पत्ति और संसाधनों के आबंटन में किसी क्रिस्म के रैडिकल परिवर्तन पर कभी विचार तक नहीं किया गया।

पाँचवीं योजना खत्म होने पहले ही 1977 में पहली गैर-कांग्रेसी केंद्रीय सरकार ने शपथ ली। प्रधानमंत्री मोरारजी देसाई ने 1978 में योजना के कई लक्ष्यों को टुकरा दिया। लेकिन जनता पार्टी की सरकार नियोजन प्रक्रिया पर अपनी छाप छोड़ने से पहले ही 1979 में गिर गयी। छठी पंचवर्षीय योजना (1979-1985) की रूपरेखा गैर-कांग्रेसी नेतृत्व ने बनायी थी, पर उस पर अमल 1980 में राजनीतिक वापसी करने के बाद इंदिरा गाँधी की सरकार ने किया। यही वह दौर था जब नियोजन का रुख आर्थिक उदारीकरण की तरफ धीरे-धीरे मुड़ना शुरू हुआ। क्रीमों पर लगे नियंत्रण हटाये गये। राशन की दुकानें बंद की जाने लगीं।

सातवीं पंचवर्षीय योजना (1985-1989) नये क्रिस्म के कांग्रेसी नेतृत्व (राजीव गाँधी) ने बनायी जिसने भविष्य को इक्कीसवीं सदी में प्रक्षेपित किया और आधुनिक प्रौद्योगिकी पर जोर देते हुए उत्पादकता बढ़ाने को अपना लक्ष्य बनाया। सातवीं योजना के लक्ष्य देखने में बहुत आकर्षक थे। लेकिन उन्हें धरती पर उतारने के लिए एक दीर्घावधि विकास की जरूरत थी। मुश्किल यह हुई इसके लिए आवश्यक राजनीतिक स्थिरता कांग्रेस नहीं दे पायी और 1989 से 92 के बीच का समय राजनीतिक अस्थिरता का निकला। गैर-कांग्रेसी गठजोड़ सरकार ने पंचवर्षीय योजना के बजाय सालाना योजनाओं से काम चलाना उचित समझा। 1991 में आये भीषण विदेशी मुद्रा संकट का सामना करते हुए कांग्रेस के नेतृत्व वाली अल्पमतीय सरकार ने पूरी अर्थनीति में उलट-फेर कर डाला। मुक्त बाजार को आधार बना कर सुधार किये गये। उदारीकरण और निजीकरण का दौर चल निकला।

पहली सात योजनाओं में पब्लिक सेक्टर में निवेश पर जोर था, पर आठवीं पंचवर्षीय योजना (1992-1997) पूरी तरह से औद्योगिक आधुनिकीकरण, विनिवेश के जरिये निजीकरण, प्रौद्योगिकी के विकास, अर्थव्यवस्था के दरवाजे

ग्लोबल पूँजी के लिए खोलने, सामाजिक क्षेत्र में गैर-सरकारी संगठनों को बढ़ावा देने और ऊर्जा के उत्पादन को बढ़ाने के लिए समर्पित थी। इसका लक्ष्य था 5.6 फ़ीसदी वृद्धि दर हासिल करना जिसके मुकाबले उसने 6.7 फ़ीसदी वृद्धि दर प्राप्त करके दिखाई। ज़ाहिर है कि नयी नीतियों से नियोजन प्रक्रिया एक बार फिर ढर्रे पर आती लग रही थी। नवीं पंचवर्षीय योजना (1997-2002), दसवीं पंचवर्षीय योजना (2002-2007) और ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना (2007-2012) बाजार और सरकार के दोहरे नेतृत्व में चली। 2006 तक कुल घरेलू उत्पाद की वृद्धि दर बढ़ कर आठ फ़ीसदी हो गयी। ग्यारहवीं योजना के अंत तक नौ से दस फ़ीसदी के बीच वृद्धि दर प्राप्त करने की उम्मीद लगायी जा रही है। आज का योजना आयोग भी शुरुआत के योजना आयोग से काफी भिन्न है। प्रधानमंत्री इसका पदेन अध्यक्ष होता है, पर उसका कामकाज काबिना मंत्री स्तर के एक नामज़द उपाध्यक्ष के हाथों में रहता है। महत्वपूर्ण विभाग

सँभालने वाले मंत्रिपरिषद् के सदस्य इसके अंशकालीन सदस्य होते हैं और अर्थशास्त्र, उद्योग, विज्ञान और सामान्य प्रशासन के विशेषज्ञों को इसका पूर्णकालिक सदस्य बनाया जाता है। भारतीय आर्थिक सेवा से निकले अधिकतर नौकरशाह आयोग का कामकाज सँभालते हैं।

देखें : अमर्त्य कुमार सेन, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, नियोजन, भूमण्डलीकरण : भारतीय अर्थव्यवस्था का, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भारत में पेटेंट क़ानून, भारत में शेरर संस्कृति, भूमण्डलीकरण और पूँजी बाजार, भूमण्डलीकरण और वित्तीय पूँजी, भूमण्डलीकरण और वित्तीय उपकरण, विश्व बैंक।

संदर्भ

1. सुनील खिलनानी (2001), *भारतनामा*, अनुवाद : अभय कुमार दुबे, दूसरा अध्याय 'भविष्य के मंदिर', राजकमल, नयी दिल्ली।
2. बलवंत राय मेहता *क़मेटी रिपोर्ट* (1957), नयी दिल्ली।
3. बी.आर. टॉमलिंगसन (1993), *द इकॉनॉमी ऑफ़ मॉडर्न इण्डिया 1860-1970*, केम्ब्रिज।
4. कमल नयन काबरा (1997), *डिवेलपमेंट प्लानिंग इन इण्डिया*, सेज, नयी दिल्ली।
5. सुखमय चक्रवर्ती (1987), *डिवेलपमेंट प्लानिंग, द एक्सपीरिंस, क्लैरिफ़िकेशन*, ऑक्सफ़र्ड।
6. विजय जोशी और इयन लिटिल (1994), *माक्रोइकॉनॉमिक्स एंड पॉलिटिकल इकॉनॉमी 1964-1991*, वाशिंगटन डीसी और नयी दिल्ली।

— अभय कुमार दुबे



प्रशांत चंद्र महलोनबीस (1893-1972)

भारत में पेटेंट क़ानून

(Patent law in India)

भारत में पेटेंट क़ानून कई युरोपीय देशों से भी पुराना है। इसकी शुरुआत अंग्रेज़ों ने पेटेंट और डिज़ाइन एक्ट के रूप में 1911 में की थी। आज़ादी मिलने के बाद इंग्लैण्ड के तर्ज़ पर बने इस क़ानून को भारत सरकार ने अपनी ज़रूरतों के मुताबिक़ ढालने का निश्चय किया, क्योंकि इसके कारण 90 फ़ीसदी भारतीय पेटेंटों पर विदेशियों का क़ब्ज़ा हो गया था और नब्बे फ़ीसदी पेटेंटों पर भारत में काम ही नहीं होता था। काफ़ी सोच-विचार के बाद बने 1970 के पेटेंट क़ानून में पेटेंट प्रणाली का पश्चिमी मॉडल ही अपनाया गया, लेकिन कुछ भारतीय विशेषताएँ भी जोड़ दी गयीं। 1994 में पारित ट्रिप्स समझौते (बौद्धिक सम्पदा अधिकारों से संबंधित अंतर्राष्ट्रीय संधि) पर दस्तख़त कर देने के बाद अब भारत एक बार फिर 1970 के पहले वाले ज़माने में लौट चुका है। मुश्किल यह है कि इसके कारण हुए राष्ट्रीय परिवर्तनों पर कोई बहस नहीं हुई है। सरकार और संसद में भी इस पर अंतर्विरोध है। भारतीय पेटेंट क़ानून के संदर्भ में 1970 की पेटेंट प्रणाली और ट्रिप्स समझौते के बाद की स्थिति पर एक तुलनात्मक दृष्टि डालने से स्पष्ट हो सकता है कि किस तरह भारत का पेटेंट क़ानून अंतर्राष्ट्रीय दबाव में समाज के पक्ष में होने के बजाय पेटेंटधारकों के पक्ष में झुकता जा रहा है।

अंग्रेज़ों द्वारा बनाये गये पेटेंट क़ानून की भींच निकलने के लिए भारत सरकार ने टेकचंद कमेटी गठित की जिसकी रपट 1949 में आयी। इसके बाद न्यायमूर्ति आयंगर ने अपनी विस्तृत रपट दी। इसकी मुख्य प्रस्थापना यह थी कि मौजूद पेटेंट प्रणाली भारत के भीतर औद्योगिक मक़सदों से आविष्कारों को प्रोत्साहित करने में नाकाम रही है, इसलिए इसका फ़ायदा जनता के व्यापक हिस्सों को नहीं मिल पा रहा है। जस्टिस आयंगर ने पेटेंट प्रणाली रद्द करने की सिफ़ारिश नहीं की क्योंकि उनके पास इसका कोई विकल्प नहीं था। अन्य देशों के पेटेंट क़ानूनों का अध्ययन करने के बाद देखा गया कि विकसित देशों ने भी खाद्य और दवा के क्षेत्रों में पेटेंट देने पर कड़ी पाबंदियाँ लगा रखी हैं। इस लिहाज़ से भारत के लिए भी ऐसी ही सिफ़ारिशें की गयीं। परिणामस्वरूप 1970 के पेटेंट एक्ट बना जिसने जीवन रूपों, कृषि और बाग़बानी संबंधी विधियों को पेटेंट-पात्रता से अलग कर दिया। खाद्य और औषधि से संबंधित पदार्थों को भी पेटेंट से मुक्त कर दिया गया। दवाओं में तरह-तरह के कीटनाशक भी शामिल थे। पोषण और स्वास्थ्य के क्षेत्र में इस क़ानून ने उत्पादों को पेटेंट-मुक्त किया और निर्माण-प्रक्रिया को पेटेंट करने की इजाज़त दी। बाक़ी आविष्कारों के पेटेंट के लिए 14 साल की

अवधि निर्धारित की गयी, जबकि खाद्य और दवाओं के मामले में यह अवधि सात साल रखी गयी।

आविष्कारों को भारत में ही प्रोत्साहित करने के लिए शर्त लगायी गयी कि उन पर भारत में ही काम होना चाहिए और पेटेंट का मतलब केवल इजारेदारी के फ़ायदे उठाने तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए। यह भी तय हुआ कि अगर तीन साल के बाद भी पेटेंट का फ़ायदा आम जनता तक नहीं पहुँचता है और उसके कारण बना उत्पाद वाजिब दामों में नहीं मिल पा रहा है तो उसे अनिवार्य लाइसेंसिंग के तहत लाया जा सकता है। 'लाइसेंस ऑफ़ राइट्स' नामक प्रावधान किया गया जिसके तहत पेटेंटों के महानियंत्रक से सरकार कह सकती थी कि अगर शर्तें पूरी नहीं हो पा रही हैं तो वह संबंधित पेटेंट पर लाइसेंस ऑफ़ राइट्स की मुहर लगा कर ही भेजे। इस तरह खाद्य और दवा संबंधी पेटेंट व्यावहारिक रूप से तीन साल बाद अपने आप अनिवार्य लाइसेंसिंग के तहत आने लगे। दो साल बाद भी अपेक्षित लाभ न मिलने पर पेटेंट लाइसेंस रद्द कर देने का प्रावधान रखा गया।

पश्चिमी ढाँचा होने के बावजूद यह क़ानून काफ़ी अलग था और इसे विकासशील देशों की ज़रूरतें पूरी कर सकने वाले क़ानून के मॉडल की तरह भी देखा जा सकता था। इसका बुनियादी तर्क था विदेशी कम्पनियों की क़ीमत पर घरेलू उद्योग को, खासकर बुनियादी आवश्यकताओं के क्षेत्र में, प्रोत्साहित करना। उसकी मंशा घरेलू उत्पादकों को मिले इजारेदारी अधिकारों को नियंत्रित करने की थी। इसका सीधा फ़ायदा तब मिला जब साठ के दशक में अन्य देशों के मुकाबले भारत में दवाओं के दाम गिर गये। आज़ादी के पहले भारत में दवाओं के दाम दुनिया में सबसे ज़्यादा थे। आज भारत सबसे कम दामों वाला देश है। इसी क़ानून के कारण आज भारत का दवा उद्योग 25 फ़ीसदी से विकसित हो कर इस समय ज़रूरत की दवाओं का क़रीब सत्तर फ़ीसदी बना रहा है। कुछ कम्पनियों ने नयी दवाएँ बनाने में महारत हासिल कर ली है। हालाँकि इस पेटेंट प्रणाली से यह उम्मीद नहीं की जा सकती थी कि वह सभी को औषधियाँ मुहैया कराने में अपनी भूमिका निभायेगी, पर इससे टिकाऊ विकास प्रोत्साहित करने के मामले में सकारात्मक असर ज़रूर पड़ा।

ट्रिप्स समझौते पर दस्तख़त करने के बाद अगर भारत एक जनवरी, 1995 से पेटेंट प्रणाली में परिवर्तनों का पहला दौर लागू कर पाता तो उसे कार्यान्वयन की असाधारण लम्बी अवधि का लाभ मिल सकता था। पर 1970 के एक्ट में संशोधन करने वाला विधेयक राज्यसभा में पारित नहीं हो सका। सरकार ने अध्यादेश जारी किया जो मार्च, 1995 तक चला। संसद और सरकार के बीच हुए इस विवाद के कारण भारत विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यूटीओ) के विवाद निपटान पैनल में विवादग्रस्त होने वाला पहला देश बन गया। अमेरिका ने भारत पर आरोप लगाया कि वह ट्रिप्स समझौते

के अनुच्छेद 70(9) के अनुसार औषधि और कृषि रासायनिक उत्पादों के लिए आवेदन करने और उन आवेदनों को संसाधित करने की प्रणाली लागू नहीं कर पाया है। इस प्रणाली को मेलबॉक्स सिस्टम कहते हैं। भारत का तर्क था कि कानून बनाने में उससे कोताही जरूर हुई है, पर व्यवहार में यह सुविधा मुहैया करायी जा रही है। इसके बावजूद अपीलेट संस्था ने भारत के खिलाफ फ़ैसला दिया। फिर इसी मसले पर युरोपीय संघ ने भारत के खिलाफ़ शिकायत दर्ज करा दी। आगे चल कर समझौता हुआ और भारत को ट्रिप्स लागू करने के लिए अप्रैल, 1999 तक का समय दे दिया गया। संशोधन विधेयक पास कराने के लिए भारत सरकार को काफ़ी संघर्ष करना पड़ा तब कहीं जा कर आखिरी क्षण में इस कानून पर संसद की मुहर लग पायी। 2002 में यह कानून एक बार फिर संशोधित हुआ।

इन तब्दीलियों के कारण हुआ यह है कि 1970 के कानून की सारी विशेषताएँ खत्म हो गयी हैं। कानून समाज के पक्ष में होने के बजाय पेटेंटधारकों के पक्ष में हो गया है। अब अपवादस्वरूप भी पेटेंट की अवधि बीस साल से कम की नहीं हो सकती। लाइसेंस ऑफ़ द राइट्स का प्रावधान भी खत्म कर दिया गया है। जन-स्वास्थ्य संरक्षण और पेटेंट से संबंधित उत्पाद के वाजिब दामों के प्रश्न पर सरकार ने अनिवार्य लाइसेंसिंग मज़बूत करने की कोशिश जरूर की है। यह एक ऐसा मुक़ाम है जहाँ भारत सरकार ट्रिप्स प्रणाली की गुंजाइशों का लाभ उठाते हुए उसे घरेलू जरूरतों के मुताबिक़ ढालने का प्रयास करती हुई दिखती है। दिक्कत यह है कि संशोधित कानून की ये खूबियाँ पहले से दिये जा चुके पेटेंटों को ही प्रभावित करती हैं। वे आवेदन के स्तर पर असर नहीं डालतीं। वैसे भी अनिवार्य लाइसेंसिंग के दम पर पेटेंट प्रणाली का विषमतामूलक चरित्र दुरुस्त करना मुमकिन नहीं है।

जाहिर है कि आज़ादी के बाद से अब तक कई सामाजिक-आर्थिक हकीकतें बदल चुकी हैं, पर सभी को खाद्य और दवा उपलब्ध कराने की समस्या अभी हल नहीं हुई है। 1970 के पेटेंट एक्ट द्वारा लगायी गयी पाबंदियों की आवश्यकता अभी है। न ही कोई उस एक्ट के सकारात्मक परिणामों से इनकार कर सकता है।

देखें : अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, पेटेंट, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, भारत का भूमण्डलीकरण, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भारत में शेर संस्कृति, भूमण्डलीकरण, भूमण्डलीकरण का इतिहास-1 और 2, भूमण्डलीकरण और बेरोज़गारी, भूमण्डलीकरण और गरीबी, भूमण्डलीकरण और पूँजी बाज़ार, भूमण्डलीकरण और लोकतंत्र, भूमण्डलीकरण और राज्य, भूमण्डलीकरण और राष्ट्रीय सम्प्रभुता, भूमण्डलीकरण और वित्तीय पूँजी, भूमण्डलीकरण और वित्तीय उपकरण, भूमण्डलीकरण के आलोचक, भूमण्डलीकरण के खिलाफ़ प्रतिरोधक विश्व बैंक, विश्व व्यापार संगठन।

संदर्भ

1. जस्टिस एन. राजगोपाल आर्यंगर, रिपोर्ट ऑन द रिवीज़न ऑफ़ द पेटेंट लॉ (1959), सितम्बर.
2. फ़िलिप कुलेट (2008), बौद्धिक सम्पदा संरक्षण और टिकाऊ विकास, आलेख : अभय कुमार दुबे, इंस्टीट्यूट फ़ॉर डेमोक्रेसी ऐंड सस्टेनिबिलिटी, वाणी, नयी दिल्ली.

— अभय कुमार दुबे

भारत में प्रातिनिधिक प्रणाली

(Representative System in India)

भारत में प्रातिनिधिक प्रणाली का ढाँचा ब्रिटेन के नमूने पर खड़ा किया गया है। लेकिन दोनों देशों और उनके मतदाता-मण्डलों के आकार-प्रकार में भारी अंतर होने के कारण इसका विकास और उसके परिणाम एकदम अलग निकले हैं। ब्रिटेन की संसद हाउस ऑफ़ कॉमंस का एक सदस्य ज़्यादा से ज़्यादा सिर्फ़ एक लाख लोगों की नुमाइंदगी करता है, लेकिन भारत में लोकसभा के एक सदस्य को मोटे तौर पर 21 लाख से ज़्यादा मतदाताओं का और किसी प्रमुख राज्य की विधानसभा के सदस्य को दो से पाँच लाख वोटों का प्रतिनिधित्व करना पड़ता है। प्रतिनिधित्व की मात्रा कई गुना बढ़ जाने के कारण प्रतिनिधियों और उनसे अपना प्रतिनिधित्व करवाने वालों के बीच संबंधों की प्रकृति गुणात्मक रूप से भिन्न हो गयी है। इस भिन्नता का सबसे बड़ा सकारात्मक परिणाम यह है कि राजनीतिक प्रतिनिधि धीरे-धीरे पहले के मुकाबले कहीं व्यापक और विशाल सामाजिक दायरे से चुने जाने लगे हैं। अर्थात् प्रतिनिधित्व करने वालों और करवाने वालों के बीच अनुरूपता बढ़ी है। प्रणाली में समाज के सबसे कमजोर तबकों (ख़ास कर दलितों और आदिवासियों) को उनकी संख्या के मुताबिक़ प्रतिनिधित्व देने की पक्की व्यवस्था है। लेकिन मुसलमान अल्पसंख्यक प्रतिनिधित्व के मामले में इस प्रणाली के कारण घाटे में रहे हैं। प्रतिनिधित्व के काफ़ी प्रसार के बावजूद यह भी मानना पड़ेगा कि यह प्रणाली प्रतिनिधित्व की क्वालिटी बढ़ाने में सफल नहीं हुई है। दलबदल विरोधी कानून पारित हो जाने के बाद इस प्रणाली में प्रतिनिधि की प्रातिनिधिक निष्ठा मुख्यतः उसकी राजनीतिक पार्टी के साथ जुड़ गयी है। एक-नेता केंद्रित पार्टियों और उन पर क्राबिज़ परिवारों के कारण प्रतिनिधि-चयन की प्रक्रिया में कई तरह की विकृतियाँ आयी हैं। दूसरे, मौजूदा परिस्थितियों में निर्णय-प्रक्रिया के केंद्र प्रतिनिधियों के दायरे में ही सीमित नहीं रह

गये हैं। अब फ़ैसले लेने में विधायिकाओं और कार्यपालिका के साथ न्यायपालिका और अन्य स्वतंत्र संस्थाएँ भी भूमिका अदा करने लगी हैं। इस परिवर्तन ने प्रतिनिधि के महत्त्व का एक सीमा तक क्षय किया है।

युरोप की प्रातिनिधिक प्रणालियों के मुकाबले एक अंतर तो यह है कि अगर कोई नया व्यक्ति भारत में प्रतिनिधि बनने के लिए निर्वाचन-प्रक्रिया में क्रमदम रखना चाहता है तो एक गम्भीर उम्मीदवार बनने के लिए उसे बहुत बड़े पैमाने पर संसाधनों और सूचनाओं का जुगाड़ करना पड़ेगा। अर्थात् भारत में किसी नये व्यक्ति का प्रतिनिधि बनने की होड़ में उतरना आसान नहीं है। युरोप की अपेक्षा भारत में मतदाता और पार्टियों के बीच रिश्ता कहीं अधिक तरल है। यहाँ के वोटर पार्टियों के साथ युरोप की तरह बहुत कुछ स्थाई क्रिस्म का तादात्म्य अनुभव नहीं करते। चूँकि पड़ने वाले वोटों की मात्रा बहुत ज़्यादा होती है और उसमें उतार-चढ़ाव आते रहते हैं इसलिए गठजोड़ बनने या टूटने की युरोपियन समझ भी भारतीय प्रणाली पर लागू नहीं होती।

प्रतिनिधि-चयन में भागीदारी : सारी दुनिया में मतदान के गिरते हुए आँकड़ों से पैदा हुए चिंता के माहौल में भारतीय प्रातिनिधिक प्रणाली अलग नज़ारा पेश करती है। आज़ादी के बाद पहले दो आम चुनावों में भारतीय मतदान प्रतिशत बढ़ा और फिर उसके बाद स्थिर हो गया। राज्यों के चुनावों में यह प्रतिशत बढ़ा हुआ दिखता है। दूसरे, पश्चिमी प्रणालियों में प्रतिनिधि-चयन का जैसे-जैसे नीचे की तरफ़ सफ़र होता है, मतदाताओं की दिलचस्पी घटती जाती है। लेकिन भारत में लोकसभा और विधानसभा चुनावों के मुकाबले स्थानीय निकायों और पंचायतों के चुनाव में यह भागीदारी बढ़ जाती है। आर्थिक-सामाजिक स्थिति और भागीदारी के बीच संबंध की सामान्य समझ भी भारतीय प्रातिनिधिक प्रणाली के ऊपर लागू नहीं होती। समाज के सबसे निचली पायदान पर मौजूद दलित और आदिवासी धीरे-धीरे सबसे ऊँचे पायदान पर खड़े समुदायों के बराबर या उनसे बेहतर संख्या में वोट डालने की स्थिति में आ चुके हैं। आज एक ब्राह्मण के मुकाबले एक दलित के वोट डालने की सम्भावना अधिक है। अगर निचले तबक़े वोट की ताक़त में अधिक भरोसा दिखा रहे हैं तो इसे भारतीय प्रातिनिधिक प्रणाली की एक सफलता के रूप में देखा जा सकता है। कमज़ोरों के लिए प्रतिनिधि चुनने के अधिकार का उपभोग केवल एक औज़ार ही नहीं है, बल्कि वे उसे समान नागरिकता की दावेदारी करने के एक अहम मौक़े की तरह भी देखते हैं।

हालाँकि मतदाताओं की एक अच्छी-खासी संख्या वोट नहीं डालती, लेकिन उनका मतदान न करना प्रणाली से उनके लाज़मी तौर पर अलगाव का द्योतक नहीं है। चाहे वोट डालने वाले हों या न डालने वाले, प्रातिनिधिक प्रणाली को

ख़ारिज करने के प्रस्ताव को तरजीह देने वालों की संख्या भारत में बहुत ही कम है। दूसरी तरफ़ कमज़ोर तबक़ों के मतदान संबंधी उत्साह का एक नकारात्मक पहलू भी है। वोट डालने के ज़रिये वे अक्सर अपनी सामूहिक या सामुदायिक अस्मिताओं को व्यक्त करते हैं, और इस प्राथमिकता के तले प्रतिनिधि की योग्यता, नीतिगत रुझान और स्वच्छ छवि वगैरह के आग्रह दब जाते हैं। कभी-कभी देखने में यह भी लगता है कि प्रतिनिधि चुनने में की गयी यह भागीदारी इन तबक़ों के लोकतंत्र में विनियोग की प्रक्रिया है, और इस विनियोग से एक ऐसी व्यवस्था को वैधता मिल रही है जो वास्तव में इन कमज़ोर समुदायों को बदले में कुछ ख़ास नहीं देती।

सामाजिक प्रभाव : भारतीय प्रातिनिधिक प्रणाली ने एक बेहद दिलचस्प सामाजिक करामात करने में भी सफलता प्राप्त की है। अक्सर कहा जाता है कि प्रतिनिधि का चयन जातिवादी ढर्रे पर होता है। लेकिन बारीकी से अध्ययन करने पर दिखाई पड़ता है कि किसी पार्टी के लिए शुरुआती समर्थन जुटाने में किसी एक जाति की भूमिका ज़रूर होती है, पर कई चुनावों के दौरान उस पार्टी के उठते-गिरते ग्राफ़ की रोशनी में उस जाति की तरफ़दारी उतनी अहम नहीं रह जाती। बजाय इसके कि जातियाँ प्रतिनिधि चुनने की प्रक्रिया को निर्धारित करती हों, निर्वाचन-प्रक्रिया सामाजिक अस्मिताओं को गढ़ने की भूमिका निभाती है। चुनाव में बहुमत हासिल करने की ज़रूरत ने न जाने कितनी जातियों को मिला कर एक बड़े जातिगत समुदाय में बदल डाला है। दलित एक ऐसा ही राजनीतिक समुदाय है जिसके तहत बहुत सी पूर्व-अछूत जातियाँ एक साथ एक साथ अपना प्रतिनिधि चुनने का फ़ैसला करती हैं। दूसरे, इसी आग्रह के तहत कई जातियाँ अपने समान राजनीतिक हितों की पूर्ति के लिए आपसी गठजोड़ भी बना लेती हैं।

प्रातिनिधिक प्रणाली ने जातिगत समुदायों को ही नहीं जातीय समुदायों को भी प्रभावित किया है। राजनीतिक व्यवहार द्वारा आरोपित स्थितियों ने उनकी सदियों से अपेक्षाकृत स्थिर सामाजिक बनावट में तेज़ी से परिवर्तन किये हैं। चुनावी अध्ययन यह भी बताते हैं कि स्त्रियाँ अपना प्रतिनिधि चुनने का फ़ैसला लाज़मी तौर पर परिवार के पुरुषों के निर्देश पर नहीं लेतीं। आम तौर पर प्रचलित मान्यता के विपरीत स्त्रियों द्वारा अपनायी गयी प्रतिनिधि-चयन की भिन्न प्रवृत्तियाँ कई बार यह तय करती पायी गयी हैं कि सत्ता किसे मिलेगी। इस लिहाज़ से प्रतिनिधि-चयन का लैंगिक आयाम अहम है। शहरी भारत में कई बार वर्गीय विभेद प्रतिनिधि-चयन के मामले में जाति या समुदाय पर हावी होते देखे गये हैं। हालाँकि भारत की आबादी में युवाओं की संख्या दुनिया के दूसरे देशों के मुकाबले अधिक है, पर यहाँ के युवकों की

प्रतिनिधि संबंधी पसंद पक्की उम्र वालों से कोई खास अलग नहीं दिखाई देती।

प्रतिनिधि-चयन की यह प्रणाली एक तरफ आधुनिक राजनीतिक विचारधाराओं से प्रभावित होती है और दूसरी तरफ भारतीय समाज के अपने पारम्परिक तौर-तरीकों और आस्थाओं का भी उस पर गहरा असर है। इसलिए भारतीय प्रातिनिधिक प्रणाली पर विचारधाराओं का स्पष्ट दबदबा नहीं दिखाई पड़ता। उसे बाएँ या दाएँ बाजू और उदारतावादी और अनुदार राजनीतिक खेमों में बाँट कर नहीं देखा जा सकता। इस प्रणाली ने एक अपनी संकर भाषा विकसित की है जो पश्चिम में प्रचलित विचारधारात्मक आग्रहों में फिट नहीं बैठती।

इन प्रणालीगत विशेषताओं के कारण प्रतिनिधि-चयन की प्रक्रिया ने कुछ सार्थक राजनीतिक परिवर्तनों को अंजाम दिया है। मसलन, शुरू में राजनीति पर केवल कांग्रेस का दबदबा रहता था और हर चुनाव में येन-केन-प्रकारेण वही जीत कर सत्तारूढ़ होती रहती थी। लेकिन यह प्रणाली साठ के दशक के बाद सरकारों को अदलने-बदलने वाली साबित हुई है। इसे प्रातिनिधिक प्रणाली का 'एंटी इनकम्बेंसी' या मौजूद सरकार विरोधी आयाम कह सकते हैं। अगर किसी सरकार की वापसी भी होती है, तो भी अक्सर उसके विधायकों और सांसदों में नये चेहरे दिखाई पड़ते हैं। पुराने प्रतिनिधियों के खारिज हो जाने का अंदेशा रहता है। यानी अपना प्रतिनिधित्व करने वाले अक्सर विभिन्न तर्कों के साथ बेहतर प्रतिनिधि की तलाश में रहते हैं। उन्हें संतुष्ट करना उनके निर्वाचित प्रतिनिधियों के लिए उत्तरोत्तर आसान नहीं रह गया है। मगर इस प्रणाली के अध्येता अभी यह तय नहीं कर पाये हैं कि प्रतिनिधियों को बदलने का यह रुझान किन अर्थों का द्योतक है, परिवर्तन में कौन-कौन से कारक काम करते हैं और सार्थक चयन के नजरिये से इसे किस श्रेणी में रखा जाना चाहिए।

प्रतिनिधि-चयन के रुझानों में आये परिवर्तनों के कारण संविधान प्रदत्त कमजोर संघीय प्रणाली के बावजूद पूरी तरह से केंद्राभिमुख न रह कर सत्ता के अंश कुछ-कुछ राज्यों के पास भी पहुँचे हैं। राजनीति में राज्यों का बढ़ता हुआ प्रभाव इसी का परिणाम है। दूसरे, प्रतिनिधि चुनने वाले विधानसभाओं के लिए चयन करते समय अलग मानक अपनाते हैं, और लोकसभा के लिए अपेक्षाकृत राष्ट्रीय चरित्र और चेहरे वाली पार्टियों की तरफ उनका रुझान नज़र आता है। प्रतिनिधि-चयन की प्रणाली सार्वजनिक नीति को भी प्रभावित करती है और इसका सबूत चुनाव से पहले घोषित लोकलुभावन योजनाओं के रूप में देखा जा सकता है।

देखें : भारतीय अभिजन, भारतीय आधुनिकता, भारतीय इस्लाम, भारतीय उदारतावाद, भारतीय डायसपोरा, भारत में उपनिवेशवाद, भारत में नियोजन, भारत में पृथकतावादी राजनीति, भारत में मतदान-

व्यवहार-1 से 6 तक, भारतीय राज्य, भारतीय राष्ट्रवाद, भारतीय लोकतंत्र, भारतीय लोकतंत्र का संस्थानीकरण-1 से 3 तक, भारतीय स्वभाव और राजनीति, भारतीय संविधान-1 से 8 तक, भारतीय सामाजिक आंदोलन।

संदर्भ

1. योगेंद्र यादव (2010), 'रिप्रजेंटेशन', नीरजा गोपाल जयल और प्रताप भानु मेहता (सम्पा.), *द ऑक्सफ़र्ड कम्पैनिनियन टु पॉलिटिक्स इन इण्डिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
2. नीरजा गोपाल जयल (2006), *रिप्रजेंटिंग इण्डिया : एथनिक डायवर्सिटी ऐंड द गवर्नेंस ऑफ़ पब्लिक इंस्टीट्यूशंस*, पालग्रेव मैकमिलन, लंदन.
3. रजनी कोठारी (सम्पा.) (1970), *कास्ट इन पॉलिटिक्स*, ओरिएंट लोंगमैन, नयी दिल्ली.
4. सुहास पलशीकर और संजय कुमार (2004), 'पार्टिसिपेटिव नॉर्म्स: हाउ ब्रॉड-बेस्ड इज़ इट', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 39, अंक 51.

— अभय कुमार दुबे

भारत में पृथकतावादी राजनीति

उत्तर-पूर्व, पंजाब और जम्मू-कश्मीर

(Secessionist Politics in India)

भारतीय राज्य पिछले साठ वर्षों से पृथकतावादी राजनीति के खिलाफ़ जूझ रहा है। एक बहुजातीय, बहुसांस्कृतिक, बहुभाषी और बहुधार्मिक देश होने के कारण उसकी राजनीतिक एकता और भारतीयता की पहचान लगातार प्रश्नांकित की जाती रही है। देश के उत्तरी (पंजाब और जम्मू-कश्मीर) और उत्तर-पूर्व के सात राज्यों में अलगाववादी गतिविधियाँ किसी न किसी रूप में और किसी न किसी स्तर पर चलती रहती हैं। भारत का संविधान अपने राज्यों को संघ से पृथक होने का अधिकार नहीं देता। इसलिए पृथकतावाद का झण्डा उठाने वाली ताकतों के खिलाफ़ फ़ौजी कार्रवाई करने में भारतीय राज्य को कोई हिचक नहीं होती। इस टकराव के कारण नागरिकों को जान-माल की भारी क़ीमत चुकानी पड़ती है और मानवाधिकार संबंधी भारतीय रिकॉर्ड दाग़दार हो जाता है।

लेकिन इसका मतलब यह नहीं निकाला जा सकता कि भारतीय राज्य ने अलगाववादी माँगों का सामना हमेशा दमन से ही किया है। अध्येताओं की मान्यता है कि नेहरूयुगीन राजनीति के दौरान पृथकतावाद से निबटने के

लिए भारत सरकार दो तरह के रवैये अपनाती थी। पहला, अलगाववादियों के गरमपंथी हिस्सों की माँगों को पूरी तरह से ठुकराते हुए उनके साथ टकराव का रास्ता अखिरकार करना। दूसरा, मुमकिन होने पर उनके नरमपंथी तत्त्वों को प्रोत्साहित करते हुए बातचीत और लेन-देन के जरिये विवाद को सुलझाने की कोशिश करना। इसी दोहरी नीति के परिणामस्वरूप पचास और साठ के दशक में भारतीय राज्य तमिलनाडु में उभरे द्रविड़ अलगाववाद का शांतिपूर्ण राजनीतिक हल करने में कामयाब रहा, पर उत्तर-पूर्व के असंतोष का सामना करने के लिए उसने फ़ौज का सहारा लिया। भारतीय राज्य के रणनीतिकारों की मान्यता थी कि उत्तर-पूर्व का प्रश्न राष्ट्रीय सुरक्षा के साथ भी जुड़ा हुआ है इसलिए उस मोर्चे पर किसी तरह की ढील नहीं दिखाई जा सकती। यही थी वह मानसिकता जिसके तहत उत्तर-पूर्व के क्षेत्रों को स्वशासन का अधिकार देने के प्रति नकारात्मक नकारात्मक रवैया दिखाया गया।

नेहरू युग की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उस ज़माने में केरल के अपवाद को छोड़ कर कांग्रेस और केंद्र सरकार राज्यों में संकीर्ण राजनीतिक उद्देश्यों से हस्तक्षेप करने से बचती थी। नेहरू का रवैया क्षेत्रीय नेतृत्व को पनपने देने का था। एक पार्टी के तौर पर कांग्रेस को अपने वर्चस्व पर भरोसा था। लेकिन नेहरू युग के समापन के बाद इंदिरा गाँधी के नेतृत्व में कांग्रेस ने क्षेत्रीय महत्वाकांक्षाओं को राष्ट्र-विरोधी क्रार देने का रवैया अपनाया। कांग्रेस का वर्चस्व कमजोर होता चला गया जिसके कारण उसके भीतर असुरक्षा की ग्रंथि पनपने लगी। हर राज्य में कांग्रेस की ताकतों को बढ़ावा देने के लिए क्षेत्रीय ताकतों की साख गिराने के दाँव-पेच खेले गये। उग्रवादी राजनीतिक ताकतों को किनारे धकेलने के बजाय उनके साथ साठ-गाँठ की राजनीति की गयी। परिणामस्वरूप क्षेत्रीय असंतोष और राज्यों की तरफ से की जाने वाली अधिक स्वायत्तता की माँगों की परिणति उग्रवादी गोलबंदी में हुई। पंजाब और कश्मीर से उठने वाली पृथकतावादी आवाज़ें इसी तरह की राजनीति की देन हैं।

उत्तर-पूर्व : उत्तर-पूर्व के राज्यों को 'सात विद्रोही बहिनों' के नाम से जाना जाता है। मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि वहाँ पृथकतावाद का मुख्य आधार शेष भारत के साथ उनकी जातीय, भाषाई और सामाजिक भिन्नता में निहित है। जिस भारतीय अस्मिता की चर्चा की जाती है, वह उत्तर-पूर्वी चेहरे-मोहरे, जीवन-शैली और राजनीतिक महत्वाकांक्षा के लिए गुंजाइश छोड़ने में नाकाम रही है। यह अंतर्विरोध बार-बार की गयी राजनीतिक और प्रशासनिक गलतियों के कारण उत्तरोत्तर मुखर होता चला गया है।

उत्तर-पूर्व का सबसे विशाल राज्य असम रहा है। उसकी पेचीदगियाँ भी इस पृथकतावाद की जड़ में हैं। हिंदू

बनाम मुसलमान, असमी बनाम बंगाली, मैदान के वासी बनाम पहाड़ी आदिवासी, गैर-आदिवासी बनाम आदिवासी जनता, बहिरागत आबादी बनाम स्थानीय जनता जैसे टकराव असम की राजनीति को सताते रहे हैं। अगर असम की सरकार ने नगा हिल डिस्ट्रिक्ट के बारे में हुए समझौते का उल्लंघन न किया होता और नगा नेशनल कौंसिल को इस इलाके की प्रमुख राजनीतिक ताकत की मान्यता दे दी होती तो शायद नगा समस्या विस्फोटक स्वरूप ग्रहण न करती। इसी तरह पचास के दशक के उत्तरार्ध में पड़े अकाल के दौरान अगर असम सरकार ने मिजो इलाकों को पर्याप्त राहत दी होती तो मिजो अलगाववाद में भी ऐसी बढ़ोतरी न होती। लेकिन इन संगीन गलतियों के बावजूद नेहरू की सरकार ने नरमपंथी नगाओं को प्रोत्साहित करके 1960 में पृथक नगालैण्ड की रचना करके इस समस्या के समाधान का श्रेयस्कर प्रयास किया।

1971 में मिजोरम को एक केंद्र-शासित प्रदेश बनाया गया। 1984 के बाद राजीव गाँधी की सरकार ने मिजो बगावती नेता लाल डेंगा के साथ समझौता करके लम्बे अरसे से चले आ रहे अलगाववादी विद्रोह को खत्म कर दिया। 1987 में मिजोरम को पूर्ण राज्य का दर्जा मिला। असम के बोडो इलाकों द्वारा की जाने वाली पृथकता की रक्तरंजित माँग का परिणाम भी अंततः बोडोलैण्ड टेरिटोरियल ऑटोनॉमस कौंसिल के रूप में निकला। इन समाधानों के बावजूद उत्तर-पूर्व में अलगाववादी सशस्त्र विद्रोहों की आग मंद-मंद सुलगती ही रहती है। यूनाइटेड लिबरेशन फ्रंट ऑफ असम (उल्फा) की उग्रवादी कार्रवाइयाँ कम जरूर हो गयी हैं लेकिन उन्हें पूरी तरह से खत्म नहीं माना जा सकता।

उत्तर-पूर्व की एक अन्य उल्लेखनीय समस्या वहाँ की राजनीति और समाज में बंगाल की असाधारण उपस्थिति है। बंगाल ने अपनी विकसित भाषा और संस्कृति के जरिये असम और त्रिपुरा को काफ़ी-कुछ दिया है, पर साथ में उसके खिलाफ़ राजनीतिक और सांस्कृतिक विक्षोभ भी पैदा हुआ है। अस्सी के दशक की शुरुआत में अखिल असम छात्र संगठन (आसू) द्वारा चलाये गये बहिरागत विरोधी आंदोलन के पीछे असमी समाज में बंगाली विरोधी भावनाओं की भी भूमिका थी। त्रिपुरा में क्ररीब चालीस साल पहले बंगाली अल्पसंख्यक हुआ करते थे। आज त्रिपुरा के स्थानीय वासी अल्पसंख्यक हैं और बंगाली बहुसंख्यक हो कर वहाँ की राजनीति और प्रशासन पर छाये हुए हैं। त्रिपुरा में शुरू हुए अलगाववादी हिंसक संघर्ष का प्रमुख कारण इसी विशिष्ट स्थिति में देखा जा सकता है।

पंजाब : धार्मिक आधार पर राजनीतिक गोलबंदी पंजाब की राजनीति की ऐतिहासिक विशेषता रही है। एक अलग धार्मिक समुदाय के रूप में सिक्खों की रचना एक

राजनीतिक प्रक्रिया की ही देन है। 1947 में इस राज्य का पश्चिमी हिस्सा पाकिस्तान में चला गया जिसके कारण भारत के हिस्से में आये पंजाब में मुसलमान आबादी न के बराबर ही रह गयी। आज़ादी के बाद सिक्खों के नेताओं द्वारा की गयी अलग पंजाबी सूबे की माँग नहीं मानी गयी, क्योंकि इसका सीधा मतलब था एक धार्मिक बहुमत वाले राज्य की स्थापना करना। 1966 में हरियाणा और हिमाचल प्रदेश को संयुक्त पंजाब से अलग करके पंजाब राज्य की रचना होने के बाद भी कुछ समस्याएँ अनसुलझी रह गयीं। हरियाणा के साथ पंजाब का नदी जल बँटवारा विवाद नहीं हल हुआ, और चंडीगढ़ के पंजाब के साथ-साथ हरियाणा की राजधानी भी बना रहा।

लेकिन, अस्सी के दशक में उभरे खालिस्तान बनाने के पृथकतावादी आंदोलन के पीछे इन समस्याओं की भूमिका न के बराबर ही थी। साठ के दशक में हुई हरित क्रांति के गर्भ से निकले मध्यवर्गीय सिक्ख किसानों के नवधनाढ्य हिस्से में धीरे-धीरे यह भावना बलवती होती चली गयी कि पंजाब देश को जितना देता है, केंद्र सरकार उसके मुताबिक उसके साथ इंसाफ नहीं करती। इस धनी किसान वर्ग के राजनीतिक नेता अकाली दल ने अधिक स्वायत्तता की माँगों के रूप में इस असंतोष को अभिव्यक्त करना शुरू किया। आनंदपुर साहिब प्रस्ताव इसी का परिणाम था। इसी दौरान अकाली दल की लोकप्रियता सिक्खों के दायरों से निकल कर ग़ैर-सिक्खों के बीच भी बढ़ने लगी।

दिल्ली में सत्तारूढ़ इंदिरा गाँधी के नेतृत्व वाली कांग्रेस ने अकाली दल (जो मुख्यतः नरमपंथी धार्मिक नेतृत्व की नुमाइंदगी करता था) के खिलाफ उभरते हुए चरमपंथी और पुनरुत्थानवादी तत्त्वों (संत जनरैल सिंह भिंडरवाले) को हवा देनी शुरू की। इस घोर अवसरवादी रणनीति का परिणाम अकालियों की क्रीमत पर खालिस्तान समर्थकों का बोलबाला बढ़ने में निकला। इसके बाद चरमपंथियों के हथियारबंद गुटों और भारतीय राज्य के बीच युद्ध शुरू हो गया। इस लम्बे और हिंसक संघर्ष का नतीजा फ़ौज द्वारा स्वर्ण मंदिर पर हमला करके उसे उग्रवादियों से ख़ाली कराने के अभियान में निकला। इस राजनीति ने न केवल अनगिनत निर्दोषों की जान ली, बल्कि प्रधानमंत्री के रूप में इंदिरा गाँधी को इसकी क्रीमत अपने ही सिक्ख अंगरक्षकों की गोलियाँ खा कर चुकानी पड़ी। बाद में इंदिरा गाँधी के उत्तराधिकार राजीव गाँधी ने अकाली नेता संत हरचंद सिंह लोंगोवाल के साथ समझौता करके पंजाब में विधानसभा के चुनाव कराये, और लम्बी जद्दोजहद के बाद यह राज्य राजनीतिक मुख्यधारा में आ पाया।

कश्मीर : क्षेत्रीय असंतोष के प्रति नेहरू की नीति अगर किसी मामले में नाकाम मानी जाती है, तो वह कश्मीर की समस्या है। आज़ादी से पहले कश्मीर एक देशी रियासत

थी जिसके बाशिंदे मुसलमान लेकिन राजा हिंदू था जिसने विभाजन के समय भारत या पाकिस्तान में मिलने के सवाल पर दुलमुल रवैया अपनाया। उधर पाकिस्तान की फ़ौज 1948 में मार्च करते हुए राजधानी श्रीनगर के पास पहुँच गयी। इस संकटपूर्ण परिस्थिति का नतीजा कश्मीर के विभाजन में निकला। एक छोटा सा हिस्सा पाक-अधिकृत कश्मीर के रूप में पाकिस्तान के पास चला गया, और कश्मीर घाटी, जम्मू और लद्दाख का भारत में विलय हो गया। भारतीय संविधान का अनुच्छेद 370 कश्मीर को भारतीय संघ में विशेष दर्जा प्रदान करता है। कश्मीरियों का हमेशा से मानना रहा है कि वे एक अलग समाज या राष्ट्र हैं। कश्मीरी इसलाम भी भारतीय उपमहाद्वीप में पाये जाने वाले इसलाम के रूपों से अलग है। नेहरू राष्ट्रवाद की धर्म-आधारित अभिव्यक्तियों को शक की निगाह से देखते थे। इसीलिए कश्मीरियों के नेता शेख अब्दुल्ला की राजनीति उन्हें पसंद नहीं आयी। अपनी तरफ से शेख की कोशिश थी कि वे पाकिस्तान और भारत के बीच कश्मीरी अस्मिता (कश्मीरियत) की दावेदारी के आधार पर क्षेत्रीय स्वायत्तता हासिल करें। इस कश्मीरियत पर मुसलमान बहुसंख्या की स्पष्ट छाप भी थी। भाषा और धर्म परस्परव्यापी थे। नेहरू जैसे सेकुलरवादियों को यह ख़ास तरह की स्थिति असहज करने के लिए काफ़ी थी। सम्भवतः इसी कारण से नेहरू ने कश्मीर में असाधारण क्रिस्म का हस्तक्षेपकारी रवैया अपनाया। शेख अब्दुल्ला को अपदस्थ और नज़रबंद करके वहाँ कांग्रेस को बख़्शी गुलाम मुहम्मद के नेतृत्व में सत्तारूढ़ करवाया गया।

नेहरू के बाद आयी केंद्र सरकारों ने कश्मीरियत की अभिव्यक्तियों के प्रति अविश्वास का रवैया जारी रखा। चुनावों के माध्यम से चलने वाली लोकतांत्रिक प्रक्रिया को भी तरह-तरह के हथकण्डों से अपनी तरफ मोड़ने की कोशिशें की गयीं। केंद्र द्वारा निर्देशित राजनीति और आर्थिक अनुदान की मिली-जुली राजनीति ने भारतीय लोकतंत्र और कश्मीर के बीच अविश्वास का रिश्ता बना दिया। शेख अब्दुल्ला और फिर उनके बेटे फ़ारूक अब्दुल्ला के नेतृत्व वाली नैशनल काँग्रेस के हाशिये पर चले जाने के कारण कश्मीरियत के आधार पर पनपी पृथकतावादी राजनीति का नेतृत्व पहले जम्मू-कश्मीर लिबरेशन फ्रंट और फिर हरियत काँग्रेस के हाथ में चला गया। इस विषम परिस्थिति में सीमा पार से भेजे जाने वाले आंतकवादियों के कारण कश्मीरी स्वायत्तता की मुहिम हथियारबंद अलगाववाद के चुंगल में फँस चुकी है। आतंकवाद से पैदा हुए जान-माल के ख़तरे के कारण घाटी से पण्डितों के पलायन ने कश्मीरियत का बचा-खुचा सेकुलर चरित्र भी समाप्त कर दिया है। बीच-बीच में तेज़ी से बदलते हुए घटनाक्रम के कारण लगता है कि शायद कश्मीर समस्या अब समाधान की तरफ जा रही है। लेकिन हर बार ये उम्मीदें

खोखली साबित होती हैं। भारतीय राज्य किसी न किसी राजनीतिक ग़लती के कारण कश्मीरी जनता को और अलगाव में डालता चला जाता है। फ़िलहाल न वहाँ राजनीतिक प्रक्रिया काम कर रही है, और न ही फ़ौज की कार्रवाई।

देखें : भारतीय अभिजन, भारतीय आधुनिकता, भारतीय इस्लाम, भारतीय उदारतावाद, भारतीय डायसपोरा, भारत में उपनिवेशवाद, भारत में नियोजन, भारत में प्रातिनिधिक प्रणाली, भारत में मतदान-व्यवहार-1 से 6 तक, भारतीय राज्य, भारतीय राष्ट्रवाद, भारतीय लोकतंत्र, भारतीय लोकतंत्र का संस्थानीकरण-1 से 3 तक, भारतीय स्वभाव और राजनीति, भारतीय संविधान-1 से 8 तक, भारतीय सामाजिक आंदोलन।

संदर्भ

1. राजीव भार्गव (2006), 'द इवोल्यूशन ऐंड डिस्टिक्टिवनेस ऑफ़ इण्डियाज़ लिंग्विस्टिक फ़ेडरलिज़म', डेविड टर्टन (सम्पा.), *एथनिक फ़ेडरलिज़म*, जेम्स करी, ऑक्सफ़र्ड.
2. संजीव बरुआ (2010), 'रीज़नलिज़म ऐंड ससेशनलिज़म', नीरजा गोपाल जयल और प्रताप भानु मेहता (सम्पा.), *द ऑक्सफ़र्ड कम्पैनिन टु पॉलिटिक्स इन इण्डिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
3. बलराज पुरी (1993), *कश्मीर टुवर्ड्स इंसरजेन्सी*, ओरिएंट लोंगमैन, नयी दिल्ली.
4. संजीव बरुआ (2005), *डबल डिसऑर्डर : अंडरस्टेंडिंग द पॉलिटिक्स ऑफ़ नॉर्थईस्ट इण्डिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

— अभय कुमार दुबे

भारत में बहुराष्ट्रीय निगम

(Multinational Corporations in India)

भारतीय अर्थव्यवस्था में बहुराष्ट्रीय निगमों की उपस्थिति आज्ञादी के पहले से रही है। उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन की विरासत के प्रभाव में स्वतंत्र भारत की सरकार ने आत्मनिर्भर विकास का रास्ता अपनाकर इन कॉरपोरेशनों के प्रति दोहरा रवैया अपनाया। एक तरफ़ तो उसने उन औद्योगिक गतिविधियों के दायरे और विदेशी स्वामित्व को सीमित कर दिया जिनमें बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को काम करना था। दूसरी तरफ़ उसने विदेशी निवेश हासिल करने की कोशिश भी जारी रखी ताकि नयी प्रौद्योगिकी मिलती रहे और उसके विदेशी मुद्रा भण्डार की हालत भी दुरुस्त रहे। इन दोनों रवैयों में बाद वाला ज़्यादा टिकाऊ साबित हुआ। विदेशी पूँजी के प्रति शुरुआती अरुचि जल्दी ही सहनशीलता में बदल

गयी। 1948 के पहले औद्योगिक नीति वक्तव्य में केवल भारतवासियों को औद्योगिक कम्पनियों का मालिकाना देने का आग्रह शामिल था, पर साल भर बाद ही सरकार सीमित अवधि के लिए किसी कम्पनी पर विदेशी नियंत्रण के लिए राज़ी हो गयी। इसी के बाद से 1959 तक फ़ायरस्टोन, डनलप, बाटा, हिंदुस्तान लीवर जैसी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की उपस्थिति मज़बूत होती चली गयी। विदेशी निवेश की मात्रा भी लगातार बढ़ी। साठ के दशक के मध्य तक बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ भारतीय अर्थव्यवस्था में प्रमुख भूमिका निभाने की हैसियत प्राप्त कर चुकी थीं। इन कम्पनियों के महत्त्व में दूसरा निर्णायक उछाल नब्बे के दशक में आया जब ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम और उदारीकरण की नीतियों के कारण इन कम्पनियों के लिए अर्थव्यवस्था ने अपने दरवाज़े पूरी तरह से खोल दिये। ये क्रम इस हकीकत के बावजूद उठाये गये कि देश में कई सामाजिक और राजनीतिक समूह बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के बढ़ते प्रभुत्व के खिलाफ़ मुहिम चला रहे थे, और यूनियन कारबाइड जैसी कम्पनी भोपाल गैस दुर्घटना के कारण काफ़ी बदनाम हो चुकी थी।

1966 में भारत में कार्यरत सबसे बड़ी 112 कम्पनियों में से 62 का स्वामित्व या नियंत्रण विदेशी हाथों में था। बहुत सी भारतीय फ़र्म उनके साथ उनके साथ तकनीकी सहयोग-समझौतों के ज़रिये जुड़ी हुई थीं। इसी वर्ष रुपये का अवमूल्यन हुआ जिसके कारण विदेशी मुद्रा रुपये के मुक़ाबले महँगी हो गयी। इसके कारण बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को कम विदेशी मुद्रा निवेश करने के बावजूद अपना प्रभाव क़ायम करने का मौक़ा मिल गया। सत्तर के दशक में ये कम्पनियाँ भारत में होने वाले मुनाफ़े को भारत में ही निवेश करने के लिए मजबूर हुईं, क्योंकि सरकार का विदेशी मुद्रा क़ानून उन्हें अपना मुनाफ़ा स्वदेश ले जाने से रोकता था। 1973 में पारित विदेशी मुद्रा विनियमन क़ानून (फ़ेरा) के कारण कई कम्पनियों को अपनी शेयर पूँजी घटा कर चालीस फ़ीसदी करनी पड़ी। आईबीएम और कोकाकोला ने ऐसा करना मंज़ूर नहीं किया और वे देश छोड़ कर चली गयीं। पर ज़्यादातर कम्पनियों ने इस क़ानून में भी अपना फ़ायदा देखा। चालीस फ़ीसदी शेयर पूँजी के नाम पर उनका 'भारतीयकरण' हो गया जिसके कारण वे अब विदेशी कम्पनियों पर लगने वाली पाबंदियों से परे जा कर अपना काम फैला सकती थीं। फ़ेरा क़ानून ने इन कम्पनियों को मौक़ा दिया कि वे अपने विदेशी स्वामित्व वाले शेयर भारतीयों को बेचने का बजाय नये शेयर जारी करके उन्हें बिखरे हुए रूप में बेच कर प्रबंधन पर अपना नियंत्रण क़ायम रख सकें।

सत्तर के दशक के अंत में जैसे ही तेल की उछलती हुई क़ीमतों के कारण भारत का तेल आयात बिल चौगुना हुआ, विदेशी मुद्रा संकट ने अर्थव्यवस्था को घेर लिया। भारत

सरकार को अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के पास जाना पड़ा और आज़ादी के बाद का सबसे बड़ा कई अरब डॉलर का विदेशी मुद्रा ऋण लिया गया। इसके साथ शर्तें लगी हुई थीं कि सरकार को अर्थव्यवस्था में एक समायोजन कार्यक्रम चलाना पड़ेगा। इसका मतलब था सरकार सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों को समर्थन देना बंद कर देगी और पब्लिक सेक्टर के उद्यम बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के साथ गठजोड़ करेंगे। इसी कार्यक्रम के तहत माल और प्रौद्योगिकी का आयात सरल बनाया गया। बहुराष्ट्रीय निगमों को अपनी शेयर-पूँजी बढ़ाने अवसर मिला। निर्यात और प्रौद्योगिकी प्रधान क्षेत्रों में उन्हें सौ फ्रीसदी मिलिक्यत रखने का अधिकार मिल गया। सरकार ने कॉरपोरेट आय कर भी घटा दिया जिससे विदेशी निवेश को और प्रोत्साहन मिला।

1981 से 1985 के बीच सुजुकी, दुपोंत, मित्सुबुशी, गुडइयर और सीको जैसे नये बहुराष्ट्रीय निगमों ने भारत में प्रवेश किया। वेस्टिंगहाउस, ज़रोक्स, यूनाइटेड टेक्नॉलॉजी और हनीवेल जैसे निगम भारतीय कम्पनियों से समझौते करके यहाँ के बाज़ार में आ गये। कई अर्थशास्त्रियों का मानना है कि अस्सी के दशक में अपनायी गयी इन नीतियों के कारण ही अर्थव्यवस्था को नब्बे के दशक की शुरुआत में भुगतान घाटे की समस्या का सामना करना पड़ा। 1991 में सरकार फिर से विदेशी मुद्रा ऋण लेने के लिए ब्रेटन वुड्स संस्थाओं की शरण में गयी और विश्व बैंक व मुद्रा कोष ने एक नया ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम चलाने की शर्त लगायी। इसके मुताबिक 34 उद्योगों के दरवाज़े 51 फ्रीसदी विदेशी स्वामित्व के लिए खोल देने पड़े। एक उच्चाधिकारसम्पन्न विदेशी निवेश प्रोत्साहन बोर्ड गठित किया गया। मौजूदा बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को अपना स्वामित्व 51 फ्रीसदी तक बढ़ाने की इजाज़त दे दी गयी। कुछ क्षेत्रों में सौ फ्रीसदी विदेशी स्वामित्व की अनुमति दी गयी। भारत ने बहुपक्षीय निवेश गारंटी प्रोटोकॉल पर दस्तखत किये ताकि विदेशी निवेश की सुरक्षा सुनिश्चित की जा सके। फ़ेरा क्रानून की कई धाराएँ ढीली कर दी गयीं ताकि चालीस फ्रीसदी से ज़्यादा विदेशी शेयर पूँजी वाली कम्पनियों के साथ भी भारतीय कम्पनियों जैसा ही बर्ताव किया जा सके। विदेशी कम्पनियों को अपने ट्रेडमार्कों का भारतीय बाज़ार में इस्तेमाल करने की इजाज़त भी इन्हीं नीतियों का अंग थी। इसी ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम ने विदेशी संस्थागत निवेशकों (एफआईआई) के लिए भारतीय स्टॉक एक्सचेंजों के दरवाज़े खोले। आयात पर लगी हुई विदेशी मुद्रा पाबंदियाँ हटा ली गयीं। विदेशी निवेश पर आधारित फ़्रास्ट-ट्रेक विद्युत परियोजनाओं पर विवादास्पद काउंटर-गारंटी देने के लिए भी सरकार राजी हो गयी।

इन्हीं नीतियों के परिणामस्वरूप भारत में बहुराष्ट्रीय

कम्पनियों की गतिविधियाँ और उनका निवेश नब्बे के दशक के बाद से कई गुना बढ़ चुका है। फ़ेरा क्रानून की वजह से भारत छोड़ कर चले जाने वाले कोकाकोला और आईबीएम भी वापिस आ चुके हैं और उनका धंधा जम कर चल रहा है। खेती के विभिन्न रूपों में भी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने निवेश और हस्तक्षेप शुरू कर दिया है। इलक्ट्रॉनिक मीडिया में तो उनकी मौजूदगी अब दस साल पुरानी हो चुकी है। बैंक, बीमा और अन्य वित्तीय क्षेत्रों में बहुराष्ट्रीय संस्थाओं की गतिविधियाँ अब भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए एक स्वाभाविक तथ्य बन चुकी हैं।

भारतीय बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का उदय : बहुराष्ट्रीय निगमों और भारतीय अर्थव्यवस्था की अन्योन्यक्रिया में एक नया पहलू नयी सहस्राब्दी की शुरुआत में जुड़ा है। यह है बड़ी भारतीय कम्पनियों द्वारा बहुराष्ट्रीय स्वरूप ग्रहण करने का सफल प्रयास करना। 2010 में भारत की सबसे बड़ी दूरसंचार कम्पनी भारती एयरटेल ने कुवैत की ज़ाइन नामक दूरसंचार कम्पनी की अफ्रीकी शाखा को पूरा का पूरा ख़रीद लिया है। भारत के ही एक अन्य पुराने औद्योगिक घराने टाटा ने स्टील निर्माता कोरस को ख़रीद कर अपने बहुराष्ट्रीय इरादों को जाहिर कर दिया था। भारती एयरटेल द्वारा ज़ाइन के अफ्रीकी चैप्टर का टेकओवर बताता है कि मार्क्सवादी विद्वानों द्वारा प्रतिपादित निर्भरता सिद्धांत अब भारतीय संदर्भों में पहले की तरह कारगर नहीं रह गया है। भारतीय अर्थव्यवस्था अब विकसित देशों की पिछलग्गू न रह कर स्वयं की पहचान बना कर सुदृढ़ होने लगी है। भारतीय बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ भी दूसरे विकसित देशों की कम्पनियों से बराबर की हैसियत में प्रतियोगिता करने लगी हैं।

इस सिलसिले में सर्वाधिक ध्यान देने योग्य पहलू यह है कि जिन भारतीय कम्पनियों ने पिछले दिनों टेकओवर किये हैं उनके पास अपने घरेलू बाज़ार की ज़बरदस्त ताक़त मौजूद है। उसी मुक़ाम पर खड़े हो कर वे अपना अंतर्राष्ट्रीय विस्तार करने की परियोजना चला रही हैं। पश्चिमी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का चरित्र इस मायने में अलग रहा है। उनका इतिहास बताता है कि वे ओवरसीज़ ऑपरेशंस के दम पर अपना बोलबाला क़ायम करने की योजनाओं पर अमल करती रही हैं। उनका घरेलू बाज़ार मँहगा है और वहाँ होने वाली प्रतियोगिता बहुत कड़ी है। वे एशिया, अफ्रीका और लातीनी अमेरिका के सस्ते श्रम के दम पर अपने उत्पादन की विकेंद्रीकरण करने के ज़रिये टिकी हुई हैं। भारतीय कम्पनियों के सामने ऐसी कोई मजबूरी नहीं है। वे अपने विशाल बाज़ारों को पहले ही नियंत्रण में ले चुकी हैं। भारती द्वारा अफ्रीकी बाज़ार पर क़ब्ज़ा करने की रणनीति इस मायने में अनूठी है कि एक झटके में अफ्रीका के पंद्रह देशों (जिनमें नाइजीरिया का विशाल बाज़ार भी शामिल है) का दूरसंचार व्यवसाय

उसके हाथ में आ गया है।

देखें : अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, पेटेंट, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, भारत का भूमण्डलीकरण, भारत में पेटेंट क़ानून, भारत में शैयर संस्कृति, भूमण्डलीकरण, भूमण्डलीकरण का इतिहास-1 और 2, भूमण्डलीकरण और पूँजी बाज़ार, भूमण्डलीकरण और लोकतंत्र, भूमण्डलीकरण और राज्य, भूमण्डलीकरण और राष्ट्रीय सम्प्रभुता, भूमण्डलीकरण और वित्तीय पूँजी, भूमण्डलीकरण और वित्तीय उपकरण, भूमण्डलीकरण के आलोचक, भूमण्डलीकरण के खिलाफ़ प्रतिरोध विश्व बैंक, विश्व व्यापार संगठन।

संदर्भ

1. जेड ग्रिअर और कवलजीत सिंह (1996), *टीएनसीज़ ऐंड इण्डिया*, पब्लिक इंटेरेस्ट रिसर्च ग्रुप, नयी दिल्ली।
2. दिलीप एस. स्वामी (1980), *मल्टीनैशनल कॉरपोरेशंस ऐंड वर्ल्ड इकॉनॉमी*, एल्प्स पब्लिशर्स, नयी दिल्ली।
3. विश्वजीत धर (1988), 'स्टेट रेगुलेशन ऑफ़ फ़ॉरन प्राइवेट कैपिटल सिंस इंडिपेंडेंस', *कॉरपोरेट स्टडीज़ ग्रुप वर्किंग पेपर*, इंस्टीट्यूट ऑफ़ पब्लिक ऐडमिनिस्ट्रेशन, नयी दिल्ली।
4. सोम देव (1986), *मल्टीनैशनल कॉरपोरेशंस ऐंड द थर्ड वर्ल्ड*, आशीष पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली।

— अभय कुमार दुबे

भारत में भाषा-नियोजन-1

संवैधानिक स्थिति

(Language Planning in India-1)

यद्यपि आम बोलचाल में हिंदी को राष्ट्र-भाषा की संज्ञा दी जाती है, लेकिन भारतीय संविधान ने हिंदी को संघ की राज-भाषा की हैसियत दी है। राज-भाषा का मतलब सुपरिभाषित रूप से भारतीय संघ के सरकारी कामकाज और इसी मक़सद से राज्यों के बीच सम्पर्क-संवाद की भाषा है। ध्यान देने की बात यह है कि संविधान हिंदी को भारतीय संघ की भाषा का दर्जा देने के बावजूद उसे राज्यों के लिए अनिवार्य नहीं बनाता। उसमें राज्यों की अपनी अलग राज-भाषाओं का प्रावधान है। औपचारिक रूप से अंग्रेज़ी की हैसियत संघ की दूसरी यानी सहयोगी राजभाषा की है। संविधान की आठवीं अनुसूची में संस्कृत, सिंधी, पंजाबी, कोंकणी, मणिपुरी, नेपाली, मलयालम, मराठी, गुजराती, असमिया, उर्दू, उड़िया, कन्नड़, तेलुगु, बंगाली, तमिल, हिंदी, नेपाली, काश्मीरी, डोगरी, मैथिली और संथाली शामिल हैं। मणिपुरी, नेपाली

और कोंकणी 1992 में और डोगरी, मैथिली और संथाली 2004 में जोड़ी गयी हैं। संविधान सभा ने अंग्रेज़ी को इस सूची में शामिल करने का प्रस्ताव बिना किसी ख़ास विवाद के ख़ारिज कर दिया था। 1959 में अंग्रेज़ी को शामिल करने का प्रयास दोबारा हुआ, पर पहले की तरह उस समय भी नेहरू उसके पक्ष में नहीं थे। कुल मिला कर संविधान की दृष्टि से कोई भी एक भाषा भारत की राष्ट्र-भाषा नहीं है। दरअसल, आठवीं अनुसूची की हर भाषा राष्ट्र-भाषा कही जा सकती है। ऐसी हर भाषा को अपने विकास के लिए भारतीय राज्य के संसाधनों में से हिस्सा माँगने का हक़ है।

संविधान के सत्रहवें हिस्से में दर्ज अनुच्छेद 341 से 351 तक भाषा के बारे में हैं। अनुच्छेद 343 के अनुसार भारतीय संघ की आधिकारिक भाषा देवनागरी लिपि में लिखी गयी हिंदी में होगी। इसके बाद वाले अनुच्छेद के अनुसार राष्ट्रपति को संविधान लागू होने के पाँच साल बाद और फिर हर दस वर्ष बाद एक आयोग का गठन करना होगा जो उन्हें राज-भाषा हिंदी के बारे में प्रगति की जानकारी और उसे और आगे बढ़ाने के लिए सुझाव भी देगा। अनुच्छेद 345 और 346 राज्यों को अधिकार देता है कि वे राज-भाषा अधिनियम पारित करके किसी भी भाषा या एक से अधिक भाषाओं को किसी ख़ास काम के लिए या सभी सरकारी कामों के लिए इस्तेमाल कर सकते हैं। इस क़ानून के तहत केवल वही भाषा ही अपनायी जा सकती है जिसे राज्य के कम से कम पंद्रह फ़ीसदी लोग बरतते हों। इस लिहाज़ से नगालैण्ड और कुछ केंद्र शासित प्रदेशों ने अंग्रेज़ी को अपनी राज-भाषा घोषित कर रखा है। यह प्रावधान कहता है कि किसी भी राज्य में संविधान पारित होने के ठीक पहले अंग्रेज़ी जिन राजकीय कामों के लिए इस्तेमाल की जा रही थी, उस समय तक इस्तेमाल होती रहेगी जब तक कि क़ानून के जरिये ही उसे ऐसा करने से न रोक दिया जाए। अनुच्छेद 346 यह भी कहता है कि दो या दो से अधिक राज्य तय कर सकते हैं कि उनके बीच होने वाला सम्पर्क-संवाद हिंदी में होगा। अनुच्छेद 347 के अनुसार अगर राष्ट्रपति को लगता है और वे संतुष्ट हैं कि किसी राज्य की आबादी का पर्याप्त अंश कोई एक भाषा बरतता है तो वे उसे राज्य की राज-भाषा घोषित करने का निर्देश दे सकते हैं। अनुच्छेद 350(ए) किसी भी भाषाई अल्पसंख्यक समुदाय के बच्चों को उनकी मातृभाषा में प्राथमिक शिक्षा का अधिकार देता है। संविधान में अनुच्छेद 29 के जरिये अल्पसंख्यकों को अपनी भाषाओं और संस्कृतियों की संरक्षा का अधिकार मिला हुआ है। अनुच्छेद 351 भारतीय संघ का दायित्व निश्चित करता है और उस प्रक्रिया का प्रावधान करता है जिसके तहत हिंदी को देश की सामासिक संस्कृति के सभी तत्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनना है।

जब राज-भाषा की सुपरिभाषित सीमाओं से परे जा कर लोकप्रिय राजनीति में हिंदी को राष्ट्र-भाषा कहा जाता है तो उसका मतलब क्या होता है? क्या उसका मतलब सारे देश के सभी क्षेत्रों के लिए अनिवार्य किसी ऐसी भाषा से होता है जो युरोप में अंग्रेजी, फ्रेंच या स्पेनिश की तरह राष्ट्र-भाषा हैं? नहीं, भारतीय संदर्भ में हिंदी को मिले राष्ट्र-भाषा के अनधिकृत दर्जे का भी अर्थ असल में युरोपीय क्रिस्म का नहीं होता। उसका मतलब तो एक ऐसी अनूठी और सर्वभारतीय सम्पर्क-भाषा से होता है जो विभिन्न संस्कृतियों के आर-पार सम्पर्क की भूमिका निभा सके, देश के एक बड़े हिस्से में रोज़मर्रा की बोलचाल की भाषा भी हो, मनोरंजन और समाचार के माध्यमों की भाषा होने के साथ-साथ बौद्धिक-राजनीतिक विमर्श की भाषा भी बने। संविधान ने भारतीय संघ को राज-भाषा बनाने के नाम पर जो निर्देश दिये हैं, उनका मक़सद हिंदी में इसी तरह की बहुमुखी क्षमता पैदा करना है।

इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए गाँधी ने एक पाँच सूत्रीय फ़ार्मूला दिया था। इसके अनुसार ऐसी भाषा वह होगी जिसे सरकारी अधिकारी आसानी से सीख सकें, जो पूरे भारत में धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक अन्योन्यक्रिया का आपसी माध्यम बनने में सक्षम हो, भारतवासियों का बहुलांश जिसे बोलता हो, पूरा देश जिसे आसानी से सीख सके और जिसका चुनाव अस्थाई या चलताऊ दिलचस्पियों से परे जा कर किया जाए। ध्यान रहे कि गाँधी ने यह फ़ार्मूला 1917 में द्वितीय गुजरात शिक्षा सम्मेलन में राष्ट्र-भाषा के लक्षण बताते हुए दिया था। साथ में गाँधी का यह भी कहना था कि इनमें से एक भी लक्षण अंग्रेजी भाषा में तो है ही नहीं, और इस लिहाज़ से हिंदी की होड़ करने वाली और कोई भाषा नहीं है। गाँधी ने ऐसी भाषा के लिए जो गुजराती शब्द प्रयोग किया था, उसका मतलब भी सम्पर्क भाषा ही होता है।

संवैधानिक प्रावधानों के मुताबिक अंग्रेजी को पंद्रह साल बाद यानी 1965 में सहयोगी राज-भाषा के पद से हटा दिया जाना था। लेकिन जब ऐसा करने की कोशिश की गयी तो उसके अनपेक्षित परिणाम निकले। अंग्रेजी हटाना हिंदी थोपने का पर्याय समझा गया। यह रवैया न केवल कुछ ग़ैर-हिंदीभाषी राज्यों के राजनीतिक नेतृत्व ने अपनाया, बल्कि कुछ विद्वानों ने भी इस प्रश्न पर हिंदी विरोधी मुहिम का साथ दिया। राज्यों की राजनीति में आज हिंदी विरोधी मुहिम व्यावहारिक रूप से ख़त्म हो चुकी है, लेकिन समाज-वैज्ञानिक विमर्श में आज तक यह दृष्टिकोण अपनी झलक मारता रहता है। उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश और राजस्थान के मुख्यमंत्रियों ने नब्बे के दशक में जब अपने राज्यों में सरकारी कामकाज की भाषा हिंदी को बनाने का आग्रह किया तो देश के एक प्रमुख राजनीतिशास्त्री ने आरोप लगाया कि चार हिंदी प्रांतों के मुख्यमंत्री चाहते हैं कि राज-

काज में जो विशेष लाभ अंग्रेजीभाषियों को मिलता है, वह हिंदीभाषियों को मिले। यह एक आधारहीन और मनगढ़ंत आरोप था। किसी मुख्यमंत्री ने ऐसा कोई वक्तव्य नहीं दिया जिसका ऐसा मतलब निकाला जा सके। हिंदी को अपने राज्यों के कामकाज की भाषा बनाने और हिंदी में दूसरे राज्यों से अपनी चिट्ठी-पत्री करने का आग्रह ही इन मुख्यमंत्रियों का नया आग्रह था। प्रशासनिक सेवाओं की परीक्षा में हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं का आगमन तो 1979 में ही हो चुका था।

भारत एक बहुभाषी देश है। आधुनिक राष्ट्र और राज्य के निर्माण के लिए आज़ादी के बाद भारतीय राज्य ने संविधान के निर्देशों के मुताबिक जिस भाषा-नियोजन को अपनाया, उसमें और युरोप में होने वाले भाषा-नियोजन के बीच क्या फ़र्क़ था? भाषा-नियोजन का सिद्धांत बताता है कि एक बहुभाषी नज़ारे में विभिन्न भाषाएँ राज्य की मान्यता के लिए संघर्ष करती हैं और राज्य थोड़े-बहुत हीले-हवाले के बाद उन्हें यह मान्यता दे देता है। लेकिन मान्यता देने की इसी प्रक्रिया में वह अपना सुसंगतीकरण (रैशनलाइज़ेशन) करने की खातिर राष्ट्रवाद की प्रौद्योगिकी का इस्तेमाल करके किसी एक भाषा को 'फ़र्स्ट अमंग ईक्वल्स' के दर्जे पर बैठा देता है। इस चरण को मल्टीलिंगुअलिज़म का नाम दिया गया है। इसके बाद दूसरे चरण की लम्बी प्रक्रिया शुरू होती है जिसमें क़ानूनी और सांस्कृतिक प्रौद्योगिकियों के जरिये उस भाषा को दूसरे भाषाभाषी समूहों के गले उतारने का अभियान चलाया जाता है। इस चरण को लेंग्वेज रैशनलाइज़ेशन कहा जाता है। दूसरा चरण जिस समय अपने परिपक्व दौर में पहुँच रहा होता है, उसी दौरान लोकतांत्रिक राज्य एक भाषा के पक्ष में किये जा रहे लेंग्वेज रैशनलाइज़ेशन के कारण दूसरी भाषाओं को हो रहे नुक़सान की भरपाई करने के लिए लेंग्वेज मेंटीनेंस के क्रदम उठाता है जिसके तहत पिछड़ रही भाषाओं को केंद्र करके राज्य द्वारा प्रोत्साहन की मुहिमें चलाई जाती हैं।

भाषा-नियोजन का यह पैटर्न फ़्रांस, इंग्लैण्ड, स्पेन, जर्मनी, जापान, थाइलैण्ड और चीन जैसे देशों में कामयाब होते हुए देखा जा सकता है। बहुभाषी होने के बावजूद इन देशों में राज्य की ताक़त भाषाई संस्कृतियों की बहुलता पर एक भाषा और एक लिपि आरोपित करने में सफल रही। इस काम में वहाँ के शासकों को राज्य-सुसंगतीकरण के अन्य पहलुओं (जैसे, एक मुद्रा, पूरे देश में फ़ौज में भर्ती के एक ही मानक और एक ही धर्म) पर होने वाले खर्च से भी कम संसाधन खर्च करने पड़े। इन कोशिशों का बहुत मामूली सा ही विरोध हुआ और थोड़े-बहुत हीले-हवाले के बाद विभिन्न भाषाई पहचानों और उनकी नुमाइंदगी करने वाले क्षेत्रीय अभिजन सरकारी भाषा सीखने की ज़िम्मेदारी उठाने के लिए तैयार हो गये। इन देशों ने जो भाषाई एकरूपता

हासिल की, वह एक जटिल राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक शक्तियों की अन्त्योन्त्यक्रिया का परिणाम थी। साथ ही यह भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि युरोप में हुआ यह भाषाई नियोजन उस युग की देन था जब वहाँ लोकतंत्र का बोलबाला नहीं हुआ था। फ्रांस के राजा फ्रांस्वा प्रथम ने जिस राजकीय कठोरता से अपने किसानों को फ्रेंच सीखने पर मजबूर किया या स्पेन के राजा फ़िलिप पंचम ने जिस बेलौस ढंग से क्षेत्रीय अभिजनों के गले स्पेनिश उतारी, वह लोकतांत्रिक भारत में सम्भव नहीं था। जर्मनी में फ्रेड्रिख द्वितीय को भाषाई सुसंगतीकरण करने का श्रेय जाता है। ये तीनों राजा अपने-अपने ढंग से राष्ट्र-निर्माता थे। हमें नहीं भूलना चाहिए कि फ़िलिप और फ्रेड्रिख दोनों ही अपनी भाषा फ्रांसीसी मानते थे। लेकिन उत्तर-औपनिवेशिक परिस्थितियाँ इस तरह के भाषा-नियोजन के अनुकूल साबित नहीं हो सकती थीं।

देखें : 'अंग्रेजी हटाओ' आंदोलन, डायग्लॉसिया, भारत में भाषा-नियोजन-1 से 4 तक, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, रामविलास शर्मा-1 और 2, सम्पर्क भाषा-1, 2, 3 और 4, संस्कृत काव्यशास्त्र, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1, 2 और 3, हिंदी विरोधी आंदोलन, हिंदी जाति-1, 2 और 3, हिंदी-जगत और 'लोकप्रिय'-1 और 2, हिंदी नवजागरण, हिंदी-संस्थाएँ।

संदर्भ

1. सुरेश कुमार शर्मा (सम्पा.) (2006), *लेंग्वेज इन कंटेम्परेरी इण्डिया*, पहला और दूसरा खण्ड, विस्टा इंटरनैशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.
2. सुदीप्त कविराज (2009), 'राइटिंग, स्पीकिंग, बीइंग : लेंग्वेज ऐंड द हिस्टोरिकल फ़ॉर्मेशन ऑफ़ आइडेंटिटीज़ इन इण्डिया', आशा सारंगी (सम्पा.), *लेंग्वेज ऐंड पॉलिटिक्स इन इण्डिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
2. हंस आर. दुआ (1993), 'द नैशनल लेंग्वेज ऐंड द एक्स-कोलोनियल लेंग्वेज एज़ राइवल्स : द केस ऑफ़ इण्डिया', *इंटरनैशनल पॉलिटिकल साइंस रिव्यू*, खण्ड 14, अंक 3.
3. ज्योतिरिंद्र दास गुप्ता (1970), *लेंग्वेज कांफ्लिक्ट ऐंड नैशनल डिवेलपमेंट*, युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस, बर्कले और लॉस एंजेलस.

— अभय कुमार दुबे

भारत में भाषा-नियोजन-2

युरोप से भिन्न परिघटना

(Language Planning in India-2)

वस्तुतः भारतीय राज्य सचेत रूप से भाषा-नियोजन की किसी धारणा पर नहीं चल रहा था। भाषा-नियोजन शब्द का पहली बार प्रयोग 1953 में उरील वाइनरीख ने किया था। 1959 में नार्वे की भाषा-समस्या का विश्लेषण करते हुए इस पद का उल्लेखनीय इस्तेमाल किया गया। 1966 से यह प्रतिमान विकासशील देशों की भाषा-समस्या के लिए प्रयुक्त होने लगा, जबकि भारत में राष्ट्र-निर्माण के लिए भाषा के इस्तेमाल का इतिहास कम से कम सौ साल पुराना है। हालाँकि यह माना जा सकता है कि 1950 के बाद भारतीय राज्य ने जिस तरह से केंद्रीय और क्षेत्रीय स्तरों पर राज-भाषाओं को गढ़ने की परियोजना चलाई, उसके कई पहलू भाषा-नियोजन की प्रचलित धारणा से मिलते-जुलते हैं, लेकिन कुछ अहम पहलू अलग भी हैं।

भारतीय राज्य की उत्तर-औपनिवेशिक पृष्ठभूमि में देखने पर साफ़ हो जाता है कि आजादी के बाद भारतीय राज्य द्वारा किये गये भाषा-नियोजन की कहानी युरोप से अलग होनी ही थी। यहाँ यह साफ़ कर देना ज़रूरी है कि भाषा-नियोजन केवल युरोपीय ही नहीं, बल्कि एशियाई परिघटना (जापान, चीन, थाइलैण्ड, इण्डोनेशिया, मलेशिया) भी है। राष्ट्र और राज्य-निर्माण के प्रश्नों पर गाँधी और नेहरू में जो भी मतभेद रहे हों, पर भाषा-नियोजन की ज़रूरतों के मामले में दोनों में एकता प्रतीत होती है। नेहरू की सरकार ने तो भाषा-नियोजन का नेतृत्व किया ही, गाँधी भी भाषा-नियोजन को एक उपयोगी उपकरण की तरह देखते थे। उन्होंने पश्चिमी प्रभुत्व का मुक़ाबला करते हुए जापान द्वारा किये गये भाषा-नियोजन की सराहना की थी। 1942 में गाँधी ने कहा था कि जापानी भाषा के मामले में 'अपनी ऊर्जा का अपव्यय नहीं करते। जिन्हें पश्चिमी भाषाएँ सीखनी होती हैं, वे सीखते हैं ताकि जापानी चिंतन को उन पहलुओं से समृद्ध कर सकें जो केवल पश्चिम से ही मिल सकते हैं ... उनकी तेज़ प्रगति का कारण युरोपीय शैली की शिक्षा को कुछ लोगों तक सीमित करना और जापानियों के बीच नये ज्ञान को अपनी मातृ-भाषा में फैलाना था।' अपने तमाम अधकचरेपन और गड़बड़ियों के बावजूद भारत का भाषा-नियोजन यह युरोपीय देशों में किये गये भाषा-नियोजन की नक़ल में चलाई गयी मुहिम नहीं था।

अगर भारत युरोप के लिहाज़ से चलता तो भारतीय राज्य को अपना भाषा नियोजन तीन चरणों में करना चाहिए

था। लेकिन, भारत एक अलग तरह का देश था। उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष के दौरान यहाँ का राष्ट्रवाद उपराष्ट्रीयताओं के उन बेहद प्रभावी घटकों से मिल कर बना था जो सांस्कृतिक स्वायत्तता के प्रबल दावेदार थे। औपनिवेशिक प्रभुओं की कारिस्तानी के कारण यहाँ का अभिजन दो खानों में बँटा हुआ था : राजनीतिक और नौकरशाह। राजनीतिक अभिजन की बुनियाद उपनिवेशवाद के खिलाफ संघर्ष के आधार पर पड़ी थी, और नौकरशाह अभिजन की बुनियाद उपनिवेशवाद की सेवा के लिए डाली गयी थी। ज़ाहिर है कि यहाँ भाषा-नियोजन की विधि और उसके परिणाम यूरोप और एशिया के अन्य देशों से भिन्न होने लाज़मी थे।

सवाल यह है कि भारतीय संघ की सहयोगी भाषा के रूप में अंग्रेज़ी हटाने का कुछ राज्यों ने विरोध क्यों किया? उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन के नेतृत्व और संविधान-निर्माताओं की भाषाई राजनीति में कई अंतर्विरोध थे लेकिन उनके दृष्टिकोण पर यह आरोप लगाना पूरी तरह से नाजायज़ है कि वे पूरे देश पर एक भाषा थोपना चाहते थे। क्या गाँधी और संविधान-निर्माता तमिल, तेलुगु, बांग्ला, गुजराती और मराठी जैसी भाषाओं को ख़त्म करना चाहते थे? क्या इसीलिए उन्होंने पंद्रह साल के भीतर अंग्रेज़ी की जगह हिंदी लाने का प्रावधान किया था? दरअसल, भाषा-चिंतन की इस उलझन का स्रोत राष्ट्र-भाषा की यूरोपीय धारणा के बरक्स राष्ट्र-भाषा की भारतीय धारणा न समझ पाने में निहित है। यूरोपीय क्रिस्म की राष्ट्र-भाषा का संदर्भ एकभाषिता आरोपित करने का है, जबकि भारतीय क्रिस्म की राष्ट्र-भाषा का संदर्भ बहुभाषिता क्रायम रखने का है। इसीलिए गाँधी की भाषा नीति का मर्म केवल यह नहीं था कि हिंदुस्तानी या हिंदी को एक अखिल भारतीय भाषा के रूप में विकसित किया जाना चाहिए। ऐसा कहना तो एक अधूरा सत्य होगा। इस संबंध में गाँधी के निर्देश और उनके मुताबिक की गयी उनकी अपील स्पष्ट थी : हिंदी के साथ-साथ सभी क्षेत्रीय भाषाओं के आधुनिकीकरण और विकास की मुहिम चलाई जानी चाहिए। इस मुहिम की शुरुआत के लिए हिंदी और अन्य भाषाई अभिजनों ने आज्ञादी मिलने का इंतज़ार नहीं किया। जब स्वाधीनता मिलने की नौबत आयी, ये भाषाएँ आधुनिकीकरण और विकास के रास्ते पर काफ़ी आगे बढ़ चुकी थीं। उनके साहित्यिक और राजनीतिक दायरों की आत्म-छवि का निर्माण हो चुका था। इसलिए आधुनिक भारतीय राज्य को अपना भाषा-नियोजन अलग-अलग चरणों में करने के बजाय एक साथ करना पड़ा। भारतीय संघ के स्तर पर भी भाषा-नियोजन हुआ, और राज्यों के स्तर पर होने वाला भाषा-नियोजन उसके मातहत नहीं था बल्कि वहाँ के भाषा-नियोजनों के केंद्र में क्षेत्रीय भाषाएँ थीं।

इसी मुक़ाम पर यह जाँच कर लेना भी ज़रूरी है कि नागरिकता का वह कौन सा आदर्श भाषाई रूप था जिसे यह नियोजन हासिल करना चाहता था। भारतीय अभिजन के पास न तो यूरोप जैसा एक भाषाभाषी राज्य बनाने का विकल्प उपलब्ध था, और न ही वह ऐसा राज्य बनाना चाहता था। नेहरू वगैरह के सामने सिर्फ़ दो तरह के भाषाई भारत में से किसी एक को चुनने का मौक़ा था, और ये दोनों बहुभाषिता की ही दो क्रिस्में थीं। पहली क्रिस्म ऐसे राज्यों की रचना की तरफ़ ले जाती थी जो भाषाई लिहाज़ से मिली-जुली आबादी वाले होने थे, और दूसरी क्रिस्म ऐसे राज्यों की रचना का आग्रह करती थी जिनमें किसी एक भाषा की प्रधानता होनी थी लेकिन दूसरी भाषाएँ अल्पसंख्यक के रूप में मौजूद रहनी ही थीं। राज्य दोनों में से कैसे भी बनते, उन्हें आपस में प्रशासनिक रूप से जोड़ने के लिए एक राज-भाषा की ज़रूरत थी और यह आग्रह यूरोपीय नहीं था।

राज्य-रचना के यूरोपीय मानकों के प्रभावी होने से पहले भी तरह के राज्य किसी न किसी भाषा को राज-भाषा बनाते आ रहे थे। कहीं वह किसी अल्पसंख्यक शासक समुदाय की भाषा होती थी। कहीं-कहीं शासकगण अपनी मातृभाषा की उपेक्षा करके किसी अन्य भाषा को राज-भाषा बनाते थे। कहीं बहुसंख्यकों की भाषा को यह मौक़ा मिलता था। अर्थात् राज-भाषा चुनने का कोई सार्वभौम नियम नहीं था। ऐसे देशों की भी कमी नहीं है जहाँ एक से अधिक भाषाओं को राज-भाषा का दर्जा दिया गया है (जैसे स्विट्ज़रलैण्ड)। आधुनिक युग में राज्य और राष्ट्र का युगम बना और प्रशासनिक एकता को राष्ट्रीय एकता का नाम दिया जाने लगा। राजशाही के बाद उभरे राष्ट्र-राज्यों की वैधता का स्रोत जनता में देखा जाने लगा, और इस तरह राष्ट्र-राज्यों का युग लोकतंत्र का युग भी बन गया। भारतीय राज्य की संकल्पना भी लोकतंत्र के रूप में ही की गयी थी। इसलिए अंतर-प्रांतीय संवाद-सहयोग की भाषा या व्यापक संचार की भाषा को महज़ प्रशासनिक उपादान के बजाय सांस्कृतिक उपादान के रूप में भी देखने को यूरोपीय नक़ल नहीं माना जा सकता। इस सांस्कृतिक औज़ार को पहले से मौजूद समृद्ध भाषाई संस्कृतियों के बीच सम्पर्क-सूत्र की भूमिका निभानी थी, इसीलिए भारतीय संदर्भ में राष्ट्र-भाषा का विचार सम्पर्क-भाषा के रूप में ग्रहण किया गया है। यूरोप का एकभाषीपन वहाँ की बहुभाषिता को जबरिया किये गये समरूपीकरण या क्रमशः आत्मसातीकरण के ज़रिये निगल लेने की प्रक्रिया का फल है, जबकि भारत जैसे देश में देशी जड़ों वाली व्यापक संचार की भाषा विकसित करने का उद्यम उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रीयता और बहुलवाद को क्रायम रखते हुए एकजुटता प्राप्त करने की कामना के गर्भ से निकला है। सारे भारत में एक लिंगवा-फ़्रांका या जन-भाषा या

सम्पर्क-भाषा या राष्ट्र-भाषा की धारणा युरोपीय क्रिस्म की राष्ट्र-भाषा जैसी नहीं है। द्विभाषिता और त्रिभाषिता के बीच राष्ट्र-भाषा की भूमिका एकभाषिता के आग्रह के साथ स्थापित की जाने वाली राष्ट्रभाषा से अलग समझी जानी चाहिए, और उसके कारगर होने की कसौटियाँ भी उसी के मुताबिक निर्धारित की जानी चाहिए।

देश के आंतरिक मानचित्र की भाषाई रूपरेखा के सवाल पर नेहरू वगैरह की भाषाई उलझन समझने का विश्लेषणात्मक परिप्रेक्ष्य भी यही हो सकता है। आजादी मिलने से पहले ही कांग्रेस का केंद्रीय नेतृत्व अलग-अलग भाषाई पहचानों की प्रबलता के कारण राष्ट्रीय एकता की सम्भावना पर पड़ सकने वाले नुकसानदेह असर से चिंतित हो गया था। आजादी के तुरंत बाद कांग्रेस नेतृत्व के सामने केंद्रीय प्रश्न यह था कि बहुभाषिता के नजारे में भारतीयता का विचार कैसे पनपे? इसके दो ही तरीके हो सकते थे : उपराष्ट्रीय स्तर पर किसी प्रधान भाषा को दी गयी मान्यता के तहत बहुभाषिता कायम रखना या किसी एक भाषा को प्रधानता दिये बिना बहुभाषिता बनाये रखना। इन दोनों में से बेहतर तरीके का चुनाव करने के लिए 1948 में न्यायमूर्ति एस.के. डार की अध्यक्षता में राष्ट्रीय एकता और सक्षम प्रशासन की गारंटी करने के लिए संविधान सभा का एक आयोग बनाया गया। दूसरा आयोग कांग्रेस ने खुद गठित किया जिसकी मिलीजुली बागडोर नेहरू, पटेल और सीतारमैया के हाथ में रही। आयोगों की रपट ने शासक अभिजन के इस डर को और बढ़ा दिया कि भाषाई आधार पर राज्यों का पुनर्गठन एकता के बजाय फूट को ही बढ़ावा देगा। आयोगों का कहना था कि भाषाई एकरूपता के आधार पर राज्यों की चौहद्दी तय करने से नये राज्यों की सीमाओं में नये-नये भाषाई अल्पसंख्यक समूह पैदा हो जाएँगे। आबादी के भाषाई विन्यास को देखते हुए यह दलील आधारहीन नहीं थी। आयोगों ने अपने इस निष्कर्ष के पक्ष में बहुत से तर्क और तथ्य जुटाये जिनकी चर्चा आम तौर से समाज-वैज्ञानिकों के बीच नहीं होती और सीधे-सीधे यह आरोप लगा दिया जाता है कि तत्कालीन सरकार भाषाई आधार पर राज्यों की रचना के अपने पुराने वायदे को भूल गयी। दरअसल, इन्हीं आयोगों की सिफारिशों के आधार पर सरकार ने एकभाषाभाषी राज्यों के बजाय बहुभाषी राज्यों का पक्ष लिया।

संविधान पारित होने के दो साल पहले ही इन दोनों आयोगों ने यह सिफारिश भी की थी कि किसी राज्य की आबादी एकभाषी संरचना पर आधारित नहीं है, इसलिए एक ऐसी देशी भाषा की आवश्यकता है जो उनके बीच सम्पर्क-सूत्र की भूमिका निभा सके। संविधान सभा की कार्रवाई भी इस खूबी के साथ चलाई गयी कि उसमें भाषावार राज्य के गठन का सवाल संविधान-निर्माण के एजेंडे पर ही नहीं आने

दिया गया। बहरहाल, राजनीतिक घटनाक्रम कांग्रेस के केंद्रीय नेतृत्व की मर्जी से नहीं चला। बहुभाषी राज्यों की जगह एकभाषी राज्य बनाने के लिए अनशन, आंदोलन, धरना और प्रदर्शन का सिलसिला शुरू हुआ। नेहरू की सरकार को यह माँग माननी पड़ी। नतीजे के तौर पर जो राज्य बने वे पूरी तरह से एकभाषी नहीं थे, पर उन्हें एक भाषा के बहुमत और तीस से चालीस फ़ीसदी तक के मिले-जुले भाषाई अल्पसंख्यकों की मौजूदगी वाले राज्यों की संज्ञा दी जा सकती थी। राज्यों की यह कथित एकभाषिता भी व्यावहारिक रूप से बहुभाषिता ही थी, इसलिए सम्पर्क-भाषा के रूप में राष्ट्र-भाषा की आवश्यकता का उन्मूलन नहीं हुआ।

देखें : 'अंग्रेज़ी हटाओ' आंदोलन, डायग्लॉसिया, भारत में भाषा-नियोजन-1 से 4 तक, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, रामविलास शर्मा-1 और 2, सम्पर्क भाषा-1, 2, 3 और 4, संस्कृत काव्यशास्त्र, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1, 2 और 3, हिंदी विरोधी आंदोलन, हिंदी जाति-1, 2 और 3, हिंदी-जगत और 'लोकप्रिय'-1 और 2, हिंदी नवजागरण, हिंदी-संस्थाएँ।

संदर्भ

1. जोशुआ फ़िशमैन (1971), 'नैशनलिज़म एंड लेंग्वेज प्लानिंग इन नाईटीथ सेंचुरी युरोप एंड ट्वेंटियथ सेंचुरी एशिया एंड अफ्रीका', जे. रूबिन और बी. जेरनड (सम्पा.), कैन लेंग्वेज बी प्लांड?, ईडब्ल्यूसी प्रेस, होनोलूलू.
2. जोशुआ फ़िशमैन (1973), 'लेंग्वेज मॉडर्नाइज़ेशन एंड प्लानिंग इन कम्प्रीजन विद अदर टाइप्स ऑफ़ नैशनल मॉडर्नाइज़ेशन एंड प्लानिंग', लेंग्वेज इन सोसाइटी, खण्ड 2, अंक 1..
3. उदय नारायण सिंह (1992), ऑन लेंग्वेज डिवेलपमेंट एंड प्लानिंग : अ प्लूरिस्टिक पैराडाइम, आईआईएस, शिमला और मुंशीराम मनोहरलाल, नयी दिल्ली.
4. वी.के.आर.वी. राव (1978), 'मैनी लेंग्वेजिज़, वन नेशन : क्वेस्ट फ़ॉर ऐन आल-इण्डिया लेंग्वेज', इकॉनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, खण्ड 13, अंक 25.
5. गोपाल राव एकबोटे (1987), राष्ट्रभाषा विहीन राष्ट्र, अनु. खण्डेराव कुलकर्णी, मैसर्स एकबोटे ब्रदर्स, हैदराबाद.
6. धीरूभाई शेठ (2009), 'भाषा विवाद बनाम लोकतंत्रीकरण : अंग्रेज़ी का वर्चस्व ख़त्म होना चाहिए, पर कैसे?', अभय कुमार दुबे (प्रस्तुति और सम्पा.), सत्ता और समाज, सीएसडीएस-वाणी, नयी दिल्ली.

—अभय कुमार दुबे

भारत में भाषा-नियोजन-3

रघुवीरी परियोजना

(Language Planning in India-3)

संविधान ने जिस भाषा-नियोजन का उद्घाटन किया, उसकी कामयाबी के लिए जरूरी था कि भारत के राजनीतिक और नौकरशाह अभिजन चूल में चूल मिला कर काम करते। क्रायदे से संविधान की हिदायतों से दोनों बँधे हुए थे। पहली नज़र में यह लगता भी है कि दोनों ने सरकारी कामकाज में हिंदी के प्रयोग को प्रोत्साहित करना शुरू कर दिया। भाषा-वैज्ञानिकों को खेर आयोग के नाम से बना 1955 का राज-भाषा आयोग कुछ ऐसा ही उत्साहपूर्ण संदेश देता है, लेकिन इस आयोग की रपट सरकार के भाषा-नियोजन का शुरुआती नाकामी का प्रमाण है। इस आयोग का गठन संविधान के निर्देशानुसार राज-भाषा की प्रगति का जायज़ा ले कर राष्ट्रपति को उसकी रपट देने के लिए हुआ था।

खेर आयोग बताता है कि मंत्रालयों में पदावली विकसित की जाने लगी। हिंदी फ़ौज में प्रशिक्षण का माध्यम बना दी गयी और सेना के रिकॉर्ड हिंदी में रखे जाने लगे। डाक-तार विभाग ने हिंदी में मोर्स कोड विकसित कर दिखाया। वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दावली बोर्ड, केंद्रीय हिंदी निदेशालय और केंद्रीय हिंदी शिक्षण मण्डल ने मिल-जुल कर गैर-हिंदीभाषी इलाकों को हिंदी पढ़ाने के कार्यक्रमों का सूत्रीकरण किया। अखिल भारतीय हिंदी संस्था संघ ने सरकार को तरह-तरह के परामर्श दिये कि हिंदी को कैसे बढ़ाया जाए। लेकिन इन विवरणों की असलियत कुछ और थी। 1965 में हिंदी को राज-भाषा के रूप में अंग्रेज़ी का स्थान लेना था, पर वक्रत तेज़ी से गुज़रता जा रहा था लेकिन केंद्र सरकार के विभागों में दरवाज़ों पर लगी नामों की पट्टियों के अलावा राज-काज में हिंदी के प्रयोग की तरफ़ कोई ख़ास प्रगति नहीं हुई थी। 1955 में जब खेर आयोग समीक्षा करने बैठा तो उसने पाया कि कुछ हुआ ही नहीं है, समीक्षा किसकी की जाए! आयोग के बार-बार माँग करने पर भी सरकार हिंदी को राज-भाषा बनाने के किसी कार्यक्रम की संतोषजनक रूपरेखा पेश नहीं कर सकी। न ही सरकार के पास राज-काज में भाषाई परिवर्तन के लिए किसी भी तरह का सुझाव था।

आयोग के अनुसार भारत सरकार के पास ऐसी कोई कार्ययोजना नहीं थी जिसके दायरे में सभी मंत्रालय आते और जिसके पास उनकी अलग-अलग दिक्कतों की कोई समझ होती। न ही सरकार के पास ऐसा कोई तख्तीना था जिसके मुताबिक़ अंदाज़ा लगाया जा सकता कि प्रशासकीय स्टाफ़ का भाषाई माध्यम बदलने के लिए कुल कितना काम करना

पड़ेगा। दो साल बाद संसदीय राज-भाषा समिति को भी कुछ ऐसी ही स्थिति का सामना करना पड़ा। मजबूरन ये दोनों मूल्यांकन इस नतीजे पर पहुँचे कि 1965 तक तो हिंदी अंग्रेज़ी का स्थान लेने की स्थिति में नहीं आ पायेगी।

राज-भाषा आयोग ने इस विफलता के लिए केंद्र सरकार की आलोचना भी की जिसके दबाव में 1961 में एक समयबद्ध कार्यक्रम तैयार किया गया। इसका भी कोई नतीजा नहीं निकला। सरकारी महकमों में हिंदी अपनी जगह रुकी रही। केंद्रीय हिंदी समिति का गठन 1965 निकल जाने के दो साल बाद हुआ। तभी समेकित प्रशासन शब्दावली प्रकाशित हो पायी। 1968-69 तक केवल 13 केंद्रीय दफ़्तरों में अनुवादकों की नियुक्ति हो पायी। इस वर्ष गृह मंत्रालय की रपट बताती है कि हिंदी-भाषी राज्यों से मिले 26,487 पत्रों में से 8,611 पत्रों के उत्तर ही हिंदी में दिये गये। 1975 तक केंद्रीय सरकार के महकमों में ज़रूरत के मुताबिक़ हिंदी टाइपराइटर भी उपलब्ध नहीं थे। अधिकारियों ने फ़ाइलों पर हिंदी में नोट लिखने की छूट होते हुए भी इसकी कोई कोशिश नहीं की। आज भी फ़ाइलों पर नोट केवल हिंदी अनुभागों में ही लिखे जाते हैं।

1968-69 के वर्ष के लिए हिंदी-प्रोत्साहन के लिए जो लक्ष्य तय किये गये थे, उन्हें 1987-88 तक बार-बार निर्धारित किया जाता रहा, लेकिन उन्हें वेधने में सफलता नहीं मिली। सरकार की योजना यह थी कि पहले प्रशासन का सारा साहित्य हिंदी में अनूदित कर लिया जाए। 1967 तक केवल 95 अधिनियमों और 64 नियमों का ही हिंदी अनुवाद (केवल 4,343 पृष्ठ) तैयार हो सका। जो अनुवाद हुआ भी, वह अपनी संस्कृतनिष्ठ कृत्रिम पदावली और लम्बे-लम्बे वाक्यों के कारण ज़्यादातर लोगों की समझ से बाहर था। यह एक बेमिसाल नाकामी थी जिसे किसी भी तरह की आँकड़ेबाजी से नहीं छिपाया जा सकता, केंद्र के राज-भाषा अधिकारी अपनी सफलता के कितने भी ब्योरे क्यों न देते रहें। हिंदी के पक्ष में हुए सुसंगतीकरण को सराहनीय मानने की मिसाल केवल पाकिस्तान के एक लेखक मुख्तार ज़माँ की भारत संबंधी रचना में मिलती है जिसमें उसने अफ़सोस व्यक्त किया है कि पाकिस्तानी राज्य उर्दू के पक्ष में ऐसा सुसंगतीकरण नहीं कर सका। हिंदी को भारतीय संघ की भाषा बनाने के प्रयास सही दिशा में थे या ग़लत, इसका पता तो तब लगता जब वास्तव में ऐसी कोशिश की जाती। यह एक ऐतिहासिक भितरघात की कहानी है जिसके दो सिरे हैं। एक सिरा संघीय नौकरशाही ने सँभाल रखा है, और दूसरा सिरा पारिभाषिक शब्दावली बनाने की उस परियोजना से जुड़ा है जिसके शीर्ष पर डॉ. रघुवीर की शिखिसयत थी।

रघुवीरी परियोजना : सरकारी कामकाज के सारे मैनुअल अंग्रेज़ी में थे। सारी विधियाँ और अभिव्यक्तियाँ

अंग्रेजी में ही परिकल्पित-संकल्पित की गयी थीं। उनका हिंदी में अनुवाद किया गया। अंग्रेजी के हर शब्द की जगह हिंदी के शब्द रखे गये। इसके लिए पारिभाषिक शब्दावली का निर्माण किया गया। प्रधानमंत्री के तौर पर जवाहरलाल नेहरू का आग्रह था कि यह शब्दावली सरल होनी चाहिए। लेकिन जो परिणाम निकला वह उनकी अपेक्षाओं के एकदम उलट था। हिंदी के साहित्यकार अशोक वाजपेयी जब मध्य प्रदेश में कलेक्टर थे, तो उनके पास एक ग्रामीण उन्हीं के प्रशासन द्वारा भेजा गया एक पत्र लेकर आया। वह समझ नहीं पा रहा था कि उसमें क्या लिखा है। अशोक वाजपेयी ने देखा कि वह पत्र हिंदी में है लेकिन वे खुद उसका मतलब उस ग्रामीण को समझाने में असमर्थ रहे। दरअसल, पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण की प्रक्रिया एक ख़ास तरह की भाषिक समझ पर आधारित थी जिसे समझने के लिए डॉ. रघुवीर के कुछ विचारों पर निगाह डाली जा सकती है।

उनका कहना था कि अंग्रेजी की प्रत्येक अर्थ-छाया के लिए हिंदी भाषा में भी नया शब्द होना चाहिए। मसलन, अंग्रेजी के तीन शब्द हैं प्रेरोगेटिव, राइट और प्रिविलेज। साधारण दृष्टि से ये तीनों एक जैसे शब्द हैं, किंतु प्रयोग की दृष्टि से तीनों अलग-अलग। जब अंग्रेजी में ये तीन शब्द हैं तो हिंदी में भी इनके लिए कम से कम तीन शब्द होने चाहिए (विशेषाधिकार, अधिकार, परमाधिकार)। रघुवीर के मुताबिक जो सामान्य लोग हैं उनका तो एक ही शब्द से काम चल जाएगा, लेकिन जो विशेषज्ञ हैं उनको तीन शब्द ही चाहिए। उनका एक शब्द से काम नहीं चलेगा। रघुवीर की स्पष्ट मान्यता थी कि पारिभाषिक शब्दावली तो कभी सरल हो ही नहीं सकती। यह हो सकता है कि बच्चों को सिखाने के लिए भाषा सरल कर दी जाए। किंतु पारिभाषिक शब्द सरल नहीं हो सकते। रघुवीर का कहना था कि सरल तो उन शब्दों को कहते हैं जो बिना पढ़े-लिखे लोग, कुली, बच्चे, गाँव के लोग आदि बोलते हैं। भाषा सरल करने का अर्थ होगा पारिभाषिक भाषा का पारिभाषिकपन समाप्त करना।

संविधान सभा के बाद के दौर में उसके सदस्य बने रघुवीर के नेतृत्व में ही पारिभाषिक शब्दावली रचने की परियोजना चलाई गयी थी। वे संस्कृत के विद्वान थे और उन्हें यकीन था कि संविधान ने हिंदी को नये शब्द देने के लिए संस्कृत को ही मुख्य स्रोत बनाने का निर्देश दिया है। उनका यह यकीन इस मान्यता तक चला गया था कि 'यद्यपि संविधान में ऐसा लिखा नहीं गया है लेकिन अन्य भारतीय भाषाओं के लिए भी यही सच है'। इसी आग्रह के तहत उन्होंने हिंदी में नये शब्द बनाने की कारीगरी संस्कृत के 20 उपसर्गों, 80 प्रत्ययों और पाँच सौ धातुओं के जरिये की। उन्होंने हिंदुस्तानी, हिंदी की जनपदीय भाषाओं और अन्य भारत की अन्य भाषाओं से शब्द लेने का विरोध किया। एक

तरफ़ तो वे पारिभाषिकता और सरलता को एक-दूसरे की एंटीथीसिस समझते थे, और दूसरी ओर उनकी दूसरी मान्यता भी थी कि अनूदित शब्द में मूल भाषा के शब्द का सामान्य अर्थ होने से ही काम नहीं चलेगा, बल्कि उस भाषा में उसकी व्युत्पत्तियों तक का अनुवाद करने का यत्न किया जाना चाहिए। वे चाहते थे कि हर एक अर्थ के लिए अलग शब्द का प्रयोग हो और प्रत्येक प्राथमिक शब्द के लिए अलग-अलग शब्द हों।

इस चक्कर में साधारण तौर पर चलने वाला शब्द सूचना अखबारी संदर्भ में विसूचना, टीवी के संदर्भ में अभिसूचना, रेडियो के संदर्भ में अनुसूचना और सरकार के संदर्भ में अधिसूचना के रूप में प्रस्तावित किया गया। पारिभाषिक शब्दावली बनाने की नौबत आने से पहले ही रघुवीर की *द ग्रेट इंग्लिश-डिक्शनरी* का प्रकाशन हो चुका था जिसमें उन्होंने अपने इरादे साफ़ कर दिये थे। वे नहर के लिए कुल्या और सड़क के लिए रथ्या जैसे शब्दों का इस्तेमाल करने वाले शब्दकार थे। उन्हें औद्धत्य, औन्नत्य, याथार्थ्य, काठिन्य, ईषत्, आलुलायित केश, प्रनृत्यामान मयूर, गड्डलिका प्रवाह जैसे न जाने कितने भीषण शब्दों के प्रयोग के लिए जाना जाता है। रघुवीर जिस भाषिक प्रवृत्ति का नेतृत्व कर रहे थे उसमें आर्सेनिक को संखिया के बजाय नेपालज, सल्फ़र को गंधक न कह कर शुल्बारि, ऑक्शन को नीलाम न कह कर कोश-विक्रय, ऑक्ट्रॉय को चुंगी न कह कर द्वारादेय, दुरबीन की जगह दूरक्ष, क्लर्क के स्थान पर लिपिक, चेक के लिए धनादेश, दिवालियापन के लिए नष्टनिधि और तहसील को तहसील न कह कर भुक्ति लिखने पर जोर दिया जाता है। रघुवीर ने बजट के लिए आय-व्ययक, स्टेशन के लिए स्थात्र, पेन के लिए मसीपथ, टिकट के लिए संयानपत्र, बल्ब के लिए विद्युतकंद, एकड़ के लिए प्राहल, इंच के लिए प्रांगुल, यार्ड के लिए यष्टि और टन के लिए प्रवृत् के इस्तेमाल की सिफ़ारिश की। जाहिर है कि रघुवीर ने जिस सरकारी हिंदी की नींव डाली उसका आग्रह हिंदी से हिंदी को भी निकाल देने का था।

डॉ. रघुवीर द्वारा चलाये गये सभी शब्द बेकार के नहीं थे। आज उनके दिये गये बहुत से पारिभाषिक शब्द प्रचलित हो चुके हैं, जैसे वैध, विधिवत, विधायक, संसद, सांसद, अधीक्षक, निरीक्षक, प्रस्ताव, विधेयक, प्राधिकार। इसी तरह उन्होंने अंग्रेजी के सभी उपसर्गों और प्रत्ययों के लिए हिंदी में समानार्थी शब्द दिये जिसके कारण आज अ और ऐन की जगह अन या आ, एन्टि की जगह प्रति, सुपर की जगह अधि, डाई की जगह द्वि, ट्राई की जगह त्रि लगा कर हिंदी के बहुत से शब्द बनाये जाते हैं। शब्द निर्माण की यह युक्ति समाज-विज्ञान के हिंदी-लेखन में भी प्रचलित है। लेकिन उनकी ये सफलताएँ उस विकृति के मुकाबले बहुत हल्की हैं जो उनके

कारण सरकारी हिंदी में ख़ास तौर से और व्यापक रूप से सभी तरह की हिंदी में पैदा हुई। रघुवीर के योगदान को प्रशंसा की दृष्टि से देखने और उनके काम को पाणिनि के समकक्ष वाले एक विद्वान ने भी माना है कि अगर उनकी 'शब्दावली में अटपटे शब्दों का समावेश न हो गया होता और यदि उन्होंने संस्कृत की धातुओं, प्रत्ययों, उपसर्गों को अपनाने पर कट्टरपन की सीमा तक बल देने की बजाय कुछ विदेशी शब्द, प्रत्यय अथवा उपसर्ग भी अपना लिए होते, तो वैज्ञानिक शब्दावली के विकास में उनका योगदान अवश्य ही बहुत महत्त्वपूर्ण होता। डॉ. रघुवीर का यह दावा सही नहीं है कि उनके द्वारा प्रदत्त अधिकांश पारिभाषिक शब्द भारतीय भाषाओं के विकास में सहायक होंगे। सभी जानते हैं कि ये शब्द उनके द्वारा तैयार शब्दकोश की शोभा बन कर रह गये हैं और उपहास के लिए उनके नाम पर अनेक शब्द गढ़ लिए गये हैं जो अंततः हिंदी के प्रचार में बाधक साबित होते हैं।'

देखें : 'अंग्रेज़ी हटाओ' आंदोलन, डायग्लॉसिया, भारत में भाषा-नियोजन-1 से 4 तक, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, रामविलास शर्मा-1 और 2, सम्पर्क भाषा-1, 2, 3 और 4, संस्कृत काव्यशास्त्र, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1, 2 और 3, हिंदी विरोधी आंदोलन, हिंदी जाति-1, 2 और 3, हिंदी-जगत और 'लोकप्रिय'-1 और 2, हिंदी नवजागरण, हिंदी-संस्थाएँ।

संदर्भ

1. बी.जी. खेर (1956), रिपोर्ट ऑफ़ द ऑफिशियल लैंग्वेज कमीशन, गवर्नमेंट ऑफ़ इण्डिया प्रेस, नयी दिल्ली.
2. बलराज सिंह सिरोही (1987), संघीय राजभाषा के संदर्भ में पारिभाषिक वैज्ञानिक शब्दावली के निर्माण की समस्याएँ, वाणी प्रकाशन, दिल्ली.
3. रघुवीर (1998), हिंदी की ऊर्जा, अनु. रामचंद्र शर्मा, भगवती प्रकाशन, दिल्ली.
4. पॉल फ्रीडरिश (1962), 'लैंग्वेज ऐंड पॉलिटिक्स इन इण्डिया', डेडलस, अंक 91, ग्रीष्म.

— अभय कुमार दुबे

भारत में भाषा-नियोजन-4

केंद्र में विफलता : राज्यों में सफलता

(Language Planning in India-4)

अनुवाद और संस्कृत के ज़रिये जो सरकारी हिंदी बनी, वह हाहाकारी थी। ऐसी बात नहीं कि सरकार के भीतर आँख बंद करके इस हिंदी को स्वीकार कर लिया हो। इस प्रवृत्ति के खिलाफ़ संघर्ष के उल्लेखनीय उदाहरण इस मुकाम पर भी मौजूद हैं। भारत सरकार के राज-भाषा विभाग द्वारा प्रकाशित हिंदी के प्रयोग संबंधी आदेशों के संकलन पर निगाह डालने से यह स्पष्ट हो जाता है। सत्तर और अस्सी के दशक में केंद्र सरकार का एक हिस्सा रघुवीरी परियोजना के खिलाफ़ जद्दोजहद करते हुए दिखा। गृह मंत्रालय का 1976 में जारी किया गया एक कार्यालय ज्ञापन और फिर 1988 का एक कार्यालय ज्ञापन यह बताता है कि देर से ही सही पर सरकार को अपनी ग़लती समझ में आ गयी थी। ये ज्ञापन साफ़ तौर से कहते हैं कि सरकारी हिंदी लिखते समय न तो संस्कृत लिखने की कोशिश की जाए और न ही देवनागरी लिपि में अंग्रेज़ी। अंग्रेज़ी में मसविदा लिख कर अनुवाद करने के बजाय उसे मूल हिंदी में ही तैयार किया जाए ताकि अनुवाद के अटपटेपन से बचा जा सके। सरकारी हिंदी अलग तरह की नहीं होती, वह भी सरल और सुबोध होनी चाहिए, उसमें आमफ़हम शब्दों का प्रयोग किया जाए, दूसरी भाषाओं के शब्दों के इस्तेमाल से परहेज़ न किया जाए, समझाने के लिए अंग्रेज़ी के शब्दों को कोष्ठक में लिख दिया जाए, वाक्य छोटे और सरल बनाये जाएँ। कुछ इसी तरह की हिदायतें केंद्र-राज्य संबंधों पर बने सरकारिया आयोग ने भी दीं। संविधान पारित होने के साठ साल बाद 2011 में भारत सरकार का राज-भाषा विभाग 2011 सभी मंत्रालयों और विभागों के लिए यह आदेश निकाल पाया है कि सरकारी हिंदी में उर्दू, फ़ारसी और अंग्रेज़ी स्रोतों के आमफ़हम शब्दों का इस्तेमाल करने से परहेज़ नहीं किया जाना चाहिए ताकि सरकारी काम-काज की भाषा सरल और सुबोध बन सके।

संघीय नौकरशाही द्वारा भितरघात : हिंदी को राज-भाषा बनाने की मुहिम ठीक से शुरू ही न होने देने की ज़िम्मेदारी संघीय नौकरशाही की है। अंग्रेज़ी को अपनी 'सांस्कृतिक पूँजी' की तरह ग्रहण करने वाली भारतीय प्रशासनिक सेवा (आईएएस) ने हिंदी को कभी नहीं अपनाया। 1922 से ही अंग्रेज़ों ने भारत में काम करने के लिए नियुक्त सिविल सर्विस के अधिकारियों के लिए देशी भाषाओं का ज्ञान अनिवार्य कर रखा था। लेकिन आज़ादी के बाद जब इस ज्ञान की सबसे ज़्यादा ज़रूरत थी, आईसीएस

के नये संस्करण आईएएस में भर्ती के लिए यह अनिवार्यता खत्म कर दी गयी। इन अफसरों की एकमात्र भाषा अंग्रेजों के जमाने से भी ज्यादा अंग्रेजी रह गयी। 1965 में दक्षिण में हुए हिंदी विरोधी दंगों के पीछे भी यह अंदेश था कि मद्रास में अंग्रेजी माध्यम के स्कूलों से दी जाने वाली शिक्षा के गर्भ से पैदा हुए आईएएस अफसरों की संख्या हिंदी के एकमात्र राज-भाषा बनने से घट जाएगी। देश के इन स्थाई हुक्मरानों ने हिंदी-सेवा के लिए बजट मुहैया कराने और हिंदी की प्रतीकात्मक आराधना करने में कोई कोताही नहीं की। लेकिन, ऊँची नौकरशाही ने अपने दायरे के भीतर हिंदी को लगातार हाशिये पर रखा। अधिकारी-तंत्र के अंदरूनी संचार-तंत्र ने संविधान के निर्देश के अनुसार हिंदी सीखने की कोई कोशिश नहीं की और इस मुकाम पर अंग्रेजी का दबदबा क्रायम रहा। हिंदी व्यावहारिक रूप से तो क्या, नाममात्र के लिए भी भारतीय संघ की भाषा नहीं बन पायी। सरकारी कामकाज की भाषा बनाने की कई शर्तों में सबसे महत्वपूर्ण यही थी कि अधिकारी-तंत्र उसे अपनाता। इस तरह संविधान के प्रावधान धरे रह गये। साथ ही राज्यों के बीच प्रशासनिक संचार हिंदी में करने का मंसूबा भी बेकार हो गया।

डेविड डी. लाइटिन ने संघीय नौकरशाही द्वारा संविधान के प्रावधानों के साथ किये गये इस भितरघात का बारीक अध्ययन किया है। उन्होंने दिखाया है कि युरोपीय राजनीतिक अभिजन को अपने अधिकारी-तंत्र की वफ़ादारी किस तरह प्राप्त थी, और किस तरह भारत के उत्तर-औपनिवेशिक राजनीतिक अभिजन को इस निष्ठा का लाभ प्राप्त नहीं था। उन्होंने संघीय नौकरशाही को राज्यों की नौकरशाही से अलग करके दिखाया है कि राज्यों के नौकरशाहों की भाषिक पृष्ठभूमि क्षेत्रीय भाषाओं की थी जबकि पचास और साठ के दशक में संघीय नौकरशाहों का बहुलांश अंग्रेजी में पगा हुआ था। परिणाम यह हुआ कि संघीय स्तर पर नौकरशाही ने राजनीतिक अभिजन के साथ हिंदी को राज-भाषा बनाने में सहयोग नहीं किया, जबकि राज्यों के स्तर पर क्षेत्रीय नौकरशाहों ने क्षेत्रीय राजनीतिक अभिजन की मंशाओं को व्यावहारिक रूप देने में सहयोग किया।

दिलचस्प बात यह है कि भाषाई सुसंगतीकरण की कोशिशें संघीय स्तर पर सौ फ़ीसदी नाकाम होने के साथ-साथ प्रांतीय स्तर पर सौ फ़ीसदी कामयाब साबित हुईं। कुल मिला कर निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि राज्यों में भाषा-नियोजन की सफलता में राजनीतिक अभिजन वहाँ के नौकरशाहों का अपनी मर्जी से इस्तेमाल कर पाया। इसमें भाषाई आधार पर राज्यों के पुनर्गठन ने मुख्य भूमिका निभायी है। पचास के दशक में हिंदीभाषी प्रांतों की विधानसभाओं द्वारा एक-एक करके राज-भाषा क़ानून पारित किये गये,

जिससे हिंदी-क्षेत्र में अंग्रेजी के हटने का आधार बना। भाषाई राज्य बने और उनके नेताओं और स्थानीय अभिजनों ने अपने-अपने दायरे में उसी शिद्दत से क्षेत्रीय प्रशासनों का भाषाई सुसंगतीकरण किया और धीरे-धीरे अंग्रेजी को आधुनिकीकृत क्षेत्रीय भाषाओं से प्रतिस्थापित कर दिया। यह मानना गलत होगा कि राज्यों के स्तर पर अंग्रेजी आसानी से हट गयी होगी। विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं द्वारा की गयी इस जद्दोजहद की कहानी आज तक नहीं लिखी गयी है।

आज स्थिति यह है कि केवल पश्चिम बंगाल (आज का पश्चिम बंग) के राजकीय मुख्यालय रायटर्स बिल्डिंग में आज तक सारा कामकाज अंग्रेजी में होता है और वहाँ बांग्ला पंचायत और स्वशासी निकायों से आगे नहीं बढ़ पायी है। लेकिन इस अपवाद को छोड़ कर अन्य सभी राज्यों में सरकारें अंग्रेजी में काम नहीं करतीं। धीरे-धीरे राज्यों में क्षेत्रीय स्तर पर अंग्रेजी राजकाज की भाषा नहीं रह गयी। संघीय नौकरशाही ने एक ख़ास तरह का पैतरा खेला। साठ के दशक में जब उनके लिए भारतीय भाषाएँ सीखना अनिवार्य बनाया गया, तो वे राज्यों के बीच अंग्रेजी को संवाद की भाषा बनाये रखने की शर्त पर क्षेत्रीय भाषाएँ सीखने पर राजी हो गये। हिंदी न जानने वाले आईएएस अफ़सर भी हिंदीभाषी इलाकों में अपनी नौकरी की ज़रूरतों के अनुसार प्रशासन के लिए हिंदी बरतते नज़र आये, लेकिन हिंदी को राजकाज की एक अखिल भारतीय सम्पर्क-भाषा बनाने में कोई आधिकारिक योगदान देने के लिए वे तैयार नहीं हुए।

विफलता के कारण : भाषाशास्त्रियों ने इस सवाल पर काफ़ी दिमाग़ खपाया है कि आखिर भारतीय राज्य का भाषा-नियोजन पूरी तरह सफल क्यों नहीं हुआ, और जिस तरह भारतीय भाषाओं ने अंग्रेजी को राज्य स्तर पर प्रतिस्थापित कर दिया, उस तरह संघीय स्तर पर अंग्रेजी की जगह हिंदी क्यों नहीं ले पायी। हिंदी के पक्ष में किये गये भाषा नियोजन पर पहला आरोप यह लगाया जाता है कि वह भाषा को शुद्ध करने में फँस गया जिसका नतीजा ऐसी संस्कृतनिष्ठता में निकला जिससे सरकारी हिंदी अगम्य और कभी-कभी तो हास्यास्पद क्रिस्म की हो गयी। रघुवीरी परियोजना का विश्लेषण बताता है कि इस आरोप में काफ़ी सच्चाई है।

विफलता का दूसरा कारण अन्य भारतीय भाषाओं की अपेक्षा हिंदी के नयेपन और कमतर सांस्कृतिक-साहित्यिक प्रतिष्ठा में देखा जाता है। कभी हिंदी को राष्ट्र-भाषा बनाने के समर्थक रहे सुनीति कुमार चाटुर्ज्या का तर्क था कि हिंदी एक सांस्कृतिक भाषा नहीं है, और न ही उसके पास तमिल या तेलुगु या बांग्ला की तरह समृद्ध साहित्यिक विरासत है। इसलिए उसे सारे देश द्वारा नहीं अपनाया जा सकता। भाषा-नियोजन के आईने में देखने पर यह दलील विशुद्ध सांस्कृतिक राजनीति से ज्यादा नहीं लगती। युरोप में हुए भाषा-नियोजनों

के रास्ते में सांस्कृतिक-क्षेत्रों की समृद्धि का तर्क कभी नहीं आ पाया। हर जगह उन भाषाओं को ही सरकारी रुतबा मिला जो सांस्कृतिक और साहित्यिक प्रतिष्ठा में अपेक्षाकृत कमजोर थीं। मसलन, इंग्लैण्ड में लैटिन और फ्रेंच के मुकाबले अंग्रेजी की सांस्कृतिक हैसियत कुछ नहीं थी। इसी तरह फ़िनलैण्ड में फ़िनिश भाषा प्रशासनिक कामकाज के लिहाज से ही नहीं, बल्कि शब्द-सामर्थ्य के मामले में बेहद दरिद्र थी। स्पेन के सदियों से स्वायत्त रहे ताक़तवर क्षेत्रीय अभिजन स्पेनी नहीं बोलते थे। कैटेलन उनकी पसंदीदा भाषा थी। पर वहाँ स्पेनिश के पक्ष में भाषाई सुसंगतीकरण किया जा सका।

तीसरा कारण भारतीय राष्ट्रवाद की उस संरचना में खोजा गया जो उपराष्ट्रीयताओं का गठजोड़-भर है। यह संरचना समान आयामों पर इतना जोर नहीं देती जितना बल विविधताओं और बहुलताओं पर दिया जाता है। इसीलिए उपराष्ट्रीयताओं के दबाव के कारण इस गठबंधन पर एक सर्वभारतीय चरित्र आरोपित नहीं हो पाता। इसीलिए कई अध्येताओं की यह मान्यता है कि हिंदी को सम्पर्क भाषा बनाने की कोशिश उसी समय नाकामी के लिए अभिशप्त हो गयी थी जब भाषाई आधार पर राज्यों का पुनर्गठन करने के दबाव के सामने नेहरू ने घुटने टेके थे। यह दलील भी सही नहीं है। हिंदी को राज-भाषा बनाने का दृष्टिकोण एकभाषिता से उत्प्रेरित न तो संविधान सभा में था, और न ही उत्तर-औपनिवेशिक भारत में। भाषाई आधार पर राज्य बनाने की माँग में हिंदी के विरोध का एक स्वर भी नहीं था। विद्वानों ने रेखांकित किया है कि इस माँग की जड़ में मुख्यतः तमिल और बांग्ला जैसी अंग्रेजों द्वारा 'सुपरऑर्डिनेटिड' बना दी गयी भाषाओं के सांस्कृतिक-प्रशासनिक-राजनीतिक वर्चस्व से छुटकारा प्राप्त करने की मंशा थी।

चौथा कारण यह माना गया कि भाषाई सुसंगतीकरण द्वितीय विश्व-युद्ध से पहले की जिन परिस्थितियों में आसानी से हो पाता था, वे बाद की अवधि में सुलभ नहीं रह गयीं थीं। पाँचवाँ कारण संसदीय लोकतंत्र और वोट की राजनीति के समीकरणों में खोजा जाता है जिनके दबाव के कारण पंद्रह साल बाद अंग्रेजी हटाने के संवैधानिक निर्देश का पालन नहीं किया जा सका। छठा कारण भारतीय प्रभुओं की उस भाषागत सुविधाजनक स्थिति में देखा गया जिसके कारण वे राजकाज की किसी समान भाषा की तलाश में थे ही नहीं। यह भूमिका निभाने के लिए उनके पास औपनिवेशिक आधुनिकता द्वारा थमायी गयी अंग्रेजी पहले से थी। उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन की विरासत का जो भी दबाव था, उसकी पूर्ति उन्होंने राज्यों में भाषाई सुसंगतीकरण पूरा करके कर दी।

राष्ट्रवाद के व्याख्याकार बेनेडिक्ट ऐंड रसन के इस दुर्लभ उद्धरण की रोशनी में उत्तर-औपनिवेशिक स्थितियों में भाषा-नियोजन की मजबूरियाँ और भी स्पष्ट हो जाती हैं :

'इण्डोनेशिया ... दुनिया का एकमात्र बड़ा उपनिवेश है जिसका प्रशासन (आजादी के बाद) किसी एशियाई भाषा में चलाया जाता है। सत्रहवीं सदी में इस उपनिवेश की संस्थापक डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी पूरी तरह से किफ़ायती सोच की हामी थी। उसे अपनी नौकरशाही को डच भाषा में प्रशिक्षित करने पर संसाधन खर्च करने में कोई दिलचस्पी नहीं थी। दूसरी तरफ़ उसके कई कर्मचारी जर्मन, स्वीडिश और स्कॉट भी थे। ... उसने मलय द्वीप की पिडगिन भाषा ली, उसका रोमनीकरण किया, सरल व्याकरण अपनायी और अपनी मुख्य प्रशासनिक भाषा की तरह उसका इस्तेमाल किया। बीसवीं सदी की शुरुआत तक इण्डोनेशिया में नौकरशाहों को डच सीखने के लिए हतोत्साहित करना जारी रहा।' जाहिर है कि भारतीय औपनिवेशिक प्रभु डचों से अलग थे। उन्होंने उदीयमान भारतीय प्रभु वर्ग को योजनापूर्वक अंग्रेजी सिखायी थी। नौकरशाही के मामले में भारत उनके लिए एक ऐसी प्रयोगशाला था जहाँ किये गये आईसीएस के प्रयोग की कामयाबी के बाद ही उन्होंने अपने गृह-देश में नौकरशाहों के प्रशिक्षण की शुरुआत की थी।

भारतीय राज्य के भाषा-नियोजन इस प्रसंग में आखिरी सवाल यह है कि नेहरू की सरकार ने हिंदी को राज-भाषा बनाने के साथ यह दोहरा भितरघात क्यों होने दिया? नेहरू संविधान सभा में रघुवीर की भूमिका से अच्छी तरह वाकिफ़ थे। उन्हें यह भी पता है कि संविधान के मसविदे का जो हिंदी अनुवाद उनकी बिल्कुल समझ में नहीं आया था, उस पर रघुवीर की कितनी छाप थी। नेहरू से ज्यादा इस बात को कौन जान सकता था कि उस अनुवाद समिति में हिंदुस्तानी के किसी भी समर्थक को न घुसने देने की रघुवीर ने कितनी कोशिश की थी। दरअसल, भाषा के मामले को धर्म और संस्कृति का मामला मानने वाले रघुवीर संविधान सभा की उस प्रवृत्ति के पक्के नुमाइंदे थे जो 'हिंदी नैशनलिज़म' की जगह 'संस्कृत नैशनलिज़म' की हामी थी। फिर भी नेहरू की उस सरकार ने, जिसके शिक्षा मंत्री अबुल क़लाम आज़ाद थे, रघुवीर के हाथ में पारिभाषिक शब्दावली बनाने की जिम्मेदारी सौंपना मुनासिब समझा। नेहरू का देहांत 1964 में हुआ और रघुवीर उससे पहले ही अपने भीषण शब्दकोश राज-भाषा हिंदी के सिर पर पटक चुके थे। एक तरह से उन्होंने अपना 'सृजनात्मक विनाश' नेहरू की छत्रछाया में ही किया।

दूसरी तरफ़ यह बात भी सोचने के क़ाबिल है कि संघीय नौकरशाही से नेहरू और पटेल जैसे लोग राज-भाषा के सवाल पर अपनी बात क्यों नहीं मनवा पाये? अगर कांग्रेस का शीर्ष नेतृत्व राज-भाषा के सवाल को लेकर गम्भीर नहीं था, और अंग्रेजी को ही क़ायम रखना चाहता था तो उसके सामने 1959 में फिर से मौक़ा आया था जब वह अंग्रेजी को आठवीं सूची में शामिल करके उसके विदेशीपन को

संवैधानिक मान्यता के साबुन से धो सकता था। लेकिन, नेहरू व्यक्तिगत रूप से ऐसा करने के विरोधी साबित हुए। क्या संघीय नौकरशाही तकनीकी रूप से न सही, व्यावहारिक तौर पर राजनीतिक नेतृत्व के प्राधिकार से स्वायत्त थी? भाषा के संदर्भ में सम्भवतः इस प्रश्न का उत्तर हाँ में दिया जा सकता है। 1977 में पहली बार जब कांग्रेस को विपक्षी दलों को मिला कर बनायी गयी जनता पार्टी ने केंद्र में अपदस्थ किया, तो उसके टिकट पर संसद का चुनाव जीतने वाले 299 सांसदों में से 221 हिंदी-क्षेत्र से आये थे। इनमें से अधिकतर जनसंघ और समाजवादी आंदोलन की देन थे जो हिंदी की घुट्टी पीकर बड़े हुए थे। लेकिन यह सरकार भी संघीय नौकरशाही को अपनी भाषा बदलने के लिए तैयार करती हुई नहीं दिखी।

देखें : 'अंग्रेजी हटाओ' आंदोलन, डायग्लॉसिया, भारत में भाषा-नियोजन-1 से 4 तक, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, रामविलास शर्मा-1 और 2, सम्पर्क भाषा-1, 2, 3 और 4, संस्कृत काव्यशास्त्र, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1, 2 और 3, हिंदी विरोधी आंदोलन, हिंदी जाति-1, 2 और 3, हिंदी-जगत और 'लोकप्रिय'-1 और 2, हिंदी नवजागरण, हिंदी-संस्थाएँ।

संदर्भ

1. डेविड डी. लाइटिन (1989), 'लेंग्वेज पॉलिसी ऐंड पॉलिटिकल स्ट्रेटजी इन इण्डिया', *पॉलिसी साइंसिज़*, विशेषांक : पॉलिसी मेकिंग इन डिवेलपिंग कंट्रीज़, खण्ड 22, अंक 3/4.
2. जोसेफ़ ई. श्वार्ज़बर्ग (2009), 'फ़ैक्टर्स इन द लिंग्विस्टिक रिऑर्गनाइजेशन ऑफ़ स्टेट्स', आशा सारंगी (सम्पा.), *लेंग्वेज ऐंड पॉलिटिक्स इन इण्डिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
3. हिंदी के प्रयोग संबंधी आदेशों का संकलन (1986), राज-भाषा विभाग, गृह मंत्रालय, भारत सरकार, तृतीय संस्करण.
4. मोहन कुमार मंगलम (1968), *इण्डियाज़ लेंग्वेज क्राइसिस*, न्यू सेंचुरी बुक हाउस, मद्रास।

—अभय कुमार दुबे

भारत में मतदान-व्यवहार-1

ऐतिहासिक अवलोकन

(Voting-Behaviour in India-1)

भारत में मतदान-व्यवहार मापने और चुनावों के विभिन्न पहलुओं की छानबीन का उद्देश्य कमोबेश दुनिया के दूसरे देशों के ही समान है। हालाँकि इस प्रक्रिया में अपने देश की निजी विशिष्टताओं का भी खयाल रखा जाता है। परंतु भारत

में चुनाव के अध्ययन के लिए जनमत सर्वेक्षण की ज़रूरत पर प्रकाश डालने से पहले हमारे लिए यह जान लेना प्रासंगिक होगा कि आधिकारिक तौर पर चुनाव से संबंधित किस प्रकार की जानकारियाँ एवं किस तरह के आँकड़े उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त यह जानना भी ज़रूरी है कि भारत के निर्वाचन आयोग ने अपने अभिलेखागार में कब से इन जानकारियों और आँकड़ों को संरक्षित रखा है। भारत का निर्वाचन आयोग आज़ादी के बाद से ही भारत में सम्पन्न सभी आम चुनावों और राज्य विधानसभाओं के चुनावों के परिणामों और आँकड़ों को अपने पास रखता है। ये आँकड़े आम लोगों के लिए भी सुलभ हैं और इनकी इलेक्ट्रॉनिक कॉपी उनकी आधिकारिक वेबसाइट पर उपलब्ध हैं। भारत का निर्वाचन आयोग निम्नलिखित प्रकार की जानकारियाँ उपलब्ध कराता है : प्रथम संसदीय और विधानसभा चुनाव में वोट डालने वाले लोगों की संख्या, अर्थात् वोटर टर्नआउट; दूसरा राष्ट्रीय/राज्य स्तर के चुनावों में भाग लेने वाले उम्मीदवारों की सूची, चुनावों में जीतने वाला उम्मीदवार और उसका प्रमुख प्रतिद्वंद्वी तथा इसके साथ-साथ सभी उम्मीदवारों को प्राप्त मतों का प्रतिशत; तीसरा चुनाव में भाग लेने वाले राजनीतिक दलों की संख्या और उन्हें प्राप्त मत। निर्वाचन आयोग राजनीतिक दलों द्वारा खड़े किये गये उम्मीदवारों और उनमें जीत प्राप्त करने वाले उम्मीदवारों की संख्या भी बताता है। चौथा निर्वाचन आयोग लैंगिक आधार पर विभाजन करके चुनाव में भाग लेने वाले उम्मीदवारों की संख्या और चुनाव जीतने वालों की संख्या भी बताता है। इसके अतिरिक्त वह किसी विशिष्ट चुनाव में अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति से जीतने वाले उम्मीदवारों से संबंधित जानकारी भी देता है और अंततः निर्वाचन आयोग अपने अभिलेखागार में चुनाव में भाग लेने वाले उम्मीदवारों द्वारा भरे गये शपथपत्रों का भी संग्रह रखता है। इन शपथपत्रों में उम्मीदवारों द्वारा भरे गये विवरण, जैसे उनके ख़िलाफ़ चल रहे न्यायिक मामले, उनकी सम्पत्ति और अन्य व्यक्तिगत जानकारियाँ आम लोगों के सूक्ष्म परीक्षण के लिए उपलब्ध होते हैं।

भारत के निर्वाचन आयोग द्वारा उपलब्ध करायी जाने वाली जानकारियाँ चुनाव में मतदान-प्रक्रिया की तथ्यात्मक जानकारियाँ होती हैं। ये सभी जानकारियाँ चुनावी परिणामों को मात्रात्मक रूप में अभिव्यक्त करके दी जाती हैं। यहाँ ध्यान देने वाली बात यह है कि निर्वाचन आयोग मतदाताओं के मतदान-व्यवहार और रुझान से संबंधित कोई भी आँकड़ा उपलब्ध नहीं कराता है। मसलन वह यह नहीं बताता है कि विभिन्न सामाजिक-आर्थिक परिवेश और जाति-समुदाय से संबंध रखने वाले लोगों ने चुनाव में किस प्रकार मतदान किया; उन्होंने किसे वोट दिया या किसे वोट नहीं दिया; और उन्होंने किसी विशिष्ट दल या उम्मीदवार को वोट क्यों दिया? क्या युवा मतदाताओं की राजनीतिक वरीयताएँ वृद्ध

मतदाताओं की तुलना में अलग थीं? क्या अधिकांश महिला मतदाताएँ मतदान का निर्णय लेते समय अपने पति द्वारा निर्देशित हुई थीं? किसी विशिष्ट चुनाव के दौरान किस चुनावी मुद्दे ने मतदाताओं के मस्तिष्क को सबसे ज्यादा प्रभावित किया? इस प्रकार के अनेकों शोध-प्रश्न हैं जिनका जवाब भारत के निर्वाचन आयोग द्वारा उपलब्ध कराये जाने वाले परिणामों/आँकड़ों के आधार पर नहीं दिया जा सकता है। निर्वाचन आयोग द्वारा उपलब्ध कराये जाने वाले आँकड़ों के आधार पर चुनाव से संबंधित कुछ अन्य महत्वपूर्ण प्रश्नों के उत्तर भी नहीं ढूँढ़े जा सकते हैं, जैसे, क्या भारत में मुसलमान मतदाता दक्षिणपंथी राजनीतिक दल भाजपा को वोट देते हैं अथवा क्या वे एक रणनीति के तहत संगठित होकर उसे चुनाव में हराने के लिए वोट डालते हैं?

ऊँची जातियों के मतदाताओं को कांग्रेस या भाजपा जैसे राष्ट्रीय दलों का पारम्परिक समर्थक माना जाता है। परंतु प्रश्न यह उठता है कि क्या वे हमेशा राष्ट्रीय दलों को ही वोट डालते हैं या फिर कुछ राज्यों में ऊँची जातियों के मतदाताओं का वोट भी क्षेत्रीय दलों की ओर खिसक रहा है? भारत में दलित और आदिवासी समुदायों के मतदाताओं का मतदान स्वरूप कैसा रहा है? भारत में दलित और आदिवासी समुदायों के मतदाताओं का मतदान स्वरूप कैसा रहा है? क्या अनुसूचित जातियों / जनजातियों की पहचानों पर आधारित राजनीतिक दलों के गठन ने अनुसूचित जातियों/जनजातियों के वोटों को उनके पक्ष में संगठित किया है? क्या मतदाताओं का चुनावी विकल्प उनकी विभिन्न पृष्ठभूमियों (शिक्षित / निरक्षर, ग्रामीण / शहरी, अमीर / गरीब) के आधार पर बहुत ज्यादा बदलता है? इस तरह के प्रश्नों के परिप्रेक्ष्य में भारतीय चुनावों में मतदान के व्यावहारिक या सांदर्भिक पहलुओं का अध्ययन महत्वपूर्ण हो जाता है। वस्तुतः चुनावों का अनुभवमूलक अध्ययन करके ही इन प्रश्नों का प्रमाणों पर आधारित जवाब प्राप्त किया जा सकता है, बिना प्रमाण के इन प्रश्नों का जवाब देने की कोशिश करना महज अटकलबाजी होगी जो हमें सच्चाई से कोसों दूर ले जा सकती है।

इस पृष्ठभूमि में हमारे लिए यह जानना प्रासंगिक होगा कि क्या भारत में चुनाव की भविष्यवाणियाँ तथा मतदान-व्यवहार और रुझान की व्याख्या करने के लिए जनमत सर्वेक्षण कराना हाल-फ़िलहाल की घटना है जो 21वीं शताब्दी में शुरू हुई है या फिर इसकी जड़ें पिछली शताब्दी में जाती हैं। भारत में मतदाताओं के मतदान-व्यवहार और रुझान को मापने की शुरुआत कब से हुई और इसके पीछे क्या तर्क और उद्देश्य थे? क्या भारत में मतदान-व्यवहार के लिए अपनायी गयी प्रणाली पश्चिम दुनिया से सीधे ली गयी अर्थात् उनकी कार्बन कॉपी थीं या फिर इन प्रणालियों ने

भारतीय समाज की विविधता और विजातीयता का ध्यान रखा? वे विभिन्न चरण कौन से हैं जिनसे होकर चुनाव सर्वेक्षण और जनमत सर्वेक्षण की प्रक्रिया को गुजरना पड़ा और इतना समय बीत जाने के बाद इसमें क्या नये परिवर्तन और विकास हुए हैं, भारत में मतदान-व्यवहार को मापने की अन्य प्रणालियों जैसे - चुनाव क्षेत्र का अध्ययन, इलीट स्टडी, केस स्टडी या एथनोग्राफी अध्ययन की तुलना में सर्वे प्रणाली सबसे ज्यादा लोकप्रिय क्यों है?

भारत में चुनावी सर्वेक्षण की शुरुआत कोई हाल-फ़िलहाल की घटना नहीं है। भारतीय मतदाताओं के मत और रुझानों को मापने के लिए संस्थात्मक स्तर पर किये जाने वाले जनमत सर्वेक्षण की पहली शुरुआत 1950 के दशक में ही शुरू हो चुकी थी। डॉ. एरिक डिकोस्टा ने अमेरिकी संस्था अमेरिकन इंस्टीट्यूट ऑफ़ पब्लिक ओपिनियन की तर्ज पर 1950 के दशक के प्रारम्भ में ही इंस्टीट्यूट ऑफ़ पब्लिक ओपिनियन (आई.आई.पी.ओ.) की स्थापना की थी। उन्हें भारत में चुनाव का अध्ययन करने वालों में अगुआ होने का श्रेय दिया जाता है तथा भारत में जनमत सर्वेक्षण का पिता कहा जाता है। वे पेशे से एक अर्थशास्त्री थे जिनकी प्राथमिक रुचि उपभोक्ता से संबंधित अध्ययनों में थी। लेकिन उन्होंने भारत में आर्थिक और राजनीतिक मुद्दों पर जनमत सर्वेक्षण भी प्रारम्भ किया। आई.आई.पी.ओ. ने दिल्ली, पश्चिम बंगाल और केरल में कुछ राजनीतिक अध्ययन किये थे। इन अध्ययनों के नतीजे उस संस्था के प्रथम जर्नल *मंथली पब्लिक ओपिनियन स्टडीज़* (एम.पी.ओ.एस.) में 1995 में प्रकाशित हुए थे। इस प्रकार भारत में चुनावी सर्वेक्षण कराने का मार्ग प्रशस्त हुआ। आई.आई.पी.ओ. भारत का पहला संगठन था जिसने चुनावी सर्वेक्षण किया था। 1957 में दूसरे लोकसभा चुनाव के पूर्व अखिल भारतीय स्तर पर पहला जनमत सर्वेक्षण कराया गया। इस जनमत सर्वेक्षण के आधार पर पहली चुनावी भविष्यवाणी की गयी जो एकदम सटीक साबित हुई। इस सर्वे ने भारतीयों के मतदान-व्यवहार पर केंद्रित किया था और यह दिखाने का प्रयत्न किया था कि मतदाताओं द्वारा मतदान करने के निश्चय में किस प्रकार उनकी आय, धर्म और व्यावसायिक पृष्ठभूमि के आधार पर अंतर होता है। इस सर्वे ने राजनीतिक नेताओं की लोकप्रियता भी जानने की कोशिश की थी और इसके आधार पर दल के नेताओं की लोकप्रियता की एक सूची भी प्रकाशित की गयी थी। इस प्रकार आई.आई.पी.ओ. द्वारा कराये गये चुनावी सर्वेक्षण का मुख्य फ़ोकस इस बात पर था कि मतदाता मतदान करने का निश्चय किस प्रकार करते हैं और उनके वोट देने के निर्णय को जाति, समुदाय, देश के प्रमुख राजनीतिक मुद्दे, नेताओं की लोकप्रियता आदि, किस प्रकार प्रभावित करते हैं।

ऐरिक डिकोस्टा ने आई.आई.पी.ओ. द्वारा कराये गये सर्वेक्षण की समीक्षा करते हुए 1980 में कहा था कि 'उस समय वास्तव में यह भी पता नहीं था कि अखिल भारतीय स्तर पर जनमत सर्वेक्षण करना सच में सम्भव है भी या नहीं। निरक्षरता की समस्या और भारत के कई क्षेत्रों में रैण्डम सैम्पल के संचालन में आ रही समस्याओं के कारण यह बहुत मुश्किल लग रहा था। सच्चाई यह है कि यह प्रयोग असाधारण रूप से सफल सिद्ध होगा यह तब तक प्रमाणित नहीं हुआ जब तक कि 1957 में पहला राष्ट्रीय सर्वेक्षण प्रकाशित नहीं हो गया।' आई.आई.पी.ओ. ने अखिल भारतीय स्तर पर पहला जनमत सर्वेक्षण ही संचालित नहीं किया बल्कि उसने चुनाव परिणामों की भविष्यवाणी भी प्रारम्भ की। डिकोस्टा ने कहा था कि 'जनमत की महान शक्ति पर शोध करके विदेशों में मतदान के निश्चयों और परिणामों की भविष्यवाणी की जाती थी या फिर अनेकों संवदेनशील विषयों पर विचारों को जाना जाता था। 1957 में पहली बार भारत में उसका प्रयोग किया गया। यह कमोबेश एक नये भारतीय आविष्कार के रूप में प्रकट हुआ था।' इस प्रकार आई.आई.पी.ओ. ने 1980 के दशक तक चुनाव सर्वेक्षण कराया परंतु इस संगठन से डिकोस्टा के निकल जाने के बाद इस संगठन की कार्यसूची में चुनावों के लिए जनमत सर्वेक्षण कराने की कोई खास प्राथमिकता नहीं रही और इसकी निरंतरता टूट गयी।

आई.आई.पी.ओ. के अतिरिक्त व्यक्तिगत स्तर पर भी चुनाव के अध्ययन के प्रयास किये गये। वी.एम. सिरसीकर ने 1967 में सम्पन्न आम चुनावों के दौरान सर्वे के आधार पर पुणे लोकसभा निर्वाचन क्षेत्र का अध्ययन किया था। इस अध्ययन से संसदीय निर्वाचन क्षेत्र जैसे छोटे स्तर पर लोकतंत्र, चुनावों, मतदाताओं की राजनीतिक वरीयता और व्यवहार से संबंधित कुछ रोचक बिन्दु पहलु निकल कर सामने आये। इस अध्ययन के मुख्य नतीजे इस प्रकार थे : पहला भारत में अधिकांश लोगों को लोकतंत्र, चुनावों और राजनीतिक दलों में विश्वास था। हालाँकि लोकतंत्र और इसकी प्रक्रियाओं में विश्वास का मतदाताओं की शैक्षणिक उपलब्धि के साथ सीधा संबंध था। जो लोग ज्यादा शैक्षणिक योग्यता रखते थे उनका लोकतंत्र पर कम विश्वास था जबकि उनकी तुलना में कम शिक्षित लोगों का लोकतंत्र पर ज्यादा विश्वास था; दूसरा जाति और समुदाय पर आधारित अल्पसंख्यक समूहों के मतदाताओं में कांग्रेस पार्टी सर्वाधिक पसंदीदा विकल्प थी; तीसरा कम शिक्षित परिवारों में परिवार के सदस्यों के मतदान के निर्णय पर परिवार के मुखिया का प्रभाव बहुत ज्यादा था जबकि ऊँची शिक्षा प्राप्त परिवारों में यह तुलनात्मक रूप से कम था; चौथा, उम्मीदवार, दल और जाति-समुदाय मतदान पर निर्णय लेने में महत्वपूर्ण भूमिका

अदा करते थे और अंततः मतदाताओं के व्यवसाय, आय और उम्र मतदाताओं के मतदान-व्यवहार और रुझान को प्रभावित नहीं करते थे।

1967 में सम्पन्न आम चुनावों के दौरान कीनी ने व्यक्तिगत स्तर पर साक्षात्कार की एक विस्तृत प्रश्नावली का प्रयोग करके नागपुर में एक पैनल सर्वे संचालित किया। उन्होंने साक्षात्कार में उत्तर देने वाले लोगों की लोकसभा और राज्य विधानसभा के चुनावों के लिए दलों की वरीयताएँ जानने की कोशिश की। उन्होंने इसके लिए 'विभाजित वोट' तकनीक का प्रयोग किया। हालाँकि इसमें सैम्पल छोटा था लेकिन फिर भी नागपुर अध्ययन से चुनावों और मतदाताओं के मतदान-व्यवहार से संबंधित कुछ महत्वपूर्ण नतीजे निकलकर सामने आये। इस अध्ययन ने इस तथ्य को उजागर किया कि कांग्रेस पार्टी द्वारा पेश किये गये मज़बूत नेतृत्व के मुद्दे से प्रभावित होकर मतदाताओं ने उसके पक्ष में वोट दिया। वे राष्ट्रीय या क्षेत्रीय मुद्दों के आधार पर मतदान करने का फ़ैसला नहीं करते थे। इस अध्ययन ने मतदान-व्यवहार से संबंधित इस महत्वपूर्ण पक्ष को भी उजागर किया कि वे मतदाता जो चुनावी सभाओं और दलों के प्रचार में खुलकर हिस्सा लेते थे, उनके मतदान के निश्चय ज्यादा अस्थिर होते थे और उनमें बदल जाने की सम्भावना भी ज्यादा थी। सामाजिक-आर्थिक चरों, जैसे— लिंग, जाति, धर्म, शिक्षा और आय राजनीतिक जागरूकता और प्रभाव के निर्धारण के महत्वपूर्ण कारक थे।

देखें : अकाली दल, कांग्रेस 'प्रणाली', गैर-कांग्रेसवाद, गठजोड़ राजनीति, जनता दल और उसकी विरासत-1 और 2, तेलुगु देशम पार्टी, पार्टी-गठजोड़ की राजनीति, भारत में गठजोड़ राजनीति, भारतीय जनता पार्टी-1 और 2, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस-1 और 2, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठजोड़, वाम मोर्चा, शिव सेना, समाजवादी पार्टी, बहुजन समाज पार्टी-1 और 2, शिरोमणि अकाली दल, समाजवादी पार्टी, संयुक्त प्रगतिशील गठजोड़।

संदर्भ

1. नोरियो कुण्डु (2003), *पार्लियामेंटरी इलेक्शंस ऑफ़्टर इंडिपेंडेंस : सोशल चेंजेज ऐंड इलेक्टोरल पार्टिसिपेशन*, इंस्टीट्यूट ऑफ़ डिवेलपिंग इकॉनॉमिक्स (जेट्रो), चिबा (जापान).
2. ए.एम. शाह (सम्पा.) (2007), *द ग्रासरूट ऑफ़ डेमोक्रेसी : फ़ील्ड स्टडीज़ ऑफ़ इलेक्शंस*, परमानेंट ब्लैक, नयी दिल्ली.
3. इंस्टीट्यूट ऑफ़ पब्लिक ओपिनियन (1970-71), 'द फ़िफ़्थ लोकसभा इलेक्शन : ऐन एनालिसिस ऑफ़ पॉलिटिकल बिहेवियर', *मंथली पब्लिक ओपिनियन सर्वे*, खण्ड 16, अंक 3.

— संजय कुमार

भारत में मतदान-व्यवहार-2

चुनावी सर्वेक्षण का इतिहास

(Voting-Behaviour in India-2)

भारत में मतदान-व्यवहार मापने की परम्परा को आगे बढ़ाने का श्रेय इल्डसवेल्ड और बशीरुद्दीन अहमद को है। इन दोनों विद्वानों ने 1967 और 1971 में सम्पन्न आम चुनावों का अखिल भारतीय स्तर पर सर्वेक्षण संचालित किया। इसमें संकलित किये गये भारतीय मतदाताओं के मतदान-व्यवहार और रुझानों के आँकड़ों का अंतर-देशीय तुलना के लिए भी प्रयोग किया गया था। इस चुनावी अध्ययन के नतीजों ने इस बात को सच साबित किया कि पुणे अध्ययन के नतीजों को पूरे भारत के लिए लागू किया जा सकता था। इसके साथ ही इस अध्ययन ने देश के मतदाताओं के मतदान-व्यवहार के संबंध में कुछ नयी और भ्रांतियाँ तोड़ने वाली मान्यताओं को भी उसमें जोड़ा। ये नये अवलोकन थे : पहला मतदान-व्यवहार और राजनीतिक वरीयताएँ स्थानों के आधार पर बहुत ज़्यादा नहीं बदली थीं क्योंकि ग्रामीण और शहरी दोनों ने एक समान मत व्यक्त किये थे। दूसरी तरफ मतदाताओं के मतदान-व्यवहार और राजनीतिक वरीयताओं में राज्य के आधार पर अंतर थे; दूसरा वाम दलों और जनसंघ के पारम्परिक समर्थक दूसरी पार्टियों के मतदाताओं की तुलना में अपनी पार्टियों द्वारा उठाये गये मुद्दों से ज़्यादा सहमत नज़र आये; अंततः ऊँची जातियों के मतदाताओं और उच्च शिक्षा प्राप्त मतदाताओं की चुनावी राजनीति में कम भागीदारी थी जबकि कम शिक्षित मतदाताओं और दूसरे जाति-समुदायों से संबंध रखने वाले मतदाताओं की भागीदारी तुलनात्मक रूप से ज़्यादा थी।

संस्थात्मक स्तर पर पूरे भारत के सैम्पल सर्वे पर आधारित आम चुनावों के अकादमिक अध्ययन की शुरुआत विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सी.एस.डी.एस.), दिल्ली, द्वारा 1960 के दशक में शुरू की गयी। इनका अध्ययन राष्ट्रीय चुनाव-अध्ययन (एन.ई.एस.) के नाम से लोकप्रिय है। पहला राष्ट्रीय चुनाव अध्ययन भारतीय मतदाताओं के राजनीतिक व्यवहार, मत और रुझान के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए 1967 में संचालित किया गया था। परंतु इनके अध्ययनों में परोक्ष उद्देश्यों की भी एक व्यापक श्रेणी थी जो भारत में और भारत के बाहर लोकतांत्रिक राजनीति का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों के लिए अत्यंत प्रासंगिक बनी हुई है। 1967 में सम्पन्न राष्ट्रीय चुनाव-अध्ययन ने सी.एस.डी.एस. में सर्वे रिसर्च की परम्परा प्रारम्भ की। इसने चुनावों को ऐसे अवसर या खिड़की के रूप में प्रयोग करना सिखाया जिसके माध्यम से लोकतांत्रिक

राजनीति की प्रवृत्तियों और पैटर्नों को समझा जा सकता है। यह कहा जा सकता है कि 1967 में संचालित हुआ राष्ट्रीय चुनाव-अध्ययन भारत में बड़े सैम्पल के आधार पर राजनीतिक व्यवहारों और रुझानों को समझने का पहला राष्ट्रीय स्तर का सर्वे-आधारित अध्ययन था। इसके बाद दूसरा राष्ट्रीय स्तर का अध्ययन 1971 के आम चुनावों के दौरान हुआ। 1980 के लोकसभा चुनावों के दौरान अध्ययन पीठ ने अखिल भारतीय सर्वे के लिए डिज़ाइन तैयार किया और इंस्टीट्यूट ऑफ़ पब्लिक ओपिनियन (आई.आई.पी.ओ.), दिल्ली ने फ़ील्डवर्क संचालित किया। हालाँकि यह सर्वे पूरी तरह से राष्ट्रीय चुनाव-अध्ययन की शृंखला का हिस्सा नहीं था परंतु फिर भी कुछ हद तक इसका प्रयोग शृंखला में आये अंतराल को भरने के लिए किया जा सकता है। इन चुनावी सर्वेक्षणों को सी. एस.डी.एस. के प्रथम पीढ़ी के सर्वे के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है।

इस कालावधि के दौरान कराये गये सर्वेक्षणों को अध्ययन पीठ के सर्वेक्षण की परम्परा के विकास के रूप में चिह्नित किया जा सकता है। इस कालावधि के दौरान संचालित हुए सर्वेक्षणों की मुख्य पहचान सम्भाव्यता सैम्पलिंग, गहन प्रश्नावलियाँ और सख्त फ़ील्डवर्क था। 1967 में संचालित किये गये सबसे पहले सर्वे ने ही भारत में राष्ट्रीय चुनाव अध्ययन परम्परा के आधारभूत तत्वों को सुस्थापित कर दिया क्योंकि इसने स्व-भारित राष्ट्रीय सम्भाव्यता सैम्पल पर बल दिया। इस सैम्पल में विभिन्न चरणों में स्तरीकृत किये गये रैंडम सैम्पलिंग के आधार पर भारतीय मतदाताओं के बीच की सभी विविधताओं को प्रतिनिधित्व दिया गया। दलों की प्रतिस्पर्धा के आधार पर स्तरीकृत करके कुल 55 लोकसभा निर्वाचन क्षेत्रों को चुना गया। इन सैम्पल किये गये लोकसभा निर्वाचन क्षेत्रों के अंदर विधानसभा के खण्डों और मतदान केंद्र के क्षेत्रों का चयन क्षेत्र के आकार और अनुपात में सम्भाव्यता प्रक्रिया के तहत किया गया था। अंततः जवाब देने वालों का चुनाव सैम्पल में चुने गये मतदान केंद्र के क्षेत्रों की मतदाता-सूचियों से रैंडम सैम्पल के आधार पर चुने गये थे। इसमें अ-प्रतिस्थापन पर सख्त बल दिया गया था।

1967 के राष्ट्रीय चुनाव अध्ययन की एक प्रमुख कमी यह थी कि इस सर्वे में महिला मतदाताओं को शामिल नहीं किया गया था। इसका कारण सर्वे के दौरान फ़ील्ड में आने वाली दिक्कतें तो थीं ही, इसके साथ ही उस समय यह भी माना जाता था कि महिला और पुरुष मतदाताओं के मतों के बीच में कोई विशेष अंतर नहीं होता है। हालाँकि इस कमी को बहुत जल्द दूर कर लिया गया और 1971 के राष्ट्रीय चुनाव अध्ययन में महिलाओं को भी सैम्पल में शामिल किया गया था। उस समय चुनाव के अध्ययन के लिए सैम्पल का

आकार वर्तमान समय के सैम्पल के आकार की तुलना में छोटा था। यहाँ यह याद रखना भी महत्वपूर्ण है कि यह उस समय के दूसरे राष्ट्रीय अध्ययनों की तुलना में बड़ा था। इसके साथ ही राष्ट्रीय स्तर पर राजनीतिक व्यवहार के प्रवृत्तियों और पैटर्नों तथा रुझानों को मापने के उद्देश्य से यह पर्याप्त था। इसके अतिरिक्त सैम्पल को बहुत मेहनत से बनाया गया था जिससे एक ऐसे सैम्पल का जन्म हुआ जो राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिनिधित्व करता था। 1971 में कराये गये सर्वेक्षण का एक विशिष्ट गुण यह था कि इसमें एक ही साथ इलीट सर्वे और क्रॉस सेक्शनल सर्वे कराये गये थे। सैम्पलिंग के अतिरिक्त, 1967 और 1971 के राष्ट्रीय चुनाव अध्ययन ने रिसर्च के उपकरण और फ़ील्डवर्क की प्रथा को भी स्थापित किया।

भारत में हाल के वर्षों में भारतीय मतदाताओं के मतदान-व्यवहार, उनके राजनीतिक मत और रुझानों को मापने के लिए कराये जाने वाले चुनाव सर्वेक्षण बहुत लोकप्रिय हुए हैं। पिछले एक दशक में सम्पन्न हुए चुनावों के दौरान भारतीय मतदाताओं के बीच बड़ी संख्या में कराये गये जनमत सर्वेक्षण इस तथ्य का प्रमाण हैं कि हमारे देश में चुनावी सर्वेक्षण और सर्वेक्षण उद्योग की लोकप्रियता बढ़ी है। वर्ष 2004 और वर्ष 2009 में सम्पन्न हुए पिछले दो आम चुनावों में तो चुनाव पूर्व सर्वेक्षण और एग्जिट पोल करने के लिए भारतीय मीडिया में भीषण प्रतियोगिता देखी गयी। हालाँकि मीडिया के बीच में होड़ अंततः इस बात को लेकर होती है कि सम्भावित चुनावी परिणाम की सबसे सटीक भविष्यवाणी कौन कर सकता है। इसके साथ ही सीटों का सबसे सटीक पूर्वानुमान करके कौन यह बता सकता है कि कौन सी पार्टी चुनाव जीतने जा रही है और मुख्य राजनीतिक दलों को कितनी सीटें प्राप्त हो सकती हैं। परंतु इस के साथ-साथ मीडिया में इस बात को लेकर भी होड़ होती है कि किसके पास कितना बड़ा सैम्पल है और कौन अपने नतीजों को दर्शकों/पाठकों के बीच सबसे पहले परोस सकता है। भारतीय मतदाताओं के मतदान संबंधी निश्चय को सामने लाने के अलावा मीडिया मतदाताओं के मत और रुझान तथा उनके मतदान-व्यवहार से संबंधित नतीजों की बड़े पैमाने पर रिपोर्टिंग करता है। वर्ष 2009 में सम्पन्न हुए आम चुनावों के दौरान मीडिया द्वारा कराये गये चुनाव-पूर्व सर्वेक्षण के परिणामों के पंचलाइन/शीर्षक सिर्फ राजनीतिक नहीं होते थे। मसलन यह शीर्षक नहीं होता था कि 'यूपीए दौड़ में आगे, लेकिन बहुमत की रेखा तक पहुँचने में विफल', 'यूपीए को लाभ, एनडीए थोड़ा पीछे।' वस्तुतः उनके पंचलाइन/शीर्षक द्वारा समाज के एक वर्ग का मतदान-व्यवहार भी परिलक्षित होता था, जैसे - 'युवाओं का मत दलों का राजनीतिक भाग्य निर्धारित करेगा।' पोलस्टर और सी.फ़ॉलॉजिस्ट सिर्फ एक ज्योतिषी का किरदार नहीं निभाते। मसलन वे सिर्फ इस बात

की भविष्यवाणी नहीं करते कि राजनीतिक गठबंधनों, यूपीए, एनडीए, लेफ़्ट फ्रंट और अन्यो को कितनी सीटें मिलेंगी। इसकी बजाय, वे मतदाताओं के मतदान-व्यवहार और रुझानों की भी व्याख्या करने लगते हैं, वे यह भी बताने लगते हैं कि किन मुद्दों का चुनाव पर कितना प्रभाव पड़ेगा।

अध्ययन पीठ द्वारा कराये जाने वाले राष्ट्रीय चुनाव अध्ययन की प्रमुख विशेषता इनके द्वारा सर्वेक्षण के लिए तैयार की गयी विस्तृत प्रश्नावली थी। इन प्रश्नावलियों में 200 से लेकर 300 तक प्रश्न होते थे। इसके लिए आमने-सामने बैठकर एक घंटे से अधिक समय तक बातचीत की जाती थी। इन सूचियों को सिर्फ चुनावों के आधार पर नहीं बल्कि राजनीतिक विषयों की व्यापक समझ के साथ डिज़ाइन किया गया था। वस्तुतः ज़्यादा महत्व राजनीतिक व्यवहार, मतों और रुझानों की व्यापक विषयवस्तु को दिया गया था और इनके साथ स्थाई मूल्यों से जुड़े कुछ प्रश्न भी थे। उत्तर देने वालों की सामाजिक रूपरेखा का दस्तावेज़ बनाने के लिए व्यापक स्तर पर पृष्ठभूमि से जुड़े कारकों का भी प्रयोग किया गया था। इस सर्वे ने प्रश्नावली को भारत में बोली जाने वाली सभी प्रमुख भाषाओं में सावधानी से अनुवाद करने की प्रथा भी प्रारम्भ की। फ़ील्ड में अनुसंधान करने वालों की भर्ती, उनका प्रशिक्षण, फ़ील्ड वर्क, आँकड़ों का संग्रह और फ़ील्ड वर्क पर्यवेक्षण सीधे अध्ययन पीठ द्वारा संचालित होते थे। 1980 के दशक के दौरान चुनावों और मतदान-व्यवहार के लिए सर्वे रिसर्च कराना प्रमुख विद्वानों की कार्यसूची में विशिष्ट स्थान नहीं पा रहा था और न ही किसी संस्था ने सर्वे की शृंखला को कायम रखा। इसके कारण सर्वे के आँकड़ों की शृंखला एक लम्बे समय के लिए टूट गयी। वस्तुतः 1990 के दशक के मध्य में अध्ययन पीठ ने राष्ट्रीय चुनाव अध्ययन की परम्परा को पुनर्जीवित किया और आज भी यह भारत में मतदान-व्यवहार के सबसे प्रतिष्ठित अकादमिक अध्ययन के लिए जानी जाती है।

जनमत-सर्वेक्षण की लोकप्रियता 1980 के दशक में प्रारम्भ हुई जब डॉ. प्रणय राय ने भारतीय मतदाताओं के मिज़ाज को जानने के लिए चुनावों के दौरान जनमत-सर्वेक्षण संचालित करना प्रारम्भ किया। डॉ. राय की कोशिश थी कि जनमत सर्वेक्षणों को चुनाव के अध्ययन के लिए और सीटों की भविष्यवाणी के लिए वैज्ञानिक तरीका बनाया जाए। इस प्रकार 1989 में डॉ. राय ने 'मार्केटिंग ऐंड रिसर्च ग्रुप' के सहयोग से एक एग्जिट पोल संचालित किया। इसमें 77, 000 मतदाताओं का मतदान केंद्रों पर वोट डाल कर बाहर आने के तुरंत बाद साक्षात्कार किया गया था। इस सर्वे ने कांग्रेस के जीतने की भविष्यवाणी की थी जो कमोबेश सटीक थी और बाद में चुनाव के परिणामों ने सर्वे के सटीक होने की पुष्टि की। 'वोट स्विंग' एक बहुत ही लोकप्रिय शब्द बन

गया था जिसकी गणना पिछले चुनाव में राजनीतिक दलों को प्राप्त वोटों की तुलना में वोटों के लाभ या हानि के आधार पर की जाती थी। इसके बाद डॉ. रॉय भारत में टेलीविजन दर्शकों के बीच एक घरेलू नाम बन गये। डॉ. रॉय द्वारा की गयी इस पहल को हाथो-हाथ लिया गया और 1990 के दशक में प्रचुर मात्रा में उभरे इलेक्ट्रॉनिक मीडिया की सहायता से मीडिया और जनमत सर्वेक्षण दोनों विकास के पथ पर अग्रसर हो गये। इस प्रकार मतदाताओं के मत और व्यवहार को मापने के लिए चुनावी सर्वे और एग्जिट पोल कराना अत्यंत लोकप्रिय हो गया।

देखें : अकाली दल, कांग्रेस 'प्रणाली', गैर-कांग्रेसवाद, गठजोड़ राजनीति, जनता दल और उसकी विरासत-1 और 2, तेलुगु देशम पार्टी, पार्टी-गठजोड़ की राजनीति, भारत में गठजोड़ राजनीति, भारतीय जनता पार्टी-1 और 2, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस-1 और 2, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठजोड़, वाम मोर्चा, शिव सेना, समाजवादी पार्टी, बहुजन समाज पार्टी-1 और 2, शिरोमणि अकाली दल, समाजवादी पार्टी, संयुक्त प्रगतिशील गठजोड़।

संदर्भ

1. लोकनीति टीम (2004), 'नैशनल इलेक्शन स्टडी 2004 : ऐन इंट्रोडक्शन', *इकोनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 39, अंक 51.
2. संजय कुमार और प्रवीण राय (2013), *मैज्रिंग वोटिंग बिहेवियर इन इण्डिया*, सेज पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली.
3. संदीप शास्त्री, के.सी. सूरी और योगेंद्र यादव (2009), *इलेक्टोरल पॉलिटिक्स इन स्टेस्ट्स : लोकसभा इलेक्शंस इन 2004 ऐंड बियांड*, ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

— संजय कुमार

भारत में मतदान-व्यवहार-3

मीडिया और चुनावी सर्वेक्षण

(Voting-Behaviour in India-3)

भारत में 1990 के दशक में चुनावी सर्वे की लोकप्रियता को बढ़ाने में कई कारकों ने योगदान दिया परंतु मुख्य रूप से तीन कारक थे जिसके कारण इसका विस्तार हुआ : पहला इसने मतदाताओं के साथ-साथ राजनीतिक दलों के बीच भी यह जिज्ञासा उत्पन्न की कि चुनाव में कौन जीत सकता है और चुनाव सम्पन्न होने के पहले ही सर्वेक्षण के आधार पर किये जा रहे आकलनों में प्रमुख राजनीतिक दलों को कितनी सीटें

प्राप्त हो सकती हैं; दूसरा चुनाव-पूर्व सर्वेक्षणों ने राजनीतिक दलों को विभिन्न वर्गों के मतदाताओं के मतदान-व्यवहार और उनके राजनीतिक पसंदों के संबंध में सूचनाएँ उपलब्ध करायीं। चुनाव के आँकड़ों ने विभिन्न निर्वाचन क्षेत्रों में दलों के जीतने की सम्भावना और उम्मीदवारों के जीतने की सम्भावना के मूल्यांकन के लिए प्रारम्भिक झुकाव का संकेत दे दिया। ये सूचनाएँ न सिर्फ विभिन्न सीटों के लिए उम्मीदवारों के चयन में बल्कि उनके चुनावी प्रचार की योजनाओं के निर्माण के लिए भी महत्वपूर्ण बन गयीं; और अंततः मीडिया को चुनावी सर्वेक्षणों ने मतदाताओं के मतदान-व्यवहार और रुझानों पर ढेर सारे आँकड़े उपलब्ध कराये। इससे मीडिया को चुनाव की व्याख्या करने में तथा ज्यादा व्यापक और विस्तृत तरीके से सीटों के पूर्वानुमान करने में मदद मिली। मीडिया की मुख्य जिज्ञासा चुनाव के पहले किये गये चुनावी अध्ययन के आधार पर चुनाव के परिणामों को जानने में थी। इसके साथ-साथ चुनाव का पूर्वानुमान और चुनाव के दौरान सीटों की भविष्यवाणी भी काफ़ी प्रचलित और लोकप्रिय हुई।

21 वीं शताब्दी की शुरुआत भारत में जनमत-सर्वेक्षण उद्योग के अगले चरण के विकास का गवाह है। मीडिया ने चुनावों के दौरान सर्वेक्षण संचालित कराने के लिए विभिन्न मार्केट रिसर्च संगठनों को शामिल करना प्रारम्भ कर दिया। इन सर्वेक्षणों का उद्देश्य मतदाताओं के मिज़ाज को जानना और चुनाव के परिणामों की भविष्यवाणी करना था। मार्केट रिसर्च एजेंसियाँ जैसे ए.सी. नील्सन और ओ.आर.जी. मार्ग के अतिरिक्त नये संगठन जैसे सेंटर फ़ॉर मीडिया स्टडीज, डिवलपमेंट ऐंड रिसर्च सर्विसेज, सी वोटर आदि भी जनमत सर्वेक्षणों और एग्जिट पोल के इस उद्योग में भारतीय मतदाताओं के मतदान-व्यवहार की व्याख्या करने के लिए शामिल होने लगे। एग्जिट पोल एक लोकप्रिय शब्द बन गया। चुनावों का पूर्वानुमान करना तथा राष्ट्रीय और राज्य स्तरीय चुनावों में किन दलों के गठबंधनों को कितनी सीटें प्राप्त होगी, इसकी भविष्यवाणी करना इस दशक की एक सामान्य विशेषता बन गयी। प्रिंट मीडिया के बीच *इण्डिया टुडे* ने पहला जनमत-सर्वेक्षण 1989 में प्रकाशित किया और उसके बाद से चुनाव के पूर्वानुमानों के लिए वह सभी प्रमुख चुनावों के लिए लगातार जनमत सर्वेक्षण संचालित कराती आ रही है। इस दौरान में कराये गये चुनाव पूर्व सर्वेक्षणों ने मुख्यतः मतदाताओं के चुनावी विकल्पों, नेताओं की लोकप्रियता, राजनीतिक मुद्दों पर मतदाताओं के मत और सीटों की भविष्यवाणियों पर फ़ोकस किया। 2004 और 2009 में सम्पन्न अंतिम दो आम चुनावों में लगभग सभी प्रमुख न्यूज़ चैनलों और प्रिंट मीडिया ने जनमत-सर्वेक्षण के संचालन के लिए मार्केट रिसर्च एजेंसियों या फिर दूसरे सर्वेक्षण एजेंसियों का प्रयोग किया। सर्वे के आँकड़ों के आधार पर तथा पोलस्टोर्स

और सी.फ़ॉलॉजिस्टों की विशेषज्ञता का प्रयोग करके सीटों की भविष्यवाणियाँ की गयीं जो 2004 में पूर्णतः ग़लत साबित हुईं और 2009 में भी सटीक तो नहीं हुईं परंतु कम से कम इसने चुनाव के परिणामों को सही दिशा में दिखाया।

मतदाताओं के मतों और रुझानों को जानने के लिए चुनावी सर्वेक्षण कराने की प्रक्रिया को 1990 के दशक में राजनीतिक दलों ने भी अपना लिया। राजनीतिक दलों ने सर्वेक्षण संचालित कराने और ज़मीनी स्तर पर मौजूद सच्चाई के बारे में विस्तृत रिपोर्ट जानने के लिए सर्वेक्षण एजेंसियों को भाड़े पर लिया। कांग्रेस पार्टी ने 1996 में अपने वोटों के परिदृश्य को जानने के लिए अखिल भारतीय स्तर पर सर्वेक्षण का संचालन गुप्त रूप से करवाया। परिणामस्वरूप यह मीडिया में लीक हो गया और इसने ढेर सारे विवादों और नीरसता को जन्म दिया। उसके बाद भाजपा ने अपने पार्टी के लिए एक आंतरिक सर्वेक्षण संचालित किया और पहली बार सावर्जनिक तौर पर उसने उसे स्वीकार भी किया। राजनीतिक दलों द्वारा जनमत सर्वेक्षणों को संचालित कराने के कारणों को संक्षेप में और सबसे बेहतर तरीक़े से स्वर्गीय प्रमोद महाजन ने अभिव्यक्त किया था। उन्होंने कहा था कि चुनावों में मार्केट सर्वेक्षणों का प्रयोग बढ़ता चला जाएगा और इसके साथ ही उन्होंने यह विश्वास भी व्यक्त किया था कि इस प्रकार के सर्वेक्षण अनिवार्य सूचनाओं को एकत्रित करने के लिए स्वतंत्र और वैज्ञानिक पद्धति हैं। ये सर्वे पार्टी के नेटवर्कों से ज़्यादा स्वतंत्र होते हैं क्योंकि पार्टी का नेटवर्क ज़्यादातर वही बताता है जो पार्टी को पहले से पता होता है। जबकि मार्केट सर्वे हमें बताता है कि प्रमुख मुद्दे क्या हैं, किन निर्वाचन-क्षेत्रों में पार्टी की मज़बूत पकड़ है और कहाँ पार्टी कमज़ोर है। इन भविष्यवाणियों के आधार पर पार्टियाँ जनसभाओं का आयोजन करती हैं, विज्ञापन-अभियान चलाती हैं व इसी प्रकार के अन्य काम करती हैं। हालाँकि योगेन्द्र यादव ने चुनावों के दौरान राजनीतिक दलों द्वारा जनमत-सर्वेक्षण का सहारा लेने के कारणों के लिए जो तर्क दिया है वह प्रमोद महाजन द्वारा अभिव्यक्त किये गये विचारों से एकदम अलग और विपरीत है। योगेन्द्र यादव के अनुसार जब राजनीतिक प्रक्रियाएँ विफल हो जाती हैं तभी मार्केट का सहारा लिया जाता है। उनके अनुसार लोकतांत्रिक राजनीति के नियमित प्रक्रियाओं ने सुचारू रूप से कार्य करना बंद कर दिया है और नेताओं को जनता के बारे में बहुत ही कम जानकारी होती है क्योंकि इस प्रकार का कोई पार्टी संयंत्र नहीं है। ज़मीनी स्तर के सूचनाओं का स्रोत दिनोंदिन सिकुड़ता जा रहा है। ऐसे में सबसे ज़्यादा ज़रूरत एक वस्तुगत सर्वे की है ताकि सच्चाई का पता चल सके।

इस प्रकार कई राजनीतिक दलों ने ज़मीनी सच्चाइयों को जानने के लिए सर्वेक्षण कराना प्रारम्भ किया। परंतु हाल के वर्षों में कुछ नेताओं ने व्यक्तिगत स्तर पर भी अपने

निर्वाचन क्षेत्रों में सर्वे कराने की शुरुआत की है। हालाँकि इन नेताओं द्वारा सर्वे के नतीजों को कभी-कभी किसी निर्वाचन क्षेत्र में अपनी लोकप्रियता के सबूत के रूप में भी पेश किया जाता है ताकि उसे टिकट मिल सके। इसके साथ ही राजनीतिक दलों और उम्मीदवारों द्वारा जनमत सर्वेक्षणों का दुरुपयोग छल-कपट के लिए भी किया जाता है। सेंटर फ़ॉर द मीडिया स्टडी के एन. भास्कर राव कहते हैं कि जनमत-सर्वेक्षण के व्यावसाय में इसके दुरुपयोग किये जाने की भी अत्यधिक सम्भावना है। प्रायः नेताओं द्वारा अपने वांछनीय निष्कर्षों को साबित करने के लिए जनमत-सर्वेक्षणों को महज़ एक हथियार के रूप में इस्तेमाल किया जाता है। इन लोगों के लिए जनमत सर्वेक्षण व्यवसायिक कार्य न होकर रुपया कमाने का ज़रिया बन गया है। जनमत सर्वेक्षणों के लिए जिन पद्धतियों का प्रयोग किया जा रहा है उनमें कुछ ज़रूरी सुधार की ज़रूरत है। कभी-कभी तो सर्वेक्षण करने वाले सैम्पल का आकार तक नहीं बताते हैं और छोटे-से अध्ययन के आधार पर उसे सम्पूर्ण भारत के परिणाम के रूप में दर्शाने की कोशिश करते हैं। वास्तव में कुछ शक्तिशाली लोग पार्टी में प्रभाव अर्जित करने के लिए इस प्रकार के अध्ययनों को एक माध्यम के रूप में प्रयोग करते हैं और इसमें बहुत बड़ी मात्रा में उनका रुपया भी लगा होता है।

अध्ययन पीठ के चुनावी अध्ययन जिसकी निरंतरता 1980 के दशक में टूट गयी थी, वह 1990 के दशक के मध्य में बड़े व्यापक रूप में पुनर्जीवित हुई। अध्ययन पीठ में लोकतंत्र के तुलनात्मक अध्ययन के लिए एक प्रोग्राम के रूप में लोकनीति का गठन और 1995 में राजनीतिक वैज्ञानिकों के एक अखिल भारतीय नेटवर्क के सृजन ने 1996 में राष्ट्रीय चुनाव अध्ययन के संचालन के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया। इस बार पैनल डिज़ाइन सैम्पल का प्रयोग करके अध्ययन को तीन दौर में अर्थात् चुनाव-पूर्व, चुनाव प्रचार के बीच में और मतदान के बाद सम्पन्न कराने की जिम्मेवारी ली गयी। पैनल सैम्पल से तात्पर्य है पिछले चुनाव में जिन मतदाताओं से साक्षात्कार किया गया, उन्हीं मतदाताओं के पास साक्षात्कार के लिए दुबारा जाना। इसके अतिरिक्त लोकनीति ने 17, 604 वोटों के बड़े सैम्पल के साथ एक एग्ज़िट पोल भी प्रारम्भ किया। यह अध्ययन अकादमिक क्षेत्रों और मीडिया दोनों में व्यापक स्तर पर प्रकाशित हुए। यह अनेकों शोध-प्रकाशनों का आधार था और विद्वानों द्वारा भारतीय राजनीति को सामान्य रूप से समझने के लिए और विशिष्ट रूप से इसकी चुनावी राजनीति को समझने के लिए अक्सर इसका इस्तेमाल किया जाता है। 1998 के लोकसभा चुनाव के समय सर्वे के दो दौर अर्थात् चुनाव-पूर्व सर्वे और मतदान के बाद सर्वे, 1998 के राष्ट्रीय चुनाव अध्ययन के भाग के रूप में कराये गये थे। इसमें 1996 के राष्ट्रीय चुनाव अध्ययन में जिन लोगों

की प्रतिक्रिया ली गयी थी उनके पास जाकर प्रतिक्रिया लेना सम्मिलित था। 1999 के अगले आम चुनाव में यह संस्था सिर्फ पोस्ट-पोल सर्वे कराने की अपनी पुरानी प्रथा पर वापस लौट आयी। इसका कारण यह नहीं था कि सी.एस.डी.एस का चुनाव पूर्व सर्वेक्षण पर भरोसा कम हो गया था, या इसमें दिलचस्पी कम हो गयी थी। इसका एकमात्र कारण आर्थिक संसाधनों की कमी थी। राष्ट्रव्यापी बड़े सैम्पल के सर्वे कराने के लिए बड़ी मात्रा में आर्थिक संसाधनों की जरूरत होती है। सन् 1996 के बाद लगातार लोकसभा चुनाव होने के कारण, 1999 में उतना संसाधन जुड़ा पाना सम्भव नहीं हो पाया और सी.एस.डी.एस ने सीमित आर्थिक संसाधन में सिर्फ पोस्ट-पोल सर्वे करने का निर्णय लिया। इस प्रकार इसने टिकाऊ मूल्यों वाले आँकड़ों के सेट को जन्म दिया। 1999 के राष्ट्रीय चुनाव अध्ययन के दौरान उसी पैनल का साक्षात्कार फिर से किया गया जिनका चयन 1996 और 1998 के राष्ट्रीय चुनाव अध्ययन के लिए किया गया था। इस प्रकार महज तीन वर्षों के छोटे से अंतराल में मतदाताओं के राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिनिधित्व करने वाले सैम्पल का प्रयोग करते हुए सर्वे के कुल छह दौर कराये गये।

देखें : अकाली दल, कांग्रेस 'प्रणाली', गैर-कांग्रेसवाद, गठजोड़ राजनीति, जनता दल और उसकी विरासत-1 और 2, तेलुगु देशम पार्टी, पार्टी-गठजोड़ की राजनीति, भारत में गठजोड़ राजनीति, भारतीय जनता पार्टी-1 और 2, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस-1 और 2, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठजोड़, वाम मोर्चा, शिव सेना, समाजवादी पार्टी, बहुजन समाज पार्टी-1 और 2, शिरोमणि अकाली दल, समाजवादी पार्टी, संयुक्त प्रगतिशील गठजोड़।

संदर्भ

1. संजय कुमार और प्रवीण राय (2013), *मैज्रिंग वोटिंग बिहेवियर इन इण्डिया*, सेज पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली.
2. अरविंद मोहन (सम्पा.) (2009), *लोकतंत्र का नया लोक : चुनावी राजनीति में राज्यों का उभार*, वाणी-लोकनीति-सीएसडीएस, नयी दिल्ली.
3. भास्कर राव (2009), *अ हैंड बुक ऑफ पोल सर्वेज इन मीडिया: ऐन पर्सपेक्टिव*, ज्ञान पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली.

— संजय कुमार

भारत में मतदान-व्यवहार-4

अध्ययन पीठ की प्रणाली और उसका विकास

(Voting-Behaviour in India-4)

विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस) में सर्वे की परम्परा के विकास को समझने के लिए इसके द्वारा भारत में संचालित राष्ट्रीय चुनाव अध्ययन की शृंखला को तीन पीढ़ियों में बाँट कर देखना होगा। 1967, 1971 और 1980 के राष्ट्रीय चुनाव अध्ययन पहली पीढ़ी के सर्वेक्षण थे जिन्हें सी.एस.डी.एस में चुनावी अध्ययनों की शुरुआत कहा जा सकता है। 1996 से 1999 तक के राष्ट्रीय चुनाव अध्ययन की शृंखला को दूसरी पीढ़ी के अध्ययन की संज्ञा दी जा सकती है। 2004 और 2009 के राष्ट्रीय चुनाव अध्ययन को अध्ययन पीठ की परम्परा के चुनावी सर्वेक्षणों की तीसरी पीढ़ी का एक भाग माना जा सकता है। दूसरी पीढ़ी के राष्ट्रीय चुनाव अध्ययन (1996-1999) का निर्माण पहली पीढ़ी के चुनावी सर्वेक्षणों के ढाँचे पर ही किया गया था, हालाँकि इसमें कुछ नयी विशेषताओं को भी जोड़ा गया था। पहला और सबसे अधिक ध्यान देने वाला परिवर्तन सैम्पल का आकार था क्योंकि अब सैम्पल का आकार पहली पीढ़ी के सर्वे की तुलना में दो गुना से भी ज्यादा बढ़ा था। एक स्व-भारित राष्ट्रीय सम्भाव्यता सैम्पल बनाया गया था। इस बड़े और विस्तृत सैम्पल में सभी महत्वपूर्ण राज्यों के प्रतिनिधित्व को सुनिश्चित करने के साथ-साथ राष्ट्रीय प्रतिनिधित्व को भी सुनिश्चित किया गया था। जबकि पहले, 'प्रोबेबिलिटी प्रोपोर्सनेट टू साइज' प्रक्रिया का प्रयोग करके संसदीय निर्वाचन क्षेत्रों और विधानसभा क्षेत्रों की सैम्पलिंग की जाती थी। दूसरा परिवर्तन पैनल डिजाइन के साथ कई दौर में सर्वे का प्रयोग करना था। अकेले 1996 के राष्ट्रीय चुनाव अध्ययन में तीन दौर का सर्वे - चुनाव-पूर्व, चुनाव-प्रचार के बीच में और मतदान के पश्चात् सर्वे सम्मिलित था। चूँकि लोकसभा के दो चुनाव बहुत ही कम अंतराल पर हुए इसलिए एक ही पैनल को 1998 और 1999 के राष्ट्रीय चुनाव अध्ययन के लिए बढ़ा दिया गया था। तीसरा महत्वपूर्ण अंतर सर्वेक्षण की प्रक्रिया से जुड़ा था। द्वितीय पीढ़ी के राष्ट्रीय चुनाव अध्ययन ने मतदाताओं के मतों की वरीयता का पता लगाने के लिए नकली गुप्त मतदान-पत्र और नकली मतदान के बक्से का प्रयोग किया। इस नयी पहल ने पार्टियों को मिलने वाले वोटों का अनुमान लगाने में पहली पीढ़ी की तुलना में बहुत ज्यादा शुद्धता ला दी।

दूसरी पीढ़ी के सर्वेक्षणों के साथ ही राष्ट्रीय चुनाव अध्ययन केवल अनुदानों पर निर्भर नहीं रहा बल्कि उसे

मीडिया से भी सफलतापूर्वक फण्ड मिलने लगा। कुछ अग्रणी मीडिया प्रकाशनों जैसे द हिंदू, इण्डिया टुडे, फ्रंट लाइन और इकॉनॉमिस्ट ने 1996 और 1999 के बीच के राष्ट्रीय चुनाव अध्ययन की मदद की। मीडिया की मदद ने राष्ट्रीय चुनाव अध्ययन की शृंखला को ज़्यादा प्रकाश में ला दिया। हालाँकि इसके साथ उसकी ज़िम्मेदारी भी बढ़ गयी और उसे सर्वे पूरा करने के लिए बहुत ही कम समय मिलने लगा। 2004 के राष्ट्रीय चुनाव अध्ययन ने अध्ययन पीठ की तीसरी पीढ़ी के सर्वे की शुरुआत का संकेत दिया। हालाँकि सैम्पल के आकार को बढ़ा किया गया था लेकिन पहले प्रयोग में लाये जा रहे स्व-भारित राष्ट्रीय सम्भाव्यता सैम्पल के स्थान पर अब राज्य के स्तर पर सम्भाव्यता सैम्पल बनाया गया था। वस्तुतः सैम्पलिंग का ढाँचा राजनीति में आये परिवर्तन की वास्तविकता को प्रतिबिम्बित कर रहा था। इसमें राज्यों के स्तर पर बनाये गये सम्भाव्यता सैम्पलों के समुच्चय के आधार पर राष्ट्रीय स्तर पर सैम्पल का प्रतिनिधित्व प्राप्त करने की कोशिश की गयी थी। इसके लिए सैम्पल के आकार को दूसरी पीढ़ी के राष्ट्रीय चुनाव अध्ययन की तुलना में करीब तीन गुणा बढ़ा किया गया था ताकि छोटे स्तर के राज्यों को भी सैम्पल में प्रतिनिधित्व दिया जा सके। बेहतर प्रतिनिधित्व प्राप्त करने के लिए एक ही मतदान केंद्र से सैम्पल में कम लोगों को शामिल किया जाने लगा ताकि एक ही जगह के झुण्ड के प्रभावों से बचा जा सके। विश्लेषणात्मक अर्थ में, स्व-भारित सैम्पल को त्यागने का मतलब था आँकड़ों के समूह के विश्लेषण के लिए राष्ट्रीय स्तर पर भारण का प्रयोग करना। राष्ट्रीय चुनाव अध्ययन में कुछ अन्य तरीकों से भी विस्तार किया गया था। प्रश्नावली का अनुवाद पहले जितनी भाषाओं में होता था, उसकी संख्या में भी वृद्धि की गयी। पहली बार, प्रमुख भाषाओं की 'बोलियों' के मुद्दे पर व्यवस्थित तरीके से ध्यान दिया गया था। राष्ट्रीय चुनाव अध्ययन की शृंखला में पहली बार, राज्य की राजनीति और समस्याओं से संबंधित प्रश्नों को शामिल किया गया था, ताकि सर्वेक्षण के आँकड़ों से राज्य-स्तरीय व्याख्या में मदद मिले। अध्ययन पीठ द्वारा संचालित किया गया 2009 का राष्ट्रीय चुनाव अध्ययन अब तक के किसी भारतीय आम चुनाव का और शायद दुनिया के किसी भी चुनाव का सबसे बड़ा और सबसे विस्तृत सामाजिक वैज्ञानिक सर्वे है। मतदाता सूची चुने गये सभी 59, 650 लोगों तक पहुँचाई गयी थी और 37, 365 साक्षात्कारों को पूरा किया गया था। इस विशालकाय सैम्पल के आकार के अतिरिक्त 2009 के इस चुनाव सर्वे ने कुछ नये बदलावों की भी शुरुआत की। ये थे— पहला-पहली बार किसी राष्ट्रीय स्तर के सर्वे में सैम्पल में शामिल लोगों को 'विभाजित सैम्पल' के साथ प्रश्नावलियों के पाँच सेट रैंडमली वितरित किये गये थे। दूसरा प्रश्नावलियों में व्यापक स्तर पर दूसरी विषयवस्तु

से जुड़े कुछ अतिरिक्त सर्वेक्षण के मानदण्डों को भी शामिल किया गया था। इसमें अर्थव्यवस्था, सुरक्षा, सम्प्रदायवाद, लोकतंत्र और सामाजिक मूल्यों जैसे विषयों को शामिल किया गया था; और अंततः सैम्पल में प्रतिक्रिया देने के लिए जिन लोगों का चयन किया गया था, उनके नहीं मिलने पर उनके स्थान पर दूसरे व्यक्ति की प्रतिक्रिया को 2004 के सर्वेक्षणों के दौरान तो स्वीकार कर लिया गया था परंतु 2009 के सर्वेक्षण के दौरान उसे किसी भी परिस्थिति में स्वीकार नहीं किया गया। उत्तरदाता के प्रतिस्थापन विधि जो 2004 के सर्वे में अपनाया गया था उसे 2009 में अस्वीकार करने की मुख्य वजह यह थी कि इससे सैम्पल के स्वरूप के बिगड़ने की सम्भावना ज़्यादा हो जाती है।

1990 के दशक में और 21वीं शताब्दी के प्रारम्भ में संचालित हुए राष्ट्रीय चुनाव अध्ययन की शृंखला ने कई नये परिवर्तनों की शुरुआत की। रिसर्च की इन नयी तकनीकों ने भारतीय चुनावों के अध्ययन की कला को एक मानक बना दिया। भारतीय मतदाताओं के राजनीतिक मतों, रुझानों और मतदान-व्यवहार को सिर्फ मौजूदा समाजशास्त्रीय और राजनीतिक पाराडाइम के अंतर्गत नहीं मापा गया था बल्कि विभिन्न दृष्टिकोण और मापदण्डों के साथ इनका विश्लेषण भी किया गया था। अध्ययन पीठ ने राष्ट्रीय चुनाव अध्ययन की शृंखला के अलावा पिछले दशक में राज्य विधानसभा के चुनावों के लिए भी जनमत सर्वेक्षण कराना प्रारम्भ किया। 1996 और 2009 के बीच राज्य स्तर पर मतदाताओं के मतदान-व्यवहार के निर्धारण के लिए कुछ राज्यों को छोड़कर सभी प्रमुख राज्यों में चुनावी सर्वेक्षण का कम-से-कम एक दौर संचालित किया गया। मतदाताओं के मतदान-व्यवहार को मापने के लिए इन विस्तृत चुनावी अध्ययनों के अतिरिक्त अध्ययन पीठ 2004 से लेकर 2009 तक के चुनावों में भी शामिल रहा। पिछले 5 वर्षों में अध्ययन पीठ द्वारा चुनावी भविष्यवाणियों का सीटों के पूर्वानुमान में 70 प्रतिशत सटीकता की सफलता दर के साथ मिश्रित परिणाम रहा था।

चुनावी अध्ययनों का ऐतिहासिक अवलोकन बताता है कि चुनावों के अध्ययन के लिए सर्वेक्षण की प्रणाली भारत में मतदाताओं के मतदान-व्यवहार और रुझान को मापने के लिए सबसे लोकप्रिय हथियार रहा है और आज भी बना हुआ है। सर्वे प्रणाली के अलावा मतदान-व्यवहार और रुझानों के अध्ययन के लिए कुछ निर्वाचन क्षेत्र स्तर के अध्ययन और एथनोग्राफिक अध्ययनों का संचालन होता रहा है। भारत में राजनीतिक वैज्ञानिकों ने ज़्यादातर मतदाताओं के निर्वाचन क्षेत्र का अध्ययन संचालित किया है जबकि चुनाव में भाग लेने वालों के अवलोकन की पद्धति पर आधारित एथनोग्राफिक अध्ययन ज़्यादातर सामाजिक मानव-विज्ञानियों और समाजशास्त्रियों द्वारा किया गया है। पॉल ब्रास उन पहले

व्यक्तियों में से थे जिन्होंने 1977 और 1980 के उत्तर प्रदेश के चुनावों के लिए केस स्टडी पद्धति का प्रयोग किया था। उन्होंने राज्य के पाँच चुने हुए निर्वाचन क्षेत्रों में विस्तृत पर्यवेक्षण पर आधारित फ़ील्ड वर्क रिसर्च संचालित की थी। सुब्रत मित्रा ने भी 1980 के लोकसभा और विधानसभा के चुनावों में ओडीशा के गाँव में केस स्टडी संचालित की थी। ये दोनों केस स्टडीज बताती हैं कि यह पद्धति हमें चुनावों का ज्यादा व्यापक और स्थानीय स्तर पर सूक्ष्म वर्णन मुहैया कराती है।

अग्रणी समाजशास्त्री एम.एन. श्रीनिवास और ए.एम. शाह ने 1960 के दशक के अंत में मतदान-व्यवहार का सहभागी प्रेक्षण संचालित किया। मानव-विज्ञानियों ने भी चुनावों के अवलोकन और मतदाताओं के मतदान-व्यवहार के अध्ययन के लिए तथा विशेषकर चुनाव के सांकेतिक पहलुओं और इससे जुड़े विभिन्न कर्मकाण्डों के अध्ययन के लिए चुनावों का एथनोग्राफ़िक अध्ययन संचालित किया। हौसर और सिंगर ने बिहार में 1980 के दशक के दो चुनावों के पर्यवेक्षण पर आधारित अध्ययन संचालित किया। मुकुलिका बनर्जी ने भी पश्चिम बंगाल में 2007 के विधानसभा के चुनावों के दौरान वहाँ एक गाँव में मानव-विज्ञानकीय अध्ययन संचालित किया। इन अध्ययनों ने मतदाताओं के मतदान-व्यवहार के सहभागी प्रेक्षण और चुनावों के गुणात्मक पहलुओं पर ज्यादा फ़ोकस किया था। इन स्थानीय एथनोग्राफ़िक अध्ययनों के नतीजों का दायरा सीमित था, क्योंकि यह चुनावों के प्रक्रियाओं और गति की व्याख्या बड़े पैमाने पर नहीं कर सकता था। ये अध्ययन चुनाव के मुख्य स्टेकहोल्डरों के मतों को समझने में और साथ ही मतदाताओं के मतदान-व्यवहार को मात्रात्मक रूप में मापने में भी विफल रहे। जब मानव-विज्ञानियों ने विशिष्ट रूप से चुनावों को अध्ययन के लिए चुना तो उन्होंने सभी मात्रात्मक आँकड़ों को नज़रअंदाज़ कर दिया, यहाँ तक कि उन्होंने जनसंख्या के आकार और सामाजिक-आर्थिक स्थिति से संबंधित सबसे ज़रूरी सूचनाओं को भी भुला दिया।

2009 के आम चुनावों के दौरान एक नयी पद्धति से चुनावों का अध्ययन करने की कोशिश की गयी थी। यह अध्ययन पूरे भारत के 12 स्थानों में विस्तृत चुनावी एथनोग्राफ़ी पर आधारित था। इस 'कम्परेटिव इलेक्टरल एथनोग्राफ़ी प्रोजेक्ट' का संचालन युनिवर्सिटी कॉलेज, लंदन, की डॉ. मुकुलिका बनर्जी ने विकासशील समाज अध्ययन पीठ, दिल्ली, की लोकनीति प्रोग्राम के सहयोग से किया था। इस अध्ययन के संचालन का उद्देश्य भारतीय चुनावों के बड़े पैमाने पर किये सर्वेक्षणों और स्थानीय स्तर पर किये गये सहभागितामूलक अनुसंधानों की शक्तियों को एक साथ मिलाकर तुलनात्मक अध्ययन करना था। डॉ. बनर्जी के

अनुसार 'कम्परेटिव इलेक्टरल एथनोग्राफ़ी स्टडी' का लाभ इस तथ्य से उभरता है कि इसमें भारतीय चुनावों के अध्ययन के लिए मात्रात्मक और गुणात्मक दोनों पद्धतियों की विषयगत शक्तियों और प्रणालीगत पद्धतियों के योग का प्रयोग किया जाता है। जहाँ सर्वेक्षणों से महत्वपूर्ण पैटर्न और विरोधाभासों की पहचान की जाती है वहीं एथनोग्राफ़रों की सतर्कता, कम संसाधनों में प्रबंधन करने की क्षमता और व्यापक स्तर पर मेलजोल करने की क्षमता एक साथ मिलकर चुनावी अनुभवों और इसके अर्थों को अनुपूरक बनाती है और प्रायः इसे एक नयी अंतर्दृष्टि प्रदान करती है। भारतीय चुनावों के अध्ययन को इन दोनों पद्धतियों की विशेषताओं के ज़रूरत हैं ताकि अलग-अलग पद्धतियों और विशेषज्ञताओं की एक साथ मिलकर कार्य करने की स्थिति उत्पन्न की जा सके।

डॉ. बनर्जी के अनुसार इस प्रोजेक्ट में चुनावों का अध्ययन 'नम्बर गेम' और परिणामों पर फ़ोकस करने वाले नीरस सांख्यिकीय विषय के रूप में नहीं किया गया है। इसके बजाय, पूर्ण सांस्कृतिक और सार्वभौमिक अर्थ में किया जाता है, मानो यह भारतीय लोकतंत्र का सर्वाधिक महत्वपूर्ण, आधुनिक और सेकुलर पर्व हो। इस प्रकार इस अध्ययन ने भारत में चुनावों के सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन में नयी तुलनात्मक समझदारियों और सामूहिक अंतर्दृष्टि को जन्म दिया है। समग्र रूप से यह अध्ययन समकालीन भारत में विशाल क्षेत्रीय भिन्नताओं के बावजूद लोकतंत्र की एक नयी समझ का नेतृत्व करेगा। इस अध्ययन का उद्देश्य भारत में विभिन्न क्षेत्रों के चुनावी अनुभवों की विविधता को सम्मिलित करना है। इसके लिए इस समकालिक अध्ययन में भाग लेने वाले निरीक्षकों की एक टीम द्वारा विभिन्न स्थानों से चुनावी प्रक्रिया और लोकप्रिय सहभागिता के सभी पहलुओं का अध्ययन किया जाता है। इसका उद्देश्य चुनावी प्रतिस्पर्धा के सभी पहलुओं—नामांकन, प्रचार, मीडिया कवरेज से लेकर मतदान और परिणामों की घोषणा तक का अध्ययन करना है।

देखें : अकाली दल, कांग्रेस 'प्रणाली', गैर-कांग्रेसवाद, गठजोड़ राजनीति, जनता दल और उसकी विरासत-1 और 2, तेलुगु देशम पार्टी, पार्टी-गठजोड़ की राजनीति, भारत में गठजोड़ राजनीति, भारतीय जनता पार्टी-1 और 2, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस-1 और 2, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठजोड़, वाम मोर्चा, शिव सेना, समाजवादी पार्टी, बहुजन समाज पार्टी-1 और 2, शिरोमणि अकाली दल, समाजवादी पार्टी, संयुक्त प्रगतिशील गठजोड़।

संदर्भ

1. योगेंद्र यादव (2007), 'इंवीटेशन टू ए डॉयलॉग : ह्याट वर 'फ़ील्डवर्क' डू इन द फ़ील्ड ऑफ़ इलेक्शंस?', एम.एन. श्रीनिवास

- और ए.एम. शाह (सम्पा.) (2007), *द ग्रासरूट ऑफ़ डेमोक्रेसी: फ़्रील्ड स्टडीज़ ऑफ़ इलेक्शंस*, परमानेंट ब्लैक, नयी दिल्ली.
2. ए.एम. शाह (सम्पा.) (2007), *द ग्रासरूट ऑफ़ डेमोक्रेसी : फ़्रील्ड स्टडीज़ ऑफ़ इलेक्शंस*, परमानेंट ब्लैक, नयी दिल्ली.
 3. योगेंद्र यादव (2008), 'विदर सर्वे रिसर्च? रिफ्लेक्शंस ऑन द स्टेट ऑफ़ सर्वे रिसर्च ऑन पॉलिटिक्स इन मोस्ट ऑफ़ द वर्ल्ड', मेलकैम आदिशेषैया स्मृति व्याख्यान, चेन्नई.
 4. मुकुलिका बनर्जी (2007), 'सेकरेड इलेक्शंस', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 42, अंक 17.
 5. सुहास पलशीकर (2007), 'द इमैजिंड डिबेट बिटवीन पोल्सटर ऐंड एथनोग्राफ़र', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 42, अंक 43.

— संजय कुमार

भारत में मतदान-व्यवहार-5

आलोचनाएँ और चुनौतियाँ

(Voting-Behaviour in India-5)

जनमत-सर्वेक्षण पर आधारित चुनाव के अध्ययनों की सीमाएँ और इसकी आलोचनाओं की शुरुआत 1970 के दशक में ही हुई। विद्वानों ने इस बात की तरफ़ इशारा किया कि पिछले दो दशक में हुए चुनावों के सर्वे भारतीय मतदाताओं के मतदान-व्यवहार को समझने और उसकी व्याख्या में किसी भी प्रकार की विशेषज्ञता हासिल करने में असफल रहे हैं। चुनावी अध्ययनों पर लगाया गया सबसे बड़ा आरोप यह था कि भारतीय मतदाताओं के राजनीतिक व्यवहार से संबंधित किसी भी तरह के सुनिश्चित सूत्रीकरण तक पहुँचने में इसका बहुत सीमित योगदान रहा है। 1990 के दशक ने चुनावों में सिर्फ़ जनमत सर्वेक्षण उद्योग के विकास को ही नहीं देखा बल्कि भारत में मतदान-व्यवहार के मापन में सर्वे रिसर्च की ज़्यादा आलोचनाओं और सीमाओं को भी देखा। चुनावी सर्वे के दायरे और प्रासंगिकता पर विद्वानों द्वारा पूछे गये प्रश्नों के अतिरिक्त सर्वेक्षण उद्योग पर विवादों और संदेहों के कारण सार्वजनिक तौर पर भी कीचड़ उछाला गया। सर्वेक्षणों पर मतदान-व्यवहार को प्रभावित करने का आरोप लगाया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत के निर्वाचन आयोग ने मतदान के 48 घंटे पहले से लेकर आखिरी मत पड़ने तक के बीच में चुनावी सर्वे के प्रचार-प्रसार पर प्रतिबंध लगा दिया।

प्रारम्भिक चरण की चुनौतियाँ : भारत में जनमत-सर्वेक्षण का प्रयोग करके मतदान-व्यवहार मापने के प्रारम्भिक चरण को अत्यधिक उत्साह और जोश के लिए जाना जाता है परंतु इसके साथ कई महत्वपूर्ण समस्याएँ और चुनौतियाँ भी जुड़ी हुई थीं। जिस प्रकार स्वतंत्र भारत में किसी नये उद्यम या उद्योग ने शुरुआत के वक्रत आधारभूत संरचनाओं के अभाव के साथ-साथ वित्तीय समस्याओं का सामना किया था, वैसे ही सर्वेक्षण उद्योग के लिए भी स्थिति इनसे अलग बिल्कुल नहीं थी। चुनावों के जनमत सर्वेक्षण के लिए न तो इस क्षेत्र का ज्ञान या विशेषज्ञता उपलब्ध थी और न ही इसे सहायता देने के लिए वित्तीय संसाधन उपलब्ध थे। चुनावी सर्वेक्षण के संचालन के लिए आवश्यक पद्धतियों, प्रक्रियाओं और अभ्यासों की कमी के कारण चुनावी सर्वे रिसर्च में रुचि रखने वाले लोगों के समक्ष अमेरिका या ग्रेट ब्रिटेन जाकर सर्वे रिसर्च की पद्धतियों और तकनीकों की सीखने के अलावा और कोई विकल्प नहीं था। इसी कारण आई.आई.पी.ओ. को 1957 में अपने पहले चुनावी सर्वेक्षण के संचालन के लिए अमेरिका के गैलप इंटरनेशनल से विशेषज्ञों और तकनीकों की मदद के साथ-साथ वित्तीय मदद भी लेनी पड़ी थी।

इस कालावधि के दौरान सर्वेक्षण का डिज़ाइन तैयार करना, उसका क्रियान्वयन और मतदान-व्यवहार को मापना भी महत्वपूर्ण चुनौतियाँ थीं। अखिल भारतीय चुनावी सर्वेक्षण के डिज़ाइन की अवस्था ने ही गम्भीर चुनौती उत्पन्न कर दी, क्योंकि इस देश के मतदाता विविध भाषाओं और बोलियों को बोलते थे। इसके लिए साक्षात्कार की प्रश्नावली का अनुवाद करने की आवश्यकता थी। साक्षात्कार की प्रश्नावली और अन्य सामग्रियों को सारी भाषाओं और बोलियों में अनुवाद करना ही अपने आप में बहुत मुश्किल और समय खर्च करने वाला कार्य था। अपने उपकरणों का मानक स्तर बनाये रखने के लिए प्रश्नावलियों का अनुवाद करते समय यह सावधानी बरतने की भी आवश्यकता थी कि कहीं इससे शब्दों या प्रश्नों के वास्तविक अर्थ ही न बदल जाएँ। प्रश्नावलियों का विभिन्न भाषाओं और बोलियों में अनुवाद करना न सिर्फ़ एक मुश्किल कार्य था बल्कि इसके लिए बहुत ज़्यादा खर्च और निवेश की भी ज़रूरत थी।

सर्वे के उपकरणों का डिज़ाइन तैयार करने और उसका परीक्षण करने के बाद दूसरा चरण आँकड़ों के संग्रह के लिए फ़्रील्ड वर्क संचालित करने का था। इस चरण के दौरान फ़्रील्ड वर्क में दो प्रमुख अड़चनें थीं। पहला, फ़्रील्ड वर्क के लिए ऐसे कर्मचारियों की ज़रूरत थी जिन्हें सर्वे रिसर्च और साक्षात्कार की तकनीकों का थोड़ा अनुभव हो। हालाँकि उस समय सर्वे रिसर्च में प्रशिक्षित मानव-संसाधन का अभाव था क्योंकि भारत में सर्वे रिसर्च का उद्घाटन एकदम नया था। चूँकि सर्वे के संचालन के लिए उपलब्ध

संसाधन बिल्कुल सीमित थे इसलिए प्रशिक्षण में निवेश करना भी लगभग असम्भव था। फ्रील्ड में सर्वे करने वालों में उपयुक्त प्रशिक्षण की कमी के कारण सर्वेक्षण के दौरान साक्षात्कारकर्ताओं का पूर्वग्रह और आत्मनिष्ठता भी सामने आयी। इसके परिणामस्वरूप प्रारम्भिक चरणों में संचालित किये गये चुनावी सर्वेक्षणों में मापन त्रुटियाँ और दूसरे प्रकार की त्रुटियों की गुंजाइश बहुत ज्यादा थी। दूसरा, आधारभूत संरचना से जुड़ी सुविधा जैसे संचार-व्यवस्था बहुत खराब थी। इसके कारण फ्रील्ड अनुसंधान कर्ताओं की टीम को आवागमन में और सैम्पल में शामिल लोगों से सम्पर्क स्थापित करके साक्षात्कार करने में काफी दिक्कतें आयीं। इसके परिणामस्वरूप चुनावी सर्वेक्षणों में प्रतिक्रिया की त्रुटियाँ बहुत ज्यादा हुईं।

इस कालावधि के दौरान संग्रहित किये गये आँकड़ों की गणना करना और उसका विश्लेषण करना भी एक प्रमुख समस्या थी। उस समय आज की तरह आँकड़ों के विश्लेषण के लिए कम्प्यूटर और सॉफ्टवेयर जैसी आधुनिक तकनीकों का अभाव था। इस कारण आँकड़ों का मिलान करना और उनका विश्लेषण करना एक बोझिल प्रक्रिया होती थी। यह पूरी प्रक्रिया या तो शारीरिक श्रम से या फिर टेप के द्वारा की जाती थी। इसलिए यह बहुत ज्यादा समय लेने वाला और श्रमसाध्य काम होता था। इसके साथ ही इसमें गणना और विश्लेषण की त्रुटियों का खतरा भी ज्यादा रहता था।

भारत में मतदान-व्यवहार के अध्ययन के लिए इस कालावधि के दौरान संचालित किये गये जनमत सर्वेक्षणों की कई आधारों पर आलोचनाएँ की गयीं। पहला भारत के राजनीतिक वैज्ञानिकों ने पश्चिम के व्यवहारवाद को इसकी प्रणालीगत मुश्किलों और तकनीकी जटिलताओं को समझे बिना अपना लिया। वस्तुतः इस समय पश्चिमी शोधकर्ताओं पर निर्भर रहने और पश्चिमी देशों में चुनाव के अध्ययन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान रखने वाली तकनीकों और प्रणालियों की बराबरी करने की प्रवृत्ति थी। इस आलोचना का आधार यह है कि इस कालविधि के दौरान संचालित किये गये चुनावी अध्ययनों ने सर्वे तकनीक और पद्धतियाँ मुख्य रूप से युनिवर्सिटी ऑफ़ मिशीगन और अमेरिकन इंस्टीट्यूट ऑफ़ पब्लिक ओपिनियन से उधार ली थीं। हालाँकि अमेरिका में प्रयोग में लाये जा रहे इन सर्वे तकनीकों को इस आधार पर जाँचने की कोशिश की गयी थी कि यह भारतीय संदर्भ में कितनी उपयुक्त थीं। वस्तुतः भारत में मतदान-व्यवहार और इसकी प्रवृत्तियों को मापने के लिए इन रिसर्च तकनीकों को समुचित संशोधन और अनुकूलन के बाद ही अपनाया गया था।

दूसरा पिछले दो दशकों में प्रचुर मात्रा में चुनावी

अध्ययन हुए परंतु वे विशेषज्ञता के साथ चुनावी परिणामों के अनुमान और भविष्यवाणी करने में या फिर सामान्य रूप में चुनावी प्रक्रियाओं को समझने में असफल रहे। दरअसल, पहला आरोप न सिर्फ़ इस कालावधि के लिए बल्कि वर्तमान समय के लिए भी सही है कि जनमत सर्वेक्षण पर आधारित चुनावी अध्ययन, चुनावी परिणामों की भविष्यवाणी के लिए आवश्यक किसी भी प्रकार की विशेषज्ञता और विशिष्ट कौशल को सामने लाने में असफल रहा है। दूसरी आलोचना में यह कहा गया है कि चुनावी अध्ययन भारतीय मतदाताओं के मतदान-व्यवहार को समझने और उसकी व्याख्या करने के अपने प्रयासों में विफल रहा है। इस आलोचना को पूरी तरह सच नहीं माना जा सकता। अहमद ने स्वयं, अपने उसी लेख में यह कहा है कि वे भारत में चुनावी अध्ययनों को त्याग देने की वकालत नहीं कर रहे हैं। वे कहते हैं कि यद्यपि इसकी भविष्यवाणी करने की क्षमता सीमित है परंतु इसके बावजूद यह मतदाताओं के राजनीतीकरण की प्रक्रियाओं और भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के विकास के लिए एक संचयी और टिकाऊ दृष्टिकोण उपलब्ध करा सकता है।

अंततः चुनावी अध्ययनों की सबसे बड़ी सीमा यह है कि भारतीय मतदाताओं के मतदान-व्यवहार के लिए किसी भी परिशुद्ध सूत्रीकरण तक पहुँचने में इसका योगदान न्यूनतम और सीमित रहा है। चुनावी अध्ययनों की ये आलोचनाएँ और इस कालावधि में मतदान-व्यवहार को मापने में इनकी सीमाएँ महत्वपूर्ण और प्रासंगिक हैं। परंतु यहाँ यह भी याद रखा जाना चाहिए कि भारत में चुनावी अध्ययनों की यह प्रारम्भिक अवस्था थी और एक विषय बनने के लिए किसी भी उपक्रम को एक गर्भावधि काल की आवश्यकता पड़ती है तथा वर्षों तक इस पर शोध और इसके विकास का प्रयास करते रहना पड़ता है।

1990 के बाद भारत में मतदान-व्यवहार को मापने में चुनौतियाँ पहले चरण की तुलना में ज्यादा जटिल और कठिन हो गयीं। भारतीय मतदाताओं के मतदान-व्यवहार और रुझानों को मापने में इस बढ़ती हुई जटिलता और पेचीदगी के लिए कई कारक ज़िम्मेवार हैं। इनमें से दो प्रमुख कारक जिन्होंने भारत में मतदान-व्यवहार के कार्य को कठिन बना दिया, वे थे : पहला, भारत में लोकतांत्रिक राजनीति की बदलती हुई प्रकृति और दूसरा, चुनावी सर्वेक्षण करने वाले सर्वेक्षण उद्योग के फोकस और प्राथमिकता में आया परिवर्तन। इस दौरान चुनावी राजनीति में कुछ नये विकास हुए, जैसे— प्रतिस्पर्धाओं की बहुध्रुवीयता, दलीय गठबंधनों का विकास और इन गठबंधनों के बीच एक-दूसरे के वोटों का हस्तांतरण तथा राजनीतिक दलों के लिए भौगोलिक आधार पर वोटों का संकेद्रण। इस कालावधि में चुनावी प्रतिस्पर्धा के कारण राजनीतिक दलों में भीषण गुटबाजी,

बहुत बड़ी संख्या में बागी उम्मीदवारों की उपस्थिति और क्षेत्रीय स्तर पर जोड़-तोड़ को भी देखा गया। इनका चुनावी सर्वेक्षण के द्वारा पता लगाना असम्भव है। इस कालावधि में बहुत बड़ी संख्या में मीडिया की उपस्थिति और उनकी चुनावी सर्वेक्षण और परिणाम के पूर्वानुमान के प्रति अभिरुचि के कारण भी चुनावी सर्वेक्षण उद्योग में परिवर्तन आया। चुनावी सर्वेक्षण का मुख्य केंद्र अब भारतीय मतदाताओं के मतदान-व्यवहार को मापने से परिवर्तित होकर सीटों की भविष्यवाणियाँ और चुनावी पूर्वानुमान हो गया।

देखें : अकाली दल, कांग्रेस 'प्रणाली', गैर-कांग्रेसवाद, गठजोड़ राजनीति, जनता दल और उसकी विरासत-1 और 2, तेलुगु देशम पार्टी, पार्टी-गठजोड़ की राजनीति, भारत में गठजोड़ राजनीति, भारतीय जनता पार्टी-1 और 2, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस-1 और 2, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठजोड़, वाम मोर्चा, शिव सेना, समाजवादी पार्टी, बहुजन समाज पार्टी-1 और 2, शिरोमणि अकाली दल, समाजवादी पार्टी, संयुक्त प्रगतिशील गठजोड़।

संदर्भ

1. योगेंद्र यादव (2008), 'विदर सर्वे रिसर्च? रिफ्लेक्शंस ऑन द स्टेट ऑफ सर्वे रिसर्च ऑन पॉलिटिक्स इन मोस्ट ऑफ द वर्ल्ड', मेलकैम आदिशेषैया स्मृति व्याख्यान, चेन्नई.
2. ए.एम. शाह (सम्पा.) (2007), *द ग्रासरूट ऑफ डेमोक्रेसी : फ्रील्ड स्टडीज ऑफ इलेक्शंस*, परमानेंट ब्लैक, नयी दिल्ली.
3. बशीरुद्दीन अहमद, 'द इलेक्टोरेट', *सेमिनार*, खण्ड 212.

— संजय कुमार

भारत में मतदान-व्यवहार-6

आलोचनाएँ और चुनौतियाँ

(Voting-Behaviour in India-6)

भारत में द्वितीय चरण में मतदान-व्यवहार के अध्ययन के लिए प्रमुख चुनौती दलीय प्रतिस्पर्धा की प्रकृति ने प्रस्तुत की है। ऐसे राज्य जहाँ दो ही प्रमुख राजनीतिक दल हैं वहाँ अगर सर्वेक्षण ने मतों में उनकी हिस्सेदारी को ठीक तरह से मापा है तो फिर चुनाव के परिणामों का पूर्वानुमान करना बहुत आसान है। दूसरी तरफ़ वैसे राज्यों में जहाँ बहु-दलीय प्रतिस्पर्धा है वहाँ के चुनावों में सीटों की भविष्यवाणियाँ करना बिल्कुल ही मुश्किल हो जाता है। किसी दल के वोटों

की हिस्सेदारी के आकलन में मामूली-सी गलती भी पूर्वानुमान को पूरी तरह से उलट सकती है। इस तरह की घटना का एक आदर्श उदाहरण उत्तर प्रदेश राज्य में 2007 के विधानसभा चुनाव के दौरान घटित हुआ था। अधिकांश सर्वेक्षण एजेंसियों ने बसपा को वास्तव में प्राप्त मतों के हिस्सेदारी से सिर्फ़ दो प्रतिशत कम मतों की पूर्वानुमान किया था। मतों की हिस्सेदारी में दो प्रतिशत का यह छोटा-सा अंतराल सर्वेक्षण उद्योग के पूर्वानुमान को उलट देने के लिए पर्याप्त था क्योंकि अधिकांश सर्वेक्षण यह भविष्यवाणी करने में विफल रहा था कि बसपा स्पष्ट बहुमत के साथ चुनाव जीत सकती है।

प्रारम्भिक वर्षों में संचालित किये गये चुनावी अध्ययन यह दिखाते हैं कि भारतीय मतदाता सामाजिक-सांस्कृतिक और जनसांख्यिकीय पृष्ठभूमियों के आधार पर बहुत ज्यादा विविधतापूर्ण हैं। यह विविधता उनके विविध मतदान-पैटर्न और वरीयताओं में प्रतिबिम्बित होती है। भारतीय मतदाताओं की भाषा, क्षेत्र, जाति-समुदाय और धर्म की पहचान पर आधारित बहुल-पहचान एक-दूसरे से जुड़ी हुई है। इस कारण उनके राजनीतिक जुड़ाव और मतदान-व्यवहार की प्रवृत्ति का पता लगाना बहुत मुश्किल हो जाता है। उदाहरण के लिए पिछले दशक में उत्तर प्रदेश राज्य में संचालित किये गये विभिन्न क्षेत्रों में रहने वाले मुसलमान मतदाताओं के मतदान-व्यवहार में विभिन्नताओं को सही तरीके से प्रतिबिम्बित नहीं करता। इसका कारण यह है कि उत्तर प्रदेश में मुसलमान कोई एक समरूप इकाई का निर्माण नहीं करते हैं जो एकमुश्त वोट डालते हों बल्कि क्षेत्र, भाषा और पंथ के आधार पर इनके मतदान के पैटर्न में भी अंतर है। अतीत में संचालित हुए कुछ बड़े आकार के सैम्पल सर्वेक्षणों ने यह दिखाया है कि इस राज्य के मुसलमानों के कुछ वर्गों ने कुछ क्षेत्रों में भाजपा को भी वोट दिया है। मतदाताओं की बहुसांस्कृतिकता और अंतर-सामुदायिक विविधता भारत में मतदाताओं के मतों और रुझानों को मापने में आज भी एक प्रमुख चुनौती बनी हुई है। भारतीय मतदाताओं की इस बहुस्तरीय विविधता और जटिलता को समाहित करने का एक मात्र तरीका यह है कि बड़े आकार के सैम्पल सर्वे किये जाएँ। यह बहुत चुनौतीपूर्ण कार्य नहीं है लेकिन इसके लिए बहुत ज्यादा मानव-शक्ति और पूँजी की आवश्यकता पड़ेगी।

चुनावी राजनीति और सर्वेक्षण-उद्योग में परिवर्तन के अनुरूप ही भारतीय मतदाताओं के मतदान-व्यवहार में भी परिवर्तन हो गया। 1990 के दशक में प्रारम्भ हुई पहचान की राजनीति और तीक्ष्ण सामाजिक-राजनीतिक दरारों के कारण मतदाताओं के मतदान-व्यवहार में महत्वपूर्ण परिवर्तन प्रारम्भ हुए। मण्डल कमीशन आंदोलन और राम जन्मभूमि विवाद ने जाति-समुदाय और धर्म के आधार पर मतदाताओं का

धुवीकरण कर दिया। जाति और समुदाय की रेखा के ईर्द-गिर्द मतदाताओं के धुवीकरण ने एक विलक्षण समस्या उत्पन्न कर दी। वे भारतीय मतदाता जो पहले चरण में चुनाव-सर्वेक्षकों को अपने मतदान के निश्चय के बारे में सच-सच बता देते थे, अब वे खुले में मतदान के बारे में पूछे जाने पर सच बोलने में संकोच करने लगे। यह इस डर के कारण उत्पन्न हुआ था कि अगर उन्होंने सच-सच बता दिया कि उन्होंने किस पार्टी को वोट दिया है तो इसका प्रयोग दूसरे राजनीतिक दलों द्वारा उन्हें व्यक्तिगत रूप से पहचानने और निशाना बनाने के लिए किया जा सकता है। यह ज्यादातर पिछड़े और हाशिये पर पड़े वर्गों के मतदाताओं के साथ हुआ। हालाँकि कुछ परिस्थितियों में अपने मतदान के निश्चयों को छिपाने की यह घटना भारत में प्रभुत्वशाली ऊँची जातियों के बीच भी हुई। इस तरह की घटना का एक आदर्श उदाहरण 2007 में उत्तर प्रदेश के विधानसभा चुनावों के दौरान देखा गया। इस चुनाव में ऊँची जातियों के मतदाताओं की एक बड़ी संख्या ने बसपा (दलित पार्टी) को वोट दिया परंतु उन्होंने जातिगत पूर्वग्रह और अपने जाति-समुदाय के लोगों द्वारा प्रतिशोध के डर से चुनावी सर्वेक्षणों के दौरान इसकी सूचना नहीं दी। इसके परिणामस्वरूप इस चुनाव के दौरान संचालित किये गये अधिकांश चुनावी सर्वेक्षण बसपा के लिए मतों की हिस्सेदारी का पता लगाने और उसकी जीत की भविष्यवाणी करने में असफल रहे।

इस दौरान भारतीय मतदाताओं के बीच चंचलता भी देखी गयी और अस्थिर मतदाताओं की संख्या में भी व्यापक वृद्धि हुई। चुनाव-प्रचार के दौरान संचालित किये गये चुनावी अध्ययन बताते हैं कि लगभग एक चौथाई मतदाताओं ने यह निर्णय नहीं लिया था कि किसे वोट देना है और वे अभी तक निर्णय लेने की प्रक्रिया से ही गुजर रहे थे। अस्थिर मतदाता चुनाव प्रचार के खत्म हो जाने के बाद मतदान का निश्चय करते हैं और अगर किसी विशिष्ट राजनीतिक दल के पक्ष में हवा चल रही हो तो फिर दूसरे राजनीतिक दलों के वोटों में हिस्सेदारी मापना न सिर्फ कठिन हो जाता है बल्कि यह चुनौतीपूर्ण और जटिल भी हो जाता है। इसी प्रकार भारत में मतदाताओं के वोटिंग स्वरूप हमें बताते हैं कि कुछ मुद्दे मतदाताओं को भिन्न-भिन्न तरह से और प्रांतीय आधार पर प्रभावित करते हैं। उदाहरण के लिए चुनावों में कुछ मुद्दों की क्षेत्रीय और प्रांतीय अपील हो सकता है और यह उनके मतदान के निर्णय का आधार भी बन सकती है। यह सम्भव है कि दूसरे प्रांत के मतदाताओं के लिए इस अपील का कोई महत्व नहीं हो और उनके मतदान के निर्णयों को यह किसी भी प्रकार से प्रभावित नहीं करे। इस प्रकार सैम्पल सर्वे द्वारा मतदाताओं को प्रभावित करने वाले प्रांतीय या स्थानीय मुद्दों का पता लगाने में विफल रहना, इस पद्धति की प्रमुख कमी और सीमा है।

मतदान-व्यवहार को मापने में अन्य प्रमुख चुनौती सैम्पलिंग के रूप में और सैम्पल के आकार के रूप में आती है। भारत में अधिकांश सर्वेक्षण एजेंसियों द्वारा चुनावी सर्वेक्षण में सैम्पलिंग की जिस पद्धति का प्रयोग किया जाता है, वह ठीक/उपयुक्त नहीं होती है। इनके सैम्पल में सभी प्रकार के मतदाताओं का प्रतिनिधित्व भी नहीं होता है। अतीत में किये गये चुनावी अध्ययन बताते हैं कि विभिन्न सामाजिक-आर्थिक समूहों और जाति-समुदायों से संबंध रखने वाले लोगों की मतदान में वरीयता अलग-अलग होती है। उदाहरण के लिए उत्तर प्रदेश राज्य में अधिकांश दलित, मुख्यतः जाटव बसपा के समर्थक रहे हैं जबकि ऊँची जाति के मतदाताओं में अधिकांश लोग भाजपा और कांग्रेस के समर्थक रहे हैं। इसी प्रकार यादव समुदाय के मतदाता समाजवादी पार्टी के कट्टर समर्थक रहे हैं। उत्तर प्रदेश राज्य के सैम्पल में इन जाति और समुदायों के प्रतिनिधित्व का प्रतिशत इस राज्य की जनसंख्या में इनके वास्तविक प्रतिशत के लगभग बराबर होना चाहिए। राजनीतिक विश्लेषक योगेंद्र यादव कहते हैं कि सैम्पल का आकार नहीं बल्कि वह पद्धति निर्णायक होती है जिसके द्वारा सैम्पल को चुना गया है। अधिकांश भारतीय सर्वेक्षण गलत होते हैं क्योंकि इनकी सैम्पलिंग की पद्धति बहुत कमजोर है जिसके कारण इनके सैम्पल के प्रोफाइल में सबका प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता है। इस प्रकार इस कालावधि के दौरान भारत में चुनावी सर्वेक्षणों के लिए सबसे महत्वपूर्ण चुनौती इनके द्वारा मतदाताओं के मतदान-व्यवहार को मापने के लिए वैज्ञानिक पद्धति और सबका प्रतिनिधित्व करने वाले सैम्पल को अपनाने में विफल रहना है।

इस दौरान उत्पन्न हुई दूसरी महत्वपूर्ण चुनौती यह थी कि राजनीतिक दलों की मतों में सही अनुमान कर लेने के बावजूद उसके आधार पर दलों के लिए सीटों का अनुमान लगाना मुश्किल था। परंतु यह चुनौती प्रत्यक्ष तौर पर मतदान-व्यवहार के मापन से जुड़ी हुई नहीं थी। वस्तुतः इस कालावधि के दौरान अधिकांश चुनावी सर्वेक्षणों ने राजनीतिक दलों के लिए मतों में हिस्सेदारी का आकलन लगभग सही किया था, फिर भी कुछ अवसरों पर वे चुनाव के परिणामों के सही आकलन में विफल रहे। विभिन्न राजनीतिक दलों के लिए सीटों के गलत अनुमान के लिए कई कारण जिम्मेवार हैं। पहला कारण तो यह है कि कई चुनावों में राजनीतिक दलों ने एक-दूसरे के साथ गठबंधन करके प्रतिस्पर्धा की। गठबंधन करके प्रतिस्पर्धा करने का मतलब है कि दोनों दल प्रतिस्पर्धा में एक-दूसरे के वोटों का हस्तांतरण करेंगे। इसने एक गम्भीर चुनौती उत्पन्न की, क्योंकि एक-दूसरे के वोटों के हस्तांतरण का सही आकलन करना और गठबंधन के प्रत्येक साझेदार के लिए सीटों की भविष्यवाणी करना बहुत

मुश्किल है। इसके अतिरिक्त राज्यों में भौगोलिक आधार पर उसके कुछ क्षेत्रों में कुछ दलों के लिए वोटों के केंद्रीकरण ने भी सीटों की भविष्यवाणी करना मुश्किल बना दिया। 2008 में सम्पन्न कर्नाटक विधानसभा चुनाव का परिणाम इस तथ्य का प्रमाण-पत्र है। इस राज्य में संचालित सर्वेक्षणों ने यह बताया था कि चुनावों में भाजपा के मतों की हिस्सेदारी कांग्रेस के मतों की हिस्सेदारी की तुलना में कम रहेगी। परंतु चुनावी सर्वेक्षण यह पूर्वानुमान करने में असमर्थ रहे कि भाजपा के वोट इस राज्य के कुछ क्षेत्रों में केंद्रित थे जिसने भाजपा को ज्यादा सीटों पर जीत दिलायी। दूसरी तरफ कांग्रेस के वोट पूरे राज्य में समान रूप से वितरित थे और कई स्थानों पर ये वोट सीटों की जीत में तब्दील नहीं हो सके।

भारत में मतदान-व्यवहार के अध्ययन के लिए संचालित जनमत सर्वेक्षण की इस कालावधि में भी भारतीय विद्वानों द्वारा आलोचना की गयी। पहले के समय की तरह चुनाव-सर्वेक्षणों की अब भी इस आधार पर आलोचना होती है कि इसे पश्चिमी दुनिया से सीधे आयात कर लिया गया है जो मतदान-व्यवहार के अध्ययन के लिए उपयुक्त नहीं है। भारत की सामाजिक-सांस्कृतिक विशिष्टताएँ और चुनावी राजनीति की स्थितियाँ अलग हैं। और एक हथियार के रूप में चुनावी सर्वेक्षण इन जटिलताओं को समाहित करने में विफल रहा है। तीसरी दुनिया में आज 'सर्वे रिसर्च' को सबसे ज्यादा अनुपयुक्त माना जाता है। वस्तुतः यह अमेरिकन विज्ञान की राजनीति का अनुकरण है। यह प्रणालीगत स्तर पर बहुत कमजोर, राजनीतिक स्तर पर रूढ़िवादी और सांस्कृतिक स्तर पर अप्रामाणिक था। चुनावी सर्वेक्षणों की आलोचना उन लोगों द्वारा भी की गयी जिन्होंने मैदान में जाकर गुणात्मक अध्ययन किया था। इनके अनुसार चुनावी सर्वेक्षण मतदान-व्यवहार का व्यापक स्वरूप मात्रात्मक रूप में बताता है। व्यक्तिगत मतदाताओं के मत और रुझान कुछ सामान्य पैटर्नों को बताते हैं और राजनीतिक विकास की विशिष्टताओं को बताने में चूक जाते हैं। इस प्रकार सर्वे पद्धति की प्रमुख सीमा यह है कि छोटे समुदायों के मतदान-व्यवहार पर स्थानीय राजनीति के प्रभाव का वर्णन करने में इसकी असमर्थता दिखाई देती है। व्यक्तिगत मतदाताओं को दी गयी प्रश्नावली व्यक्तिगत मतों और रुझानों के बारे में सूचना को सामने ला सकती है। लेकिन यह घटनाओं की व्यापक वास्तविकता को जिसमें व्यक्तियों के समूह लम्बे समय से कार्य कर रहे होते हैं, का वर्णन नहीं कर सकता है।

देखें : अकाली दल, कांग्रेस 'प्रणाली', गैर-कांग्रेसवाद, गठजोड़ राजनीति, जनता दल और उसकी विरासत-1 और 2, तेलुगु देशम पार्टी, पार्टी-गठजोड़ की राजनीति, भारत में गठजोड़ राजनीति, भारतीय जनता पार्टी-1 और 2, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस-1 और 2, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), राष्ट्रीय जनतांत्रिक

गठजोड़, वाम मोर्चा, शिव सेना, समाजवादी पार्टी, बहुजन समाज पार्टी-1 और 2, शिरोमणि अकाली दल, समाजवादी पार्टी, संयुक्त प्रगतिशील गठजोड़।

संदर्भ

1. बशीरुद्दीन अहमद (1997), 'पॉपुलर प्रेशर फ़ॉर अ नॉर्मेटिव चेंज इन पॉलिटिक्स : 1983 इलेक्शन इन आंध्र प्रदेश एंड कर्नाटका', जॉर्ज मैथ्यू (सम्पा.), *शिफ्ट इन पॉलिटिक्स*, क्रिश्चियन इंस्टीट्यूट फ़ॉर द स्टडी ऑफ़ रिलीजन एंड सोसाइटी, नयी दिल्ली.
2. डेविड बटलर, अशोक लाहिड़ी और प्रणय राय (1995), *इण्डिया डिसाइड्स : इलेक्शंस 1952-1995*, बुक्स एंड थिंग्ज़, नयी दिल्ली.
3. भास्कर राव (2009), *अ हैंडबुक ऑफ़ पोल सर्वेज़ इन मीडिया : ऐन पर्सपेक्टिव*, ज्ञान पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली.

— संजय कुमार

भारत में मानवाधिकार

(Human Rights in India)

भारत का संविधान अपने नागरिकों को उन तमाम बुनियादी अधिकारों की गारंटी देता है जो संयुक्त राष्ट्र की सार्वभौम मानवाधिकार उद्घोषणा के अंग हैं। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर मानवाधिकार मुद्दे के इर्द-गिर्द राजनीतिक सक्रियता में उछाल अस्सी के दशक में आया, लेकिन भारत के संविधान निर्माता उससे बहुत पहले ही अल्पसंख्यकों के प्रति अपने सरोकारों का प्रमाण उनके सांस्कृतिक अधिकारों को मूलभूत श्रेणी में रख कर दे चुके थे। दरअसल, भारतीय संविधान अपने पाठ में न केवल संयुक्त राष्ट्र उद्घोषणा का स्पष्ट रूप से विनियोग करता है, बल्कि अल्पसंख्यकों के सांस्कृतिक अधिकारों को बुलंद करने वाला वह दुनिया का पहला संविधान है। राज्य की नीति के निर्देशक सिद्धांतों के तहत संविधान भविष्य में इन अधिकारों के विस्तार का प्रावधान भी करता है। अदालतों ने भी समय-समय पर किये गये अपने हस्तक्षेप के माध्यम से भारतीय राज्य पर ज़िम्मेदारी डाली है कि वह निर्देशक सिद्धांतों के तहत अपनी प्रतिबद्धताओं की पूर्ति करेगा। मानवाधिकारों पर अमल को संस्थागत रूप देने के लिए भारत में एक राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग भी गठित किया गया है। प्रांतीय सरकारों के स्तर पर भी मानवाधिकार आयोग गठित किये गये हैं। अल्पसंख्यकों के अधिकारों के हनन की घटनाओं की रोशनी में राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग भी बनाया गया है। अनुसूचित जातियों और अनुसूचित

जनजातियों के राष्ट्रीय आयोग और राष्ट्रीय महिला आयोग जैसी संस्थाएँ भी अपने-अपने क्षेत्रों में मानवाधिकारों को सुनिश्चित करने संबंधी कार्यभार पूरे करती हैं।

संविधान प्रदत्त बुनियादी अधिकारों को मोटे तौर पर पाँच श्रेणियों में बाँट कर देखा जा सकता है। पहली श्रेणी समानता के अधिकार की है जिसके तहत कानून की निगाह में सभी को बराबर मानने का आग्रह प्रमुख है। इस श्रेणी में अवसरों की समानता के साथ-साथ नस्ल, धर्म, जाति, लिंग और जन्म-स्थान के आधार पर किसी से भेदभाव न करने की प्रतिबद्धता भी दर्ज है। इस श्रेणी की विशेषता है सामाजिक और शैक्षिक रूप से पिछड़े हुए वर्गों, अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए विशेष सुविधाओं का प्रावधान जो समानता की भारतीय अवधारणा को रैडिकल आभा प्रदान कर देता है।



विठ्ठल महादेव तारकुंडे
(1909-2004)

दूसरी श्रेणी का ताल्लुक स्वतंत्रता के अधिकार से है। संविधान के तीसरे हिस्से में मूलाधिकारों के तहत स्वतंत्रता की चर्चा की मिलती है। ये मूलाधिकार राज्य को दी जाने वाली सकारात्मक हिदायतों के रूप में न हो कर राज्य पर लगायी गयी कुछ पाबंदियों के नकारात्मक रूप में हैं। ये अधिकार मूल होने के बावजूद निर्बाध नहीं हैं। इनके तहत संविधान भाषण, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता देता है। इसके जरिये राजनीतिक स्वतंत्रता की शर्तें पूरी हो जाती हैं। इस श्रेणी में देश भर में कहीं भी रहने और काम करने की स्वतंत्रता भी शामिल है। चूँकि भारत एक बहुधार्मिक देश है इसलिए किसी एक धर्म को प्राथमिकता न देते हुए सभी तरह के धर्मावलम्बियों को अपनी पसंद के आधार पर धर्म प्रचार और पूजा पद्धति अपनाने की स्वतंत्रता भी मुहैया करायी गयी है।

तीसरी श्रेणी है जीवन के अधिकार की। संविधान के अनुच्छेद 19 में विभिन्न स्वतंत्रताओं का जिक्र है और अनुच्छेद 21 स्वाधीनता के सिद्धांत के दायरे को परिभाषित करता है। इक्कीसवाँ अनुच्छेद कहता है : *कानून द्वारा स्थापित क्रियाविधि को छोड़ कर किसी और तरीके से किसी व्यक्ति को उसके जीवन या निजी स्वतंत्रता से वंचित नहीं किया जाएगा।* मूलाधिकारों के परिच्छेद में यह अकेला सूत्रीकरण है जिसके कार्यान्वयन में किसी अपवाद या शर्त का उल्लेख नहीं है। अर्थात् अनुच्छेद 21 के मुताबिक भारतीय संविधान जीवन के अधिकार और निजी स्वतंत्रता को मानव अधिकार के स्तर पर ले जाता है। इसका उपभोग करने के लिए भारत का नागरिक होना भी जरूरी नहीं है। यह अधिकार नागरिकों को मनमानी नज़रबंदी या गिरफ्तारी के खिलाफ सुरक्षा और

कानूनी सहायता प्राप्त करने का हक देता है। भारत में मानवाधिकार कार्यकर्ताओं ने इस पहलू की तरफ विशेष ध्यान दिया है। आंतरिक सुरक्षा के नाम पर और आतंकवाद की रोकथाम के लिए अक्सर व्यक्तियों को निवारक नज़रबंदी कानून की गिरफ्त में आना पड़ता है जिससे उन्हें सामान्य तौर से मिलने वाली कानूनी हिफाज़त भी नसीब नहीं हो पाती। मानवाधिकार संगठनों और कार्यकर्ताओं ने इस सिलसिले में टेररिस्ट ऐंड डिसरप्टिव एक्टिविटी एक्ट (टाडा) और प्रिवेंशन ऑफ़ टेररिस्ट एक्टिविटी एक्ट (पोटा) के खिलाफ़ कामयाब मुहिमें चलाई हैं।

चौथी श्रेणी समूह या सामुदायिक अधिकारों की है। अल्पसंख्यक समुदायों के लिए कुछ शैक्षिक और सांस्कृतिक अधिकारों का प्रावधान किया गया है। संविधान का अनुच्छेद 29 और 30 धार्मिक अथवा भाषाई आधार पर परिभाषित अल्पसंख्यक समूहों को अपने शिक्षा संस्थान खोलने की इजाज़त देता है। इस संबंध में राज्य के कंधों पर कोई विशेष ज़िम्मेदारी नहीं डाली गयी है, लेकिन राज्य इन संस्थानों को आर्थिक मदद देने में किसी क्रिस्म का भेदभाव नहीं कर सकता। दूसरी तरफ़ राज्य के धन से चलने वाली संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा प्रतिबंधित है। आज़ादी के बाद से सुप्रीम कोर्ट द्वारा किये गये हस्तक्षेपों ने अल्पसंख्यक शिक्षा संस्थानों की स्वायत्तता को विस्तार किया है।

पाँचवीं और बेहद महत्वपूर्ण श्रेणी है न्यायिक समाधान के अधिकार की। इसके तहत मूलभूत अधिकारों का उल्लंघन होने पर नागरिकों को अदालतों की शरण में जाने का अधिकार है। संविधान के चौथे हिस्से में मौजूद राज्य की नीति के निर्देशक सिद्धांतों के जरिये नागरिक किसी अधिकार की अपने बुनियादी अधिकार की तरह अदालतों में दावेदारी कर सकते हैं। ये निर्देशक सिद्धांत नीति निर्माण में शासन की मदद करते हैं। एक तरह से इनके जरिये संविधान शासन पर दायित्व डालता है, भले ही किन्हीं मजबूरियों (जैसे संसाधनों की कमी) के कारण शासन उन दायित्वों को तुरंत पूरा करने में असमर्थ हो। संविधान के इस हिस्से में कई अधिकार दर्ज हैं : जैसे, मानवीय और न्यायसंगत परिस्थितियों में काम का अधिकार, रोज़ी-रोटी चलाने लायक मज़दूरी पाने का अधिकार, बेरोज़गारी, बुढ़ापे और बीमारी की स्थिति में सरकारी मदद पाने का अधिकार, शिक्षा का अधिकार, चौदह साल की उम्र तक के बच्चों के लिए अनिवार्य और मुफ्त शिक्षा का अधिकार, प्रदूषण रहित पर्यावरण का अधिकार।

राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग : 1993 के मानवाधिकार संरक्षा अधिनियम के तहत 12 अक्टूबर, 1993

को स्थापित की गयी यह स्वायत्त संस्था दक्षिण एशियाई देशों में अनूठी है। इस क़ानून का अनुच्छेद 2(1)(डी) मानवाधिकारों की परिभाषा व्यक्ति के जीवन, स्वतंत्रता, समानता और गरिमा के अधिकारों के रूप में करता है। यह आयोग मानवाधिकारों के किसी भी उल्लंघन की जाँच कर सकता है, किसी भी संबंधित मामले में अदालत की कार्रवाई में हस्तक्षेप कर सकता है, कारागार का निरीक्षण कर सकता है, मानवाधिकारों से संबंधित राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय संधियों की जाँच कर सकता है, उनके प्रभावी कार्यान्वयन के लिए केंद्र सरकार से सिफ़ारिशें कर सकता है।

आयोग की संरचना इस तरह बनायी गयी है जिससे उसका नैरंतर्य और स्वायत्तता क़ायम रहे। केवल ऐसा व्यक्ति ही इसका अध्यक्ष बनाया जा सकता है जो सुप्रीम कोर्ट का मुख्य न्यायाधीश रह चुका हो। इसका एक सदस्य अनिवार्य तौर पर सुप्रीम कोर्ट का मौजूदा या पूर्व जज होना ज़रूरी है। इसी तरह दूसरे सदस्य के लिए किसी न किसी हाई कोर्ट का मुख्य न्यायाधीश रह चुकने की शर्त है। दो अन्य सदस्यों को मानवाधिकारों के क्षेत्र में विशेष योग्यता या अनुभव के आधार पर नियुक्त किया जाता है। इसके अलावा अनुसूचित जाति और जनजातियों के राष्ट्रीय आयोग, राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग और राष्ट्रीय महिला आयोग के अध्यक्ष इसके पदेन सदस्य होते हैं। इन सभी की नियुक्ति एक कमेटी की सिफ़ारिश पर राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। इस कमेटी की बागडोर प्रधानमंत्री के हाथों में होती है और लोकसभा अध्यक्ष, गृह मंत्री, लोकसभा और राज्यसभा में विपक्ष के नेता और राज्यसभा की उपाध्यक्ष इसके सदस्य होते हैं। आयोग में नियुक्तियाँ पाँच साल के लिए होती हैं। इससे पहले उन्हें हटाने के लिए एक्ट में बहुत कड़ी प्रक्रिया का प्रावधान है। सत्तर साल से ऊपर का कोई व्यक्ति इसका सदस्य नहीं रह सकता। आयोग के सदस्यों को कार्यकाल ख़त्म होने के बाद केंद्र या राज्य सरकार में किसी पद पर नियुक्ति नहीं मिल सकती।

आयोग के गठन के समय कई हलकों में उसकी प्रासंगिकता और प्रभावकारिता को लेकर संदेह व्यक्त किया गया था। अंदेशे जताये गये थे कि यह आयोग 'दंतविहीन व्याघ्र', शिकायतों का 'पोस्ट ऑफ़िस', या महज़ एक और 'सरकारी संस्था' बन कर रह जाएगा। यह भी कहा गया था कि सरकार के ग़लत कामों पर लीपा-पोती के लिए इस आयोग का इस्तेमाल होगा। लेकिन पिछले डेढ़ दशक का अनुभव बताता है कि राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग गठित करने का प्रयोग कामयाब रहा है। इस संस्था ने मानवाधिकारों के लिए चलाये जाने वाले संघर्ष में केंद्रीय भूमिका का निर्वाह किया है। चाहे हिरासत में दी जाने वाली यातनाओं और मौतों का मसला हो, या ओडीशा में भुखमरी के कारण होने वाली मौतों की त्रासदी हो, या फिर गुजरात में अल्पसंख्यकों के

ख़िलाफ़ होने वाली हिंसा हो, आयोग ऐसे तमाम मामलों में प्रभावी हस्तक्षेप करने में समर्थ रहा है।

देखें : ग़ैर-सरकारी संस्थाएँ, ग़ैर-सरकारी संस्थाएँ : भारत में, ग़ैर-दलीय राजनीति, धीरूभाई शेट, मानवाधिकार, भारत में मानवाधिकार आंदोलन, रजनी कोठारी।

संदर्भ

1. मनीषा प्रियम , कृष्णा मेनन और मधूलिका बनर्जी(2009), 'ह्यूमैन राइट्स, लॉज़ ऐंड इंस्टीट्यूशंस : द नैशनल कॉन्टेक्ट' ह्यूमैन राइट्स, जेंडर ऐंड एनवायरनमेंट , पियर्सन लॉगमेन, नयी दिल्ली.
2. वी. दयाल, 'इवोल्यूशन ऑफ़ द नैशनल ह्यूमैन राइट्स कमीशन, 1993-2002 : अ डेसिनियल रिव्यू', *जरनल ऑफ़ द एनएचआरसी 1*.
3. एम.के. सिन्हा, 'द रोल ऑफ़ द नैशनल ह्यूमैन राइट्स कमीशन ऑफ़ इण्डिया इन द इम्प्लीमेंटेशन ऑफ़ ह्यूमैन राइट्स, *नीदरलैण्ड क्वार्टरली ऑफ़ ह्यूमैन राइट्स*, खण्ड 16, अंक 1.

— अभय कुमार दुबे

भारत में मानवाधिकार आंदोलन

(Human Right Movement in India)

भारत में मानवाधिकार और जन-अधिकार एक-दूसरे के पर्याय की तरह समझे जाते हैं। इन अधिकारों के प्रति राजनीतिक और सामाजिक चेतना की नींव उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन के दौरान पड़ी थी। लेकिन आज़ादी के बाद की परिस्थितियों में कम से कम पच्चीस वर्ष तक ये सरोकार दबे रहे। 1975 में लगाये गये आंतरिक आपातकाल की अनुक्रिया में एक बार फिर मानवाधिकारों के प्रति चिंता मुखर हुई और बाक्रायदा एक मानवाधिकार आंदोलन का विकास होना शुरू हुआ। आज मानवाधिकारों का विमर्श भी भारतीय राजनीति के स्थापित विमर्शों में से एक है। मानवाधिकार और जनाधिकार संगठनों की कार्रवाइयाँ जनमत पर प्रभाव डालती हैं। इन संगठनों की आपसी बहस और उनके रुझानों पर अन्य राजनीतिक ताकतों की प्रतिक्रिया पर समाज-विज्ञान के हलकों में ख़ास तौर से ध्यान दिया जाता है। अस्सी के दशक को इस आंदोलन के लिए सबसे अधिक उर्वर माना जाता है, पर ऐसा प्रतीत होता है कि उसके बाद की राजनीतिक परिस्थितियों में मानवाधिकारों का विमर्श व्यावहारिक कार्रवाई की ज़मीन पर बहुत अधिक प्रभावी नहीं रह गया है।

इतिहास बताता है कि सात नवम्बर, 1936 को कलकत्ता में सिविल लिबर्टी यूनियन का उद्घाटन जवाहरलाल नेहरू ने किया था। इस मौके पर दिये गये अपने भाषण में नेहरू ने अंग्रेजी हुकूमत के तहत हालात पर अफसोस व्यक्त करते हुए कहा था कि हम लोग जन-अधिकारों के दमन के आदी हो गये हैं। कभी अफसोस व्यक्त किया जाता है, तो कभी रोज़, लेकिन जल्दी ही हम दमन के अभ्यस्त हो जाते हैं। उनके कारण हमें कोई छटपटाहट नहीं होती। नेहरू का केंद्रीय आग्रह था : मानवाधिकारों का अर्थ है राज्य की कारवाइयों के विरोध का अधिकार। नेहरू की कोशिशों से बने इस संगठन का उद्घाटन अधिवेशन बम्बई में हुआ जिसकी अध्यक्षता रवींद्र नाथ ठाकुर ने की और कार्यकारी अध्यक्षता सरोजिनी नायडू को मिली। इस संगठन ने ब्रिटिश जेलों और देशी रियासतों के कारागार में राजनीतिक कैदियों के साथ होने वाली बदसुलूकी का प्रश्न उठाया। यूनियन की गतिविधियों ने उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन का नेतृत्व कर रही कांग्रेस के भीतर नागरिक अधिकारों के प्रति एक नयी चेतना की नींव डाली। इसलिए साल भर बाद जब कांग्रेस प्रांतीय एसेम्बलियों का चुनाव जीत कर सत्ता में आयी तो उसकी सरकारों ने नागरिक अधिकारों की हिफाजत सुनिश्चित करने के लिए परिपत्र जारी किये।

विडम्बना यह है कि स्वतंत्रता मिलने के बाद जब यह सिविल लिबर्टी यूनियन भंग की गयी तो उस समय नेहरू के हाथ में ही भारत की बागडोर थी। उस समय माना गया कि अंग्रेज महाप्रभुओं का भेदभावपूर्ण शासन जा चुका है। एक 'प्रगतिशील' संविधान, नियमित और जीवंत चुनाव प्रक्रिया, बहुदलीय लोकतंत्र, आजाद प्रेस और स्वतंत्र न्यायपालिका वाले स्वाधीन देश के लिए अलग से मानवाधिकार आंदोलन अनावश्यक है। परिणाम यह हुआ कि पचास के दशक में जब तेलंगाना का किसान संघर्ष कुचला गया, कम्युनिस्ट पार्टी प्रतिबंधित की गयी, केरल की निर्वाचित सरकार बर्खास्त करने का क्रम उठाया गया, पूर्वोत्तर प्रांतों की जनता तक्ररीबन फ़ौज के हवाले कर दी गयी और साठ के दशक में फ़र्जी मुठभेड़ों के ज़रिये नक्सलवादी आंदोलन का जम कर दमन किया गया तो मानवाधिकारों के हनन की तरफ़ ध्यान आकर्षित करने के लिए भारत में कोई व्यावहारिक मानवाधिकार आंदोलन था ही नहीं। पश्चिम बंगाल में कम्युनिस्ट आंदोलन पर सरकारी दमन के खिलाफ़ मेघनाद साहा और एन.सी. चटर्जी के नेतृत्व में गठित हुई सिविल लिबर्टी कमेटी ने आवाज़ ज़रूर उठायी, पर जैसे ही कम्युनिस्ट पार्टी पर लगा प्रतिबंध उठाया गया और उसके नेता रिहा हुए, इस कमेटी का काम-काज भी ठंडा पड़ गया।

1975 में मानवाधिकार आंदोलन की नींद उस समय टूटी जब आंतरिक आपातकाल के तहत सरकारी दमन ने

राजनीतिक अभिजनों के ही एक बड़े हिस्से को अपनी चपेट में ले लिया। इस दौर में जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में पीपुल्स यूनियन फ़ॉर सिविल लिबर्टीज़ एंड डेमोक्रेटिक राइट्स (पीयूसीएलडीआर) ने संघर्ष की बागडोर सँभाली। आपातकाल ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि मानवाधिकारों की सुरक्षा के लिए सतर्क और शक्तिशाली आंदोलन के बिना संवैधानिक गारंटियों का कोई मतलब नहीं होता। आपात काल के बाद जनता पार्टी की सरकार आयी जिसे कई लोगों ने ग़लती से 'जनता की सरकार' समझ लिया। उसके शासन में बेलछी जैसे काण्ड हुए। दलितों और जनजातियों के उत्पीड़न की घटनाएँ हुईं। जिस तरह पचास और साठ के दशक में हुए मानवाधिकार-हनन को सिर्फ़ भटकाव कह दिया गया था, उसी प्रकार जनता पार्टी के शासन में हुई इन घटनाओं के साथ भी यही रवैया अपनाया गया। दरअसल, 1977 से 1980 के बीच का दौर मानवाधिकार आंदोलन के भीतर अधिकारों की अवधारणा को लेकर तीखी बहसों का रहा। विवाद इस बात पर था कि मानवाधिकारों को नागरिक अधिकारों तक सीमित रखा जाए या लोकतांत्रिक अधिकारों तक उनका विस्तार किया जाए। इस संदर्भ में नागरिक अधिकारों का मतलब था क़ानून और संविधान द्वारा परिभाषित अधिकार; लोकतांत्रिक अधिकारों का मतलब था प्रभुत्व और उत्पीड़न की संरचनाओं का प्रतिरोध करने वाली ताकतों के साथ खड़ा होना।

इस बहस ने 1980 में पीयूसीएलडीआर को दो भागों में बाँट दिया : भारतीय जन-अधिकार संघ (पीयूसीएल) और पीपुल्स यूनियन फ़ॉर डेमोक्रेटिक राइट्स (पीयूडीआर)। आंध्र प्रदेश सिविल लिबर्टीज़ कमेटी का 1974 में ही नक्सली आंदोलन पर बरपाये गये सरकारी कहर का विरोध करने के लिए गठन हो चुका था। पश्चिम बंगाल में एसोसिएशन फ़ॉर द प्रोटेक्शन ऑफ़ डेमोक्रेटिक राइट्स, महाराष्ट्र में कमेटी फ़ॉर द प्रोटेक्शन ऑफ़ डेमोक्रेटिक राइट्स और गुजरात में मानव अधिकार संघ जैसे संगठन सक्रिय हो गये। दरअसल, इंदिरा गाँधी की सत्ता में वापसी ने भी मानवाधिकार आंदोलनों को नींद से झिझोड़ कर जगाने में उल्लेखनीय भूमिका का निर्वाह किया। मानवाधिकार कार्यकर्ताओं और रैडिकल संगठनों का आकलन था कि इंदिरा गाँधी के नेतृत्व में एक निरंकुशता की अंतरधारा मौजूद है जिसकी अभिव्यक्ति समय के साथ अवश्य होगी। इस दशक में मानवाधिकार संगठनों द्वारा सरकारी दमन और काले क़ानूनों के खिलाफ़ विरोध प्रदर्शन करना और पीड़ितों को राहत दिलाने के कार्यभार को गम्भीरता से लेने की शुरुआत की गयी।

मानवाधिकार आंदोलन की इस करवट का नतीजा यह हुआ कि बंधुआ मज़दूरी और बाल मज़दूरी के खिलाफ़, स्त्रियों के खिलाफ़ होने वाली नाइंसाफ़ियों के विरोध में, हर तरह के

अल्पसंख्यकों के अधिकारों की हिफाजत के लिए और विकास परियोजना के विस्थापितों के पक्ष में एक तरह की सामाजिक-राजनीतिक एकता का नजारा बनने लगा। मानवाधिकार संगठनों के साथ गैर-सरकारी संगठन, जन-प्रतिबद्ध मीडिया और ज़मीनी राजनीति की ताकतें भी जुड़ गयीं। दमनकारी निज़ाम और अधिकार-वंचित जनता के बीच बहुमुखी संघर्ष का बिम्ब बना। जनता को अधिकार-सम्पन्न कराने की लड़ाई मानवाधिकार आंदोलन का मूल मंत्र बन गया। 1984 में दिल्ली और देश के दूसरे हिस्सों में हुए सिक्ख विरोधी हत्याकाण्ड की जाँच रपट हू आर द गिल्टी? इस आंदोलन की विशेष उपलब्धि थी। इसी तरह की गतिविधियों से नागर समाज को वी.एम. तारकुंडे, गोविंद मुखौटी और रजनी कोठारी जैसे मानवाधिकारों के नेता और व्याख्याकार मिले।

अस्सी का दशक मानवाधिकार आंदोलन का स्वर्णिम दौर था। लेकिन, इस दशक के अंत और नये दशक की शुरुआत में राजनीतिक परिस्थिति बदल गयी। तीन मकारों (मण्डलीकरण, मंदिर राजनीति और भूमण्डलीकरण) के प्रभाव में नागर समाज की शक्ल-सूरत पहले जैसी नहीं रह गयी। मध्य वर्ग या तो साम्प्रदायिक विचारधारा के फेर में फँस गया, या फिर उसके प्रतिनिधियों को राजनीतिक जोड़-तोड़ के ज़रिये सत्ता में पहुँचना अधिक आसान लगने लगा, या उपभोक्तावाद की चमक ने उसे चौंधिया दिया। भारतीय राज्य द्वारा अपनाये जाने वाले गैर-लोकतांत्रिक हथकण्डों (यातना, गैरक्रान्ती नज़रबंदी, बेबात फ़ायरिंग, फ़र्जी मुठभेड़ों में हत्या, दमनकारी क्रान्तियों के बेजा इस्तेमाल, मनमानी गिरफ़्तारियाँ) के खिलाफ़ मानवाधिकार आंदोलनों की पहलकदमियाँ सुस्त पड़ गयीं। आज स्थिति यह है कि सशस्त्र सेना विशेष अधिकार क्रान्तियों और आतंकवाद के नाम पर कई तरह के निरोधक क्रान्तियों को नये-नये क्षेत्रों में लागू करते रहते हैं, लेकिन न तो सांसदों को कोई चिंता होती है, और न ही मीडिया को। हाँ, विदेशी मंचों पर ये मसले कभी-कभी ज़रूर उठाये जाते हैं।

मानवाधिकार आंदोलन की मौजूदा स्थिति परिस्थितियों की माँग के मुताबिक़ आश्वस्तिकारक नहीं है। आतंकवाद की राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय परिघटना ने अल्पसंख्यक समूहों को सरकारी एजेंसियों के दमन के अंदेश का शिकार बना दिया है। दूसरी तरफ़ आदिवासी इलाकों में माओवादी हिंसा के खिलाफ़ सुरक्षा एजेंसियों की कार्रवाइयाँ (जैसे ऑपरेशन ग्रीन हंट) जारी हैं। तीसरी तरफ़ जातिगत पंचायतों और अन्य पारम्परिक रीति-रिवाज़ और प्रथाएँ, संविधान प्रदत्त व्यक्ति स्वातंत्र्य को ठेस पहुँचाने में लगे हुए हैं। मानवाधिकार आंदोलनों जब तक इन हालात की रोशनी में अपने भीतर एक बार फिर बहस चला कर अपने कार्यक्रम का पुनः संस्कार नहीं करते, उनकी राजनीति और विमर्श को नया उछाल नहीं मिल सकता।

देखें : गैर-सरकारी संस्थाएँ, गैर-सरकारी संस्थाएँ : भारत में, गैर-दलीय राजनीति, धीरूभाई शेट, मानवाधिकार, भारत में मानवाधिकार, रजनी कोठारी।

संदर्भ

1. धीरूभाई शेट और हर्ष सेठी (2009), 'मानवाधिकार : दुविधा और चुनौती', अभय कुमार दुबे (सम्पा.), *सत्ता और समाज : धीरूभाई शेट का कृतित्व*, सीएसडीएस-वाणी, नयी दिल्ली।
2. के. बालगोपाल (1997), 'द ह्यूमैन राइट्स मूवमेंट : इट्स कांटेक्ट ऐंड इट्स कम्पर्स', *जरनल ऑफ़ ह्यूमैन राइट्स खण्ड 1*, अंक 1।
3. रजनी कोठारी (1991), 'ह्यूमैन राइट्स— मूवमेंट इन सर्च ऑफ़ अ थियरी', स्मितु कोठारी और हर्ष सेठी (सम्पा.), *रिथिंकिंग ह्यूमैन राइट्स : चैलेंजिज़ फ़ॉर थियरी ऐंड एक्शन*, न्यू होराइज़न प्रेस और लोकायन, न्यूयॉर्क और नयी दिल्ली।
4. हर्ष सेठी और स्मितु कोठारी (1991), 'बियॉन्ड द फ्रेगमेंट्स : द सिविल राइट्स ग्रुप टुडे', *रिथिंकिंग ह्यूमैन राइट्स : चैलेंजिज़ फ़ॉर थियरी ऐंड एक्शन* (सम्पा.) न्यू होराइज़न प्रेस और लोकायन, न्यूयॉर्क और नयी दिल्ली।

— अभय कुमार दुबे

भारत में संचार-क्रांति

(Communication Revolution in India)

अस्सी के दशक तक भारत को दूरसंचार की दृष्टि से अल्पविकसित माना जाता था। फ़ोन के कनेक्शन के लिए लोगों को काफ़ी इंतज़ार करना पड़ता था, सेवाओं का स्तर घटिया था और उनकी पहुँच काफ़ी सीमित थी। लेकिन इक्कीसवीं सदी के पहले दशक के ख़त्म होते-होते भारत संचार के लिहाज़ से दुनिया का सबसे तेज़ रफ़्तार से विकसित होने वाला देश बन चुका है। लैण्डलाइन और मोबाइल उपभोक्ताओं की संख्या 69 करोड़ के आसपास पहुँच चुकी है। चीन के बाद वायरलैस नेटवर्क के मामले में भारत सबसे बड़ा देश है। समझा जाता है कि 2013 तक भारत में साढ़े ग्यारह अरब मोबाइल उपभोक्ता होंगे। इस ज़बरदस्त दूरसंचार क्रांति का श्रेय उन सरकारी नीतियों को जाता है जिनके तहत अस्सी के दशक के मध्य से स्वदेशी प्रौद्योगिकी को प्रोत्साहन देने के ज़रिये इस प्रणाली के आधुनिकीकरण का कार्यक्रम चलाया गया। इस प्रक्रिया में निजी क्षेत्र की भागीदारी भी शुरू से ही प्रोत्साहित की गयी।

इसका नेतृत्व दूरसंचार विभाग, सेंटर फ़ॉर द डिवेलपमेंट ऑफ़ टेक्नॉलॉजी (सी-डॉट), टेलिकॉम रिसर्च

सेंटर और टेलिफोन इंस्टीट्यूट ने किया। सरकार ने 1994 में राष्ट्रीय दूरसंचार नीति घोषित की और मार्च, 1997 में टेलिकॉम रेगुलेटरी एथॉरिटी ऑफ़ इण्डिया (ट्राइ) की स्थापना की। उल्लेखनीय है कि दूरसंचार क्रांति के रफ्तार पकड़ने से पहले इस प्रौद्योगिकी का स्वदेशी उत्पादन आधार विकसित करने और विदेशी पूँजी के पैरोकारों के बीच एक तरह की होड़ भी चली थी। पहले इंदिरा गाँधी और फिर राजीव गाँधी ने प्रधानमंत्री के तौर पर स्वदेशी प्रौद्योगिकी को बढ़ावा देने का रुख अपनाया। इसकी जिम्मेदारी सैम पितरोदा को दी गयी। सी-डॉट दरअसल उनके नेतृत्व में ही स्थापित किया गया था। लेकिन राजनीतिक और नौकरशाहाना हलकों के एक हिस्से ने विदेशी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का समर्थन किया जिसके कारण पितरोदा की कोशिशों का वह परिणाम नहीं निकला जिसकी उम्मीद थी।

भारत में दूरसंचार की सामाजिक उपयोगिता पश्चिमी दुनिया के तर्ज पर ही विकसित हुई है। भारत में भी शुरू में टेलिफोन का कनेक्शन केवल वे लोग लेते थे जिन्हें सरकारी और सामाजिक सम्पर्कों की पेशेवराना नज़रिये से ज़रूरत होती थी। सामान्य मध्यवर्गीय जीवन में टेलिफोन का स्थान रंग-रुतबे का पर्याय समझा जाता था। साठ और सत्तर के दशक तक एक पूरे मुहल्ले में ज़्यादा से ज़्यादा दो या तीन घरों में ही फ़ोन का कनेक्शन पाया जाता था। पश्चिम में दूरसंचार का इतिहास बताता है कि बीसवीं सदी के शुरुआत में टेलिफोन को लोकप्रिय बनाने के लिए जारी किये जाने वाले विज्ञापनों में केवल इस यंत्र की व्यावसायिक उपयोगिता ही रेखांकित की जाती थी। निजी जीवन के लिए टेलिफोन का महत्त्व केवल इतना बताया जाता था कि इसके माध्यम से घर बैठे कई चीज़ें मँगायी जा सकती हैं। लेकिन, बीस के दशक के आखिरी वर्षों से इस यंत्र के सामाजिक आयामों पर ज़ोर देने का सिलसिला शुरू हुआ। टेलिफोन के विज्ञापनों की विषयवस्तु बदलने लगी। उनके केंद्र में उपभोक्ताओं के मनोभाव को स्पर्श करने वाले फ़िकरे आने लगे। टेलिफोन को सामाजिक वार्तालाप के माध्यम की तरह पेश किया जाने लगा। लोगों को समझाया जाने लगा कि वे टेलिफोन का इस्तेमाल करके परिजनों और दोस्तों के सम्पर्क में रह सकते हैं। इस तरह से कनेक्टिविटी के विचार का जन्म हुआ। दूरसंचार क्रांति के बाद आज ऐसा लगता है कि समूचा भारत कनेक्टिविटी के ज्वर की गिरफ्त है। साधारण से साधारण व्यक्ति के हाथ में मोबाइल देखा जा सकता है। सांस्कृतिक अर्थों में दूरसंचार ने संगीत और फ़िल्मों तक आम लोगों की पहुँच बढ़ाने के मामले में क्रांतिकारी योगदान किया है।

ज़ाहिर है कि इस संचार क्रांति की सफलता अपने-आप में असंदिग्ध है। कम्प्यूटर और इंटरनेट समेत मीडिया के विभिन्न रूपों, शहरीकरण की प्रक्रिया, व्यक्तिगत और

सामुदायिक संबंधों पर उसका निर्णायक असर पड़ा है। दूरसंचार की अधिचरणा और आर्थिक विकास के बीच सीधा संबंध है, इसलिए भारतीय कम्पनियाँ इसका लाभ उठा कर अपने व्यावसायिक नेटवर्कों का प्रसार करने में कामयाब रही हैं। लेकिन, समाज-विज्ञान के सामने प्रश्न यह है कि इस विकास-क्रम के वैचारिक, सामाजिक और राजनीतिक तात्पर्य क्या हैं?

भारत में साइबर-स्पेस के विमर्शकार रवि सुंदरम के अनुसार अस्सी के दशक में चली 'राष्ट्रीय' और 'भूमण्डलीकरण' की अन्योन्यक्रिया के हाथों हमारी राष्ट्रवादी कल्पनाशीलता नये सिरे से विन्यस्त हुई है। इससे पहले राष्ट्र-निर्माण के लिए इस्पात, कोयला और ऊर्जा जैसे भौतिक संचय पर ज़ोर रहता था। विकास के मुद्दे इसी तर्ज पर हल किये जाते थे। लेकिन नयी कल्पना के केंद्र में कम्प्यूटर था जो निराकार दायरे की आभासी प्रतिलिपियाँ बनाने में लगा हुआ था। इससे नेटवर्क नामक अमूर्त संरचना निकल रही थी। इसी कल्पना के तहत एक राष्ट्रीय नेटवर्क की स्थापना होनी थी और उसके माध्यम से सभी प्रमुख जिला-केंद्रों और प्रदेशों की राजधानियों को आपस में जुड़ना था। इसे विकास और प्रशासन से संबंधित सूचनाओं का विशाल आगार बनना था। यह लक्ष्य पूरा करने के लिए नैशनल इंफ़ोमेटिक्स सेंटर का इस्तेमाल किया गया जो सत्तर के दशक में स्थापित किया गया था, लेकिन बेकार पड़ा हुआ था। अस्सी में कृत्रिम उपग्रह से जुड़े हुए निकनेट नामक नेटवर्क के उद्घाटन के बाद यह सेंटर उपयोगी बनता चला गया। आज निकनेट देश का सबसे बड़ा सूचना-नेटवर्क है। इसमें समाज-विज्ञान, चिकित्सा-विज्ञान और क़ानून संबंधी आँकड़ों का विशाल भण्डार समाया हुआ है।

सुंदरम की मान्यता है कि निकनेट के संचालक कुछ भी कहते रहें पर वास्तव में वे उसके ज़रिये सत्ता की पूरी प्रौद्योगिकी को बदल देना चाहते हैं। उन्हें लगता है कि जनता पर निगरानी रखने के पुराने तरीकों की उपयोगिता खत्म हो चुकी है, इसलिए नेहरूवाद के तहत बनाये गये पुराने आधुनिकतावादी संजाल को नया रूप दिया जाना चाहिए। इंफ़ोमेटिक्स सेंटर (निक) के नेटवर्कों ने अस्सी के दशक से पहले की सत्ता-प्रौद्योगिकी के कई तत्त्वों को क़ायम रखते हुए विकास, राष्ट्र के नवीकरण और भौतिक प्रगति की रफ्तार तेज़ करने के आग्रहों पर नये सिरे से बल दिया। इन नेटवर्कों ने एक ऐसा दायरा बनाने में कामयाबी हासिल की जो पूरी परियोजना को आवेग प्रदान करने की वह जिम्मेदारी निभा सकता था जो पुराने सरअंजाम की क्षमताओं से बाहर थी।

सुंदरम के अनुसार दूरसंचार की नयी प्रौद्योगिकी नव-राष्ट्रवादी दायरे का निर्माण करते हुई नज़र आती है। पर,

उसके मायाजाल को दो तरह की समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। पहली बात तो यह है कि भारत अपनी सम्मानजनक विकास-दर के बावजूद अभी विश्व-अर्थव्यवस्था के हाशिये पर ही है। इसके कारण कनेक्शन टूटे बिना 'ऑन लाइन' बने रहना एक तरह की समस्या है, हालाँकि इंटरनेट सेवाओं का निजीकरण हो चुका है और सक्षम सेवा देने वाला ब्रॉडबैंड उपलब्ध है। संचार बाधारहित न रहने के अलावा दूसरी समस्या यह है कि सरकारी साइबर-स्पेस बनाने और सत्ता की नयी प्रौद्योगिकी रचने के लिए बनाये गये नेटवर्क को अन्य नेटवर्कों से भी प्रतियोगिता करनी पड़ती है जिसके कारण सत्ता पर उसकी इजारेदारी साँसत में पड़ जाती है।

देखें : अभिलेखागार, आख्यान, इंटरएक्टिविटी-प्रौद्योगिकीय विमर्श, इंटरएक्टिविटी-सामाजिक विमर्श, इंटरफ़ेस, एक्टर-नेटवर्क थियरी, डिजिटल डिवायड, दिन-प्रति दिन के अभिलेखागार, नया मीडिया, नेटवर्क, नेटवर्क सोसाइटी, प्रेस की स्वतंत्रता, प्रोपेगंडा, बाजारू संस्कृति, भारतीय मीडिया-1, 2 और 3, भारतीय मीडिया स्फ़ेयर, मास मीडिया, मीडिया और सरकार, मीडिया-पक्षधरता, मीडिया-स्टडीज़, संचार, संचार-क्रांति, स्मृति और अभिलेखागार, सोशल नेटवर्क विश्लेषण, सूचना, सूचना-समाज, वैकल्पिक मीडिया।

संदर्भ

1. रवि सुंदरम (2003), 'राष्ट्रवाद का कारागार और निराकार साइबर स्पेस की बगावत', अभय कुमार दुबे (सम्पा.), *भारत का धूमण्डलीकरण*, सीएसडीएस-वाणी, नयी दिल्ली.
2. निकनेट (1994), *टेन इयर्स ऑफ़ द नैशनल इंफोमेटिक्स सेंटर*, एनआईसी, नयी दिल्ली.
3. डिपार्टमेंट ऑफ़ टेलिकम्युनिकेशंस (1987), *टेलिकॉम मिशन ड्राफ्ट रिपोर्ट*, गवर्नमेंट ऑफ़ इण्डिया, नयी दिल्ली.

— अभय कुमार दुबे

भारत में सार्विक मताधिकार

(Universal Franchise in India)

संविधान निर्माण से पहले भारत में सीमित मताधिकार का प्रचलन था। इसका सैद्धांतिक आधार यह था कि वोट देने का अधिकार केवल उन लोगों को मिलना चाहिए जो शासन करने के योग्य हों और इस कारण से जिन्हें नागरिकता प्राप्त करने का अधिकार हो, ताकि लोकतंत्र को भीड़-तंत्र में बदलने से रोका जा सके। लेकिन, संविधान निर्माताओं और निर्मात्रियों ने मताधिकार के लिए सर्वसमावेशी उसूल अपनाया

और समाज के प्रत्येक वयस्क सदस्य को सम्पूर्ण नागरिकता देने का फैसला किया। इस लिहाज़ से प्रत्येक वयस्क को बिना जाति, धर्म, नस्ल और लिंगगत भेदभाव के वोट देने का हक प्राप्त हो गया। सवाल यह है कि सैकड़ों वर्षों से चली आ रही सामाजिक विषमताओं और स्त्रियों की अधीनस्थ हैसियत की भींच में फँसे समाज में सार्विक मताधिकार की संकल्पना के इस कार्यान्वयन के पीछे क्या कारण रहे होंगे? इसी से जुड़ा सवाल यह है कि जो सार्विक मताधिकार पश्चिमी लोकतंत्रों में क्रमशः दिया गया, उसे भारत की जनता को एक ही बार में दिये जाने के फलितार्थ क्या हुए?

इन प्रश्नों पर काफ़ी विचार-विमर्श हुआ है। विद्वानों का मानना है कि सार्विक मताधिकार देने के पीछे संविधान निर्माताओं के बीच सम्भवतः मोटे तौर पर तीन तरह के रुझान काम कर रहे थे। पहला रुझान व्यक्तिवाद को प्रमुखता देने वाला उदारतावादी चिंतन हो सकता था। इस विचार के मुताबिक व्यक्ति की इयत्ता के विधेयक तत्त्वों की रचना समूहगत या समुदायगत न हो कर उससे अलग कहीं अमूर्तन में होती है। इसलिए संविधान सभा के कुछ सदस्यों ने सोचा होगा कि वोट देने के अधिकार का फैसला करते समय भारतवासियों को सांस्कृतिक समुदाय के सदस्यों के बजाय व्यक्तिगत इकाइयों की तरह समझा जाना चाहिए। दूसरा रुझान राजनीतिक प्रक्रिया के सीमित हो जाने और परिणामस्वरूप संख्याओं के खेल पर निर्भर चुनावी राजनीति में हिंदुओं का प्रभाव कमजोर हो जाने के डर की देन हो सकता था। चूँकि देश की ज्यादातर आबादी गरीब, अशिक्षित, पिछड़ी और अंत्यज जातियों के किसानों से बनी थी, इसलिए सीमित मताधिकार के कारण केवल थोड़े से ऊपरी प्रतिशत के लिए ही यह अधिकार सुनिश्चित हो पाता। ऐसे में हिंदू समाज के अधिकतर सदस्य चुनाव को प्रभावित करने की क्षमता से वंचित हो जाते। एक तरफ़ लोकतंत्र की वैधता का आधार सीमित होता, और दूसरी तरफ़ हिंदू और गैर-हिंदू अभिजनों के बीच मोटे तौर पर संख्यात्मक समकक्षता की स्थिति आ जाती। तीसरा रुझान राष्ट्रवाद की विकास-प्रक्रिया से प्रभावित हो सकता था। राष्ट्रवाद का सिद्धांत आग्रह करता है कि जिन लोगों से मिल कर राष्ट्र बना है उन्हें एक समान समझा जाना चाहिए। चूँकि संविधान सभा एक लोकतांत्रिक राज्य के लिए संविधान बना रही थी, इसलिए राष्ट्र का कोई सदस्य नागरिकता से वंचित नहीं रखा जा सकता था।

इन तीनों कारणों पर गहराई से गौर करने पर पहली दो सम्भावनाएँ कुछ कमजोर नज़र आती हैं। संविधान सभा के ज्यादातर प्रमुख सदस्य आज़ादी के आंदोलन में जन-नेता की भूमिका भी निभा चुके थे। उन्हें यह एहसास ज़रूर रहा होगा कि व्यक्तिगत इयत्ता की समुदाय से इतर रचना का सिद्धांत भारतीय समाज के संदर्भ में कितना व्यावहारिक है।

उन्होंने स्वयं भाषाई, सांस्कृतिक और सामुदायिक आह्वानों के जरिये उपनिवेशवाद विरोधी गोलबंदी को अंजाम दिया था। दूसरे, लोकतंत्र की वैधता का आधार सीमित हो जाने का डर तो जायज़ लगता है, पर यह तर्क उपनिवेशवादी आंदोलन के अनुभव में फिट नहीं होता कि सार्विक मताधिकार देने के पीछे साम्प्रदायिक क्रिस्म के आग्रह रहे होंगे। अधिकतर संविधान निर्माता सेकुलर मूल्यों में विश्वास करने वाले थे, और उनकी पूरी राजनीति ही धर्म के आधार पर विभेद करने की प्रवृत्तियों के खिलाफ विकसित हुई थी।

तीसरा सम्भव रूझान राष्ट्रवाद और लोकतंत्र को एक-दूसरे का पर्याय बताने के आधार पर खड़ा हुआ है। उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन के इतिहास पर एक सरसरी नज़र डालने से ही यह साफ़ हो जाता है। 1895 में भारत के लिए संविधान लिखने का पहला ग़ैर-सरकारी प्रयास 'कांस्टीट्यूशन ऑफ़ इण्डिया बिल' के रूप में सामने आया। इसमें दावा किया गया था कि भारत में पैदा हुए हर व्यक्ति को नागरिक समझा जाना चाहिए और उसे सरकार चलाने के कामकाज में भागीदारी करने का अधिकार भी मिलना चाहिए। 1916 तक आते-आते राष्ट्रीय स्वाभिमान की भावना और धारणा सुशासन और उसमें भारतवासियों की भागीदारी के दोहरे आधार पर ही निर्मित होने लगी। इसके पीछे सोलहवीं सदी में विकसित हुआ राष्ट्र का विचार था। तेरहवीं सदी में राष्ट्र का मतलब था एक ऐसी संरचना जिस पर सांस्कृतिक और राजनीतिक रंग-रुतबा रखने वाले समूहों के प्रतिनिधियों यानी सामाजिक अभिजनों का अधिपत्य हो। लेकिन, सोलहवीं सदी में राष्ट्र का यह विचार बदला और उसे 'पीपुल' या जन-गणों का पर्याय मान लिया गया। अर्थात् एक राष्ट्र की भू-क्षेत्रीय परिधि में आने वाला प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्रीय समुदाय का सदस्य मान लिया गया। प्रतीकात्मक रूप से ही सही, पर राष्ट्र की अवधारणा में हुए इस परिवर्तन का मतलब था जन-साधारण का अभिजनों के समकक्ष आ जाना, हाशियाग्रस्तों का केंद्रीय मंच पर अवतरण हो जाना। इस लिहाज़ से आधुनिक राष्ट्र सैद्धांतिक रूप से एक ऐसी संरचना के रूप में कल्पित किया जाने लगा जो पदानुक्रम से बंधे समुदायों के बजाय स्वतंत्र और समान व्यक्तियों के नेटवर्क द्वारा संचालित होगा। हालाँकि यह दावा व्यवहार में पूरी तरह कार्यान्वित नहीं हो पता है, पर इस सैद्धांतिक स्थापना को मान्यता मिल जाने के बाद यह लाज़मी हो गया कि ख़ुद को आधुनिक राष्ट्र मानने वाला प्रत्येक समुदाय अपने सभी सदस्यों को समान माने, उन्हें नागरिकता और वोट का अधिकार दे। 1928 की मोतीलाल नेहरू की रपट ने नागरिकता की अवधारणा की पुष्टि की। रपट के अनुच्छेद नौ में स्पष्ट किया गया था कि 21 साल के किसी भी स्त्री और पुरुष को संसद के लिए मत देने का अधिकार मिलना चाहिए।

1937 में दो साल पहले बने गवर्नमेंट ऑफ़ इण्डिया एक्ट का जवाहरलाल नेहरू ने इसी आधार पर विरोध किया था कि वह राष्ट्र की अभिलाषा का प्रतिनिधित्व नहीं करता। नेहरू का कहना था कि कांग्रेस एक ऐसे लोकतांत्रिक राष्ट्र की रचना के लिए प्रतिबद्ध है जिसमें राजनीतिक सत्ता समग्र जनता के हवाले कर दी जाएगी। इससे पता चलता है कि कुछ राष्ट्रों में यह प्रक्रिया धीरे-धीरे ज़रूर सम्पन्न हुई, पर भारत के संविधान निर्माताओं ने क्यों इसे एक ही बार में पूरा कर दिया।

भारतीय संदर्भ में वोट का यह अधिकार एक ही बार में इसलिए भी दिया गया क्योंकि राष्ट्र के तौर पर भारत की संकल्पना उसके स्वतंत्र और सम्प्रभु राज्य बनने से पहले ही कर ली गयी थी। अर्थात् भारत स्वतंत्र बाद में हुआ, पर वह राष्ट्र पहले ही बन चुका था। भारतीय अभिजनों की आत्म-छवि उन दलीलों, नारों और दावेदारियों के आधार पर निर्मित हुई थी जो उन्होंने उपनिवेशवादियों से बहस करते हुए विकसित की थीं। इन दलीलों का मर्म था भारत की एक राष्ट्र के रूप में दावेदारी। एक बार जब उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन के दौरान राष्ट्र का विचार अभिजनों के बीच जड़ पकड़ गया, तो इस प्रकार की धारणा बननी स्वाभाविक ही थी कि इस राष्ट्र का प्रत्येक सदस्य अंग्रेजों के खिलाफ़ इसलिए लड़ रहा है ताकि अपनी हुकूमत स्थापित कर सके। इस तरह का आंदोलन जिस राष्ट्रवाद को जन्म देता है उसके गर्भ में लोकतंत्र का विचार भी स्वाभाविक रूप से पनपता रहता है। इसलिए ऐसा राष्ट्र सैद्धांतिक रूप से केवल अभिजनों और उनके नेतृत्व में कुछ मुट्ठी भर प्रभु वर्गों का राज्य नहीं हो सकता। उसे सर्वसमावेशी राजनीतिक समानता के सिद्धांत पर आधारित होना ही था। इसीलिए संविधान सभा ने अमीर-ग़रीब, शिक्षित-अशिक्षित, अल्पसंख्यक-बहुसंख्यक, स्त्री-पुरुष और किसी भी तरह के ऊँच-नीच को ख़ारिज करते हुए राष्ट्रीय भू-क्षेत्रीयता के दायरे में आने वाले हर वयस्क को नागरिक मानने और परिणामस्वरूप वोट का अधिकार देने का निर्णय किया।

देखें : ग़ैर-सरकारी संस्थाएँ, ग़ैर-सरकारी संस्थाएँ : भारत में, ग़ैर-दलीय राजनीति, धीरूभाई शेट, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य, नागर समाज, नागर समाज : भारतीय बहस, पार्थ चटर्जी, मानवाधिकार, भारत में नागर समाज और ग़ैर-दलीय राजनीति-1 से 3 तक, भारत में नागरिकता-विमर्श-1 से 3 तक, भारत में मानवाधिकार, भारत में मानवाधिकार आंदोलन, भीखू छोटालाल पारिख, रजनी कोठारी, राजनीतिक समाज, सुदीप्त कविराज।

संदर्भ

1. राजीव भार्गव (2000), 'डेमोक्रेटिक विज़न ऑफ़ अ न्यू रिपब्लिक', फ़्रांसिस आर. फ़्रेंकेल वैगरह (सम्पा.), *ट्रांसफ़ॉर्मिंग इण्डिया : सोशल ऐंड पॉलिटिकल डायनामिक्स ऑफ़ डेमोक्रेसी*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली।

2. लियाह ग्रीनफील्ड (1992), *नैशनलिज्म : फाइव रोड्स टु मॉडर्निटी*, हार्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
3. बी. शिवा राव (सम्पा.) (1967), *द फ्रेमिंग ऑफ द कांस्टीट्यूशन: सलेक्ट डॉक्यूमेंट्स*, खण्ड 1 और 2, नयी दिल्ली, आईआईपीए.

— अभय कुमार दुबे

भारत में स्त्री-आरक्षण-1

73वाँ और 74वाँ संविधान संशोधन

(Women Reservation in India-1)

भारत में स्त्री-आरक्षण का प्रश्न एक गहरी दुविधा और विरोधाभास का रूप ले चुका है जिसकी अभिव्यक्ति न केवल राजनीति के दायरे में, बल्कि नारीवादी आंदोलन में भी दिखाई पड़ती है। भारतीय संविधान ने 1950 में स्त्रियों को मतदान का अधिकार तो दिया, लेकिन समाज में उनकी दुर्बल स्थिति को देखते हुए भी जेंडर के आधार पर किसी विशेष प्रोत्साहन का प्रावधान नहीं किया। नतीजतन ग्राम पंचायतों और स्थानीय स्तर पर काम करने वाली स्वशासी संस्थाओं के साथ-साथ विधानसभाओं और लोकसभा जैसी विधायी संस्थाओं में भी स्त्रियों का प्रतिनिधित्व आबादी में उनकी संख्या की तुलना में बहुत कम बना रहा। 1967 में लोकसभा में स्त्री-सांसदों की संख्या 5.9 प्रतिशत थी जो 1997 तक बढ़ कर केवल सात फ्रीसदी ही हो पायी। स्त्रियाँ अपने प्रतिनिधि के रूप में पुरुषों को चुनने के लिए मजबूर रहीं। प्रातिनिधिक संस्थाओं में स्त्रियों की सहभागिता बढ़ाने के लिए पहला संस्थागत प्रयास 1992-93 में 73 और 74वें संविधान संशोधन के रूप में किया गया जिसके तहत पंचायतों और स्थानीय निकायों में एक-तिहाई सीटें स्त्रियों के लिए सुरक्षित कर दी गयीं। दिलचस्प बात यह है कि इस स्तर पर आरक्षण देने के सवाल पर न कोई खास विवाद हुआ, और न ही कोई बहस। ऐसा लगा कि जैसे सभी तरह की राजनीतिक शक्तियाँ स्त्रियों के साथ होने वाली नाइंसाफी को ठीक करने के लिए तैयार बैठी हों।

लेकिन जून, 1996 में एच.डी. देवेगौड़ा के प्रधानमंत्रित्व वाली संयुक्त मोर्चा सरकार ने अपने न्यूनतम साझा कार्यक्रम में दिये गये आश्वासन के मुताबिक संसद और विधानसभाओं में जेंडर के आधार पर 33 फ्रीसदी आरक्षण का प्रावधान करने वाला 81वाँ संविधान संशोधन विधेयक जैसे ही पेश किया, यह प्रश्न उस दुविधा का शिकार हो गया जिसका समाधान आज तक नहीं हो पाया है।

विधेयक पर संसद में जम कर बहस-मुबाहिसा हुआ। लेकिन, सरकार के घटक दलों में इस सवाल पर एकता न होने के कारण इसे संसद की संयुक्त प्रवर समिति के हवाले कर दिया गया। 1998 में यही विधेयक 84वें संविधान संशोधन के रूप में पेश किया गया। फिर 1999 में इसका एक और संस्करण 85वें संशोधन विधेयक के रूप में रखा गया। लेकिन विभिन्न बाधाओं के कारण इसे पारित नहीं किया जा सका। राजनीतिक दलों में इस प्रश्न पर सहमति है कि औरतों को राजनीतिक आरक्षण दिया जाना चाहिए लेकिन उसे देने की विधियों पर उनके बीच मतभेद हैं। फिलहाल स्थिति यह है कि संविधान में 108वाँ संशोधन प्रस्तावित करने वाला महिला आरक्षण विधेयक राज्यसभा द्वारा 9 मार्च, 2010 को पारित कर दिया गया है। लोकसभा के अनुमोदन के बाद पूर्ण क्रानून का दर्जा प्राप्त करने के बाद इसे राज्य विधानसभाओं की सहमति की आवश्यकता पड़ेगी।

स्त्री-आरक्षण के प्रति इस दुविधा और विरोधाभास का अर्थ ग्रहण करने के लिए इसके इतिहास पर एक नज़र डालना आवश्यक है।

इतिहास : स्त्री-आरक्षण पर दुविधा के सैद्धांतिक रूपों की पहली शिनाख्त भारतीय नारीवादी आंदोलन के शुरुआती दौर में ही की जा सकती है। सरोजिनी नायडू ने 1918 में ही स्त्रियों को मतदान का अधिकार देने की माँग उठाने के लिए कांग्रेस को राजी कर लिया था। तीस के दशक तक स्त्रियों के सभी संगठन, होम रूल लीग, कांग्रेस, मुसलिम लीग और गाँधी स्त्रियों के लिए वोट के अधिकार की पैरोकारी करने लगे थे। लेकिन 1930 में बम्बई में हुए आल इण्डिया वुमंस कांफ्रेंस के जलसे को सम्बोधित करते हुए सरोजिनी नायडू ने कहा कि स्त्रियों के लिए किसी भी तरह की विशेष सुविधा (आरक्षण या नामजदगी) की माँग करना उनकी कमतर हैसियत को स्वीकार कर लेना होगा। लेकिन सभी स्त्रियाँ नायडू के इस दावे से सहमत नहीं थीं। लेकिन वुमंस एसोसिएशन की तरफ से मद्रास विधान परिषद् में नामजद हुई डॉ. मुत्थुलक्ष्मी रेड्डी की मान्यता थी कि स्त्रियों के नज़रिये को सामने लाने के लिए आरक्षण जरूरी है। रेड्डी ने तत्कालीन परिस्थितियों में स्त्रियों के लिए पृथक मतदातामण्डलों की आवश्यकता को भी रेखांकित किया। दरअसल, नारीवादी संगठनों का एक हिस्सा 'स्त्री-उत्थान' का पक्षधर था, पर दूसरा 'समान अधिकारों' की वकालत करता था। धीरे-धीरे समान अधिकारों की माँग व्यावहारिक रूप से 'समानता लेकिन कोई विशेष सुविधा नहीं' के रूप में सूत्रबद्ध होती चली गयी।

1932 तक प्रांतीय विधायिकाओं और स्थानीय निकायों से पृथक मतदातामण्डलों की माँग उठने के बावजूद तीनों बड़े स्त्री-संगठन इसी सूत्रीकरण के पक्ष में झुक चुके

थे। दूसरी गोलमेज कांफ्रेंस के परिणामस्वरूप जब अंग्रेजों ने ईसाइयों, मुसलमानों, सिक्खों, एंग्लो-इण्डियनों और दबे हुए वर्गों के लिए पृथक मतदातामण्डल स्वीकृत किये तो अरुणा आसफ़ अली और राजकुमारी अमृत कौर जैसी महिला नेताओं ने स्त्रियों की एकता के नाम पर इसका विरोध किया ताकि किसी भी क्रिस्म की साम्प्रदायिक गोलबंदी उसे गड़बड़ा न सके। पर मुसलमान समाज से आयी स्त्री-प्रतिनिधियों ने आल इण्डिया वुमंस कांफ्रेंस में रखे गये इस प्रस्ताव का विरोध किया। कुल मिला कर जाति और धर्म के प्रश्न पर स्त्री-नेतृत्व का आग्रह सभी औरतों की स्थिति को समान मानने के इर्द-गिर्द गोलबंद होता चला गया।

यह रुझान मोटे तौर पर आजादी के बाद भी जारी रहा और 1974 में स्त्रियों के हालात की जाँच-पड़ताल करने के लिए बनायी गयी कमेटी ने विधायी संस्थाओं में औरतों के लिए सीटें आरक्षित करने के प्रस्ताव को बहुमत से खारिज कर दिया। हालाँकि इस कमेटी की रपट *टुवर्ड्स ईक्वलिटी* से यह जानकारी भी मिल रही थी कि स्त्री-विधिकर्ताओं की संख्या घटती जा रही है और राजनीतिक पार्टियाँ औरतों को टिकट देने में हिचकती हैं।

स्त्रियों को आरक्षण का प्रश्न 1988 में फिर से उभरा जब स्त्रियों के लिए बनायी गयी राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य योजना ने लैंगिक आधार पर तीस फ़ीसदी आरक्षण का सुझाव दिया। इसके पीछे तर्क यह था कि स्त्रियों के बड़े पैमाने पर राजनीति में आने से उसके मौजूदा ढाँचे में भिन्न मूल्यों, प्राथमिकताओं और परिप्रेक्ष्यों का समावेश होगा। राजनीतिक दलों के एजेंडे पर स्त्रियों के मसले प्रमुखता प्राप्त करेंगे। निर्णयकारी हैसियत में स्त्रियों के पहुँचने से उनके खिलाफ़ होने वाले भेदभाव की मात्रा घटेगी। नब्बे का दशक भारतीय राजनीति में 'जाति' और 'समुदाय' के साथ-साथ जेंडर की श्रेणी को अलग से रेखांकित करने वाला साबित हुआ। सबसे पहले महाराष्ट्र की सरकार ने 1990 में स्थानीय निकायों में स्त्रियों को 30 फ़ीसदी आरक्षण दे कर इस प्रक्रिया की शुरुआत की। 1992 में 73वाँ संविधान संशोधन हुआ जिसके तहत ज़िला, ब्लॉक और ग्राम पंचायतों में अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों को उनकी जनसंख्या के अनुपात में और स्त्रियों को एक-तिहाई आरक्षण का प्रावधान किया गया। इसके बाद हुए 74वें संशोधन के तहत आरक्षण की यही व्यवस्था स्थानीय निकायों में की गयी।

यह मानना पड़ेगा कि इन दोनों संविधान संशोधनों के लिए दबाव पैदा करने में भारत के नारीवादी आंदोलन की भूमिका न के बराबर ही रही। न ही इस प्रश्न पर कोई राष्ट्रीय बहस हुई। इस आरक्षण का स्त्री-सशक्तीकरण की प्रक्रिया के साथ-साथ व्यापक राजनीति पर किस तरह का असर पड़

सकता है, इसका भी कोई पूर्व अध्ययन नहीं किया गया। देखते-देखते अचानक करीब दस लाख स्त्रियों के लिए निचले स्तर की प्रातिनिधिक संस्थाओं में प्रवेश का दरवाजा खुल गया। न तो इसके लिए पार्टियाँ तैयार थीं, और न ही स्त्री-संगठन। दिलचस्प बात यह है कि इस संदर्भ में ताज़े इतिहास पर नज़र डालने से यह नहीं पता चलता कि इन संविधान संशोधनों की पहलक़दमी का उद्गम कौन सा था।

इस आरक्षण के पंद्रह साल बाद कुछ रुझान सामने आये हैं जिनके आर्डने में इन संविधान संशोधनों के प्रभावों का कुछ अंदाज़ा लगाया जा सकता है। पंचायती राज और स्थानीय निकाय संस्थाओं में आरक्षण के जरिये चुनी गयी स्त्रियों में राजनीतिक कार्यकर्ताओं की संख्या कम और पुरुष नेताओं की परिजन स्त्रियों की संख्या ज्यादा देखी गयी। इनमें कई अनिच्छापूर्वक चुनाव लड़ें क्योंकि उनके ख़ानदान को अपना राजनीतिक रंग-रुतबा बरकरार रखना था। दूसरे, इनकी पहली प्राथमिकता व्यापक स्त्री-समाज के प्रति न हो कर पितृसत्तात्मक हितों की ताबेदारी थी। चुनी गयी स्त्रियों का बहुत ही छोटा हिस्सा नारीवादी आंदोलन से ताल्लुक़ रखता था। अभी यह अध्ययन किया जाना शेष है कि क्या स्त्री-प्रतिनिधियों की राजनीति पुरुष-प्रतिनिधियों के मुकाबले किस स्तर पर भिन्न होती है : क्या वे पुरुषों की अपेक्षा सत्ता से कम चिपकने की कोशिश करती हैं, कम भ्रष्ट होती हैं, उनकी कार्यशैली अपेक्षाकृत अधिक लोकतांत्रिक होती है, उनकी राजनीतिक महत्वाकांक्षा का स्तर क्या है और कुल मिला कर उनके जरिये होने वाले राजनीतीकरण का पूरे समाज और मानवीय संबंधों की संरचना पर क्या असर पड़ रहा है ?

लेकिन नकारात्मक आयामों के साथ-साथ ऐसे कई उदाहरण भी सामने आये हैं जिनमें महिला कॉरपोरेटों और पंचों ने राजनीतिक सफलता के जरिये अपने परिवार और परिवेश के भीतर लैंगिक श्रेणीक्रम के तहत स्त्री की अधीनता को उलटा है। स्त्री-मेयरो के कामकाज का अध्ययन करने से पता चला है कि उनके नेतृत्व में स्त्री-हितों का ख़याल रखने वाले मुद्दों और कार्यक्रमों को पहले के मुकाबले प्राथमिकता प्राप्त हुई। इस बात के भी स्पष्ट संकेत हैं कि आरक्षण के कारण चुनी गयी स्त्रियों की चौथी और पाँचवीं पीढ़ी पहली और दूसरी पीढ़ी के मुकाबले अधिक जागरूक, स्वायत्त और पुरुषों के ऊपर कम निर्भर साबित हो रही हैं।

देखें : अश्वेत नारीवाद, आनंदीबाई जोशी, इसलामिक नारीवाद, गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक, चिपको आंदोलन, जूडिथ बटलर, जेंडर, दलित नारीवाद, देवदासी, देवकी जैन, नारीवाद, नारीवाद की पहली लहर, नारीवाद की दूसरी लहर, नारीवाद की तीसरी लहर, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नारीवादी फ़िल्म-सिद्धांत, नारीवादी इतिहास-लेखन, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नारीवादी दर्शन, नारीवाद और साम्प्रदायिकता,

नैसी शोदरौ, पर्यावरणीय नारीवाद, पब्लिक-प्राइवेट, पण्डिता रमाबाई सरस्वती, पितृसत्ता, प्रेम, प्रेम-अध्ययन और नारीवादी दर्शन, महादेवी वर्मा, मैरी वोल्सनक्रॉफ्ट, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम, रमाबाई रानाडे, ल्यूस इरिगरे, स्त्री और साम्प्रदायिकता, स्त्री-श्रम, सम्पत्ति : नारीवादी परिप्रेक्ष्य, सिमोन द बोउवार, स्त्री-आरक्षण, हेलन सिचू।

संदर्भ

1. मैरी जॉन (2000), 'आल्टरनेटिव मॉडर्निटीज़? रिज़र्वेशन ऐंड वुमंस मूवमेंट इन ट्वेंटियथ सेंचुरी इण्डिया', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 35, अंक 43/44.
2. मेधा नानीवाडेकर (1998), 'रिज़र्वेशन फ़ॉर वुमन : चैलेंज ऑफ़ टैकलिंग काउंटर-प्रोडक्टिव ट्रेण्ड्स', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 33, अंक 28.
3. युहान रेडलुंद (2008), *वुमन इन पंचायतस : अ स्टडी ऑफ़ जेंडर स्ट्रक्चर्स ऐंड द इम्पेक्ट्स ऑफ़ द 73ड एमंडमेंट ऑफ़ द कांस्टीट्यूशन*, लुंद युनिवर्सिटी शोध-पत्र।
4. जोकिम परसन (2008), *द इम्पेक्ट ऑफ़ अ क्रोटा सिस्टम ऑफ़ वुमंस इम्पॉवरमेंट : अ फ़ील्ड स्टडी इन वेस्ट बंगाल*, लुंद युनिवर्सिटी शोध-पत्र, 2008

— अभय कुमार दुबे

भारत में स्त्री-आरक्षण-2

संसद और विधानसभाएँ

(Women Reservation in India-2)

स्त्रियों को पंचायती राज संस्थाओं और स्थानीय निकायों में राजनीतिक आरक्षण मिल जाने के बाद डेढ़ दशक बाद भी यह प्रक्रिया अपने तार्किक निष्कर्ष तक नहीं पहुँच पायी है। देश की सर्वोच्च प्रातिनिधिक संस्थाओं में औरतों के लिए सीटें आरक्षित करने वाला 108वाँ संविधान संशोधन विधेयक अभी संसद द्वारा पारित किया जाना बाक़ी है। राजनीतिक दलों के बीच और उनके भीतर गम्भीर मतभेदों के कारण लोकसभा में लटके हुए, लेकिन राज्यसभा द्वारा 9 मार्च, 2010 को स्वीकृत किये गये इस विधेयक के मुख्य प्रावधान इस प्रकार हैं : लोकसभा और राज्य विधानसभाओं में कम से कम एक-तिहाई सीटों का स्त्रियों के लिए आरक्षण, अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए सुरक्षित सीटों में से एक-तिहाई का स्त्रियों के लिए आरक्षण, अपनी शुरुआत के 15 साल बाद यह आरक्षण स्वतः समाप्त और लाटरी के आधार पर हर चुनाव में एक-तिहाई सीटों का चयन अर्थात् पंद्रह वर्ष के भीतर तीन

बार में देश के प्रत्येक निर्वाचन-क्षेत्र का कम से कम एक बार स्त्रियों के लिए आरक्षित होना। विधेयक में राज्यसभा और विधान परिषदों में स्त्री-आरक्षण का प्रावधान नहीं है। विधेयक के समर्थकों और विरोधियों के बीच होने वाली यह बहस विधेयक के पक्ष-विपक्ष में कई मानीखेज और व्यावहारिक लगने वाली दलीलों और सुझावों के रूप में सामने आयी है।

विधेयक के समर्थकों का सीधा तर्क है कि स्त्रियों को एक अलग सामाजिक श्रेणी के रूप में देखने को प्राथमिकता दी जानी चाहिए ताकि संसद में स्त्रियों की संख्या बढ़ने से विचार-विमर्श और नीति संबंधी दिशा जेंडर-संवेदनशील हो सके। समर्थकों के मुताबिक स्त्री-समाज के बीच विभेदीकरण के पहलू उन्हें संसद और विधायिकाओं में समुचित प्रतिनिधित्व दिलाने के संदर्भ में प्रासंगिक नहीं हैं। जब स्त्रियों को 33 फ़ीसदी प्रतिनिधित्व मिल जाएगा तो समाज के वंचित और पिछड़े तबकों की स्त्रियों को भी उसके सामाजिक और राजनीतिक लाभ होंगे। सत्ता और प्राधिकार के मुकामों तक उनके पहुँचने का रास्ता भी साफ़ हो जाएगा। जाहिर है कि विधेयक के समर्थक जाति, जातीयता, वर्ग और धर्म संबंधी उत्पीड़न के ऊपर जेंडर संबंधी उत्पीड़न को प्रबल प्राथमिकता देने के पक्ष हैं। वे इस तरह के कई बारीक प्रश्नों पर पहले विचार करने के बजाय आरक्षण का कुछ अनुभव प्राप्त कर लेने के बाद उसकी रोशनी में ग़ौर करना चाहते हैं।

विधेयक के विरोधियों की कई श्रेणियाँ हैं। पहली श्रेणी उनकी है जो आरक्षण का ही विरोध करते हैं। उनका कहना है कि जेंडर के आधार पर आरक्षण का प्रावधान संविधान प्रदत्त समानता के सिद्धांत के ख़िलाफ़ जाता है। दूसरे, स्त्रियों को सामाजिक रूप से समरूप श्रेणी की संज्ञा नहीं दी जा सकती और न ही उनके हितों को अन्य आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक तबकों से अलग करके देखा जा सकता है। अगर स्त्रियों को आरक्षण दे दिया गया तो इसी तरह की माँगें अन्य समूहों और समुदायों की तरफ़ से आयेगी जिससे राष्ट्रीय एकता को नुकसान पहुँचेगा।

दूसरी श्रेणी उनकी है जो स्त्री-आरक्षण के तो पक्ष में हैं पर इसके लिए लाये गये सरकारी विधेयक को नापसंद करते हैं। इनमें पहली श्रेणी के सुझाव वे हैं जिनका मुख्य मक़सद स्त्री-आरक्षण के बावजूद पुरुष-सांसदों की संख्या कम न होने देने का है। इनमें एक संसद में सीटों की संख्या बढ़ाने का है। 2001 की जनगणना के मुताबिक देश की आबादी एक अरब से अधिक हो चुकी है। इसलिए संविधान के मुताबिक लोकसभा की सदस्य संख्या बढ़ा कर 750 तक की जा सकती है और बढ़ी हुई दो सौ के आसपास सीटों को स्त्रियों के लिए रखा जा सकता है। दूसरा सुझाव दोहरी सदस्यता वाले निर्वाचन-क्षेत्रों के प्रावधान का है। इसके मुताबिक कुल सीटों में से एक-तिहाई (181) पर एक पुरुष

और एक स्त्री सांसद चुनने का प्रावधान होना चाहिए।

दूसरी श्रेणी का संबंध एक बेहद पेचीदा आलोचना से है। यह उन बुद्धिजीवियों और एक्टिविस्टों की तरफ से आयी है जो आरक्षण का समर्थन करने के बावजूद इस विधेयक के आईने में उच्च जातियों और नारीवाद के बीच अघोषित गठजोड़ देख कर बेचैन हो गये हैं। इनकी मान्यता है कि पिछड़ी जातियों के राजनीति में बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने के लिए स्त्री-आरक्षण के उपाय का इस्तेमाल किया जा रहा है। इस तर्क का एक मतलब यह भी निकाला जा सकता है कि ऊँची जातियाँ अपने हाथ से फिसलती सत्ता की बागडोर थामने के लिए नारीवाद का इस्तेमाल कर रही हैं।

पिछड़ों और अल्पसंख्यकों के हितों का सवाल उठाने वालों का कहना है कि विधेयक में अन्य पिछड़े वर्गों और अल्पसंख्यकों के लिए आरक्षण की कोई अलग से व्यवस्था नहीं है, इसलिए इसके कारण पिछड़े वर्ग के प्रतिनिधित्व को चोट लगेगी। इनकी माँग है कि स्त्रियों को मिलने वाले 33 फ्रीसदी आरक्षण के भीतर पिछड़ों और अल्पसंख्यकों का कोटा निर्धारित किया जाना चाहिए। यह एक ऐसा सवाल है जिसके आधार पर भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी और मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी को छोड़ कर सभी राजनीतिक दलों में विधेयक को लेकर मतभेद हो गये हैं। भाजपा एक दल के रूप में विधेयक के मौजूदा रूप के पक्ष में है, पर उसके पिछड़े सांसदों को आपत्ति है।

मोटे तौर पर समतामूलक लगने वाली इस दलील के साथ दिक्कत यह है कि संविधान पिछड़ी जातियों और धार्मिक अल्पसंख्यकों राजनीतिक आरक्षण देने के पक्ष में नहीं है। इसलिए विधेयक में ऐसा कोई प्रावधान संवैधानिक रूप से सम्भव ही नहीं था। पिछड़ी जातियों और मुसलमानों के लिए अलग से कोटा निर्धारित करने की माँग करने वाली राजनीतिक पार्टियाँ और नेतागण इस आधार पर विधेयक के पारित होने में अड़ंगा तो लगाते हैं, पर वे लोकसभा में पिछड़ों और मुसलमानों को भी राजनीतिक आरक्षण देने के लिए संविधान संशोधन का प्रस्ताव कभी नहीं लाते। दरअसल, वर्तमान लोकसभा में पिछड़ी जातियों से आये सांसदों की संख्या बिना किसी राजनीतिक आरक्षण के दो सौ से ऊपर पहुँच चुकी है जिसके कारण इस तरह के संविधान संशोधन का तर्क अपने-आप में कमजोर हो जाता है। लगता है कि स्त्री-आरक्षण के जरिये ये शक्तियाँ पिछले दरवाजे से राजनीतिक आरक्षण प्राप्त करने की कोशिश कर रही हैं।

विधेयक के आलोचकों में से एक प्रतिक्रिया उन लोगों की है जिन्हें अंदेशा है कि आरक्षण के तहत चुनी जाने वाली स्त्रियों में से अधिकतर या धनी-मानी और सत्तारूढ़ परिवारों की होंगी, या फिर पुरुष नेताओं की 'बहू-बेटी ब्रिगेड' में से

आएँगी। आलोचकों का यह भी कहना है कि हर बार लॉटरी के जरिये एक-तिहाई सीटें तय करने के नियम की आलोचना से जुड़ी है। इसका कहना है कि आरक्षित सीटें चुनने की यह पद्धति सांसद और उसके निर्वाचन-क्षेत्र के बीच एक दीर्घ और जीवंत रिश्ता नहीं बनने देगी।

विधेयक के समर्थकों के पास इन आलोचनाओं के जवाब हैं। उनका तर्क है कि अन्य पिछड़े वर्ग के पुरुष सांसद जिस तरह से चुनाव में जीत कर आते हैं, उसी तरह से उस वर्ग के स्त्री-उम्मीदवार भी चुनाव जीत सकते हैं। फ़र्क केवल यह पड़ेगा कि पिछड़ी जातियों के पुरुष-सांसदों की संख्या कम हो जाएगी और उनकी जगह स्त्री-सांसदों की संख्या बढ़ जाएगी। इसलिए संविधान की एक बुनियादी मान्यता का उल्लंघन करके पिछड़ों को आरक्षण के भीतर आरक्षण देने की कोई आवश्यकता नहीं है। धार्मिक अल्पसंख्यकों के लिए अलग से कोटा तय करने का मतलब होगा धार्मिक आधार पर आरक्षण को मान्यता देना जिससे इस नीति के सेकुलर चरित्र का हनन हो जाएगा। 'बहू-बेटी ब्रिगेड' वाली आलोचना के उत्तर में विधेयक के समर्थकों का तर्क है कि राजनीतिक नेटवर्क और पारिवारिक प्रभाव से पुरुष-राजनीति भी मुक्त नहीं है। स्त्री-उम्मीदवारों पर भी इसका प्रभाव पड़ेगा और प्रारम्भ में कुछ ज्यादा ही पड़ सकता है। लेकिन आरक्षण के पंद्रह वर्षों के दौरान स्त्री-समाज के बीच चलने वाली राजनीतीकरण की सघन प्रक्रिया स्वतंत्र और स्वायत्त स्त्री-राजनेताओं और कार्यकर्ताओं के उभार की दूरगामी सम्भावनाओं से लैस है। निर्वाचन-क्षेत्र और उसके प्रतिनिधि के बीच संबंध टूट जाने के अंदेश के जवाब में समर्थकों का कहना है कि ऐसे कई राजनेता हैं जो अपनी मर्जी और सुविधा के मुताबिक अपने चुनाव-क्षेत्र बार-बार बदलते रहे हैं। पार्टियाँ भी अपनी राजनीतिक डिज़ाइन के मुताबिक उम्मीदवार बदलती रहती हैं। दूसरे, दलीय प्रणाली में पार्टियों की यह जिम्मेदारी बनती है वे अपनी कार्यकर्ता मशीनरी के जरिये निर्वाचन-क्षेत्रों का खयाल रखें।

वैकल्पिक विधेयक : स्त्री-आरक्षण के प्रश्न पर एक उल्लेखनीय हस्तक्षेप सन् 2000 में एक वैकल्पिक विधेयक के रूप में सामने आ चुका है। *मानुषी* पत्रिका की सम्पादक मधु किश्वर ने अपने इस प्रस्ताव के पक्ष में जम कर मुहिम चलाई और फ़ोरम फ़ॉर डेमोक्रेटिक रिफ़ॉर्म द्वारा भी उसे अपनाया गया। विधेयक का मसविदा तैयार करने में जयप्रकाश नारायण, योगेंद्र यादव और धीरूभाई शेठ की भी भूमिका थी। शेतकरी संगठन के नेता शरद जोशी के समर्थन वाले इस विधेयक को तृणमूल कांग्रेस की सांसद कृष्णा बोस ने लोकसभा में प्राइवेट बिल के रूप में पेश किया। तत्कालीन मुख्य चुनाव आयुक्त मोहिंदर सिंह गिल ने भी इसके प्रावधानों के पक्ष में वक्तव्य दिया।

विधेयक के महत्वपूर्ण आयाम इस प्रकार थे : निर्वाचन क्षेत्रों को स्त्रियों के लिए सुरक्षित करने के बजाय 1951 के जन-प्रतिनिधित्व क़ानून में संशोधन किया जाए ताकि प्रत्येक मान्यता प्राप्त राजनीतिक दल के लिए एक-तिहाई निर्वाचन क्षेत्रों में स्त्रियों को उम्मीदवार बनाना अनिवार्य हो जाए। अगर कोई पार्टी एक स्त्री को कम टिकट दे तो दण्डस्वरूप उसके दो पुरुष उम्मीदवारों से पार्टी का चुनाव-चिह्न और आयोग की मान्यता से संबंधित सभी सुविधाएँ छीन ली जाएँ। मधु किश्वर के विधेयक में इस बात का ध्यान भी रखा गया था कि पार्टियाँ ख़ानापूरी के लिए स्त्रियों को केवल ऐसे क्षेत्रों से ही टिकट देकर काम न चला लें जहाँ से वे नहीं जीत सकतीं।

देखें : अश्वेत नारीवाद, आनंदीबाई जोशी, इस्लामिक नारीवाद, गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक, चिपको आंदोलन, जूडिथ बटलर, जेंडर, दलित नारीवाद, देवदासी, देवकी जैन, नारीवाद, नारीवाद की पहली लहर, नारीवाद की दूसरी लहर, नारीवाद की तीसरी लहर, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नारीवादी फ़िल्म-सिद्धांत, नारीवादी इतिहास-लेखन, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नारीवादी दर्शन, नारीवाद और साम्प्रदायिकता, नैसी शोदरौ, पर्यावरणीय नारीवाद, पब्लिक-प्राइवेट, पण्डिता रमाबाई सरस्वती, पितृसत्ता, प्रेम, प्रेम-अध्ययन और नारीवादी दर्शन, महादेवी वर्मा, मैरी वोल्सनक्रॉफ़्ट, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम, रमाबाई रानाडे, ल्यूस इरिगरे, स्त्री और साम्प्रदायिकता, स्त्री-श्रम, सम्पत्ति : नारीवादी परिप्रेक्ष्य, सिमोन द बोउवार, स्त्री-आरक्षण, हेलन सिचू।

संदर्भ

1. निवेदिता मेनन (2000), 'इल्यूसिव 'वुमॅन' : फ़ेमिनिज्म ऐंड वुमॅंस रिज़र्वेशन बिल', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, 21 अक्टूबर-3 नवम्बर 2000,
2. मधु किश्वर (1996), 'वुमॅन ऐंड पॉलिटिक्स : बियोड कोटाज', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 31, अंक 43.
3. एस. इरुडायारा राजन और जे. रत्नाकुमार (2005), 'वुमॅंस रिज़र्वेशन बिल : सम इमर्जिंग इश्यूज़', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 40, अंक 39.
4. मधु किश्वर, योगेंद्र यादव, जयप्रकाश नारायण और धीरूभाई शेठ (2000), 'इनहेंसिंग वुमॅंस रिप्रज़ेंटेशन इन द लेजिस्लेचर्स : ऐन आल्टरनेटिव टु गवर्नमेंट बिल फ़ॉर वुमॅंस रिज़र्वेशन', *मानुषी*, 116.
5. मेधा नानीवाडेकर (2003), 'डुअल मेम्बर कांस्टीट्यूटिवीज़ : रिज़ोल्विंग डेडलॉक ऑन वुमॅंस रिज़र्वेशन', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 38, अंक 43.
6. आर. गीता (2004), 'वुमॅंस रिप्रज़ेंटेशन इन पार्लियामेंट ऐंड लेजिस्लेचर्स', *इंटरनेशनल साउथ एशिया फ़ोरम बुलेटिन*, नं. 27.

— अभय कुमार दुबे

भारत में शेयर-संस्कृति

(Share Market Culture in India)

अमेरिकी गृहयुद्ध ख़त्म होने से कपास के निर्यात से होने वाली आमदनी के रुक जाने के कारण व्यापारियों और दलालों को लगे झटके के गर्भ से भारतीय शेयर बाज़ार का जन्म हुआ। दरअसल, 1860 से 1865 के बीच अमेरिका में गृह युद्ध के कारण शेयरों की क्रीमतों में असाधारण उछाल आया था। पाँच हज़ार रुपये में बिकने वाला बेकवे रिक्लेमेशन कम्पनी का शेयर पचास हज़ार रुपये में बिकने लगा था। लेकिन इसके बाद जैसे ही गृह युद्ध ख़त्म हुआ, यह बुलबुला फूट गया और यही शेयर घट कर 1750 रुपये का हो गया। बाकी शेयरों की भी यही हालत हुई। इसका असर बम्बई में सक्रिय करीब ढाई सौ दलालों के छोटे से समुदाय पर भी पड़ा। गृह युद्ध के कारण अंग्रेज़ों की सूत मिलों को अमेरिका से होने वाली कपास की आमद रुक जाने के कारण उसकी भरपाई बम्बई से हो रही थी और इस व्यापार का भुगतान सोने और चाँदी में होता था। बम्बई के व्यापारियों ने इससे पैसा कमाया, नयी-नयी कम्पनियाँ बनायीं और सट्टेबाज़ी में जुट गये। पर गृह युद्ध ख़त्म होते ही, अंग्रेज़ों की सूत मिलों ने बम्बई से कपास लेना बंद कर दिया। इस घटना के दस साल बाद इसी तरह के झटकों से मिल-जुल कर निबटने के लिए 1875 की जुलाई में बम्बई के दलालों ने एक एसोसिएशन बनायी जिसे आज हम बम्बई स्टॉक एक्सचेंज के नाम से जानते हैं। अहमदाबाद, कलकत्ता, मद्रास, इंदौर, हैदराबाद और दिल्ली के दलालों ने भी बम्बई का अनुसरण किया। यह इतिहास बताता है कि भारत में स्टॉक एक्सचेंज संस्कृति का जन्म उद्योगों के लिए पूँजी जुटाने के मक़सद से नहीं हुआ था। न ही वे जनता की बचत उद्योगों तक पहुँचाने का जरिया थे। दलालों ने अपनी सुरक्षा व्यवस्था के लिए उन्हें स्थापित किया था। तभी से इन संस्थाओं पर दलालों का वर्चस्व चला आ रहा है।

भारत के उद्योगीकरण के लिए राष्ट्रीय नेतृत्व ने शेयर बाज़ार संस्कृति पर कभी भरोसा नहीं किया। 1948 में औद्योगिक वित्त पर राष्ट्रीय नियोजन कमेटी की बैठक में जवाहरलाल नेहरू ने कहा था : 'आम तौर पर लोग समझते हैं कि शेयर बाज़ार उद्योगों के लिए पूँजी जुटाने का काम करते हैं ... नज़दीक से देखने पर किसी तरह नहीं लगता कि भारतीय स्टॉक एक्सचेंजों को दीर्घावधि औद्योगिक ऋण और अल्पावधि कार्य-पूँजी उपलब्ध कराने में विशेषज्ञता हासिल है। ... ये संस्थान सट्टेबाज़ों के प्रिय अड्डे हैं ... ये दिन-दहाड़े जुएबाज़ी की सुविधा देने वाली सर्वाधिक प्रतिष्ठित संस्थाएँ

हैं ... औद्योगीकरण के प्रसार के लिए पूँजी जुटाने हेतु हम इस तरह के सामाजिक फोड़ों पर भरोसा नहीं कर सकते।' दलालों के प्रभुत्व वाली शेयर बाज़ार संस्थाओं को अर्थव्यवस्था की मुख्यधारा से हमेशा दूर रखा गया। घरेलू बचत पर सट्टा बाज़ार का साया कभी नहीं पड़ पाया।

शेयर बाज़ार संस्कृति पर भारत के नीति निर्माताओं ने अस्सी के दशक में पहली बार भरोसा दिखाया। 1980 में सत्ता में अपनी दोबारा वापसी के बाद इंदिरा गाँधी ने अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से एक भारी ऋण लेने का फैसला किया। उस समय न तो भारत का विदेशी मुद्रा भण्डार कोई खास कमजोर था, न ही भारत के पास पेट्रोलियम का संकट था और विदेशी ऋण भी चिंताजनक नहीं था। इस लिहाज़ से आईएमएफ से ऋण लेना एक नीतिगत फैसला था। यह एक संकेत था कि अब भारत विदेशी पूँजी और प्रौद्योगिकी के साथ गठजोड़ करना चाहता है।

भारत का पूँजीपति वर्ग पब्लिक सेक्टर के ज़रिये मुहैया करायी जाने वाली सस्ती अधिसंरचनात्मक सुविधाओं के आधार पर होने वाले सीमित मुनाफ़े से परे जाना चाहता था। आईएमएफ से लिया जाने वाले ऋण के बाद ही भारत सरकार ने पब्लिक सेक्टर और आयात-प्रतिस्थापन की जगह प्राइवेट सेक्टर और निर्यात प्रोत्साहन की तरफ़ रुझान दिखाना शुरू कर दिया। इंदिरा गाँधी की हत्या के बाद राजीव गाँधी की सरकार ने विदेशी पूँजी के आगमन पर लगे प्रतिबंध हटाने शुरू किये, कई उद्योगों को लाइसेंसों के बंधन से मुक्त कर दिया गया, कई क्षेत्रों के दरवाज़े प्राइवेट सेक्टर के लिए खोल दिये गये, निजी और कॉरपोरेट टैक्स की दरें गिरा दी गयीं, एमआरटीपी के तहत इजारेदारी सम्पत्ति-सीमा बढ़ा दी गयी, ज़्यादा से ज़्यादा आयात ओपन जनरल लाइसेंस के तहत लाया गया, विदेशी प्रौद्योगिकी से सहयोग-समझौतों के मामले में उदारता बरती जाने लगी और बड़ी-बड़ी कम्पनियों को विविधीकरण की इजाज़त मिलने लगी। इन क्रदमों के साथ देशी पूँजी बाज़ार का चेहरा स्वाभाविक तौर पर बदलने लगा। नयी अर्थव्यवस्था के लिए केवल वित्तीय संस्थानों और बैंकों से पूँजी की आपूर्ति होनी मुश्किल थी। जनता के पास पड़ा पैसा बचत बैंकों से निकल कर शेयर पूँजी की तरफ़ आकर्षित हो, इसलिए डिबेंचरों पर ब्याज दरें बढ़ा दी गयीं, नये शेयरों में निवेश से संबंधित टैक्स रियायतों को बढ़ा दिया गया। 1985 में विश्व बैंक ने 'इण्डिया : स्ट्रक्चरल चेंज ऐंड डिवेलपमेंट पर्सपेक्टिव-खण्ड 1' शीर्षक से प्रकाशित रपट में भारतीय बैंकों की आलोचना की और शेयर मार्केट को औद्योगिक पूँजी के वैकल्पिक स्रोत के रूप में पेश किया।

देखते-देखते शेयर बाज़ार संस्कृति का प्रसार होने लगा। पाँचवीं योजना (1974-1979) में निजी क्षेत्र ने शेयर जारी करके 551 करोड़ रुपये हासिल किये थे, लेकिन छठी

योजना (1980-1985) में यह रकम 3,394 करोड़ तक पहुँच गयी। सातवीं योजना में यह आँकड़ा चार गुने से भी अधिक हो कर 14,950 करोड़ हो गया। शेयर धारकों की संख्या भी बढ़ी। 1975 में जो संख्या केवल 12 लाख थी, 1990 में 90 लाख हो गयी। केवल 1991-92 में शेयर बाज़ार से डेढ़ करोड़ नये लोग जुड़े। 1980 में स्टॉक एक्सचेंजों की संख्या नौ थी जो दस साल में 19 हो गयी। एक्सचेंज में अधिसूचित होने वाली कम्पनियों की संख्या में वृद्धि का प्रतिशत 42 से बढ़ कर 163 हो गया।

शेयर बाज़ार ने भारत के फैलते हुए मध्यवर्ग के सामने रातों-रात अमीर बन जाने का नुस्खा पेश किया। 1971-1980 के बीच शेयरों की क्रीमतों में कुल 119 फ़ीसदी बढ़ोतरी हुई थी, पर अगले दस में यह वृद्धि 599 फ़ीसदी तक पहुँची। 1990 के बाद तो 15 महीने में शेयरों और प्रतिभूतियों की क्रीमतें बढ़ने से एक्सचेंज में करीब 15 खरब रुपये पैदा हुए। इस उछाल में तेज़दिये दलालों (जैसे बिग बुल के नाम से मशहूर हर्षद मेहता) द्वारा की गयी अनियमितताओं की प्रमुख भूमिका थी। अर्थव्यवस्था के नियामकों ने इस 'बूम' को नज़रअंदाज़ करना जारी रखा। इसका नतीजा कुख्यात घोटाले में निकला और देखते-देखते निवेशकों का करीब आठ खरब रुपया डूब गया। तभी से भारतीय स्टॉक एक्सचेंज 'बूम और बस्ट' के चक्र में चढ़ता-उतरता रहता है। उसकी गतिविधियों पर नियंत्रण के लिए विनियमन संस्थाओं का गठन भी किया गया है, पर अभी तक शेयर बाज़ार पर दलालों के प्रभुत्व को कम करने के नीतिगत उपाय नहीं किये जा सके हैं।

शेयर बाज़ार संस्कृति के परवान चढ़ने की राजनीतिक अभिव्यक्ति भी होने लगी है। 2004 में संसदीय चुनाव परिणाम आते ही भारतीय स्टॉक एक्सचेंज में भारी उथल-पुथल देखी गयी। यह बेचैनी दक्षिणपंथी राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठजोड़ (एनडीए) की सरकार के पराजित होने और वामपंथियों के समर्थन से संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन (यूपीए) के सरकार में आने के कारण दिखाई पड़ी थी। निवेशक समुदाय और उसे अपनी उँगलियों पर नचाने वाले दलालों को डर था कि वामपंथी पार्टियाँ सरकार पर अपने प्रभाव का इस्तेमाल करके अर्थव्यवस्था का रुख बदलने का प्रयास करेंगी। अब केंद्र सरकार स्वयं म्यूचुअल फंडों में निवेश पर छूट दे कर शेयर बाज़ार में निवेश को अप्रत्यक्ष प्रोत्साहन देने लगी है। इसी तरह बीमा पॉलिसियों को भी इक्विटी निवेश से जोड़ दिया गया है। इस तरह की योजनाएँ बहुत सफल भी रही हैं। 2012-13 में राजीव गाँधी इक्विटी स्कीम घोषित करके सरकार ने शेयर बाज़ार में प्रत्यक्ष निवेश को बढ़ावा दिया है। सरकार की कोशिश है कि सेबी (एसईबीआई) की देखरेख में शेयर बाज़ार निवेशकों के लिए अधिकाधिक सुरक्षित किया जाए।

देखें : अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, पेटेंट, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, भारत का भूमण्डलीकरण, भारत में पेटेंट कानून, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भूमण्डलीकरण, भूमण्डलीकरण का इतिहास-1 और 2।

संदर्भ

1. आलोक पुराणिक, 'रोल ऑफ़ स्टॉक एक्सचेंजिज इन मोबिलाइजिंग इंडस्ट्रियल फ़ाइनेंस ऐंड इन्वेस्टमेंट', अप्रकाशित, दिल्ली।
1. अभय कुमार दुबे (1992), *घोटाले में घोटाला*, पब्लिक इंटेरेस्ट ग्रुप, नयी दिल्ली।
2. अरुण कुमार (1992), *फ़ाइनेंशियल स्कैम : वेजिज ऑफ़ डिरेगुलेशन*, पब्लिक इंटेरेस्ट ग्रुप, नयी दिल्ली।
3. कवलजीत सिंह (1999), *पूँजी का भूमण्डलीकरण*, ऋतिका प्रकाशन, नयी दिल्ली।

— अभय कुमार दुबे

भारतीय अभिजन

(Indian Elite)

भारत के बुद्धिजीवी हलकों में अभिजन, प्रभु वर्ग, शासक वर्ग या इलीट जैसी अभिव्यक्तियों का प्रयोग धड़ल्ले से होता है। पिछले दिनों सोच-विचार की एक नयी प्रवृत्ति यह भी पैदा हुई है कि अगल-अलग समुदायों के भीतर अभिजन रचना पर गौर किया जाने लगा है : दलित इलीट, ओबीसी इलीट या मुसलमान इलीट। इस तरह के अध्ययनों से भारतीय अभिजन की एक आंशिक समझ मिलती है, पर उसका समग्र अध्ययन एक भिन्न प्रकार के बौद्धिक उद्यम की माँग करता है। आधुनिक भारत के अभिजन की रचना उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन के लम्बे दौर में हुई। पहली बार भारत में एक ऐसा अभिजन उभरा जो अपने चरित्र में राष्ट्रीय था। इसने सम्प्रभुता सम्पन्न आधुनिक भारतीय राज्य की स्थापना की जिसके कारण राजनीतिक पहलकदमी स्थानीयताओं से हट कर केंद्र में पहुँच गयी। पहले होता यह था कि पारम्परिक व्यवस्था पर छाये हुए विशिष्ट जन सामाजिक और निजी विवाद निबटाते रहते थे, या फिर पश्चिमीकरण के शुरुआती दौर में जगह-जगह बिखरी हुई जागरूक हस्तियाँ सुधारों के लिए काम करती रहती थीं। पर यह अभिजन राष्ट्रीय संदर्भ में बोलता हुआ, राष्ट्रीय चेतना की बात करता हुआ एक राष्ट्र के रूप में भारत के भविष्य की चर्चा करता था। इस अभिजन के सदस्य उद्देश्यों, लक्ष्यों और विचारधारा की बात करते थे।

हालाँकि ब्रिटिश प्रशासक और शिक्षाविद् यह मानने के लिए तैयार नहीं थे कि भारतवासी संसदीय लोकतंत्र की पेचीदगियों पर महारत हासिल कर पायेंगे, लेकिन इस अभिजन ने वह कर दिखाया जिसकी पहले कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। खास बात यह है कि आज का भारतीय अभिजन आजादी के समय मौजूद अभिजन संरचना की ही विकसित रूप है। अर्थात् भारतीय अभिजन को पूरी तरह से प्रतिस्थापित करने वाले किसी प्रति-अभिजन ने अभी तक राष्ट्रीय मंच पर अपनी दावेदारी पेश नहीं की है। भारतीय इतिहास के लिए सर्वथा नवीन इस अभिजन की रचना-प्रक्रिया का अर्थग्रहण करने के दो मॉडल प्रचलित हैं।

पहला मॉडल इसे दो चरणों में समझता है। इसके मुताबिक भारतीय अभिजन का शुरुआती संस्करण मुख्यतः ऊँची जातियों के शहरी और शिक्षित हिस्से से निकला था। उसकी आधुनिकता पश्चिमी शिक्षा और औपनिवेशिक संसर्ग का नतीजा थी। इसमें अंग्रेजों के खिलाफ लड़ाई का नेतृत्व करने वाले राजनेता, अंग्रेजों द्वारा स्थापित सिविल सर्विस के तहत प्रशिक्षित बड़े अफसर, मुख्यतः वैश्य समाज से आये भारतीय पूँजीपति, पश्चिमी शिक्षा प्राप्त करने वाले पेशेवर तबकों और पारम्परिक कुलीनों (राजे-रजवाड़ों और जमींदारों) के प्रतिनिधि शामिल थे। अभिजन का यह सामाजिक विन्यास बताता है कि इसके सभी सदस्य अनिवार्यतः और स्पष्ट रूप से ब्रिटिश विरोधी नहीं थे। इसका एक हिस्सा अपने तत्कालीन हितों को साधने की दृष्टि से राष्ट्रीय आंदोलन के विरोध में रहता था।

अभिजन के बीच कई मुद्दों पर आपसी बहस और अंतर्विरोध था, पर समाज के आधुनिकीकरण की परियोजना के प्रश्न पर इसके बीच व्यापक एकता और अंतःसूत्र भी पाया जाता था। अपने दरवाजे खोलने-बंद करने के मामले में यह कम से कम इतना लचीला ज़रूर था कि इसमें इक्का-दुक्का अल्पसंख्यक और दलित प्रतिनिधि को भी नाममात्र के लिए जगह मिल जाती थी। स्वतंत्र भारतीय राज्य की स्थापना के बाद सत्ता इसी मिले-जुले अभिजन को मिली। लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया ने जब गति पकड़ी तो राजनीतिक मंच पर नये निचली जातियों के प्रतिनिधियों ने अपने संख्याबल के आधार पर इस अभिजन के प्रभुत्व को चुनौती पेश की जिसके परिणामस्वरूप इसकी संकीर्ण संरचना में तब्दीलियाँ शुरू हुईं। आज इस अभिजन का आकार पहले के मुकाबले काफी बढ़ चुका है। इसकी आंतरिक विविधता में भी काफी बढ़ोतरी हुई है। ऊँची जाति के शहरी प्रतिनिधि आज भी इस पर हावी हैं, पर निचली जातियों, ग्रामीण भारत के प्रतिनिधियों, अल्पसंख्यकों और भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया का लाभ उठा कर सामाजिक कल्पनाशीलता पर छा जाने वाले नये पूँजीपतियों ने भी इस अभिजन के दूसरे संस्करण में अच्छी-

खासी हिस्सेदारी हासिल कर ली है।

अपेक्षाकृत सहज क्रिस्म की इस लोकप्रिय समझ के उदाहरण मीडिया के टिप्पणीकारों और सार्वजनिक जीवन में सक्रिय बुद्धिजीवियों के लेखन में आसानी से मिल जाते हैं। लेकिन दूसरा मॉडल इससे काफी अलग है और भारतीय अभिजन की रचना प्रक्रिया को उसकी समग्र जटिलता में समझने का प्रयास करता है। इस मॉडल की व्याख्या रजनी कोठारी की विख्यात रचना *भारत में राजनीति : कल और आज* में दर्ज है। कोठारी भी सहमत हैं कि देश को आधुनिकीकरण के रास्ते पर चलाने वाले राष्ट्रीय अभिजन मुख्यतः शहरी, शिक्षित और ऊँची जातियों से ही आये थे। लेकिन इसी मुकाम के बाद उनकी विवेचना अलग हो जाती है। वे राष्ट्रीय अभिजनों के साथ दो अन्य अभिजनों की भी शिनाख्त करते हैं। इस तरह उनका मॉडल तीन तरह के अभिजनों की आपसी अन्योन्यक्रिया का अध्ययन करने पर आधारित है। इनमें पहला है राष्ट्रीय अभिजन, दूसरा है स्थानीय अभिजन और तीसरा है इन दोनों के बीच सक्रिय मध्यवर्ती अभिजन।

राष्ट्रीय अभिजन : कोठारी राष्ट्रीय अभिजन का उद्गम भारत की सभ्यतामूलक विशेषताओं और उदीयमान आधुनिकता के बेहतर संसर्ग में निहित मानते हैं। इसी कारण से यह अभिजन विभाजन के ऊपर एकीकरण, खण्डन के ऊपर समायोजन और टकराव के ऊपर सहमति को प्राथमिकता देते हुए आजादी के बाद राष्ट्रीय लक्ष्यों के लिए समाज के विभिन्न तबकों को गोलबंद कर पाया।

कोठारी उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन और उन्नीसवीं सदी से जारी भारतीय आधुनिकता के सिलसिले में ब्राह्मण जाति के प्रतिनिधियों के योगदान को सकारात्मक दृष्टि से देखते हैं। वे कहते हैं कि पारम्परिक अभिजनों के रूप में ब्राह्मणों ने हमेशा से समाज की लघु परम्पराओं को महा-परम्परा के जोड़ने की भूमिका निभायी है। यह पारम्परिक अभिजन नये जमाने में भी नेतृत्व देने के लिए उपलब्ध रहा। उसने अंग्रेजी भाषा, कानून की पेचीदगियों और नये सांस्कृतिक प्राधिकार को ग्रहण करने में कोई देरी नहीं की। ब्राह्मणों के नेतृत्वकारी उद्यम के कारण आधुनिकीकरण की प्रक्रिया फटाफट आगे बढ़ी। ब्राह्मणों के कारण न तो राष्ट्रीय आंदोलन को नेताओं की कमी पड़ी और न ही नये राष्ट्र को। विविधताओं के ऊपर एक तरह की शैलीगत समरूपता भी ब्राह्मणों के कारण ही स्थापित की जा सकी। ब्राह्मणों के वर्चस्व वाले इस अभिजन की शुरुआती कामयाबी का कारण कोठारी ने हिंदू समाज और उसकी जाति व्यवस्था की प्रवृत्तियों में खोजा है। चूँकि जाति प्रथा अलग-अलग सामाजिक भूमिकाओं का प्रावधान करती थी (जिसके तहत

शासन करने वाले और उसका अनुपालन करने वाले की भूमिका तय थी) इसलिए नये शासकों के प्राधिकार को आसानी से चुनौती नहीं मिल पायी। दूसरी तरफ हिंदू मानस पर धर्मशास्त्रीय आग्रह हावी नहीं थे इसलिए नेताओं के लिए परम्परा की आवश्यकतानुसार व्याख्या करना आसान था। इन दोनों पहलुओं ने मिल कर नये आधुनिक अभिजनों को परिवर्तन, आत्मसातीकरण और रूपांतरण के जरिये आम जनता को अपनी विचारधारा का कायल करने की सुविधा प्रदान की।

इस राष्ट्रीय अभिजन ने अपने वर्चस्व का लाभ उठाते हुए सामंती अधिकारों का क्रान्ती रूप से उन्मूलन कर दिया, दूरगामी असर वाले श्रम कानून बनाये, पिछड़े तबकों और दलितों को विशेष सुविधाएँ दीं, हिंदू सिविल कोड के जरिये विषमताएँ मिटायीं, सम्पत्ति संबंधी अधिकारों की पुरानी व्याख्याओं से निबटने के लिए संविधान संशोधन किये, भाषाई तनावों को खत्म करने के लिए राज्यों का बड़े पैमाने पर पुनर्गठन किया, अलगाववादी आंदोलनों पर विधायी सीमाएँ सीमाएँ आरोपित कीं और राष्ट्रविरोधी आंदोलनों को सख्ती से दबाने में कोताही नहीं की। इन क्रदमों से स्पष्ट है कि भारतीय समाज के जो हिस्से परम्परा के रखवाले थे, उन्होंने ही आधुनिकता के रखवालों की भूमिका अपना ली।

स्थानीय अभिजन : भाषाई, क्षेत्रीय और जातीय शक्तियाँ कोठारी की निगाह में स्थानीय अभिजन का निर्माण करती हैं। यह वही 'प्रादेशिक' अभिजन था जिसका समर्थन पाये बिना कांग्रेस उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन सफलतापूर्वक नहीं चला सकती थी। दरअसल, इसे प्राथमिकता दे कर ही गाँधी ने बीस के दशक में असहयोग आंदोलन की सफलता की गारंटी की थी। अंग्रेजों से पहले का भारत 21 प्रशासनिक इकाइयों (सूबों) में बँटा हुआ था। इनमें से कई सूबों की सांस्कृतिक पहचान सुस्पष्ट थी और कुछ में संस्कृतियों का मिश्रण था। लेकिन भारत को अपना उपनिवेश बनाने के बाद अंग्रेजों ने प्रशासनिक सुविधा का खयाल करते हुए मनमाने तरीके से भारत को नये सिरे से बड़े-बड़े प्रांतों में बाँटा। एक भाषा बोलने वालों की भू-क्षेत्रीय समरसता पूरी तरह भंग कर दी गयी। बहुभाषी व बहुजातीय प्रांत बनाये गये। बीस के दशक में जैसे ही गाँधी के हाथ में कांग्रेस का नेतृत्व आया, आजादी के आंदोलन की अगुआई करने वाले अभिजनों को लगा कि जातीय-भाषाई अस्मिताओं पर जोर देकर वे उपनिवेशवाद विरोधी मुहिम को एक लोकप्रिय जनाधार दे सकते हैं। इससे पहले कांग्रेस मुख्यतः प्रतिवेदनों और ज्ञापनों के जरिये अंग्रेजों के सामने हुकूमत में अपनी भागीदारी की दावेदारियाँ पेश करती थी। वह मुख्यतः इंग्लैण्ड से पढ़-लिख कर आये लोगों, उदीयमान शहरी अभिजनों, जमींदारों और पारम्परिक भद्र वर्गों की पार्टी

थी। उसका चरित्र दबाव-गुट जैसा था। इस परिदृश्य को बदल कर आम जनता की पार्टी बनने के लिए कांग्रेस ने अंग्रेजों द्वारा रचे गये 'औपनिवेशिक प्रांत' की जगह खुद को 'प्रदेश' नामक प्रशासनिक इकाई के इर्द-गिर्द संगठित किया।

प्रदेशों में अपना वर्चस्व स्थापित करने वाले इस अभिजन के पास गहरी सांस्कृतिक जड़ें थीं। मँझोली किसान जातियों से आने वाले प्रतिनिधियों को भी इसके दायरे में स्थान मिला था। उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन में प्रमुख भूमिका निभाने के कारण यह खुद को राष्ट्रीय अभिजन के समकक्ष मानता था। आज़ादी के बाद केंद्र और परिधि के बीच संबंधों का जो विन्यास तैयार हुआ, उसमें इस अभिजन ने परिधि पर अपना दबदबा क्रायम किया। उन्हें कांग्रेस का सूबेदार कहा गया और उन्होंने प्रकारांतर से केंद्र पर क्राबिज़ राष्ट्रीय अभिजन के लिए पूरक भूमिका निभायी।

मध्यवर्ती अभिजन : बात केवल यही नहीं थी कि राष्ट्रीय अभिजन ऊपर से नीचे की ओर यानी शीर्ष से आधार की तरफ अपना प्रभाव बढ़ाना चाहते थे, और स्थानीय अभिजन अपने आधारभूत प्रभाव का इस्तेमाल करके शीर्ष की तरफ गति करना चाहते थे। दरअसल, इन दोनों के बीच एक मध्यवर्ती अभिजन भी सक्रिय था जिसकी गति ऊपर और नीचे दोनों तरफ थी। ये मध्यवर्ती अभिजन जनता, उनके स्थानीय और शीर्ष नेताओं के बीच सम्पर्क सूत्र का काम करने वाले थे। इन बीच के नेताओं में परम्परा और आधुनिकता के बीच आवागमन करने की असाधारण क्षमता थी। उन्होंने पाने-गँवाने के आधार पर राजनीति करना पसंद किया। इन लोगों को 'दलाल' कहना उचित नहीं होगा। दो राजनीतिक पक्षों के बीच तीसरे पक्ष द्वारा समझौता कराने की प्रक्रिया ने भारतीय राजनीति में पंच फ़ैसले की परम्परा का सूत्रपात किया। कुल मिला कर बीच के ये नेता दरअसल राज्य व्यवस्था की दृष्टि से जनगोलबंदी के बहुत बड़े वाहक थे। रजनी कोठारी ने इन बीच के नेताओं को 'राजनीति का नया उद्यमी' करार दिया है। लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया तेज़ होने और आरक्षण के ज़रिये हुए सबलीकरण ने इस तीसरे अभिजन का महत्त्व काफ़ी बढ़ा दिया है।

कोठारी की मान्यता है कि राजनीतिक विकास के शुरुआती दौर में अभिजन की यह त्रिस्तरीय संरचना 'इनपुट-आउटपुट मॉडल' की तरह काम करती थी। वैचारिक और नीतिगत इनपुट राष्ट्रीय अभिजन की तरफ से आता था, और उसके ऊपर जनता व समाज की प्रतिक्रिया बाक़ी दोनों अभिजनों के ज़रिये संसाधित होती थी। इन तीन तरह के अभिजनों ने मिल कर एकीकरण का एक विशिष्ट मॉडल

विकसित किया जो न तो पश्चिमी लोकतंत्रों में प्रचलित विभिन्न हितों के समूहन जैसा था, न ही यह पारम्परिक राज्य प्रणालियों में चलने वाला विभाजित हितों और निष्ठाओं वाला मॉडल था। इस नये एकीकरण में सत्ता की बिखरी हुई संरचनाएँ मध्यवर्ती नेटवर्कों में एक साथ आ कर स्वायत्त उपप्रणालियों की तरह बृहत्तर राजनीतिक प्रणाली का अंग बनने लगीं। इस तरह से इस मॉडल को मध्यवर्ती समूहन का मॉडल कहा जा सकता है।

देखें : अनुसूचित जातियाँ, अनुसूचित जनजातियाँ, अन्य पिछड़े वर्ग, आरक्षण, आधुनिकता, अरविंद घोष, आधुनिकीकरण, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, जवाहरलाल नेहरू, जातियों का राजनीतीकरण, बंगाल का नवजागरण, भारतीय अभिजन, भारतीय आधुनिकता, भारतीय इस्लाम, भारतीय उदारतावाद, भारतीय डायसपोरा, भारत में उपनिवेशवाद, भारतीय नवजागरण : तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य, भारत में नियोजन, भारत में प्रातिनिधिक प्रणाली, भारत में पृथकतावादी राजनीति, भारत में मतदान-व्यवहार-1 से 6 तक, भारत में सामाजिक आंदोलन, भारतीय राज्य, भारतीय राष्ट्रवाद, भारतीय लोकतंत्र, भारतीय लोकतंत्र का संस्थानीकरण-1 से 3 तक, भारतीय स्वभाव और राजनीति, भारतीय संविधान-1 से 8 तक, भारतीय सामाजिक आंदोलन, भीमराव रामजी आम्बेडकर, राजा राममोहन राय, विवेकानंद, विनायक दामोदर सावरकर, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1 से 3 तक, सामाजिक आंदोलन।

संदर्भ

1. रजनी कोठारी (2005), *भारत में राजनीति : कल और आज*, हिंदी प्रस्तुति और सम्पादन : अभय कुमार दुबे, लोक-चिंतक ग्रंथमाला, वाणी-सीएसडीएस, नयी दिल्ली.

— अभय कुमार दुबे

भारतीय आधुनिकता

(Indian Modernity)

भारतीय समाज के आधुनिक होने की प्रक्रिया उसके राजनीतीकरण के माध्यम से चली है। राज्य-तंत्र पर आधारित विकास, राष्ट्रवाद और लोकतंत्र की त्रयी भारतीय आधुनिकता के मर्म में है। बीसवीं सदी के दूसरे दशक में गाँधी के नेतृत्व में उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष जनांदोलन में बदला और उसी के साथ राजनीतीकरण का आगाज़ हुआ। आज़ादी मिलने के बाद संस्थागत संसदीय राजनीति के ज़रिये राजनीतीकरण की व्यापक और बहुमुखी प्रक्रिया ने पारम्परिक भारतीय समाज को बदलने में निर्णायक भूमिका का निर्वाह किया। चूँकि

भारत में आधुनिकता राजनीति के औजारों से बनी, इसलिए इसे राजनीतिक आधुनिकता का नाम भी दिया जा सकता है। लेकिन, यह नामकरण अपर्याप्त है। भारतीय ज़मीन पर राजनीति और आधुनिकता की द्वंद्वत्मक अन्योन्यक्रिया की ऐतिहासिक जाँच-पड़ताल करने पर पता लगता है कि उसके उद्गम के पीछे एक भिन्न कल्पनाशीलता काम कर रही थी, एक ऐसी कल्पनाशीलता जो शुरू से ही भारतीय आधुनिकता को पश्चिमी मॉडल की अनुकृति बनाने से इनकार करती रही।

भारतीय समाज की भिन्नता : भारत में औपनिवेशिक शासन की संरचनाएँ जिस समय स्थापित की गयीं, उस समय भारतीय राजनीतिक जीवन का केंद्रीय तत्त्व पश्चिम की तरह वर्ग-संघर्ष नहीं था। सामाजिक संरचनाएँ भी सेकुलरीकृत नहीं थीं। सामूहिक अस्मिताओं का मुख्य आधार धर्म था। समाज पश्चिम की तरह एक भाषा-भाषी समरूप सांस्कृतिक बंधनों में भी नहीं बँधा था। समाज की इसी भिन्नता के कारण अंग्रेजों ने तय किया कि वे राजनीतिक दायरे को तो अपने नियंत्रण में रखेंगे, पर पारम्परिक ढाँचे में कोई खास हस्तक्षेप करने से परहेज करेंगे। जो हस्तक्षेप हुआ भी, उसका ज्यादातर हिस्सा औपनिवेशिक ज्ञान के वाहक बुद्धिजीवियों और ईसाई मिशनरियों यानी ग़ैर-राजकीय हलकों के हिस्से में आया। लातीनी अमेरिका और अफ्रीका में औपनिवेशिकता और ईसाई गतिविधियों के मिले-जुले प्रभाव के कारण स्थानीय धर्म नष्ट हो गये थे और उनकी जगह ईसाइयत ने ले ली थी। भारत में हिंदू धर्म और इस्लाम को यह हस्तक्षेप अपनी जगह से तो नहीं हिला सका, पर उसने कम से कम हिंदू धर्म के भीतर कई चिंतन के स्तर पर कई दूरगामी परिवर्तन किये। औपनिवेशिक आधुनिकता के बुद्धिवादी प्रभाव और ईसाई मिशनरियों के संसर्ग के तहत हिंदू विमर्श से गहन सकारात्मक संबंध रखने वाले बुद्धिजीवियों, राजनीतिक अभिजनों और सांस्कृतिक नेताओं ने जाति प्रथा को आधुनिकीकरण में बाधक के तौर पर देखना शुरू किया। हिंदू विमर्श के आधुनिक पैरोकारों की इस प्रतीति ने समाज के बौद्धिक जीवन के धार्मिक आधारों की बुद्धिसंगत व्याख्या का रास्ता खोला। इस कार्यभार को अखिल भारतीय स्तर पर जिन तीन हस्तियों ने मुख्य रूप से अंजाम दिया, वे थीं विवेकानंद, गाँधी और रवींद्रनाथ ठाकुर। यह बुद्धिसंगत व्याख्या भारतीय शर्तों पर की गयी। इसने सावधानीपूर्वक तय किया कि पश्चिमी आधुनिकता से क्या लिया जा सकता है और क्या नहीं। यह भारतीय रवैया एडवर्ड सैड के उस आग्रह को झुठलाने वाला था कि प्राच्यवाद के कारण सभी उपनिवेशीकृत समाज बौद्धिक समर्पण और खामोशी की खाइयों में गिरते चले गये।

नयी कल्पनाशीलता : औपनिवेशिक प्रभाव और ईसाइयत के सामने समर्पण करने के बजाय भारतीय अभिजनों ने पश्चिमी आधुनिकता के तीन आयामों पर महारत करने की कोशिश की। उन्होंने आधुनिक ज्ञान में पारंगत होने का अभियान चलाया, आधुनिक संस्थाओं को रचने और चलाने के तौर-तरीके सीखे और राष्ट्रवाद के रूप में सामूहिक एकजुटता की भावना का विकास किया। औपनिवेशिक सत्ता द्वारा अपनायी गयी अप्रत्यक्ष शासन की पद्धति और संवैधानिक सुधारों की लम्बी शिक्षाप्रद प्रक्रिया ने भी भारतीय अभिजनों की इस कार्यभार में मदद की।

इसी दौरान जाति प्रथा को औपनिवेशिक आधुनिकता के प्रभावों और उपनिवेशवादी विरोधी राजनीति के साथ अन्योन्यक्रिया करनी पड़ी जिसके गर्भ से नागर समाज का भारतीय संस्करण निकला। जाति सभाएँ आधुनिक पैमाने पर संगठित हुईं जिसके कारण जातियों का परस्पर कर्मकाण्डीय अलगाव टूटने की शुरुआत हुई। दूसरी तरफ़ मुसलमान अभिजनों ने हिंदुओं के साथ सम-मूल्यता का तर्क दिया जिसके कई बुरे परिणामों में से एक द्वि-राष्ट्र सिद्धांत था। इसकी एक सकारात्मक परिणति आगे चल कर अल्पसंख्यकों को सुरक्षा के आश्वासन में भी निकल सकती थी।

गाँधी ने उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष को नये सिरे से भाषाई आधार पर संगठित करके भारत की सांस्कृतिक बहुलता को राष्ट्रवादी कल्पनाशीलता के कच्चे माल के रूप में पेश कर दिया। पहले असहयोग आंदोलन की सफलता ने स्पष्ट कर दिया कि भारतीय आधुनिकता को पश्चिम की नक़ल करने की ज़रूरत नहीं है। गाँधी, रवींद्रनाथ और नेहरू ने किसी एक संस्कृति या भाषा या धर्म के आधार पर भारतीय राष्ट्रवाद को कल्पित करने से इनकार कर दिया। गाँधी और रवींद्रनाथ का तर्क था कि आधुनिक संस्थाओं की कामयाबी समाज की पारम्परिक समझ के साथ समरस रहने पर निर्भर है। रवींद्रनाथ ने युरोपियन अनुभव की अनुकृति करने के प्रस्ताव को ठुकराते हुए कहा कि आधुनिकता का विधेयक तत्त्व विवेक की स्वायत्तता है। जवाहरलाल नेहरू ने भारतीय बहुलता को आधुनिकता की सफलता के तर्क में बदल दिया। उन्होंने रवींद्रनाथ के तर्ज पर कहा कि अगर हमने राष्ट्र-राज्य का समरूपीकरण का मॉडल आरोपित किया तो धार्मिक और क्षेत्रीय अल्पसंख्यकों को उनके आत्मसात किये जाने का डर सताने लगेगा। रवींद्रनाथ पहले ही कह चुके थे कि भारत की सांस्कृतिक बहुलता भारतीय क्रिस्म के राष्ट्रवाद के लिए नुकसानदेह होने के बजाय फ़ायदेमंद है। इस तरह गाँधी-रवींद्रनाथ-नेहरू की मिली-जुली कल्पनाशीलता के आधार पर भारतीय आधुनिकता की भित्ति निर्मित हुई। देशभक्ति और अस्मिता का भारतीय विचार पश्चिम के मुक्काबले बहुआयामी था। भारतीय होने से पहले तमिल, मराठा या बंगाली होना

भारतीयता की कमजोरी की निशानी नहीं था। भारतीयता दूसरे दर्जे की अस्मिता होने के बावजूद किसी तरह की खोखली, छलपूर्ण या कृत्रिम पहचान नहीं थी।

आजादी के बाद : 15 अगस्त, 1947 के उपरांत उपनिवेशवाद के खिलाफ जद्दोजहद के रूप में चलने वाली सभी प्रक्रियाएँ लोकतांत्रिक राज्य की रचना के मातहत हो गयीं। आधुनिकता ने राजनीतिक आधुनिकता का रूप ग्रहण कर लिया जिसकी संस्थागत अभिव्यक्ति संविधान निर्माण की प्रक्रिया में हुई। आम्बेडकर के नेतृत्व में संविधान-निर्माताओं ने एक उदारतावादी और सेकुलर राज्य के सिद्धांतों को संस्थाबद्ध रूप दिया। सामाजिक वैयक्तियन के अभाव को समझते हुए भारतीय उदारतावाद ने व्यक्तिगत के साथ-साथ सामुदायिक अधिकारों को भी अपनाने का नवाचार किया। उस जमाने में उदारतावादी सिद्धांत को सामुदायिक अधिकारों के संदर्भ में स्वीकार करना बड़ी जुर्रत का काम था। क्लम की एक ही जुम्बिश से समाज के हर व्यक्ति को वर्ग-जाति-लिंगभेद की परवाह किये बिना नागरिक अधिकारों से सम्पन्न कर दिया गया, जबकि पश्चिम में ये अधिकार बहुत धीरे-धीरे लम्बी अवधि में प्राप्त हुए थे। सेकुलरवाद के मामले में भी संविधान सभा ने साहसपूर्ण नवाचार किया, और अल्पसंख्यकों के धार्मिक अधिकारों की रक्षा की जिम्मेदारी राज्य को सौंपी। पश्चिम जिस सेकुलरवाद को राज्य और धर्म के पार्थक्य के रूप में समझता था, भारत में वही सेकुलरवाद राज्य और धर्म के बीच उसूली फ़ासले के सिद्धांत की तरह विकसित हुआ। संविधान सभा ने सामाजिक ढाँचे की विषमताओं को दुरुस्त करने के लिए अनुसूचित जातियों (पूर्व अछूतों), अनुसूचित जनजातियों (आदिवासियों) और पिछड़े वर्गों (वर्णाश्रम के तहत शूद्र समझी जाने वाली जातियाँ) के किये विशेष अवसरों के प्रावधानों का सूत्रीकरण करके एक दूरगामी सोशल इंजीनियरिंग का सूत्रपात करने में भी सफलता प्राप्त की। संविधान सभा द्वारा रखी गयी इस अनूठी आधारशिला पर खड़े हो कर भारतीय राज्य ने गाँधी-रवींद्रनाथ-नेहरू की त्रयी द्वारा कल्पित आधुनिकता को धरती पर उतारने का बीड़ा उठाया। यह एक विराट परियोजना थी जिसमें एक साथ राजनीतिक और आर्थिक ढाँचे का तीव्र विकास करते हुए हजारों साल से जमी हुई पारम्परिक सामाजिक संरचना को बदलाव की तरफ़ ले जाना था। ये तीनों काम किसी आधुनिक राज्य ने एक साथ पहले कभी नहीं किये थे।

नेहरू के प्रधानमंत्रित्व में लोकतांत्रिक राजनीति का ऊपरी स्वरूप पश्चिम जैसा ही था। राजनीति का मुहावरा वर्गीय और विचारधारात्मक प्रतीत होता था। संसद और अन्य विधायिकाओं में होने वाली बहस ब्रिटिश और अमेरिकी संसद द्वारा अपनायी जाने वाली मर्यादाओं और शैली के मुताबिक थी। लेकिन, जैसे-जैसे लोकतांत्रिक चेतना ग्रामीण

क्षेत्रों तक फैली, निचले तबकों और नीची समझी जाने वाली जातियों ने राजनीति के मंच से अपनी आकांक्षाएँ व्यक्त करनी शुरू कर दीं। इनकी भाषा वर्गीय और विचारधारात्मक नहीं थी। उन्होंने जातिगत पदावली और गोलबंदी का सहारा ले कर राजनीति का नया मुहावरा रचा। राजनीति उनके लिए एक वैचारिक आदर्श न हो कर अपने जीवन और हैसियत को सँवारने का उद्यम था। ये लोग 'भारतीय राजनीति के नये उद्यमी' थे। इनके प्रभाव में भारतीय राजनीति और जातिप्रथा के बीच नवीन विनिमय की शुरुआत हुई, जिसके भदेसपन से व्यथित हो कर माना गया कि राजनीति जातिवाद से ग्रस्त होने लगी है। दरअसल, यह 'जातियों के राजनीतीकरण' की प्रक्रिया थी जिसने अगले कुछ दशकों में भारतीय समाज को बहुत बड़े पैमाने पर बदल कर आधुनिकीकरण के रास्ते पर चलाया। शिक्षा और आरक्षण के अवसरों का लाभ उठा कर वंचित जातियों के बहुत से लोग तेजी से बढ़ते हुए मध्य वर्ग का हिस्सा बने। भूमण्डलीकरण और नये आर्थिक सुधारों के कारण अर्थव्यवस्था को मिली बाजारीकरण की भारी खुराक के आधार पर जब भारतीय समाज ने आधुनिकता के नये चरण में प्रवेश किया तो यह मध्य वर्ग उसे हाथों-हाथ लेने के लिए तैयार खड़ा था।

देखें : अनुसूचित जातियाँ, अनुसूचित जनजातियाँ, अन्य पिछड़े वर्ग, आरक्षण, आधुनिकता, अरविंद घोष, आधुनिकीकरण, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, जवाहरलाल नेहरू, जातियों का राजनीतिककरण, बंगाल का नवजागरण, भारतीय अभिजन, भारतीय इस्लाम, भारतीय उदारतावाद, भारतीय डायसपोरा, भारत में उपनिवेशवाद, भारतीय नवजागरण : तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य, भारत में नियोजन, भारत में प्रातिनिधिक प्रणाली, भारत में पृथकतावादी राजनीति, भारत में मतदान-व्यवहार-1 से 6 तक, भारतीय राज्य, भारतीय राष्ट्रवाद, भारतीय लोकतंत्र, भारतीय लोकतंत्र का संस्थानीकरण-1 से 3 तक, भारतीय स्वभाव और राजनीति, भारतीय संविधान-1 से 8 तक, भारतीय सामाजिक आंदोलन, भीमराव रामजी आम्बेडकर, राजा राममोहन राय, विवेकानंद, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1 से 3 तक।

संदर्भ

1. रजनी कोठारी (2005), *भारत में राजनीति : कल और आज*, सम्पादन और प्रस्तुति : अभय कुमार दुबे, वाणी प्रकाशन, दिल्ली.
2. जावीद आलम (1999), *इण्डिया : लिविंग विद मॉडर्निटी*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
3. लॉयड आई. रुडोल्फ़ (1965), 'द मॉडर्निटी ऑफ़ ट्रेडिशन : द डेमोक्रेटिक इनकारेशन ऑफ़ कास्ट इन इण्डिया', *द अमेरिकन पॉलिटिकल साइंस रिव्यू*, खण्ड 59, अंक 4, दिसम्बर, पृष्ठ 975-989
4. सुनील खिलनानी (1995), *भारतनामा (द आइडिया ऑफ़ इण्डिया का अनुवाद : अभय कुमार दुबे)*, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली.

—अभय कुमार दुबे

भारतीय इतिहास-लेखन-1

प्राच्यवादी धारा

(Indian Historiography/Orientalist-1)

अठारहवीं सदी में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की बंगाल-विजय (1757) के बाद से अंग्रेजों ने भारत का इतिहास लिखना शुरू किया। विजित प्रदेश पर हुकूमत करने के लिए कम्पनी के प्रशासकों को वहाँ के समाज और लोगों के बारे में जानकारी हासिल करने की ज़रूरत पड़ी। इसी की भरपाई के लिए अंग्रेज़ फ़ौजी अफ़सरों और हुक्मरानों ने व्यवस्थित रूप से फ़ारसी और संस्कृत का अध्ययन शुरू किया। जल्दी ही इस ज्ञान के आधार पर रचित और अनूदित ऐतिहासिक वृत्तांत प्रकाशित होने लगे। एक सैनिक अधिकारी एलेक्ज़ेंडर डाउ ने 1768 से 1771 के बीच फ़ारसी में रचित भारतीय इतिहास की एक मानक पुस्तक का अंग्रेज़ी अनुवाद कर डाला और *द हिस्ट्री ऑफ़ हिंदोस्तान* का प्रकाशन हुआ। 1776 में एन.बी. हैलहेड ने संस्कृत के धर्मशास्त्रों का संकलन और अनुवाद किया जिसका नतीजा *अ क्रोड ऑफ़ जेंटू लाज़, ऑर ओर्डिनेशंस ऑफ़ द पंडित्स* के रूप में सामने आया।



विलियम जॉस (1746-1794)

इस इतिहास-लेखन की व्यावहारिक ज़रूरतें पश्चिमी प्राच्यवाद की वैचारिकता के तारों से आपस में गुँथी हुई थीं। अंग्रेजों को पूरा यकीन था कि वे जो कुछ कर रहे हैं वह निर्विवाद रूप से प्रामाणिक है। इस इतिहास में जो छवियाँ अंकित की जा रही थीं, वह अंग्रेजों की निगाह में भारतीय समाज के उस सारतत्त्व के मुताबिक़ थीं जिसे वे ऐतिहासिक परिवर्तनों से परे स्थावर समझते थे। यह शासक द्वारा लिखा गया शासितों का इतिहास था। सभी इतिहास लेखक युरोपियन थे। उनकी रचनाएँ युरोपीय पाठकों को ध्यान में रख कर तैयार की गयी थीं। भारत और भारतवासियों की हैसियत ज्ञान के निष्क्रिय विषय से अधिक नहीं थी। ये प्राच्यवादी इतिहासकार अपनी वाणी में भारत को अभिव्यक्त और निरूपित कर रहे थे। उनके लिए ब्रिटेन बुद्धिसंगत और भौतिकवादी होने के नाते ऊर्ध्वोन्मुखी, और भारत भावुक और आध्यात्मिक होने के नाते परिवर्तन-विरोधी था। पूर्व और पश्चिम का यह द्विभाजन एक तरफ़ तो उपनिवेशवाद के ज़रिये एकतरफ़ा सम्भव हो रहा था, दूसरी ओर वह भारत पर थोपी गयी औपनिवेशिक हुकूमत को न्यायसंगत ठहराने की भूमिका भी निभा रहा था। यह दूसरी बात है कि इतिहास-लेखन में निहित ज्ञान की राजनीति का विशिष्ट लहज़ा उसे

पृष्ठभूमि में धकेल देती थी। ऐतिहासिक वृत्तांत कुछ इस तरह से पेश किये जा रहे थे मानो ज्ञान के इस उत्पादन का औपनिवेशिक प्रभुत्व से कोई ताल्लुक ही न हो।

प्राच्यवादी भारतीय इतिहासकारों की शृंखला में जल्दी ही कई नये नाम भी जुड़ गये जिनमें विलियम जॉस, एच.टी. कोलब्रुक, जॉन शोर और फ़्रांसिस ग्लैडविन का नाम उल्लेखनीय है। संस्कृत और फ़ारसी सीखने एवं अनुवाद और टीकाओं के प्रकाशन ने जैसे-जैसे गति पकड़ी, इतिहास-लेखन और अनुसंधान के संस्थागत बंदोबस्त की ज़रूरत पैदा हुई। इसी के तहत जॉस के प्रयासों से 1884 में एशियाटिक सोसाइटी ऑफ़ बंगाल की स्थापना की गयी। कई अनुसंधान पत्रिकाओं का प्रकाशन शुरू हुआ : *एशियाटिक रिसर्चिज़* (1788), *क्वार्टरली जर्नल* (1821) और *जर्नल ऑफ़ द एशियाटिक सोसाइटी* (1832)।

इस प्रक्रिया में उत्पादित प्राच्यवादी ज्ञान का प्रसार युरोपीय विश्वविद्यालयों तक भी हुआ। भारत के साथ सीधे सम्पर्क में न रहने वाले विद्वानों ने युरोप के उद्गम या शैशव को भारत के इतिहास में देखना शुरू किया। इनमें मैक्स म्यूलर प्रमुख थे। फलस्वरूप जो विमर्श निकला, उसने संस्कृत और युरोपीय भाषाओं के बीच समानताओं की खोज के माध्यम से एक 'आर्य नस्ल' की कल्पनाओं में अपनी आस्था का निवेश किया। दावा किया गया कि युरोपवासी और भारत के ब्राह्मण इसी आर्य नस्ल की देन हैं।

संस्कृत, ब्राह्मणों और प्राचीन ग्रंथों में युरोप के उद्गम की खोज के परिणामस्वरूप भारत और पश्चिम के बीच की दूरियाँ घटने के बजाय और बढ़ीं। युरोप ने भारत के अतीत में अपना बचपन मूर्तिमान होते तो देख लिया, पर भारत का वर्तमान युरोप के वर्तमान से पूरी तरह पृथक हो गया। भारतीय अतीत की जो गढ़त तैयार हुई वह भाषा और ग्रंथों की सामग्री से बनी थी। यह भारत के सार को युरोप से पृथक, परिवर्तन-विरोधी और तात्त्विकतावादी दृष्टि से समझने का बौद्धिक उपक्रम था। दिलचस्प बात यह है कि प्राच्यवादी भारतीय इतिहास-लेखन के इस पहले दौर का नेतृत्व भारत के भीतर विलियम जॉस और बाहर मैक्सम्यूलर जैसे अधिकारियों, विद्वानों और अनुसंधानकर्ताओं के हाथ में था। पूर्वी सभ्यताओं और जन-जीवन के प्रति निजी लगाव, एक हमदर्द निगाह और दिलचस्पी के चलते इन हस्तियों ने अपनी बौद्धिक परियोजना से प्रकट उपनिवेशवादी तल्लुखों को दूर रखने में कामयाबी हासिल की।

लेकिन, प्राच्यवादी भारतीय इतिहास-लेखन का दूसरा दौर ऐसा नहीं थी जिसका प्रतिनिधित्व जेम्स मिल (1817 में

प्रकाशित *द हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इण्डिया*) का उपयोगितावादी और ठंडा रवैया करता है। इसके साथ जैसे ही ईसाई मिशनरियों का तिरस्कारपूर्ण रवैया जुड़ा, प्राच्यवाद की तस्वीर पूरी तरह से बदल गयी। संस्कृत भाषा, ब्राह्मण और उनकी जीवन-शैली तथा प्राचीन ग्रंथ आकर्षक नहीं रह गये। उनकी जगह उदारतावादी सुधारकों और आलोचकों की कठोर टिप्पणियों ने ले ली। इन इतिहासकारों ने दावा किया कि भारत सभ्यता से वंचित, नैतिक दायित्वों की पूर्ति में अक्षम, सुशासन की अवधारणा से रहित और ऐतिहासिक परिवर्तन से अछूता है। भू-राजस्व के बंदोबस्त, शैक्षिक और प्रशासनिक नीतियों, ईस्ट इण्डिया कम्पनी के चार्टर के नवीकरण से संबंधित बहसों के दौरान इन इतिहासकारों ने तत्कालीन युरोप में प्रचलित विचारों की भारत के लिए तजवीज़ की। ज़ाहिर है कि प्राच्यवाद के लिए भारत का छवि-निरूपण अतीत से हट कर वर्तमान में आ चुका था। यह दौर उन्नीसवीं सदी के पहले पचास सालों में मौक़े पर तैयार की गयी सरकारी रपटों, संसदीय जाँच रपटों और विस्तृत सर्वेक्षणों का था। इसका परिणाम नियमित रूप से प्रकाशित होने वाले भाषाई, जातीय, पुरातात्विक, जनगणना संबंधी सर्वेक्षणों और ज़िलावार गज़टों में निकला। संस्कृत, धर्मशास्त्रों और ब्राह्मणों के बजाय किसान, राजस्व, लगान, जाति, रीति-रिवाज़, क़बीले, जनता का धार्मिक आचरण, भाषाई, विविधता, खेतियार बंदोबस्त, स्त्री-पुरुष आबादी जैसे विषय केंद्र में आ गये।

अंग्रेज़ों का दावा था कि उनकी हुकूमत तथ्यों की सटीक जानकारी के हिसाब से चलती है। उपनिवेशवादियों के इस आग्रह का परिणाम यह हुआ कि उन्होंने भारतीय समाज को उन्नीसवीं सदी के आखिर और बीसवीं सदी के शुरू में प्रकाशित जनगणनाओं के आँकड़ों के जरिये समझना शुरू किया। उनके सामने समाज व्यक्तियों, समुदायों, समूहों और पारिवारिक इकाइयों में बाँटा हुआ खुला पड़ा था। ज्ञान की इस पद्धति को वे वस्तुनिष्ठ और तटस्थ मानते थे। भारतीय ग्राम्य समुदाय की प्रकृति पर हुई ऐसी ही बहसों के गर्भ से बैडन-पावेल की 1892 की रचना *द लैण्ड सिस्टम ऑफ ब्रिटिश इण्डिया* ने जन्म लिया। ज्ञान-रचना की इस प्राच्यवादी प्रक्रिया ने ब्रिटिश शासन की प्रकृति बदल दी। गाँव और जाति के नेताओं के हाथ में समाज की बुनियादी संरचनाओं का नियंत्रण छोड़ने के बजाय अब उन्होंने जाति और जनजाति के हैसियतवान लोगों तक सीधे पहुँचना शुरू कर दिया। यही वह मुक़ाम था जब अंग्रेज़ों ने राजनीति और अर्थनीति के क्षेत्रों में महत्वपूर्ण हस्तक्षेपों की शुरुआत की, क्योंकि प्राच्यवादी ज्ञान ने उन्हें यक़ीन दिला दिया था कि भारतीय समाज व्यवस्था और उसके अंतर्निहित विचार इन क्षेत्रों का संचालन करने की क्षमता से सम्पन्न नहीं हैं।

देखें : आनंद केंटिश कुमारस्वामी, आर्य-अवधारणा, आर्थर लेवेलिन बाशम, एडवर्ड विलियम सईद, काशी प्रसाद जायसवाल, बिपन चंद्र-1 और 2, दामोदर धर्मानंद कोसम्बी-1 और 2, प्राच्यवाद, रमेश चंद्र दत्त, रमेश चंद्र मजूमदार, रणजीत गुहा, रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर, राम शरण शर्मा, रोमिला थापर, वासुदेव शरण अग्रवाल, पांडुरंग वामन काणे, विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े-1 और 2, सखाराम गणेश देउस्कर, सामंतवाद : एक बहस।

संदर्भ

1. बर्नार्ड एस. कॉन (1968), 'नोट्स ऑन द हिस्ट्री ऑफ़ द स्टडी ऑफ़ सोसाइटी ऐंड कल्चर', मिल्टन सिंगर और बर्नार्ड एस. सिंगर (सम्पा.), *स्ट्रक्चर ऐंड चेंज इन सोसाइटी*, एल्डाइन, शिकागो.
2. मोहिबुल हसन (सम्पा.) (1968), *हिस्टोरियंस ऑफ़ मिडीवल इण्डिया*, मीनाक्षी पब्लिशर्स, मेरठ.
3. रणजीत गुहा, *अ रूल ऑफ़ प्रॉपर्टी फ़ार बंगाल : अ एसे ऑन द आइडिया ऑफ़ परमानेंट सेटलमेंट*, माउटन, पेरिस.
4. एरिक स्टोक्स (1959), *द इंग्लिश यूटिलिटेरियंस ऐंड इण्डिया*, क्लैरेंडन प्रैस, ऑक्सफ़र्ड.

— अभय कुमार दुबे

भारतीय इतिहास-लेखन-2

राष्ट्रवादी धारा

(Indian Historiography/Nationalist-2)

पश्चिम की प्राच्यवादी विचारधारा के आधार पर भारत का इतिहास लिखने की प्रवृत्तियों को बीसवीं सदी में राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन द्वारा पहली अहम चुनौती मिली। 1901 में प्रकाशित आर.सी. दत्त रचित *द इकॉनॉमिक हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया* (दो खण्ड) जैसे क्लासिक ग्रंथ ने इसकी पूर्वपीठिका तैयार की। बीस और तीस के दशक में गाँधी के नेतृत्व में उपनिवेशवाद विरोधी राजनीति जनांदोलन में विकसित हुई और तभी इस पूर्वपीठिका पर एच.सी. रायचौधुरी, काशी प्रसाद जायसवाल, बेनी प्रसाद, आर.सी. मजूमदार और आर.के. मुखर्जी जैसे पेशेवर इतिहासकारों ने अपनी इबारतें भी लिखीं।

इतिहास-लेखन के क्षेत्र में प्राच्यवाद और राष्ट्रवाद के बीच हुई यह होड़ एक तरह के अंतर्विरोध से भी ग्रस्त थी। राष्ट्रवादियों ने प्राच्यवादियों की कई बुनियादी स्थापनाओं को मान लिया। उन्होंने भी भारत और युरोप को तात्त्विकतावादी खानों में बाँट कर अलग-अलग देखा। भारत के इतिहास को हिंदू अर्थात् प्राचीन, मुसलमान अर्थात् मध्ययुगीन और ब्रिटिश

अर्थात् आधुनिक अवधियों में बाँट कर अध्ययन करने की पद्धति भी स्वीकार कर ली। जाति की परिघटना को समाज के खाने में डाल कर राजनीति के संदर्भ से काट कर अध्ययन करने का रवैया भी अपना लिया। भारतीय सभ्यता के संस्कृतीय आख्यान के अपरिवर्तनीय अस्तित्व को भी मान्यता मिल गयी। जाहिर था कि राष्ट्रवादियों की निगाह में प्राच्यवाद की प्रामाणिकता संदिग्ध नहीं थी। लेकिन उनके ज्ञान का विषय यानी भारत अंग्रेजों के भारत की तरह निष्क्रिय, सम्प्रभुताहीन, जड़ और तर्कबुद्धि से वंचित नहीं था। उनका भारत पहलकदमी करता हुआ अपने अतीत में भविष्य की खोज करता हुआ दिख रहा था।

शुरुआती प्राच्यवादी इतिहासकारों ने भारत के प्राचीन अतीत में युरोप का शैशव देखा था। राष्ट्रवादियों ने इसी अतीत में आधुनिक भारतीय राष्ट्र की आहटें सुनीं। मैक्सम्यूलर के अध्ययनों में मौजूद हमदर्द टीका-टिप्पणियों को इन इतिहासकारों ने वस्तुनिष्ठ और प्रामाणिक वक्तव्यों की तरह ग्रहण किया। वे एक महान और स्वर्णिम प्राचीनता कल्पित करने के उद्यम में लग गये। उन्होंने दावा किया कि भारत की आध्यात्मिकता, उसका आर्य उद्गम, राजनीतिक विचार और कला पूरी तरह देशज है। दक्षिण-पूर्वी सभ्यताओं को भारतीय सभ्यता की उपलब्धियाँ मान लिया गया। 320 से 540 ईस्वी गुप्त साम्राज्य (320-540 ईस्वी) को भारत का स्वर्ण युग बता कर इन इतिहासकारों ने दिखाया कि किस प्रकार इस युग में हिंदू धर्म परवान चढ़ा, राष्ट्रीय एकता मजबूत हुई, आर्थिक सम्पदा में वृद्धि हुई, सामाजिक समरसता बेहतर हुई और सांस्कृतिक उपलब्धियाँ शिखर पर पहुँच गयीं। इन इतिहासकारों ने यह दावा भी किया कि ग्यारहवीं और बारहवीं सदी में मुसलमानों के आगमन के साथ ही पतन और पराभव की शुरुआत हुई।

लेकिन, राष्ट्रवादी इतिहास का मतलब केवल यही नहीं था। इन इतिहासकारों ने सामग्री और स्रोतों पर बहस को खोला। ऐसी बहुत सी बातें खोज निकालीं जो अनजान पड़ी हुई थीं। इस प्रक्रिया में क्षेत्रों के इतिहास पर रोशनी पड़ी। इस मान्यता को भी चुनौती मिली कि यूनानी सभ्यता की सभी उपलब्धियाँ लाजवाब और बेशक्रीमती हैं। प्राच्यवादियों की कई मान्यताओं को मानने के बावजूद भारत का प्रतिनिधित्व करने का उनका दावा झुठलाया गया। इसी तरह हिंदू उग्रवादी व्याख्याओं को भी प्रश्नांकित किया गया। जवाहरलाल नेहरू ने *द डिस्कवरी ऑफ इण्डिया* (1946) में तर्क दिया कि भारतीय संस्कृति हिंदू या हिंदूवाद का पर्याय नहीं है। उनका जोर सांस्कृतिक और ऐतिहासिक विविधता पर था। हालाँकि नेहरू भी आध्यात्मिकता को भारतीय अतीत का सार मानते थे और गुप्त साम्राज्य उनकी निगाहों में भी राष्ट्रवाद के पनपने की अवधि थी, लेकिन हिंदू पुनरुत्थानवादी इतिहास-लेखन उनके सेकुलर और सार्वदेशिक नज़रिये में फिट नहीं होता था।

उन्होंने जो सेकुलर भारत खोजा उसके पालने में कई धर्मों और सम्प्रदायों का लालन-पालन हुआ था। अनगिनत आक्रमणों और संघर्षों से गुज़रता हुआ नेहरू का यह भारत एक हद तक एकता की उपलब्धि कर चुका था। नेहरू का विचार था कि उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन इसी एकता को गुलामी की जकड़ से मुक्त करने का उद्यम है ताकि भारत एक बार फिर दुनिया के पैमाने पर अन्य सभ्यताओं के साथ क्रदम मिलाता हुआ आधुनिकता की मंज़िल की तरफ कूच कर सके।

कुल मिला कर राष्ट्रवादी आंदोलन की दोनों प्रवृत्तियों (हिंदू और सेकुलर) में एक बात पर मतैक्य था : भारत अविभाजित है और हमेशा से रहा है। एकात्मक इयत्ता से सम्पन्न होने के कारण उसकी आत्मपरकता स्वायत्तता और सम्प्रभुता का दावा करने योग्य है। लेकिन इसके लिए उसे औपनिवेशिक नियंत्रण से ख़ुद को मुक्त करना होगा। इतिहास के उद्यम की इस तरह शिनाख़्त करने के बाद राष्ट्रवादियों ने बीसवीं सदी के पहले दशक से ही प्राच्यवादी विद्वत्ता के आख्यानों को ख़ारिज करने की शुरुआत कर दी और अपनी परियोजना के मुताबिक नये चित्र पेश किये। उत्तर भारत में हुए 1857 के विद्रोह की घटनाओं को केंद्र बना कर 1909 में हिंदू राष्ट्रवादी विचारक विनायक दामोदर सावरकर ने *द वार ऑफ इंडिपेंडेंस*, 1857 की रचना की। प्राच्यवादियों द्वारा इस विद्रोह को म्यूटिनी (सिपाही विद्रोह या गदर) करार देने की आलोचना करते हुए सावरकर ने दावा किया कि यह एक राष्ट्रीय विद्रोह था। यह एक दिलचस्प तथ्य है कि आगे चल कर सावरकर की यह थीसिस मोटे तौर पर ऐसे लोगों ने भी जज़ब कर ली जो हिंदू राष्ट्रवाद के मुकाबले विपरीत मुकाम पर खड़े हुए थे। मसलन, 1959 में सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी ने इसी विद्रोह से संबंधित मार्क्स और एंगेल्स की रचनाओं का संकलन सम्पादित किया। विदेशी प्रकाशन गृह, मास्को द्वारा छापे गये इस संकलन का शीर्षक था : *द फ़र्स्ट वार ऑफ इंडिपेंडेंस 1857-59*।

सावरकर के इस प्रयास और ऐसे ही अन्य उद्यमों में एक ख़ास बात पढ़ी जा सकती है। राष्ट्रवादियों की कोशिश थी कि इण्डोलॉजी या भारतविद्या को महज़ एक युरोपीय उद्यम की ख़ाँचे से निकाल लाया जाए, और भारत को एक ऐसे सत्तामूलक अस्तित्व की तरह पेश किया जाए जो बहुत थोड़ा दृश्यमान होने और अधिकांशतः श्रृंखलाओं में जकड़ा रहने के बावजूद ऐतिहासिक घटनाओं और उनके अभिनेताओं का तात्पर्य-निरूपण कर सकता हो। इसी ऐतिहासिक उद्यम की भित्ति पर खड़े हो कर उपनिवेशवाद विरोधी संग्राम के नेताओं ने जनसाधारण से कुछ ऐसे लहजे में अपील की जैसे कि राष्ट्र तो पहले से मौजूद है, बस ज़रूरत उसके प्रति सचेत होने की है। 15 अगस्त, 1947 को मिली राजनीतिक आजादी के साथ ही राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन की परियोजना सफलीभूत हुई।

उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रवादी नज़रिये से इतिहास-लेखन करने की इस परियोजना ने प्रभावशाली विद्वत्ता से परिपूर्ण रचनाएँ पेश कीं। भारत से ब्रिटेन ले जायी जाने वाली सम्पत्ति (ड्रेन थियरी), ब्रिटिश मैनुफेक्चरिंग स्वार्थों द्वारा भारत का औद्योगिकीकरण, भारत के औद्योगिकीकरण की उपेक्षा जैसे प्रश्न उनके प्रिय विषय थे। प्राच्यवादियों की कई प्रवृत्तियाँ अपना लेने और कई अन्य खामियों के बावजूद मूलतः राष्ट्रवादी इतिहास भी इतिहास-लेखन के क्षेत्र में तीसरी दुनिया द्वारा अपनी नुमाइंदगी खुद करने का ही एक प्रयास था।

देखें : आनंद केंटिश कुमारस्वामी, आर्य-अवधारणा, आर्थर लेवेलिन वाशम, एडवर्ड विलियम सईद, काशी प्रसाद जायसवाल, बिपन चंद्र-1 और 2, दामोदर धर्मानंद कोसम्बी-1 और 2, प्राच्यवाद, रमेश चंद्र दत्त, रमेश चंद्र मजूमदार, रणजीत गुहा, रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर, राम शरण शर्मा, रोमिला थापर, वासुदेव शरण अग्रवाल, पांडुरंग वामन काणे, विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े-1 और 2, सखाराम गणेश देउस्कर, सामंतवाद : एक बहस।

संदर्भ

1. रोमिला थापर (1968), 'इंटरप्रिटेशंस ऑफ़ एंशिअंट हिस्ट्री', हिस्ट्री ऐंड थियरी, खण्ड 7, अंक 3.
2. एस.पी. सेन (सम्पा.) (1973), हिस्टोरियन ऐंड हिस्टोरियोग्राफी इन मॉडर्न इण्डिया, इंस्टीट्यूट ऑफ़ हिस्टोरिकल स्टडीज़, कलकत्ता.
3. पार्थ चटर्जी (1986), नैशनलिस्ट थॉट ऐंड द कोलोनियल वर्ल्ड: अ डेरिवेटिव डिस्कॉर्स?, जेड बुक्स, लंदन.

— अभय कुमार दुबे

भारतीय इतिहास-लेखन-3

स्वातंत्र्योत्तर धारा

(Indian Historiography / Post-independence-3)

आज़ादी मिलने के बाद भारत संबंधी इतिहास-लेखन ने नये दौर में प्रवेश किया। इसकी मुख्य प्रवृत्तियों पर मानवशास्त्रीय अध्ययनों का प्रभाव था। यह दौर द्वितीय विश्व युद्ध के उपरांत उपनिवेशवाद विरोधी भावनाओं के उभार का था। नव-उपनिवेशवाद के खिलाफ चिंतन भी इसी ज़माने में परवान चढ़ा। इस सब ने मिल कर जिस बौद्धिक माहौल की रचना की उसमें समाज की ज़मीनी हकीकतों पर ध्यान देने के रुझान पैदा हुए। पचास के दशक

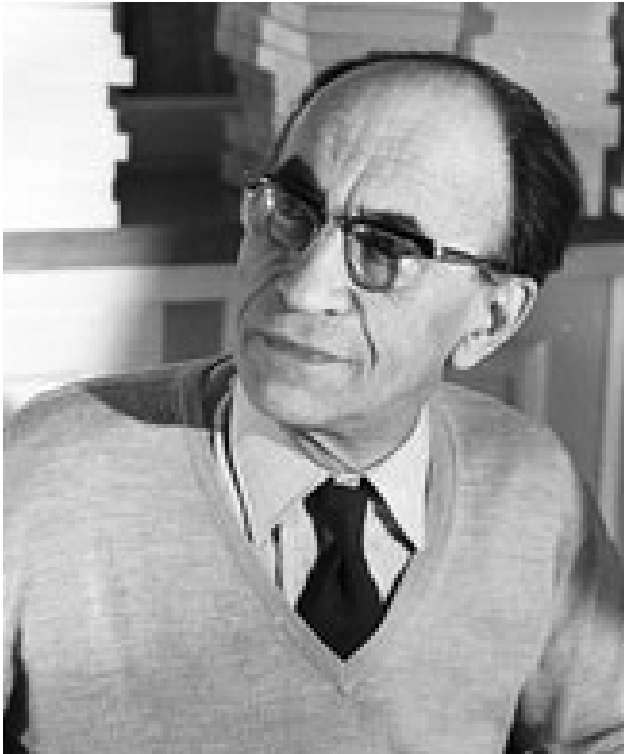
में अमेरिका में शुरू हुए दक्षिण एशिया अध्ययन कार्यक्रम ने इसे संस्थागत गति दी। फ्रांसीसी मानवशास्त्री लुई दूमों द्वारा किये गये भारतीय जाति व्यवस्था के अध्ययन *होमो हाइरारकिस* (1970) की प्रस्थापनाओं के इर्द-गिर्द जातियों और समुदायों का सामाजिक इतिहास रचा जाने लगा। सामाजिक और सांस्कृतिक मानवशास्त्रियों ने नयी ज़मीन तोड़नी शुरू कर दी।

मानवशास्त्र की दिलचस्पी ग्रंथों या भाषाओं के बजाय लोगों और संस्कृतियों के अध्ययन में थी। दूमों का तर्क था कि अगर भारत के सार का पता लगाना है तो जाति प्रथा की प्रमुख भूमिका को नज़रअंदाज़ नहीं किया जाना चाहिए। इस आग्रह के आस-पास ही सारी बहस गोलबंद हुई। यह दलील इतनी प्रभावशाली साबित हुई कि दूमों का अंग्रेज़ी अनुवाद आने के बाद जातिगत संरचनाओं को अधिसंरचनात्मक या भ्रांत चेतना मानने वाले मार्क्सवादी भी भारतीय समाज और इतिहास के विश्लेषण में जाति को उसकी अहम जगह देने के लिए मजबूर हो गये। बहुत से पहलुओं को अपने दायरे में समेट लेने वाला दूमों की प्रस्थापना उन इतिहासकारों के आरोप से बचाते हुए निरंतरता के चश्मे से देखना चाहते थे।

जातियों के अध्ययन को केंद्र में रख कर लिखे गये इतिहास की सबसे बड़ी उपलब्धि यही थी कि उसने जाति के अध्ययनों को राजनीति, राजनीतिकरण की प्रक्रिया और राजतंत्र के साथ जोड़ कर भारतीय समाज व्यवस्था की अपरिवर्तनीयता के मिथक को भंग कर दिया। जातियों की गतिशीलता और कुछ निचली जातियों की ऊर्ध्वगामिता के प्रमाण खोज लिए गये। इस उपलब्धि ने भारतीय आत्मपरकता के स्वायत्त और एकात्मक चरित्र के आग्रह को और मज़बूत किया।

पचास के दशक से लेकर सत्तर के दशक के अंत तक मानवशास्त्र और इतिहास के संश्रय से उपजी विद्वत्ता के कई श्रेष्ठ नमूने सामने आये। फ्रेड्रिख जे. बायली द्वारा रचित *क्रास्ट ऐंड द इकॉनॉमिक फ्रंटियर* (1957), एम.एन. श्रीनिवास रचित *सोशल चेंज इन मॉडर्न इण्डिया* (1966) और डेविड जी. मेंदलबाम द्वारा दो खण्डों में रचित *सोसाइटी इन इण्डिया* (1970) अगर दूमों से पहले की कृतियाँ थीं, तो दूमों के बाद रोनाल्ड बी. इण्डेन, फ्रेंक एफ. कोलोन और कैरेन आई. लियोनार्ड द्वारा किये गये बेहतरनी ऐतिहासिक अध्ययन प्रकाशित हुए।

दरअसल, इतिहास-लेखन की ये प्रवृत्तियाँ उपनिवेशवाद के पराभव के बाद बने भारत जैसे स्वतंत्र और सम्प्रभु राष्ट्र की कई ज़रूरतों को पूरा करने वाली थीं। औपनिवेशिक आधुनिकता की पुरानी परियोजना का आर्थिक विकास, विज्ञान और प्रौद्योगिकी के पैकेज के ज़रिये नवीकरण हो रहा था। आधुनिकीकरण के उद्यम को आगे बढ़ाने के लिए



लुई दूमों (1911-1998)

आवश्यक था कि पारम्परिक समाज की संरचनाओं और उसकी अंतर्निहित आस्थाओं का सामाजिक-वैज्ञानिक ज्ञान अर्जित किया जाए। इसी मकसद को ध्यान में रखते हुए अमेरिकी शैली के एरिया स्टडीज़ प्रोजेक्ट में समाज-विज्ञान के विविध आयाम बहुअनुशासनीय रूप ले कर जुड़ते चले गये। मानवशास्त्र और इतिहास-लेखन के साथ अर्थशास्त्र और वैकासिक अध्ययन भी जुड़ गये। इस नये परिवर्तन ने इतिहास के अनुशासन को पूर्व-पश्चिम की सीमाओं और ओरिएंट-ऑक्सीडेंट के खानों से निकालने का रास्ता खोला।

इन सकारात्मक पहलुओं के साथ-साथ इस इतिहास-लेखन के साथ कुछ समस्याएँ भी जुड़ी हुई थीं। साठ के दशक में उभरे आधुनिकीकरण के सिद्धांत के परिणामस्वरूप जाति आधारित संरचनाओं को 'पारम्परिक भारत' का लकड़ब मिल गया था। इस प्रक्रिया में एक दूसरे भारत को कल्पित किया जाने लगा जो आधुनिकीकरण में संलग्न था। हालाँकि इतिहास-लेखन की ये प्रवृत्तियाँ प्राच्यवादी और राष्ट्रवादी उद्यमों से काफ़ी भिन्न थीं, पर इनके भीतर भी एक प्रामाणिक भारत की खोज का आग्रह निहित था। प्रामाणिकता का यह आग्रह इतिहास के अनुशासन को एक बार फिर उसी तरह के मूलतत्त्ववादी रवैये की तरफ़ धकेलने लगा जो प्राच्यवादियों और राष्ट्रवादियों ने अपना रखा था। पुराने द्विभाजनों को लाँघने के बावजूद पारम्परिक के मुकाबले आधुनिक का एक नया द्विभाजन उभरा जिसके केंद्र में विकासवाद था।

विकासवाद ने आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को उसकी वैचारिकता भी दी और उसकी प्रौद्योगिकी भी। यह प्रौद्योगिकी समाज का आधुनिकीकरण करने में आंशिक तौर से ही कामयाब रही जिसके कारण मार्क्सवादियों को हस्तक्षेप करने का मौक़ा मिला। उन्होंने उपनिवेशवाद पर तो यह आरोप लगाया ही कि वह समाज को आधुनिक बनाने का लक्ष्य भेदने में नाकाम रहा है, इसी कसौटी पर कसते हुए उन्होंने राष्ट्रवाद को भी आड़े हाथों लिया। आलोचना के इन स्वरों ने एक नयी बहस को जन्म दिया जिसकी रोशनी में भारतीय इतिहास-लेखन के मार्क्सवादी उद्यम को देखा जा सकता है।

देखें : आनंद केंटिश कुमारस्वामी, आर्य-अवधारणा, आर्थर लेवेलिन बाशम, एडवर्ड विलियम सईद, काशी प्रसाद जायसवाल, बिपन चंद्र-1 और 2, दामोदर धर्मानंद कोसम्बी-1 और 2, प्राच्यवाद, रमेश चंद्र दत्त, रमेश चंद्र मजूमदार, रणजीत गुहा, रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर, राम शरण शर्मा, रोमिला थापर, वासुदेव शरण अग्रवाल, पांडुरंग वामन काणे, विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े-1 और 2, सखाराम गणेश देउस्कर, सामंतवाद : एक बहस।

संदर्भ

1. लुई दूमों (1970), *होमो हाइरारकस*, युनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, शिकागो.
2. एम.एन. श्रीनिवास (1966), *सोशल चेंज इन मॉडर्न इण्डिया*, युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस, बर्कले.
3. डोनाल्ड ई. ब्राउन (1988), *हाइरार्की, हिस्ट्री, एंड ह्यूमन नेचर*, युनिवर्सिटी ऑफ़ अरिज़ोना प्रेस, टस्कन.

— अभय कुमार दुबे

भारतीय इतिहास-लेखन-4

मार्क्सवादी और सबाल्टर्न धाराएँ

(Indian Historiography/Marxist and Subaltern-4)

प्राच्यवादी, राष्ट्रवादी और उत्तर-राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन का मुख्य दावा यह था कि भारत एक अविभाज्य अस्तित्व से सम्पन्न है और रहा है। ये तीनों प्रवृत्तियाँ भारत के बरक्स युरोप को भी उसी तरह अविभाज्य और एकात्मक मानती थीं। मार्क्सवादियों ने इसके खिलाफ़ तर्क दिया कि यह दृष्टि अपने पीछे वर्ग-संबंधों की हक़ीक़त छिपा लेती है। उनके मुताबिक़ जब युरोप अविभाज्य और एकात्मक नहीं है, तो भारत कैसे हो सकता है। मार्क्सवादी नज़रिये के मुताबिक़ वर्ग-संबंधों के

कारण ही भारत ऊँचे-नीचे विकास की उलझन का शिकार था जिसका समाधान न उपनिवेशवादी कर पाये और न ही आजाद भारत के हुक्मरान। इसी टेक पर सत्तर और अस्सी के दशक में मार्क्सवादी इतिहास-लेखन ने अपनी आवाज़ उठायी। इसके कुछ बाद में सामने आया वैश्विक इतिहास का परिप्रेक्ष्य भी काफ़ी-कुछ मार्क्सवादियों के तर्ज पर ही भारत को समझने की चेष्टा कर रहा था। दोनों प्रवृत्तियाँ विश्व-इतिहास में हो रहे संक्रमण के आईने में भारत को देखना चाहती थीं और दोनों का जोर राजनीतिक अर्थशास्त्र पर था। भारत की उत्पादन प्रणालियों और राजनीतिक नियंत्रण की व्याख्या करके ये इतिहासकार उसकी वह हैसियत उभारना चाहते थे जो उसे तीसरी दुनिया का सदस्य बनाती थी।

मार्क्सवादी इतिहासकारों ने इण्डोलॉजी या भारतविद्या के अनुशासन और दक्षिण एशियाई एरिया स्टडीज़ को भी आड़े हाथों लेते हुए कहा कि इन उद्यमों के फलस्वरूप रचा गया वर्गेतर इतिहास उत्पीड़ितों के इतिहास को पृष्ठभूमि में धकेल देता है और टकराव के ऊपर सहमति को प्राथमिकता देने में यकीन करता है। इस विचार के तहत जो इतिहास लिखा गया वह वर्गों का था। यह मार्क्स के भारत संबंधी लेखन से भी बहस करता था, और इसके कारण अविभाज्य भारत नामक शै की तस्वीर में भी दरारें पड़ जाती थीं। प्रभुत्व की आलोचना करने वाला, विद्रोहों और आंदोलनों का समर्थन करने वाला इतिहास लिखते हुए मार्क्सवादी दूसरे इतिहासों के पूर्वग्रहों की शिनाख्त करने लगे और अपने पूर्वग्रह को उन्होंने यथार्थ के सर्वाधिक नज़दीक बताया। प्राचीन काल से चली आ रही समरूप भारतीय सभ्यता के आग्रह के मुक्राबले इन इतिहासकारों ने विविधता, परिवर्तन और प्रतिरोध को रेखांकित किया। दामोदर धर्मानंद कोसम्बी, रोमिला थापर, डी.एन. झा और राम शरण शर्मा ने प्राचीन भारत के अपने बेमिसाल अध्ययनों से इस प्रकार के इतिहास-लेखन को काफ़ी समृद्ध किया। पूरन चंद जोशी द्वारा 1857 के विद्रोह को एक लोकप्रिय क्रांतिकारी आंदोलन के रूप में पेश करने का उद्यम किया गया। ए.आर. देसाई और डी.एन. धनगरे किसान संघर्षों को प्रमुखता देने वाली रचनाएँ लेकर सामने आये। इरफ़ान हबीब ने मुगलकालीन भारत की खेतिहर प्रणाली का इतिहास लिखते हुए तर्क दिया कि स्थानीय स्तर पर होने वाले विद्रोहों के कारण अट्टारहवीं सदी में मुगल साम्राज्य लकवाग्रस्त हो गया था।

चूँकि यह जाँच-पड़ताल उत्पादन की विधियों में होने वाले बदलावों को केंद्र बना कर की जा रही थी, इसलिए सारे ऐतिहासिक आख्यान पूँजीवाद की तरफ बढ़ने वाले क्रदमों के संदर्भ में तैयार किये जाते थे। ये आख्यान अधिकतर इसी नतीजे पर पहुँचते थे कि पूँजीवादी आधुनिकीकरण की प्रक्रिया बीच में ही गड़बड़ा गयी है। इसी विचार के तहत

मार्क्सवादियों ने बंगाल के नवजागरण को आधुनिकीकरण की सफल कोशिश के रूप में देखने से इनकार कर दिया। सुमित सरकार (राममोहन राय ऐंड ब्रेक विद द पास्ट), वरुण डे (द कोलोनियल कंटेक्ट ऑफ़ द बंगाल रिनेसाँ) और अशोक सेन (सोसाइटी ऐंड द बिगिनिंग्स ऑफ़ द मॉडर्नाइज़ेशन) की रचनाएँ यह कहती हुई नज़र आयीं कि देशज ज़मीन पर जो बुद्धिवाद विकसित हो रहा था, वह पश्चिमी संसर्ग के कारण परम्परानिष्ठता में पतित हो गया। अगर कोई आधुनिकता थी भी, तो वह औपनिवेशिक आधुनिकता ही थी जिसे नाकाम होना ही था। बंगाल के नवजागरण की यह मार्क्सवादी व्याख्या एक बार फिर भारत के तीसरी दुनियापने को ही प्रमाणित करती नज़र आ रही थी।

वैश्विक इतिहास के दृष्टिकोण से सम्पन्न इतिहासकारों ने अट्टारहवीं सदी पर ध्यान केंद्रित करके भारत को उन तटीय इलाकों के देश के रूप में पेश किया जो बाहर की तरफ देख रहे थे। इन तटों के पीछे सामाजिक-राजनीतिक हितों, तिजारीतों और खेतिहर भारत का सघन संसार था जो तटीय इलाकों के साथ कटता-जुड़ता तो रहता था, पर हितों और परिप्रेक्ष्यों की अनेकता किसी भी तरह से एकजुट भारत की तस्वीर पेश नहीं होने देती थी। इसी सदी के उत्तर भारतीय समाज का सी.ए. बायली द्वारा लिखा गया इतिहास इस शैली की सर्वश्रेष्ठ और अत्यंत समृद्ध रचना मानी जाती है। बायली का विवरण बताता है कि अंग्रेज़ प्रौद्योगिकीय श्रेष्ठता के कारण नहीं जीते। आर्थिक संगठन और प्रौद्योगिकी के लिहाज़ से भारत और अंग्रेज़ों के बीच कोई विशेष ऊँच-नीच नहीं थी, पर कुछ खास तरह की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों ने ब्रिटिश साम्राज्य को सम्भव बनाया। बायली का ब्योरा बताता है कि किस तरह उत्तर भारतीय समाज ने अपने कुछ विशिष्ट रूझानों के तहत ईस्ट इण्डिया कम्पनी के साथ अन्योन्यक्रिया की जिसका नतीजा न केवल अंग्रेज़ों के राज्य की स्थापना में निकला, बल्कि उन्नीसवीं सदी के मध्य तक आते-आते एक क्लासिकल क्रिस्म का औपनिवेशिक संबंध तैयार हो गया जिसे एक आधुनिक राष्ट्र के उदय की ऐतिहासिक पूर्वपीठिका के रूप में देखा जा सकता है। जाहिर है कि बायली का वृत्तांत जिस भारतीय राष्ट्र का उदय दिखा रहा था वह पहले से मौजूद न हो कर इतिहास की कृति था। बाद में कई मार्क्सवादी इतिहासकारों की रचनाओं ने भी बायली के इस दावे की पुष्टि की।

सबाल्टर्न धारा : प्राच्यवादी, राष्ट्रवादी, उत्तर-राष्ट्रवादी और मार्क्सवादी इतिहास-लेखन में परस्पर भिन्नताएँ होते हुए भी एक बात समान थी कि ये सभी इतिहास किसी न किसी अस्मिता की बुनियाद पर खड़े थे। प्राच्यवादी सभ्यतामूलक अस्मिता की गिरफ्त में थे। राष्ट्रवादी इतिहासकार समकालीन राष्ट्रवादी विचारधारा के आईने से

बाहर देखने के लिए तैयार नहीं हो सकते थे। उत्तर-राष्ट्रवादियों ने मानवशास्त्र के साथ गठजोड़ करके खुद को जातिगत और सामुदायिक इतिहास और आधुनिकीकरण के लक्ष्य तक सीमित कर लिया था। मार्क्सवादियों का प्रत्येक आख्यान पूँजीवाद के विकास को प्रमाणित या अप्रमाणित करने के मकसद से तैयार किया जाता था। इन अस्मिताओं से बँध कर इतिहास-लेखन की ये प्रवृत्तियाँ एक सीमा तक ही विविधतामूलक हो सकती थीं। इन तमाम इतिहासों के पास एक औपनिवेशिक, राष्ट्रवादी या मार्क्सवादी प्रयोजनमूलकता थी जिसके आधार पर गढ़ी गयी श्रेणियों से परे जाना इनके बस की बात नहीं थी। अपनी आधारभूत अस्मिताओं में निहित विकल्प की सम्भावनाओं का संधान करना उनके एजेंडे पर नहीं था। एक आधुनिक पूँजीवादी-औपनिवेशिक राष्ट्र के उदय का वास्तविक इतिहास लिखने के लिए इस बुनियादपरस्ती को अस्थिर करके इन सभी श्रेणियों के परे जाने वाली ऐतिहासिक दृष्टि की रचना ज़रूरी थी। 1978 में प्रकाशित एडवर्ड विलियम सर्ईद की कृति *ओरिएंटलिज़म* ने इस नयी दृष्टि के लिए रास्ता साफ़ किया। अस्सी के दशक में एक नया पद प्रचलित हुआ जिसे एंटोनियो ग्राम्शी के तर्ज पर सबाल्टर्न या निम्नवर्गीय इतिहास कहा गया।

तीसरी दुनिया के इतिहास-लेखन की विधा में अन्यतम समझे जाने वाले इस योगदान का श्रेय कुछ ऐसे समाजवैज्ञानिकों को जाता है जिन्होंने अपनी यात्रा मार्क्सवाद से शुरू की थी। भारत, ब्रिटेन और ऑस्ट्रेलिया के बीच बिखरे हुए इन असंतुष्ट मार्क्सवादियों ने सबाल्टर्न स्टडीज़ के रूप में अपनी कृतियों की श्रृंखला प्रकाशित करनी शुरू की। ये इतिहासकार अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ होने वाले सभी विद्रोहों को राष्ट्रीय चेतना की मंजिल की तरफ़ ले जाने वाला मानने के लिए तैयार नहीं थे। न ही उन्हें हर ऐतिहासिक आख्यान में वर्ग चेतना की सम्पूर्णता उपलब्ध होती हुई दिखाई पड़ती थी। उन्होंने वर्ग की जगह अपना रवैया सबाल्टर्नीयता की अवधारणा के इर्द-गिर्द बना। सबाल्टर्नीयता के माध्यम से उन्होंने भाषाई, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक मुकामों पर सत्ता संबंधों की जाँच-पड़ताल की। इतिहास-लेखन की इस शैली का परिणाम यह हुआ कि सभ्यता, राष्ट्र, व्यक्ति, समुदाय और वर्ग की पूर्व-स्थापित श्रेणियाँ गड़बड़ा गयीं। सबाल्टर्न सीरीज़ के सम्पादक रणजीत गुहा ने 1983 में प्रकाशित *एलीमेंटरी आस्पेक्ट्स ऑफ़ पीजेंट इंसर्जेंसी इन कोलोनियल इण्डिया* में इन नयी विधा का बेहतरीन प्रतिपादन किया। रणजीत गुहा ने निम्नवर्ग के इतिहास को औपनिवेशिक, राष्ट्रवादी या अन्य अभिजनों की छाया से निकाल कर उसे अपने क्रिस्म की राजनीतिक चेतना से सम्पन्न करार दिया। रणजीत गुहा इस थियरी के आदिगुरु की हैसियत प्राप्त कर चुके हैं। पार्थ चटर्जी, ज्ञानेंद्र पांडेय, शाहिद अमीन,

दीपेश चक्रवर्ती, गौतम भद्र, अजय सरकारिया और शैल मायाराम जैसे प्रमुख हस्ताक्षरों के रूप में इस परियोजना में भारतीय इतिहासकारों की भागीदारी विशेष तौर से उल्लेखनीय है।

चूँकि सबाल्टर्न प्रोजेक्ट में अस्मिताएँ विभेदीकरण पर निर्भर थीं, इसलिए स्वायत्त और सम्प्रभु आत्मपरकता का विखण्डन उसके लिए ज़रूरी था। ज़ाहिर है इस बौद्धिक परियोजना ने फ्रांसीसी और सोवियत संरचनावाद से प्रभाव ग्रहण किया। अमेरिका में उत्तर-संरचनावाद के उभार ने इतिहास-लेखन की सबाल्टर्न पद्धति को विश्वस्तर पर मान्यता दिलायी। सबाल्टर्न स्टडीज़ ने हर मुकाम पर एक भिन्नता उपलब्ध की। उसने औपनिवेशिक प्रभुत्व के ख़िलाफ़ होने वाले संघर्षों का आख्यान इस तर्ज पर रचा कि राष्ट्रवादी अस्मिता के नीचे दब जाने वाले विभेद उभर आये और सत्ता संबंध स्पष्ट हो गये। अपराधी कही जाने वाली जनजातियों के इतिहास में उतरते हुए उन्होंने बताया कि उन्हें जरायमपेशा घोषित करने के पीछे असली कारण क्या थे। सती की परिघटना से संबंधित शोध के दौरान उन्होंने दिखाया कि समाज सुधार मुहिमों की प्रक्रिया में किस तरह जेंडरीकृत विचारों का सूत्रीकरण हुआ जिनका इस्तेमाल अंग्रेज़ हुक्मरानों और सती को प्रश्नांकित करने वाले समाज सुधारकों द्वारा किया गया।

अतीत की जिन घटनाओं पर स्वीकारात्मक मुहर लग चुकी थी, उन्हें इस इतिहास ने फिर से कुरेदा। सबाल्टर्न के पैरोकारों ने दिखाया कि भारत बनाम ब्रिटेन, अपराध बनाम क्रानून-व्यवस्था, परम्परा बनाम आधुनिक, सेकुलर बनाम धार्मिक, वर्गचेतना बनाम सामुदायिक चेतना, भौतिकवाद बनाम अध्यात्मवाद, प्रतिक्रियावादी बनाम प्रगतिशील, स्त्री की अधीनस्थता बनाम स्त्री की मुक्ति के द्विभाजनों को स्थापित करने की प्रक्रिया में इतिहास-लेखन क्या-क्या छिपा ले गया और कौन-कौन से पहलुओं पर कम जोर दिया गया।

दिलचस्प बात यह है कि सबाल्टर्न में अंतर्निहित अवधारणा एक जगह नहीं रुकी। उसका लगातार विकास होता रहा। उसने शुरुआत मार्क्सवाद और उत्तर-संरचनावाद के संश्रय से की थी। गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक के ज़रिये उसके साथ उसके साथ नारीवाद भी जुड़ा। रणजीत गुहा और स्पिवाक ने मिल कर सबाल्टर्न सीरीज़ की एक कड़ी सम्पादित की जिसमें फ़ूको के विचारों के साथ उनका ताल्लुक स्पष्ट रूप से सामने आता है। कुल मिला कर सबाल्टर्न पद्धति इतिहास-लेखन के बेहद नफ़ीस सिद्धांत के रूप में विकसित हो चुकी है।

देखें : आनंद केंटिश कुमारस्वामी, आर्य-अवधारणा, आर्थर लेवेलिन

बाशम, एडवर्ड विलियम सईद, काशी प्रसाद जायसवाल, बिपन चंद्र-1 और 2, दामोदर धर्मानंद कोसम्बी-1 और 2, प्राच्यवाद, रमेश चंद्र दत्त, रमेश चंद्र मजूमदार, रणजीत गुहा, रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर, राम शरण शर्मा, रोमिला थापर, वासुदेव शरण अग्रवाल, पांडुरंग वामन काणे, विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े-1 और 2, सखाराम गणेश देउस्कर, सामंतवाद : एक बहस।

संदर्भ

1. डी.डी. कोसम्बी (1965), *कल्चर ऐंड सिविलाइजेशन ऑफ़ एशिएंट इण्डिया इन हिस्टोरिकल आउटलाइन*, रॉटलेज ऐंड कोगन पाल, लंदन.
2. इरफ़ान हबीब (1962), *द एग्रेरियन सिस्टम ऑफ़ मुग़ल इण्डिया*, एशिया पब्लिशिंग हाउस, लंदन.
3. वी.सी. जोशी (सम्पा.) (1975), *राममोहन राय ऐंड द प्रोसेस ऑफ़ मॉडर्नाइजेशन इन इण्डिया*, विकास, नयी दिल्ली.
3. ज्ञान प्रकाश (1990), 'राइटिंग पोस्ट-ओरिएंटलिस्ट हिस्ट्रीज़ ऑफ़ थर्ड वर्ल्ड : पर्सपेक्टिव फ़्रॉम हिस्टोरियोग्राफी', *कम्परेटिव स्टडीज़ इन सोसाइटी ऐंड हिस्ट्री*, खण्ड 32, अंक 2.
4. रणजीत गुहा (1983), *एलीमेंटरी आस्पेक्ट्स ऑफ़ पीजेंट इंसर्जेंसी इन कोलोनियल इण्डिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
5. गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक (1988), 'कैन सबाल्टर्न स्पीक?', कैरी नेल्सन और लैरी ग़्रोसबर्ग (सम्पा.), *माक्सिज़म ऐंड इंटरप्रिटेशन ऑफ़ कल्चर*, युनिवर्सिटी ऑफ़ इलिनॉय प्रेस, अरबाना ऐंड शिकागो.
6. रणजीत गुहा (सम्पा.) (182-85), *सबाल्टर्न स्टडीज़*, खण्ड 1-5, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

— अभय कुमार दुबे

भारतीय इस्लाम

(Indian Islam)

भारतीय इस्लाम की अवधारणा दो विरोधाभासी प्रवृत्तियाँ उजागर करती है। पहली है भारत को केंद्र में रख कर इस्लाम को देखना, और दूसरी है इस्लाम की पृष्ठभूमि में भारत के मायने तलाशना। इन दो विरोधाभासी रुझानों ने ही भारतीय इस्लाम को अकादमिक और राजनीतिक विमर्श के तौर पर स्थापित किया है। पहली प्रवृत्ति इस्लाम की सार्वभौमिकता को विशिष्ट संदर्भ में समेटते हुए उसे एक सांस्कृतिक आधार देती है। इससे इस्लाम का एक खास भारतीय चेहरा प्रकट होता है जो इस्लाम के अन्य भौगोलिक सांस्कृतिक चेहरों के साथ मिलकर ग्लोबल इस्लाम की रंगीन तस्वीर पेश करता है। इसके बरक्स दूसरी प्रवृत्ति के तहत ऐसा लगता है कि मानो इस्लाम की

सार्वभौमिकता संदर्भ और काल जैसी श्रेणियों से कहीं ऊपर उठ कर एक ऐसे क्षेत्र का निर्माण कर रही हो जिसमें 'भारत' नाम का तत्त्व पूरी तरह विलीन हो गया है। यह प्रवृत्ति बताती है कि दरअसल इस्लाम एक ऐसी सम्पूर्णता है जिसमें संस्कृति, जाति और वर्ग जैसी विभिन्नताएँ संदर्भों से विमुक्त होकर पूरी तरह समा जाती हैं।

एक पद के रूप में भारतीय इस्लाम का उदय उपनिवेशवाद के ज़माने में हुआ था। इसका सीधा कारण यह था कि ब्रिटिश औपनिवेशिक विमर्श के लिए 'इस्लाम' और 'भारत' दो बिल्कुल विपरीत चीज़ें थीं। ब्रिटिश और अगर व्यापक तौर पर कहें तो युरोपीय औपनिवेशिक ताकतों इस्लाम से सीधे तौर पर परिचित थीं। उनके लिए इस्लाम एक राजनीतिक चुनौती रह चुका था और उनके अपने उदीयमान आधुनिक विमर्श में इस्लाम और ईसाइयत संगठित राजनीतिक श्रेणियाँ थी। इसके बिल्कुल विपरीत भारत एक ऐसी विचित्र राजनीतिक इकाई था जहाँ धर्म और राजनीति का न तो मध्यकालीन युरोपीय मॉडल लागू हो सकता था और न ही ख़लीफ़ा शासित ऑटोमन साम्राज्य का मॉडल। यहाँ धर्म और राजनीति आपस में मिले होकर भी सामाजिक संरचनाओं, विशेषकर जाति संरचनाओं, से संचालित होते थे। ऐसे में इस्लाम के अनुयायियों और मुसलमान शासकों के बीच एक खास अंतर था। यह उतना ही बड़ा अंतर था जितना ग़ैर-मुसलमान जातियों और मुसलमान शासकों के बीच। सुदीप्त कविराज के शब्दों में कहें तो 'भारत' नाम के तत्त्व का निर्माण औपनिवेशिक विमर्श ने कुछ इस प्रकार किया कि समुदाय-रचना के सिद्धांत बिल्कुल बदल गये। कविराज बताते हैं कि प्राक्-औपनिवेशिक संदर्भ में समुदायों की बनावट और समुदाय की अपनी छवि दो तरह से अस्पष्ट थी। पहला, जाति, गाँव और धर्म की जटिल पहचानों के बीच सीधी अवधारणात्मक रेखाएँ नहीं थीं। ऐसे में व्यक्ति की पहचान इन सब पहचानों का एक ऐसा समुच्चय था जिसे तोड़ कर नहीं देखा जा सकता था। दूसरे, उस समय तक समुदायों की गणना नहीं हुई थी। ऐसे में किस समुदाय के कितने सदस्य हैं, या कौन सा समुदाय बहुसंख्यक है या अल्पसंख्यक, तय नहीं हुआ था। परिणामस्वरूप समुदायों के बीच के रिश्ते व्यावहारिक थे और आपसी समझ और विवादों का क्षेत्र भी अत्यंत सीमित था। लेकिन ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने इन संरचनाओं को नयी श्रेणियों में विभाजित कर दिया। समुदायों की धर्म और जाति के आधार पर गिनती ने उन्हें तयशुदा और बंद पहचानें दीं और इस तरह भारतीय मुसलमान नामक श्रेणी का जन्म हुआ। साथ ही यह भी पता लगा कि दरअसल भारतीय मुसलमान इस देश के अल्पसंख्यक हैं। मुसलमानों का भारत में आना, उनके द्वारा स्थापित शासन पद्धतियाँ, उनके मज़हब, रीति-रिवाज़ और उनके भारत के बाहर मौजूद इस्लामिक विमर्श से भारतीय

समाज का संबंध एक राजनीतिक प्रश्न बन गया। भारतीय इस्लाम का अकादमिक विमर्श भी इन्हीं प्रश्नों से जुड़ा रहा है। दिलचस्प यह है कि इस सतत प्रयास ने जिस साहित्य की रचना की है वह अत्यंत रोचक ही नहीं है, बल्कि ग्लोबल इस्लाम के विमर्श को एक नयी दिशा भी देता है।

यदि औपनिवेशिक भारत पर नज़र डाले तो अमीर अली की कुछ महत्वपूर्ण कृतियाँ नज़र आती हैं जिनका मूल उद्देश्य ब्रिटिश सरकार और अंग्रेज़ अभिजन को इस्लाम के मूल सिद्धान्तों से परिचित कराना है। इन पुस्तकों में 1847 की *अ शॉर्ट हिस्ट्री ऑफ़ कारसेंस* और 1890 की *द लाइफ़ ऑफ़ मुहम्मद* उल्लेखनीय है। ये पुस्तकें भारतीय इस्लाम को इस्लाम के व्यापक इतिहास में रख कर देखती हैं। यही कारण है कि भारत में मुसलमान शासन का हवाला इन कृतियों में यदा-कदा ही मिलता है।

यही प्रवृत्ति आगे चलकर मुहम्मद इक़बाल के लेखन में भी मिलती है। हालाँकि इक़बाल की शायरी में भारत एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है, परन्तु 1930 में प्रकाशित उनकी दार्शनिक कृति *रिकंस्ट्रक्शन ऑफ़ रिलीजस थॉट इन इस्लाम* एक ऐसी धार्मिक संस्कृति का तर्क स्थापित करती है जिसकी रोशनी में तमाम मुसलमान को एक इकाई में बदलते दिखते हैं।

मौलाना अबुल क़लाम आज़ाद और व्यापक तौर पर कहें तो जमीयत उलेमा-ए-हिन्द ने इस प्रवृत्ति को एक दूसरी दिशा दी है। आज़ाद के लेखन में भी इस्लाम की व्यापकता और राष्ट्रवाद के बीच एक वैचारिक साम्य बैठाने की कोशिश दिखती है। लेकिन राष्ट्रवाद किसी भी तरह भारतीय सामाजिक संरचनाओं में मौजूद इस्लामी प्रभावों पर आधारित नहीं हैं। बल्कि इस तरह के लेखन में यह बताया गया है कि दरअसल इस्लाम की व्यापकता में राष्ट्रवाद या यूँ कहें कि भारतीय राष्ट्रवाद के लिए एक जगह मौजूद है। मुसलमान और भारत के बीच एक साम्य हो सकता है जिसे आज़ाद की विचारधारा 'दारुल-सुलह' का नाम देती है।

भारतीय इस्लाम पर विशुद्ध अकादमिक विमर्श की शुरुआत चालीस और पचास के दशकों से होती है। डब्ल्यू.सी. स्मिथ की कृतियाँ नये सिरे से इस्लामी बहुलताओं और मुसलमान राजनीति को देखने की कोशिश करती हैं। 1957 में प्रकाशित स्मिथ की पुस्तक *इस्लाम इन मॉडर्न हिस्ट्री* में भारतीय इस्लाम की विविधताओं और विशेषताओं का विस्तृत विश्लेषण किया गया है। इसी बहुलता का एक सटीक चित्र अज़ीज़ अहमद के लेखन में मिलता है। अज़ीज़ अहमद की दो पुस्तकें *स्टडीज़ इन इस्लामिक कल्चर इन एनवायरनमेंट* (1964) और *इस्लामिक मॉडर्निज़म इन इण्डिया एंड पाकिस्तान* (1967) दक्षिण एशियाई भारतीय इस्लाम का ऐतिहासिक विश्लेषण करती हैं।

इस्लामिक बहुलता का समाजशास्त्रीय अध्ययन 1960 के अंतिम वर्षों में प्रारम्भ हुआ। इम्तियाज़ अहमद, त्रिलोकी नाथ मदन एवं पॉल ब्रास ने भारतीय इस्लाम की बहस को एक नयी दिशा दी। इम्तियाज़ अहमद ने चार खण्डों के एक ऐसे ग्रंथ का सम्पादन किया जिसने मुसलमानों और इस्लाम के विविध स्वरूपों और मुसलमानों के रीति-रिवाज़ों और सामाजिक प्रक्रियाओं का ज़मीनी विश्लेषण पेश किया। ब्रास के काम ने यह साबित किया कि किस प्रकार उर्दू का विमर्श मुसलमान राजनीति का प्रतीकात्मक चिह्न बन गया। मदन ने कश्मीरी इस्लाम की पेचीदगियों की एक समाजशास्त्रीय व्याख्या प्रस्तुत की। इन सभी विश्लेषणों ने एक परिपेक्ष्य का निर्माण किया जिसे आत्मसातीकरण की थीसिस कहा जा सकता है।

सत्तर के दशक में इस थीसिस के बरक्स एक नये अकादमीय दृष्टिकोण की शुरुआत हुई। फ्रांसिस रॉबिंसन ने आधुनिक मुसलमान इतिहास का पुनरावलोकन करते हुए बताया कि मुसलमान समुदायों में इस्लाम के प्रति रुझान उनकी राजनीतिक पहचान को निर्धारित करता है। ऐसे में आत्मसातीकरण की थीसिस में निहित बहुलता मुसलमान पृथकतावाद की सही व्याख्या नहीं करती। रॉबिंसन की इसी परम्परा को फ़रज़ाना शेख़ ने आगे बढ़ाया। शेख़ की पुस्तक *कम्युनिटी ऐंड कम्पन इन इस्लाम : मुसलमान रिप्रजेंटेशन इन कोलोनियल इण्डिया* (1989) मुसलमान प्रतिनिधित्व की पूरी बहस इस्लाम को एक राजनीतिक समुदाय के तौर पर स्थापित करती है। रॉबिंसन और शेख़ के आलोचनात्मक ऐतिहासिक विश्लेषणों ने भारतीय इस्लाम को जिस परिप्रेक्ष्य से प्रस्तुत किया उसे प्राइमोर्डियल पर्सपेक्टिव या मूलात्मक थीसिस कहा जा सकता है।

भारतीय इस्लाम के इन दो परिप्रेक्ष्यों के बीच एक नये मध्यमार्गी विमर्श का जन्म हो रहा है। इसमें इतिहासकार रिचर्ड ईटन, शैल मायाराम और योगिंदर सिकंद के नाम उल्लेखनीय हैं। ईटन ने मध्यकालीन इस्लाम का विश्लेषण करते हुए बताया कि दरअसल भारतीय इस्लाम की पहचान परस्पर विपरीत चलने वाली प्रक्रियाओं से तय होती है। एक प्रक्रिया मुसलमान समुदायों को इस्लाम के केंद्रों से जोड़ कर स्थानीय सांस्कृतिक समुदायों का इस्लामीकरण करती है, वहीं दूसरी प्रक्रिया इस्लामी सिद्धांतों को स्थानीय संस्कृतियों की नज़र से परिमार्जित करके उनका स्थानीयकरण करती है। इस तरह मुसलमान 'स्थानीय' होकर भी इस्लामिक होते हैं, वहीं इस्लाम व्यापक होकर भी मुसलमान स्त्रियों, मुसलमान दलितों और ऐसी जातियों, जिनको इस्लाम और हिंदू धर्म जैसी श्रेणियों में नहीं बाँटा जा सकता, का अध्ययन करके भारतीय इस्लाम के विमर्श की जटिलता को दर्शाता है।

पिछले डेढ़ दशक से दलित-मुसलमान/पसमंदा मुसलमान परिप्रेक्ष्य को भी इसी श्रेणी में रखा जाना चाहिए, जिसने भारतीय इस्लाम की विशिष्ट जातिगतसंरचनाओं को राजनीतिक विमर्श का आधार बनाया है। संक्षेप में कहें तो भारतीय इस्लाम एक ऐसे गतिमान विमर्श का नाम है जिस की गति पेंडुलम की तरह है। इस पेंडुलम के एक सिरे पर इस्लाम के सिद्धांत हैं, इस्लाम के केंद्र हैं और इस्लाम की एकरूपता है, वहीं दूसरे सिरे पर मुसलमान संस्कृतियाँ, विविधताएँ और स्थानीयताएँ हैं।

देखें : अल-किंदी, अल-गजाली, अबू-अला मौदूदी, इब्न खालदून, इब्न-रश्द, प्रारम्भिक इस्लाम, जिहाद, दलित-पसमंदा मुसलमान, प्रारंभिक इस्लाम, फलसिफ़ा और कलाम, मसजिद, हज़रत मुहम्मद-1 और 2, मुहम्मद अली जिन्ना, मुहम्मद इक्रबाल, सैयद अहमद खाँ।

संदर्भ

1. विलफ्रेड कैंटवेल स्मिथ (1961), *मॉडर्न मुसलमान हिस्टोरिकल राइटिंग्स इन इंग्लिश*, सी.एच. फ़िलिप्स (सम्पा.), *हिस्टोरियंस ऑफ़ इण्डिया, पाकिस्तान एंड सीलोन*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, लंदन.
2. अज़ीज़ अहमद (1964), *स्टडीज़ इन इस्लामिक कल्चर इन एनवायरनमेंट*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.
3. इम्तियाज़ अहमद (सम्पा.) (1983), *मॉडर्नइज़ेशन एंड सोशल चेंज एमंग मुस्लिम्स इन इण्डिया*, मनोहर, नयी दिल्ली.
4. योगिंदर सिक्ंद (2004), *मुस्लिम्स सिंस 1947 : इस्लामिक पर्सपेक्टिवज़ ऑन इंटर-फ़ेथ रिलेशंस*, रॉटलेज क्रॉज़न, लंदन और न्यूयॉर्क.

— हिलाल अहमद

भारतीय उदारतावाद

(Indian Liberalism)

क्या उदारतावाद की कोई भारतीय क्रिस्म भी है? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर पाने के लिए समाज-विज्ञान की दुनिया लम्बे अरसे से बहस करती रही है। इस विवाद के तीन आयाम हैं : पहला, भारत में उदारतावाद सम्भव ही नहीं है क्योंकि इस यहाँ की परम्परा और संस्कृति के लिए यह एक विजातीय विचार है। दूसरा, भारत में उदारतावाद तो है, पर वह शुरू से ही विकलांगता का शिकार रहा है इसीलिए उदारतावादी लोकतंत्र और उसकी संस्थाएँ हमेशा संकट का शिकार रहती हैं। तीसरा, भारतीय लोकतंत्र, राजनीति और समाज ने उदारतावाद को न केवल सहज रूप से अपनाया है,

बल्कि बेहतरीन क्रिस्म के नवाचार करते हुए अपनी परिस्थितियों में उसका एक ऐसा अनुवाद कर दिखाया है जिसे भारतीय उदारतावाद की संज्ञा दी जा सकती है।

पहले दोनों आयामों के तर्क थोड़े-बहुत फ़र्क के साथ तक्ररीबन एक जैसे हैं। इनके अनुसार भारत में उदारतावाद उपयोगितावाद के ज़रिये आया और उसे एक ऐसी अजनबी संस्कृति के खाँचे में फिट किया गया जिसमें व्यक्ति और उसकी स्वायत्तता के विकास के लिए कोई जगह नहीं थी। अगर प्राकृतिक अधिकारों का विचार आधुनिक उदारतावाद के मर्म में है, तो भारतीय राष्ट्रवाद में इसकी अभिव्यक्ति बेहद कमज़ोर है। कांग्रेस का राष्ट्रवाद बीस के दशक से लेकर चालीस के दशक तक जिस तरह की बहसों में फँसा रहा, उनके लिए उदारतावादी प्रतिबद्धताओं की कोई प्रासंगिकता नहीं थी। स्वतंत्रता इस राष्ट्र के लिए व्यक्तिगत अधिकार की तरह न होकर आत्म-निर्णय के सामूहिक अधिकार की तरह सामने आती है। अधिकारों के विमर्श के केंद्र में व्यक्ति न हो कर सामूहिकता और धार्मिक आधारों पर गठित समुदाय हैं। भारत में उदारतावाद की ग़ैर-मौजूदगी या उसकी नैसर्गिक कमज़ोरी को रेखांकित करने वाला यह तर्क समकालीन भारत में होने वाले राजनीतिक संघर्षों, राजनीति करने की भद्दी शैलियों और पश्चिमी लोकतंत्रों की कसौटियों पर खरे न उतर पाने के उदाहरण देता है।

इसके विपरीत भारतीय उदारतावाद के पैरोकार तर्क देते हैं कि इस लोकतंत्र के समकालीन संकट उदारतावाद के लिहाज़ से उसकी कामयाबी की ही देन हैं। उनका दावा है कि भारतीय उदारतावाद का इतिहास उन्नीसवीं सदी की शुरुआत से ही राममोहन राय की गतिविधियों के साथ शुरू हुआ। फिर स्वामी विवेकानंद के ज़रिये हिंदुओं के धार्मिक जीवन में सामाजिक न्याय का परिप्रेक्ष्य जुड़ने से इस दृष्टिकोण को नया आयाम प्राप्त होता है। इसके बाद उदारतावाद के राजनीतिक संस्करण का सफ़र दादाभाई नौरोजी, सुरेंद्रनाथ बनर्जी, फ़ीरोज़शाह मेहता, रानाडे, गोपाल गणेश आगरकर और गोखले से होता हुआ गाँधी तक पहुँचा। बंगाल में भद्रलोक, मद्रास में ब्राह्मण और बाम्बे प्रेसीडेंसी में ब्राह्मणों और प्रभुओं के रूप में इन हस्तियों के नेतृत्व में वह पढ़ा-लिखा सामाजिक वर्ग उभरा जिसकी विचारधारा उदारतावाद थी। पारम्परिक अभिजन और ऊँची जातियों से बने इस वर्ग भारतीय समाज और औपनिवेशिक राज्य की उदार आलोचना करते हुए समाज और राज्य-व्यवस्था के रूपांतरण का ब्लूप्रिंट पेश किया।

यह सही है कि कांग्रेस ने ब्रिटिश उपनिवेशवाद के खिलाफ़ संस्थागत प्रतिरोध के बजाय जन-प्रतिरोध की रणनीति अपनायी, लेकिन इसे उदारतावादी रुझानों के खिलाफ़ नहीं समझा जाना चाहिए। उदारतावाद दृष्टि रखने

वाले और उदारतावादी राज्य की स्थापना के इच्छुक नेताओं को कई बार अवैध शासन के खिलाफ हिंसक प्रतिरोध तक आयोजित करने पड़े हैं। अमेरिकी स्वतंत्रता संग्राम और फ्रांसीसी क्रांति के उदाहरण इसके सबूत हैं। यह भी सही है कि भारत में उदारतावाद का आगमन विचारधारात्मक शिक्षा की मानक प्रक्रियाओं के तहत नहीं हुआ, पर यह अंग्रेजों द्वारा बनायी गयी संस्थाओं और शासन की प्रौद्योगिकियों के साथ जुड़े हुए आचरणों में निहित द्वंद्वत्मकता से उद्भूत हुआ। अंग्रेजों ने अपनी सुविधाओं के लिए जो कुछ किया (रेलवे, डाक-तार और आधुनिक शिक्षा आदि), वह समय के साथ उपनिवेशवाद विरोधी चेतना की संरचना में सहायक होता चला गया। इसी तरह उपयोगितावाद में निहित सामूहिकता के प्रति आग्रहों ने भी उदारतावाद के लिए ज़मीन तैयार की। इस सामूहिकतावाद ने भारतीय परम्परा द्वारा स्थापित विषमतामूलक सामूहिकता को अस्थिर किया। उसने सुख और खुशहाली पर बल दिया और कष्टभोगी रवैये को श्रेयस्कर मानने के नज़रिये का खण्डन किया। सामाजिक दर्जे या किसी तत्त्वमीमांसक आग्रह के तहत कामनाओं का दमन करने की प्रवृत्तियों को भी उपयोगितावाद के कारण चुनौती मिली।

जहाँ तक अधिकारों के विमर्श का सवाल है, भारतीय संविधान में दर्ज मूलाधिकारों वाले हिस्से में नागरिक स्वतंत्रताएँ न केवल व्यक्ति के स्तर पर ही प्रदान की गयी हैं, बल्कि वह इन मूल्यों के प्रश्न पर कोई समझौता करने के लिए तैयार नहीं है। उदारतावादी न्याय की संकल्पना संविधान प्रदत्त आरक्षण के प्रावधानों में देखी जा सकती है। यह कार्यक्रम भारतीय समाज रचना में अंतर्निहित मूलभूत विषमताओं को दुरुस्त करने के लिए संस्थागत रूप से तैयार किया गया है। अगर संविधान केवल वोट और समानता का अधिकार देता, तो एक सार्थक और प्रभावी राजनीतिक-सामाजिक समानता की तरफ़ क्रम नहीं बढ़ाये जा सकते थे। इन उपायों को अनुसूचित जातियों, जनजातियों और पिछड़े वर्गों को भविष्य में अवसरों की समानता उपलब्ध करने के उदारतावादी क्रम के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।

इसी तरह से भारतीय उदारतावाद के पैरोकार आत्म-निर्णय के सामूहिक अधिकार और स्वतंत्रता के व्यक्तिगत अधिकार को भी एक-दूसरे की एंटीथीसिस के रूप में देखने के लिए तैयार नहीं हैं। उनकी दलील है कि कुछ अधिकार अपनी बुनियादी प्रवृत्तियों में सामूहिक ही होते हैं, जैसे आत्म-निर्णय का अधिकार और अन्य सांस्कृतिक समुदायों की तरफ़ से आने वाले ख़तरे के मुकाबले अपने सांस्कृतिक समुदाय की हिफ़ाज़त करने का अधिकार। स्थिति यह है कि पारम्परिक भारतीय समाज और शहरी मध्यवर्गीय भारत में पिछली एक सदी से लगातार परम्परागत समुदायवादी और

आधुनिक व्यक्तिवादी रुझानों का सामंजस्य निकालने की कोशिश चल रही है। इसलिए यह मान लेना ग़लत होगा कि समुदायवाद ने व्यक्तिवाद को परास्त कर दिया है।

समूहगत अधिकारों के प्रश्न पर कहा जा सकता है कि यह सामुदायगत समतामूलकता कायम करने की कोशिश है। क्लासिकल उदारतावाद व्यक्ति के स्तर पर समतामूलकता की वकालत करता है, पर इस भारतीय नवाचार का मक़सद समुदायों को एक-दूसरे के समकक्ष लाने का है ताकि समुदायों के बीच का ऊँच-नीच ख़त्म की जा सके। चूँकि समुदायों के बीच के विभेद ख़त्म नहीं किये जा सकते, इसलिए बेहतर यही होगा कि सांस्कृतिक समुदायों को एक-दूसरे का सम्मान करने और सहअस्तित्व में रहने की परिस्थितियाँ मुहैया करायी जाएँ। इसके पीछे यह मान्यता भी निहित है कि सांस्कृतिक रूप से तटस्थ और सिर्फ़ अपनी इयत्ता के आधार पर गतिविधियाँ करने वाले व्यक्तियों का समाज बनाना असम्भव है। भारतीय उदारतावाद के इस विशिष्ट पहलू को समझने के लिए बहुमत-अल्पमत की सैद्धांतिक संकल्पना पर ग़ौर करना उपयोगी हो सकता है। इसी तरह सेकुलरवाद की विशिष्ट भारतीय संरचना की समझ भी भारतीय उदारतावाद के नवाचारों पर रोशनी डाल सकती है। सार्विक मताधिकार के सांविधिक आग्रह की भूमिका भी इस सिलसिले में अहम है। आधुनिकता, आधुनिकीकरण और भारतीय उदारतावाद को संसाधित करने के संदर्भ में भारतीय राष्ट्रवाद की विकास-प्रक्रिया पर रोशनी डालना भी आवश्यक है।

देखें : अनुसूचित जातियाँ, अनुसूचित जनजातियाँ, अन्य पिछड़े वर्ग, आरक्षण, आधुनिकता, अरविंद घोष, आधुनिकीकरण, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, जवाहरलाल नेहरू, जातियों का राजनीतिककरण, धीरूभाई शेट, पार्थ चटर्जी, बंगाल का नवजागरण, भारतीय अभिजन, भारतीय आधुनिकता, भारतीय इस्लाम, भारतीय डायसपोरा, भारत में उपनिवेशवाद, भारतीय नवजागरण : तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य, भारत में नियोजन, भारत में प्रातिनिधिक प्रणाली, भारत में पृथकतावादी राजनीति, भारत में मतदान-व्यवहार-1 से 6 तक, भारत में सामाजिक आंदोलन, भारतीय राज्य, भारतीय राष्ट्रवाद, भारतीय लोकतंत्र, भारतीय लोकतंत्र का संस्थानीकरण-1 से 3 तक, भारतीय स्वभाव और राजनीति, भारतीय संविधान-1 से 8 तक, भारतीय सामाजिक आंदोलन, भीमराव रामजी आम्बेडकर, रजनी कोठारी, राज्य, राज्य की मार्क्सवादी अवधारणा, राजा राममोहन राय, विवेकानंद, विनायक दामोदर सावरकर, सुदीप्त कविराज, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1 से 3 तक, सामाजिक आंदोलन।

संदर्भ

1. के.एम. पनिकर (1962), *इन डिफेंस ऑफ़ लिबरलिज़म*, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई.
2. राजीव भार्गव (2000), 'डेमाॅक्रेटिक विज़न ऑफ़ अ न्यू

रिपब्लिक', फ्रांसिस आर. फ्रेंकेल वगैरह (सम्पा.), *ट्रांसफॉर्मिंग इण्डिया : सोशल ऐंड पॉलिटिकल डायनामिक्स ऑफ़ डेमोक्रेसी*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

3. सुनील खिलनानी (1999), *भारतनामा*, अनु. : अभय कुमार दुबे, राजकमल, नयी दिल्ली.
4. बी. शिवा राव (1867), *द फ्रेमिंग ऑफ़ द कांस्टीट्यूशन : सिलेक्ट डॉक्यूमेंट्स*, खण्ड 1 और 2, नयी दिल्ली, आईआईपीए.

— अभय कुमार दुबे

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी

(Communist Party of India)

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (भाकपा) भारत की सबसे पुरानी कम्युनिस्ट पार्टी है। चुनाव आयोग द्वारा इसे राष्ट्रीय दल के रूप में मान्यता प्राप्त है। कम्युनिस्ट आंदोलन में भाकपा की स्थापना तिथि को लेकर कुछ विवाद है। खुद भाकपा का मानना है कि उसका गठन 25 दिसम्बर, 1925 को कानपुर में हुई पार्टी कांग्रेस में हुआ था। लेकिन मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी, जो 1964 में हुए पार्टी-विभाजन के बाद बनी थी, का मानना है कि पार्टी का गठन 1920 में हुआ था। भाकपा के दावे के अनुसार भारत की इस सबसे पुरानी कम्युनिस्ट पार्टी का गठन 17 अक्टूबर, 1920 को कम्युनिस्ट इंटरनैशनल की दूसरी कांग्रेस के तुरंत बाद हुआ था। बहरहाल, यह कहा जा सकता है कि 1920 से ही पार्टी के गठन की प्रक्रिया चल रही थी और इस संबंध में कई समूह भी उभर कर सामने आये थे। लेकिन औपचारिक रूप से 1925 में ही पार्टी का गठन हुआ। इसके शुरुआती नेताओं में मानवेंद्र नाथ राय, अबनी मुखर्जी, मोहम्मद अली और शफीक सिद्दीकी आदि प्रमुख थे।

शुरुआती दौर में पार्टी की जड़ें मजबूत करने की कोशिश में एम.एन. राय ने देश के दूसरे हिस्सों में सक्रिय कम्युनिस्ट समूहों से सम्पर्क किया। देश के कई शहरों में छोटे-छोटे कम्युनिस्ट समूह थे, लेकिन ये सभी भाकपा का अंग नहीं बने। 1920 और 1930 के दशक के दौरान पार्टी का संगठन कमजोर हालत में रहा। भाकपा के औपचारिक रूप से गठन होने से पहले ही अंग्रेजों ने कई सक्रिय कम्युनिस्टों के खिलाफ कानपुर बोलशेविक षडयंत्र के अंतर्गत मुकदमा दायर कर दिया था। एम.एन. राय, एस.ए. डांगे सहित कई कम्युनिस्टों पर राजद्रोह के आरोप लगाये गये। इससे कम्युनिस्ट चर्चित हो गये और पहली बार भारत में आम लोगों

को इनके बारे में पता चला। 20 मार्च, 1929 को भाकपा से जुड़े बहुत से महत्वपूर्ण नेताओं को मेरठ षडयंत्र केस में गिरफ्तार कर लिया गया। नतीजे के तौर पर पार्टी नेतृत्वविहीन हो गयी।

1933 में प्रमुख नेताओं के मेरठ षडयंत्र केस से रिहा होने के बाद पार्टी का पुनर्गठन किया गया। इसकी केंद्रीय समिति बनी और 1934 में इसे कम्युनिस्ट इंटरनैशनल के भारतीय भाग के रूप में स्वीकार किया गया। 1934 में कांग्रेस के भीतर वामपंथी रुझान रखने वाले नेताओं ने कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी (सीएसपी) का गठन किया। इसके गठन के समय भाकपा के नेताओं ने इसे सामाजिक फ़ासीवाद की संज्ञा दी। लेकिन कॉमिन्टर्न द्वारा उपनिवेशों में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस जैसे दलों के प्रति दृष्टिकोण बदलने से भाकपा के कांग्रेस के प्रति दृष्टिकोण में भी बदलाव आया। अब भाकपा कांग्रेस की राजनीति को प्रगतिशील मानने लगी। इसके सदस्यों ने कांग्रेस की वामपंथी धारा अर्थात् सीएसपी की सदस्यता ग्रहण की। 1936-1937 के दौरान सोशलिस्टों और कम्युनिस्टों के बीच में आपसी सहयोग काफ़ी बढ़ गया। जनवरी 1936 में सीएसपी की दूसरी कांग्रेस में यह थीसिस स्वीकार की गयी कि मार्क्सवाद-लेनिनवाद के आधार पर एक संयुक्त भारतीय सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना की आवश्यकता है। इसी तरह, सीएसपी की तीसरी कांग्रेस के बाद बनी राष्ट्रीय कार्यकारणी समिति में कई कम्युनिस्टों को शामिल किया गया।

बहरहाल, यह नज़दीकी लम्बे समय तक नहीं चल पायी। 1940 में कांग्रेस के रामगढ़ अधिवेशन में भाकपा ने *प्रॉलैटेरियन पथ* शीर्षक से एक दस्तावेज़ जारी किया। इसमें युद्ध के कारण औपनिवेशिक राज्य की कमजोर हालत का हवाला देते हुए उसके खिलाफ सशस्त्र आंदोलन छेड़ने की बात की। भाकपा की इस इकतरफ़ा घोषणा से नाराज़ होकर सीएसपी ने कम्युनिस्ट सदस्यों को अपनी पार्टी से बाहर कर दिया। इस बीच, द्वितीय विश्व-युद्ध में सोवियत यूनियन और ब्रिटेन के संबंधों के अच्छे होने के कारण जुलाई, 1942 में इस पर लगी पाबंदी हटा दी गयी। इसने कांग्रेस की उपनिवेशवाद विरोधी रणनीति का विरोध करना शुरू कर दिया। इसने 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन की आलोचना की और सुभाष चंद्र बोस की तीखी निंदा की। इस दौर में भाकपा की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि यह भी रही कि उसने कांग्रेस के मजदूर संगठन आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस पर अपना वर्चस्व क़ायम कर लिया। भाकपा ने 1946 में हुए प्रांतीय चुनावों में भागीदारी की लेकिन इसे पूरे देश के 1585 प्रांतीय विधानसभा की सीटों में से कुल आठ सीटों पर जीत मिली।

अपने गठन के बाद से देश की आज़ादी तक भाकपा

की राजनीति में कई उतार-चढ़ाव आये। इसने एक समय कांग्रेस और महात्मा गाँधी को प्रतिक्रियावादी की संज्ञा दी। फिर उनके साथ मिलकर काम भी किया और दुबारा उनसे अलग होकर उनकी राजनीति का विरोध किया। यह विरोध इस सीमा तक पहुँच गया कि उन्होंने भारत छोड़ो आंदोलन के समय ब्रिटिश शासन का समर्थन कर डाला। इसके पीछे एक मुख्य कारण यह भी था कि भाकपा की राजनीति में भारतीय परिस्थितियों को कम अहमियत दी जाती थी। अधिकांश मौकों पर कम्युनिस्ट इंटरनैशनल या सोवियत यूनियन के निर्देशों ने पार्टी की रणनीति तय करने का काम किया। इसी कारण कई बार इसकी रणनीतियाँ उल्टी दिशा में आगे बढ़ीं।

इन गड़बड़ियों के बावजूद कांग्रेस के मजदूर संगठन और देश के कुछ भागों में इसकी स्थिति काफ़ी मजबूत हो गयी थी। बंगाल में हुए तेभागा आंदोलन और आंध्र में हुए तेलंगाना आंदोलन में भी कम्युनिस्टों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। 1946 में हुए तेभागा आंदोलन में बंगाल के जोतदारों ने इस बात के लिए संघर्ष किया कि उनके पास अपनी खेती के उत्पाद का दो-तिहाई भाग होना चाहिए। इस आंदोलन में भाकपा के किसान मोर्चे किसान सभा ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। कुछ जगहों पर यह आंदोलन हिंसक भी हो गया। आंदोलन सफल रहा और राज्य की मुसलिम लीग सरकार ने यह क़ानून बनाया कि ज़मींदारों को कुल उत्पाद के एक-तिहाई से ज़्यादा हिस्सा नहीं दिया जाएगा। लेकिन यह क़ानून सही तरीके से लागू नहीं हुआ।

तेलंगाना आंदोलन हैदराबाद रजवाड़े में हुआ। यहाँ आंध्र महासभा के बैनर तले हैदराबाद के निज़ाम के खिलाफ़ पहले ही आंदोलन चल रहा था। आंध्र महासभा में कम्युनिस्टों की अच्छी-खासी उपस्थिति थी। इन्होंने किसानों को निज़ाम और स्थानीय ज़मींदारों (जिन्हें देशमुख के नाम से जाना जाता था) के खिलाफ़ जागरूक बनाया। नालगोंडा, वारंगल और खम्मम जिलों में किसानों ने क़र्ज माफ़ी, बंधुआ मजदूरी ख़त्म करने और भूमि पुनर्वितरण के लिए आंदोलन चलाया। यह आंदोलन 1945 में शुरू हुआ और 1946 आते-आते इसने काफ़ी जोर पकड़ लिया। निज़ाम की सेनाओं और ज़मींदारों के लठैतों ने इसका क्रूरता से दमन किया। हज़ारों किसानों की हत्या कर दी गयी। लेकिन किसानों के सशस्त्र दस्तों ने जम कर इस दमन का मुकाबला किया। इन दस्तों का बहुत से गाँवों पर नियंत्रण हो गया और उन्होंने वहाँ भूमि सुधार की नीतियों पर अमल किया। 1948 तक उन्होंने 3,000 गाँवों की तक्ररीबन 16,000 वर्ग मील भूमि को मुक्त

करा लिया और उसका गाँव के लोगों के बीच वितरण कर दिया। सितम्बर, 1948 में भारतीय सेना के दखल से निज़ाम के शासन का अंत हो गया। इसके बावजूद किसानों का विद्रोह जारी रहा। भारतीय सेना ने भी इसका हिंसक दमन किया। आख़िरकार, 1951 में भाकपा द्वारा आधिकारिक रूप से यह आंदोलन वापस ले लिया गया। इसके बाद यह आंदोलन धीमा पड़ते हुए ख़त्म हो गया। तेभागा और तेलंगाना आंदोलन का भारतीय वामपंथ के इतिहास में काफ़ी महत्त्व है। इसने ज़मीनी स्तर पर कम्युनिस्टों के प्रभाव को दिखाया। वर्तमान में कम्युनिस्टों के सभी समूह इन आंदोलनों की विरासत का दावा करते हैं।



श्रीपाद अमृत डांगे (1899-1991)

देश की आज़ादी के समय आज़ादी और भारतीय राज्य की प्रकृति के बारे में भाकपा में गहन और रोचक वाद-विवाद हुआ। इसी कारण पार्टी ने संविधान सभा में भी भाग नहीं लिया। जब भारत को आज़ादी मिली उस समय पी.सी. जोशी भाकपा के महासचिव थे। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि सत्ता का हस्तांतरण वास्तविक है और नेहरू की सरकार से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि वह साम्राज्यवाद-विरोधी ताकतों का प्रतिनिधित्व करती है। इसलिए उन्होंने आग्रह किया कि भाकपा को कांग्रेस के बारे में अपने विचारों का पुनर्मूल्यांकन करना चाहिए। लेकिन पार्टी के भीतर इसे पर्याप्त समर्थन नहीं मिला। बी.टी. रणदिवे के नेतृत्व में एक खेमे ने यह तर्क दिया कि भारत में जन-विद्रोह जोर पकड़ रहा है। इसलिए भाकपा लोकतांत्रिक और समाजवादी चरणों को मिला कर पूरे राष्ट्र में मजदूरों के सशस्त्र संघर्ष द्वारा सत्ता पर क़ब्ज़ा करने की कोशिश कर सकती है। पार्टी के भीतर कुछ लोगों ने तेलंगाना अनुभव की तुलना चीन में माओ के संघर्ष से की और भारतीय राज्य के खिलाफ़ लोक-युद्ध छेड़ने की वकालत की। इसे 'आंध्रा लाइन' कहा गया। 1948 की कलकत्ता कांग्रेस में रणदिवे लाइन की जीत हुई। लेकिन दूसरी ओर भारत में नेहरू सरकार द्वारा तेलंगाना आंदोलन के सशस्त्र दमन की इजाज़त देने और दूसरी ओर चीनी क्रांति के सफल होने के कारण पार्टी में 'आंध्रा लाइन' की स्थिति मजबूत हो गयी। इसके चलते 1950 में आंध्र के नेता सी. राजेश्वर राव ने पार्टी का नेतृत्व सम्भाला। लेकिन पार्टी के भीतर पी.सी. जोशी खेमे ने इस तरह के क़दम को 'वामपंथी भटकाव' की संज्ञा दी। इस खेमे ने 'आँख मूँदकर' और कट्टर तरीके से चीनी रास्ते का अनुसरण करने की आलोचना की। जोशी ने नेहरू सरकार की देशी-विदेशी नीति का विश्लेषण करते हुए यह साबित करने की कोशिश की कि इसमें साम्राज्यवाद-विरोधी प्रवृत्ति है।

पार्टी के इस आंतरिक विवाद को सुलझाने के लिए पार्टी के कुछ वरिष्ठ नेता मास्को गये और वहाँ के कम्युनिस्ट पार्टी नेताओं से लम्बी चर्चा की। इसके बाद तीन दस्तावेज तैयार हुए। इन दस्तावेजों में यह स्पष्ट किया गया कि भारत एक निर्भर और अर्ध-औपनिवेशिक देश है और नेहरू सरकार जर्मियों, बड़े एकाधिकारवादी बूर्ज्वा और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के हितों को पूरा कर रही है। भारतीय बूर्ज्वा की प्रकृति स्पष्ट करते हुए यह कहा गया कि प्राथमिक रूप से साम्राज्यवादी बूर्ज्वा पर निर्भर होने के बावजूद इसमें राष्ट्रवादी और अ-सहयोगी (नॉन-कोलैबोरैटिव) तत्त्व मौजूद हैं। इसके बाद मध्यमार्गी नेता अजय घोष ने पार्टी की कमान सम्भाली। इस दौर में पार्टी ने भारत की आजादी को मान्यता दी और संविधान को स्वीकार करते हुए चुनावों में भाग लेने का फैसला किया गया।



मुजिबुर रहम (1889-1973)

पहले आम चुनावों में पार्टी का प्रदर्शन बहुत शानदार नहीं माना जा सकता, लेकिन लोकसभा में 16 सीटों पर जीत हासिल करके यह मुख्य विपक्षी दल के रूप में उभरी। भाकपा ने खासतौर पर संगठित क्षेत्र में काम करने वाले मजदूरों के बीच अपनी स्थिति मजबूत करने पर ध्यान दिया। इसके मजदूर संगठन ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस की मजदूरों के बीच में अच्छी पैठ थी। लेकिन उस समय देश की राजनीति में कांग्रेस और नेहरू के वर्चस्व को चुनौती देना मुश्किल था। फिर भी भाकपा ने कुछ राज्यों में अपनी स्थिति मजबूत कर ली। दूसरे आम चुनावों में फिर से कांग्रेस को स्पष्ट बहुमत मिला, लेकिन भाकपा की सीटों में भी बढ़ोतरी हुई। इन चुनावों में इसे 27 लोकसभा क्षेत्रों में जीत मिली। केरल में 1957 के विधानसभा चुनावों के बाद ई.एम.एस. नम्बूदरीपाद के नेतृत्व में भाकपा की सरकार बनी। यह विश्व की पहली चुनी हुई कम्युनिस्ट सरकार थी। लेकिन 1959 में नेहरू सरकार ने इसे बर्खास्त कर दिया। इससे भाकपा के एक धड़े के भीतर नेहरू के प्रति काफ़ी नाराज़गी पैदा हो गयी। लेकिन इस समय भाकपा के कार्यकर्ता भ्रम की स्थिति में थे, क्योंकि नेहरू सरकार का सोवियत यूनियन के साथ काफ़ी अच्छा संबंध था। सोवियत पार्टी की यह अपेक्षा थी कि भाकपा नेहरू सरकार के प्रति नरम रवैया अपनाये। इस बीच अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर ऐसी घटनाएँ घटीं जिसके कारण न सिर्फ़ अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट एकता प्रभावित हुई, बल्कि भाकपा का भी विभाजन हो गया।

साठ का दशक आते-आते तक सोवियत यूनियन की कम्युनिस्ट पार्टी और चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के बीच के संबंध ख़राब होने लगे। चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने सोवियत

यूनियन की कम्युनिस्ट पार्टी पर आरोप लगाया कि वह संशोधनवादी हो कर मार्क्सवाद-लेनिनवाद के रास्ते से भटक चुकी है। इधर चीन और भारत के संबंध भी काफ़ी ख़राब हो गये। सीमा विवाद के कारण 1962 में भारत-चीन के बीच युद्ध भी हुआ। भाकपा के एक धड़े ने भारत सरकार की नीति का समर्थन किया। वहीं पार्टी के एक दूसरे धड़े ने यह दावा किया कि यह समाजवादी और पूँजीवादी राज्य के बीच टकराव है। असल में, भाकपा के इन धड़ों की रणनीति में अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर कम्युनिस्टों के बीच चल रही तनातनी की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही। भाकपा के सोवियत समर्थक धड़े ने उस समय की सत्ताधारी पार्टी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के साथ सहयोग करने के विचार को आगे बढ़ाया। लेकिन भाकपा के एक दूसरे धड़े, जो आगे चलकर माकपा बनी, ने इसे वर्ग-सहयोग के संशोधनवादी विचार की संज्ञा दी। गौरतलब है

कि भारत के तीसरे आम चुनावों में भाकपा को 29 सीटों पर जीत मिली। भाकपा अब भी संसद में कांग्रेस के बाद दूसरी सबसे बड़ी पार्टी थी। लेकिन पार्टी के एक खेमे के भीतर यह विश्वास प्रबल हो गया था कि असल में नेहरू सरकार के प्रति ज़्यादा सख्त रवैया न रखने कारण ही भाकपा का प्रसार नहीं हो रहा है। एक समय के बाद यह टकराव काफ़ी बढ़ गया। 1964 में भाकपा का विभाजन हो गया और एक नयी पार्टी माकपा का उभार हुआ। भाकपा के कई जुझारू नेता मसलन नम्बूदरीपाद, ज्योति बसु, हरकिशन सिंह सुरजीत आदि माकपा में शामिल हो गये। इससे पश्चिम बंगाल जैसे राज्यों में भाकपा के आधार पर नकारात्मक प्रभाव पड़ा। केरल में पार्टी के विभाजन के शुरुआती कुछ दशकों तक भाकपा का भी अच्छा-ख़ासा प्रभाव रहा। 1970-77 के बीच भाकपा ने कांग्रेस से गठजोड़ किया और उसके साथ मिलकर सरकार भी बनायी जिसमें भाकपा के सी. अच्युत मेनन राज्य के मुख्यमंत्री बने (4 अक्टूबर, 1970-25 मार्च, 1977)। इसके बाद, किसी राज्य में भाकपा को सत्ता में आने का मौक़ा नहीं मिला। 1970-77 के दौर में कांग्रेस से गठजोड़ होने के कारण भाकपा ने इंदिरा गाँधी की कांग्रेस द्वारा लगाये गये आपातकाल का समर्थन किया। लेकिन अस्सी का दशक आते-आते माकपा ज़्यादा मजबूत कम्युनिस्ट पार्टी बन गयी। देश के दूसरे कई भागों में भाकपा की अच्छी उपस्थिति रही, लेकिन कुछ क्षेत्रों में ज़्यादा मजबूत उपस्थिति के कारण माकपा आगे निकल गयी। 1977 के बाद भाकपा ने माकपा और दूसरी छोटी कम्युनिस्ट पार्टियों के साथ मिलकर वाम मोर्चे का गठन किया। व्यावहारिक तौर पर केरल सहित अधिकांश जगहों पर यह पार्टी माकपा के एक छोटे सहयोगी

दल में बदल गयी। अधिकांश मौकों पर इसका प्रदर्शन वाम मोर्चे के प्रदर्शन पर निर्भर रहा।

नब्बे के बाद के दौर में भाकपा ने सेकुलर और गैर-भाजपा, गैर-कांग्रेस दलों की राजनीति को मजबूती देने पर काफ़ी ध्यान दिया है। माकपा के नेतृत्व वाले वाम मोर्चे के साथ मिलकर इसने कांग्रेस की नव-उदारवादी नीतियों का विरोध किया। 1996 के लोकसभा चुनावों के बाद किसी दल को बहुमत नहीं मिला। सबसे बड़ी पार्टी भाजपा की सरकार लोकसभा में अपना बहुमत साबित नहीं कर पायी। इसके बाद एच.डी. देवेगौड़ा के नेतृत्व में संयुक्त मोर्चे की सरकार बनी। भाकपा ने एक ऐतिहासिक फैसला लेते हुए इस सरकार में शामिल होने का फैसला किया। यह फैसला माकपा के फैसले से काफ़ी अलग था जिसने ज्योति बसु को प्रधानमंत्री बनाने का प्रस्ताव ठुकरा दिया था। इस तरह वाम मोर्चे का भाग होते हुए भी इसने अपनी राजनीतिक स्वायत्ता प्रदर्शित की। संयुक्त मोर्चे की दोनों सरकारों (एच.डी. देवेगौड़ा और इंद्र कुमार गुजराल) की सरकार में इसके नेता शामिल हुए और उन्होंने गृह मंत्रालय (इंद्रजीत गुप्त) और कृषि मंत्रालय (चतुरानन मिश्र) जैसे महत्वपूर्ण मंत्रालय सम्भाले। संयुक्त मोर्चे की सरकार के पतन के बाद केंद्र में राजग की सरकार बनी। इस सरकार के कार्यकाल (1998-2004) के दौरान भाकपा ने वाम मोर्चे के एक घटक के रूप में ज़िम्मेदार विपक्ष की भूमिका निभायी। 2004 संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन (संप्रग) की सरकार को वाम मोर्चे ने समर्थन दिया। इसने यह सुनिश्चित करने की कोशिश की यह सरकार अपने न्यूनतम साझा कार्यक्रम के अनुसार ही काम करे। इस दौरान भाकपा ने भी सरकार पर कई जनोन्मुखी कार्यक्रम अपनाने का दबाव बनाया। आमतौर पर प्रेक्षक यह मानते रहे हैं कि संप्रग-एक की सरकार के दौरान बने बहुत प्रगतिशील और जनोन्मुखी क़ानूनों के पीछे वाम मोर्चे के दबाव की महत्वपूर्ण भूमिका रही। 2008 में वाम मोर्चे ने संयुक्त राज्य अमेरिका से परमाणु समझौते के मुद्दे पर संप्रग सरकार से समर्थन वापस ले लिया। 2009 के आम चुनावों में वाम मोर्चे का प्रदर्शन 2004 के आम चुनावों की तुलना में काफ़ी ख़राब रहा। इसका कारण था कि पश्चिम बंगाल में वाम मोर्चे के प्रदर्शन में आयी गिरावट। ख़ासतौर पर सिंगूर और नंदीग्राम जैसी जगहों में राज्य सरकार द्वारा ज़बरदस्ती भूमि अधिग्रहण की कोशिश और उसके विरोध का बल-प्रयोग द्वारा दमन करने जैसी घटनाओं ने वाम मोर्चे की छवि काफ़ी ख़राब की। इसका असर भाकपा के चुनावी प्रदर्शन पर भी पड़ा और इसे लोकसभा में 2004 की 10 की तुलना में सिर्फ़ 4 सीटों पर ही जीत मिली।

भाकपा की राजनीति की कई सीमाएँ अब स्पष्ट हो चुकी हैं : पहला, भाकपा ने वाम मोर्चे की राजनीति में खुद

का इस तरह समाहित कर लिया है कि कई गम्भीर मसलों पर भी इसने एक सीमा से ज़्यादा माकपा का विरोध नहीं किया है। सिर्फ़ कुछ मौकों पर ही इसने अपनी स्वायत्तता दिखाई है, लेकिन अधिकांश मसलों पर इसकी रणनीति वाम मोर्चे की रणनीति का भाग होती है। दूसरा, यद्यपि माकपा देश के तीन राज्यों में काफ़ी मजबूत स्थिति में है, लेकिन भाकपा का विस्तार देश के दूसरे भागों में ज़्यादा रहा है। मसलन, बिहार, छत्तीसगढ़, और तमिलनाडु जैसे राज्यों में भी भाकपा की मजबूत उपस्थिति रही है। लेकिन बिहार जैसे राज्यों में इसने अपना आधार काफ़ी हद तक खो दिया है, क्योंकि अब पहचान की राजनीति के सामने वह अपनी प्रासंगिकता साबित करने में नाकाम रही है। तीसरा, भाकपा दूसरे संसदीय वामपंथी दलों की तरह ही नये क्षेत्रों में अपना विस्तार करने में नाकाम रही है। यह एक तरह से ठहरी हुई पार्टी बन गयी है। या तो यह कुछ जगहों पर अपना आधार बचाने में सफल रही है, या उस आधार को भी खो रही है। नये क्षेत्रों में भाकपा का प्रसार नहीं हो रहा है। 1980 के बाद हुए लोकसभा के हर चुनाव में इसे 15 से कम सीटों पर ही जीत मिली। मसलन, 1980 के संसदीय चुनावों में 11, 1984 में 6, 1989 में 12, 1991 में 14, 1996 में 12, 1998 में 9, 1999 में 4, 2004 में 10 और 2009 में 4 सीटों पर जीत हासिल हुई। चौथा, यह भी आरोप लगाया जाता है कि भाकपा ने ज़मीनी स्तर पर संघर्ष की राजनीति से मुँह मोड़ लिया है। यद्यपि इस आलोचना को पूरी तरह से सही नहीं माना जा सकता, क्योंकि जिन क्षेत्रों में भाकपा का अस्तित्व है, वहाँ उसने राज्य दमन के खिलाफ़ काफ़ी संघर्ष किया है। मसलन, छत्तीसगढ़ के दंतेवाड़ा जिले में भाकपा ने राज्य प्रायोजित सलवा जुद्धम अभियान का तीखा प्रतिरोध किया। पाँचवाँ, भाकपा की राजनीति की आलोचना का एक आधार यह भी रहा है कि इसने पूँजीवादी राज्य की लोकतांत्रिक व्यवस्था को पूरी तरह स्वीकार कर लिया है। अब यह राष्ट्रवादी रूपरेखा के भीतर ही काम कर रही है और पूँजीवादी राज्य को उखाड़ फेंकने जैसी रणनीति इसकी राजनीति का भाग नहीं है।

बहरहाल, इन आलोचनाओं के बावजूद इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है कि भारतीय राजनीति में भाकपा के पास एक लम्बी विरासत है। भारतीय कम्युनिस्ट राजनीति की अधिकांश धाराएँ इसी पार्टी से निकलीं। इसने संसदीय राजनीति में वामपंथी दलों के बीच एकजुटता कायम करने के भी गम्भीर प्रयास किये हैं। इसकी कोशिश रही है कि भारत में गैर-कांग्रेसी, गैर-भाजपायी राजनीति को मजबूती और आम लोगों के हितों को बढ़ावा मिले। भ्रष्टाचार जैसे आरोपों से भाकपा हर स्तर पर पूरी तरह से मुक्त रही है। असल में, भाकपा की मुख्य चुनौती यह है कि यह वाम मोर्चे का भाग होते हुए भी माकपा की 'फ़ोटो कॉपी' या छोटा

सहयोगी होने से बचे और अपनी स्वायत्त राजनीति कायम करे। इसके अलावा, देश के विभिन्न भागों अपना प्रसार करना भी भाकपा के लिए एक बड़ी चुनौती है।

देखें : एलमकुलम मनक्कल शंकरन नम्बूद्रीपाद, कांग्रेस 'प्रणाली', गैर-कांग्रेसवाद, केरल, गठजोड़ राजनीति, जनता दल और उसकी विरासत-1 और 2, तेलुगु देशम पार्टी, पश्चिम बंग, पार्टी-गठजोड़ की राजनीति, भारतीय जनता पार्टी-1 और 2, भारत में मतदान-व्यवहार-1, 2, 3, 4, 5 और 6, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस-1 और 2, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), मानवेंद्र नाथ राय, राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठजोड़, वाम मोर्चा, शिव सेना, समाजवादी पार्टी, बहुजन समाज पार्टी-1 और 2, शिरोमणि अकाली दल, समाजवादी पार्टी, संयुक्त प्रगतिशील गठजोड़, त्रिपुरा।

संदर्भ

1. मनोरंजन मोहंती (1986) 'आइडियाॅलॅजी ऐंड स्ट्रैटेजी ऑफ कम्युनिस्ट मूवमेंट इन इण्डिया', थॉमस पैथम और कैनेथ एल. ड्युश (सम्पा.), *पॉलिटिकल थॉट इन मॉडर्न इण्डिया*, सेज, नयी दिल्ली.
2. मोहन राम (1969), *कम्युनिज्म : स्प्लिट विदिन अ स्प्लिट*, विकास, नयी दिल्ली.
3. बिपन चंद्रा (1983), *लेफ्ट : अ क्रिटिकल अप्रेज़ल*, विकास, नयी दिल्ली.

—कमल नयन चौबे

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी)

(Communist Party of India-Marxist)

भारतीय वामपंथ का सबसे ताकतवर और प्रभावशाली राजनीतिक दल भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) है जिसे चुनाव आयोग द्वारा राष्ट्रीय पार्टी का दर्जा मिला हुआ है। राष्ट्रीय स्तर पर कई वामपंथी दलों को मिला कर बने वाम मोर्चे का नेतृत्व इसी पार्टी के हाथों में है। भाकपा का गठन 1964 में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (भाकपा) के विभाजन के बाद हुआ था। पिछले पचास साल की राजनीति में भाकपा ने भारतीय लोकतंत्र को सेकुलर, जनोन्मुखी और प्रगतिशील दिशा देने में संजीदा भूमिका निभायी है। हालाँकि इसका विस्तार केवल तीन राज्यों तक ही सीमित है, लेकिन इसका सैद्धांतिक विमर्श या इसके द्वारा उठाये जाने वाले मुद्दे राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय चिंताओं को भी समेटते हैं। भाकपा का एक महत्वपूर्ण योगदान यह भी है कि इसने भारत में गठबंधन की

राजनीति को सही आकार दिया। पश्चिम बंगाल और केरल में सबसे बड़े दल होने या अकेले बहुमत होने पर भी इसने वाम मोर्चे की शक्ति में अपने गठजोड़ से जुड़े छोटे दलों को पर्याप्त महत्त्व दिया और अपने साथ जोड़ कर रखा। केंद्रीय स्तर पर भी उसने यह दिखाया किसी गठबंधन सरकार को बाहर से समर्थन देने और तुलनात्मक रूप से छोटा दल होने का मतलब यह नहीं है कि सत्तारूढ़ दल को मनमानी करने की खुली छूट दे दी जाए। 2004-2009 के दौरान केंद्र की संयुक्त प्रगतिशील मोर्चे की सरकार को समर्थन देते हुए उसने सरकार को नीतिगत दिशा देने का काम किया। पहले के राष्ट्रीय मोर्चे और वाम मोर्चे की सरकारों में भी इसने यही भूमिका निभायी। स्पष्टतः भाकपा भारतीय लोकतंत्र का एक मजबूत आधारस्तम्भ है और इसकी मौजूदगी और मजबूती लोकतंत्र को एक सही दिशा दे सकती है। लेकिन इसके लिए जरूरी है कि वह अपना प्रसार करे और विभिन्न मुद्दों पर ज्यादा स्पष्टता और संवेदनशीलता से अपनी रणनीति तय करे।

द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद अविभाजित भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के भीतर भारतीय राज्य की प्रकृति और पार्टी की रणनीति के संबंध में विवाद हुआ। तेलंगाना और देश के कुछ दूसरे भागों में सशस्त्र संघर्ष का शुरुआती समर्थन करने के बाद जल्दी ही अविभाजित पार्टी ने यह रणनीति छोड़ दी और संसदीय राजनीति में भाग लेने का फैसला किया। बाद के वर्षों में जवाहरलाल नेहरू की सरकार ने सोवियत संघ के साथ नज़दीकी संबंध बनाये। सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी ने भारतीय कम्युनिस्टों से यह भी उम्मीद की कि वे नेहरू सरकार की ज्यादा आलोचना न करके उसके प्रति एक तरह का दोस्ताना व्यवहार रखें। सोवियत संघ भाकपा को अपनी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के मुताबिक चलाना चाहता था। इस दबाव के विपरीत भाकपा का एक प्रभावी हिस्सा मानता रहा कि भारत अभी भी एक अर्द्ध-सामंती देश है और यहाँ का राष्ट्रीय बूजर्वा वर्ग बहुत कमजोर स्थिति में है। इस तरह की सोच रखने वाले लोग यह भी मानते थे कि वर्ग-संघर्ष आवश्यक है और सोवियत यूनियन के आग्रहों की खातिर इसे ठंडे बस्ते में नहीं डाला जा सकता। इसके अलावा, ये कम्युनिस्ट यह भी देख रहे थे कि उन्हें नेहरू सरकार के दमन का सामना भी करना पड़ता है। तेलंगाना आंदोलन का दमन इसका एक उदाहरण था। दूसरे, जब केरल में ई.एम.एस. नम्बूद्रीपाद के नेतृत्व में भाकपा की सरकार बनी, तो नेहरू सरकार ने 1959 में इसे बर्खास्त कर राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया था।

इसी बीच सोवियत यूनियन की कम्युनिस्ट पार्टी और चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के बीच के संबंध भी खराब हो गये। 1960 के दशक की शुरुआत में चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने सोवियत पार्टी पर संशोधनवादी होने और मार्क्सवाद-लेनिनवाद के रास्ते से भटकने का आरोप लगाया। दूसरी तरफ़



ज्योति बसु (1914-2010)

चीन और भारत के संबंध सीमा विवाद के कारण 1962 में खराब हो गये। भारत-चीन युद्ध के समय भारतीय कम्युनिस्टों के एक धड़े ने भारत सरकार की नीति का समर्थन किया। लेकिन पार्टी के एक दूसरे धड़े ने यह दावा किया कि यह समाजवादी और पूँजीवादी राज्य के बीच टकराव है। असल में भाकपा के इन दो धड़ों के बीच का टकराव विचारधारात्मक भी था। इसकी बुनियाद में भारतीय परिस्थितियों के मूल्यांकन और पार्टी कार्यक्रम के विकास से जुड़े मुद्दे भी शामिल थे।

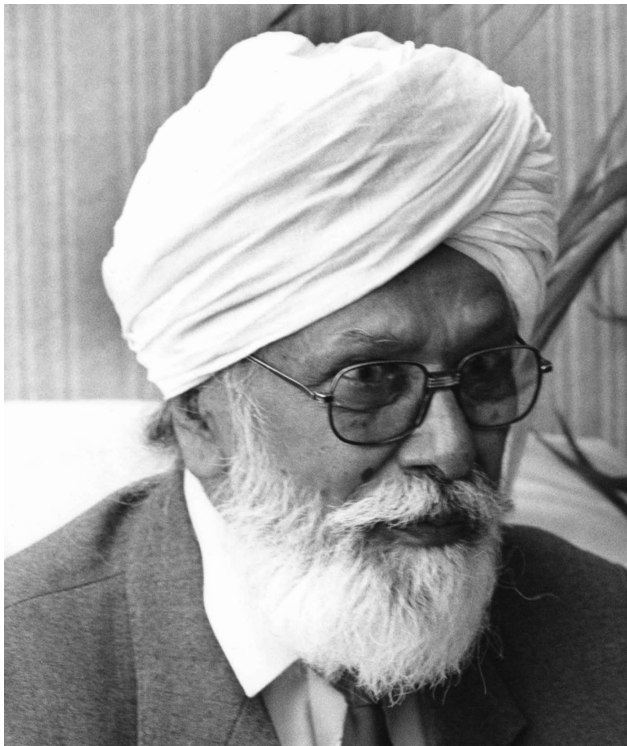
अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर इसी तरह का वाद-विवाद सोवियत संघ और चीन की कम्युनिस्ट पार्टियों के बीच चल रहा था। भाकपा के सोवियत समर्थक धड़े ने तत्कालीन सत्ताधारी कांग्रेस के साथ सहयोग करने का विचार आगे बढ़ाया। लेकिन भाकपा के एक दूसरे धड़े ने इसे वर्ग-सहयोग के संशोधनवादी विचार की संज्ञा दी। धीरे-धीरे यह टकराव काफ़ी बढ़ गया। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सोवियत संघ और चीन के संबंधों में खटास आयी और भारत में भाकपा का विभाजन हो गया। एक नयी पार्टी भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) का उभार हुआ।

1967 में बंगाल में अजय मुखर्जी के नेतृत्व में बने संयुक्त मोर्चे की सरकार (1967-1969) में माकपा भी शामिल हुई और इसके नेता ज्योति बसु उप-मुख्यमंत्री बने। इसी तरह, माकपा नेता ई.एम.एस. नम्बूदरीपाद ने केरल में

एक गठबंधन सरकार का नेतृत्व किया (1967-1969)। लेकिन कुछ समय बाद ही भाकपा के कांग्रेस से गठजोड़ हो जाने के बाद पार्टी केरल में लम्बे समय के लिए सत्ता से बाहर हो गयी। 1967 में नक्सलवादी आंदोलन छिड़ने के बाद रैडिकल भूमि सुधारों के प्रश्न पर माकपा को भी विभाजन का सामना करना पड़ा। ग़ैर-संसदीय और रैडिकल राजनीति में विश्वास करने वाले इसके बहुत से सदस्यों ने चारु मजूमदार के नेतृत्व में 'वर्ग-शत्रु का ख़ात्मा ही वर्ग-संघर्ष की चरम अभिव्यक्ति है' का नारा दे कर भारतीय क्रांति के लिए चीन का रास्ता (देहात में लाल आधार इलाका बना कर शहरों को घेरने की रणनीति) अपनाने का आह्वान किया। माकपा ने ऐसे नेताओं को न सिर्फ़ पार्टी से बाहर कर दिया, बल्कि राज्य द्वारा इनके दमन का भी समर्थन किया। नक्सलवाद का विरोध करने की प्रक्रिया और पश्चिम बंगाल, केरल और त्रिपुरा में चुनावी राजनीति में सफलता मिलने की प्रक्रिया कमोबेश साथ-साथ चली। समय बीतने के साथ माकपा की राजनीति भाकपा की राजनीति के नज़दीक होती गयी। दोनों ही पार्टियाँ भारतीय राज्य की बूर्ज्वा प्रकृति के बावजूद लोकतांत्रिक संघर्ष और चुनावी होड़ को जनवादी क्रांति का एक महत्वपूर्ण रास्ता मानने के मुक़ाम पर पहुँच गयीं। माकपा ने अपने संविधान के पैरा 112 के जरिये एक दलील विकसित की कि उसे जन-साधारण को थोड़ी-बहुत राहत पहुँचाने के लिए बूर्ज्वा लोकतंत्र की सत्ता-संरचनाओं में भागीदारी करनी चाहिए।

1977 में कांग्रेस-भाकपा गठजोड़ टूटने के बाद भाकपा और माकपा एक-दूसरे के काफ़ी नज़दीक आ गयीं और इन्होंने कुछ छोटे वाम दलों को मिलाकर एक वाम मोर्चा का गठन किया। 1977 में पश्चिम बंगाल में वाम मोर्चे की सरकार बनी, जिसमें माकपा सबसे बड़ा घटक दल था और ज्योति बसु राज्य के मुख्यमंत्री बने। बसु ने भूमि सुधारों (ऑपरेशन बर्गा) द्वारा ग्रामीण जनता में पैठ बनायी और रिकॉर्ड समय तक राज्य के मुख्यमंत्री रहे। इसके बाद, बुद्धदेव भट्टाचार्य ने सरकार की कमान सम्भाली। लेकिन 2011 के विधानसभा चुनावों में वाम-मोर्चे को हार का सामना करना पड़ा। इसके अलावा, 1978 में केरल में भी वाम-मोर्चे की सरकार बनी। बाद में अस्सी के दशक के बाद से यहाँ कांग्रेस के नेतृत्व वाले गठबंधन और माकपा के नेतृत्व वाले गठबंधन के बीच सीधा मुकाबला होता रहा। यहाँ भी वाम मोर्चे ने कई बार अपनी सरकार बनायी है। इसके अलावा, त्रिपुरा में तो माकपा के नेतृत्व वाले वाम-मोर्चे की स्थिति कांग्रेस के मुकाबले काफ़ी मज़बूत है।

माकपा ने केंद्र की राजनीति में ग़ैर-कांग्रेस और ग़ैर-भाजपा दलों को मिलाकर तीसरे मोर्चे को संगठित करने की कोशिश की है। इसने ग़ैर-कांग्रेसवादी राजनीति को मज़बूत



हरकिशन सिंह सुरजीत (1916-2008)

करने के लिए 1989 के आम चुनावों के बाद विश्वनाथ प्रताप सिंह के नेतृत्व में बनी राष्ट्रीय मोर्चा सरकार को समर्थन प्रदान किया। 1992 में अयोध्या में बाबरी मसजिद गिराये जाने के बाद माकपा ने पूरी ऊर्जा लगाकर भाजपा की साम्प्रदायिक राजनीति का विरोध किया। गौरतलब है कि जिन राज्यों में माकपा का वर्चस्व है, वहाँ भाजपा अपना प्रभाव नहीं बढ़ा पायी। साथ ही माकपा नेतृत्व ने यह पहलकदमी भी ली कि केंद्र स्तर पर भी गैर-साम्प्रदायिक दलों की स्थिति मजबूत हो। 1996 के चुनावों के बाद केंद्र में गैर-भाजपायी सरकार के गठन में माकपा के महासचिव हरकिशन सिंह सुरजीत की महत्वपूर्ण भूमिका रही। माकपा ने इन सरकारों का न्यूनतम साझा कार्यक्रम बनाने में काफ़ी संजीदा भूमिका निभायी। लेकिन उसने इन सरकारों में भागीदारी नहीं की। यहाँ तक कि तीसरे मोर्चे की ओर से इसके नेता ज्योति बसु को प्रधानमंत्री बनाने का प्रस्ताव आया तो पार्टी ने उसे नामंजूर कर दिया। यह अलग बात है कि पार्टी का एक धड़ा, जिसमें खुद ज्योति बसु भी शामिल थे, यह मानता रहा कि यह बहुत समझदारी वाला फैसला नहीं था।

बहरहाल, केंद्र में अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन (राजग) की सरकार के कार्यकाल (1998-2004) के दौरान माकपा ने शिद्दत से विपक्षी दल के दायित्व को निभाया। 2004 के आम चुनावों में वाम मोर्चा और खास तौर पर माकपा को अच्छी सफलता मिली। केंद्र में कांग्रेस नेता मनमोहन सिंह के नेतृत्व में बनी

संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन (संप्रग) की सरकार को वाम मोर्चे ने बाहर से समर्थन दिया। माकपा ने यह सुनिश्चित करने की कोशिश की कि संप्रग सरकार न्यूनतम साझा कार्यक्रम के अनुसार ही काम करे। इस सरकार द्वारा सूचना का अधिकार, वन अधिकार क़ानून जैसे प्रगतिशील क़ानून बनाये गये, जिससे आम लोगों और आदिवासियों को अधिकार मिला। इसके अलावा, संप्रग सरकार ने राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार गारंटी अधिनियम भी लागू किया। तक्ररीबन सभी प्रेक्षकों में सहमति है कि संप्रग की पहली सरकार के इन प्रगतिशील क़दमों के पीछे वाम मोर्चे की काफ़ी महत्वपूर्ण भूमिका थी। 2008 में अमेरिका के साथ हुए परमाणु समझौते को आधार बनाकर माकपा के नेतृत्व में वाम मोर्चे ने संप्रग सरकार से अपना समर्थन वापस ले लिया। लेकिन 2009 के आम चुनावों में इसे 2004 की तुलना में काफ़ी कम सीटें मिलीं। इसका एक बड़ा कारण यह था कि बंगाल और केरल में इसका प्रदर्शन आशा के अनुरूप नहीं रहा।

उल्लेखनीय है कि माकपा ने अपने शासन वाले पश्चिम बंगाल में आर्थिक बदलाव के लिए पूँजी निवेश की नीति अपनायी। ज्योति बसु के शासनकाल में भूमि सुधार तो हुए लेकिन बंगाल औद्योगिकीकरण के मामले में कई अन्य राज्यों से पिछड़ता चला गया। ज्योति बसु के बाद राज्य में मुख्यमंत्री बने बुद्धदेव भट्टाचार्य ने 2006 के चुनावों में जीत के बाद निजी पूँजी को रियायतें देने और औद्योगिकीकरण के लिए किसानों की ज़मीन के अधिग्रहण की नीति को बढ़ावा दिया। स्थानीय स्तर पर इसका ज़बरदस्त विरोध हुआ। सिंगूर और नंदीग्राम जैसी जगहों पर स्थानीय लोगों ने ज़मीन अधिग्रहण का विरोध किया। राज्य सरकार ने बल प्रयोग द्वारा विरोध को दबाने की कोशिश की। माकपा ने अपनी स्थानीय सांगठनिक इकाइयों को आंदोलनकारियों के खिलाफ़ मैदान में उतारा और इन इलाक़ों में गृह युद्ध जैसी स्थिति बन गयी।

माकपा के लिए स्थिति इसलिए भी ज़्यादा ख़राब हो गयी, क्योंकि कई मार्क्सवादी बुद्धिजीवियों ने भी ग्रामीणों के खिलाफ़ बल प्रयोग की निंदा की। बंगाल में राज्य सरकार की इस नीति का 2009 के आम चुनावों और 2011 के राज्य विधानसभा चुनावों पर भी साफ़ असर दिखा। लोकसभा में माकपा की सीटें काफ़ी कम हुईं और विधानसभा चुनावों के बाद पश्चिम बंगाल में सत्ता से बाहर होना पड़ा। माकपा का त्रिपुरा और केरल में अच्छा प्रभाव है। त्रिपुरा में इसके नेता माणिक सरकार के नेतृत्व में लम्बे समय से वाम मोर्चा की सरकार है (1998-अब तक)। केरल में उसे कांग्रेस के नेतृत्व वाले गठजोड़ से ज़बरदस्त चुनौती का सामना करना पड़ता है। आमतौर पर यहाँ हर पाँच साल बाद इन दोनों गठबंधनों के बीच सत्ता बदलती रही है।

माकपा की राजनीति की एक बड़ी सीमा यह रही है

कि यह अपना विस्तार करने में नाकाम रही है। देश के कुल तीन राज्यों में ही इसका ठीक-ठाक प्रभाव है। हिंदी प्रदेशों की राजनीति में यह पूरी तरह से हाशिये पर है। इन राज्यों में बहुत मुश्किल से कभी-कभार इसे एक या दो सीटें मिल जाती हैं। इसी तरह, महाराष्ट्र, गुजरात या केरल के अलावा दक्षिण भारत के दूसरे राज्यों या त्रिपुरा के अलावा उत्तर-पूर्व के दूसरे राज्यों में इसकी उपस्थिति नगण्य है। पिछले कई दशकों में इस बात का कोई संकेत नहीं मिला है कि पार्टी का दूसरे क्षेत्रों में विस्तार हो रहा है। दूसरा, आर्थिक नीतियों के संदर्भ में भी माकपा कोई वैकल्पिक रूपरेखा पेश करने में नाकाम रही है। इसने निजीकरण और आर्थिक उदारीकरण की नीतियों का विरोध किया। लेकिन पश्चिम बंगाल 2006 के बाद इसने ऐसी ही नीतियों को प्रोत्साहन दिया और उन्हें बढ़ावा देने के लिए राज्य की हिंसा का भी खुलकर प्रयोग किया। इसने उसकी छवि को गहरा नुकसान पहुँचाया। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी-लेनिनवादी) और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (माओवादी) जैसे दलों की मुख्य दलील यह है कि माकपा दूसरे बूर्ज्वा दलों की तरह ही व्यवहार करती है और इसका ज़मीनी स्तर की राजनीति से कोई खास लेना-देना नहीं रह गया है।

देखें : एलमकुलम मनक्कल शंकरन नम्बूद्रीपाद, कांग्रेस 'प्रणाली', ग़ैर-कांग्रेसवाद, केरल, गठजोड़ राजनीति, जनता दल और उसकी विरासत-1 और 2, तेलुगु देशम पार्टी, पश्चिम बंग, पार्टी-गठजोड़ की राजनीति, भारतीय जनता पार्टी-1 और 2, भारत में मतदान-व्यवहार-1, 2, 3, 4, 5 और 6, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस-1 और 2, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, मानवेंद्र नाथ राय, राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठजोड़, वाम मोर्चा, शिव सेना, समाजवादी पार्टी, बहुजन समाज पार्टी-1 और 2, शिरोमणि अकाली दल, समाजवादी पार्टी, संयुक्त प्रगतिशील गठजोड़, त्रिपुरा।

संदर्भ

1. मनोरंजन मोहंती (1986) 'आइडियॉलॉजी ऐंड स्ट्रैटेजी ऑफ़ कम्युनिस्ट मूवमेंट इन इण्डिया', थॉमस पैथम और कैनेथ एल. ड्युश (सम्पा.), *पॉलिटिकल थॉट इन मॉडर्न इण्डिया*, सेज, नयी दिल्ली.
2. दीपंकर राय चौधरी और सत्या शिवरमन (2007) 'नंदीग्राम : सिक्स मंथ्स लेटर', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 42, अंक 41
3. उत्सा पटनायक (2010), 'ज्योति बसु ऐंड बंगाल', *सोशल साइंटिस्ट*, खण्ड 38, अंक 7/8.
4. आदित्य निगम (2000), 'लॉजिक ऑफ़ फेल्ड रिवोल्यूशन : फेडरलाइजेशन ऑफ़ सीपीआई(एम)', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 35, अंक 5.

— कमल नयन चौबे

भारतीय जनता पार्टी-1

जनसंघ से भाजपा तक

(Bhartiya Janata Party-1)

भारतीय राजनीति में दक्षिणपंथी रुझान का प्रतिनिधित्व करने वाली भारतीय जनता पार्टी (भाजपा) समकालीन दलीय प्रणाली में कांग्रेस के बाद दूसरा सबसे बड़ा दल है। 1996, 1998 और 1999 के लोकसभा चुनावों में इसे कांग्रेस से भी ज्यादा सीटें मिली थीं। भाजपा की राजनीति पर उग्र हिंदुत्व हावी हुआ है और इसने खुद को केंद्रवादी राजनीति के क्ररीब लाने की कोशिश की है। नब्बे के दशक के बाद के दौर में भाजपा का एक मुख्य योगदान सफल गठबंधन सरकार चलाना रहा है। इसने बहुत से क्षेत्रीय दलों को मिलाकर राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन (राजग) का गठन किया और केंद्र में पहली स्थिर ग़ैर-कांग्रेसी सरकार दी। दरअसल, राजग के सफल प्रयोग ने ही कांग्रेस को संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन (संप्रग) बनाने के लिए प्रेरित किया।

भाजपा का गठन 6 अप्रैल, 1980 को भारतीय जनसंघ के नये अवतार के रूप में हुआ। 1951 में डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी के नेतृत्व में 'राष्ट्रवादी' लक्ष्यों को हासिल करने के लिए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के राजनीतिक मोर्चे के तौर पर भारतीय जनसंघ की स्थापना हुई थी। जनसंघ का राष्ट्रवाद विनायक दामोदर सावरकर द्वारा प्रतिपादित हिंदुत्व की विचारधारा के आईने में परिभाषित होता था। उसकी मान्यता थी कि 'हिंदू का अर्थ है वह व्यक्ति जो सिंधु से लेकर सागरों तक फैले भारतवर्ष को अपनी पितृभूमि और अपनी पुण्यभूमि दोनों मानता हो।' सावरकर ने धरती को माता समझ कर पूजने वाली भारतीय संस्कृति पर पितृभूमि की कल्पना युरोपीय राष्ट्रवाद से उधार लेकर आरोपित की थी। पितृभूमि और पुण्यभूमि के बीच अंतर करने की वैचारिक प्रविधि जनसंघ को भारत के अल्पसंख्यक धर्मावलम्बियों की राजनीतिक-सामाजिक दावेदारियों के प्रति संदिग्ध कर देती थी। जनसंघ के पहले हिंदू राष्ट्रवादी कार्यक्रम के आधार पर चुनाव लड़ने वाली पार्टी सावरकर की हिंदू महासभा ही थी। जनसंघ के पहले अध्यक्ष मुखर्जी भी इसी पृष्ठभूमि से आये थे। सांगठनिक तौर पर जनसंघ का संचालन संघ के स्वयंसेवकों के हाथ में रहा। संघ की नीतियों के अनुरूप जनसंघ ने भी कांग्रेस सरकार द्वारा अपनायी गयी नीतियों को मुसलमानों का 'तुष्टीकरण' करार दिया। उसने कांग्रेस पर लगातार आरोप लगाया कि वह राष्ट्रीय एकता, अखण्डता और पहचान के मुद्दों पर दुलमुल और समझौतापरस्त नीतियाँ अपना रही है।



अटल बिहारी वाजपेयी (1924-)

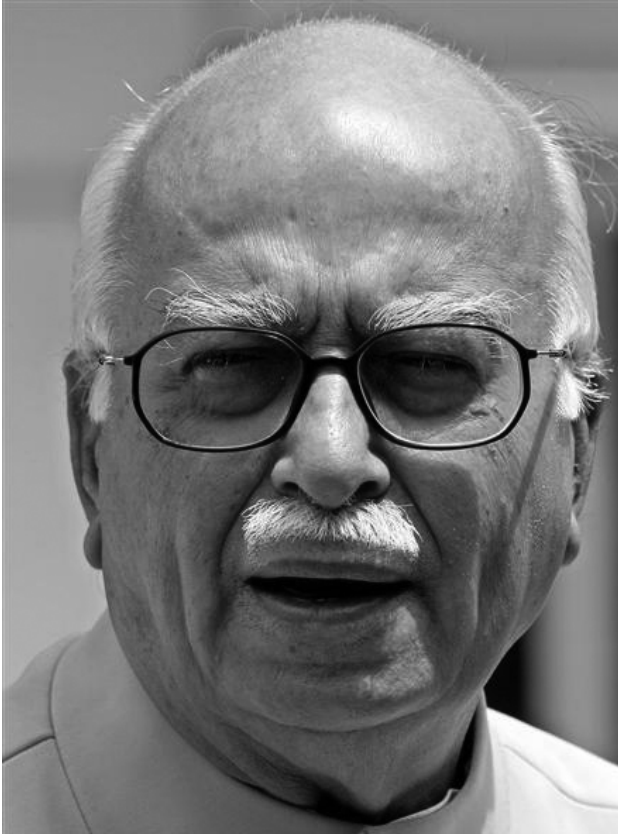
1953 में कश्मीर के भारत में 'पूर्ण एकीकरण' के लिए आंदोलन करते वक़्त जेल में श्यामा प्रसाद मुखर्जी का देहांत हो गया। इसके बाद जनसंघ की बागडोर दीनदयाल उपाध्याय के युवा कंधों पर आ गयी। मुखर्जी की पृष्ठभूमि अगर हिंदू महासभा वाली थी, तो उपाध्याय सीधे संघ की क्रतारों से आये थे। उन्होंने तक्ररीबन 15 वर्षों तक पार्टी के लिए नये कार्यकर्ता तैयार करते हुए उसके जनाधार का प्रसार करने की कोशिश की। उपाध्याय से पहले जनसंघ को छोटे व्यापारियों, राजों-रजवाड़ों और अल्पसंख्यक विरोधी राष्ट्रवाद को पसंद करने वाले ऊँची जाति के कुछ हिस्सों की पार्टी माना जाता था। पर उपाध्याय की कोशिशों से चले सुदृढ़ीकरण की इस प्रक्रिया ने एक तरफ़ तो जनसंघ को ऊँची जातियों की पार्टी होने की सीमा से निकाल कर पिछड़ी जातियों के एक हिस्से की निष्ठा जीतने वाला दल बनाया, तो दूसरी ओर उसका सांगठनिक ढाँचा संघ से मुक्त होने के बजाय उत्तरोत्तर उस पर निर्भर होता चला गया। जनसंघ अपने संचालन के लिए जिन संगठन मंत्रियों पर निर्भर करता था, वे संघ द्वारा भेजे गये प्रचारक ही होते थे। यह परम्परा बाद में भाजपा में भी जारी रही और इस ढाँचे को पार्टी के संविधान में औपचारिक रूप दे दिया गया।

संसद में जनसंघ के चुनिंदा सांसदों ने प्रभावकारी तरीके से पार्टी के मुद्दे उठा कर अपनी छाप छोड़ी। जनसंघ ने समान नागरिक संहिता, गो-हत्या पर पाबंदी और कश्मीर के लिए विशेष प्रावधान ख़त्म करने जैसे मुद्दे उठाये। इस संसदीय राजनीति में अटल बिहारी वाजपेयी का नाम एक कुशल सांसद और वक्ता के रूप में चमका और इसी के कारण हिंदुत्ववादी अर्थों में ख़ुद को राष्ट्रवादी मानने वाले

हिंदुओं के एक ख़ास तबके की हमदर्दी भी मिली। लेकिन जनसंघ को चुनावी मैदान में तब तक सफलता नहीं मिली जब तक उसने समाजवादियों समेत अपने अन्य विचारधारात्मक विरोधियों के साथ मिल कर गठजोड़ राजनीति करने की नीति नहीं अपना ली। 1967 में पार्टी ने ग़ैर-कांग्रेसवाद के नाम पर दूसरे कई दलों से तालमेल किया। नतीजतन उसे पहली बार उत्तर प्रदेश जैसे कुछ राज्यों में सत्ता में आने का मौक़ा मिला। संयुक्त विधायक दलों का यह प्रयोग बहुत सफल नहीं हुआ। राज्यों की सत्ता का स्वाद चखने के बावजूद जनसंघ की चुनावी राजनीति को राष्ट्रीय स्तर पर सत्तर के दशक के मध्य तक कामयाब नहीं कहा जा सकता। 1952 से 1970 तक उसे अधिकतम 9.4 फ़ीसदी वोट ही मिल सके थे। यह तस्वीर कुछ-कुछ सत्तर के दशक के मध्य से बदलनी शुरू हुई।

1974 के जयप्रकाश आंदोलन में जनसंघ के कार्यकर्ताओं ने भागीदारी की। 1975 में इंदिरा गाँधी की सरकार द्वारा देश में आंतरिक आपातकाल लागू किये जाने पर होने वाली गिरफ़्तारियों में जनसंघ का शीर्ष नेतृत्व भी था। इसका लाभ जनसंघ को छवि के स्तर पर हुआ। आपातकाल से नाराज़ मध्यवर्ग ने देखा कि भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने तो आपातकाल का समर्थन किया, और मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी ने उसका कमज़ोर क्रिस्म का विरोध। इस नज़ारे ने मध्यवर्ग में जनसंघ के प्रति आकर्षण पैदा किया। 1977 में आपातकाल ख़त्म होने के बाद होने वाले चुनावों से पहले जयप्रकाश नारायण के कहने पर ग़ैर-कम्युनिस्ट और ग़ैर-कांग्रेसी दलों ने एक नये दल जनता पार्टी का निर्माण किया। जनसंघ इस पार्टी में अपना विलय करने पर राजी हो गया। इन चुनावों में जनसंघ की पृष्ठभूमि वाले उम्मीदवारों को 14 फ़ीसदी राष्ट्रीय वोट मिले। 92 सीटें जीतना उसके लिए एक बहुत बड़ी संसदीय प्रगति थी।

चुनावों में जनता पार्टी को बहुमत मिला और मोरारजी देसाई के नेतृत्व में सरकार बनी। इस सरकार में पहली बार जनसंघ की पृष्ठभूमि वाले नेता केंद्र में मंत्री बने। अटलबिहारी वाजपेयी विदेश मंत्री और लालकृष्ण आडवाणी सूचना एवं प्रसारण मंत्री हुए। जनता पार्टी की यह सरकार कई तरह के विरोधाभासों से घिरी हुई थी। इनमें एक विरोधाभास यह भी था कि इसमें शामिल जनसंघ के सदस्यों ने संघ की अपनी सदस्यता नहीं छोड़ी थी। इस विरोधाभास से दोहरी निष्ठा का मुद्दा पैदा किया। मधु लिमये के नेतृत्व में कुछ समाजवादी नेताओं ने पूर्व-जनसंघ के नेताओं से संघ की सदस्यता छोड़ने की माँग की। लेकिन पूर्व-जनसंघ के नेताओं ने संघ से नाता तोड़ने की बजाय जनता पार्टी और इसकी सरकार से अलग होना बेहतर समझा। मुख्य रूप से इसी विवाद के कारण मोरारजी देसाई के नेतृत्व वाली जनता पार्टी सरकार का पतन



लाल कृष्ण आडवाणी (1927-)

हो गया। जनता पार्टी से अलग हुए पूर्व-जनसंघ के नेताओं ने ही अप्रैल, 1980 में भारतीय जनता पार्टी का गठन किया। विद्वानों की मान्यता है कि जनसंघ ने जनता पार्टी के प्रयोग से काफ़ी-कुछ सीखा और जनसंघ को पुनर्जीवित करने के बजाय एक नयी पार्टी के गठन का निर्णय लिया ताकि वे राष्ट्रीय राजनीति में एक नये पैतरे के साथ उभर सकें।

अटल बिहारी वाजपेयी भाजपा के पहले राष्ट्रीय अध्यक्ष बने। जनसंघ की तरह भाजपा का भी अपनी स्थापना के समय से ही संघ से अभिन्न संबंध बना रहा। लेकिन संघ की विचारधारात्मक और सांगठनिक गिरफ्त के बावजूद अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में नयी पार्टी ने जनसंघ के रवैये से कुछ हटते हुए अपनी विचारधारा में हिंदुत्ववादी सांस्कृतिक राष्ट्रवाद और दीनदयाल उपाध्याय द्वारा प्रतिपादित 'एकात्म मानववाद' के सिद्धांत के साथ-साथ गाँधीवादी समाजवाद को स्थापित किया। पार्टी ने आर्थिक मोर्चे पर आत्म-निर्भरता और स्वदेशी की नीति का समर्थन किया। विदेश नीति के स्तर पर गुटनिरपेक्षता जैसी नीतियों से ज़्यादा राष्ट्रीय हित को रेखांकित। इसी वैचारिक परिवर्तन के प्रभाव में भाजपा ने अपने गठन के शुरुआती सालों में किसी ख़ास हिंदुत्ववादी मुद्दे को जोर-शोर से नहीं उठाया। 1980 के आम चुनाव में भाजपा 1977 वाली कामयाबी नहीं दोहरा सकी। उसके वोट घट कर 8.6 फ़ीसदी रह गये और उसे केवल 16

सीटों पर जीत मिली। इंदिरा गाँधी की सत्ता में वापसी हुई। विपक्षी पार्टी के तौर पर इंदिरा सरकार की विविध नीतियों, ख़ासकर उसकी पंजाब नीति की भाजपा ने ज़बरदस्त आलोचना की।

1984 में इंदिरा गाँधी की हत्या के बाद हुए आम चुनावों में कांग्रेस समर्थक हमदर्दी की लहर के कारण भाजपा को करारी हार का सामना करना पड़ा। पूरे देश में उसे सिर्फ़ दो लोकसभा सीटों पर ही जीत मिली और उसके वोट घट कर 7.4 फ़ीसदी पर आ गये। इस भीषण पराजय के बाद भाजपा में ऊहापोह शुरू हुआ जिसका नतीजा हार के कारणों की जाँच के लिए कृष्णलाल शर्मा कमेटी की नियुक्ति में निकला। इस समिति ने अपनी पड़ताल द्वारा बताया कि भाजपा को निराश नहीं होना चाहिए, क्योंकि उसे जितने वोट मिले हैं उनकी गिनती सारे देश में भाजपा को वैचारिक समर्थन देने वाले वोटों की तरह की जानी चाहिए यानी पार्टी ने अपना बुनियादी समर्थन आधार नहीं खोया है। इस निष्कर्ष का संदेश साफ़ था कि अगर पार्टी चाहे तो हिंदुत्ववादी मुद्दों पर लौट कर अपनी प्रभावकारिता बढ़ा सकती है। कई राजनीतिक समीक्षकों की राय है कि शर्मा कमेटी की सिफ़ारिशों के बाद पार्टी लालकृष्ण आडवाणी के नेतृत्व में दोबारा हिंदुत्ववादी राजनीति की तरफ़ लौटी। दूसरी तरफ़ इस विश्लेषण की सटीकता पर संदेह पैदा करने वाले कुछ तथ्य भी दृष्टव्य हैं। इनमें सबसे महत्वपूर्ण यह है कि संघ पार्टी की आधारभूत विचारधारा में गाँधीवादी समाजवाद जोड़ने से प्रसन्न नहीं था। कहा जाता है कि इसी कारण से उसने नीति बनायी कि उसके स्वयंसेवकों को 1984 के चुनाव में भाजपा का साथ नहीं देना चाहिए। अगर इस हकीकत को निगाह में रखा जाए तो शर्मा कमेटी द्वारा भाजपा को मिले लगभग चार फ़ीसदी वोटों को हिंदुत्ववादी वोट मानना मुश्किल होगा।

बहरहाल, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि 1984 की पराजय के बाद भाजपा ने हिंदुत्ववादी मुद्दों पर ध्यान देना शुरू कर दिया। संघ के विभिन्न संगठनों ने इस तरह के मुद्दों की पहचान करने और उन्हें गरमाने में भाजपा की मदद की। 1985 में शाहबानो मामले में कांग्रेस की केंद्र सरकार द्वारा सर्वोच्च न्यायालय के फ़ैसले के बावजूद मुसलमान कट्टरपंथ के सामने झुक जाने की भाजपा ने जम कर आलोचना की। उसने देश के सभी समुदायों के लिए संविधान में निर्देशित समान नागरिक संहिता बनाने की माँग की। इस प्रक्रिया में आडवाणी के नेतृत्व में भाजपा को वास्तविक सेकुलरवाद बनाम छद्म सेकुलरवाद की बहस छेड़ने का मौक़ा मिला। ध्यान रहे कि यह वह समय था जब समाज-विज्ञान की दुनिया में भी सेकुलरवाद के प्रश्न पर जम कर बहस हो रही थी। भाजपा ने मध्यवर्ग के एक ख़ासे बड़े हिस्से को यह समझाने में कामयाबी हासिल की कि कांग्रेस का सेकुलरवाद मुख्य रूप से हिंदू

विरोधी है, और उसका मकसद केवल मुसलमानों का तुष्टीकरण है ताकि उनके वोट उसे मिलते रहें।

अस्सी का दशक रामजन्मभूमि आंदोलन के लिए ज़मीन बनाने वाला भी साबित हुआ। इसमें राजीव गाँधी के नेतृत्व वाली कांग्रेस की भूमिका को नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता। भाजपा के नेता अटल बिहारी वाजपेयी का वह वक्तव्य नहीं भुलाया जा सकता जिसमें उन्होंने कहा था कि 'भाजपा ने अयोध्या का मुद्दा ज्वलंत नहीं बनाया। यह तो कांग्रेस का किया-धरा है। उसने ही शिलान्यास कार्यक्रम की इजाज़त दी थी। यह राजीव गाँधी ही थे जिन्होंने फ़ैज़ाबाद से अपनी चुनावी मुहिम शुरू की और रामराज्य लाने के नाम पर वोट माँगे। भाजपा को इस रणनीति का जवाब तो देना ही था।' दरअसल, रामजन्मभूमि के मुद्दे के इर्द-गिर्द कांग्रेस और भाजपा दोनों ने ही अस्सी के दशक में हिंदू वोट बैंक बनाने की राजनीति की। एक बार जब यह मुद्दा बन गया तो भाजपा के सहयोगी हिंदुत्ववादी संगठनों, ख़ास कर विश्व हिंदू परिषद् ने समझा कि कांग्रेस के मुक़ाबले इसके दोहन की क्षमता उसमें अधिक है। उसका रवैया हमलावर होता चला गया। उसने नारा दिया कि जब तक मंदिर नहीं बनेगा, तब तक यह संघर्ष चलेगा। जब कांग्रेस ने देखा कि परिषद् की राजनीति परवान चढ़ती चली जा रही है, उसने 1989 में हिंदुओं को अपनी ओर खींचने के लिए विवादित स्थल के निकट राम मंदिर का शिलान्यास करने की इजाज़त दे दी। शिलान्यास के बाद विहिप ने दावा किया कि इस शिलान्यास में केवल प्रस्तावित राम मंदिर की नींव ही नहीं रखी गयी है बल्कि लोगों के हृदय में हिंदू राष्ट्र की नींव पड़ गयी है। शिलान्यास करवाना कांग्रेस की तरफ़ से हिंदू कार्ड खेलने की अंतिम कोशिश थी। इसके बाद यह मुद्दा पूरी तरह से संघ परिवार की हिंदुत्ववादी महत्वाकांक्षाओं की भेंट चढ़ गया। सभी तरह के व्यावहारिक नज़रिये से भाजपा इस आंदोलन के साथ जुड़ी हुई थी। दरअसल, वह इसमें घोषित भागीदारी और उसका नेतृत्व अपने हाथ में लेने के लिए सही मौक़े के इंतज़ार में थी। 1989 के चुनाव में मिली कहीं बेहतर सफलता ने भाजपा को वह मौक़ा प्रदान कर दिया।

देखें : हिंदू राष्ट्रवाद, हिंदू राजनीतिक विचार, आधुनिक भारत में मुसलमान राजनीतिक विचार, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, विनायक दामोदर सावरकर, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, केशवराम बलिराम हेडगेवार, माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर, रामजन्मभूमि आंदोलन-1, 2 और 3.

संदर्भ

1. बी. ग्राहम (1990), *हिंदू नैशनलिज़्म ऐंड पॉलिटिक्स : द ऑरिजिन ऐंड डिवलपमेंट ऑफ़ भारतीय जनसंघ*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

2. क्रेग बेक्सटर (1969), *जनसंघ : अ बायोग्राफ़ी ऑफ़ अ पॉलिटिकल पार्टी*, युनिवर्सिटी ऑफ़ पेंसिलवैनिया.
3. वी.बी. सिंह और योगेंद्र मलिक, *हिंदू नैशनलिज़्म इन इण्डिया : द राइज़ ऑफ़ भारतीय जनता पार्टी*, वेस्ट न्यू प्रेस, यू.एस.ए.
4. क्रिस्टोफ़ ज़ेफ़्रलो (1999), *द हिंदू नैशनलिस्ट मूवमेंट ऐंड पॉलिटिक्स*, पेंगुइन, नयी दिल्ली.
5. क्रिस्टोफ़ ज़ेफ़्रलो (2007), *हिंदू नैशनलिज़्म : अ रीडर*, प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन.
6. आशिस नंदी, शैल मायाराम, शिखा त्रिवेदी, अच्युत यागिनक (1995), *द रामजन्मभूमि मूवमेंट ऐंड द फ़ियर ऑफ़ द सेल्फ़*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
7. क्रिस्टोफ़ ज़ेफ़्रलो (2001), 'हिंदू नैशनलिज़्म ऐंड डेमोक्रेसी', नीरजा गोपाल जयल (सम्पा.), *डेमोक्रेसी इन इण्डिया*, नयी दिल्ली: ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस.

— कमल नयन चौबे

भारतीय जनता पार्टी-2

साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण से गठजोड़ राजनीति तक
(Bhartiya Janata Party-2)

1984 की पराजय के बाद भारतीय जनता पार्टी ने गाँधीवादी समाजवाद का पल्ला छोड़ कर उग्र हिंदूवादी मुद्रा अपनायी। दरअसल, उसे लग रहा था कि कांग्रेस उसका द्विज समर्थन आधार उससे छीने ले रही है। आपातकाल के बाद से ही कांग्रेस के हाथ से मुसलमानों, सिक्खों और अनुसूचित जातियों के वोट निकले जा रहे थे, और वह इनकी भरपाई शहरी वोटों से कर रही थी। राजीव गाँधी की ज़बरदस्त जीत का श्रेय ऊँची जाति के उन वोटों को दिया जा रहा था जिन्होंने इससे पहले के चुनावों में भाजपा की तरफ़ रुझान दिखाया था। 1989 के लोकसभा चुनावों से पहले बोफ़र्स तोपों और एचडीडब्ल्यू पनडुब्बियों के लिए हुए ख़रीद सौदों में ख़ायी गयी दलाली के कारण राष्ट्रीय राजनीति में भ्रष्टाचार एक बड़ा मुद्दा बन चुका था। कांग्रेस से टूट कर अलग हुए विश्वनाथ प्रताप सिंह अपनी पारदर्शी छवि के कारण विपक्षी राजनीति के प्रतीक बन गये थे। उनके और जनता दल के उभार ने कांग्रेस को ज़बरदस्त चुनौती दी। ऐसे में 1989 के लोकसभा चुनाव में भाजपा ने जनता दल के साथ परोक्ष सहमति के साथ लड़ा। उसकी सीटों में काफ़ी इज़ाफ़ा हुआ और लोकसभा में उसके सीटों की संख्या दो से बढ़कर 89 हो गयी।

नतीजे आने के बाद भाजपा ने लोकसभा में कम्युनिस्ट

पार्टियों के नेतृत्व वाले वाम मोर्चे के साथ जनता दल के नेतृत्व वाले राष्ट्रीय मोर्चे को अल्पसंख्यक सरकार बनाने के लिए समर्थन देना तय किया। जाहिर था कि वामपंथी और भाजपा दोनों मिल कर कांग्रेस को सत्ता से बाहर रखना चाहते थे। उन्हें पता था कि वी.पी. सिंह की सरकार ज्यादा नहीं चलेगी और जल्दी ही मध्यावधि चुनाव होंगे। इसके अलावा, इसने उत्तर प्रदेश और बिहार जैसे राज्यों में भी जनता दल सरकार को समर्थन दिया। जनता दल की भीतरी राजनीति के कारण बन रहे दबाव से निबटने के लिए वी.पी. सिंह ने ठंडे बस्ते में पड़ी मण्डल आयोग की रपट को लागू करके पिछड़े वर्गों को नौकरियों में आरक्षण देने का फैसला किया। भाजपा को लगा कि इस क्रम से उसके हिंदू चुनावी आधार की जड़ पर प्रहार होगा। उसकी दुविधा स्पष्ट थी। वह पिछड़ों को आरक्षण का विरोध नहीं कर सकती थी, और न ही आरक्षण के खिलाफ ऊँची जातियों में हुई तीखी प्रतिक्रिया के खिलाफ खड़ी हो सकती थी। इसी दोहरी जकड़ से निकलने के लिए लालकृष्ण आडवाणी ने राम मंदिर के मुद्दे पर गुजरात में सोमनाथ से उग्र में अयोध्या तक रथयात्रा करने की योजना बनायी। रथयात्रा असाधारण रूप से कामयाब रही। जगह-जगह आडवाणी का भव्य स्वागत हुआ। पर उनका रथ अपने पीछे साम्प्रदायिक तनाव और हिंसा छोड़ता गया। इस रथयात्रा ने पूरे देश का माहौल साम्प्रदायिक कर दिया। आडवाणी को बिहार में लालू यादव की सरकार ने गिरफ्तार किया और बदले में भाजपा ने केंद्र सरकार से समर्थन वापिस लेकर ग्यारह महीने पुरानी विश्वनाथ प्रताप सिंह सरकार गिरा दी।

इसके बाद केंद्र में तक्ररीबन चार महीने तक चंद्रशेखर के नेतृत्व में समाजवादी जनता पार्टी की सरकार रही। कांग्रेस ने इसे बाहर से समर्थन दिया था। कांग्रेस द्वारा समर्थन वापस ले लिए जाने के बाद 1991 में फिर से चुनाव हुए। इस दौरान कांग्रेस अध्यक्ष राजीव गांधी की तमिलनाडु में एलटीटीई के आत्मघाती दस्ते द्वारा हत्या कर दी गयी। चुनावों में कांग्रेस को इस घटना का फायदा मिला और वह सबसे बड़े दल के रूप में उभरी। मंदिर राजनीति को गरमाने के कारण भाजपा को भी इस चुनावों में अच्छी सफलता मिली और उसे लोकसभा में कुल 121 सीटों पर जीत हासिल हुई। इस दौर में भाजपा ने राम मंदिर के साथ-ही-साथ समान नागरिक संहिता बनाने और कश्मीर को विशेष दर्जा देने वाले संविधान की धारा 370 को खत्म करने के मुद्दे को भी जोर-शोर से उठाया। इसके साथ ही संघ की विविध शाखाओं द्वारा ज़मीनी स्तर पर किये जाने वाले काम के कारण मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, राजस्थान और हिमाचल प्रदेश जैसे राज्यों में भाजपा की स्थिति काफी मज़बूत हो गयी। इन राज्यों में भाजपा को अपनी सरकार बनाने में भी सफलता मिली।

1991 के चुनावों में केंद्र और कुछ राज्यों में ज़बरदस्त

सफलता से उत्साहित भाजपा नेतृत्व को यह लगा कि राम मंदिर और उग्र हिंदुत्व का मुद्दा उसके लिए कारगर है। इसलिए उसने इन मुद्दों को और भी ज्यादा गरमाने की रणनीति अपनायी। इसी सिलसिले 1992 के दिसम्बर महीने के पहले हफ़्ते में अयोध्या में कारसेवा का आयोजन किया गया। घटनाक्रम का नतीजा छह दिसम्बर को अयोध्या में कारसेवकों द्वारा बाबरी मसजिद ढहाने में निकला। इस दौरान लालकृष्ण आडवाणी, मुरली मनोहर जोशी और उभा भारती जैसे भाजपा के नेता अयोध्या में मौजूद थे। उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री कल्याण सिंह ने मसजिद की सुरक्षा के लिए कुछ भी नहीं किया। वहाँ खड़े पुलिस के लोग इस पूरे मामले में तमाशाई बने रहे। बाबरी मसजिद गिराने के कारण पूरे देश में भयंकर दंगे हुए। पी.वी. नरसिंह राव की केंद्र सरकार ने भाजपा शासन वाली सभी राज्य सरकारों को बर्खास्त कर दिया।

साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण की भाजपा की रणनीति सफल तो हुई, लेकिन इसने राजनीतिक रूप से भाजपा को पूरी तरह अकेला कर दिया। यानी सेकुलरवाद और अल्पसंख्यक वोटों की परवाह करने वाला कोई भी दल अब भाजपा से जुड़ने के लिए तैयार नहीं था। चुनावी राजनीति में भी इसे कुछ झटके खाने पड़े। मसलन, 1993 में हुए विधानसभा चुनावों में इसे उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश में हार का मुँह देखना पड़ा। लेकिन भाजपा के कई नेताओं ने यह दिखाने की कोशिश की वे राम मंदिर के लिए सत्ता की परवाह नहीं करते हैं।

बहरहाल, 1992 के बाद भाजपा ने तीन स्तरीय रणनीति अपनायी : पहला, इसने उग्र हिंदुत्व की राजनीति से मिले फ़ायदों को क्रायम रखने की कोशिश की। इसके बहुत से नेता राम मंदिर बनाने की माँग दुहराते रहे। समान नागरिक संहिता बनाने और संविधान की धारा 370 खत्म करने पर भी जोर दिया जाता रहा। दूसरा, इसने पार्टी में पिछड़ी जातियों को जोड़ने के लिए सोशल इंजीनियरिंग की रणनीति अपनायी। अर्थात् इसने पार्टी के भीतर और जिन राज्यों में यह सत्ता में थी वहाँ सरकार में पिछड़ी जातियों को पर्याप्त महत्त्व दिया। अमूमन इस पार्टी की छवि हिंदुत्व की राजनीति करने वाली ब्राह्मण-बनिया पार्टी की रही है। भाजपा ने सोशल इंजीनियरिंग द्वारा इस कमी को दूर करने की कोशिश की। तीसरा, इसने यह साबित करने की कोशिश की कि इसका 'चाल, चेहरा और चरित्र' दूसरे दलों से अलग है। यानी यह भ्रष्टाचार, जातिवाद से परे राष्ट्रवाद की समर्थक पार्टी है। नरसिंह राव सरकार के ऊपर लगने वाले भ्रष्टाचार के आरोपों ने भाजपा के इस दावे को मज़बूती प्रदान की। इसके साथ ही, भाजपा ने अटल बिहारी वाजपेयी को अपने प्रधानमंत्री पद के उम्मीदवार के रूप में आगे बढ़ाया। वाजपेयी की छवि उदार मानी जाती थी। उन पर भ्रष्टाचार को कोई आरोप नहीं लगा था। उस समय तक वे देश के सबसे लोकप्रिय नेता बन चुके

थे। संसदीय राजनीति में लम्बे अनुभव के कारण सभी दलों के नेता उनका सम्मान भी करते थे। वाजपेयी की लोकप्रियता और राव सरकार की नाकामियों के कारण 1996 के लोकसभा चुनावों में भाजपा सबसे बड़े दल के रूप में उभरी। इसे लोकसभा की कुल 161 सीटों पर जीत मिली। इसके नेता अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में केंद्र में भाजपा की सरकार बनी। लेकिन इसे दूसरे दलों की समर्थन नहीं मिला। इस कारण तेरह दिनों के बाद वाजपेयी को इस्तीफा देना पड़ा। केंद्र में संयुक्त मोर्चे की सरकार बनी, जिसे बाहर से कांग्रेस ने समर्थन दिया। लेकिन ये सरकारें लम्बे समय तक नहीं चलीं। 1998 में फिर से लोकसभा चुनाव हुए।

1996 में तेरह दिन की सरकार बनाने के कड़े अनुभव से सबक लेते हुए भाजपा ने क्षेत्रीय दलों से गठजोड़ बनाने की रणनीति अपनायी। इस संदर्भ में उसने बिहार में समता पार्टी, जो बाद में जनता दल (एकीकृत) बनी, से गठबंधन किया। पंजाब में अकाली दल और महाराष्ट्र में शिव सेना की हमदर्दियाँ भी उसके साथ थीं। 1998 के चुनावों के बाद भाजपा एक बार फिर से सबसे बड़े दल के रूप में उभरी। अप्रैल, 1998 में कई क्षेत्रीय दलों के साथ मिल कर उसने राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन (या राजग) का निर्माण किया। लेकिन ऐसा करने के लिए भाजपा को अपने घटक दलों को आश्वासन देना पड़ा कि वह अपने तीन उग्र हिंदुत्ववादी मुद्दों यानी राममंदिर, समान नागरिक संहिता और धारा 370 को ठंडे बस्ते में डाल देगी। भाजपा की यह सरकार भी सिर्फ तेरह महीने तक ही शासन में रह सकी। जयललिता के नेतृत्व में अन्नाद्रमुक के समर्थन वापस ले लेने के कारण यह सरकार गिर गयी।

इसके बाद भाजपा ने 1999 में हुए लोकसभा चुनाव राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन (या राजग) के रूप में लड़ा। उसने अपनी पार्टी का अलग घोषणापत्र जारी करने से भी इनकार कर दिया और राजग के घोषणापत्र को ही अपना लिया। गठजोड़ राजनीति का यह एक नया आयाम था। इन चुनावों में राजग को अच्छी सफलता मिली। भाजपा 182 सीटों के साथ सबसे बड़े दल के रूप में सामने आयी और राजग लोकसभा में बहुमत के काफी करीब पहुँच गया। केंद्र में अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में सरकार बनी। यह सरकार सफलता से चली। वाजपेयी के नेतृत्व में भाजपा ने उग्र हिंदुत्ववादी मुद्दों की उपेक्षा की। इसके अलावा, इसने स्वदेशी की उपेक्षा करते हुए नरसिंह राव सरकार द्वारा अपनायी गयी आर्थिक सुधार की नीतियाँ जारी रखीं। सुधारों को आगे बढ़ाने के लिए इसने बाकायदा सरकार में एक विनिवेश विभाग का गठन किया। विदेश नीति के संदर्भ में इसने एक महत्वपूर्ण बदलाव यह किया कि भारत और संयुक्त राज्य अमेरिका के बीच नज़दीकी संबंध बढ़ाने की

कोशिश की।

उग्र हिंदुत्व के मुद्दों की उपेक्षा करने के कारण उत्तर प्रदेश जैसे राज्यों में भाजपा को नुकसान का भी सामना करना पड़ा। पार्टी के भीतर भी एक मज़बूत धड़े ने हिंदुत्व के मुद्दे को फिर से पार्टी के एजेंडे पर वापस लाने की माँग की। गुजरात में फ़रवरी, 2002 में हुई अल्पसंख्यक विरोधी हिंसा में नरेंद्र मोदी के नेतृत्व वाली भाजपा की सरकार की भूमिका उसे शह देने वाली रही। दरअसल नरेंद्र मोदी और गुजरात भाजपा का इरादा इस घटनाक्रम का लाभ उठा कर हिंदू वोटों का ध्रुवीकरण करने का था। इसमें उन्हें सफलता भी मिली। गुजरात में हुए विधानसभा चुनावों में उन्हें जीत हासिल हुई। लेकिन राष्ट्रीय स्तर पर इससे भाजपा को नुकसान हुआ। यह नुकसान 2004 के लोकसभा चुनावों में पुख्ता रूप में सामने आया। भाजपा ने 'इण्डिया शाइनिंग' के नारे के साथ यह चुनाव लड़ा। लेकिन उसे हार का सामना करना पड़ा। इन चुनावों में भाजपा को पिछले चुनाव से 44 कम यानी कुल 138 सीटों पर जीत मिली। राजग को कुल 181 सीटें मिली और पिछले चुनाव की तुलना में उसे 89 सीटों का नुकसान हुआ। चुनावों के बाद केंद्र में मनमोहन सिंह के नेतृत्व में संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन की सरकार बनी। भाजपा और राजग विपक्ष में रहे। भाजपा ने एक सक्रिय विपक्ष की भूमिका निभाने की कोशिश की। लेकिन वाजपेयी के बाद एक सर्वस्वीकार्य और पूरे देश में जनाधार रखने वाले नेता के अभाव में वह कोई खास प्रभाव नहीं छोड़ पायी। इस कारण 2009 के चुनावों में उसे 2004 से भी ज्यादा बड़ी पराजय का सामना करना पड़ा। उसे 22 सीटें कम मिलीं यानी इसे कुल 116 सीटों पर जीत मिली। एक गठबंधन के रूप में भाजपा के नेतृत्व वाले राजग को कुल 159 सीटें मिलीं, जो पिछले चुनावों से 17 कम थीं।

केंद्र में गठजोड़ राजनीति को वैधता दिलाने का श्रेय भाजपा को ही जाता है। लेकिन इस पार्टी के सामने अभी कई तरह की समस्याएँ मौजूद हैं : पहली समस्या तो यह है कि पार्टी के भीतर हिंदुत्ववादी मुद्दों को लेकर एक दुविधा की स्थिति हमेशा बनी रहती है। पार्टी के एक कट्टर धड़े ने हमेशा ही इन मुद्दों पर जोर देने की कोशिश की है। मसलन, 2002 के बाद पार्टी में नरेंद्र मोदी का क्रद लगातार बढ़ता गया है। उग्र हिंदुत्ववादी नीति के पैरोकारों ने उन्हें अपने नेता के तौर पर देखा। एक पार्टी के रूप में अगर भाजपा उग्र हिंदुत्व की राजनीति अपनाती है, तो उसे अपने कई गठबंधन सहयोगियों का साथ खोना पड़ सकता है। उदाहरण के तौर पर जनता दल (एकीकृत) जैसे घटकों ने स्पष्ट रूप से भाजपा के हिंदुत्ववादी राजनीति की ओर वापस जाने और राजग की न्यूनतम सहमति की उपेक्षा करने का विरोध किया है। दूसरे, भाजपा की एक बहुत बड़ी समस्या यह भी है कि वह संघ से अलग अपनी पहचान बना पाने में नाकाम रही है। आज

भी संघ के समर्थन के बगैर कोई नेता इस पार्टी का अध्यक्ष नहीं बन सकता है। तीसरे, भाजपा दक्षिण और उत्तर-पूर्व भारत में अपना कोई खास विस्तार कर पाने में नाकाम रही है। कर्नाटक में अपनी सरकार बनाने और उसे चलाने का उसका प्रयोग बुरी तरह से नाकाम रहा है। दक्षिण के दूसरे कई राज्यों में इसकी स्थिति डाँवाँडोल ही है। उत्तर-पूर्व के राज्यों में भाजपा की स्थिति के बारे में भी यही बात कही जा सकती है। चौथे, सत्ता में रहने के कारण भाजपा के कई नेताओं पर भ्रष्टाचार के आरोप लगे हैं। इससे एक अलग तरह की पार्टी होने का उसका दावा कमजोर हुआ है। पाँचवाँ, आर्थिक मसलों पर भाजपा एक वैकल्पिक राजनीति की रूपरेखा दे पाने में नाकाम रही है। यद्यपि शुरुआत में इसने स्वदेशी पर जोर दिया था। लेकिन सत्ता में आने पर इसने भी कांग्रेस की आर्थिक सुधारों की नीतियों को ही आगे बढ़ाया। इसलिए देश की मुख्य विपक्षी पार्टी और एक बड़े गठजोड़ (राजग) का नेतृत्व करने के बावजूद भाजपा के सामने कई बड़ी चुनौतियाँ हैं। इसकी भविष्य की सम्भावनाएँ इस बात पर निर्भर हैं कि यह किस सीमा तक इन चुनौतियों से उबर पाती है।

देखें : हिंदू राष्ट्रवाद, हिंदू राजनीतिक विचार, आधुनिक भारत में मुसलमान राजनीतिक विचार, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, विनायक दामोदर सावरकर, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, केशवराव बलिराम हेडगेवार, माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर, रामजन्मभूमि आंदोलन-1, 2 और 3।

संदर्भ

1. ऑलिवर हीथ (2002), 'एनाटॉमी ऑफ़ बीजेपीज़ राजज़ टू पावर: सोशल, रीजनल ऐंड पॉलिटिकल एक्सपेंशन इन 1990ज़', जोया हसन (सम्पा.), *पार्टीज़ ऐंड पॉलिटिक्स इन इण्डिया*, ऑक्सफ़र्ड पेपरबैक्स, नयी दिल्ली.
2. अभय कुमार दुबे (2009), 'मैजोरिटेरियनिज़म अनपैकड : ट्रायल्स ऐंड टर्बुलेंशन ऑफ़ भारतीय जनता पार्टी इन उत्तर प्रदेश', सुधा पै (सम्पा.), *पॉलिटिक्स ऐंड कल्चर ऑफ़ उत्तर प्रदेश*, पियर्सन, नयी दिल्ली.
3. शिव विश्वनाथन (2000), 'पॉलिटिक्स ऑफ़ परफ़ॉर्मेंस : बीजेपी इन पावर', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 35, अंक 42.
4. जंगम चिन्नैया (2003), 'बीजेपी ऐंड रिज़र्वेशन : कोटा पॉलिटिक्स ऑल इलेक्टोरल कनवीनियेंस', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 38, अंक 30.

— कमल नयन चौबे

भारतीय डायसपोरा

(Indian Diaspora)

दुनिया का सबसे बड़ा डायसपोरा भारतवंशियों का है। करीब तीन करोड़ की संख्या वाला यह डायसपोरा विश्व के 28 देशों में फैला हुआ है। भारतीय समाज की ही तरह यह डायसपोरा भी बहुधर्मी (हिंदू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, बौद्ध, जैन और पारसी), बहुजातीय (भारत की लगभग सभी जातीयताएँ) और बहुभाषी है। अगर डायसपोरा की तीन प्रमुख श्रेणियाँ (उत्पीड़ित डायसपोरा, श्रमिक डायसपोरा और तिजारती डायसपोरा) मानी जाएँ तो भारतीय डायसपोरा तीनों श्रेणियों का निर्माण करता है। जिप्सी भारतवंशी माने जाते हैं और सारी दुनिया में उनके ख़िलाफ़ उत्पीड़न के प्रमाण बड़े पैमाने पर उपलब्ध हैं। उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के कारण उन्नीसवीं सदी में बहुत बड़ी संख्या में भारतवासियों को अनुबंध की शर्तों में बँधे हुए बँधुआ श्रमिक के तौर पर ब्रिटिश उपनिवेशों के बाग़ानों में काम करने के लिए भेजा गया था। इस डायसपोरा का एक हिस्सा ऐसा भी है जिसे तिजारती श्रेणी में रखा जाएगा। इसके तहत वे भारतवंशी आते हैं जो अपनी व्यापार और व्यवसायगत योग्यताओं के आधार पर विदेशों में बेहतर अवसरों की तलाश में गये थे। इनमें शारीरिक श्रम करने वाले श्रमिकों, कारीगरों, डॉक्टरों, इंजीनियरों और व्यापारियों को रखा जा सकता है। भारतीय डायसपोरा न केवल सामाजिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, बल्कि राजनीतिक नज़रिये से भी उसकी अहमियत दुनिया के दूसरे डायसपोरा समाजों से अधिक है। उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन का इतिहास गवाह है कि दक्षिण अफ़्रीका के भारतीयों के बीच ही गाँधी ने अहिंसक आंदोलन और सत्याग्रह के सबसे पहले प्रयोग किये थे। श्रीलंका में हिंसक अलगाववादी आंदोलन चलाने वाला ईलम संगठन भारतवंशी तमिलों का ही है। उत्तरी अमेरिका के भारतीय भारत में चलने वाली वामपंथी (पीपुल्स एसोसिएशन ऑफ़ नॉर्थ अमेरिका के भारत के नक्सलवादी गुटों के साथ संबंध रहे हैं) और दक्षिणपंथी (अमेरिका, ब्रिटेन और कनाडा के प्रवासी भारतीय विश्व हिंदू परिषद् के हिंदुत्ववादी कार्यक्रम का समर्थन करते रहे हैं) वे दोनों तरह की राजनीति से जुड़े हुए हैं। प्रवासी भारतीय हिंदू धर्म के भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया और उसके ज़रिये उसमें आने वाले परिवर्तनों के भी ज़िम्मेदार माने जाते हैं।

भारत सरकार इस डायसपोरा समाज को दो तकनीकी श्रेणियों में रख कर परिभाषित करती है : अनिवासी भारतीय या प्रवासी भारतीय (एनआरआई) और भारतीय मूल का व्यक्ति (पीआईओ)। नॉन रेज़िडेंट का मतलब है प्रवासी

भारतीय जो भारतवंशी तो है पर भारत के बाहर पैदा हुआ है और स्थाई रूप से बाहर ही रहता है और अपनी रिहाइश के देश का नागरिक है। परसन ऑफ इण्डियन ऑरिजन का मतलब है भारतीय मूल का वह व्यक्ति जो भारत का नागरिक नहीं है। कम से कम चार पीढ़ियों से विदेश में रहने वाले व्यक्ति को पीआईओ का दर्जा मिल सकता है। पीआईओ कार्ड रखने वाले पुरुष की पत्नी भी वह कार्ड रख सकती है, भले ही वह भारतीय मूल की न हो। पीआईओ कार्डधारकों पर वे पाबंदियाँ नहीं होतीं जो विदेशी नागरिकों पर लगायी जाती हैं। यानी उन्हें वीजा और काम करने के परमिट पर कोई रोक नहीं है। न ही उन पर किसी तरह के आर्थिक प्रतिबंध लगाये जाते हैं।

जनवरी, 2006 से भारत सरकार ने 'ओवरसीज़ सिटीजनशिप ऑफ इण्डिया' (ओसीआई) की स्कीम शुरू की है जिसके तहत प्रवासियों को आज़ादी के बाद पहली बार एनआरआई और पीआईओ को सीमित क्रिस्म की दोहरी नागरिकता देने का प्रावधान किया गया है। समझा जाता है कि धीरे-धीरे ओसीआई स्कीम पीआईओ स्कीम की जगह ले लेगी।

इतिहास को देखा जाए तो रोमानी लोगों या जिप्सियों की बड़ी संख्या के भारत से जा कर दूसरे देशों में बसने से भारतीय डायसपोरा की शुरुआत होती है। भाषाई और जेनेटिक प्रमाण बताते हैं कि जिप्सियों का उद्गम मध्य भारत में है। ग्यारहवीं सदी में वे यहीं से उत्तर-पश्चिम की तरफ बढ़े और ईसा से ढाई सौ साल पहले उन्होंने पंजाब के इलाके में कई सदियाँ बितायीं। 500 से 1000 ईस्वी के बीच कई लहरों में रोमानी लोगों ने दुनिया के पश्चिमी हिस्से की तरफ गमन किया। मध्य एशिया के डोम और भारत के बंजारे रोमानी समाज के बचे हुए प्रतिनिधि ही माने जाते हैं। चोल राजाओं और बौद्धों की फ़ौजी मुहिमों के कारण भारतीय प्रभाव दक्षिण-पूर्वी एशिया तक पहुँचा और सुमात्रा, मलय द्वीप और बाली में भारतीय डायसपोरा का आधार बना। सोलहवीं सदी के मध्य में भारतीय व्यापारी मध्य एशिया और फ़्रांस के इलाकों में पहुँचे और उनका एक हिस्सा वहीं बस गया। अट्ठारहवीं सदी तक मास्को और सेंट पीटर्सबर्ग में भी भारतीय मौजूदगी दिखाई पड़ती है। उन्नीसवीं सदी से ब्रिटिश राज के ख़ात्मे तक भारतीय श्रमिकों को क्रारबंद करके बँधुआ मज़दूरों के रूप में मॉरीशस, गुयाना, कैरीबियाई द्वीपों, फ़ीजी, सूरीनाम और पूर्वी अफ़्रीका के बाग़ानों में काम करने के लिए ले जाया जाने लगा। चूँकि ब्रिटिश संसद ने 1834 में दास प्रथा का उन्मूलन कर दिया था, इसलिए इन बाग़ानों में श्रमिकों की कमी पड़ने लगी थी। भारतीय श्रमिकों ने इनकी जगह ली। अंग्रेज़ उपनिवेशवादी भारतीय श्रमिकों को श्रीलंका, बर्मा और ब्रिटिश मलाया के चाय बाग़ानों में काम

करने के लिए भी ले गये।

आज़ादी के बाद अमेरिकी और युरोपीय अर्थव्यवस्थाओं द्वारा दिये गये अवसरों का लाभ उठाने के लिए डॉक्टरों और अन्य पेशों में प्रशिक्षित भारतवासी विदेश गये। सत्तर के दशक में मध्य-पूर्व के देशों में आये तेल बूम से पैदा हुए अवसरों का लाभ उठाने के लिए बड़ी संख्या में भारतवासी खाड़ी देशों में काम करने के लिए गये। नब्बे के दशक में आये सॉफ़्ट वेयर बूम के चलते अमेरिकी और पश्चिमी देशों की अर्थव्यवस्थाओं ने भी बहुत से प्रशिक्षित भारतीयों को अपनी ओर आकर्षित किया।

भारतवंशियों को अपनी रिहाइश के देशों में बसने के लिए काफ़ी संघर्ष करना पड़ा है। युगांडा में ईदी अमीन की सरकार द्वारा एशियाइयों के ख़िलाफ़ चलाई गयी मुहिम के दौरान भारतीयों को सबसे ज़्यादा नुकसान उठाना पड़ा था। फ़ीजी में भारतवासी मूल निवासियों के राजनीतिक कोप का सामना कर चुके हैं। ब्रिटेन, कनाडा और अमेरिका में उन्हें गोरों की नस्ली घृणा का मुकाबला करना पड़ा है। ऑस्ट्रेलिया में 2009-10 के दौरान भारतीय छात्रों ने अमानवीय हिंसा के घाव झेले हैं।

कहा जाता है कि ऑस्ट्रेलिया में भारतीयों का आगमन उस ज़माने में हुआ था जब वहाँ ऊँटों के ज़रिये संचार व्यवस्था चलती थी। इन भारतीयों को अफ़ग़ान कहा जाता था और वे मेलबर्न और अन्य ऑस्ट्रेलियायी केंद्रों के बीच सूत्र की भूमिका निभाते थे। आज ऑस्ट्रेलिया में करीब 2,60,000 भारतीय रहते हैं जिनमें ज़्यादातर हिंदू और सिक्ख हैं। कनाडा में भारतीयों का आगमन उन्नीसवीं सदी में शुरू हुआ। उन्हें गोरी चमड़ी के कनाडियनों के नस्ली हमलों का सामना करना पड़ा। 1919 तक कनाडा की सरकार इन्हें अपनी पत्नी और बच्चों को लाने की इजाज़त नहीं देती थी। इसके बाद भारतीयों पर कोटा सिस्टम थोपा गया जो 1967 तक जारी रहा। आज चीनियों के बाद भारतीय कनाडा में हर साल आने वाले विदेशियों में सबसे ज़्यादा हैं। कैरीबियन द्वीप समूहों में 1838 से 1917 के बीच पचास लाख से ज़्यादा भारतीय क्रारबंद श्रमिकों के रूप में बाग़ानों में काम करने के लिए लाये गये। इनमें से ज़्यादातर पूर्वी उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बिहार के थे। आज जमैका और सेंट व्हिंसेंट जैसे देशों में भारतीय-कैरेबियन मूल के लोग सबसे बड़े जातीय समूहों की रचना करते हैं। बहामा, बारबाडोस, बेलिज़, फ्रेंच गुआना, ग्रेनेडा, पनामा, सेंट लूसिया और हैती में भी उनकी आबादी है। इन भारतीयों ने तरह-तरह की कठिनाइयों का सामना करते हुए इन द्वीपों के विकास में उल्लेखनीय भूमिका का निर्वाह किया है।

ब्रिटेन में रहने वाला प्रवासी भारतीय समुदाय मोटे तौर पर तीसरी पीढ़ी से गुज़र रहा है और आबादी के लिहाज़ से दूसरे नम्बर पर आता है। उनसे ज़्यादा आबादी केवल

अमेरिका और कनाडा के भारतवंशियों की ही है। अप्रैल, 2001 की जनगणना के अनुसार वहाँ 4,051,0800 भारतीय रहते हैं जिनमें सत्तर फ़ीसदी संख्या पंजाबियों की है। बाकी 30 फ़ीसदी में ज्यादातर बंगाली और गुजराती हैं। अधिकतर भारतीय लंदन, मिडलैण्ड, नॉर्थ वेस्ट और यार्कशायर में रहते हैं। इंग्लैण्ड में अंग्रेज़ी के बाद सबसे ज्यादा बरती जाने वाली भाषा पंजाबी है। ब्रिटिश संस्कृति और खान-पान पर भारतीय प्रभाव भी दिखने लगा है।

उत्तरी अमेरिका में भारतीय समुदाय की रिहाइश अब सौ साल से ज्यादा पुरानी हो चुकी है। शुरुआती प्रवासियों में ज्यादातर सिक्ख थे। 1889 में पहला हिंदू परिवार अमेरिका पहुँचा तो वहाँ की सरकार ने उसके लिए मंदिर का निर्माण करवाया। इससे आकर्षित हो कर और हिंदुओं ने अमेरिका की राह पकड़ी। इसके बाद अमेरिका में कई मंदिर दिखने लगे। लेकिन, सरकार ने सिक्खों को अपने गुरुद्वारे बनाने की यह मान कर इजाज़त नहीं दी कि उनका सम्प्रदाय हिंदू धर्म से ही निकला है इसलिए अगर वे पूजा करना चाहें तो मंदिरों में कर सकते हैं। 1911 में कनाडा में पहला गुरुद्वारा बना। आज कनाडा में कई गुरुद्वारे हैं, पर अमेरिका में अब भी उनकी संख्या बहुत कम है। शुरू में एशियाई स्त्रियों को अमेरिका आने की अनुमति नहीं थी, इसलिए बहुत दक्षिण एशियाई पुरुषों ने मैक्सिकन औरतों से शादियाँ कीं। प्रवासियों को इस दौर में अमेरिकन नागरिकता नहीं दी गयी। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अमेरिकन आव्रजन नीति में परिवर्तन हुआ और तक्ररीबन आधी सदी के बाद भारतवंशियों को अपने परिवार बुलाने और नागरिकता समेत वोट डालने के अधिकार मिले। इसके बाद परिस्थिति अनुकूल हो जाने के बाद पचास, साठ, सत्तर और अस्सी के दशक में विभिन्न चरणों में भारतीय छात्रों, डॉक्टरों, इंजीनियरों और अन्य हुनरमंद कर्मचारियों के रूप में अमेरिका गये और वहीं बस गये। शुरुआत में सिक्ख और पंजाबी ज्यादा थे, पर बाद के चरणों में गुजराती और दक्षिण भारतीय प्रवासी बने। नब्बे के दशक और नयी सदी के शुरुआती सालों में हुई सूचना क्रांति ने सबसे बड़ी संख्या में भारतीयों को अमेरिका की तरफ आकर्षित किया। आज अमेरिकी सार्वजनिक जीवन में भी भारतीयों की अच्छी-खासी उपस्थिति है। न्यूयॉर्क में सबसे ज्यादा भारतीय रहते हैं और ऐसा कोई महानगरीय क्षेत्र नहीं है जिसमें भारतीय समुदाय मौजूद न हो।

देखें : अनुसूचित जातियाँ, अनुसूचित जनजातियाँ, अन्य पिछड़े वर्ग, आरक्षण, आधुनिकता, अरविंद घोष, आधुनिकीकरण, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, जवाहरलाल नेहरू, जातियों का राजनीतीकरण, डायसपोरा, बंगाल का नवजागरण, भारतीय अभिजन, भारतीय आधुनिकता, भारतीय इस्लाम, भारतीय उदारतावाद, भारत में उपनिवेशवाद, भारतीय नवजागरण : तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य, भारत में नियोजन, भारत में प्रातिनिधिक प्रणाली, भारत में पृथकतावादी राजनीति,

भारत में मतदान-व्यवहार-1 से 6 तक, भारत में सामाजिक आंदोलन, भारतीय राज्य, भारतीय राष्ट्रवाद, भारतीय लोकतंत्र, भारतीय लोकतंत्र का संस्थानीकरण-1 से 3 तक, भारतीय स्वभाव और राजनीति, भारतीय संविधान-1 से 8 तक, भारतीय सामाजिक आंदोलन, भीमराव रामजी आम्बेडकर, राजा राममोहन राय, विवेकानंद, विनायक दामोदर सावरकर, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1 से 3 तक, सामाजिक आंदोलन।

संदर्भ

1. जी. ओंक (2007), *ग्लोबल डायसपोरा : ट्रेजेक्टरीज़ ऑफ़ माइग्रेशन ऐंड थियरी*, एमस्टर्डम युनिवर्सिटी प्रेस, 2007
2. डायसपोरा : *द नैशनल पोर्टल ऑफ़ गवर्नमेंट ऑफ़ इण्डिया*, (एचटीटीपी://इण्डिया.जीओवी.इन/ओवरसीज़/डायसपोरा/एनआर आई.पीएचपी)

— अभय कुमार दुबे

भारतीय फ़िल्म-अध्ययन

पुरोदर्शन का सिद्धांत

(Indian Film Studies: Frontality Thesis)

पश्चिम के फ़िल्म-सिद्धांतकारों का ध्यान भारतीय सिनेमा की ओर 1956 में गया जब सत्यजीत राय की फ़िल्म 'पाथेर पांचाली' प्रदर्शित हुई। उस क्षण से लेकर अस्सी और नब्बे के दशक में देशी फ़िल्म-अध्येताओं द्वारा सिनेमा के ज़रिये हमारी सौंदर्यमूलक आधुनिकता के असाधारण सिद्धांतीकरण तक भारतीय फ़िल्म-अध्ययन का सफ़र एक सार्थक यात्रा कर चुका है। आज यह अनुशासन एक ऐसे मुकाम पर खड़ा है जहाँ वह आधुनिकता के विशिष्ट भारतीय रूप के तहत सांस्कृतिक उत्पादन के राजनीतिक आयामों की शिनाख्त करने का दावा कर सकता है।

भारतीय सिनेमा के अध्ययन की शुरुआत मुख्यतः दो दृष्टिकोणों के साथ हुई थी। पहले नज़रिये का दावा था कि पश्चिम में विकसित सिनेमाई सौंदर्यशास्त्र के इर्द-गिर्द बुने गये विमर्श के मुताबिक़ राय से पहले की भारतीय फ़िल्मों को सच्चे सिनेमा की श्रेणी में माना ही नहीं जा सकता। जो फ़िल्म-संस्कृति कला-सिनेमा की कसौटियों पर खरी नहीं उतरती, वह असल में सिनेमा है नहीं। ज्यादा से ज्यादा वह सिनेमा बनने की प्रक्रिया में है। इस पश्चिमी आग्रह के दो प्रभाव पड़े। पहला, मूक फ़िल्मों और उसके बाद सवाक् फ़िल्मों के भारतीय अध्याय का यत्र-तत्र जिक़्र भर किया

गया, पर उसे समझने के लिए किसी तरह का ऐतिहासिक और राजनीतिक परिप्रेक्ष्य विकसित करने की कोशिश नहीं की गयी। दूसरा, भारतीय फ़िल्म उद्योग के व्यावसायिक पक्ष, विविध सिनेमा संस्कृतियों और राष्ट्रनिर्माण की सांस्कृतिक राजनीति का अर्थग्रहण करने वाले अध्ययन नहीं किये गये। परिणामस्वरूप लम्बे समय तक भारतीय फ़िल्मों का अध्ययन सत्यजीत राय, ऋत्विक् घटक और ऐसे ही कुछ श्रेष्ठ फ़िल्मकारों की कृतियों पर किये गये लेखन तक सीमित रहा। पश्चिम में राय और घटक के प्रशंसकों की संख्या बढ़ती रही। पश्चिमी अध्येताओं द्वारा घटिया समझे जाने वाले भारतीय सिनेमा की पृष्ठभूमि में भारतीय कला-सिनेमा के इन हस्ताक्षरों का सितारा और भी ज़्यादा चमकता दिखाई दिया।

पश्चिमी फ़िल्म-अध्ययन का दूसरा नज़रिया यह था कि व्यावसायिक भारतीय फ़िल्मों को हॉलीवुड में विकसित हुई फ़िल्म-निर्माण संहिताओं की रोशनी में ही देखा जाना चाहिए। भारतीय सिनेमाई यथार्थवाद वैसा ही होना चाहिए था, जैसा हॉलीवुड द्वारा स्थापित कर दिया गया है।

भारतीय फ़िल्मों के अध्ययन की एक अन्य प्रवृत्ति भारत के और भारत के ऊपर काम करने वाले मानवशास्त्रियों, भारतविद्याविदों और समाज-मनोविदों के लेखन से सामने आयी। जैसे तो फ़िल्म-अध्ययन इन विद्वानों के अकादमीय एजेंडे के हाशिये पर ही था, पर फिर भी उनके हस्तक्षेप ने लोकप्रिय सिनेमा पर गम्भीर चिंतन-मनन करने की ज़रूरत की तरफ़ ध्यान खींचा। इन लोगों की निगाह में लोकप्रिय व्यावसायिक सिनेमा भारतीय संस्कृति की एक अभंग निरंतरता का प्रमाण था। उन्होंने तर्क दिया कि ये फ़िल्में आधुनिकता के आक्रमण के खिलाफ़ भारत के सांस्कृतिक जीवत की वाहक हैं। नृजातिवर्णन के औज़ारों का इस्तेमाल करते हुए इसी श्रेणी के कुछ अध्येताओं ने लोकप्रिय फ़िल्म संस्कृतियों को अभिग्रहण (रिसेप्शन) के आईने में देखा। इन विद्वानों ने पहले तो जनसाधारण के बीच से उभरे दर्शक वर्ग की एक ऐसे तबक़े के रूप में संकल्पना की जो अपने आधुनिकीकृत होते हुए पर्यावरण के प्रति असहज है, और फिर इस नतीजे पर पहुँचे कि व्यावसायिक फ़िल्में इस दर्शक की विचारधारात्मक और सांस्कृतिक ज़रूरतें पूरा करने में कामयाब हैं।

भारतीय फ़िल्म-अध्ययन की पहली प्रवृत्ति कला सिनेमा तक सीमित ज़रूर थी, पर वह राय और घटक के भारतीय आधुनिकता से संबंधित परिप्रेक्ष्य और राजनीतिक सरोकारों के प्रति सचेत भी थी। पर व्यावसायिक सिनेमा को सम्बोधित करने वाली दूसरी प्रवृत्ति ने (जिसमें बहुत से भारतीय विद्वानों की भी भागीदारी थी) इस पहलू को स्पर्श नहीं किया। वे अपनी अधिकतर गवेषणा भारतीय संस्कृति में निहित मिथक-रचना की क्षमता और स्वायत्त लोक-संस्कृति

के रूपों के संदर्भ में ही करते रहे। इस तरह फ़िल्म-अध्ययन की इन प्रवृत्तियों ने भारतीय सिनेमा को दो ध्रुवों में बाँट दिया। एक तरफ़ कला सिनेमा था जिसके सरोकारों के केंद्र में बनते हुए आधुनिक राष्ट्र-राज्य की समस्याएँ थीं। दूसरी तरफ़ व्यावसायिक सिनेमा था जो न केवल परम्परा, वाचिकता और लोक के दायरे में परिभाषित किया जा रहा था, बल्कि उसके भीतर आधुनिकता के प्रति असहजता और यहाँ तक कि शत्रुभाव की भी शिनाख़्त की जा रही थी।

वस्तुस्थिति यह थी कि व्यावसायिक सिनेमा और उसे सफल बनाने वाला दर्शक वर्ग पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के आधार पर संरचित फ़िल्म उद्योग और बाज़ार के हाथों संसाधित हो रहा था। इसके साथ-साथ उसमें कई और पहलू शामिल थे। व्यावसायिक सिनेमा आधुनिक प्रौद्योगिकी, हॉलीवुडीय सिनेमा के प्रभाव, आधुनिक राज्य के वर्चस्व, आधुनिकीकरण-सेकुलरीकरण-शहरीकरण की निरंतर जारी प्रक्रिया के कारण जन-साधारण की कामनाओं के बदलते हुए संसार को भी अभिव्यक्त कर रहा था। इस रोशनी में व्यावसायिक सिनेमा के अध्ययन की शुरुआत अस्सी के दशक के उत्तरार्ध और नब्बे के दशक में हुई। तेलुगु के सुपरस्टार नंदमूर तारक रामराव की राजनीतिक सफलताओं को जनमानस पर सिनेमा की गिरफ़्त के रूप में देखने वाली चिदानंद दासगुप्ता की कृति 'द पेंटिड फ़ेस' का प्रकाशन हुआ। सुमिता एस. चक्रवर्ती ने अपनी कृति 'नैशनल आइडेंटिटी इन पॉप्युलर सिनेमा' में व्यावसायिक फ़िल्मों को आधुनिक राष्ट्र-राज्य के परिप्रेक्ष्य में स्थित करके अभिव्यक्ति की समकालीन विधि के रूप में विश्लेषित किया। इसके अलावा *जर्नल ऑफ़ आर्ट्स एंड आइडियाज़* में लिखने वाले कई अध्येताओं (आशीष राज्याध्यक्ष, गीता कपूर, अनुराधा कपूर, रवि वासुदेवन, एम. माधव प्रसाद, विवेक धारेश्वर, तेजस्विनी निरंजना) ने भारतीय आधुनिकता की जाँच-पड़ताल को केंद्र में रख कर एक मीडिया के तौर पर व्यावसायिक सिनेमा पर प्रभावशाली और नयी ज़मीन तोड़ने वाला लेखन किया।

इन विद्वानों ने सबसे पहले तो यह मानने से इनकार कर दिया कि फ़िल्में एक ही तरह से (पश्चिम द्वारा स्थापित तरीकों) बनायी जानी चाहिए। उन्होंने भारत में प्रचलित फ़िल्म-निर्माण की नाना प्रकार की विधियों को सकारात्मक दृष्टि से देखा और इसे 'हेटरोजेनिटी ऑफ़ प्रोडक्शन' के तौर पर मान्यता दी। दूसरे उन्होंने मेलोड्रामा (अतिनाटकीयता) के महत्त्व और प्रभाव की पड़ताल करते हुए उसके अध्ययन में विशिष्ट योगदान किया। इन विद्वानों के काम का तीसरा और सबसे प्रभावशाली पहलू यह था कि उन्होंने भारत के आधुनिक सौंदर्यमूलक रूपों के विकास का इतिहास उन्नीसवीं सदी से रंगमंच, कला और सिनेमा के संसार में

खोजना शुरू किया। विशेष रूप से गीता कपूर ने भारत में कलात्मक निरूपण की विधि पहचानते हुए पुरोदर्शन (फ्रंटलिटी) की थीसिस का सूत्रीकरण किया। विद्वानों की यह मण्डली आजकल भारतीय फ़िल्मों की संगीतात्मकता (म्यूज़िकलिटी) के अध्ययन की पेशबंदी में लगी हुई है।

पुरोदर्शन के सिद्धांत के दो स्रोत थे। सिनेमा के एकदम शुरुआती सालों में हॉलीवुड भी पुरोदर्शन को मान्यता देता था। दर्शक को सीधे सम्बोधित करने वाली इस विधि को 'मोड ऑफ़ डायरेक्ट एड्रेस' की संज्ञा दी गयी। पर बीसवीं सदी के शुरुआती दशक के बाद जब वहाँ फ़िल्म-निर्माण की संहिताएँ बननी शुरू हुईं तो निरूपण की जिस विधि पर पूरी तरह से पाबंदी लगा दी गयी वह पुरोदर्शन ही था। दूसरे, यह सिद्धांत भारतीय रंगमंच के क्षेत्र में पनपी परम्पराओं की देन भी था।

सिनेमा के लिए पुरोदर्शन या फ्रंटलिटी का मतलब होता है अभिनेता का दर्शक से सीधा साक्षात्कार यानी कैमरे में देख कर अभिनय करना। हॉलीवुड का अभिनेता ऐसा नहीं कर सकता। उसे फ़िल्म के सेट पर मौजूद अन्य पात्रों या परिस्थितियों की तरफ़ मुँह करके अभिनय करना होता है ताकि पर्दे पर 'यथार्थ' का अंकन हो सके। हॉलीवुड के लिए यथार्थ पर्दे और उसके नेपथ्य को मिला कर बनने वाला सीलबंद स्पेस है। दर्शक के साथ पात्रों की निगाह की अन्योन्यक्रिया उस स्पेस का अतिक्रमण कर सकती है जिससे यथार्थ की शुद्धता भंग हो जाने का खतरा पैदा होने का अंदेश रहता है। भारतीय फ़िल्मों में सिनेमाई यथार्थ की खोज रंगमंच की परम्परा से प्राप्त निरूपण की विधियों के ज़रिये करती हैं जिनमें पुरोदर्शन मुख्य है।

पुराने ज़माने के खुले रंगमंच में पुरोदर्शन के कई तात्पर्य हो सकते थे। अभिनेता जब अपनी दैहिक-मुद्रा दर्शकों की तरफ़ मोड़ता था तो दर्शक और उसकी नज़रें एक-दूसरे की तरफ़ बेबाक देखती थीं। दोनों अपनी-अपनी जगह अस्तित्ववान रहते थे। आगे चल कर केवल सामने से देखने (अग्रदर्शन) के लिए बने थिएटरों में मंचित होने वाले नाटकों में अपनी कला का प्रदर्शन करते हुए पारसी थिएटर के अभिनेता और दर्शक के बीच एक चौथी काल्पनिक दीवार भी रहती थी (ठीक उस जगह जहाँ मंच का अंत होता था और दर्शकों की क्रतारें शुरू होती थीं)। लेकिन इसके बावजूद पारसी थिएटर का कलाकार दर्शकों से अपना सम्पर्क और तादात्म्य उसी तरह क्रायम करता रहा जिस तरह पहले वाले खुले मंच के अभिनेता करते थे।

पश्चिम द्वारा प्रतिपादित निरूपण की यथार्थवादी विधि के मुकाबले यह एक नये तरह के निरूपण का विमर्श था। राज्याध्यक्ष वगैरह ने यह समझने की कोशिश की रंगमंचीय

पुरोदर्शन ने जब सिनेमैटोग्राफी की नयी प्रौद्योगिकी पर महारत हासिल करने की कोशिश की तो किस तरह का रचनात्मक संकट पैदा हुआ, फ़िल्म-दृश्य के फ्रेम में प्रवेश करने की समस्याओं का समाधान कैसे हुआ और 'यथार्थ' को 'प्रत्यक्षतः' पकड़ने की प्रक्रिया के मानक किस तरह प्राप्त किये गये। इस विद्वत्तापूर्ण उद्यम से निकले आख्यानो में कभी तो प्रौद्योगिकी के प्रश्न को राजनीति के मुकाबले अधिक महत्त्व मिला और कभी उन राजनीतिक मर्यादाओं पर गहराई और विस्तार से विचार किया गया जो शुरुआती भारतीय सिनेमा के पाठ से स्पष्ट होती थीं।

इन्हीं विद्वानों की मण्डली के एक सदस्य एम. माधव प्रसाद ने यथार्थवाद के सौंदर्यशास्त्र और पुरोदर्शन के सौंदर्यशास्त्र के बीच अंतर की परिभाषा इस तरह की है : रंगमंच सरीखी पुरोदर्शनीयता की स्थिति में अभिनेता प्रतीकात्मक संरचनाओं से संदेश ग्रहण करके उसके वाहक की भूमिका निभाता है। उसके प्रदर्शन के माध्यम से उस संदेश का संचार दर्शक तक होता है। इस प्रक्रिया में अभिनेता और दर्शक के बीच वही सीधा संबंध-सूत्र रहता है जो थिएटर की स्थितियों में बनता था। दूसरी तरफ़ यथार्थवादी फ़िल्मांकन में प्रतीकात्मक संरचना की नुमाइंदगी वह दर्शक करता है जो असल में नागरिक है। यह नागरिक-दर्शक एक ऐसे व्याख्यात्मक प्राधिकार से सम्पन्न रहता है जो निरूपण के फ्रेम के भीतर से मिलने वाली कोई भी चुनौती बर्दाश्त करने के लिए तैयार नहीं होता। अर्थात् पुरोदर्शन के तहत प्रदर्शन संदेशवाहक होता है और दर्शक उसे ग्रहण करता है। यथार्थवाद के तहत फ़िल्म का पाठ कच्चे माल की तरह मौजूद रहता है जिसकी व्याख्या करके अर्थग्रहण का काम नागरिक-दर्शक का है।

भारतीय फ़िल्म-अध्ययन पुरोदर्शन को केवल फ़िल्मों के दायरे में ही प्रासंगिक नहीं मानता। उसकी मान्यता है कि यह चाक्षुष कला की सभी विधाओं की प्रमुख भारतीय प्रवृत्ति है। अध्येताओं ने अपने विमर्श में इस बात को ज़ोर दे कर रेखांकित किया है कि पुरोदर्शन की विधि हॉलीवुड के निषेध के बावजूद भी भारत में शुरू से आज तक अपनायी जाती रही है। यहाँ तक कि पश्चिम में विकसित सिनेमाई यथार्थवाद से प्रेरित सत्यजीत राय जैसे फ़िल्मकारों की कृतियों में भी इसका भरपूर इस्तेमाल किया गया है। ऋत्विक् घटक जैसे अनूठे फ़िल्मकार ने पुरोदर्शन को आत्मसात किया है। आज के नये फ़िल्मकार भी किसी न किसी प्रकार सिनेमाई निरूपण की इस विधि के दायरे में ही फ़िल्मों बना रहे हैं।

देखें : अतिनाटकीयता, अनुपस्थिति-उपस्थिति, कला सिनेमा, अवाँगार्ड और प्रति-सिनेमा, टीवी और समाचार, टीवी और सेक्सुअलिटी, टीवी और टीवी-अध्ययन, तीसरा सिनेमा, तीसरी दुनिया का सिनेमा, दक्षिण भारतीय सिनेमा और राजनीति, दर्शक, श्रोता और पाठक, नारीवादी

फ़िल्म-सिद्धांत, फ़िल्म और सेक्शुअलिटी, फ़िल्म और टीवी सेंसरशिप, फ़िल्मांतरण, फ़िल्म-सिद्धांत, प्रलेश-बैक, भारतीय सिनेमा-1, 2 और 3, भारतीय स्टार सिस्टम, रियलिटी टीवी, विचारधारा और हिंदी सिनेमा, वृत्त-चित्र, सेलेब्रिटी, सोप ओपेरा, सिनेमाई यथार्थवाद, नव-यथार्थवाद, सोवियत सिनेमा, स्टार, हिंदी सिनेमा का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. एम. माधव प्रसाद (1998), 'इंट्रोडक्शन : द आइडियॉलॉजी ऑफ़ फ़ॉर्मल सब्सम्पशन', *आइडियॉलॉजी ऑफ़ हिंदी फ़िल्म : अ हिस्टोरिकल कंस्ट्रक्शन*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
2. चिदानंद दासगुप्ता (1991), *पेंटिड फ़ेस : स्टडीज़ इन इण्डियाज़ पॉप्युलर सिनेमा*, रोली बुक्स, नयी दिल्ली.
3. सुमिता एस. चक्रवर्ती (1993), *नैशनल आइडेंटिटी इन पॉप्युलर सिनेमा, 1947-1987*, युनिवर्सिटी ऑफ़ टेक्सास प्रेस, ऑस्टिन.

— अभय कुमार दुबे

भारतीय मीडिया-1

औपनिवेशिक बनाम राष्ट्रीय

(Indian Media-1)

भारत में मीडिया का विकास तीन चरणों में हुआ। पहले दौर की नौवें उन्नीसवीं सदी में उस समय पड़ी जब औपनिवेशिक आधुनिकता के संसर्ग और औपनिवेशिक हुकूमत के खिलाफ़ असंतोष की अंतर्विरोधी छाया में हमारे सार्वजनिक जीवन की रूपरेखा बन रही थी। इस प्रक्रिया के तहत मीडिया दो ध्रुवों में बँट गया। उसका एक हिस्सा औपनिवेशिक शासन का समर्थक निकला, और दूसरे हिस्से ने आज़ादी का झण्डा बुलंद करने वालों का साथ दिया। राष्ट्रवाद बनाम उपनिवेशवाद का यह दौर 1947 तक चलता रहा। इस बीच अंग्रेज़ी के साथ-साथ भारतीय भाषाओं में पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन की समृद्ध परम्परा पड़ी और अंग्रेज़ों के नियंत्रण में रेडियो-प्रसारण की शुरुआत हुई। दूसरा दौर आज़ादी मिलने के साथ प्रारम्भ हुआ और अस्सी के दशक तक चला। इस लम्बी अवधि में मीडिया के प्रसार और गुणवत्ता में ज़बरदस्त बढ़ोतरी हुई। उसके विभिन्न रूप भारत को आधुनिक राष्ट्र-राज्य बनाने के लक्ष्य के इर्द-गिर्द गढ़ी गयी अखिल भारतीय सहमति को धरती पर उतारने की महा-परियोजना में भागीदारी करते हुए दिखाई पड़े। इसी दौर में टीवी का आगमन हुआ। मुद्रित मीडिया मुख्यतः निजी क्षेत्र के हाथ में, और रेडियो-टीवी की लगाम सरकार के हाथ में रही।

नब्बे के दशक में भूमण्डलीकरण के आगमन के साथ तीसरे दौर की शुरुआत हुई जो आज तक जारी है। यह राष्ट्र-निर्माण और जन-राजनीति के प्रचलित मुहावरे में हुए आमूल-चूल परिवर्तन का समय था जिसके कारण मीडिया की शक्ति-सूरत और रुझानों में भारी तब्दीलियाँ आयीं। टीवी और रेडियो पर सरकारी जकड़ ढीली पड़ी। निजी क्षेत्र में चौबीस घंटे चलने वाले उपग्रहीय टीवी चैनलों और एफ़एम रेडियो चैनलों का बहुत तेज़ी से प्रसार हुआ। बढ़ती हुई साक्षरता और निरंतर जारी आधुनिकीकरण के तहत भारतीय भाषाओं के मीडिया ने अंग्रेज़ी-मीडिया को प्रसार और लोकप्रियता में बहुत पीछे छोड़ दिया। मीडिया का कुल आकार अभूतपूर्व ढंग से बढ़ा। नयी मीडिया प्रौद्योगिकियों का इस्तेमाल करने वाले लोगों की संख्या में ज़बरदस्त बढ़ोतरी हुई। महज़ दस साल के भीतर-भीतर भारत में भी तक्ररीबन वही स्थिति बन गयी जिसे पश्चिम में 'मीडियास्फ़ेयर' कहा जाता है।

भारत में मीडिया के विकास के पहले चरण को तीन हिस्सों में बाँट कर समझा जा सकता है। पंद्रहवीं और सोलहवीं सदी में ईसाई मिशनरी धार्मिक साहित्य का प्रकाशन करने के लिए भारत में प्रिंटिंग प्रेस ला चुके थे। भारत का पहला अख़बार *बंगाल गज़ट* भी 29 जनवरी, 1780 को एक अंग्रेज़ जेम्स ऑगस्टस हिकी ने ही निकाला। चूँकि हिकी इस साप्ताहिक के ज़रिये भारत में ब्रिटिश समुदाय के अंतर्विरोधों को कटाक्ष भरी भाषा में व्यक्त करते थे, इसलिए जल्दी ही उन्हें गिरफ़्तार कर लिया गया और दो साल में अख़बार का प्रकाशन बंद हो गया। हिकी के बाद किसी अंग्रेज़ ने औपनिवेशिक हितों पर चोट करने वाला प्रकाशन नहीं किया।

उन्नीसवीं सदी के दूसरे दशक में कलकत्ता के पास श्रीरामपुर के मिशनरियों ने और तीसरे दशक में राजा राममोहन राय ने साप्ताहिक, मासिक और द्वैमासिक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन प्रारम्भ किया। पत्रकारिता के ज़रिये यह दो दृष्टिकोणों का टकराव था। श्रीरामपुर के मिशनरी भारतीय परम्परा को गर्हित साबित करते हुए ईसाइयत की श्रेष्ठता स्थापित करना चाहते थे, जबकि राजा राममोहन राय की भूमिका हिंदू धर्म और भारतीय समाज के आंतरिक आलोचक की थी। वे परम्परा के उन रूपों की आलोचना कर रहे थे जो आधुनिकता के प्रति सहज नहीं थे। साथ में राजा राममोहन परम्परा के उपयोगी आयामों को ईसाई प्रेरणाओं से जोड़ कर एक नये धर्म की स्थापना की कोशिश में भी लगे थे। इस अवधि में मीडिया की सारवस्तु पर धार्मिक प्रश्नों और समाज सुधार के आग्रहों से संबंधित विश्लेषण और बहसें हावी रहीं।

समाज सुधार के प्रश्न पर व्यक्त होने वाला मीडिया का यह द्वि-ध्रुवीय चरित्र आगे चल कर औपनिवेशिक बनाम राष्ट्रीय के स्पष्ट विरोधाभास में विकसित हो गया और 1947 में सत्ता के हस्तांतरण तक कायम रहा। तीस के दशक तक अंग्रेजी के ऐसे अखबारों की संख्या बढ़ती रही जिनका मकसद अंग्रेजों के शासन की तरफ़दारी करना था। इनका स्वामित्व भी अंग्रेजों के हाथ में ही था। 1861 में बम्बई के तीन अखबारों का विलय करके *टाइम्स ऑफ़ इण्डिया* की स्थापना भी ब्रिटिश हितों की सेवा करने के लिए रॉबर्ट नाइट ने की थी।

1849 में गिरीश चंद्र घोष ने पहला *बंगाल रिकॉर्डर* नाम से ऐसा पहला अखबार निकाला जिसका स्वामित्व भारतीय हाथों में था। 1853 में इसका नाम बदल कर *हिंदू पैट्रियट* हो गया। हरिश्चंद्र मुखर्जी के पराक्रमी सम्पादन में निकलने वाले इस पत्र ने विभिन्न प्रश्नों पर ब्रिटिश हुकूमत की कड़ी आलोचना की परम्परा का सूत्रपात किया। सदी के अंत तक एक तरफ़ तो उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रीय नेतृत्व का आधार बन चुका था, और दूसरी तरफ़ स्वाधीनता की कामना का संचार करने के लिए सारे देश में विभिन्न भाषाओं में पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन होने लगा था। भारतीय भाषाओं की पत्रकारिता ब्रिटिश शासन को आड़े हाथों लेने में कतई नहीं चूकती थी। इसी वजह से 1878 में अंग्रेजों ने वरनाकुलर प्रेस एक्ट बनाया ताकि अपनी आलोचना करने वाले प्रेस का मुँह बंद कर सकें। इसका भारत और ब्रिटेन में जम कर विरोध हुआ। 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का गठन हुआ जिसकी गतिविधियाँ उत्तरोत्तर मुखर राष्ट्रवाद की तरफ़ झुकती चली गयीं। भारतीय भाषाओं के प्रेस ने भी इसी रुझान के साथ ताल में ताल मिला कर अपना विकास किया।

मीडिया के लिहाज़ से बीसवीं सदी को एक उल्लेखनीय विरासत मिली जिसके तहत तिलक, गोखले, दादाभाई नौरोजी, सुरेंद्रनाथ बनर्जी, मदनमोहन मालवीय और रवींद्रनाथ ठाकुर के नेतृत्व में अखबारों और पत्रिकाओं का प्रकाशन हो रहा था। बीस के दशक में गाँधी के दिशा-निर्देश में कांग्रेस एक जनानंदोलन में बदल गयी। खुद गाँधी ने राष्ट्रीय पत्रकारिता में तीन-तीन अखबार निकाल कर योगदान दिया। लेकिन इस विकासक्रम का एक दूसरा ध्रुव भी था। अगर इन राष्ट्रीय हस्तियों के नेतृत्व में *मराठा*, *केसरी*, *बंगाली*, *हरिजन*, *नवजीवन*, *यंग इण्डिया*, *अमृत बाज़ार पत्रिका*, *हिंदुस्तानी*, *एडवोकेट*, *ट्रिब्यून*, *अखबार-ए-आम*, *साधना*, *प्रवासी*, *हिंदुस्तान रिव्यू*, *रिव्यू* और *अभ्युदय* जैसे प्रकाशन उपनिवेशवाद विरोधी तर्कों और स्वाधीनता के विचार को अपना आधार बना रहे थे, तो कलकत्ता का *स्टेट्समैन*, बम्बई का *टाइम्स ऑफ़ इण्डिया*, मद्रास का *मेल*, लाहौर का *सिविल ऐंड मिलिट्री गज़ट* और इलाहाबाद का *पायनियर* खुले तौर पर अंग्रेजी शासन के गुण गाने में विश्वास करता था।

मीडिया-संस्कृति का यह द्विभाजन भाषाई आधार पर ही और आगे बढ़ा। राष्ट्रीय भावनाओं की पैरोकारी करने वाले अंग्रेजी के अखबारों की संख्या गिनी-चुनी ही रह गयी। बाकी अंग्रेजी के अखबार अंग्रेजों के पिट्टू बन गये। भारतीय भाषाओं के अखबारों ने खुल कर उपनिवेशवाद विरोधी आवाज़ उठानी शुरू कर दी। अंग्रेज समर्थक अखबारों के पत्रकारों के वेतन और सुविधाओं का स्तर भारतीय भाषाओं के प्रकाशनों में कार्यरत पत्रकारों के वेतन वगैरह से बहुत अच्छा था। ब्रिटिश समर्थक अखबारों को खूब विज्ञापन मिलते थे और उनके लिए संसाधनों की कोई कमी न थी। उपनिवेशवाद विरोधी अखबारों का पूँजी-आधार कमज़ोर था। बहरहाल, अंग्रेजी पत्रकारिता के महत्त्व को देखते हुए जल्दी ही मालवीय, मुहम्मद अली, ऐनी बेसेंट, मोतीलाल नेहरू आदि ने राष्ट्रवादी विचारों वाले अंग्रेजी अखबारों (*लीडर*, *कॉमरेड*, *मद्रास स्टैंडर्ड*, *न्यूज़*, *इंडिपेंडेंट*, *सिंह ऑब्ज़र्वर*) की शुरुआत की। दिल्ली से 1923 में कांग्रेस का समर्थन करने वाले भारतीय पूँजीपति घनश्याम दास बिड़ला ने *द हिंदुस्तान टाइम्स* का प्रकाशन शुरू किया। 1938 में जवाहरलाल नेहरू ने अंग्रेजी के राष्ट्रवादी अखबार *नैशनल हैराल्ड* की स्थापना की।

1826 में कलकत्ता से जुगल किशोर सुकुल ने उदंत *मार्तण्ड* नामक पहला हिंदी अखबार प्रकाशित किया था। हिंदी मीडिया ने अपनी दावेदारी बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में पेश की जब हिंदी गणेश शंकर विद्यार्थी ने *प्रताप*, बालमुकुंद गुप्त और अम्बिका शरण वाजपेयी ने *भारत मित्र*, महेशचंद्र अग्रवाल ने *विश्वमित्र* और शिवप्रसाद गुप्त ने *आज* की स्थापना की। एक तरह से यह हिंदी-प्रेस की शुरुआत थी। इसी दौरान उर्दू-प्रेस की नींव पड़ी। अबुल कलाम आज़ाद ने *अल-हिलाल* और *अल-बिलाग* का प्रकाशन शुरू किया, मुहम्मद अली ने *हमदर्द* का। लखनऊ से *ह.क्री.कत*, लाहौर से *प्रताप* और *मिलाप* और दिल्ली से *तेज़* का प्रकाशन होने लगा। बांग्ला में *संध्या*, *नायक*, *बसुमती*, *हितवादी*, *नवशक्ति*, *आनंद बाज़ार पत्रिका*, *जुगांतर*, *कृषक* और *नवजुग* जैसे प्रकाशन अपने-अपने दृष्टिकोणों से उपनिवेशवाद विरोधी अभियान में भागीदारी कर रहे थे। मराठी में *इंदुप्रकाश*, *नवकाल*, *नवशक्ति* और *लोकमान्य*; गुजराती में *गुजराती पंच*, *सेवक*, *गुजराती* और *समाचार*, *वंदेमातरम्*; दक्षिण भारत में *मलयाला मनोरमा*, *मातृभूमि*, *स्वराज*, *अल-अमीन*, *मलयाला राज्यम*, *देशाभिमानी*, *संयुक्त कर्नाटक*, *आंध्र पत्रिका*, *कल्कि*, *तंति*, *स्वदेशमित्रम्*, *देशोभक्तम्* और *दिनामणि* यही भूमिका निभा रहे थे।

यहाँ एक सवाल उठ सकता है कि यह राष्ट्रीय मीडिया किन मायनों में राष्ट्रीय था? इसमें कोई शक नहीं कि ये सभी पत्र-पत्रिकाएँ ब्रिटिश शासन की विरोधी थीं, लेकिन

उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन की दशा और दिशा को लेकर उनके बीच वैसे ही मतभेद थे जैसे कांग्रेस और अन्य राजनीतिक शक्तियों के बीच दिखाई पड़ते थे। ब्रिटिश प्रशासन ने 1924 में मद्रास में एक शौकिया रेडियो क्लब बनाने की अनुमति दी। तीन साल बाद निजी क्षेत्र में ब्रॉडकास्ट कम्पनी ने बम्बई और कलकत्ता में नियमित रेडियो प्रसारण शुरू किया। लेकिन साथ में शौकिया रेडियो क्लब भी चलते रहे। प्रेक्षकों की मान्यता है कि जिस तरह इन शौकिया क्लबों के कारण अंग्रेजों को रेडियो की बाकायदा स्थापना करनी पड़ी, कुछ-कुछ इसी तर्ज पर प्राइवेट केबिल ऑपरेटरों के कारण नब्बे के दशक में सरकार को टेलिविज़न का आंशिक निजीकरण करने की इजाजत देनी पड़ी।

बहरहाल, औपनिवेशिक सरकार ने 1930 में ब्रॉडकास्टिंग को अपने हाथ में ले लिया और 1936 में उसका नामकरण 'आल इण्डिया रेडियो' या 'आकाशवाणी' कर दिया गया। हैदराबाद, ट्रावणकोर, मैसूर, बड़ोदरा, त्रिवेंद्रम और औरंगाबाद जैसी देशी रियासतों में भी प्रसारण चालू हो गया। रेडियो पूरी तरह से अंग्रेज़ सरकार के प्रचारतंत्र का अंग था। सेंसरशिप, सलाहकार बोर्ड और विभागीय निगरानी जैसे संस्थागत नियंत्रक उपायों द्वारा अंग्रेज़ों ने यह सुनिश्चित किया कि उपनिवेशवाद विरोधी राजनीति के पक्ष में रेडियो से एक शब्द भी प्रसारित न होने पाये। दिलचस्प बात यह है कि यह अंग्रेज़ी विरासत भारत के आज़ाद होने के बाद भी जारी रही। अंग्रेज़ों के बाद आकाशवाणी को भारत सरकार ने उस समय तक अपना ताबेदार बनाये रखा जब तक 1997 में आकाशवाणी एक स्वायत्त संगठन का अंग नहीं बन गयी।

देखें : अभिलेखागार, आख्यान, इंटरएक्टिविटी-प्रौद्योगिकीय विमर्श, इंटरएक्टिविटी-सामाजिक विमर्श, इंटरफेस, एक्टर-नेटवर्क थियरी, डिजिटल डिवायड, दिन-प्रति दिन के अभिलेखागार, नया मीडिया, नेटवर्क, नेटवर्क सोसाइटी, प्रेस की स्वतंत्रता, प्रोपेगंडा, बाज़ारू संस्कृति, भारत में संचार-क्रांति, भारतीय मीडिया स्केयर, मास मीडिया, मीडिया और सरकार, मीडिया-पक्षधरता, मीडिया-स्टेडीज़, संचार, संचार-क्रांति, स्मृति और अभिलेखागार, सोशल नेटवर्क विश्लेषण, सूचना, सूचना-समाज, वैकल्पिक मीडिया।

संदर्भ

1. अम्बिका प्रसाद वाजपेयी (1986), *समाचारपत्रों का इतिहास*, ज्ञानमण्डल, वाराणसी.
2. हिरण्यमय कार्लेकर (2002), 'द मीडिया : इवोल्यूशन, रोल ऐंड रिस्पॉसिबिलिटी', एन.एन. वोहरा और सव्यसाची भट्टाचार्य (सम्पा.), *लुकिंग बैक : इण्डिया इन ट्वेंटियथ सेंचुरी*, एनबीटी और आईआईसी, नयी दिल्ली.
3. मोहित मोइत्रा (1993), *अ हिस्ट्री ऑफ़ जर्नलिज़म*, नैशनल बुक एजेंसी, कोलकाता.

— अभय कुमार दुबे

भारतीय मीडिया-2

राष्ट्र-निर्माण में 'सतर्क' साझेदारी

(Indian Media-2)

चूँकि भारतीय मीडिया के दोनों ध्रुवों ने उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष के पक्ष या विपक्ष में रह कर ही अपनी पहचान बनायी थी, इसलिए स्वाभाविक रूप से राजनीति उसका केंद्रीय सरोकार बनती चली गयी। 15 अगस्त, 1947 को जैसे ही सत्ता का हस्तांतरण हुआ और अंग्रेज़ भारत से जाने के लिए अपना बोरिया-बिस्तर समेटने लगे, मीडिया और सरकार के संबंध बुनियादी तौर से बदल गये। एक तरफ़ तो अंग्रेज़ों द्वारा लगायी गयी पाबंदियाँ प्रभावी नहीं रह गयीं, और दूसरी तरफ़ ब्रिटिश शासन की पैरोकारी करने वाले ज़्यादातर अखबारों का स्वामित्व भारतीयों के हाथ में चल गया। लेकिन इससे भी ज़्यादा महत्वपूर्ण यह था कि मीडिया ने राजनीतिक नेतृत्व के साथ कंधे से कंधा मिला कर आधुनिक भारतीय राष्ट्र का शीराज़ा खड़ा करना शुरू किया। मीडिया के विकास का यह दूसरा चरण अस्सी के दशक तक जारी रहा। इस लम्बे दौर के चार उल्लेखनीय आयाम थे : एक सुपरिभाषित 'राष्ट्र-हित' के आधार पर आधुनिक भारत के निर्माण में सचेत और सतर्क भागीदारी की परियोजना, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता में कटौती करने की सरकारी कोशिशों के खिलाफ़ संघर्ष, विविधता एवं प्रसार की ज़बरदस्त उपलब्धि के साथ-साथ भाषाई पत्रकारिता द्वारा अपने महत्त्व और श्रेष्ठता की स्थापना, और प्रसारण-मीडिया की सरकारी नियंत्रण से एक सीमा तक मुक्ति।

आज़ाद भारत में सरकार को गिराने या बदनाम करने में प्रेस ने कोई दिलचस्पी नहीं दिखाई। लेकिन साथ ही वह हुकूमत का ताबेदार बनने के लिए तैयार नहीं था। उसका रवैया रेडियो और टीवी से अलग तरह का था। रेडियो-प्रसारण करने वाली आकाशवाणी पूरी तरह से सरकार के हाथ में थी। 1959 में 'शिक्षात्मक उद्देश्यों' से शुरू हुए टेलिविज़न (दूरदर्शन) की प्रोग्रामिंग की जिम्मेदारी भी रेडियो को थमा दी गयी थी। इसके विपरीत शुरू से ही निजी क्षेत्र के स्वामित्व में विकसित हुए प्रेस ने सरकार, सत्तारूढ़ कांग्रेस, विपक्षी दलों और अधिकारीतंत्र को बार-बार स्व-परिभाषित राष्ट्र-हित की कसौटी पर कस कर देखा। यह प्रक्रिया उसे व्यवस्था का अंग बन कर उसकी आंतरिक आलोचना करने वाली सतर्क एजेंसी की भूमिका में ले गयी। भारतीय मीडिया के कुछ अध्येताओं ने माना भी है कि अंग्रेज़ों के बाद सरकार को दिया गया प्रेस का समर्थन एक 'सतर्क समर्थन' ही था।

प्रेस ने 'राष्ट्र-हित' की एक सर्वमान्य परिभाषा तैयार की जिसे मनवाने के लिए न कोई मीटिंग की गयी और न ही कोई दस्तावेज़ पारित किया गया। पर इस बारे में कोई मतभेद नहीं था कि उदीयमान राष्ट्र-राज्य जिस ढाँचे के आधार पर खड़ा होगा, उसका चरित्र लोकतांत्रिक और सेकुलर ही होना चाहिए। उसने यह भी मान लिया था कि ऐसा करने के लिए उत्पीड़ित सामाजिक तबकों और समुदायों का लगातार सबलीकरण अनिवार्य है। प्रेस-मालिक, प्रबंधक और प्रमुख पत्रकार अपने-अपने ढंग से यह भी मानते थे कि इस लक्ष्य को वेधने के लिए गरीबी को समृद्धि में बदलना पड़ेगा जिसका रास्ता वैकासिक अर्थशास्त्र और मिश्रित अर्थव्यवस्था से हो कर जाता है। आज़ाद भारत की विदेश नीति (गुटनिरपेक्षता और अन्य देशों के साथ शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व) के प्रति भी मीडिया ने सकारात्मक सहमति दर्ज करायी।

दूसरी तरफ़ सरकार ने अपनी तरफ़ से प्रेस के कामकाज को विनियमित करने के लिए एक संस्थागत ढाँचा बनाना शुरू कर दिया। 1952 और 1977 में दो प्रेस आयोग गठित किये गये। 1965 में एक संविधानगत संस्था प्रेस परिषद् की स्थापना हुई। 1956 में रजिस्ट्रेशन ऑफ़ बुक्स एक्ट के तहत प्रेस रजिस्ट्रार ऑफ़ इण्डिया की स्थापना की गयी। इन उपायों में प्रेस की आज़ादी को सीमित करने के अंदेश भी देखे जा सकते थे, पर प्रेस ने इन क्रदमों पर आपत्ति नहीं की। उसे यकीन था कि सरकार किसी भी परिस्थिति में संविधान के अनुच्छेद 19(1)(ए) के तहत मिलने वाली अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की गारंटी का उल्लंघन नहीं करेगी। संविधान में स्पष्ट उल्लेख न होने के बावजूद सुप्रीम कोर्ट ने इस गारंटी में प्रेस की स्वतंत्रता को भी शामिल मान लिया था। लेकिन प्रेस का यह यकीन 1975 में टूट गया जब तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी ने अपने राजनीतिक संकट से उबरने के लिए देश पर आंतरिक आपातकाल थोप दिया। नतीजे के तौर पर नागरिक अधिकार मुलतवी कर दिये गये, स्वतंत्र अभिव्यक्ति और प्रेस पर पाबंदियाँ लगा दी गयीं। 253 पत्रकार नज़रबंद किये गये, सात विदेशी संवाददाता निष्कासित कर दिये गये, सेंसरशिप थोपी गयी और प्रेस परिषद् भंग कर दी गयी। भारतीय प्रेस अपने ऊपर होने वाले इस आक्रमण का उतना विरोध नहीं कर पाया, जितना उसे करना चाहिए था। कुछ ने सरकार के सामने घुटने टेक दिये, पर कुछ ने नुकसान सह कर भी आपातकाल की पाबंदियों का प्रतिरोध किया।

उन्नीस महीने बाद यह आपातकाल चुनाव की कसौटी पर पराजित हो गया, पर इस झटके के कारण पहली बार भारतीय प्रेस ने अपनी आज़ादी के लिए लड़ने की ज़रूरत महसूस की। राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया में हिस्सेदारी करने की उसकी भूमिका पहले से भी अधिक 'सतर्क' हो गयी।

पत्रकारों की सतर्क निगाह ने देखा कि आपातकाल की पराजय के बाद भी राजनीतिक और सत्ता प्रतिष्ठान में प्रेस की स्वतंत्रता में कटौती करने की प्रवृत्ति खत्म नहीं हुई है। इसके बाद अस्सी का दशक अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा करने के लिए चलाये गये संघर्षों का दशक साबित हुआ। 1982 में बिहार प्रेस विधेयक और 1988 में लोकसभा द्वारा पारित किये गये मानहानि विधेयक को राजसत्ता पत्रकारों द्वारा किये गये आंदोलनों के कारण क़ानून में नहीं बदल पाये। दूसरी तरफ़ इंदिरा गाँधी की सरकार द्वारा एक्सप्रेस समाचार-पत्र समूह को सताने के लिए चलाये गये अभियान से यह भी साफ़ हुआ कि किसी अखबार द्वारा किये जा रहे विरोध को दबाने के लिए क़ानून बदलने के बजाय सत्ता का थोड़ा सा दुरुपयोग ही काफी है।

आपातकाल के ख़िलाफ़ चले लोकप्रिय संघर्ष के परिणामस्वरूप सारे देश में राजनीतीकरण की प्रक्रिया पहले के मुक़ाबले कहीं तेज़ हो गयी। लोकतंत्र और उसकी अनिवार्यता के प्रति नयी जागरूकता ने अखबारों की तरफ़ नये पाठकों का ध्यान आकर्षित किया। ये नये पाठक निरंतर बढ़ती जा रही साक्षरता की देन थे। बढ़ती हुई प्रसार संख्याओं के फलस्वरूप मुद्रित मीडिया का नज़रिया पेशेवराना और बाज़ारोन्मुख हुआ। राजनीतीकरण, साक्षरता और पेशेवराना दृष्टिकोण के साथ इसी समय एक सुखद संयोग के रूप में नयी प्रिंटिंग प्रौद्योगिकी जुड़ गयी। डेक्स-टॉप पब्लिशिंग सिस्टम और कम्प्यूटर आधारित डिज़ाईनिंग ने अखबारों और पत्रिकाओं के प्रस्तुतीकरण में नया आकर्षण पैदा कर दिया। इस प्रक्रिया ने विज्ञापन से होने वाली आमदनी में बढ़ोतरी की। अस्सी के दशक के दौरान हुए इन परिवर्तनों में सबसे महत्वपूर्ण था भाषाई पत्रकारिता का विकास। हिंदी, पंजाबी, मराठी, गुजराती, बांग्ला, असमिया और दक्षिण भारतीय भाषाओं के अखबारों को इस नयी परिस्थिति का सबसे ज़्यादा लाभ हुआ। अस्सी का दशक इन भाषाई क्षेत्रों में नये पत्रकारों के उदय का दशक भी था। इस विकासक्रम के बाद भाषाई पत्रकारिता ने फिर पीछे मुड़ कर नहीं देखा। नयी सदी में राष्ट्रीय पाठक सर्वेक्षण के आँकड़ों ने बताया कि अब अंग्रेज़ी प्रेस के हाथों में मीडिया की लगाम नहीं रह गयी है। सबसे ज़्यादा प्रसार संख्या वाले पहले दस अखबारों में अंग्रेज़ी का केवल एक ही पत्र रह गया, वह भी नीचे से दूसरे स्थान पर।

अस्सी के दशक में ही प्रसारण-मीडिया के लिए एक सीमा तक सरकारी नियंत्रण से मुक्त होने की परिस्थितियाँ बनीं। 1948 में संविधान सभा में बोलते हुए जवाहरलाल नेहरू ने वायदा किया था कि आज़ाद भारत में ब्रॉडकास्टिंग का ढाँचा ब्रिटिश ब्रॉडकास्टिंग कॉरपोरेशन (बीबीसी) के तर्ज़ पर होगा। यह आश्वासन पूरा करने में आज़ाद भारत की सरकारों को पूरे 42 साल लग गये। इसके पीछे रेडियो और

टीवी को सरकार द्वारा निर्देशित राजनीतिक-सामाजिक परिवर्तन के लिए ही इस्तेमाल करने की नीति थी। इस नीति के प्रभाव में रेडियो का तो एक माध्यम के रूप में थोड़ा-बहुत विकास हुआ, पर टीवी आगे नहीं बढ़ पाया। इतना ज़रूर हुआ कि 1975-76 में भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान संगठन (इसरो) ने अमेरिका से एक सेटेलाइट उधार लिया ताकि देश के विभिन्न हिस्सों में 2,400 गाँवों में कार्यक्रमों का प्रसारण हो सके। इसे सेटेलाइट इंस्ट्रक्शनल टेलिविज़न एक्सपेरिमेंट (साइट) कहा गया। इसकी सफलता से विभिन्न भाषाओं में टीवी कार्यक्रमों के निर्माण और प्रसारण की सम्भावनाएँ खुलीं। फिर 1982 में दिल्ली एशियाड का प्रसारण करने के लिए रंगीन टीवी की शुरुआत हुई। इसके कारण टीवी के प्रसार की गति बढ़ी। 1990 तक उसके ट्रांसमीटरों की संख्या 519 और 1997 तक 900 हो गयी।

बीबीसी जैसा स्वायत्त कॉरपोरेशन बनाने के संदर्भ में 1966 तक केवल इतनी प्रगति हो पायी कि भारत के पूर्व महालेखा नियंत्रक ए.के. चंदा के नेतृत्व में बनी कमेटी द्वारा आकाशवाणी और दूरदर्शन को दो स्वायत्त निगमों के रूप में गठित करने की सिफ़ारिश कर दी गयी। बारह साल तक यह सिफ़ारिश भी ठंडे बस्ते में पड़ी रही। 1978 में बी.जी. वर्गीज की अध्यक्षता में गठित किये गये एक कार्यदल ने आकाश भारती नामक संस्था गठित करने का सुझाव दिया। साल भर बाद मई, 1979 में प्रसार भारती नामक कॉरपोरेशन बनाने का विधेयक संसद में लाया गया जिसके तहत आकाशवाणी और दूरदर्शन को काम करना था। प्रस्तावित कॉरपोरेशन के लिए वर्गीज कमेटी द्वारा सुझाये गये आकाश भारती के मुकाबले कम अधिकारों का प्रावधान किया गया था। जो भी हो, जनता पार्टी की सरकार गिर जाने के कारण यह विधेयक पारित नहीं हो पाया।

1985 से 1988 के बीच दूरदर्शन को आज्ञादी का एक हल्का सा झोंका नसीब हुआ। इसका श्रेय भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारी भास्कर घोष को जाता है जो इस दौरान दूरदर्शन के महानिदेशक रहे। प्रसार भारती विधेयक पारित कराने की ज़िम्मेदारी विश्वनाथ प्रताप सिंह की राष्ट्रीय मोर्चा सरकार ने 1990 में पूरी की। लेकिन प्रसार भारती गठित होते-होते सात साल और गुज़र गये। तकनीकी रूप से कहा जा सकता है कि आज दूरदर्शन और आकाशवाणी स्वायत्त हो गये हैं। लेकिन हकीकत में सूचना और प्रसारण मंत्रालय का एक अतिरिक्त सचिव ही प्रसार भारती का मुख्य कार्यकारी अधिकारी (सीईओ) होता है। अगर यह स्वायत्तता है तो बहुत सीमित क्रिस्म की।

देखें : अभिलेखागार, आख्यान, इंटरएक्टिविटी-प्रौद्योगिकीय विमर्श, इंटरएक्टिविटी-सामाजिक विमर्श, इंटरफ़ेस, एक्टर-नेटवर्क थियरी, डिजिटल डिवायड, दिन-प्रति दिन के अभिलेखागार, नया मीडिया,

नेटवर्क, नेटवर्क सोसाइटी, प्रेस की स्वतंत्रता, प्रोपेगंडा, बाज़ारू संस्कृति, भारत में संचार-क्रांति, भारतीय मीडिया स्फ़ेयर, मास मीडिया, मीडिया और सरकार, मीडिया-पक्षधरता, मीडिया-स्टडीज़, संचार, संचार-क्रांति, स्मृति और अभिलेखागार, सोशल नेटवर्क विश्लेषण, सूचना, सूचना-समाज, वैकल्पिक मीडिया।

संदर्भ

1. आर. पार्थसारथी (1989), *जर्नलिज़म इन इण्डिया : फ़ॉर्म द अल्टिमाट टाइम्स टु प्रजेंट डे*, स्टलिंग पब्लिशर्स, नयी दिल्ली.
2. एस.पी. शर्मा (1996), *द प्रेस : सोसियो-पॉलिटिकल अवेकनिंग*, मोहित पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली.
3. के. सियुनी (1992), *डब्ल्यू. टुप्टशालर और द युरोपीयन रिसेच ग्रुप, डायनामिक्स ऑफ़ मीडिया पॉलिटिक्स*, सेज पब्लिकेशंस, लंदन.
4. पी.सी. चटर्जी (1987), *ब्रॉडकास्टिंग इन इण्डिया*, सेज पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली.

— अभय कुमार दुबे

भारतीय मीडिया-3

भूमण्डलीकरण की ओर

(Indian Media-3)

नब्बे के दशक में क्रमदम रखने के साथ ही भारतीय मीडिया को बहुत बड़ी हद तक बदली हुई दुनिया का साक्षात्कार करना पड़ा। इस परिवर्तन के केंद्र में 1990-91 की तीन परिघटनाएँ थीं : मण्डल आयोग की सिफ़ारिशों से निकली राजनीति, मंदिर आंदोलन की राजनीति और भूमण्डलीकरण के तहत होने वाले आर्थिक सुधार। इन तीनों ने मिल कर सार्वजनिक जीवन के वामोन्मुख रुझानों को नेपथ्य में धकेल दिया और दक्षिणपंथी लहज़ा मंच पर आ गया। यही वह क्षण था जब सरकार ने प्रसारण के क्षेत्र में 'खुले आसमान' की नीति अपनायी शुरू की। नब्बे के दशक में उसने न केवल प्रसार भारती निगम बना कर आकाशवाणी और दूरदर्शन को एक हद तक स्वायत्तता दी, बल्कि स्वदेशी निजी पूँजी और विदेशी पूँजी को प्रसारण के क्षेत्र में क्रमदम रखने की अनुमति भी दी। प्रिंट मीडिया में विदेशी पूँजी को प्रवेश करने का रास्ता खोलने में उसे कुछ वक्रत लगा लेकिन इक्कीसवीं सदी के पहले दशक में उसने यह फ़ैसला भी ले लिया। मीडिया अब पहले की तरह 'सिंगल-सेक्टर' यानी मुद्रण-प्रधान नहीं रह गया। उपभोक्ता-क्रांति के कारण विज्ञापन से होने वाली आमदनी में कई गुना बढ़ोतरी हुई जिससे हर तरह के मीडिया

के लिए विस्तार हेतु पूँजी की कोई कमी नहीं रह गयी।

सेटेलाइट टीवी पहले केबिल टीवी के जरिये दर्शकों तक पहुँचा जो प्रौद्योगिकी और उद्यमशीलता के लिहाज से स्थानीय पहलकदमी और प्रतिभा का असाधारण नमूना था। इसके बाद आयी डीटीएच प्रौद्योगिकी जिसने समाचार प्रसारण और मनोरंजन की दुनिया को पूरी तरह से बदल डाला। एफएम रेडियो चैनलों की कामयाबी से रेडियो का माध्यम मोटर वाहनों से आक्रांत नागर संस्कृति का एक पर्याय बन गया। 1995 में भारत में इंटरनेट की शुरुआत हुई और इक्कीसवीं सदी के पहले दशक के अंत तक बड़ी संख्या में लोगों के निजी और व्यावसायिक जीवन का एक अहम हिस्सा नेट के जरिये संसाधित होने लगा। नयी मीडिया प्रौद्योगिकियों ने अपने उपभोक्ताओं को 'कनवर्जेंस' का उपहार दिया जो जादू की डिबिया की तरह हाथ में थमे मोबाइल फ़ोन के जरिये उन तक पहुँचने लगा। इन तमाम पहलुओं ने मिल कर मीडिया का दायरा इतना बढ़ा और विविध बना दिया कि उसके आगोश में सार्वजनिक जीवन के अधिकतर आयाम आ गये। इसे 'मीडियास्फ़ेयर' जैसी स्थिति का नाम दिया गया।

प्रिंट मीडिया में विदेशी पूँजी को इजाजत मिलने का पहला असर यह पड़ा कि र्यूटर, सीएनयेन और बीबीसी जैसे विदेशी मीडिया संगठन भारतीय मीडियास्फ़ेयर की तरफ़ आकर्षित होने लगे। उन्होंने देखा कि भारत में श्रम का बाज़ार बहुत सस्ता है और अंतरराष्ट्रीय मानकों के मुकाबले यहाँ तनख्वाहों पर ज्यादा से ज्यादा एक-चौथाई ही खर्च करना पड़ता है। इसलिए इन ग्लोबल संस्थाओं ने भारत को अपने मीडिया प्रोजेक्टों के लिए आउटसोर्सिंग का केंद्र बनाया भारतीय बाज़ार में मौजूद मीडिया के विशाल और असाधारण टेलेंट-पूल का ग्लोबल बाज़ार के लिए दोहन होने लगा। दूसरी तरफ़ भारत की प्रमुख मीडिया कम्पनियाँ (टाइम्स ग्रुप, आनंद बाज़ार पत्रिका, जागरण, भास्कर, हिंदुस्तान टाइम्स) वाल स्ट्रीट जर्नल, बीबीसी, फ़ाइनेंसियल टाइम्स, इंडिपेंडेंट न्यूज़ ऐंड मीडिया और ऑस्ट्रेलियाई प्रकाशनों के साथ सहयोग-समझौते करती नज़र आयीं। घराना-संचालित कम्पनियों पर आधारित मीडिया बिज़नेस ने पूँजी बाज़ार में जा कर अपने-अपने इनीशियल पब्लिक ऑफ़रिंग्स अर्थात् आईपीओ प्रस्ताव जारी करने शुरू कर दिये। इनकी शुरुआत पहले एनडीटीवी, टीवी टुडे, ज़ी टेलिफ़िल्म्स जैसे दृश्य-मीडिया ने की। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के तर्ज़ पर प्रिंट-मीडिया ने भी पूँजी बाज़ार में छलाँग लगायी और अपने विस्तार के लिए निवेश हासिल करने में जुट गया। ऐसा पहला प्रयास 'द डेकन क्रॉनिकल' ने किया जिसकी सफलता ने प्रिंट-मीडिया के लिए पूँजी का संकट काफ़ी-कुछ हल कर दिया।

दूसरी तरफ़ बाज़ारवाद के बढ़ते हुए प्रभाव और उपभोक्ता क्रांति में आये उछाल के परिणामस्वरूप विज्ञापन-जगत में दिन-दूनी-रात-चौगुनी बढ़ोतरी हुई। चालीस के दशक की शुरुआत में विज्ञापन एजेंसियों की संख्या चौदह से बीस के आस-पास रही होगी। 1979-80 में न्यूज़पेपर सोसाइटी (आईएनएस) की मान्यता प्राप्त एजेंसियों की संख्या केवल 168 तक ही बढ़ सकी थी। लेकिन, भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया ने अगले दो दशकों में उनकी संख्या 750 कर दी जो चार सौ करोड़ रुपये सालाना का धंधा कर रही थीं। 1997-98 में सबसे बड़ी पंद्रह विज्ञापन एजेंसियों ने ही कुल 4,105.58 करोड़ रुपये के बिल काटे। इससे अंदाज़ा लगाया जा सकता है कि उपभोक्ता-क्रांति का चक्का कितनी तेज़ी से घूम रहा था। विज्ञापन की रंगीन और मोहक हवाओं पर सवार हो कर दूर-दूर तक फैलते उपभोग के संदेशों ने उच्च वर्ग, उच्च-मध्यम वर्ग, समूचे मध्य वर्ग और मजदूर वर्ग के खुशहाल होते हुए महत्वाकांक्षी हिस्से को अपनी बाँहों में समेट लिया। मीडिया का विस्तार विज्ञापनों में हुई ज़बरदस्त बढ़ोतरी के बिना सम्भव नहीं था।

प्रिंट-मीडिया और रेडियो विज्ञापनों को उतना असरदार कभी नहीं बना सकता था जितना टीवी ने बनाया। टीवी का प्रसार भारत में देर से ज़रूर हुआ, लेकिन एक बार शुरुआत होने पर उसने मीडिया की दुनिया में पहले से स्थापित मुद्रित-माध्यम को जल्दी ही व्यावसायिक रूप से असुरक्षाग्रस्त कर दिया। इस प्रक्रिया में केबिल और डीटीएच के योगदान का उल्लेख करना आवश्यक है। केबिल टीवी का प्रसार और सफलता भारतीयों की उद्यमी प्रतिभा का जोरदार नमूना है। सरकार के पास चूँकि किसी सुसंगत संचार नीति का अभाव था इसलिए नब्बे के दशक की शुरुआत में बहुमंजिली इमारतों में रहने वाली मध्यवर्गीय और निम्न-मध्यवर्गीय आबादियों में कुछ उत्साही और चतुर लोगों ने अपनी निजी पहलकदमी पर क्लोज़ सरकिट टेलिविज़न प्रसारण का बंदोबस्त किया जिसका केंद्र एक सेंट्रल कंट्रोल रूम हुआ करता था। इन लोगों ने वीडियो प्लेयर्स के जरिये भारतीय और विदेशी फ़िल्में दिखाने की शुरुआत की। साथ में दर्शकों को मनोरंजन की चौबीस घंटे चलने वाली खुराक देने वाले विदेशी-देशी सेटेलाइट चैनल भी देखने को मिलते थे। जनवरी, 1992 में केबिल नेटवर्क के पास केवल 41 लाख ग्राहक थे। लेकिन केवल चार साल के भीतर 1996 में यह संख्या बानवे लाख हो गयी। अगले साल तक पूरे देश में टीवी वाले घरों में से 31 फ़ीसदी घरों में केबिल प्रसारण देखा जा रहा था। सदी के अंत तक बड़े आकार के गाँवों और कस्बों के टीवी दर्शकों तक केबिल की पहुँच हो चुकी थी। केबिल और उपग्रहीय टीवी चैनलों की लोकप्रियता देख कर प्रमुख मीडिया कम्पनियों ने टीवी कार्यक्रम-निर्माण के

व्यापार में छलाँग लगा दी। वे पब्लिक और प्राइवेट टीवी चैनलों को कार्यक्रमों की सप्लाई करने लगे।

जाहिर है कि केबिल और डीटीएच के क्रम तभी जम सकते थे, जब पहले पब्लिक (सरकारी) और प्राइवेट (निजी पूँजी के स्वामित्व में) टेलिविज़न प्रसारण में हुई वृद्धि ने ज़मीन बना दी हो। 1982 में दिल्ली एशियाड के मार्फ़त रंगीन टीवी के क्रम पड़ते ही भारत में टीवी ट्रांसमीटरों की संख्या तेज़ी से बढ़ी। पब्लिक टीवी के प्रसारण नेटवर्क दूरदर्शन ने नौ सौ ट्रांसमीटरों और तीन विभिन्न सेटलाइटों की मदद से देश के 70 फ़ीसदी भौगोलिक क्षेत्र को और 87 फ़ीसदी आबादी को अपने दायरे में ले लिया (पंद्रह साल में 230 फ़ीसदी की वृद्धि)। उसका मुख्य चैनल डीडी-वन तीस करोड़ लोगों (यानी अमेरिका की आबादी से भी ज़्यादा) तक पहुँचने का दावा करने लगा। प्राइवेट टीवी प्रसारण केबिल और डीटीएच के जरिये अपनी पहुँच लगातार बढ़ा रहा है। लगभग सभी ग्लोबल टीवी नेटवर्क अपनी दम पर या स्थानीय पार्टनरों के साथ अपने प्रसारण का विस्तार कर रहे हैं। भारतीय चैनल भी पीछे नहीं हैं और उनके साथ अहर्निश प्रतियोगिता में लगे हुए हैं। अंग्रेज़ी और हिंदी के चैनलों के साथ-साथ क्षेत्रीय भाषाओं (विशेषकर दक्षिण भारतीय) के मनोरंजन और न्यूज़ चैनलों की लोकप्रियता और व्यावसायिक कामयाबी भी उल्लेखनीय है। सरकार की टेलिकॉम नीति इन मीडिया कम्पनियों को इजाज़त देती है कि वे सेटलाइट के साथ सीधे अपलिंकिंग करके प्रसारण कर सकते हैं। अब उन्हें अपनी सामग्री विदेश संचार निगम (वीएसएनयेल) के रास्ते लाने की मजबूरी का सामना नहीं करना पड़ता।

अगस्त, 1995 से नवम्बर, 1998 के बीच सरकारी संस्था विदेश संचार निगम लिमिटेड (वीएसएनयेल) द्वारा ही इंटरनेट सेवाएँ मुहैया करायी जाती थीं। यह संस्था कलकत्ता, बम्बई, मद्रास और नयी दिल्ली स्थित चार इंटरनेशनल टेलिकम्युनिकेशन गेटवेज़ के माध्यम से काम करती थी। नेशनल इंफ़ोमेटिक्स सेंटर (एनआईसीनेट) और एजुकेशनल ऐंड रिसर्च नेटवर्क ऑफ़ द डिपार्टमेंट ऑफ़ इलेक्ट्रॉनिक्स (ईआरएनयटी) कुछ खास तरह के क्लोज़्ड यूज़र ग्रुप्स को ये सेवाएँ प्रदान करते थे। दिसम्बर, 1998 में दूरसंचार विभाग ने बीस प्राइवेट ऑपरेटरों को आईएसपी लाइसेंस प्रदान करके इस क्षेत्र का निजीकरण कर दिया। 1999 तक सरकार के तहत चलने वाले महानगर टेलिफ़ोन निगम समेत 116 आईएसपी कम्पनियाँ सक्रिय हो चुकी थीं। केबिल सर्विस देने वाले भी इंटरनेट मुहैया करा रहे थे।

जैसे-जैसे बीएसएनएल ने अपना शुल्क घटाया, इंटरनेट सेवाएँ सस्ती होती चली गयीं। देश भर में इंटरनेट कैफ़े दिखने लगे। जुलाई, 1999 तक भारत में 114,062

इंटरनेट होस्ट्स की शिनाख़्त हो चुकी थी। इनकी संख्या में 94 फ़ीसदी की दर से बढ़ोतरी दर्ज की गयी। नयी सदी में क्रम रखते ही सारे देश में कम्प्यूटर बूम की आहटें सुनी जाने लगीं। पर्सनल कम्प्यूटरों की संख्या तेज़ी से बढ़ने लगी और साथ ही इंटरनेट यूज़रों की संख्या भी। ई-कॉमर्स की ज़मीन तैयार होने लगी और बैंकों ने उसे प्रोत्साहित करना शुरू किया। देश के प्रमुख अख़बार ऑन लाइन संस्करण प्रकाशित करने लगे। विज्ञापन एजेंसियाँ भी अपने उत्पादों को नेट पर बेचने लगीं। नेट ने व्यक्तिगत जीवन की क्वालिटी में एक नये आयाम का समावेश किया। रेलवे और हवाई जहाज़ के टिकट बुक कराने से लेकर घर में लीक होती छत को दुरुस्त करने के लिए नेट की मदद ली जाने लगी। नौकरी दिलाने वाली और शादी-ब्याह संबंधी वेबसाइट्स अत्यंत लोकप्रिय साबित हुईं। वर-वधु खोजने में इंटरनेट एक बड़ा मददगार साबित हुआ। सोशल नेटवर्किंग साइट्स के सहारे नेट आधारित निजी रिश्तों की दुनिया में नये रूपों का समावेश हुआ।

देखें : अभिलेखागार, आख्यान, इंटरएक्टिविटी-प्रौद्योगिकीय विमर्श, इंटरएक्टिविटी-सामाजिक विमर्श, इंटरफ़ेस, एक्टर-नेटवर्क थियरी, डिजिटल डिवायड, दिन-प्रति दिन के अभिलेखागार, नया मीडिया, नेटवर्क, नेटवर्क सोसाइटी, प्रेस की स्वतंत्रता, प्रोपेगंडा, बाज़ारू संस्कृति, भारत में संचार-क्रांति, भारतीय मीडिया स्फ़ेयर, मास मीडिया, मीडिया और सरकार, मीडिया-पक्षधरता, मीडिया-स्टडीज़, संचार, संचार-क्रांति, स्मृति और अभिलेखागार, सोशल नेटवर्क विश्लेषण, सूचना, सूचना-समाज, वैकल्पिक मीडिया।

संदर्भ

1. के. बालासुब्रह्मण्यम (1999), *द इम्पेक्ट ऑफ़ ग्लोबलाइज़ेशन ऑफ़ मीडिया ऑन मीडिया इमेजिज़ : अ स्टडी ऑफ़ मीडिया इमेजिज़ बिटवीन 1987-1997*, अप्रकाशित थीसिस, ओहाइयो स्टेट युनिवर्सिटी, कोलम्बस.
2. यू.वी. रेड्डी (1995), 'रिप वान विंकल : अ स्टोरी ऑफ़ इण्डिया टेलिविज़न', डी. फ्रेंच और एम. रिचर्ड्स (सम्पा.), *कंटम्परेरी टेलिविज़न : इस्टर्न पर्सपेक्टिवज़*, सेज, नयी दिल्ली,
3. पी.सी. चटर्जी (1987), *ब्रॉडकास्टिंग इन इण्डिया*, सेज पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली.
4. के.एस. नायर (1998), 'ग्रेजुएटिंग फ्रॉम इनफ़ॉर्मेशन साइडवॉक टु हाईवे', *इण्डिया एब्रॉड*, 9 अक्टूबर.

— अभय कुमार दुबे

भारतीय मीडियास्फ़ेयर

(Indian Mediasphere)

व्यक्ति और समाज के जीवन पर मीडिया के प्रभाव में हुई अनाप-शनाप बढ़ती-बढ़ती के प्रभाव को समझना हो तो भारतीय शहरों और मीडिया के गहरे अंतर्संबंधों के ताज़े नज़ारे पर गौर करना चाहिए। प्रिंट-मीडिया, टेलिविज़न, रेडियो, इंटरनेट और मीडिया-कनवर्जेंस से निकले विविध रूपों के कारण भारत के महानगरों में बिम्बों, प्रौद्योगिकियों और अनुभवों का वह मिला-जुला संसार दिखता है जिसके ज़रिये समकालीन शहरों के नये जीवन को परिभाषित किया जा सकता है। मीडिया की व्याप्ति ने सार्वजनिक जीवन के लगभग सभी रूपों को अपने दायरे में ले लिया है जिससे 'मीडियास्फ़ेयर' की रचना हो गयी है। मीडियास्फ़ेयर की धारणा नब्बे के दशक के मध्य में जे. हार्टली और ए. मैककी ने ऑस्ट्रेलियायी मीडिया का अध्ययन करते हुए सूत्रबद्ध की थी। इसके पीछे यूरी लोटमैन द्वारा इसी दशक के प्रारम्भ में विकसित 'सीमियोस्फ़ेयर' का विचार था। लोटमैन के मुताबिक सीमियोस्फ़ेयर में किसी संस्कृति का समग्र सांस्कृतिक जगत (भाषा, बोली, संचार, साहित्य, मिथक) आ जाता है। हार्टली और मैककी की मान्यता थी कि मीडियास्फ़ेयर इसी सीमियोस्फ़ेयर के भीतर विकसित होने वाला स्फ़ेयर है जो मास-मीडिया के कल्पनागत और तथ्यगत उत्पादों के साथ-साथ 'पब्लिक स्फ़ेयर' के अधिकतर आयामों को भी समेट लेता है। उनके मुताबिक मीडियास्फ़ेयर की विशेषता यह है कि वह सांस्कृतिक तात्पर्य और सार्वजनिक जीवन के बीच आगे-पीछे के संचार-सूत्र कायम कर देता है।

रवि सुंदरम ने अपनी रचना *पाइरेट मॉडर्निटी* में दावा किया है कि आधुनिक शहरी जीवन को मीडिया अनुभव से काट कर नहीं समझा सकता। वे दक्षिण एशिया के उत्तर-औपनिवेशिक संदर्भ में मीडिया बूम और शहरी बूम हाल के वर्षों में एक साथ घटित होने की हक़ीक़त को विशेष रूप से रेखांकित करते हैं। सुंदरम के अनुसार प्रौद्योगिकीय संस्कृति बूम संस्कृति और शहरी टकराव के व्यापक सामाजिक रंगमंच का अंग बन गयी है। बीसवीं सदी के शहर के बारे में हाल ही में रचे गये ज़्यादातर सांस्कृतिक इतिहासों का व्याख्यात्मक दायरा संवेदी और बिम्बात्मक संसार से सम्पन्न है। फ्रैंकफ़र्ट स्कूल से जुड़े रहे चिंतक वाल्टर बेंजामिन ने जिस दैहिक शहरी अनुभव का विचार पेश किया है, वह देह व प्रौद्योगिकी के उत्तरोत्तर अंतर्गुफ़न की तरफ़ इशारा करता है। इस दायरे में शहर के बाशिंदों द्वारा कई तरह के चौंका देने वाले चाक्षुष उद्दीपन संसाधित किये जाते हैं। कई अनुशासनकारी तकनीकें

विकसित की जाती हैं ताकि दुचित्तेपन से निबटा जा सके। साथ ही एक साथ बहुत से बिम्बों का स्पर्शी और ज़िंदादिल विनियोग भी होता चलता है। मीडिया द्वारा पैदा किये गये नज़दीकियों और दूरियों के इस बदले हुए दृश्य-प्रपंच की ख़ास बात यह है कि उत्पादक क्षमताओं से सम्पन्न होने के साथ-साथ इसमें एक उतनी ही रहस्यमय भीतरी ख़ूबी भी है जो चिंतन की स्थिर विधियों को तहस-नहस कर डालती है। झिलमिलाती हुई फ़िल्मों, टेलिविज़न, विज्ञापन और मोबाइल स्क्रीनों का नाटकीय 'लाइव' अनुभव न केवल स्पेस को छितरा देता है, बल्कि ऐसे नये समुच्चयों को जन्म देता है जो अक्सर सांस्कृतिक और प्रौद्योगिकीय विनियम के रैखिक नेटवर्कों से कतरा कर निकल जाते हैं।

सुंदरम के मुताबिक 1947 में आज़ादी मिलने के बाद राष्ट्रवादी शासन ने 'मीडिया', ख़ासकर पहले रेडियो और बाद में टेलिविज़न, को मुख्यतः शैक्षिक उद्देश्यों के लिए इस्तेमाल की जाने वाली संस्थाओं की तरह देखा ताकि उनके ज़रिये नागरिकता के शिशुवत् रूपों को पालपोस कर आकार दिया जा सके। सिनेमा की भूमिका मुख्य मीडिया-उत्पादक की थी। शासन ने उसके साथ इसी तरह के संबंध बनाये और वहीं इस मॉडल की ख़ासी परीक्षा हुई। एक तरफ़ हुकूमत ने सिनेमा को 'व्यावसायिक मनोरंजन' के रूप में देख कर उसे सेंसरशिप और टैक्सों के ज़रिये नियंत्रित करने की कोशिशें कीं। दूसरी ओर फ़िल्म उद्योग के स्वतंत्र दर्जे के कारण राज्य नियंत्रण की प्रक्रिया जटिल हो गयी। सिनेमा का थिएटर एक दैहिक आकर्षण का स्रोत बन कर उभरा जो अपनी तरफ़ दर्शकों की भारी भीड़ खींचने लगा। चूँकि 'राष्ट्रीय सांस्कृतिक मूल्य' बनने की कसौटियों पर यह सिनेमा हमेशा ही खरा नहीं उतर सकता था इसलिए राज्य ने सिनेमा को अक्सर दर्शकों की भीड़ के आईने में ही देखा। उसे लगा कि यह तो अनैतिकता और जोखिम की ज़मीन है, एक ऐसी मशीन जो दुचित्तेपन और आकर्षण को एक साथ पैदा करती है। राज्य ने सिनेमा को ऐसी जनता के प्रतीक के रूप में लिया जो बूज्वा नागरिकता को गड़बड़ाती है। आम लोगों की फ़िल्मी कामनाओं को राजकीय नीति द्वारा पूरी तरह से हस्तगत करने की कोशिश करने के बजाय उसे प्रबंधित करना ज़रूरी समझा गया। सिनेमा के बाहर जो मीडिया था, वह अधिक मज़बूती के साथ विकासवाद के अधीन था। 1966 में रेडियो और टेलिविज़न पर बनी चंदा कमेटी की रपट से यह हक़ीक़त और स्पष्ट हो जाती है। एक तकनीकशाही अभिजन द्वारा संचालित राज्य-नियंत्रित रेडियो और टेलिविज़न शहर के दायरे से बाहर रहने के लिए ही डिज़ाइन किया गया था।

अस्सी के दशक में राज्य के नियंत्रण जैसे ही ढीले होने शुरू हुए, इस नज़ारे में उल्लेखनीय परिवर्तन आ गया।

अर्थव्यवस्था ने उदारीकरण और ग्लोबल आर्थिक निज़ाम के साथ और गहराई के साथ जुड़ने की प्रक्रिया शुरू कर दी। भारत के करोड़ों शहरातियों के लिए यह सिलसिला मीडिया और नागर अनुभव के फ़र्क को धुंधला कर देने वाला साबित हुआ।

गुजरे हुए दशकों के मुकाबले नब्बे ने तेज़ रफ़्तार के स्पर्श मीडिया को जन्म दिया। कम लागत के कम्प्यूटरों, विज्ञापन, मोबाइल फ़ोन और डिजिटल छवियों ने शहरी जीवन को रूपांतरित कर दिया। शहरियों को होने वाला यह नया अनुभव अधिक ग्लोबल क्रिस्म का है। इसकी रचना में डिज़ाइन, टेलिकॉम नेटवर्क, स्थापत्य, सॉफ़्टवेयर व मीडिया उद्योग, सर्विस देने वालों, निजी मीडिया वस्तुओं और तरह-तरह के बहु-संवेदी पर्यावरणों की भूमिका है। शहर के अभिजन उपनगरों में 'गेटिड कम्युनिटीज़' की तर्ज पर बस्तियाँ बनने लगीं ताकि अमीर लोग खुद शहरी संकट से बचने के लिए इनके बड़े-बड़े फ़ाटकों के पीछे शरण ले सकें।

सुंदरम का आकलन है कि इन नयी अभिजन बस्तियों और शक्तिशाली मीडिया उद्योग के बावजूद भारत का मीडिया-शहरीपन अभी तक पश्चिम और पूर्वी एशियाई मीडिया की दर्शनीय ताक़त का मुज़ाहिरा करने में नाकाम रहा है। इस दुनिया में रहने वाले ज़्यादातर भारतवासी कम लागत के मीडिया रूपों में ही डूबे हुए हैं। उनके लिए यही मानक बना हुआ है। जिन नये रूपों की शिनाख़्त अहम है उनमें पब्लिसिटी शामिल है। भीड़ों से भर चुकी सड़कें, दीवारें और बसें हैं। इलेक्ट्रानिक्स की ताक़त के दम गूँजती हुई आवाज़ें हैं (संगीत, राजनीतिक मुहिमें, धार्मिक कार्यक्रमों और कार के भोंपुओं की ध्वनियाँ) जिन्होंने सड़कों और पास-पड़ोस के स्पेस पर क़ब्ज़ा कर लिया है। मीडिया की इस संवेदी दुनिया का अनुभव अक्सर मिले-जुले स्पेस में होता है। मज़दूरवर्गीय इलाक़ों में सस्ते वीडियो प्लेयर्स के ज़रिये फ़िल्में दिखाने वाले कामचलाऊ मूवी थिएटर भी इन स्पेसों में शामिल हैं। भारतीय शहरों का महा-अभिलेखागार यानी सिनेमा भी बुनियादी रूपांतरण के दौर से गुज़र कर नयी-नयी अनपेक्षित संरचनाओं में टूट गया है। पहले सिनेमा का मतलब था एक नियंत्रित 'जनता' जो डराती थी, लेकिन अब यह मीडिया-पब्लिक न तो उस तरह से क़ानूनी रह गयी है और न ही इसे शासित बनाया जा सकता है। यह बिखरी हुई जनता आगे भी 'मीडिया के भविष्य का केंद्रीय आयाम' बनी रहेगी।

देखें : अभिलेखागार, आख्यान, इंटरएक्टिविटी-प्रौद्योगिकीय विमर्श, इंटरएक्टिविटी-सामाजिक विमर्श, इंटरफ़ेस, एक्टर-नेटवर्क थियरी, डिजिटल डिवायड, दिन-प्रति दिन के अभिलेखागार, नया मीडिया, नेटवर्क, नेटवर्क सोसाइटी, प्रेस की स्वतंत्रता, प्रोपेगंडा, बाज़ारू

संस्कृति, भारत में संचार-क्रांति, भारतीय मीडिया-1 से 3 तक, मास मीडिया, मीडिया और सरकार, मीडिया-पक्षधरता, मीडिया-स्टडीज़, संचार, संचार-क्रांति, स्मृति और अभिलेखागार, सोशल नेटवर्क विश्लेषण, सूचना, सूचना-समाज, वैकल्पिक मीडिया।

संदर्भ

1. रवि सुंदरम (2009), *द पाइरेट सिटी*, रॉटलेज, लंदन और नयी दिल्ली.
2. जे. हार्टली और जे. मैककी (2000), *द इण्डिजीनियस पब्लिक स्फ़ेयर : द रिपोर्टिंग ऐंड रिसेप्शन ऑफ़ एब्रोजिनल इशूज़ इन ऑस्ट्रेलियन मीडिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.
3. यूरी लोटमैन (1990), *द युनिवर्स ऑफ़ द माइंड : अ सीमियोटिक थियरी ऑफ़ कल्चर*, इण्डियाना युनिवर्सिटी प्रेस, ब्लूमिंगटन.

— अभय कुमार दुबे

भारतीय रंगमंच

(Indian Theatre)

भारतीय रंगमंच भारत की तरह ही विविध छवियों का जटिल मिश्रण है। कई तरह की रंग परम्पराएँ मिल कर भारतीय रंगमंच का जो स्वरूप बनाती हैं उसमें स्थानगत, समयगत, शैलीगत, कथ्यगत विविधता तो है ही, आंतरिक एकता का सूत्र भी है। भारतीय रंगमंच का उत्स संस्कृत रंगमंच में है जिसकी परम्परा अत्यंत प्राचीन है। *नाट्यशास्त्र* में नाट्योत्पत्ति का संदर्भ है कि ब्रह्मा के आदेश पर भरत मुनि ने ऋग्वेद से पाठ, यजुर्वेद से अभिनय, सामवेद से संगीत और अथर्ववेद से रस लेकर नाट्यरचना की। इसे पाँचवाँ वेद कहा गया क्योंकि अन्य वेदों के विपरीत यह सभी वर्णों के लिए था। नाट्य परम्परा भरत के पहले भी विकसित रही होगी क्योंकि *नाट्यशास्त्र* में सैकड़ों ऐसी नाट्यरूढ़ियाँ बतायी गयी हैं जो बिना दीर्घकाल के परम्परा बन ही नहीं सकती थीं। हज़ारवीं सदी तक संस्कृत रंगमंच का अवसान हुआ जिसके कतिपय कारण थे। अपभ्रंश भाषाओं के विकास के साथ ही संस्कृत का, जो पहले से भी जनभाषा नहीं थी, क्षेत्र संकुचित हो गया। अपभ्रंश भाषाओं में भी साहित्यिक रचना होने लगी। इसके साथ ही क्षेत्रीय भाषाओं में भी रंगमंच का विकास हुआ जिसने संस्कृत रंगमंच की विशेषताओं को भी अपनाया। जनभाषा में होने के कारण इन नाट्यरूपों को अधिक लोकप्रियता मिली। कुछ विद्वान संस्कृत रंगमंच के अवसान के लिए राजनीतिक परिस्थितियों को भी ज़िम्मेदार ठहराते हैं।

पश्चिमी प्राच्य विद्वानों के लिए भारतीय रंगमंच का अर्थ संस्कृत रंगमंच ही था। भरत के *नाट्यशास्त्र* और संस्कृत के नाटकों की खोज भी तब हुई जब प्राच्यविदों ने भारतीय ग्रंथों की खोज का काम शुरू किया। विलियम जोस ने कालिदास के नाटक *अभिज्ञानशाकुंतलम* की खोज की और 1789 में इसका अनुवाद प्रकाशित किया। कालिदास के पूर्ववर्ती नाटककार भास के नाटक बीसवीं सदी में खोजे गये। संस्कृत का रंगमंच शास्त्रबद्ध था जिसमें नाट्यप्रकारों, रंग-स्थल, अभिनय, मंच सज्जा, रंगोपकरणों के साथ शैली की भी परिभाषा निर्धारित थी। रस इसका केंद्रीय तत्त्व था। वैसे यह अलग बात है कि भास ने शास्त्र की सीमा का बार-बार उल्लंघन किया। शूद्रक, भवभूति, हर्ष, विशाखदत्त संस्कृत के उल्लेखनीय नाटककार हुए हैं।

भारतीय रंगमंच की दूसरी परम्परा लोकनाट्यों की है। जगदीशचंद्र माथुर इन्हें परम्पराशील नाट्य कहने पर बल देते हैं। इनके उद्भव के उन्होंने चार कारण गिनाये हैं। पहला, भागवत धर्म का अखिल भारतीय प्रसार; दूसरा, रंगमंच का मंदिर, धार्मिक स्थलों, मेलों में आश्रय; तीसरा, संस्कृत का जनसाधारण से अलगाव और भाषा-गीतों का नाटकों में समावेश; और चौथा गीतात्मक प्रस्तुति शैली। परम्पराशील रंगमंच की मुख्यतः दो प्रवृत्तियाँ हैं : पहली, धार्मिक जिसमें रासलीला, रामलीला, कुट्टियाट्टम, अंकिया नाट, थेरुकुट्टु, यक्षगान जैसी शैलियाँ हैं। इनके कथानक के आधार और प्रक्रिया धार्मिक हैं। दूसरा है लौकिक, जिनमें स्वांग, खयाल, नौटंकी, नाचा, माच जैसी शैलियाँ मिलती हैं। इनके कथा-स्रोत सामान्य जन जीवन में निहित हैं।

अपने-अपने क्षेत्रों में परम्पराशील नाट्य निर्विवाद रूप से लोकप्रिय हुए। उन्नीसवीं सदी में एक भिन्न राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक व्यवस्था के आगमन और उसके वर्चस्व ने भारतीय संस्कृति को प्रभावित किया। निरंतर पुनरावृत्ति, प्रेरणा की कमी, लौकिक नाटकों के कथानक की आवृत्ति और क्रवायद में तब्दील होते चले जाने की वजह से इस रंगमंच में ठहराव आ गया। नवीन चेतना सम्पन्न बौद्धिकों को यह नाट्य रूप जड़ और भ्रष्ट प्रतीत हुआ और उनका सान्निध्य इन्हें नहीं मिला। पूर्व-आधुनिक कला रूप होने के कारण यह मान लिया गया कि

इनमें आधुनिक जीवन की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती।

औपनिवेशिक काल में अंग्रेजों द्वारा अपने मनोरंजन के लिए आयातित रंगमंच, शासन व्यवस्था, शिक्षा और प्रिंट जैसे आविष्कारों के प्रभाव तथा रंगमंच में प्रोसेनियम थिएटर और शेक्सपीयर के परिचय से एक नितान्त भिन्न रंगमंच का आविर्भाव हुआ जिसकी परम्परा भारतीय रंगमंच में नहीं थी। इसके ज़रिये नाट्य-लेखन, प्रस्तुति और देखने की एक नयी शैली प्रचलन में आयी। अब प्रदर्शन का मतलब हो गया लिखित या छपे हुए नाट्य पाठ को प्रोसेनियम मंच पर अभिनेताओं द्वारा खेला जाना। नाटक देखने का शुल्क लगने लगा, इसे अब केवल सामने से देखा जा सकता था। दर्शक और अभिनेता की बीच एक आभासी दीवार आ गयी थी। रंगमंच अब सामुदायिक नहीं था, जिसमें दर्शक और अभिनेता एक ही समुदाय के अंग होते थे। परम्पराशील रंगमंच में नाटक *इम्प्रोवाइजेशन* के ज़रिये खेले जाते थे और रात भर चलते थे, वहीं आधुनिक प्रदर्शनों की समय सीमा निश्चित थी।

इसी प्रक्रिया में भारत में व्यावसायिक रंगमंच का उद्भव हुआ। इसमें एक पारसी रंगमंच था जिसके मालिक पारसी थे। इन्होंने कम्पनियाँ बनायीं जो व्यवसाय के लिए प्रस्तुति करती थीं और देश के विभिन्न हिस्सों में घूमती थीं। भारत की विभिन्न भाषाओं में ये कम्पनियाँ बनीं। मुख्यतः यह विक्टोरियन रंगमंच की नक़ल था जिसमें पृष्ठभूमि के लिए रंगे पर्दों का इस्तेमाल होता था। प्रस्तुति गीत-संगीत-नृत्य से युक्त और अभिनय मेलोड्रामाई था। मुनाफ़े के मुख्य ध्येय को अर्जित करने के लिए यह रंगमंच तमाम तरह के लटकों-झटकों पर आश्रित होता गया और सवाक् सिनेमा के आगमन के बाद इसका अवसान हो गया, क्योंकि इसकी बहुत सारी विशेषताएँ सिनेमा ने अपना लीं।

बांग्ला में और उसके बाद मराठी में अभिजात्य-संरक्षण में रंगमंच का विकास हुआ। पारसी से अलग इसने अंग्रेज़ी रंगमंच के सौंदर्यबोध से युक्त प्रस्तुति की। सम्पूर्ण भारत में व्यावसायिक रंग मण्डलियाँ बनीं। मराठी और बांग्ला की व्यावसायिक रंग मण्डलियों का प्रभाव देशव्यापी रहा। भारतीय नवजागरण का आरम्भिक आगमन बांग्ला और



जयशंकर प्रसाद (1889-1937)



हबीब तनवीर (1923-2009)

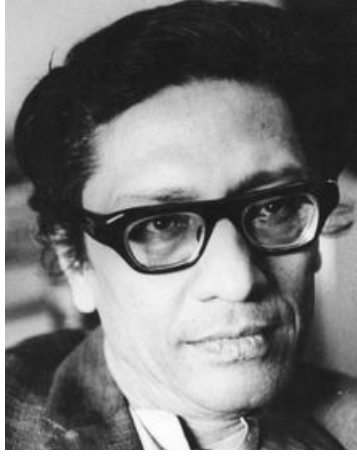
मराठी में हुआ था इसलिए यहाँ के रंगमंच ने अपने को इस आंदोलन से जोड़ा। माइकल मधुसूदन दत्त के *मेघनाद वध*, दीनबंधु मित्र के *नीलदर्पण* जैसे नाटकों ने समकालीन समय को अभिव्यक्त किया। हिंदी में और सम्भवतः भारतीय रंगमंच में पहली बार भारतेंदु हरिश्चंद्र ने विधिवत रूप से साहित्यिक रंगमंच की स्थापना का प्रयास किया जिसने रंगमंच को राष्ट्रीय चेतना से जोड़ने का प्रयास किया। लेकिन बांग्ला और मराठी, जिसमें गिरीश चंद्र घोष, शिशिर नाथ भादुड़ी, बाल गंधर्व जैसे रंगकर्मी थे, की तरह हिंदी में ऐसी परम्परा नहीं स्थापित हो सकी।

औपनिवेशिक आधुनिकता वाले रंगमंच की शैली यथार्थवादी थी। जिसमें संकलन त्रय (स्थान, समय और क्रिया) का निर्वाह और यथार्थवादी दृश्यविधान में प्रस्तुति होने लगी। संघर्ष केंद्रीय तत्त्व था। अधिकतर नाटक तीन अंकीय थे। इनमें गीत-संगीत गौण था, जबकि पारसी रंगमंच और मराठी रंगमंच पर संगीत की उपस्थिति थी। रवींद्रनाथ ठाकुर (बांग्ला) और जयशंकर प्रसाद (हिंदी) ने अपने नाटकों के माध्यम से यथार्थवादी शैली का विकल्प तलाशा और भारतीय प्रदर्शन शैली में नाटक लिखे। रवींद्रनाथ ने जहाँ इसमें नृत्य, गीत संगीत से युक्त नाटक लिखे, वहीं प्रसाद ने संकलन त्रय के बंधन से मुक्त नाटक लिखा और रस एवं संघर्ष का समन्वय किया। लेकिन यथार्थवादी रंगमंच में इनकी समायी न हो सकी।

स्वातंत्र्योत्तर भारत में राष्ट्रीय पहचान निर्मित करने में रंगमंच की भूमिका को भी महत्त्वपूर्ण मान कर राष्ट्रीय रंगमंच की स्थापना की राजकीय पहल हुई। आजादी के पहले ही भारतीय जननाट्य संघ (इप्टा) ने अपने प्रयासों से एक अखिल भारतीय रंगमंच खड़ा किया। राजनीतिक और जन सरोकारों से युक्त नाटक करने के लिए इन्होंने रंगमंच को प्रोसेनियम से बाहर निकाला और परम्पराशील नाट्यशैलियों की ओर उन्मुख हुए। आजादी के बाद इसका आंदोलनात्मक स्वरूप क्षीण हुआ लेकिन इससे जुड़े अनेक रंगकर्मी स्वातंत्र्योत्तर भारतीय रंगमंच के सूत्रधार बने। औपनिवेशिक रंगमंच की परम्परा आजादी के बाद भी रही जिसे मुख्यतः शहरी अभिजात / मध्यवर्गीय रंगकर्मियों ने आगे बढ़ाया। यथार्थवाद आधुनिकता की उपज थी इसलिए यह मान लिया गया था कि

शहर और आधुनिक जीवन की विसंगतियों को यथार्थवाद ही व्यक्त कर सकता है।

शंभु मित्रा और हबीब तनवीर और बाद में के.एम. पणिक्कर, रतन थियम जैसे निर्देशकों और गिरीश कार्नाड, विजय तेंदुलकर जैसे नाटककारों ने यथार्थवाद से अलग रास्ता निकाला। मित्रा और तनवीर ने माना कि भारतीय परम्परा से जुड़े बिना असली भारतीय रंगमंच नहीं हो सकता। इसलिए अनुकरण की मानसिकता को त्याग कर नृत्य-संगीत, और संकलन त्रय के बंधन से मुक्त नाटक लिखे जाने चाहिए ताकि उन्हें व्यापक दर्शकों तक पहुँचा जा सके। इसके लिए परम्पराशील प्रदर्शन शैली से रंगमंच को जोड़ा जाना चाहिए। यह रवींद्रनाथ और भारतेंदु का दिखाया रास्ता था।



शंभु मित्रा (1915-1997)

यथार्थवादी मुहावरे के पक्षधरों का कहना था कि इसकी भी परम्परा सौ वर्ष की है और शहर में भी एक लोक विकसित हो चुका है इसलिए इस मुहावरे को त्यागा नहीं जा सकता। मोहन राकेश और महेश एलकुंचवार इसके समर्थक थे। सत्तर के दशक में यथार्थवादी उपकरणों को अभातीय बताते हुए जड़ों के रंगमंच का नारा सामने आया और जड़ों से जुड़ने के लिए परम्पराशील रंगमंच संस्कृत नाटक और ब्रेख्त की ओर ध्यान गया। यथार्थवादी नाटककारों ने शंका जतायी कि ये शैलियाँ एक खास परम्परा की उपज हैं। इनके आलंकारिक इस्तेमाल से एक नकली रंगमंच विकसित होगा और यह रंगमंच को आधुनिक मूल्यों की ओर जाने से रोकेगा। लेकिन परम्पराशील मुहावरे ने यथार्थवादी रंगमंच को अपदस्थ कर दिया।



यक्षगान

नब्बे के बाद भारतीय रंगमंच में स्त्री-निर्देशकों का काम उभरा जिन्होंने जेंडरीकरण की प्रक्रिया दिखाने के लिए रंगमंच पर शिल्प और वस्तु दोनों को बदला। उपलब्ध आलेखों को भी इन्होंने नितान्त नयी शैली, नये आख्यान में प्रस्तुत किया। इस दौरान रंगमंच पर तकनीक का भी आगमन हुआ जिसमें डिजिटल छवियों, ध्वनियों, प्रकाश उपकरणों इत्यादि ने प्रस्तुति की संरचना को बदल दिया।

पूर्व-आधुनिक प्रकार का भारतीय रंगमंच उत्सव प्रधान था और सामुदायिक जीवन के उल्लास से जुड़ा था, वहीं आधुनिक रंगमंच में या एक ओर व्यावसायिक मूल्य

हावी रहा तो दूसरी तरफ़ उसमें अपने समकालीन जीवन से जूझने की ललक भी रही। इसी ललक में रंगमंच अंग्रेज़ी शासन के प्रतिरोध के स्वरूप में उभरा था जिसे दबाने के लिए अंग्रेज़ी राज्य ने 1876 का ड्रामेटिक परफ़ार्मेंस एक्ट लागू किया था। इससे बचने के लिए अभिव्यक्ति की रणनीतियों को बदला गया था। इप्ता का जन्म ही साम्राज्यवादी गतिविधियों के प्रतिरोध के लिए हुआ था। इसने अंग्रेज़ी राज्य और आज़ाद भारतीय राज्य दोनों की आलोचना की। नुक्कड़ नाटक के रूप में अनोखी शैली भारतीय रंगमंच में आयी जिसमें रंगमंच जनता तक पहुँचता था। समकालीनता की अभिव्यक्ति के लिए लोकप्रिय शैली के रूप में सत्तर के दशक में इसमें गति आयी। भारत के विविध क्षेत्रों में नुक्कड़ नाटक मण्डलियाँ गठित हुईं। बादल सरकार ने अपने परवर्ती नाटक इसी शैली के लिए लिखे और तीसरे रंगमंच की प्रस्तावना की। सफ़दर हाशमी ने नुक्कड़ नाटक को राजनीतिक ओज दिया।

भारतीय रंगमंच इस तरह से विविध रंग छवियों का कोलॉज है भारतीय रस की केंद्रीयता है तो पाश्चात्य संघर्ष भी है। परम्परा से नितान्त भिन्न औपनिवेशिक रंगमंच है तो अपनी परम्परा से जुड़ने का प्रयास करता उत्तर औपनिवेशिक रंगमंच भी है। इसमें अभिजात का मनोरंजन है, तो जनप्रतिरोध का स्वर भी है। भारतीय रंगमंच की इस विविधता ने ही विदेशी रंगकर्मियों को आकर्षित किया है। स्तानिस्लावस्की, ब्रेख्त, रिचर्ड शेखनर, पीटर ब्रुक, ग्रोतोवोस्की इत्यादि के रंग-विचारों का भारतीय रंगमंच का प्रभाव देखा जा सकता है।

देखें : आधुनिक हिंदी रंगमंच-1 और 2, कोस्तांतिन स्तानिस्लावस्की, वर्तोल्त ब्रेख्त, प्रगतिवाद, भारतेंदु हरिश्चंद्र, भारतेंदु युग-1 और 2.

संदर्भ

1. सिल्विया लेवी (1978), *द थिएटर ऑफ़ इण्डिया*, खण्ड-2, अ रायटर्स वर्कशाप पब्लिकेशन, कलकत्ता.
2. सुरेंद्रनाथ दीक्षित (1970), *भारत और भारतीय नाट्यकला*, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली.
3. हजारीप्रसाद द्विवेदी (1963) *प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
4. वी राघवन और आद्य रंगाचार्य (1971), *द थिएटर*, नैशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली.

— अमितेश कुमार

भारतीय राष्ट्रवाद

(Indian Nationalism)

भारतीय राष्ट्र और राष्ट्रवाद उपनिवेशवाद विरोधी राजनीति की देन है। इसमें भौगोलिक, भाषाई, सेकुलर, धार्मिक, भू-क्षेत्रीय और तीसरी दुनिया में उभरे राष्ट्रवाद के आयाम समाहित हैं। अपने दक्षिण एशियाई पड़ोसियों (बांग्लादेश, भूटान, नेपाल, पाकिस्तान और श्रीलंका) के विपरीत भारतीय राष्ट्रवाद की विशेषता यह है कि उसके तहत भारतीय राज्य ने किसी एक धर्म को अपना राजकीय धर्म घोषित करने से परहेज़ किया है। चार देशों का राष्ट्रवाद एक धर्म के साथ एक ही राजभाषा को मान्यता देता है। श्रीलंका दो भाषाओं को राजभाषा मानता है। जबकि भारत ने अपनी 24 भाषाओं को राजभाषा की मान्यता दे कर अपने राष्ट्रवाद को बहुधार्मिक और बहुभाषी स्वरूप दिया है। भारतीय राष्ट्र की दूसरी विशेषता है सांस्कृतिक रूप से विशिष्ट इकाइयों की परस्पर निर्भर राजनीतिक-आर्थिक एकता जिसका नतीजा संघात्मक बंदोबस्त में निकला है। इसकी तीसरी विशेषता है व्यक्ति और नागरिकता के समीकरण को अपनाते हुए भी उसके परे जा कर एक सम्प्रभु राज्य के भीतर सामुदायिक अधिकारों का प्रावधान। इस तरह भारतीय राष्ट्रवाद राजनीतिक संघवाद और सांस्कृतिक बहुलवाद की एक साथ गारंटी करता है।

जहाँ तक आधुनिक राष्ट्रीय चेतना के राजनीतिक विकास का प्रश्न है, इसकी शुरुआती अभिव्यक्ति उन्नीसवीं सदी में आर्थिक राष्ट्रवाद के उभार में दिखाई पड़ती है जब दादाभाई नौरोजी ने भारत में 'अन-ब्रिटिश रूल' की आलोचना पेश की थी। इसी दौरान औपनिवेशिक आधुनिकता के संसर्ग में राष्ट्रवाद की शुरुआती सांस्कृतिक और बौद्धिक अभिव्यक्तियाँ बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय की रचनाओं और बंगाल रेनॉसा के दौरान राजा राममोहन राय के नेतृत्व में हुए नवोन्मेष के रूप में सामने आयीं। इस समग्र प्रक्रिया का विकास भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के गठन में हुआ जिसने आगे चल कर भाषाई अस्मिताओं पर आधारित भू-क्षेत्रीय राष्ट्रीयताओं की एकजुटता के आधार पर उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन को नेतृत्व दिया और भविष्य के भारतीय राष्ट्रवाद की भित्ति तैयार हुई।

लेकिन, अपने इस प्रयास में कामयाब होने के लिए उपनिवेशवाद विरोधी नेतृत्व को भारतीय राष्ट्रवाद की कई वैचारिक संकल्पनाओं से टकराना पड़ा। दरअसल, वैचारिक रूप में भारतीय राष्ट्रवाद की यात्रा तरह-तरह की पेचीदगियों और द्वंद्वों से भरी हुई है। अलग-अलग दृष्टिकोणों के आधार

पर इसे एक प्राचीन सभ्यता के रूप में, सामासिक संस्कृति के रूप में, राजनीतिक रूप में, धार्मिक रूप में, एक विशिष्ट सांस्कृतिक परिवेश से सम्पन्न भौगोलिक/भू-क्षेत्रीय एकता के रूप में, कई भाषाई समुदायों की एकता के रूप में और एक बड़े व कई छोटे-छोटे राष्ट्रों की एकजुटता और द्वंद्व के रूप में परिभाषित किया जाता रहा है। पहली तीन परिभाषाओं का सूत्रीकरण मुख्यतः विभाजन से पहले हुआ था। चौथी परिभाषा ने विभाजन की नींव डाली और अपने मकसद में कामयाब हुई। आज भी यह परिभाषा पाकिस्तान और बांग्लादेश के लिए राष्ट्रवादी वैधता का स्रोत बनी हुई है। पाँचवीं, छठीं और सातवीं परिभाषाएँ मोटे तौर पर विभाजन के बाद की परिस्थिति से संबंधित मानी जा सकती हैं। इस कमोबेश साफ़-सुथरे लगने वाले वर्गीकरण के साथ यह भी कहा जा सकता है कि ये परिभाषाएँ लाजमी तौर पर इसी क्रम से नहीं उभरीं। इनमें से कुछ का सह-अस्तित्व रहा है और उनके बीच प्रधानता हासिल करने के लिए आपसी होड़ होती रही है।

इन सभी परिभाषाओं में कोई न कोई झोल है। भारतीय राष्ट्रवाद के जो पैरोकार इसे प्राचीन सभ्यता के आईने में देखना चाहते हैं उनका मकसद भारतीय राष्ट्र का उद्गम मुसलमानों और अंग्रेजों के आगमन से पहले दिखाना है। वे भारतीय राष्ट्र में मुसलमानों और ब्रिटिश शासन के योगदान को मोटे तौर पर नज़रअंदाज़ करने के पक्ष में हैं। ये लोग प्राचीन काल से भारत के भीतर जिस भौगोलिक एकता की आकांक्षा का जिक्र करते हैं, उसका स्रोत हिंदू संस्कृति है। उनकी निगाह में मुसलमान और अंग्रेज़ विजातीय हैं जिन्होंने इस राजनीतिक और सांस्कृतिक एकता को गड़बड़ाने की भूमिका निभायी। ये व्याख्याकार नहीं मानते कि भारतीय उपमहाद्वीप जैसे विशाल सभ्यतामूलक क्षेत्र में लाजमी तौर पर एक नहीं बल्कि कई राष्ट्रों और राज्यों का सह-अस्तित्व हो सकता है। इन लोगों के अनुसार हिंदू संस्कृति का आदि आर्यों के आगमन में निहित है। आर्यों से पहले का इतिहास इन विद्वानों के लिए तक्ररीबन नामौजूद है। कुल मिला कर भारतीय राष्ट्रवाद की यह अवधारणा न केवल मुसलमानों और अंग्रेजों की भूमिका नकारती है, बल्कि द्रविड़ समुदायों और सभी गैर-आर्य समुदायों को परिदृश्य से गायब कर देती है।

भारतीय राष्ट्र को सामासिक संस्कृति की देन मानने वालों का मुख्य ज़ोर हिंदू और इसलामिक संस्कृतियों का सम्मिलन दिखाने पर रहता है। वे कहते हैं कि यह सामासिकता द्वंद्व और संश्लेषण की प्रक्रिया के ज़रिये हासिल की गयी। मुसलमानों के हमले की पहली लहर अपने साथ हिंसा, लूट-पाट और तबाही लेकर आयी। पर इस ज्वार के

उतरने के बाद हिंदू-मुसलमानों के सामासिक समुदायीकरण की दीर्घकालीन प्रक्रिया शुरू हुई जिसके प्रमाण कबीर की कविता और सम्राट अकबर द्वारा एक सामासिक धर्म की स्थापना करने की कोशिशों में दिखाई पड़ते हैं। सिंहावलोकनात्मक दृष्टि अपनाने पर लगता है कि भारतीय संस्कृति को सामासिक करार देना अपने आप में एक राजनीतिक परियोजना थी जिसका मकसद विभाजन की दुर्घटना को रोकना था। लेकिन, अपने तमाम नेक इरादों के बावजूद यह दो राष्ट्रों के सिद्धांत को पनपने से नहीं रोक पायी। सामासिकता के पैरोकार यह नहीं देख पाये कि वे सम्मिलन और परस्पर आत्मसातीकरण की बात कह रहे हैं जो बहुलतामूलकता से अलग है। बहुलता संस्कृतियों की विभिन्नता के सह-अस्तित्व को प्रामाणिक मानती है। कुल मिला कर कालांतर में 'सिंक्रेटिक' नज़रिया 'सिंथेटिक' साबित हुआ जिसके कारण भारतीय राष्ट्र स्वाभाविक कम और राजनीतिक रूप से गढ़ा हुआ ज़्यादा लगने लगा।

उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष के दौरान राष्ट्र भविष्य के नागरिकों के लिए संकल्पित किया जा रहा था। जैसे-जैसे अंग्रेजों के भारत छोड़ने का समय नज़दीक आया, राष्ट्रवादी नेतृत्व ने भारतीय राष्ट्र और आज़ादी के बाद बनने वाले राज्य को एक-दूसरे का पर्याय बनाने का प्रयास किया। भारत को एक बहुराष्ट्रीय राज्य मानने वाले मार्क्सवादियों में भी राष्ट्र और राज्य को अलग-अलग न देखने का रुझान है। चाहे कृषि का विकास हो, धार्मिक सुधार हों, या स्त्रियों की हालत में सुधार की कोशिश हो, वे हर चीज़ को राष्ट्रवादी चेतना की अभिव्यक्ति की तरह ग्रहण करते हैं। भारतीय राष्ट्र को विभिन्न भाषाओं के सह-अस्तित्व की तरह देखने वाले कुछ भाषाओं को सुप्त और कुछ को जाग्रत दिखाते हैं। कुछ सुप्त भाषाएँ उनकी निगाह में जाग्रत होने की तरफ़ बढ़ रही थीं। इस तरह वे लोग भाषाई राष्ट्रीयताओं का एक पदानुक्रम तैयार कर देते हैं।

द्वि-राष्ट्र सिद्धांत का सूत्रीकरण भी कई तरह से किया गया है। मुसलिम लीग के नेता मुहम्मद अली जिन्ना के हिसाब से भारत बारह सौ साल से हिंदू-भारत और मुसलमान-भारत में बँटा रहा है और दोनों के बीच कभी एकता नहीं हो पायी। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सिद्धांतकार माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर का कहना है कि वास्तविक द्वंद्व भारतीय मूल वाले धर्मों (हिंदू, जैन, बौद्ध और सिक्ख) और विदेशी मूल वाले धर्मों (इसलाम, ईसाइयत, यहूदी धर्म, ज़रथुस्तवादी और बहाई) के बीच है। गोलवलकर के लिहाज़ से यह संघर्ष विजातीय धर्मों और सजातीय धर्मों के बीच है। ज़ाहिर है कि जिन्ना और गोलवलकर की दावेदारियाँ राष्ट्र के भाषाई पहलुओं की उपेक्षा कर देती हैं। न तो भारत के मुसलमान एक भाषा-भाषी

हैं और न ही हिंदू। ये दोनों नेता अपने-अपने राष्ट्रवाद के लिए स्वर्णिम अतीतों की शिनाख्त करते नज़र आते हैं। गोलवलकर के लिए गुप्त साम्राज्य यही भूमिका निभाता है और जिन्ना के लिए मध्ययुगीन मुसलमान साम्राज्य। इन दोनों के विपरीत धर्म के आधार पर अलग राष्ट्र की तीसरी दावेदारी सिक्खों द्वारा भी की जा चुकी है। उनके प्रतिनिधियों ने यह माँग 1946 में की थी।

उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन के नेतृत्व ने धर्म आधारित अलग राष्ट्र की इस माँग को कभी मान्यता नहीं दी। गाँधी ने स्पष्ट रूप से कहा : अगर हिंदू अपना अकेला राष्ट्र बनाना चाहते हैं तो ऐसा वे केवल कल्पनाजगत में ही कर सकते हैं। भारत को अपना देश बनाने वाले हिंदू, पारसी, मुसलमान और ईसाइयों यहाँ के नागरिक हैं। दुनिया के किसी भी देश में राष्ट्रीयता और एक धर्म पर्यायवाची नहीं हैं और भारत में भी कभी ऐसा नहीं था।

राष्ट्रवाद संबंधी इन तमाम विचारों के विपरीत कांग्रेस ने गाँधी के निर्देशन में बीस के दशक की शुरुआत में ही भाषाई समरूपता के आधार पर देश को अपने हिसाब से बाँटा और अंग्रेजों द्वारा प्रशासनिक सुविधा के लिए किये गये बँटवारे को खारिज कर दिया। असहयोग आंदोलन के लिए की गयी गोलबंदी की असाधारण कामयाबी के पीछे भाषाई राष्ट्रीयताओं को समग्र भारतीय राष्ट्रवाद के घटकों के रूप में पेश करने की इस सृजनात्मक रणनीति का ज़बरदस्त हाथ था। 1928 में जवाहरलाल नेहरू रपट ने भाषाई प्रांतों की रचना को वांछनीय करार दिया।

विडम्बना यह रही कि भाषाई आधार पर अंग्रेज़ विरोधी आंदोलन खड़ा करने वाले गाँधी के उत्तराधिकारी जवाहरलाल नेहरू ही 1947 के बाद प्रधानमंत्री के रूप में भाषाई प्रांतों को राष्ट्रीय एकता के लिए खतरा मानने लगे, हालाँकि संविधान सभा भाषाई उसूल को मान्यता दे चुकी थी। नेहरू की हिचक और उसके खिलाफ़ हुए लोकप्रिय जन-संघर्षों के बाद 1955 में पहला राज्य पुनर्गठन आयोग गठित हुआ जिसने भाषाई आधार पर राज्यों की रचना की। दरअसल, यह भारतीय राष्ट्रवाद का व्यावहारिक रूप था। इसके मुताबिक़ स्वतंत्र और सम्प्रभु भारत का राष्ट्रवाद क्षेत्रीय आधार वाले समरूप भाषाई समुदायों की एकजुटता के रूप में खुद को व्यक्त करता हुआ दिखाई दिया। भारतीय राष्ट्रवाद के इस प्रयोग ने यह भी दिखाया कि अगर विभिन्न राष्ट्रीयताओं को एक संघात्मक ढाँचे के तहत प्रांतीय स्वायत्तता दी जाए तो पृथक सम्प्रभु राष्ट्र की माँगें धीरे-धीरे राजनीतिक रूप से अव्यावहारिक हो जाती हैं।

लेकिन, भारतीय राष्ट्रवाद की पेचीदगी यहीं ख़त्म नहीं होती। मुख्यतः उत्तर-पूर्व भारत के आदिवासी प्रश्न ने छोटी

राष्ट्रीयताओं के प्रश्न के साथ जुड़ कर अखिल भारतीय राष्ट्रवाद को चुनौती देना जारी रखा। इसके लिए बड़े भारतीय राष्ट्रवाद द्वारा छोटी राष्ट्रीयताओं के आंतरिक उपनिवेशीकरण के सिद्धांत का इस्तेमाल किया गया। कहा गया कि भारतीय पूँजीपति वर्ग भारतीय राज्य की मदद से बाज़ार पर क़ब्ज़ा करने के मक़सद से बृहद राष्ट्रवाद की राजनीति के तहत छोटी राष्ट्रीयताओं के अधिकारों का हनन कर रहा है। इस विचार ने क्षेत्रीय और छोटे पूँजीपति की विचारधारा को 'लघु राष्ट्रवाद' की संज्ञा दी। जनजातीय और छोटी राष्ट्रीयताओं के मसले के कुछ अध्येताओं की मान्यता है कि असमान आर्थिक विकास और अधिकतर जनजातीय क्षेत्रों के अलग-थलग पड़े रहने के कारण यह समस्या और जटिल हुई है। भारतीय राष्ट्रवाद ने स्वायत्तता और स्व-शासन के विभिन्न रूपों को अपना कर एक सीमा तक इस तनाव का शमन करने कोशिश की है, पर वह पूरी कामयाबी से अभी काफ़ी दूर है।

देखें : अनुसूचित जातियाँ, अनुसूचित जनजातियाँ, अन्य पिछड़े वर्ग, आरक्षण, आधुनिकता, अरविंद घोष, आधुनिकीकरण, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, जवाहरलाल नेहरू, जातियों का राजनीतिकरण, बंगाल का नवजागरण, भारतीय अभिजन, भारतीय आधुनिकता, भारतीय इस्लाम, भारतीय उदारतावाद, भारतीय डायसपोरा, भारत में उपनिवेशवाद, भारतीय नवजागरण : तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य, भारत में नियोजन, भारत में प्रातिनिधिक प्रणाली, भारत में पृथकतावादी राजनीति, भारत में मतदान-व्यवहार-1 से 6 तक, भारतीय राज्य, भारतीय लोकतंत्र, भारतीय लोकतंत्र का संस्थानीकरण-1 से 3 तक, भारतीय स्वभाव और राजनीति, भारतीय संविधान-1 से 8 तक, भारतीय सामाजिक आंदोलन, भीमराव रामजी आम्बेडकर, राजा राममोहन राय, विवेकानंद, विनायक दामोदर सावरकर, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1 से 3 तक।

संदर्भ

1. पार्थ चटर्जी (1986), *नैशनलिस्ट थॉट ऐंड द कोलोनियल वर्ल्ड : ए डेरिवेटिव डिस्कॉर्स?*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
2. ज्ञानेंद्र पांडेय (1990), *द कंस्ट्रक्शन ऑफ़ कम्प्युलिज़म इन कोलोनियल नॉर्थ इण्डिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
3. बी.के. रॉय बर्मन (47), 'नैशनल मूवमेंट एमंग ट्राइब्स', *सेकुलर डेमोक्रेसी*, अंक 47 (3 और 4).
4. ए.आर. देसाई (1948), *द सोशल बैकग्राउंड ऑफ़ नैशनलिज़म*, पॉप्युलर प्रकाशन, बम्बई.

— अभय कुमार दुबे

भारतीय राजनीतिक संस्कृति

(Indian Political Culture)

भारतीय राजनीतिक संस्कृति और उसके विकास को समझने के लिए मुख्यतः तीन तरह के रवैये अपनाये जाते हैं। पहला रवैया उन लोगों का है जो भारतीय समाज और राजनीति का आकलन पश्चिमी समाजों के राजनीतिक विकास के आधार पर करते हैं। उन्हें लगता रहा है कि भारत की राजनीतिक संस्कृति में उसकी सामाजिक परम्परा का हस्तक्षेप कुछ ज्यादा ही है। इसीलिए यहाँ लोकतंत्र और राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया संकटग्रस्त होने के लिए अभिशप्त हो जाती है। दूसरा रवैया उन लोगों का है जो मानते हैं कि भारत का सारतत्त्व मुख्यतः सांस्कृतिक है, इसलिए समाज-परिवर्तन के नाम पर केवल राजनीतिक पहलुओं की श्रेष्ठता स्वीकार करने के आधार पर बनी कोई भी राजनीतिक संस्कृति उसे रास नहीं आ सकती थी। इसलिए इन विद्वानों ने परम्परा और आधुनिकता को एक-दूसरे के साथ स्पर्धरत देखने के बजाय परस्पर अन्योन्यक्रिया करते हुए देखा। नतीजे के तौर पर इन लोगों ने भारतीय राजनीतिक संस्कृति को एक अनूठी संरचना के रूप में ग्रहण किया। तीसरा रवैया उन लोगों का है जो मानते हैं आधुनिकता और राष्ट्रवाद ने भारत के सारतत्त्व को नुकसान पहुँचा कर एक ऐसी राजनीतिक संस्कृति को जन्म दिया है जिसने राज्य की संस्था को समाज के ऊपर प्रधानता दे दी है। यह परिस्थिति भारतीय स्वभाव से मेल नहीं खाती, इसीलिए भारतीय समाज नयी राजनीतिक संस्कृति के साथ तालमेल बैठाने के चक्कर में थकान का शिकार होता जा रहा है।

पश्चिमी अनुभव को मानक के रूप में ग्रहण करने वाले प्रेक्षकों को यह समझ में नहीं आता कि भारत में राष्ट्रीय पहचान वैसे समूहन (एग्रिगेशन) के आधार पर क्यों नहीं बनी जैसा युरोप और अमेरिका में घटित हुआ है? ये लोग राजनीतिक आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में उभरी क्षेत्रीय और भाषाई पहचानों को लोकतंत्र और राष्ट्र के लिए संकट के रूप में देखते हैं। वे पश्चिमी संस्कृतियों को अभिकेंद्रीय मानते हैं और उसके बरक्स भारतीय पक्ष उन्हें अपकेंद्रीय लगता है। वे यह सवाल भी उठाते हैं कि भारतवासी सभी को समेट लेने वाली सेकुलर अस्मिता से सम्पन्न क्यों नहीं हैं? उनके भीतर सेकुलर प्राधिकार के प्रति नकारात्मक रुझान क्यों हैं? पश्चिमी मानक के आईने में भारतीय राजनीतिक संस्कृति को देखने वाले परम्परा और आधुनिकता को दो विरोधी ध्रुवों के रूप में देखते हैं। इस दृष्टि से हट कर परम्परा और आधुनिकता में सामंजस्य के पहलू देखने वाले विद्वानों ने राजनीतिक संस्कृति का सूत्रीकरण एक भिन्न मॉडल के रूप

में किया है।

राजनीतिक संस्कृति के विशिष्ट भारतीय मॉडल की रचना का श्रेय रजनी कोठारी को जाता है। हालाँकि कोठारी मूलतः राजनीतिकशास्त्री हैं, पर उन्होंने साठ के दशक में किये गये अपने अध्ययनों के आधार पर लिखी गयी एक बहु-अनुशासनीय पुस्तक *पॉलिटिक्स इन इण्डिया* (1969) में इसे पेश किया था। अपनी इस अनूठी रचना में कोठारी ने परम्परा को तीन हिस्सों में बाँट कर विश्लेषित किया है : भारतीय संस्कृति की 'महान परम्परा' और ग्रामीण संस्कृति की 'लघु परम्पराओं' के साथ-साथ बहु-सामाजिक और बहु-क्षेत्रीय राजनीतिक संस्कृति की 'मध्यवर्ती परम्पराएँ'। वे मानते हैं कि भारत में समूहन की प्रक्रिया इन्हीं मध्यवर्ती परम्पराओं के इर्द-गिर्द सम्पन्न हुई है।

कोठारी ने भारतीय राजनीतिक संस्कृति के जिन चार आधारों चर्चा की उनमें पहला है अस्पष्टता के प्रति सहिष्णुता। वे कहते हैं कि भारतीय समाज अस्मिता-बहुल है और ये अस्मिताएँ एक-दूसरे में घुली-मिली हैं जिसके कारण आस्थाओं में अस्पष्टता की स्थिति बनी रहती है। समाज इस अस्पष्टता के साथ जीना सीख चुका है। इसके लिए वह सहअस्तित्व और संश्लेषण का सिद्धांत अपनाता है। यही रवैया परम्परा और आधुनिकता को लाजमी तौर पर अंतर्विरोधी न मान कर उन्हें संश्लेषण की तरफ ले जाता है। नतीजे के तौर पर भारतीय मानस व्यक्तिगत आजादी और सामुदायिकता के बीच, वैचारिक लचीलेपन और समाज को नियंत्रित करने वाली औपचारिक संरचनाओं के आग्रह के बीच, राजनीतिक केंद्र की अनिवार्य जरूरत और कई तरह की प्रणालियों की स्वायत्तता के बीच तालमेल बैठाने में कामयाब रहता है। अल्पसंख्यकों के प्रति उसके रवैये, राजनीतिक गठजोड़ बनाने की रणनीतियों, मतभेद और विरोध के प्रति सहनशीलता का स्रोत इसी में निहित है। अस्पष्टता के प्रति सहिष्णुता और वैचारिक लचीलेपन का इस्तेमाल करके भारतीय समाज ने आधुनिकता की ऐतिहासिक चुनौती का अपने तरीके से सामना किया है।

कोठारी ने दूसरे आधार की शिनाख्त सत्ता के विखण्डित स्वभाव के रूप में की है। वे कहते हैं कि भारत में अभिजनों की भूमिका मध्यस्थ की रही है। सामाजिक बंदोबस्त में उलझाव पैदा होने पर ही अभिजन हस्तक्षेप करते थे। प्राधिकार का इस्तेमाल यदा-कदा होने के कारण उसकी प्रकृति अस्थायी और सीमित हो जाती थी। सीमित इन अर्थों में कि राजा या केवल उन्हीं मामलों में हाथ डालता था जो उसके सामने पेश किये जाते थे। बाक़ी मामले समाज अपने स्तर पर निबटाता रहता था। आधुनिक युग में समाज राजनेता से भी इसी रवैये की अपेक्षा करता है। लोकतंत्र की स्थापना ने भारतीय समाज

में राजनीतिक केंद्र के निर्माण का मार्ग प्रशस्त किया जिसने लोगों को मौक़ा दिया कि वे झगड़े सुलझाने के लिए स्थानीय ताक़तों की मनमानी और उत्पीड़नकारी भूमिका से बच सकें। कांग्रेस से जुड़े स्थानीय नेताओं ने सामाजिक और व्यक्तिगत विवादों में नये मध्यस्थों की भूमिका निभानी शुरू कर दी। आधुनिक प्राधिकार के राजनीतिक प्रतिनिधि भी मध्यस्थ बन गये। बड़े नेता भी धीमी रफ़्तार से सुलह-समझौता और बीच-बचाव का सिलसिला चलाते हैं। धीरे-धीरे विभिन्न पक्षों के बीच एक सौदा उभरता है। इसका संस्थागत रूप भी निम्न स्तर का रहता है। सरकार परिवर्तन की वाहक तो बनती है, पर बदलाव थोपने की बजाय मौजूदा संबंधों के बीच मध्यस्थता करके उसके लिए रास्ता साफ़ करती है। इस तरह नयी राजनीति एक समाज की सांस्कृतिक जीवन-शैली के खाँचे में ढल कर अपनी शकल-सूरत प्राप्त करती रहती है।

राजनीतिक संस्कृति का तीसरा आधार विचारधारा और राजनीति के बीच संबंध की शकल में सामने आता है। कोठारी के मुताबिक़ भारतीय समाज चीन से इस मायने में भिन्न है कि चीन में राज्य समाज की अच्छाइयों का रक्षक माना जाता है। पर भारत में समाज राज्य से स्वायत्त है। नैतिकताओं पर समाज की इजारेदारी नहीं चलती। आधुनिकता के आगमन के बाद सामाजिक जीवन में नेता का महत्त्व बढ़ा है और राज्य के नुमाइंदा के रूप में वह समाज से पहले के किन्हीं वक्त्रों के मुक़ाबले अधिक अंतरंग भी हुआ है। समाज उसके भीतर विचार और कर्म की एकता देखना चाहता है। उससे अपेक्षित है कि वह संस्कृति और सदगुणों की वाहक भी हो। समाज के इसी दबाव में नेता ऐसे-ऐसे वायदे करता है जिन्हें पूरा करने की उम्मीद तार्किक रूप से नहीं की जा सकती। यही रवैया विचारधारा के प्रति है। एक तरफ़ ऊँचे आदर्शों की बात और सांस्कृतिक मूल्यों व नैतिकता की प्रतिष्ठा का दावा बना रहता है, और दूसरी ओर यदि सामाजिक जीवन में यह सब नहीं हो पाता तो उसे सहन भी कर लिया जाता है। किसी को शर्म और पराजय की अनुभूति भी नहीं होती। पाखण्ड के प्रति सहिष्णुता के साथ यह मान्यता भी काम करती रहती है कि पाखण्ड कुछ न कुछ रहेगा भी।

चौथा आधार विश्वास और अविश्वास से संबंधित है। ईसाई धारणा व्यक्ति को नैसर्गिक रूप से पापी मानती है। चीन में कनफ़्यूशस का विचार मानव की बुनियादी अच्छाई पर जोर देता है। पर भारतीय कर्म की धारणा पर यक्रीन करते हैं। न ही वे ईसाइयों की भाँति इनसान की ख़ुदगर्जी को क़ाबू में करने की कोशिश करते हैं और न ही चीनियों की तरह सामाजिकीकरण के ज़रिये उसकी अच्छाइयों को सामने लाने के फेर में रहते हैं। कर्मों के जमा-ख़र्च की धारणा के तहत जीवन चलता रहता है। कर्म सिद्धांत के मुताबिक़ निजी स्तर पर अच्छे कर्म करके मोक्ष की प्राप्ति की जा सकती है,

इसलिए सामूहिक धरातल पर मिल-जुल कर उपलब्धियाँ करना आवश्यक नहीं रह जाता। टीम-वर्ग की प्रवृत्ति कमज़ोर हो जाती है, दूसरों पर संदेह का रवैया पनपता है, प्राधिकार पर शक रहता है और सामूहिक काम करने वाले हर व्यक्ति पर (चाहे वह अभिजन हो, नेता हो, अफ़सर हो या विशेषज्ञ हो) अविश्वास रहता है। इस स्थिति में समानता के आधार पर नहीं बल्कि वरिष्ठता और कनिष्ठता के आधार पर काम करना ज़्यादा स्वाभाविक लगता है। जब तक चमत्कारी नेता या आध्यात्मिक गुरु न हो, भारतीय समाज में उसके प्रति समर्पण की भावना पैदा नहीं हो पाती। आधुनिक जीवन के दबावों में यह प्रवृत्ति बदलनी शुरू हुई है। गठजोड़ राजनीति की मजबूरियों ने भी इस प्रवृत्ति में कुछ संशोधन किये हैं।

कोठारी के इस मॉडल से लगता है कि वे राजनीतिक संस्कृति के भारतीय रूप के प्रति काफ़ी आश्वस्त हैं। पर वे इस मॉडल के उन पहलुओं को भी नज़रअंदाज़ नहीं करते जो उनके विचार से नकारात्मक हैं और आधुनिक राजनीति को परवान चढ़ाने में बाधक हो सकते हैं। उनका ख़याल है कि जन्मना आरोपित पदानुक्रम के मुताबिक़ असहमति और विविधता को संसाधित करने की भारतीय प्रवृत्ति का आज्ञादी के आंदोलन के दौरान सफल और सचेत मुक़ाबला किया गया था। पर, जैसे-जैसे नयी राजनीतिक प्रणाली मजबूत हुई और उसे नौकरशाहाना नियमों और कार्यविधियों का आधार मिला, वैसे-वैसे तरह-तरह की औपचारिकताओं और शासकीय कर्मकाण्डों की शकल में इसी रवैये ने फिर जड़ जमा ली। इससे पहले कि आधुनिक सेकुलर मूल्य क्रदम जमा पाते, पदानुक्रम आधारित मूल्यों ने माहौल प्रभावित करना शुरू कर दिया। आधुनिक क्षेत्र में भी पारम्परिक पदानुक्रम ने एक सामूहिक मूल्य का दर्जा प्राप्त कर लिया।

दिलचस्प बात यह है कि कोठारी द्वारा प्रतिपादित भारतीय राजनीतिक संस्कृति के इस मॉडल की आलोचना मार्क्सवादियों द्वारा न के बराबर की गयी। एक तरह से उन्होंने कोठारी से उलझना मुनासिब नहीं समझा, बावजूद इसके कि वे सेकुलरीकरण और आधुनिकीकरण के भिन्न मॉडल के पैरोकार थे। लेकिन, राजनीतीकरण के इस मॉडल से बहुत ज़्यादा असहमत न होते हुए कोठारी के ही एक घनिष्ठ सहयोगी विद्वान आशिस नंदी ने अलग परिप्रेक्ष्य पेश किया जो अंततः कोठारी के आशावाद से सहमत नहीं था। उनका यह प्रतिपादन भारतीय राजनीतिक संस्कृति पर लिखी गयी एक रचना *पॉलिटिकल कल्चर ऑफ़ स्टेट* में सामने आया। नंदी आधुनिकता, सेकुलरवाद और राष्ट्र-राज्य के आलोचक के रूप में विख्यात हैं। कोठारी ने भारतीय परम्परा के जिन सकारात्मक रूपों की शिनाख़्त की थी, नंदी ने उससे असहमति व्यक्त नहीं की, पर उन्होंने कहा कि परम्परागत भारतीय राज्य जिस सांस्कृतिक बहुलता से शक्ति प्राप्त करता

था, आधुनिक राष्ट्र-राज्य उसकी जगह अमेरिकी क्रिस्म की 'मेल्टिंग पॉट' जैसी बहुलता को आधार बनाना चाहता है। संक्रमण की इसी कोशिश के गर्भ से नयी राजनीतिक संस्कृति निकल रही है। इसके तहत राज्य का विकास और शक्ति ही समाज के विकास और मज़बूती का पर्याय बन गयी है। राज्य के हाथ में जातीय और धार्मिक विवादों की मध्यस्थता चली गयी है, भले ही उसका रवैया कितना भी भेदभावपूर्ण क्यों न हो। इस नयी संस्कृति में हमारी विविधता निम्न स्तर की समरूपता में बदल गयी है जिसके कारण इतिहास के ढलान पर पूरा भारतीय समाज हाँफता चला जा रहा है।

देखें : अनुसूचित जातियाँ, अनुसूचित जनजातियाँ, अन्य पिछड़े वर्ग, आरक्षण, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, जवाहरलाल नेहरू, भारतीय अभिजन, भारतीय आधुनिकता, भारतीय इस्लाम, भारतीय उदारतावाद, भारतीय डायसपोरा, भारत में उपनिवेशवाद, भारत में नियोजन, भारत में प्रातिनिधिक प्रणाली, भारत में पृथकतावादी राजनीति, भारत में मतदान-व्यवहार-1 से 6 तक, भारतीय राज्य, भारतीय राष्ट्रवाद, भारतीय लोकतंत्र, भारतीय लोकतंत्र का संस्थानीकरण-1 से 3 तक, भारतीय स्वभाव और राजनीति, भारतीय संविधान-1 से 8 तक, भारतीय सामाजिक आंदोलन, भीमराव रामजी आम्बेडकर, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1 से 3 तक।

संदर्भ

1. रजनी कोठारी (2003), 'राजनीतिक संस्कृति और भारतीय व्यक्ति की राजनीतिक शिखरयत का विकास', अभय कुमार दुबे (सम्पा.), *राजनीति की किताब : रजनी कोठारी का कृतित्व*, सीएसडीए-वाणी, नयी दिल्ली.
2. आशिस नंदी (2003), 'नयी राजनीतिक संस्कृति : समाज और लोकतंत्र', अभय कुमार दुबे (सम्पा.), *लोकतंत्र के सात अध्याय*, सीएसडीए-वाणी, नयी दिल्ली.

— अभय कुमार दुबे

भारतीय राज्य

(Indian State)

1950 में संवैधानिक गणराज्य के रूप में जिस भारतीय राज्य की नींव पड़ी, उसकी बनावट कई नये और कई पुराने तत्त्वों से मिल कर तैयार हुई थी। इसके चरित्र की व्याख्या करने वाले कई मॉडल समाज-विज्ञान में प्रचलित हैं। पिछले साठ साल में भारतीय राज्य कई तरह के परिवर्तनों और विकास-क्रमों से गुजरा है, और इस प्रक्रिया में उसकी संरचना पहले से कहीं ज्यादा पेचीदा हो गयी है।

अपने उद्घाटन के समय इस राज्य के नये आयाम इस प्रकार थे : सार्विक मताधिकार के आधार पर निर्वाचित सम्प्रभु विधायिका (सामुदायिक प्रतिनिधित्व का प्रावधान न होने के बावजूद इसमें अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए आरक्षण की व्यवस्था थी), सभी नागरिकों के मूलाधिकारों की संविधान द्वारा गारंटी, शासन की संसदीय प्रणाली (संसद के प्रति जवाबदेह कार्यपालिका और अप्रत्यक्ष निर्वाचन के जरिये चुना गया राष्ट्रपति), स्वतंत्र न्यायपालिका (संसद द्वारा बनाये गये कानूनों की समीक्षा करने के अधिकार से सम्पन्न) और केंद्राभिमुख संघात्मक प्रणाली (राज्य सरकारें अपनी विधानसभाओं के प्रति उत्तरदायी, लेकिन शक्तियों के बँटवारे में पलड़ा केंद्र की तरफ झुका हुआ)।

इस राज्य के पुराने पहलुओं में सर्वाधिक उल्लेखनीय अंग्रेजों की विरासत के रूप में मिला प्रशासकीय ढाँचा था। बावजूद इसके कि आज़ाद भारत का आकार औपनिवेशिक भारत के मुक़ाबले काफी बड़ा था, अंग्रेजों के ज़माने में जिस आईसीएस के हाथों में प्रशासन की बागडोर रहती थी, उसी तर्ज पर आईएएस (भारतीय प्रशासनिक सेवा) का गठन किया गया। साथ में अंग्रेजों के ही नमूने पर पीसीएस (प्रांतीय प्रशासनिक सेवा) भी बनायी गयी। मुख्य प्रशासनिक इकाई भी ज़िले को ही बनाया गया और पहले की ही तरह एक आईएएस अफ़सर को ज़िले की क़ानून-व्यवस्था क़ायम रखने और वैकासिक कार्यों की देखरेख करने की ज़िम्मेदारी दी गयी। इस अफ़सर को ज़िले का मुख्य राजस्व अधिकारी या कलेक्टर तो होना ही था, साथ ही वह मुख्य न्यायाधिकारी या ज़िला मजिस्ट्रेट भी था। फ़ौजदारी और दीवानी क़ानून भी अंग्रेजों वाला ही रहा। उच्च न्यायालयों और ज़िला अदालतों ने अंग्रेजों द्वारा स्थापित क़ानूनी परम्पराओं और रिवाज़ों का पालन करना जारी रखा। इसमें नयी बात केवल सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना और नयी संवैधानिक प्रणाली में उसकी विशेष स्थिति थी। अंग्रेजों द्वारा प्रदत्त फ़ौज का पेशेवर और ग़ैर-राजनीतिक चरित्र सुरक्षित रखा गया। उसकी बागडोर उसी तरह राजनीतिक नेतृत्व के हाथ में रखी गयी।

समाज-विज्ञान में सत्तर के दशक तक भारतीय राज्य की मुख्यतः चार तरह की व्याख्याएँ सामने आ चुकी थीं। पहली व्याख्या आधुनिकीकरण के उदारतावादी सिद्धांत के पैरोकारों की थी। भारतीय प्रयोग को सराहना और उम्मीद के साथ देखते हुए इन विद्वानों की मान्यता थी कि जैसे-जैसे लोकतांत्रिक संवैधानिक प्रणाली का विकास होगा, वैसे-वैसे बुद्धिसंगत प्रशासनिक और निर्णय प्रक्रिया के प्रभाव में जातिगत, धार्मिक और जातीय निष्ठाओं की जगह आधुनिक नागरिकता के क्रम जमते चले जाएँगे। लेकिन जब ऐसा होता हुआ नहीं दिखा और भारतीय राज्य ने पश्चिम की प्रतिकृति बनने से इनकार कर दिया तो ये विद्वान निराश हो

गये। दूसरी व्याख्या भी आधुनिकीकरण के सिद्धांत से प्रवाहित हुई लेकिन इसके साथ भारतीय समाज की बेहतर समझ जुड़ी हुई थी। इसके पैरोकार मानते थे कि जातिगत और धार्मिक संरचनाएँ नष्ट होने के बजाय आधुनिक राज्य की संस्थाओं में अपनी जगह बनायेंगी, उसकी जरूरतों के मुताबिक ख़ुद को बदलेंगी और इस प्रकार राजनीतिक आधुनिकता को एक नया रूप दे देंगी।

तीसरी व्याख्या मार्क्सवादियों की थी जिसने भारतीय राज्य को जनविरोधी वर्गों के एजेंट के रूप में दिखा कर आग्रह किया कि सरकारी ताक़त का दमनकारी ढंग से इस्तेमाल करना इस राज्य की प्रणालीगत विशेषता है। शुरू में मार्क्सवादियों का यह विश्लेषण राज्य के वर्ग-चरित्र पर होने वाली बेजान बहस में फँस गया। सत्तर के दशक में उन्होंने कुछ अधिक नफ़ासत का परिचय देते हुए दावा किया कि भारतीय गणराज्य का संवैधानिक रूप तो उदारतावादी लोकतंत्र जैसा है, पर उसका चरित्र युरोपीय या अमेरिकी राज्यों की तरह नहीं है। इसकी वजह मार्क्सवादियों ने यह बताया कि भारतीय पूँजीपति वर्ग के पास अपना वर्चस्व स्थापित करने के लिए आवश्यक सामाजिक ताक़त का अभाव है। मार्क्सवादियों के बीच से उभरी नक्सलवादी धारा के विमर्शकारों ने भारतीय राज्य के लोकतंत्र संबंधी दावों को पूरी तरह से ख़ारिज करते हुए उसे साम्राज्यवादी पूँजी का दलाल और नौकरशाही पूँजी (पब्लिक सेक्टर) का प्रतिनिधि करार दिया। राष्ट्रीय राजनीति में सक्रिय तमाम राजनीतिक शक्तियों में केवल नक्सलवादी ही थे जिन्होंने भारतीय राज्य का तख़्ता पलटने का आह्वान किया और इसके लिए एक विफल हिंसक मुहिम भी चलाई।

चौथी व्याख्या रजनी कोठारी की देन थी। उन्होंने संस्थागत विन्यास को समझने के लिए स्ट्रक्चरल-फ़ंक्शनल मॉडल का सहारा लेते हुए दिखाया कि भारत में राजनीतिक प्रणाली संस्थाओं के एक 'गतिशील केंद्रक' के इर्द-गिर्द काम करती है। कोठारी के मुताबिक प्रणाली और उसके संचालन की प्रक्रिया पर कांग्रेस पार्टी का वर्चस्व हावी रहता है। यह प्रणाली गाँव, कस्बे, शहर, ज़िले, प्रांत और केंद्र की परिस्थितियों में अलग-अलग ढंग से काम करते हुए दो समांतर स्तरों पर प्रभावी रहती है : पार्टी के स्तर पर और सरकार के स्तर पर। कोठारी ने विश्लेषण करके दिखाया कि इसके परिणामस्वरूप राजनीतिक केंद्र अपना दबदबा क़ायम रख पाता है और व्यवस्था के हाशियों से उभरने वाले असंतोष को कांग्रेस पार्टी अपने तरीके से संसाधित करती रहती है। कोठारी के मॉडल में जिस पहलू पर जोर दिया गया था वह थी गठजोड़ और सहमति-निर्माण की प्रक्रिया।

कोठारी का यह मॉडल प्रभावशाली था और सत्तर के

दशक तक ऐसा लगता भी रहा कि भारतीय राज्य इसी तरह से काम कर रहा है। लेकिन जल्दी ही नये घटनाक्रम ने इस मॉडल की आलोचनाओं की तरफ़ ध्यान खींचा जिनमें कहा गया था कि कोठारी कांग्रेस 'प्रणाली' के सहमतिमूलक चरित्र के प्रति कुछ ज़्यादा ही आश्वस्त हैं और उनमें भारतीय अभिजनों की स्वायत्तता को बढ़ा-चढ़ा कर देखने की प्रवृत्ति है। साथ ही वे आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन को क्रमिक विकास के परिप्रेक्ष्य में ही देख रहे हैं। दरअसल, कोठारी ने भी अपनी तरफ़ से सत्तर के दशक में उभरे जुझारू विपक्षी आंदोलनों, उनके ख़िलाफ़ चलाई गयी दमनकारी प्रक्रिया, आपातकाल और फिर कांग्रेस की पराजय की रोशनी में अपने मॉडल की पुनरीक्षा शुरू कर दी थी।

उन्हें दिखने लगा था कि कांग्रेस 'प्रणाली' अब पहले की तरह काम नहीं कर पा रही है। नयी परिस्थितियों में सहमति बनाने और गठजोड़ के रूप में काम करने की कांग्रेस की क्षमता का क्षय हो रहा है जिसके कारण राज्य-व्यवस्था आंतरिक तनावों की शिकार होती जा रही है। इंदिरा गाँधी के नेतृत्व में कांग्रेस ने अपना रवैया बदला और पहले की तरह संगठन-आधारित राजनीति न करके आर्थिक नीतियों के दम पर सीधे जनता तक पहुँचने का रास्ता अपनाया। शुरू में इंदिरा गाँधी को कामयाबी भी मिली। लेकिन उन्होंने जनता की उम्मीदें बहुत बढ़ा दीं और भारतीय राज्य की क्षमताओं का पूरा इस्तेमाल अपने लोकलुभावन वायदों को पूरा कर पाने में नहीं कर पायीं। इस कारण से जन-विक्षोभ और उसकी नुमाइंदगी करने वाले विपक्षी आंदोलनों का सिलसिला शुरू हो गया।

अस्सी के दशक में कोठारी ने पाया कि धीरे-धीरे एक तकनीकशाही-प्रबंधकीय राज्य उभर आया है जो राजनीतिक प्रक्रिया के जरिये समस्याओं को समाधान की तरफ़ ले जाने के बजाय चंद विशेषज्ञों की मदद से देश को नयी सदी में ले जाने की योजना बना रहा है। इस मौक़े पर कोठारी ने सूत्रीकरण किया कि पहले तो इंदिरा गाँधी ने अपने निजी करिश्मे पर भरोसा किया और अपनी राजनीति के लोकलुभावनवादी चरित्र से भारतीय राज्य के बहुलवादी चरित्र का क्षय किया। फिर उनके बेटे राजीव गाँधी के नेतृत्व में लोकतंत्र को अभिजनोन्मुख, प्रौद्योगिकीपरस्त, विकृत और विविधता विरोधी बना दिया गया। कोठारी का निष्कर्ष यह था कि आज का भारतीय राज्य राष्ट्र-निर्माण के अगले चरण की ओर तो संक्रमण कर रहा है, पर न तो वह अपने संस्थागत क्षरण को रोक पा रहा है और न ही नयी संस्थागत संरचना करने में समर्थ है। कोठारी मानते हैं कि भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया ने इन विकृतियों में और इज़ाफ़ा किया है। अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूँजी के प्रभाव के तहत भारतीय राज्य ने अपनी लोकहितकारी नीतियों को त्याग दिया है। वर्तमान भारतीय

राज्य को गरीबों, वंचितों और हाशियाग्रस्त तबकों की कोई फ़िक्र ही नहीं है। आर्थिक विकास की होड़ में इन तबकों को अवांछित और छूटनी करने लायक मान लिया गया है। जो लोग बाज़ार की प्रतियोगिता में नहीं टिक पाएँगे उन्हें नष्ट हो जाना पड़ेगा।

सत्तर और अस्सी के दशक के घटनाक्रम के कारण कई विश्लेषकों ने भारतीय राज्य के बारे में अपने पुराने विचार बदले। हरित क्रांति के गर्भ से निकले धनी किसानों (ग्रामीण पूँजीपतियों) की बढ़ती हुई राजनीतिक ताकत और मँडोली व दलित जातियों की प्रबल होती हुई गोलबंदी ने उन्हें अपनी प्रस्थापनाओं पर नये सिरे से सोचने के लिए मजबूर किया। आखिरकार भारतीय राज्य को इन नये महत्त्वकांक्षी तबकों की माँगों के प्रति अनुक्रिया करनी ही थी। मार्क्सवादियों ने अपने विश्लेषण को और समृद्ध किया। उन्होंने पूँजीपतियों, धनी किसानों और अधिकारीतंत्र को तीन प्रभुत्वशाली वर्गों के रूप में चिह्नित करके दिखाया कि उनके बीच होड़ और गठजोड़ की प्रक्रिया उस राजनीतिक स्पेस में चल रही है जिसकी बागडोर अपेक्षाकृत स्वायत्त भारतीय राज्य के हाथों में है। इस मॉडल को सैद्धांतिक रूप देने का श्रेय सुदीप्त कविराज को है जिन्होंने ग्राम्शी द्वारा प्रतिपादित 'पैसिव रेवोल्यूशन' की रोशनी में अपना सूत्रीकरण किया। पूँजी की ताकतों द्वारा की गयी पैसिव रेवोल्यूशन का यह मॉडल पश्चिम में पूँजीपति वर्ग के नेतृत्व में स्थापित क्लासिकल लोकतंत्र के मॉडल से भिन्न है। यह अलग बात है कि पश्चिम में बूर्जवा लोकतंत्र की कामयाबियों ने क्लासिकल मॉडल को एक ग्लोबल मानक की हैसियत प्रदान कर दी है, जबकि भारत का यह मॉडल एक संक्रमणकारी स्थिति का ही प्रतिनिधित्व कर रहा है। विद्वान अभी यह तय नहीं कर पाये हैं कि भारतीय राज्य अंततः किस दिशा में जाएगा और उसका प्रामाणिक स्थिर स्वरूप कैसा होगा।

भारतीय राज्य के बदलते हुए चरित्र की सबसे ताज़ा शिनाख्त पार्थ चटर्जी ने राजनीतिक समाज की धारणा के सूत्रीकरण के जरिये की है। वे कहते हैं भारतीय राज्य अब स्वायत्त न रह कर कॉरपोरेट पूँजी के नैतिक-राजनीतिक वर्चस्व के तले आ गया है। उनके मुताबिक केंद्र और राज्यों की सरकारों पर नियंत्रण करने के लिए कॉरपोरेट पूँजी राजनीतिक दलों और चुनावी गोलबंदी के बजाय नौकरशाह-प्रबंधकों, मुद्रित व दृश्य-श्रव्य मीडिया और न्यायपालिका वगैरह का इस्तेमाल करती है। राजकीय क्षेत्र पर इस पूँजी का रुतबा इस क्रूर गालिब हो गया है कि मार्क्सवादी समेत तक्ररीबन सभी तरह की पार्टियाँ निजी निवेश पर आधारित तेज़ आर्थिक विकास की रणनीति पर सहमत हो गयी हैं।

देखें : अनुसूचित जातियाँ, अनुसूचित जनजातियाँ, अन्य पिछड़े वर्ग, आरक्षण, आधुनिकता, अरविंद घोष, आधुनिकीकरण, कन्हैयालाल

माणिकलाल मुंशी, जवाहरलाल नेहरू, जातियों का राजनीतिककरण, धीरूभाई शेट, पार्थ चटर्जी, बंगाल का नवजागरण, भारतीय अभिजन, भारतीय आधुनिकता, भारतीय इस्लाम, भारतीय उदारतावाद, भारतीय डायसपोरा, भारत में उपनिवेशवाद, भारतीय नवजागरण : तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य, भारत में नियोजन, भारत में प्रातिनिधिक प्रणाली, भारत में पृथकतावादी राजनीति, भारत में मतदान-व्यवहार-1 से 6 तक, भारत में सामाजिक आंदोलन, भारतीय राष्ट्रवाद, भारतीय लोकतंत्र, भारतीय लोकतंत्र का संस्थानीकरण-1 से 3 तक, भारतीय स्वभाव और राजनीति, भारतीय संविधान-1 से 8 तक, भारतीय सामाजिक आंदोलन, भीमराव रामजी आम्बेडकर, रजनी कोठारी, राज्य, राज्य की मार्क्सवादी अवधारणा, राजा राममोहन राय, विवेकानंद, विनायक दामोदर सावरकर, सुदीप्त कविराज, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1 से 3 तक, सामाजिक आंदोलन।

संदर्भ

1. पार्थ चटर्जी (2010), 'द स्टेट', नीरजा गोपाल जयल और प्रताप भानु मेहता (सम्पा.), *द ऑक्सफ़र्ड कम्पैनिनियन टु पॉलिटिक्स इन इण्डिया*, नयी दिल्ली.
2. रजनी कोठारी (2005), *भारत में राजनीति : कल और आज*, अभय कुमार दुबे (हिंदी प्रस्तुति और सम्पादन), सीएसडीएस-वाणी, नयी दिल्ली.
3. लॉयड आई. रुडोल्फ और सूजन एच. रुडोल्फ (1987), *इन परसूट ऑफ लक्ष्मी : द पॉलिटिकल इकॉनॉमी ऑफ स्टेट*, युनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस, शिकागो.
4. सुदीप्त कविराज (1988), 'अ क्रिटीक ऑफ पैसिव रेवोल्यूशन', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 23, अंक 45-7.

— अभय कुमार दुबे

भारतीय लोकतंत्र

(Indian Democracy)

भारतीय लोकतंत्र मध्यमार्गी प्रवृत्तियों से सम्पन्न उदारतावाद की श्रेणी में आता है। उसकी प्रणाली सार्विक मताधिकार पर आधारित सावधि निर्वाचन और हितों की होड़ पर आधारित बहुलतावाद के जरिये संचालित होती है। पश्चिमी राजनीतिक चिंतन के प्रगतिशील आयामों से मिलने वाली सैद्धांतिक प्रेरणा के साथ-साथ इसके साथ यह व्यावहारिक समझ भी जुड़ी हुई है कि भारत जैसे विविधतामूलक समाज में इसी मॉडल के कामयाब होने की गुंजाइश सबसे ज़्यादा मानी जा सकती है। समय के साथ-साथ इस मॉडल ने दिखाया है कि लोकतांत्रिक राजनीति के प्रभाव में तेज़ी से राजनीतिकृत होते हुए भारतवासियों की सामाजिक ऊर्जा का सर्वाधिक रचनात्मक उपयोग इसी प्रकार हो सकता है। भारतीय लोकतंत्र का यह

मॉडल सफल होगा या नहीं, इस बात पर काफ़ी विवाद होता रहा है। लेकिन, इन विवादों से परे जा कर भारतीय लोकतंत्र पश्चिम के विकसित देशों के लोकतंत्र की ही तरह स्थिर और उत्तरोत्तर विकासमान है। ऐसी बात नहीं कि इसमें खामियाँ नहीं हैं, पर इसने अपनी कमियों को समझ कर उनका परिष्कार करने का माद्दा भी दिखाया है। इसकी गति धीमी है जिसके कारण यह आलोचनाओं में घिरा रहता है, पर सकारात्मक दिशा में बढ़ने के कारण हर बार यह मॉडल अपने टिकाऊपन के प्रमाण देता रहता है।

आदर्श रूप में देखा जाए तो भारतीय लोकतंत्र का यह मॉडल दो चुनावों की अवधि में होने वाली एक खास तरह की राजनीति से संचालित होता है। इस बीच के दौर में विभिन्न हितों के प्रतिनिधि संगठन दबाव और तालमेल के ज़रिये राजकीय राजनीति को अपने पक्ष में मोड़ने की कोशिश करते हैं। हितों की बेरोकटोक अभिव्यक्ति होने दी जाती है और इसका परिणाम सौदेबाज़ी, समझौतों और तालमेल को जन्म देता है। तरह-तरह की गोलबंदियों का सहारा लिया जाता है जो मुख्यतः धन, समय और संख्यात्मक समर्थन की माँग करती हैं। यह तिहरी शर्त सभी तरह की ताकतें एक साथ पूरी नहीं कर सकतीं। जिसके पास धन है, उसके पास समय और संख्या का अभाव होता है। अर्थात् भारत जैसे बहुलतावादी लोकतंत्र की आदर्श स्थिति माँग करती है कि राजनीतिक प्रक्रिया पर कोई एक व्यक्ति, कोई एक तबक़ा और कोई एक हित लम्बे समय तक क्राबिज़ नहीं रह पायेगा। कोई भी हो, उसकी सत्ता का दौर तभी तक लम्बा खिंच सकता है जब वह राजनीति में अपेक्षाकृत कमज़ोर भागीदारों के हितों का भी ख़याल रखे। इस मजबूरी के गर्भ से एक समझौता निकलेगा जिसके आधार पर बनी राजकीय नीति के ढाँचे में सभी तरह के भागीदारों के लिए कोई न कोई गुंजाइश बनी रहेगी।

इस मॉडल के व्याख्याकारों के सरोकार मुख्यतः प्रतिनिधित्व के सिद्धांत के इर्द-गिर्द गोलबंद होते हैं। लोकतंत्र के स्वास्थ्य के पता लगाने के लिए वे जनता के प्रतिनिधि और उसे चुनने वाले मतदाता के बीच संबंधों की समय-समय पर जाँच करते रहते हैं। स्थानीय स्तर पर प्रतिनिधि और जनता का रिश्ता जनसमस्याएँ सुलझाने, विकास कार्य सम्पन्न करने और अपने समर्थकों के साथ आत्मीयता बढ़ाने की कसौटी पर कस कर देखा जाता है। व्यापक और समष्टिगत स्तर पर यह रिश्ता प्रतिनिधि की वैचारिक दृष्टि, दलीय प्रणाली और प्रतिनिधि की पार्टी के योगदान के संदर्भ में परखा जाता है। माना जाता है कि चुनाव में फ़ैसला करते समय मतदाता आदर्श रूप से इन दोनों पहलुओं का ध्यान रखेगा।

आदर्श और व्यवहार में सदैव मौजूद रहने वाले अंतर

के कारण इस पूरी प्रक्रिया में मतभेद और तनाव स्वाभाविक परिणामों की तरह प्रकट होते हैं। जब तक एक हित की पूर्ति दूसरे हित को ठेस लगाये बिना होती रहती है, तब तक व्यवस्था शांतिपूर्वक चलती रहती है। ऐसा न हो पाने की दशा में टकराव होता है। टकराव के इसी अंदेश को ध्यान में रख कर इस मॉडल में लोकतांत्रिक संस्थाओं को इस तर्ज़ पर नियोजित किया जाता है कि टकराव व्यवस्था के लिए ख़तरा बनने से पहले ही सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक उपायों के ज़रिये मंद कर दिया जाए या पचा लिया जाए।

इस प्रणाली को तरह-तरह से समझा गया और इससे कई क्रिस्म की उम्मीदें लगायी गयीं। इसकी कहानी आज़ादी के बाद चले छह विमर्शों की रोशनी में पढ़ी जा सकती है। ये विमर्श हैं : विनाश की भविष्यवाणियाँ करने वाला औपनिवेशिक विमर्श, भारतीय समाज को बदल डालने पर आमादा राष्ट्रवादी विमर्श, सामाजिक लोकतंत्र का विमर्श, हिंदुत्ववादी विमर्श, कम्युनिस्ट विमर्श और गाँधी से प्रभावित विमर्श।

आज़ादी मिलने के तीन-चार साल बाद से ही कई तरह के समीक्षकों और प्रेक्षकों ने इस लोकतंत्र के भविष्य को अंधकारमय मान कर विनाश की भविष्यवाणियाँ करनी शुरू कर दी थीं। यह निराशाजनक दृष्टिकोण साठ के दशक के आख़िर तक अपने चरम पर पहुँच गया। साठ और सत्तर के दशक की संक्रमणकारी स्थितियों का नकारात्मक पाठ करके सेलिंग हैरिसन, मैक्सवेल और रोनाल्ड सेगल जैसे विद्वानों ने दावा किया कि 1967 का आम चुनाव भारत का आख़िरी होगा क्योंकि उसके बाद क्षेत्रीय, भाषाई, जातीय और साम्प्रदायिक दबावों के साथ-साथ आर्थिक संकट के कारण भारत का राजनीतिक केंद्र बिखर जाएगा। विद्याधर नैपॉल जैसे अनिवासी व्याख्याकारों ने इंदिरा गाँधी द्वारा थोपे गये आपातकाल को भारतीय लोकतंत्र की शोकांतिका घोषित कर दिया। उन्होंने व्यवस्था की समस्याओं को भारतीय सभ्यता के व्यापक संकट से जोड़ कर 'अंधकार का क्षेत्र' जैसे ख़ौफ़नाक सूत्रीकरण कर डाले। नैपॉल का कहना था कि आज भारत अकेला खड़ा है और उसकी पतनशील सभ्यता के पास न कोई विचार है और न ही कोई विदेशी विजेता जो उसके समाज को शांति और व्यवस्था का अवदान दे सके। ज़ाहिर है कि आज 'प्रलय' की ये सभी 'भविष्यवाणियाँ' ग़लत साबित हो चुकी हैं।

राष्ट्रवादी विमर्श के शीर्ष पर जवाहरलाल नेहरू थे। इसमें भारतीय समाज से असंतुष्ट और उसे आमूल बदलने के लिए कटिबद्ध बौद्धिक धाराओं की प्रधानता थी। संविधानसम्मत कार्यविधिक लोकतंत्र और वैकासिक रणनीति के ज़रिये ये लोग जातियों, राष्ट्रीयताओं, भाषाओं और

संस्कृतियों के खानों में बँटे हुए समाज को उसकी बहुलता और विविधता का सम्मान करते हुए परिवर्तन की डगर पर चलाने का सपना देख रहे थे। चूँकि इन लोगों के पास सत्ता भी थी, इसलिए उन्हें अपना एजेंडा लागू करने का मौक़ा भी मिला। इस एजेंडे की सफलताओं और विफलताओं के सिंहावलोकनात्मक आकलन का ठीकरा नेहरू और उनकी मण्डली के सिर पर ही फोड़ा जाता है।

भीमराव आम्बेडकर और उनके विचार सामाजिक लोकतंत्र के विमर्श के शीर्ष पर थे। हालाँकि लोकतंत्र को संविधान का जामा पहनाने में उनकी प्रमुख भूमिका थी, पर वे राजनीतिक स्वतंत्रता को सामाजिक स्वतंत्रता में बदलने के सवाल पर आशंकित थे। उन्हें डर था कि लोकतंत्र के सांविधिक राजनीतिक उसूलों और कर्मकाण्डीय आधारों पर खड़ी श्रेणीबद्ध जाति व्यवस्था के बीच टकराव हो जाने के कारण भारत अंतरविरोधों की दुनिया में खोता चला जाएगा।

हिंदुत्ववादी विमर्श का प्रतिपादन करने का श्रेय विनायक दामोदर सावरकर को जाता है। राजनीतिक हिंदुत्व के इस सिद्धांतकार को ऐसा बहुलतावादी लोकतंत्र स्वीकार नहीं था जिसमें अल्पसंख्यकों को बराबर के अधिकार हों।

कम्युनिस्ट विमर्श वर्ग सिद्धांत के प्रभाव में बहुलतावादी लोकतंत्र को पूँजीपति वर्ग की तानाशाही के रूप में पेश करने के लिए मजबूर था। उसके पैरोकार किसानों और मजदूरों का मोर्चा बना कर उसके नेतृत्व में पूँजीवादी क्रांति करने का कार्यक्रम दे रहे थे। अधिकतर कम्युनिस्ट मानते थे कि भारतीय समाज गतिहीन और परिवर्तनविरोधी है और राष्ट्रीय आंदोलन के निकले अभिजन इतने स्वतंत्रचेता और राष्ट्रभक्त नहीं हैं कि पूँजीवादी क्रांति कर सकें, इसलिए इस क्रांति को मजदूरों और किसानों की अगुआयी की जरूरत पड़ेगी।

खास बात यह थी कि अलग-अलग चिंतन के बावजूद ये पाँचों विमर्श मानते थे कि जातियों को मिटाये बिना भारतीय लोकतंत्र कामयाब नहीं हो सकता। उनकी मुख्य टेक यह थी कि भारतीय समाज लोकतंत्र के योग्य नहीं है इसलिए उसे बदलना होगा।

छठी धारा गाँधी से प्रभावित हो कर अलग तरह से सोचती थी। सावरकरवादियों और कम्युनिस्टों की तरह उन्हें लोकतंत्र में एक विचार के तौर पर अविश्वास नहीं था। न ही वे आम्बेडकर की तरह सामाजिक समानता के दायरे में लोकतंत्र की क्षमताओं को संदिग्ध मानते थे। न ही वे नेहरू की तरह मानते थे कि विकास और सेकुलरीकरण के ज़रिये नया समाज पैदा किया जा सकता है। यह विमर्श लोकतंत्र के हिसाब से समाज को बदलने के बजाय जनता की जरूरतों के हिसाब से लोकतंत्र को बदलने का पक्षधर था। भारतीय

लोकतंत्र की सबसे बेहतर समझ इसी धारा के प्रतिपादकों ने बनायी। पचास के दशक में राजनीतिशास्त्र के अध्येता रजनी कोठारी ने निष्कर्ष निकाला कि कांग्रेस सिर्फ एक पार्टी नहीं बल्कि एक प्रणाली है जो भारतीय समाज के संरचनात्मक चरित्र को समझ कर ही उस पर लम्बे समय तक शासन कर सकी। उन्होंने इसे 'कांग्रेस सिस्टम' की संज्ञा दी। इसके बाद उन्होंने जातियों के राजनीतीकरण की धारणा सूत्रबद्ध की जिसके सहारे राजनीतिक होड़, आधुनिकीकरण, शहरीकरण, भूमि सुधार और आरक्षण जैसे सकारात्मक हस्तक्षेपों के ज़रिये आ रहे सामाजिक बदलावों की व्याख्या की जा सकी। इस विमर्श के प्रवक्ताओं ने यह भी देखा कि कांग्रेस जैसे-जैसे अपने समष्टिगत चरित्र को बदल कर एकनिष्ठता की तरफ गयी, वैसे-वैसे वह एक प्रणाली से घट कर महज़ पार्टी रह गयी। दूसरी तरफ जातियों को आधार बना कर हुई राजनीतिक गोलबंदी के कारण राजनीतिक सत्ता का आधार विकेंद्रित होता चला गया। शुरुआती अस्थिरताओं के बाद इस प्रक्रिया के गर्भ से गठजोड़ राजनीति निकली जिसने पश्चिमी लोकतंत्र की प्रेरणाओं के आधार पर बनी लोकतांत्रिक भित्ति को भारतीय पहचान देने में प्रमुख भूमिका का निर्वाह किया।

देखें : अनुसूचित जातियाँ, अनुसूचित जनजातियाँ, अन्य पिछड़े वर्ग, आरक्षण, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, जवाहरलाल नेहरू, भारतीय अभिजन, भारतीय आधुनिकता, भारतीय इस्लाम, भारतीय उदारतावाद, भारतीय डायसपोरा, भारत में उपनिवेशवाद, भारत में नियोजन, भारत में प्रातिनिधिक प्रणाली, भारत में पृथकतावादी राजनीति, भारत में मतदान-व्यवहार-1 से 6 तक, भारतीय राज्य, भारतीय राष्ट्रवाद, भारतीय लोकतंत्र का संस्थानीकरण-1 से 3 तक, भारतीय स्वभाव और राजनीति, भारतीय संविधान-1 से 8 तक, भारतीय सामाजिक आंदोलन, भीमराव रामजी आम्बेडकर, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1 से 3 तक।

संदर्भ

1. अभय कुमार दुबे (सम्पा.) (2002), *लोकतंत्र के सात अध्याय*, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.
2. रजनी कोठारी (2005), *भारत में राजनीति : कल और आज*, (प्रस्तुति और सम्पादन : अभय कुमार दुबे), जाति और राजनीति के साथ-साथ दलीय प्रणाली से संबंधित अध्याय देखें, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.
3. योगेंद्र यादव (2002), 'कायापलट की कहानी', अभय कुमार दुबे (सम्पा.), *लोकतंत्र के सात अध्याय*, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.
4. जावीद आलम (2002), 'ग़रीबों का लोकतंत्र', अभय कुमार दुबे (सम्पा.), *लोकतंत्र के सात अध्याय*, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.

— अभय कुमार दुबे

भारतीय लोकतंत्र का संस्थानीकरण-1

आधारभूत विरासत और विकेंद्रीकरण

(Institutionalisation of Indian Democracy-1)

भारतीय लोकतंत्र की स्थापना तो 15 अगस्त, 1947 में हुई और उसका संविधान 26 जनवरी, 1950 को पारित हुआ, लेकिन उसके संस्थानीकरण की अनौपचारिक शुरुआत उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन के दौरान ही हो गयी थी। अध्येताओं की मान्यता है कि 1928 में कांग्रेस के नेतृत्व द्वारा गठित मोतीलाल नेहरू कमेटी की रपट ने आजाद भारत की राज्य व्यवस्था के विभिन्न पहलुओं का खाका तैयार कर दिया था। यही वह आधार था जिस पर आगे चल कर लोकतंत्र को मजबूत संस्थागत स्वरूप दिया गया। अध्येताओं ने संस्थानीकरण की इस प्रक्रिया को दो भागों में बाँट कर देखा है। संस्थानीकरण का पहला चरण 1947 से 1970 तक चला, और दूसरा उसके बाद से अभी तक जारी है। पहले चरण में लम्बे औपनिवेशिक शासन और उसके खिलाफ चले लम्बे राष्ट्रीय आंदोलन की विरासत से प्राप्त राष्ट्रीय एकीकरण के ढाँचे पर आधारित हो कर संविधान रचा गया और ब्रिटिश नमूने की काबिना प्रणाली अपनायी गयी। राज्यों का पुनर्गठन, योजना आयोग का गठन, औद्योगिकीकरण, सामुदायिक विकास कार्यक्रम और पंचायती राज पर अमल इस दौर की प्रमुख उपलब्धियाँ थीं। समझा जाता है कि करीब बीस साल तक एक सतत प्रवाहमान प्रक्रिया के रूप में कांग्रेस की देखरेख में संस्थानीकरण के ये सोपान हासिल किये गये। इसके जरिये सत्ता हस्तांतरण के समय बना केंद्र एक विशाल राष्ट्र-राज्य की परिधि तक पहुँचने का यत्न करता रहा।

संस्थानीकरण की विवरण देने से पहले एक बात स्पष्ट कर देना जरूरी है। यह संस्थानीकरण कोई पहले से तयशुदा कागज़ पर लिख कर तैयार कर ली गयी योजना नहीं थी। न ही यह कोई सुचिंतित गणितीय फ़ार्मूला था जिसे कुछ लोगों ने ऊपर से निर्देशित करते हुए लागू किया हो। राष्ट्र-निर्माण के जिस मॉडल को संस्थानीकरण के जरिये धरती पर उतारा जा रहा था, वह तो एक निराकार और काफ़ी हद तक औपचारिक परिभाषाओं से परे एक स्वप्न की तरह था। इस स्वप्न को हर नेता अपने-अपने ढंग से अलग-अलग देखता था। लेकिन इन तमाम स्वप्नों के बीच कुछ बातें मुश्तकरका थीं जिन पर बिना किसी ख़ास दिक्कत के आम-सहमति बन जाती थी। कहना न होगा कि संस्थानीकरण की यह प्रक्रिया

राजनीतिक घटनाक्रम के हिसाब से ही चलनी थी। उसके दृश्य-अदृश्य तर्क थे जिनसे नहीं बचा जा सकता था। सबसे बड़ा सवाल यह था कि भारत की विशाल जनता लोकतंत्र के विचार को किस तरह ग्रहण करती है। सब कुछ इसी बात पर निर्भर था।

मोतीलाल नेहरू रपट पर चर्चा करने से पहले जरूरी है कि उसकी पृष्ठभूमि पर गौर कर लिया जाए। उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन के इतिहास पर एक सरसरी नज़र डालने से ही यह साफ हो जाता है। 1895 में भारत के लिए संविधान लिखने का पहला ग़ैर-सरकारी प्रयास 'कांस्टीट्यूशन ऑफ़ इण्डिया बिल' के रूप में सामने आया। इसमें दावा किया गया था कि भारत में पैदा हुए हर व्यक्ति को नागरिक समझा जाना चाहिए और उसे सरकार चलाने के कामकाज में भागीदारी करने का अधिकार भी मिलना चाहिए। 1916 तक आते-आते राष्ट्रीय स्वाभिमान की भावना और धारणा सुशासन और उसमें भारतवासियों की भागीदारी के दोहरे आधार पर ही निर्मित होने लगी। इसके पीछे पश्चिम में सोलहवीं सदी के दौरान विकसित हुआ राष्ट्र का विचार था। इससे पहले तेरहवीं सदी में राष्ट्र का मतलब था एक ऐसी संरचना जिस पर सांस्कृतिक और राजनीतिक रंग-रुतबा रखने वाले समूहों के प्रतिनिधियों यानी सामाजिक अभिजनों का अधिपत्य हो। लेकिन, सोलहवीं सदी में राष्ट्र का यह विचार बदला और उसे 'पीपुल' या जन-गणों का पर्याय मान लिया गया। अर्थात् एक राष्ट्र की भू-क्षेत्रीय परिधि में आने वाला प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्रीय समुदाय का सदस्य मान लिया गया। प्रतीकात्मक रूप से ही सही, पर राष्ट्र की अवधारणा में हुए इस परिवर्तन का मतलब था जन-साधारण का अभिजनों के समकक्ष आ जाना, हाशियाग्रस्तों का केंद्रीय मंच पर अवतरण हो जाना। इस लिहाज़ से आधुनिक राष्ट्र सैद्धांतिक रूप से एक ऐसी संरचना के रूप में कल्पित किया जाने लगा जो पदानुक्रम से बँधे समुदायों के बजाय स्वतंत्र और समान व्यक्तियों के नेटवर्क द्वारा संचालित होगा। हालाँकि यह दावा व्यवहार में पूरी तरह कार्यान्वित नहीं हो पाता है, पर इस सैद्धांतिक स्थापना को मान्यता मिल जाने के बाद यह लाज़मी हो गया कि खुद को आधुनिक राष्ट्र मानने वाला प्रत्येक समुदाय अपने सभी सदस्यों को समान माने, उन्हें नागरिकता और वोट का अधिकार दे।

मोतीलाल नेहरू रपट ने नागरिकता की इसी अवधारणा की पुष्टि की। रपट के अनुच्छेद नौ में स्पष्ट किया गया था कि 21 साल के किसी भी स्त्री और पुरुष को संसद के लिए मत देने का अधिकार मिलना चाहिए। 1937 में दो साल पहले बने गवर्नमेंट ऑफ़ इण्डिया एक्ट का जवाहरलाल नेहरू ने इसी आधार पर विरोध किया था कि वह राष्ट्र की अभिलाषा का प्रतिनिधित्व नहीं करता। नेहरू का कहना था कि कांग्रेस एक ऐसे लोकतांत्रिक राष्ट्र की रचना के लिए

प्रतिबद्ध है जिसमें राजनीतिक सत्ता समग्र जनता के हवाले कर दी जाएगी। इससे पता चलता है कि कुछ राष्ट्रों में यह प्रक्रिया धीरे-धीरे ज़रूर सम्पन्न हुई, पर भारत के संविधान निर्माताओं ने क्यों इसे एक ही बार में पूरा कर दिया।

मोतीलाल नेहरू कमेटी ने जिन बातों की सिफ़ारिश की थी उसके आधार में राष्ट्रवाद और लोकतंत्र को एक-दूसरे का पर्याय मानने का आग्रह मौजूद था। इसीलिए उसकी रपट में संसद, सरकार का संघीय ढाँचा और मूलाधिकारों की विस्तृत सूची शामिल थी। परिणामस्वरूप 1947 से 1949 तक संविधान-निर्माता जब विचार-विमर्श के लिए बैठे तो उनके पास नयी राज्य-व्यवस्था के चरित्र के बारे में पहले से ही एक आम-सहमति मौजूद थी। बहस के दौरान इस सहमति पर प्रश्न उठाने वाले को टोक कर समझाया जाता था कि वह पहले से तयशुदा बातों पर बहस करके वक्त क्यों ज़ाया कर रहा है। सम्भवतः यह पूर्व-सहमति ही थी जिसने भारत को एशिया और अफ्रीका के नवस्वाधीन राष्ट्रों के मुकाबले संविधान-रचना और उसके आधार पर संस्थानीकरण करने की बेहतर सुविधा प्रदान की। अन्य नवस्वाधीन राष्ट्रों की लोकतंत्र संबंधी नाकामियों और भारत की लोकतंत्र संबंधी कामयाबियों के मर्म में यही पूर्व-सहमति काम कर रही थी।

ऐसी बात नहीं कि संविधान सभा ने मोतीलाल नेहरू कमेटी की सिफ़ारिशों के विकल्पों पर विचार न किया हो। कुछ सदस्य इस पक्ष में थे कि प्राचीन भारत में प्रचलित संस्थाओं को थोड़े-बहुत हेरफेर साथ अपना लिया जाना चाहिए। इन लोगों का कहना था कि सार्विक मताधिकार और निर्वाचित सरकार जैसे प्रावधान भारत की गरीब और अशिक्षित जनता के योग्य नहीं हैं। लेकिन इस तरह के सुझावों को संविधान सभा ने विशाल बहुमत से खारिज कर दिया। लोगों की गरीबी और अशिक्षा को बाधा मानने वालों का रवैया अंग्रेजों जैसा ही माना गया क्योंकि अंग्रेज इन्हीं तर्कों के आधार पर भारत को स्व-शासन के अनुपयुक्त मानते थे। संविधान-निर्माताओं ने खुद से यह भी कहा कि वे लोकतांत्रिक संस्थाओं को आयातित नहीं मानेंगे, क्योंकि एक समूची भारतीय पीढ़ी को इनका थोड़ा-बहुत अनुभव हो चुका है। कांग्रेस का आंदोलन अंग्रेजों से बार-बार स्व-शासन संबंधी रियायतें लेने में सफल रहा था और पार्टी पहले से ही संसदीय सरकार और वयस्क मताधिकार की माँग कर रही थी। संविधान सभा की स्पष्ट मान्यता थी कि संसदीय परम्पराएँ किसी एक देश की इजारेदारी नहीं हैं और उन्हें अपनाने से हमारी भारतीयता खतरे में नहीं पड़ेगी।

इस समझ के बावजूद कई मुद्दों पर दिक्कतें आयीं और गम्भीर मतभेद उभरे। केंद्र के मुकाबले राज्यों के अधिकार, संविधान की व्याख्या करने के न्यायपालिका के अधिकार, राज्यों द्वारा निर्णय लेने की उचित प्रक्रिया के

सवाल, व्यक्तिगत आज़ादी और राष्ट्रीय एकता के बीच आ सकने वाले सम्भावित अंतर्विरोध, निजी सम्पत्ति और सामाजिक-आर्थिक विकास के बीच के अंतर्विरोध, निचले स्तर तक राज्य-व्यवस्था के विकेंद्रीकरण के सवाल, एक व्यक्ति-एक वोट के उसूल के मुकाबले अल्पसंख्यकों, दलितों और आदिवासियों को विशेष सुविधाओं के सवाल संविधान सभा को काफ़ी परेशान करते रहे। विभाजन की पृष्ठभूमि में संविधान सभा को लग रहा था कि देश की एकता बचाये रखने के लिए केंद्र को अधिक अधिकारों से लैस करना ज़रूरी है। इसी चक्कर में निवारक नज़रबंदी के प्रावधान को एक अनिवार्य बुराई के तौर पर स्वीकार कर लिया गया। संसदीय प्रणाली पर हुई बहस में प्रतियोगिता अमेरिकी की राष्ट्रपति की प्रधानता वाली प्रणाली और ब्रिटेन की प्रणाली के बीच होड़ हुई। इसमें ब्रिटिश प्रणाली जीती, लेकिन भारतीय संविधान ने राष्ट्रपति को ब्रिटेन के राजा के मुकाबले कहीं ताक़तवर बना दिया।

संस्थानीकरण के व्यावहारिक क्रदमों में सम्भवतः पहला क्रदम वह था जब वल्लभभाई पटेल ने अंग्रेजों के ज़माने में राष्ट्रवादी आंदोलन का दमन करने के कारण नयी परिस्थितियों में असुरक्षित महसूस करने वाले अधिकारीतंत्र को आश्वासन दिया कि न केवल उनकी हैसियत नयी सरकार में पहले जैसी ही रहेगी, बल्कि नेता उनके कामकाज में दखल भी नहीं देंगे। शुरुआती दौर में आईसीएस अफ़सरों की क्षमता का इस्तेमाल करके प्रशासनिक और राजनीतिक सुदृढ़ीकरण किया जा सका। सामाजिक-आर्थिक मोर्चे पर विकास के लिए 1950 में योजना आयोग गठित किया गया। श्रम क़ानूनों का ढाँचा बना कर मज़दूर वर्ग के साथ टकराव के अंदेश हल्के कर लिए गये। पचास और साठ के दशक में राज्यों के पुनर्गठन की कार्रवाई चलती रही। समझने की बात यह है कि यह सब करते हुए पहले बीस साल में भारतीय राज्य ने विभाजन के शरणार्थियों की समस्या, तेलंगाना में किसान विद्रोह, कश्मीर में क़बीलियों के पाकिस्तान समर्थित आक्रमण और राज्यों के भाषावार पुनर्गठन के सवाल पर होने वाले जुझारू आंदोलनों का भी मुकाबला किया।

यह सब करते हुए भी भारतीय राज्य ने 1956 तक पहली पंचवर्षीय योजना पूरी करके दूसरी शुरू कर दी। 1948 के औद्योगिक नीति प्रस्ताव के बाद 1956 में पहली विस्तृत औद्योगिक नीति तैयार की गयी। 1952 में पूरे देश को विकासखण्डों में बाँट दिया गया जिसके आधार पर बाद में पंचायती राज कार्यक्रम बना। 1957 तक देश में दो आम चुनाव और कई स्थानीय चुनाव हो चुके थे। निर्वाचित होने, सत्ता मिलने और सत्ता से बेदखल होने की लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं का पहला परिचय भारतवासियों को होने लगा।

देखें : अनुसूचित जातियाँ, अनुसूचित जनजातियाँ, अन्य पिछड़े वर्ग, आरक्षण, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, जवाहरलाल नेहरू, भारतीय अभिजन, भारतीय आधुनिकता, भारतीय इस्लाम, भारतीय उदारतावाद, भारतीय डायसपोरा, भारत में उपनिवेशवाद, भारत में नियोजन, भारत में प्रातिनिधिक प्रणाली, भारत में पृथकतावादी राजनीति, भारत में मतदान-व्यवहार-1 से 6 तक, भारतीय राज्य, भारतीय राष्ट्रवाद, भारतीय लोकतंत्र, भारतीय स्वभाव और राजनीति, भारतीय संविधान-1 से 8 तक, भारतीय सामाजिक आंदोलन, भीमराव रामजी आम्बेडकर, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1 से 3 तक।

संदर्भ

1. रजनी कोठारी (2005), 'संस्थानीकरण की रणनीति', भारत में राजनीति : कल और आज, (हिंदी प्रस्तुति और सम्पादन : अभय कुमार दुबे), सीएसडीएस-वाणी, नयी दिल्ली.
2. सुनील खिलनानी (2001), *भारतनामा*, अनुवाद : अभय कुमार दुबे, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
3. जितेंद्र सिंह (1964), 'ए न्यू लेजिटिमेसी', *सेमिनार*, नवंबर.
4. रिचर्ड एल. पार्क और आइरीन टिंकर (1958), *लीडरशिप ऐंड पॉलिटिकल इंस्टीट्यूशंस इन इण्डिया*, प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन.

— अभय कुमार दुबे

भारतीय लोकतंत्र का संस्थानीकरण-2

ज़िला और पंचायत

(Institutionalisation of Indian Democracy-2)

केंद्र और परिधि के बीच राजनीतिक प्रणाली का संस्थानीकरण लगातार जारी था। इसके तीन स्तर थे : राष्ट्रीय, राज्य और ज़िला। अधिकांश हिस्से में प्रशासन राज्यों के हाथ में था। उन्होंने लगातार अपनी सत्ता का सुदृढ़ीकरण किया और अधिकारों की दावेदारी जारी रखी। मुख्यमंत्री की राज्य में वही हैसियत थी जो केंद्र में प्रधानमंत्री की थी। धीरे-धीरे मुख्यमंत्रियों का राष्ट्रीय महत्त्व साफ़ होने लगा। चाहे प्रधानमंत्री के उत्तराधिकार का सवाल हो, या फिर कांग्रेस अध्यक्ष की नियुक्ति हो, उनसे सलाह-मशविरा होने लगा। कई राज्यों के मुख्यमंत्री तो इतने ताकतवर हो गये कि प्रधानमंत्री उन्हें अपनी जगह से हिलाने के बारे में सोच भी नहीं सकते थे। राज्य केंद्र पर वित्तीय अनुदान वगैरह के मामले में निर्भर थे, पर साथ में यह भी एक हकीकत थी कि

केंद्र अपने कार्यक्रमों को लागू करने के लिए काफी-कुछ उन पर निर्भर था। भारतीय मसलों के एक विद्वान पॉल एपलबाई ने तो एक अतिवादी क्रिस्म का निष्कर्ष तक निकाल लिया था कि केंद्र एक तरह से राज्यों की दया पर निर्भर है। केंद्रीय योजना को सफल बनाने के लिए ज़रूरी था कि राज्यों में राजनीतिक सत्ता का विकेंद्रीकरण हो। इसके लिए ज़िला विकास परिषदों को मज़बूत किया गया। सामुदायिक विकास खण्ड जैसे नये प्राधिकार खड़े किये गये। वैकासिक संस्थाएँ, कर्ज़ा देने वाली सहकारी समितियाँ और पंचायतें गठित की गयीं। राजकीय संरक्षण का एक बड़ा जाल बुना गया जिसके सूत्र देहातों तक जाते थे। इनके ज़रिये नयी नौकरियाँ मिलती थीं, ऋण दिये जाते थे और फ़ायदों का बँटवारा होता था। चूँकि सत्ता में बने रहने के लिए राज्य के सत्तारूढ़ गुट ग्रामीण वोटों पर अधिकाधिक निर्भर होते जा रहे थे, इसलिए उन्होंने अपने राजकीय संरक्षण का जाल दूर-दूर तक फैलाया। उन्होंने सरकारी अधिकारियों, शिक्षण संस्थाओं और अहम स्वयंसेवी संस्थाओं समेत अन्य वैकासिक एजेंसियों को अपने दायरे में समेट लिया। संस्थागत सत्ता नीचे तक गयी और उस प्रक्रिया से ऐसे लोग निकले जिन्होंने स्थानीय स्तर पर इस नेटवर्क की कमान सँभाल ली।

एक बहुस्तरीय चुनाव प्रणाली कारगर रूप से अपना काम कर ही रही थी। संसद, विधानसभाओं, ज़िला, ब्लाक और ग्राम पंचायतों एवं कस्बों की नगर पालिका तक चुनाव होते रहते थे। सहकारी बैंकों, कई तरह की उत्पादक और विपणन सहकारी समितियों वगैरह के भी चुनाव होते थे। एक नयी राजनीति बन रही थी जिसकी अभिव्यक्ति केंद्र और राज्य के स्तर पर ही नहीं, बल्कि एकदम निचले स्तर पर भी होने लगी थी। यह विकेंद्रित प्रक्रिया भारतीय लोकतंत्र के संस्थानीकरण को एक नयी शक्ल-सूरत दे रही थी।

संस्थानीकरण की इस प्रक्रिया के केंद्र में था ज़िला और उसका प्रशासन। अंग्रेज़ों के ज़माने से ही नहीं बल्कि मुग़लों के ज़माने से ज़िला एक ऐसी इकाई के रूप में स्थापित होता जा रहा था जिसका आकार न तो ज़्यादा बड़ा होता था, न ही बहुत छोटा। साठ के दशक तक उसकी औसत आबादी पंद्रह लाख के आसपास होती थी। प्रशासनिक, राजनीतिक और सामाजिक गतिविधियों के केंद्र के रूप में ज़िले के अस्तित्व के पीछे प्रशासनिक सक्षमता और स्वायत्तता, संसाधन और प्रौद्योगिकी जानकारी की जुगाड़ कर पाने की गुंजाइश के साथ-साथ हर ज़िले के पास उसका अपना अलग राजनीतिक अभिजन होना था। रजनी कोठारी ने लोकतंत्र संस्थानीकरण के संदर्भ में ज़िलों की भूमिका को विशेष महत्त्व देते हुए लिखा है कि ज़िलों से मिलने वाले समर्थन के आधार पर ही राज्य का मंत्रिमण्डल और सत्तारूढ़ पार्टी की संरचना बनती थी। ज़िला कलक्टर (आईएएस अफ़सर)

प्रशासनिक सत्ता का केंद्र होता था, इसलिए उसके आसपास प्राधिकार, निर्भरता और विश्वास का प्रभामण्डल आसानी से बन जाता था। ज़िले के राजनीतिक अभिजन की संरचना जहाँ स्थाई थी, कलक्टर बदलता रहता था। लेकिन हर नये आने वाले कलक्टर को इस अभिजन के साथ अपना रिश्ता एक स्थाई भाव से ही परिभाषित करना पड़ता था।

आर्थिक और सामाजिक संरचनाओं ने भी ज़िलों के समय रहते अपना समायोजन कर लिया। व्यक्ति अपनी शिनाख़्त ज़िलों के साथ करने लगे। जाति-सभाओं, सामाजिक संचार की पहले से चली आ रही प्रणालियों, अभिजनों के बीच होने वाले गठजोड़ों और प्रादेशिक राजनीति में सक्रिय सामाजिक धड़ों की अभिव्यक्ति भी ज़िले के स्तर पर होने लगी। शहरी केंद्र, व्यापारिक मार्ग, अदालतें, शिक्षा संस्थान और वाणिज्यिक केंद्रों की कल्पनाएँ ज़िलों को केंद्र बना कर ही होने लगीं। ज़िलों का महत्त्व बढ़ता चला गया, क्योंकि वहाँ सहकारी बैंक थे, भूमि विकास बैंक थे, तरह-तरह लाइसेंस और ऋण देने वाली एजेंसियों के दफ़्तर थे, कृषि और वानिकी विभाग थे। सत्ता और राज्य की संस्थाओं का एक पूरा ढाँचा ज़िला स्तर पर एक आपस में जुड़ी इकाई की तरह काम करने लगा। इसकी बागडोर दो लोगों के हाथ में रहती थी। कलक्टर और सत्तारूढ़ पार्टी के ज़िला अध्यक्ष के हाथों में। यह पार्टी सत्तर के दशक तक आम तौर पर कांग्रेस ही हुआ करती थी।

दरअसल, ज़िला कलक्टर की हैसियत, रुतबे और संस्थागत प्राधिकार की जो स्थिति भारत में हो गयी है, उसकी मिसाल दुनिया के किसी और देश में नहीं मिलती। ज़िलों के ग़ैर-कलक्टरीकरण की बातें तो बहुत की गयी हैं, कुछ कोशिशें भी हुई हैं, लेकिन कामयाबी आज तक किसी को नहीं मिली है। कुछ प्रदेशों में ज़िलों में विकास-प्रक्रिया का इंचार्ज कलक्टर के अलावा किसी और अफ़सर को बनाने का प्रयोग भी हुआ, लेकिन ज़िले और कलक्टर की छवियों को अलग-अलग नहीं किया जा सका। सामुदायिक विकास और पंचायती राज ने भी ज़िलों की अहमियत में इज़ाफ़ा किया, क्योंकि इनके संचालन और कार्यान्वयन के लिए जानकारी और सामग्री भी ज़िला मुख्यालयों से ही मुहैया करायी जाती थी।

लोकतंत्र के संस्थानीकरण में ज़िले के बाद दूसरी बड़ी भूमिका पंचायती राज की थी। इससे पहले 1952 में सामुदायिक विकास कार्यक्रम शुरू किया गया था जिससे उम्मीद थी कि वह ग्रामीण समाज और सरकारी ढाँचे के बीच की खाई पाटेगा। यह पहली पंचवर्षीय योजना (1951-1956) का प्रमुख पहलू था जिस पर फ़र्ड फ़ाउंडेशन के भारतीय अध्याय के कर्ताधर्ता और कृषि अर्थशास्त्री अल्बर्ट एंसमिंगर द्वारा नेहरू को दिये गये सुझावों की छाप स्पष्ट रूप से देखी जा सकती थी। इस योजना में कृषि क्षेत्र और

सामुदायिक विकास पर बहुत जोर था। पर वह पूरी तरह से ऐसा नहीं कर पाया। चूँकि सरकार की प्राथमिकता उद्योगीकरण थी, इसलिए वह सामुदायिक विकास के लिए संसाधन जारी करने में भी कोताही करती थी। ब्लाक डिवेलपमेंट दफ़्तर भी बन जाते थे, उनमें अफ़सरों की नियुक्तियाँ भी हो जाती थीं लेकिन जन-भागीदारी के लक्ष्यों की पूर्ति नहीं पाती थी। जब शिकायतें आयीं और उनकी जाँच हुई तो पता चला कि सामुदायिक विकास के ज्यादातर काम इसलिए अधूरे रह जाते हैं कि उनमें स्थानीय अभिजन हिस्सा नहीं लेते। सरकारी अधिकारी उनके हाथ में पहलक़दमी नहीं देते।

इन ख़ामियों की भरपाई करने के मक़सद से पंचायती राज का प्रयोग शुरू किया गया। पंचायती राज की परियोजना दूसरी पंचवर्षीय योजना (1956-1961) के तहत धरती पर उतारी गयी। ध्यान रहे कि इस पंचवर्षीय योजना में अमेरिकी विशेषज्ञों की ज्यादा नहीं सुनी गयी। 1955 में ही सत्तारूढ़ कांग्रेस पार्टी ने 'समाजवादी प्रारूप का समाज' समाज बनाने के लिए अपनी प्रतिबद्धता जता दी थी। इसके लिए उद्योगीकरण पर बल देना आवश्यक समझा जा रहा था। इसलिए दूसरी योजना में पूरा जोर भारी उद्योगों, ख़ास कर सरकारी क्षेत्र में खड़े किये जाने वाले अधिरचनात्मक उद्योगों पर था। लेकिन इसका मतलब यह नहीं था कि पहली योजनाओं की ख़ामियों को दूर न किया गया हो। भारी उद्योगीकरण के आग्रह के बावजूद सामुदायिक विकास परियोजना का बहुत बड़े पैमाने पर विस्तार किया गया। पूरे देश में विकास खण्ड आधारित विकास का जाल फैला कर उसे पंचायती राज के साथ समेकित कर दिया गया। यह केंद्रीकृत नियोजन के माध्यम से किये गये 'लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण' की मिसाल थी। 1957 में आयी बलवंत राय मेहता कमेटी की चर्चित रपट में लोकतंत्र के संस्थानीकरण का यह आख्यान बख़ूबी दर्ज है।

संस्थानीकरण की यह प्रक्रिया अपनी तमाम ख़ूबियों-ख़ामियों के साथ सत्तर के दशक तक चलती रही। नेहरू युग की सफलताओं और विफलताओं की इबारत इसी संस्थानीकरण पर लिखी हुई थी। समाज के उभरते हुए आधुनिक और जमे हुए पारम्परिक क्षेत्रों के बीच सूत्र बन गया था, भले ही उसकी जड़ें ठीक से अभी तक जम नहीं पायी थीं। नेता नये थे और उन्हें काफ़ी-कुछ सिविल सेवा के अफ़सरों पर निर्भर रहना था। इस कारण संस्थानीकरण के बुनियादी चरित्र पर नौकरशाहाना रवैया हावी रहा। इसके परिणामस्वरूप राजनीतिक प्राधिकार का जो रूप उभरा उस पर अफ़सरशाही की ही तरह लचीलेपन की कमी थी। नये विचारों का उत्पादन हो रहा था, पर उन पर अमल करने की समस्या थी। नियोजक और प्रशासक अपने-अपने केंद्रों में

बैठे हुए विफलताओं का दोष किसान जनता की अनिच्छा पर मढ़ रहे थे।

दूसरी तरफ लोकतांत्रिक प्रक्रिया ने नये नेता पैदा किये। मुख्यमंत्रियों, कांग्रेस अध्यक्ष कामराज, नेहरू के उत्तराधिकारी लालबहादुर शास्त्री और उसके बाद इंदिरा गाँधी ने विकास प्रक्रिया पर पुनर्विचार को प्रोत्साहन दिया। इंदिरा गाँधी ने 1969 में बैंक राष्ट्रीयकरण करके राज्य की ताकत को बहुत बढ़ा दिया। इसके बाद घटनाक्रम कुछ इस तरह से चला कि केंद्र और परिधि के बीच काम कर रहे मध्यवर्ती ढाँचे पर नुकसानदेह असर पड़ा। यह संस्थानीकरण के दूसरे दौर की शुरुआत थी।

इस दूसरे दौर के क्रम को जिस परिघटना ने सबसे ज्यादा प्रभावित किया, वह था ग़ैर-कांग्रेसवाद। इसकी पृष्ठभूमि समझने के लिए साठ के दशक के राष्ट्रीय हालात पर एक नज़र डालना ज़रूरी है। इस दौरान 1962 और 1967 में दो आम चुनाव हुए जिनके बीच के पाँच सालों में अर्थव्यवस्था का हुलिया बहुत ख़राब रहा। 1962 में चीन और 1965 में पाकिस्तान से हुए युद्धों के कारण जान-माल की काफ़ी क्षति हुई। खाद्यान्न की कमी और बढ़ती क्रीमियों के कारण कई राज्यों में तक्ररीबन अकाल के हालात पैदा हो गये। क़ानून और व्यवस्था की बुरी हालत में लगातार राजनीतिक आंदोलनों, बंद, हड़तालें, घेराव के कारण और इज़ाफ़ा हुआ। यही वह दौर था जब जवाहरलाल नेहरू का देहांत हुआ और उत्तर-नेहरू कांग्रेस अपने भीतरी मतभेदों के कारण पहले जैसी पार्टी नहीं रह गयी। न ही कांग्रेस के राष्ट्रीय नेतृत्व का साख़ पहले जैसी रह पायी। जे.बी. कृपलानी, सी.डी. देशमुख, चक्रवर्ती राजगोपालाचारी और कृष्ण मेनन जैसे नेताओं ने स्थाई रूप से कांग्रेस छोड़ दी। मुसलमानों, सिक्खों और ईसाइयों जैसे अल्पसंख्यक समुदायों का पार्टी से मोहभंग होने लगा। गुजरात के क्षत्रिय, राजस्थान के जाट, हरियाणा-उप्र-बिहार के यादव कांग्रेस से निराश होने लगे। इस दौर को कांग्रेस 'प्रणाली' के कमज़ोर होने की अवधि करार दिया जाता है। 1957 के आम चुनाव तक विपक्षी दलों को लगता था कि उनमें कांग्रेस को सत्ता से उखाड़ देने की शक्ति है, लेकिन जब कांग्रेस ने अपने शासन की तमाम कमियों के बावजूद 1962 के चुनाव में भी भारी कामयाबी हासिल की तो 'एकला चलो रे' की नीति पर यक़ीन करने वाली ग़ैर-कांग्रेस पार्टियाँ विपक्षी एकता के बारे में सोचने के लिए मजबूर हुईं। कांग्रेस के खिलाफ़ विचारधारात्मक सीमाओं के परे जाने वाली इस एकता ने दस राज्यों में पहली बार ग़ैर-कांग्रेसी सरकारें बनायीं। उधर नेतृत्व के झगड़े के कारण कांग्रेस का विभाजन हो गया। इन दोनों बातों ने मिल कर संस्थानीकरण की नीति में संशोधन की ज़मीन तैयार की।

देखें : अनुसूचित जातियाँ, अनुसूचित जनजातियाँ, अन्य पिछड़े वर्ग, आरक्षण, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, जवाहरलाल नेहरू, भारतीय अभिजन, भारतीय आधुनिकता, भारतीय इस्लाम, भारतीय उदारतावाद, भारतीय डायसपोरा, भारत में उपनिवेशवाद, भारत में नियोजन, भारत में प्रातिनिधिक प्रणाली, भारत में पृथकतावादी राजनीति, भारत में मतदान-व्यवहार-1 से 6 तक, भारतीय राज्य, भारतीय राष्ट्रवाद, भारतीय लोकतंत्र, भारतीय स्वभाव और राजनीति, भारतीय संविधान-1 से 8 तक, भारतीय सामाजिक आंदोलन, भीमराव रामजी आम्बेडकर, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1 से 3 तक।

संदर्भ

1. बलवंत राय मेहता कमेटी रिपोर्ट (1957), नयी दिल्ली.
2. मधु लिमये (1988), *बर्थ ऑफ़ नॉनकांग्रेसिज़म*, वीआर पब्लिशिंग कॉरपोरेशन, दिल्ली.
3. रजनी कोठारी (2005), 'संस्थानीकरण की रणनीति', भारत में राजनीति : कल और आज, (हिंदी प्रस्तुति और सम्पादन : अभय कुमार दुबे), सीएसडीएस-वाणी, नयी दिल्ली.
4. सुनील खिलनानी (2001), *भारतनामा*, अनुवाद : अभय कुमार दुबे, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
5. जितेंद्र सिंह (1964), 'ऐन न्यू लेजिटिमेसी', *सेमिनार*, नवम्बर.
6. रिचर्ड एल. पार्क और आइरीन टिकर (1958), *लीडरशिप ऐंड पॉलिटिकल इंस्टीट्यूशंस इन इण्डिया*, प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन.

— अभय कुमार दुबे

भारतीय लोकतंत्र का संस्थानीकरण-3

बुनियादी मॉडल की अवहेलना

(Institutionalisation of Indian Democracy-3)

भारतीय लोकतंत्र के संस्थानीकरण का दूसरा चरण 1971 से शुरू हुआ माना जा सकता है। यही था वह मुक़ाम जब भारत के राजनीतिक प्रभुओं ने विकास, विस्तार और सुदृढ़ीकरण के प्रश्नों पर नये सिरे से सोचना शुरू किया। राजनीतिक परिस्थितियाँ भी उन्हें ऐसा करने के लिए विवश कर रही थीं। साठ के दशक का आख़िरी दौर कांग्रेस के वर्चस्व के लिए संकट का था। पार्टी को बाहर से ग़ैर-कांग्रेसवाद द्वारा और उसके नेतृत्व को भीतर से उत्तर-नेहरू अवधि में मज़बूत हुए पार्टी के क्षेत्रीय क्षत्रपों से चुनौती मिल रही थी। आर्थिक-सामाजिक संकट और कांग्रेस के विभाजन से उपजे हालात

का मुकाबला करने के लिए इंदिरा गाँधी ने लोकलुभावन राजनीति का रास्ता अपनाया। वे संस्थागत ढाँचे से कतराते हुए सीधे देश की जनता को सम्बोधित करने लगीं। उन्होंने 'गरीबी हटाओ' जैसा आकर्षक नारा दिया। लेकिन इस प्रक्रिया का एक अनभिप्रेत परिणाम भी हुआ जिससे संस्थानीकरण के सिलसिले को लाभ होने के बजाय नुकसान हुआ। लोकलुभावनवाद के नतीजे के तौर पर मध्यवर्ती ढाँचे तहस-नहस हो गये। केंद्र और परिधि के बीच काम कर रही बफर प्रणालियाँ काफ़ी कमज़ोर हो गयीं। इस नये नेतृत्व ने काम करने के जो पैमाने निर्धारित किये थे, राजनीतिक प्रणाली उन पर खरी नहीं उतर पायी। उसने जन-असंतोष को ज़्यादा से ज़्यादा ऊपर की तरफ़ बहाना शुरू कर दिया।

यह सिलसिला इंदिरा गाँधी तक ही नहीं रुका। आपात काल और फिर जनता पार्टी के प्रयोग की नाकामी के बाद राजीव गाँधी के ज़माने में प्रबंधकीय और तकनीकशाही राज्य के भारतीय संस्करण की शुरुआत हुई। इसमें लोकतंत्र को अभिजनोन्मुख, विकृत और विविधताविरोधी बना कर बहुसंख्यकवादी बनाने के रुझान थे। विद्वानों की मान्यता है कि यह भारतीय राजनीति के आधुनिकीकरण के उस मॉडल की अवहेलना थी जिसके आधार पर संवैधानिक प्रावधानों के मार्गदर्शन में राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया शुरू की गयी थी।

'गरीबी हटाओ' का नारा महज़ राजनीतिक हथकण्डा नहीं था। इस नारे को सारे देश के पैमाने पर मामूली जनता का जैसा समर्थन मिला उसे गरीबों की स्पष्ट हिमायत करने वाली कम्युनिस्ट पार्टियाँ भी कभी मिल कर हासिल नहीं कर पायी थीं। कांग्रेस के भीतर बैठे क्षेत्रीय नेताओं के सिंडीकेट के खिलाफ़ अपनी जीत दर्ज करने में इंदिरा गाँधी को इस नारे से मदद मिली। वे सत्ता पर क्राबिज़ एक छोटे से गुट की जकड़ तोड़ कर सीधे जनता तक पहुँचना चाहती थीं। उन्हें खूब वोट मिले, पर उन्होंने उससे उपजी सम्भावनाओं का उपयोग कोई वैकल्पिक संस्थागत ढाँचा बनाने में नहीं किया। दलितों, अल्पसंख्यकों और अन्य वंचित समूहों के निर्विवाद समर्थन के बावजूद वे भारतीय लोकतंत्र को कोई नया रूप नहीं दे सकीं। ध्यान रहे कि अमेरिका में 'न्यू डील' के दौरान रूज़वेल्ट ने यही काम कहीं कामयाबी से कर दिखाया था।

इंदिरा गाँधी को नहीं पता था कि जनता को सीधे सम्बोधित करने के लिए वे जिन मध्यवर्ती ढाँचों को नाकारा बना रही हैं, वे जन-असंतोष को ऊपर बैठे हुए नेताओं के खिलाफ़ उबलने से रोक लेते थे। उनके तहत जो नये नेता पैदा हुए उन्होंने राजनीतिक प्रणाली के बुनियादी तर्क की कोई परवाह नहीं की। वे सारी सत्ता इंदिरा गाँधी में केंद्रित मानते थे। नतीजा यह हुआ कि पहले यह जन-असंतोष पार्टी और अन्य इकाइयों से सरकार की तरफ़ मुड़ा और आखिरकार राष्ट्रीय-क्षेत्रीय अभिजन से प्रधानमंत्री की तरफ़। पहले

गुजरात में और फिर बिहार में शुरू हुए जनांदोलन ने ज़्यादातर देश को अपनी गिरफ़्त में ले लिया। अपनी सत्ता बचाने के लिए इंदिरा गाँधी को 1975 में आपातकाल लगाना पड़ा जिसे राजनीतिशास्त्रियों ने भारतीय राजनीति के सबसे निकृष्ट क्षण की संज्ञा दी है।

लोकतंत्र को सीमित करने के कारण इंदिरा गाँधी और कांग्रेस के खिलाफ़ जो असंतोष पैदा हुआ उसने 1977 में जनता पार्टी की सरकार बनवायी। एक बारगी ऐसा लगा कि शायद भारतीय लोकतंत्र में एक नया युग आने वाला है। आपातकाल विरोधी संघर्ष की सफलता से आया उछाल था ही ऐसा। लेकिन, ग़ैर-कम्युनिस्ट संयुक्त विपक्ष की नुमाइंदगी करने वाली जनता पार्टी सरकार शासन के कांग्रेसी मॉडल का कोई विकल्प नहीं पेश कर पायी। सरकार के विभिन्न घटकों के बीच कलह इतनी ज़्यादा थी कि यह सरकार कुछ बेहतर उपलब्धियों के बावजूद जनता की निगाह में नाकाम साबित हुई। 1980 में इंदिरा गाँधी की वापसी हुई, पर अपने प्रधानमंत्रित्व के दूसरे संस्करण में उन्होंने कांग्रेस की सेकुलर विरासत की उपेक्षा करते हुए हिंदू वोट बैंक बनाने की प्रच्छन्न कोशिशें कीं। उन्होंने असम में एक सभा को सम्बोधित करते हुए मुसलमानों की देशभक्ति पर शक किया। कांग्रेस के किसी सर्वोच्च नेता द्वारा दिया गया यह भाषण बहुसंख्यकवादी राजनीति का आगाज़ था। पंजाब में उनकी राजनीति इसी अल्पसंख्यक विरोधी रवैये का विस्तार साबित हुई। उन्होंने सिक्खों की पार्टी अकाली दल को कमज़ोर करने के लिए संत जनरैल सिंह भिंडरावाले जैसी कट्टरपंथी शक्तियों को बढ़ावा दिया। नतीजा सिक्ख आंतकवाद में निकला। आज़ादी के बाद पृथकवाद ने पहली बार सीमांत प्रांतों के हाशिये से निकल कर भारतीय गणराज्य के मर्म पर दस्तक दी। इसी पृथकतावाद ने इंदिरा गाँधी की जान भी ली।

उनके उत्तराधिकारी राजीव गाँधी राजनीति और राजनीतिक प्रक्रियाओं के प्रति तिरस्कार का भाव रखते थे। राजीव गाँधी ने मुहावरा तो इक्कीसवीं सदी का अपनाया, लेकिन उनका विश्वास प्रौद्योगिकी और प्रबंधन पर था। उनकी समझ थी कि राजनीति को मैनेज किया जा सकता है। इसलिए उनके नेतृत्व में ऊपर से टपकाये गये प्रबंधकनुमा नेताओं की पूरी क्रतार शीर्ष पर जम गयी। 1990 में जब भूमण्डलीकरण की ग्लोबल परिघटना का भारत-आगमन हुआ तो इस प्रवृत्ति को और भी खुल कर खेलने का मौक़ा मिला।

भूमण्डलीकरण ने पहला काम तो यह किया कि पहले से जमी हुई राजनीतिक शक्तियों को पूरी तरह से चकरा दिया। वे नहीं समझ पायीं कि इसके असली परिणाम क्या होंगे। मार्क्सवादियों ने इसे पूँजीवादी सर्वव्यापीकरण के रूप में पेश करते हुए साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष के दायरे में इसके खिलाफ़ व्यूह-रचना का एलान किया। गाँधीवादियों ने खिन्न

मन से देखा कि भूमण्डलीकरण गाँव की जगह शहर और नागरिक की जगह उपभोक्ता को स्थापित करने का आग्रह लेकर आया है। राष्ट्रवादी भी चिंतित हुए। उनके एक हिस्से को लगा कि यह परिघटना तो राष्ट्र की आधारभूत संरचना को ही सत्ता और प्राधिकार से वंचित कर देगी। लेकिन, उनके एक दूसरे हिस्से ने कुछ दिनों के बाद भूमण्डलीकरण की ताकतों के साथ सौदेबाजी भी शुरू कर दी। सूचना क्रांति की प्रौद्योगिकी का सहारा लेकर वे जनता को नये तरीकों से नियंत्रित करने के प्रयोजन में लग गये। राष्ट्रवादियों की इस क्रिस्म का खयाल था कि वे अपनी सम्प्रभुता का एक हिस्सा त्याग कर उसके बदले भूमण्डलीकरण से कहीं ज्यादा हासिल कर सकते हैं। आधुनिकता के आलोचकों ने कुछ खुशी और कुछ संदेह के मिले-जुले स्वरो के साथ भूमण्डलीकरण का स्वागत किया। उन्हें एक तरफ तो भूमण्डलीकरण का फ़ायदा उठा कर राष्ट्रवाद के कारागार के खिलाफ़ बगावत की उम्मीद थी, दूसरी तरफ़ कुछ डर भी लग रहा था कि भूमण्डलीकरण अपनी पश्चिम केंद्रीयता और चरम बाज़ारवाद के कारण विकल्पों की सम्भावनाओं को ही न नकार दे। भूमण्डलीकरण का सकारात्मक निगाहों से देखने वालों की मान्यता थी कि सूचना क्रांति के आयाम, सूचना समाज की रचना और साइबर स्पेस की निराकार दुनिया भारतीय समाज को एक नयी नागरिकता की सौगात देगी।

इस वाद-विवाद के बीच कुछ बातें व्यावहारिक रूप से स्पष्ट थीं। नये आर्थिक निज़ाम का मतलब था भारतीय अर्थव्यवस्था का विश्व बाज़ार के साथ जुड़ते चले जाना, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व व्यापार संगठन को अपने कामों और नीतियों का हिसाब देना, अंतर्राष्ट्रीय रेटिंग एजेंसियों से सनद प्राप्त करते रहना, अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूँजी की गतिविधियों से भारतीय अर्थव्यवस्था को प्रभावित होने देना, सामाजिक-आर्थिक जीवन के गठन के लिए एंग्लो-अमेरिकी कॉरपोरेट मॉडल को आदर्श मान लेना और अमेरिकीकरण की संस्कृति के बुलडोज़र के नीचे विविधताओं और बहुलताओं की प्रतीक भारतीय संस्कृति को कुचलने के लिए छोड़ देना।

लेकिन भूमण्डलीकरण ने एक दूसरा काम भी किया। उसकी प्रतिक्रिया में क्षेत्रीय उग्रवाद और धार्मिक रूढ़िवाद पर आधारित राष्ट्रवाद की पहले से मौजूद ताकतें मज़बूत हुईं। न तो बाज़ार की ताकतों को, और न ही इस नयी राजनीतिक नकारात्मकता को लोकतंत्र के संस्थागत ढाँचे की कोई चिंता थी। एक तरफ़ बाज़ारवाद के आधार पर राष्ट्र-निर्माण का आग्रह परवान चढ़ा, और दूसरी तरफ़ क्षेत्रीय उग्रवाद और धार्मिक राष्ट्रवाद ने अपने-अपने समर्थन आधार को सीधे-सीधे सम्बोधित करना शुरू कर दिया। संस्थाओं के माध्यम से राष्ट्र-निर्माण की योजना पूरी तरह से खटाई में पड़ गयी।

आज स्थिति यह है कि संस्थाओं के पतन और क्षरण की प्रक्रिया जारी है और प्रणाली में सुधार करने के लिए ज़रूरी पहलकदमियों को लगातार टाला जा रहा है। प्रशासनिक सुधार, पुलिस सुधार, न्यायिक सुधार और चुनाव सुधार जैसे चार महत्वपूर्ण सुधार मुद्दों से लटके पड़े हैं। सरकार कोई भी हो, सभी इन सुधारों के प्रति जुबानी जमा-खर्च का रवैया अपनाते हैं। महत्वपूर्ण व्यक्तियों और उनके द्वारा निजी सुरक्षा की भावना पर बहुत ज्यादा जोर दिया जाने लगा है। नेतृत्व पर बहुत जोर है, पर संस्थाओं और उनकी स्वायत्तता की किसी को फ़िक्र नहीं है। राज्यतंत्र के अहम अंगों, जैसे दलीय प्रणाली, संसद, नौकरशाही, कानून-व्यवस्था क्रायम रखने वाले तंत्र और न्यायपालिका के प्रभाव और मनोबल का क्षय हुआ है। ऊपर से टपके हुए नेताओं की बेहद पक्षपाती और दुस्साहसी दखलअंदाजी बहुत बढ़ गयी है। राजनीतिक प्रणाली का पूरा तानाबाना जड़ता का शिकार हो गया है। कांग्रेस का वर्चस्व टूटने के परिणामस्वरूप गठजोड़ राजनीति एक अनिवार्यता बन गयी है, पर उसकी आचार संहिताएँ अभी तय नहीं हैं। इस कारण से भी राजनीतिक सुदृढ़ीकरण के बजाय प्रणाली बिखराव की तरफ़ जा रही है।

देखें : अनुसूचित जातियाँ, अनुसूचित जनजातियाँ, अन्य पिछड़े वर्ग, आरक्षण, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, जवाहरलाल नेहरू, भारतीय अभिजन, भारतीय आधुनिकता, भारतीय इस्लाम, भारतीय उदारतावाद, भारतीय डायसपोरा, भारत में उपनिवेशवाद, भारत में नियोजन, भारत में प्रातिनिधिक प्रणाली, भारत में पृथकतावादी राजनीति, भारत में मतदान-व्यवहार-1 से 6 तक, भारतीय राज्य, भारतीय राष्ट्रवाद, भारतीय लोकतंत्र, भारतीय स्वभाव और राजनीति, भारतीय संविधान-1 से 8 तक, भारतीय सामाजिक आंदोलन, भीमराव रामजी आम्बेडकर, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1 से 3 तक।

संदर्भ

1. बलवंत राय मेहता *कमेटी रिपोर्ट* (1957), नयी दिल्ली.
2. मधु लिमये (1988), *बर्थ ऑफ़ नॉनकांग्रेसिज़्म*, वीआर पब्लिशिंग कॉरपोरेशन, दिल्ली.
3. रजनी कोठारी (2005), 'संस्थानीकरण की रणनीति', भारत में राजनीति : कल और आज, (हिंदी प्रस्तुति और सम्पादन : अभय कुमार दुबे), सीएसडीएस-वाणी, नयी दिल्ली.
4. सुनील खिलनानी (2001), *भारतनामा*, अनुवाद : अभय कुमार दुबे, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
5. जितेंद्र सिंह (1964), 'अ न्यू लेजिटिमेसी', *सेमिनार*, नवम्बर.
6. रिचर्ड एल. पार्क और आइरीन टिकर (1958), *लीडरशिप ऐंड पॉलिटिकल इंस्टीट्यूशंस इन इण्डिया*, प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन.

— अभय कुमार दुबे

भारतीय समाजशास्त्र-1

(Indian Sociology-1)

अकादमिक अनुशासन के पारिभाषिक साँचे में निबद्ध होने से पहले भारतीय समाजशास्त्र औपनिवेशिक काल के प्रशासकों, मिशनरियों तथा अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी के पश्चिमी विद्वानों के लेखन व दस्तावेजों में ढूँढ़ा जा सकता है। औपनिवेशिक प्रशासकों के सामने चुनौती यह थी कि भारतीय जनता की रीतियों, मान्यताओं और संस्थाओं को कैसे समझा जाए ताकि भारतीय जन-मानस में ब्रिटिश प्रशासनिक तंत्र के प्रति एक वृहत्तर सहमति का निर्माण किया जा सके। हालाँकि ईसाई मिशनरियों की दिलचस्पी मुख्यतः धर्मांतरण में थी लेकिन इसके लिए भी स्थानीय भाषा-बोलियों, जनश्रुतियों, और संस्कृति को समझना जरूरी था। इन्हीं जरूरतों के कारण ब्रिटिश प्रशासकों तथा मिशनरियों की भारत की भिन्न-भिन्न परम्पराओं, मान्यताओं की उत्पत्ति, उनके विकास और प्रभाव, जाति और संयुक्त परिवार की व्यवस्था, गाँव की अर्थव्यवस्था और राजकाज तथा आदिवासी समुदायों आदि में दिलचस्पी बढ़ी। ये कुछ ऐसे विषय थे जिनमें भारतीय और विदेशी, दोनों तरह के विद्वान रुचि ले रहे थे। उल्लेखनीय है कि भारत में 1871 में पहली बार जनसंख्या गणना का काम किया गया। यह एक ऐसी प्रक्रिया साबित हुई जिससे विभिन्न जातियों और समुदायों के बारे में सर्वेक्षण, कई तरह की रपटें और गजेटियर छन कर सामने आये। समाज के बारे में ऐसी तथ्यात्मक जानकारी पहली बार जमा की गयी। समाजशास्त्रीय ज्ञान के निर्माण में इस सामग्री की प्रासंगिकता आज भी असंदिग्ध है। पश्च-दृष्टि से देखें तो इस प्रक्रिया से उपजी सामग्री के आधार पर जहाँ एक तरफ औपनिवेशिक प्रशासन ने शासन और नियंत्रण की दूरगामी नीतियों की ज़मीन तैयार की वहीं इस सामग्री ने भारतीय समाजशास्त्र के आद्य ढाँचे की रचना करने में आधार स्तंभ का काम किया। प्रसंगवश, मार्क्स, एंगेल्स, वेबर तथा मेन जैसे विचारकों ने भारतीय समाज और संस्कृति के बारे में चिंतन और लेखन के लिए इसी आधार सामग्री का उपयोग किया।

इस दौर में भारतीय समाजशास्त्र का जो रूप बन रहा था वह अकादमिक अनुशासन के रूप में बीसवीं सदी के दूसरे दशक में स्थिर हुआ। इस तरह भारत में समाजशास्त्र के औपचारिक अध्ययन-अध्यापन की शुरुआत 1914 में बम्बई विश्वविद्यालय से हुई। इसके बाद 1917 में कलकत्ता और 1921 में लखनऊ विश्वविद्यालय ने इसे अपने पाठ्यक्रम में शामिल किया।

इस समय तक आते-आते समाज के बारे में तथ्यात्मक

सूचनाएँ जैसे जाति व्यवस्था, पारिवारिक संरचना, विवाह की आयु तथा वैधव्य आदि को लेकर जनसंख्या संबंधी रपटें और दस्तावेज लोक-वृत्त का हिस्सा बनने लगे थे। लेकिन इसके बावजूद इस दौर में समाजशास्त्र के अंतर्गत जो पढ़ाया जा रहा था उसमें प्राच्यवादी दर्शन तथा जनजातीय विवरणों पर ज्यादा जोर था। यह स्थिति कमोबेश आज़ादी के समय तक बनी रही।

बीसवीं सदी के पहले पाँच दशकों में समाजशास्त्र का विकास मुख्यतः बम्बई तथा लखनऊ विश्वविद्यालय के तत्वावधान में हुआ। समाजशास्त्र के भारतीय संस्करण का रूप विकसित करने का श्रेय बम्बई विश्वविद्यालय के पहले भारतीय अध्यक्ष गोविंद सदाशिव घुर्ये को जाता है, जिन्होंने अपने शोध निर्देशन में समाजशास्त्रियों की एक समूची पीढ़ी को आकार दिया। आज़ादी के बाद एम.एन. श्रीनिवास, के.एम. कपाडिया, वाइ.बी. दामले, ए.आर. देसाई, तथा एम.एस.ए. राव जैसे समाजशास्त्रियों की पीढ़ी के निर्माण का श्रेय घुर्ये को ही दिया जाता है। घुर्ये के अवदान की बात करें तो उनका प्रशिक्षण मुख्यतः सामाजिक मानवशास्त्री के रूप में हुआ था। उनके लेखन और शोध का दायरा बेहद व्यापक था जो जाति अध्ययन, आदिवासियों, शहरीकरण, भारतीय सभ्यता विमर्श, राजपूत स्थापत्य तथा भारतीय साधुओं के अध्ययन से लेकर बम्बई के मध्यवर्गीय लोगों की यौन आदतों के सर्वेक्षण तक फैला था। घुर्ये के कृतित्व ने भारतीय समाज, संस्कृति तथा सामाजिक संस्थाओं के कई अनछुये पक्षों की ओर ध्यान दिलाया।

भारतीय समाजशास्त्र के आदि प्रणेताओं में राधा कमल मुखर्जी, धूर्जटि प्रसाद मुखर्जी, बी.एन. सील, बी.के.सरकार, एस.वी. केतकर, बी.एन. दत्त, तथा के.पी. चट्टोपाध्याय आदि के नाम भी उल्लेखनीय हैं। राधा कमल मुखर्जी ने ग्रामीण अर्थव्यवस्था, ज़मीन, जनसंख्या तथा भारत के श्रमिक वर्ग के अलावा खेती और किसानों की स्थितियों, अंतर-जातीय तनावों और शहरीकरण की समस्याओं का सूक्ष्म अध्ययन किया तो डी.पी. मुखर्जी के चिंतन का फलक भारतीय परम्परा और आधुनिकता के द्वंद्व तक फैला था। वे भारतीय परम्परा और आधुनिकता की मुठभेड़ को द्वंद्वत्मक नज़रिये से देखते थे। इस क्रम में बी.एन. सील और बी.के. सरकार का अवदान भी बुनियादी माना जाता है। सील की रुचि तुलनात्मक समाजशास्त्र में थी। उन्होंने नस्ल की उत्पत्ति, प्राचीन हिंदू धर्म में भौतिक-रासायनिक सिद्धांतों के अलावा वैष्णव धर्म और ईसाइयत का तुलनात्मक विश्लेषण भी किया। वे समाजशास्त्र में सांख्यिकी के इस्तेमाल पर जोर देते थे। बी.के. सरकार मूलतः इतिहासकार और अर्थशास्त्री थे। वे इस धारणा का खण्डन करते थे कि हिंदू धर्म बुनियादी रूप से लोकोत्तर प्रवृत्तियों का धर्म है। वे उस समय मार्क्स, वेबर और परेटो के चिंतन से जिरह कर रहे थे जब उनके बारे में

युरोप तक में चर्चा नहीं की जा रही थी।

इस तरह, भारतीय समाजशास्त्र के प्रणेताओं की सक्रियता प्राच्यवादी संस्कृति के आदर्शीकृत रूप से लेकर सामाजिक विकास की भौतिकतावादी व्याख्या तक फैली थी। इस प्रकार उन्होंने ऐतिहासिक महत्त्व की सूचनाओं, दस्तावेजों आदि के निर्माण में महती भूमिका निभाने से लेकर वस्तुनिष्ठ शोध की जरूरत के पक्ष में माहौल तैयार किया। लेकिन इस दौर के समाजशास्त्रियों के कृतित्व में सैद्धांतिक निर्मितियों और आधार सामग्री के निर्माण की अंतर-क्रिया का परिपाक दिखायी नहीं देता।

आजादी के बाद भारतीय समाजशास्त्र का विकास जिस सुसंगत ढंग से हुआ है उसके पीछे संरचनात्मक कारणों की एक समूची शृंखला देखी जा सकती है। पहली बात तो यह कि इस दौरान समाजशास्त्रियों के पेशेवर संगठन अस्तित्व में आये। दूसरे, समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र के बीच ठस क्रिस्म के विभाजन से बचा गया। तीसरे, इस बीच समाजशास्त्र के देशजीकरण तथा उसकी प्रासंगिकता को लेकर बहस का सिलसिला शुरू हुआ। और चौथे, इस बीच एक विषय के रूप में समाजशास्त्र कई उप-विषयों में विकसित होता गया तो समाजशास्त्रियों ने भी अंतरविषयक शोध के प्रति खुला नज़रिया अपनाया।

अपने विकास के पहले चरण में समाजशास्त्र मुख्यतः स्नातक स्तर पर ही पढ़ाया जाता था। बाद में विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों की संख्या बढ़ने से समाजशास्त्र एक विषय के रूप में लोकप्रिय होता गया और कालांतर में उसे कई सारे अंतर विषयक अनुशासनों जैसे प्रबंधन, ग्रामीण विकास, नियोजन, संचार आदि के प्रशिक्षण कार्यक्रमों में शामिल किया जाने लगा। 1990 के दशक में कुछ राज्यों ने समाजशास्त्र को स्कूली पाठ्यक्रम में भी शामिल किया। गौरतलब है कि औपनिवेशिक दौर में समाजशास्त्रियों का कोई पेशेवर संगठन मौजूद नहीं था। इस दिशा में काम करने का श्रेय घुर्ये को जाता है जिनके प्रयासों से 1951 में सोसियोलॉजिकल सोसाइटी की स्थापना हुई। इस क्रम में अगला पड़ाव 1956 में आया जब देश में पहली बार ऑल इण्डिया सोसियोलॉजिकल कांफ्रेंस का आयोजन किया गया। बाद में 1967 में इन दोनों संगठनों का विलय हो गया।

सैद्धांतिकी, पद्धतियों तथा शोध की अभिरुचियों की दृष्टि से भारत में समाजशास्त्र का विकास पश्चिमी देशों से काफी प्रभावित रहा है। प्रारम्भ में इंग्लैण्ड व अन्य युरोपीय देशों तथा परवर्ती काल में अमेरिकी विद्वानों ने भारत को अपने समाजशास्त्रीय अध्ययन का विषय बनाया। इसी तरह भारत के अनेक समाजशास्त्रियों का प्रशिक्षण इंग्लैण्ड तथा अमेरिका में हुआ। इस बीच भारतीय समाजशास्त्रियों की

अंतर-राष्ट्रीय सम्मेलनों, कार्यशालाओं और सेमिनारों में उपस्थिति लगातार बढ़ी है। समाजशास्त्र का ग्यारहवाँ अंतरराष्ट्रीय सम्मेलन 1986 में नयी दिल्ली में आयोजित किया गया था। इसे भारतीय समाजशास्त्रियों के योगदान और उनके बढ़ते क्रम का उदाहरण माना जा सकता है।

समाजशास्त्र के अनुशासन को नये शोध संदर्भों से लैस करने में कई अकादमिक जर्नलों की भूमिका भी बेहद अहम रही है। समाजशास्त्र की शोध विषयक पत्रिकाओं की शुरुआत 1921 में *द जरनल ऑफ सोसियोलॉजी* से हुई। इसका सम्पादन बड़ौदा कॉलेज के ब्रिटिश प्रोफेसर एल्बन विडगेरे करते थे। इस दिशा में दूसरा प्रयास *द सोसियोलॉजिकल रिव्यू* के रूप में सामने आया जिसके सम्पादन की ज़िम्मेदारी आर.के. मुखर्जी को दी गयी थी। लेकिन ये दोनों प्रयास अल्पजीवी साबित हुए। आजादी के बाद सोसियोलॉजिकल सोसाइटी के निर्देशन में एक अन्य अखिल भारतीय जर्नल का प्रकाशन शुरू किया गया। जिसे *सोसियोलॉजिकल बुलेटिन* नाम से जाना गया। 1957 में *कंट्रीब्यूशन टू सोसियोलॉजी* का प्रकाशन शुरू किया गया, इसका सम्पादन फ्रेंच समाजशास्त्री लुई दूमों तथा एफ.डी. पोकाँक करते थे। 1963 के बाद इस जर्नल का प्रकाशन-सम्पादन भारतीय समाजशास्त्रियों के हाथों में आ गया। शोध पत्रिकाओं की इस शृंखला में कौंसिल फॉर सोशल डिवेलपमेंट द्वारा प्रकाशित *सोशल चेंज* भी एक उल्लेखनीय नाम है। इसी तरह *इकानॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली* समाज-विज्ञानों में शोध-गतिविधियों का एक स्थाई और समादृत मंच रहा है। इनके अलावा कई विश्वविद्यालयों और संस्थाओं के अपने शोध जर्नल भी हैं जिनमें समाजशास्त्रीय लेखों और अध्ययनों का नियमित प्रकाशन होता है। इस संदर्भ में हैदराबाद स्थित नैशनल इंस्टीट्यूट ऑफ रूरल डेवेलपमेंट के त्रैमासिक जर्नल ऑफ रूरल डिवेलपमेंट, नैशनल इंस्टीट्यूट ऑफ अर्बन अफेयर्स, नयी दिल्ली का अर्बन इण्डिया तथा सेंटर फॉर वुमन स्टडीज द्वारा प्रकाशित जर्नल ऑफ जेंडर स्टडीज समकालीन समाजशास्त्रीय शोध के महत्त्वपूर्ण मंच माने जाते हैं।

जैसा कि हमने ऊपर कहा भारत में समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र के बीच कड़े विभाजन पर जोर नहीं दिया गया। यह स्थिति दोनों ही अनुशासनों के लिए हितकर रही है। हालाँकि यह अलग बात है कि पाँचवें दशक तक ये दोनों विषय अपनी स्वतंत्र पहचान क्रायम कर चुके थे। आम तौर पर भारत के प्रतिष्ठित समाजशास्त्रियों का वृहत्तर समूह ऐसे नकली विभाजन के खिलाफ रहा है। उनका मानना है कि भारत में आदिवासी और लोक समाज तथा शेष समाज के विकसित समूहों को अनुशासन के स्तर पर एक दूसरे अलग करना समाजशास्त्र के लिए वांछनीय नहीं हो सकता।

वे यह भी मानते हैं कि समाजशास्त्री अपनी अध्ययन-प्रक्रिया में किसी एक तरह की तकनीक को ज्यादा तवज्जो नहीं दे सकते। कई अन्य समाजशास्त्रियों का मत है कि यह स्थिति सिर्फ भारत नहीं बल्कि एशिया और प्रशांत क्षेत्र के अनेक देशों पर लागू होती है। बहरहाल, दोनों अनुशासनों की तात्त्विक निकटता का परिणाम यह हुआ है कि सामाजिक मानवशास्त्रियों द्वारा ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में किये गये सूक्ष्म अध्ययन तथा उनके द्वारा अध्ययन में अपनायी गयी सहभागी प्रेक्षक की पद्धतियाँ समाजशास्त्रियों के लिए भी उपयोगी साबित हुई हैं।

भारत के कई समाजशास्त्री लम्बे समय से देशज समाजशास्त्र की हिमायत करते रहे हैं। इस बहस का एक आनुषंगिक प्रश्न यह रहा है कि क्या भारत के समाजशास्त्र का अपना कोई निजी व्यक्तित्व है या नहीं? इस बहस का ऐतिहासिक तार लुई दूमों तथा पोकाँक के मशविरे से शुरू हुआ था जिसमें उन्होंने कहा था कि सिद्धांततः भारतीय समाजशास्त्र का उद्गम भारतविद्या और समाजशास्त्र के संगम से होना चाहिए। इस विचार के पैरोकारों का मानना है कि भारतीय सामाजिक यथार्थ के संदर्भों की खासियत पकड़ने के लिए शास्त्रीय ग्रंथों का अध्ययन ज़रूरी है। इसके विपरीत विद्वानों का एक समूह इस बात पर जोर देता रहा है कि शास्त्रीय ग्रंथों में वर्णित आदर्श तथा व्यावहारिक यथार्थ में फ़र्क किया जाना चाहिए। इस संदर्भ में उनकी दलील यह रही है कि अगर भारतीय समाजशास्त्र को अपनी प्रासंगिकता बनाये रखनी है तो उसे पदानुक्रम, सम्पूर्णवाद तथा बहुलताओं के बजाय समाजवाद, सेकुलरवाद, और लोकतंत्र के मूल्यों को आत्मसात करना होगा।

इस बहस का एक अन्य सिरा उस दलील से जुड़ा है जिसके तहत यह विचार रखा जाता है कि भारतीय समाजशास्त्र की एक नयी प्रस्थापना गढ़ी जानी चाहिए जो अकादमिक उपनिवेशवाद यानी पश्चिम की ज्ञानशास्त्रीय पद्धतियों के वर्चस्व से मुक्त हो। उनका आग्रह रहा है कि पश्चिम से लिए गये बौद्धिक औजार भारतीय संस्कृति, समाज और उसके इतिहास की विशिष्ट परिस्थितियों पर लागू नहीं किये जा सकते। इन दलीलों के बरक्स औसत स्थिति यह रही है कि भारतीय समाजशास्त्री पश्चिमी अवधारणाओं, मॉडलों तथा विश्लेषणात्मक श्रेणियों को पूरी तरह नहीं नकारते पर इस बात के लिए आमतौर पर सजग रहे हैं कि इन अवधारणाओं को भारत की सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों पर हूबहू लागू न किया जाए। सोसियोलॉजिकल सोसाइटी के सम्मेलनों के अवसर पर दिये गये अध्यक्षीय वक्तव्यों के एक अध्ययन से भी यह जाहिर होता है कि विभिन्न समाजशास्त्री अपने अपने ढंग से सामाजिक नीतियों के क्षेत्र में समाजशास्त्र की उपयोगिता और उसकी

प्रासंगिकता को लेकर सजग रहे हैं। सामाजिक नीतियों के मूल्यगत विश्लेषण, भारत में विकास और बदलाव के लक्ष्यों की समझ तथा उनका आलोचनात्मक आकलन आदि ऐसे समाजशास्त्रियों के दीर्घगामी सरोकार रहे हैं।

जहाँ तक शोध-विषयों के रुझान और उनमें आये बदलाव का प्रश्न है तो बीसवीं सदी के आखिरी पच्चीस वर्षों में शोध के स्तर पर निरंतरता और परिवर्तन की प्रवृत्तियाँ आसानी से देखी जा सकती हैं। इस बीच जाति तथा स्तरीकरण, ग्रामीण समुदाय, तथा सामाजिक परिवर्तन आदि पर जैसे तो शोध लगातार चलता रहा है लेकिन उनके अध्ययन की पद्धति में मौलिक बदलाव उपस्थित हो चुका है। मसलन, पहले जहाँ किसी एक गाँव या स्थल के विशद और सांगोपांग अध्ययन एवं उसके प्रकार्यात्मक ढाँचे को समझने पर जोर रहता था अब ऐसी और अन्य अलग-अलग काल-खण्ड और समय की सामाजिक संरचनाओं के तुलनात्मक-विश्लेषणात्मक; और उनमें पैबस्त तनाव के बिंदुओं के अध्ययन पर ध्यान दिया जाने लगा है। शोध-विषयों की दृष्टि से इस बीच विवाह, परिवार तथा नातेदारी के विषय पार्श्व में चले गये हैं। उनकी जगह स्त्री अध्ययन, शिक्षा, शहरी मसलों, सामाजिक आंदोलनों, मतदाताओं के व्यवहार, संचार, औद्योगिक संबंधों, औषधि, क़ानून तथा विज्ञान के समाजशास्त्र ने ले ली है।

उदाहरण के लिए, समानता और संसाधनों के न्यायपूर्ण वितरण के तक्राजों के कारण अब शिक्षा की प्रक्रिया को सामाजिक परिवर्तन के नज़रिये से देखने की प्रवृत्ति बल पकड़ती जा रही है। इस काल में केंद्र व राज्य सरकारों के अलावा भारतीय सामाजिक अनुसंधान परिषद् तथा अन्य वित्त एजेंसियों ने सामाजिक क्षेत्र में कुछ खास तरह के अध्ययन भी कराये गये हैं जिनसे सामाजिक शोध में अंतरविषयकता को बढ़ावा मिला है। उदाहरण के लिए 1975-1976 के दौरान भारतीय अंतरिक्ष संगठन ने देश के छह राज्यों में उपग्रह के ज़रिये दूरदर्शन पर प्रसारित होने वाले एक शैक्षिक कार्यक्रम को संचालित किया। इसी तरह, सामाजिक अनुसंधान परिषद् ने अनुसूचित जाति एवं जनजातियों के छात्रों की शैक्षिक समस्याओं के संबंध में एक अखिल भारतीय अध्ययन कराया। सातवें और आठवें दशक में देश के विभिन्न शहरों— दिल्ली, बम्बई, अहमदाबाद, जयपुर, चंडीगढ़, पुणे, बंगलुरु, हैदराबाद तथा तिरुवनंतपुरम आदि में सामाजिक शोध संस्थान स्थापित किये गये।

भारतीय समाजशास्त्र के अध्ययन-अध्यापन में भारतीय भाषाओं की भूमिका को लेकर एक विमर्श काफ़ी समय से मौजूद रहा है। इधर के वर्षों में देश के कई क्षेत्रीय विश्वविद्यालयों में स्नातक और स्नातकोत्तर स्तर पर भारतीय

भाषाओं में पढ़ाई का काम भी शुरू किया गया है। लेकिन शिक्षण की यह प्रक्रिया उचित पाठ्यसामग्री और पुस्तकों के अभाव में अभी मंथर गति से ही चल रही है। इसके अलावा कई विद्वान इस तथ्य की ओर लगातार ध्यान दिलाते रहे हैं कि भारतीय समाजशास्त्र के पाठ्यक्रम में सांख्यिकी के प्रयोग पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जाता। वैसे अब अब समाजशास्त्रीय शोध में सर्वेक्षण का व्यापक प्रयोग किया जाने लगा है परंतु ज्यादातर शोध प्रकाशनों में सांख्यिकी का विवरणात्मक उपयोग ही किया जाता है।

जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं। समाजशास्त्र की कतिपय अवधारणाओं को भारतीय संदर्भों के अनुसार ढालने की बात तो काफ़ी की जाती रही है लेकिन इस दिशा में ठोस प्रयास और परिणामों का अभाव रहा है। विद्वानों के एक समूह का मत है कि बीसवीं शताब्दी के अवसान पर भारतीय समाजशास्त्र के शिक्षण और शोध की दिशा एक अंतर्विरोधी स्थिति में फँस गयी है। एक तरफ़ समाजशास्त्र लगभग सभी विश्वविद्यालयों तथा महाविद्यालयों में एक आवश्यक विषय के तौर पर समाहित किया जा चुका है। और साथ ही अंतरविषयक शोध को प्रोत्साहन देने वाले कई संस्थान भी अस्तित्व में आये हैं। लेकिन दूसरी ओर, भारतीय भाषाओं में स्तरीय पाठ्यसामग्री की कमी में छात्रों को अंग्रेज़ी पाठ्यपुस्तकों पर निर्भर रहना पड़ता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि प्रशिक्षित अध्यापकों की कमी के साथ शिक्षण के स्तर में भी गिरावट आती गयी है।

देखें : इरावती कर्वे, जातियों का राजनीतीकरण, जाति और जाति-व्यवस्था-1, 2, 3 और 4, गोविंद सदाशिव घुमें, त्रिलोकी नाथ मदन, प्रभुत्वशाली जाति, मैसूर नरसिम्हाचार श्रीनिवास, देवकी जैन, धीरूभाई शेट, धूर्जटि प्रसाद मुखर्जी, नीरा देसाई, राधा कमल मुखर्जी, योगेश अटल, वेरियर एलविन, संस्कृतीकरण, श्यामा चरण दुबे-1 और 2.

संदर्भ

1. योगेश अटल (1985), 'ग्रोथ पॉइंट्स इन एशियन ऐंड पैसिफिक सोसियोलॉजी ऐंड सोशल एंथ्रोपोलॉजी', *सोसियोलॉजी ऐंड सोशल एंथ्रोपोलॉजी इन एशिया ऐंड द पैसिफिक*, पेरिस, यूनेस्को, नयी दिल्ली.
2. लुई दूमों और डी.एफ. पोकोक (1957), 'फॉर अ सोसियोलॉजी ऑफ़ इण्डिया', *कंट्रीब्यूशन टू सोसियोलॉजी*, अंक 1.
3. योगेंद्र सिंह (1985), *सोसियोलॉजी : सोशल कण्ट्रोलिंग ऐंड एमर्जिंग कम्पर्स*, विस्तार पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली.
4. एम.एन श्रीनिवास और एम.एन. पाणिनि, *द डिवेलपमेंट ऑफ़ सोसियोलॉजी ऐंड सोशल एंथ्रोपोलॉजी इन इण्डिया, सोसियोलॉजिकल बुलेटिन*, अंक 22.

— नरेश गोस्वामी

भारतीय समाजशास्त्र-2

(Indian Sociology-2)

भारत में समाजशास्त्र के अध्ययन की स्थिति, दशा और दिशा को लेकर विद्वानों के बीच एक आंतरिक संवाद काफ़ी पहले से चलता रहा है। इस संवाद के सूत्रों को व्यवस्थित ढंग से रखें तो कुछ अहम चीजें देखी जा सकती हैं। मसलन, जब भारतीय समाजशास्त्र की सीमाओं की बात की जाती है तो उसके पीछे मूल तर्क यह होता है कि उसमें शोध की दृष्टि, प्रविधि, अनुशासनगत संकल्पनाएँ, अवधारणाएँ आदि एक ढर्रे में क़ैद हो गयी हैं। इसी के साथ देशज समाज-विज्ञानों की पैरवी करने वाले विद्वत्समूह की ओर से एक तर्क यह भी दिया जाता है कि भारतीय समाजशास्त्र पश्चिम की ज्ञानशास्त्रीय समझ और अवधारणाओं द्वारा बनायी गयी लकीर पर चलता रहा है इसलिए वह भारतीय समाज की समकालीन और इस नाते नयी जटिलताओं व संदर्भों से कट गया है। एक मत के अनुसार भारतीय समाजशास्त्र ज्ञान का खोखला, अनुगामी तथा चुप्पा अनुशासन बनता गया है। यह आकलन थोड़ा सा अतिरंजित और निर्मम भले ही लगे पर इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि एक अनुशासन के रूप में भारतीय समाजशास्त्र अपनी सम्भावनाएँ खँगालने से पहले ही ठिठक गया है। कहा जाता है कि समाजशास्त्र के पठन-पाठन और ज्ञान राशि के रूप में उसने जिस बौद्धिकता को जन्म दिया है उसका सार्वजनिक सरोकारों से कोई गहरा जुड़ाव नहीं है। शायद इसीलिए बहुत से विद्वानों का मानना है कि समाजशास्त्र के अनुशासन को ऊर्जस्वित करने का जतन लाज़िमी तौर पर इस बात से जुड़ता है कि उसके सैद्धांतिक साहित्य के साथ-साथ पूर्ववर्ती विद्वानों, अध्यापकों तथा उसकी भविष्यगामी सम्भावनाओं पर पुनः विचार किया जाए। इसके लिए नये प्रश्न सोचने होंगे तथा अनुशासन को नया अमल देने के लिए नयी संरचनाओं की खोज करनी होगी। लेकिन आगे बढ़ने से पहले यह जायजा लिया जाए कि भारतीय समाजशास्त्र को लेकर ये चिंताएँ कहाँ से और कैसे उपजती हैं

भारत में समाजशास्त्रीय तथा सामाजिक-मानवशास्त्रीय ज्ञान के संकलन का काम लगभग सौ साल पहले शुरू हुआ था। सौ साल की इस यात्रा में उसके कुछ उजले पक्ष भी हैं लेकिन यात्रा के उत्तरार्ध में यह ज्ञान गहरी जड़ता और दोहराव में फँसता चला गया है। भारतीय समाजशास्त्र की एक बड़ी विलक्षणता यह मानी जा सकती है कि यहाँ मानवशास्त्र की बुनियाद खासी मज़बूत रही है। इसके अलावा हम मानवशास्त्र का एक देशज विधान गढ़ने में भी सफल रहे हैं। उसने औपनिवेशिक दस्तावेजों की प्रचुरता

का समुदाय के अध्ययन में बहुत बढ़िया इस्तेमाल किया है। इसके साथ कई तरह की अकादमिक और प्रशासनिक संस्थाओं के सहयोग तथा विषयगत प्रकाशित सामग्री की भी भारतीय समाजशास्त्र के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका रही है। लेकिन दूसरी तरफ, इस अनुशासन के साहित्य, ज्ञानशास्त्र और बृहत्तर समाज से उसका जुड़ाव खासा अपर्याप्त रहा है। कई सारे थीम, विषय और मुद्दे ऐसे हैं जिन पर शोधकर्ताओं का ध्यान ही नहीं जाता। कुल मिलाकर देखा जाए तो समाज-विज्ञान के अन्य अनुशासनों के मुकाबले भारतीय समाजशास्त्र नयी और तुलनात्मक सैद्धांतिकी तैयार नहीं कर पाया है।

इस संदर्भ में भारतीय समाजशास्त्र के शुरुआती इतिहास पर नजर डालें तो यह बात और बेहतर ढंग से समझी जा सकती है। डी.पी. मुखर्जी के भारतीय संस्कृति और समाज, आर.के. मुखर्जी के अंतरविषयक शोध, वेरिअर एल्विन द्वारा आदिवासी समुदायों की समृद्ध संस्कृति के विशद अध्ययन, एम.एन. श्रीनिवास द्वारा सामाजिक शोध के क्षेत्र में देशज सूचनाकर्ता द्वारा खुद के समाज और संस्कृति को समझने की शुरुआत तथा आंद्रे बेते के जाति-वर्ग के महती विश्लेषण के बाद भारतीय समाजशास्त्र में कोई बड़ी वैचारिक प्रस्थापना दिखायी नहीं देती। इसी क्रम में देखें तो एम एन श्रीनिवास द्वारा सृजित नये अवधारणात्मक पदों जैसे संस्कृतीकरण और वर्चस्वशाली जाति आदि के बाद ऐसे कोई नये पद अस्तित्व में नहीं आये हैं जिनसे भारतीय समाज के निर्णायक सांचों और रुझानों को समझने में मदद मिलती हो। समाजशास्त्र में अवधारणाओं और सैद्धांतिकी का यह टोटा इस तरह भी देखा जा सकता है कि इतिहास अध्ययन के क्षेत्र में इस बीच सबआल्टर्न धारा तथा राजनीति विज्ञान में उत्तर-औपनिवेशिक दृष्टि ने एक स्थाई जगह और वैधता हासिल की है जिनकी बिना पर इतिहास, राजनीतिक और सांस्कृतिक अध्ययन को एक नया संदर्भ और दिशा मिली है। इन वैचारिक धाराओं से उक्त अनुशासनों में नये विषयों, मुद्दों और शोध के नये क्षेत्रों का विस्तार हुआ है। कुछ सीमाओं के बावजूद इस नयी सैद्धांतिकी ने इन अनुशासनों में बरसों से जमी विद्वता को चुनौती देते हुए उन्हें बहुलता का समावेश करने के लिए भी मजबूर किया है।

इतिहास और राजनीतिक विज्ञान जैसे अनुशासनों के बरक्स भारतीय समाजशास्त्र खण्डित और कमजोर नजर आता है। सामयिक बदलावों को समझने के लिए वह अभी तक कोई लहजा तैयार नहीं कर सका है। सैद्धांतिकी, शोध प्रविधि तथा प्रस्थापनाओं के स्तर पर भी उसकी कोई मुकम्मल पहचान क्रायम नहीं हो पायी है। इस संबंध में भारतीय समाजशास्त्र तथा मानवशास्त्र की सबसे अहम कमजोरियों में उनके सांस्थानिक संदर्भ, ज्ञान के सृजन पर सवार राजनीति, अनुशासन के पाठयक्रम तथा ज्ञानशास्त्र,

मैथडोलॉजी के नाम पर सीमित औजार, कुछ सिद्धांत और पद्धति की जकड़बंदी और आखिर में खुद समाजशास्त्रियों की आस-पड़ोस या राष्ट्रीय स्तर की सार्वजनिक बहसों के प्रति उदासीनता या उनमें शिरकत न कर पाने की अक्षमता आदि को शामिल किया जा सकता है।

विद्वानों का एक समूह सामाजिक विज्ञानों में ज्ञान के सृजन से जुड़ी समस्याओं के लिए संस्थाओं में पैबस्त क्षेत्रीय और सार्वभौमिक के विभाजन, फ़ैकल्टी के अकादमिक रुझान पर इस विभाजन के असर, तथा घिसे-पिटे नियमों को ज़िम्मेदार मानता है। समस्याओं की यह निरंतरता संस्थाओं की कार्य-प्रणाली में भी देखी जा सकती है।

समाजशास्त्रीय ज्ञान के सृजन में फ़िलहाल छह-अंतर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय, भारतीय विश्वविद्यालय (केंद्रीय एवं क्षेत्रीय), भारतीय समाज-विज्ञान अनुसंधान परिषद् द्वारा सहायता प्राप्त संस्थान, एंथ्रोपोलोजिकल सर्वे ऑफ़ इण्डिया तथा ग़ैर-सरकारी संगठन आदि सक्रिय हैं। इस तथ्य पर अलग से ध्यान देना जरूरी है कि इन संस्थाओं द्वारा सृजित समस्त ज्ञान में पारिभाषिक और सर्वोच्च ज्ञान अमेरिका और इंग्लैण्ड के विश्वविद्यालयों के विभागों द्वारा सृजित ज्ञान ही माना जाता है। और यह बात यहीं तक सीमित नहीं रहती अंततः इन संस्थाओं से निसृत सैद्धांतिकी, विचार और श्रेणियाँ ही निर्णायक प्रस्थापनाएँ बन जाती हैं।

दिल्ली विश्वविद्यालय तथा आईसीएसएसआर की संस्थाओं से सम्बद्ध कुछ समाजशास्त्रियों और क्षेत्रीय विश्वविद्यालय के कतिपय विद्वानों ने नये विषयों और नयी दृष्टि से काम शुरू किया है। इसी तरह आईसीएसएसआर के दिल्ली, कलकत्ता और सूरत के संस्थानों का ज्ञान सृजन के संदर्भ में मौलिक योगदान माना जाता है।

इन संस्थानों को छोड़ दिया जाए तो ज़्यादातर क्षेत्रीय विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र के अध्ययन-अध्यापन और शोध की दशा बदतर ही कही जाएगी। मसलन, ऐसे केंद्रों में समाजशास्त्र लम्बे समय से रुटीनी व्यवस्था और नौकरशाही की उदासीनता का शिकार है। क्या और कैसे पढ़ाया जाए यह किसी उत्साही अध्यापक और शोधकर्ता का सवाल तो हो सकता है वर्ना अमूमन इस बात को लेकर वहाँ बहुत चिंता नहीं की जाती कि ज्ञान सृजन के संदर्भ में विभाग क्या योगदान दे रहे हैं। एक तो इन जगहों पर अमूमन शोध और प्रकाशन को प्रोत्साहन ही नहीं दिया जाता, फिर ऐसे में जिस तरह का शोध होता है वह सतही विश्लेषण और परिप्रेक्ष्य की तंगनज़री के कारण स्थानीय विषयों का बही-खाता सा बन जाता है। ऐसा नहीं है कि वहाँ शोध के नये क्षेत्रों के बारे में जानकारी न रहती हो लेकिन अकादमिक नौकरशाही का रवैया उन्हें टालने का होता है। मसलन, क्षेत्रीय विश्वविद्यालय में स्थानीय अर्थव्यवस्था, सामाजिक-सांस्कृतिक संस्थाओं,

नयी अर्थव्यवस्था के प्रभाव, गतिशीलता, समाज में राजनीतिक और आर्थिक पुनर्गठन के मद्देनजर पुरानी संस्थाओं में आये बदलाव जैसे विषयों पर सार्थक काम किया जा सकता है। परंतु इस दिशा में इक्का-दुक्का उदाहरण ही मिलता है। इस रूटीनीकरण का परिणाम यह हुआ है कि जो विभाग क्षेत्रीय आँकड़ों और सूचनाओं का स्रोत और उन्हें आधार बनाकर नयी पाठ्य-पुस्तकें तैयार करके नये विचारों के वाहक बन सकते थे, वे इस भूमिका के लिए तैयार ही नहीं दिखते।

संस्थागत जकड़नों से अलग भारतीय समाजशास्त्र का एक संकट संदर्भ-पुस्तकों और पाठ-सामग्री की अंतर्वस्तु और परिप्रेक्ष्य का भी है। पाठ्यक्रम की समीक्षा का ढाँचा कुछ इस तरह केंद्रीकृत है वह अक्सर प्रदत्त विषयों पर ही अटका रहता है। इसका दूरगामी असर यह होता है कि पाठ्य-क्रम में स्थानीय संदर्भों को विश्लेषित करने वाली सामग्री शामिल ही नहीं की जाती। यह इसलिए भी होता है, क्योंकि पाठ्य-क्रम निर्धारण के केंद्रीकृत और रूटीनी ढाँचे में इस बात की सम्भावना बहुत कम होती है कि ऐसे किसी कार्य को पाठ्यक्रम का हिस्सा बनाया जाएगा। स्नातक और उससे बड़ी कक्षाओं के लिए तैयार पाठ-सामग्री साल दर साल उन्हीं अवधारणाओं के सहारे चली जाती हैं। इनमें बहुत सी सूचनाएँ न केवल पुरानी बल्कि ग़ैर-जरूरी भी होती हैं। इन्हें पढ़कर छात्रों को अपने क्षेत्र, समय और समाज की सच्चाई और जटिलताओं को समझने में कोई मदद नहीं मिलती। इसके अलावा पाठ्य पुस्तकों का अभाव और क्षेत्रीय भाषाओं में उपलब्ध सामग्री के प्रति बेरुखी, आपस में मिल कर छात्रों को इस बात के लिए स्थाई तौर पर मजबूर किये रहती हैं कि वे अपना काम दायम दर्जे की सामग्री से ही चलाते रहें। इस रूटीनी पाठ-सामग्री जिसे गाइड आदि के नाम से जाना जाता है, ने छात्रों और अध्यापकों की कल्पनाशीलता को इस तरह हर लिया है कि उन्हें यह एहसास तक नहीं होता कि स्थानीय भाषा में भी स्तरीय सामग्री की खोज की जा सकती है।

अंग्रेज़ी के वर्चस्व और पश्चिम से ली गयी सैद्धांतिकी की आलोचना का एक पक्ष लगभग नियमित तौर पर मौजूद रहा है। यह बात बाक्रायदा प्रमाणों के उद्धरणों सहित कही जाती है कि समाजशास्त्रीय साहित्य देशज ज्ञान-परम्परा में मौजूद सामाजिक-राजनीतिक अवधारणाओं का उपयोग करने, समाजशास्त्र के मौजूदा ढाँचे के बरक्स या उसकी जगह देशज प्रस्थापना, विचार, और सिद्धांत खड़ा करने में अक्षम रहा है। कुछ विद्वानों ने विकल्प की पेशबंदी के तौर पर सुझाव तो जरूर दिये हैं लेकिन ऐसा नहीं लगता कि उनकी बात दूर तक पहुँची हो। देशज विकल्प को मूर्त करने के लिए अभी तक न व्यवस्थित सैद्धांतिक विश्लेषण सामने

आया है और न ही विद्वानों का समूह अध्ययन के ऐसे क्षेत्रों को चिन्हांकित कर पाया है जिनसे उनका विशिष्ट परिप्रेक्ष्य उभरता हो।

शिकागो विश्वविद्यालय के मानवशास्त्रियों ने भारत का देशज समाजशास्त्र गढ़ने की दिशा में एक प्रयत्न किया था जिसे बहुत स्वीकार्यता नहीं मिल पायी। कई विद्वानों ने इस प्रयास की सीमाओं की ओर इशारा करते हुए कहा है कि भारत की समकालीन संस्कृतियों को केवल क्लासकीय और वह भी सांख्य दर्शन की रचनाओं के सहारे समझना अपर्याप्त योजना है। इस धारा के आलोचकों का तर्क है कि राजनीतिक-आर्थिक संदर्भों को सांस्कृतिक श्रेणियों के अधीन रख कर देखना शिकागो स्कूल की एक ऐसी बुनियादी अक्षमता है जिसे नजरअंदाज़ नहीं किया जा सकता। ऐसे प्रयासों की विफलताओं को देख कर अनेक विद्वान यह भी कहते हैं कि देशज समाज-विज्ञानों की अस्पष्ट ज़िद पकड़ने के बजाय समूचे समाज-विज्ञान की दिशा व ज्ञानशास्त्र को इस तरह संयोजित किया जाए कि समाजशास्त्र अपने मौजूदा ढर्रे की जड़ताओं और अंध-बिंदुओं से निजात पाकर आत्मसजग, संवेदनशील और ज़्यादा प्रातिनिधिक बन सके।

वैचारिकी की सीमाओं के अलावा भारतीय समाजशास्त्र के शोध का भौगोलिक संदर्भ भी संकुचित और असंतुलित रहा है। अगर अध्ययन के भौगोलिक क्षेत्र पर निगाह डाली जाए तो यह जाहिर होता है कि अधिकांश अध्ययन दिल्ली की 200 किलोमीटर की परिधि और राज्यों के हिसाब से तमिलनाडु, गुजरात, केरल और पश्चिम बंगाल आदि तक सीमित रहा है। उल्लेखनीय है कि शोध-अध्ययन के इस भूगोल में देश के उत्तर पूर्वी राज्यों, आंध्र प्रदेश, कर्णाटक, मध्य प्रदेश, ओडीशा, राजस्थान और उत्तर प्रदेश के अंदरूनी इलाकों पर कम ध्यान दिया गया है। इसी तरह एक दौर में पंजाब क्षेत्र औपनिवेशिक प्रशासकों का प्रिय विषय रहा था। लेकिन बाद में वह समाजशास्त्रियों के नज़रों से गायब होता चला गया। पिछले तीन दशकों में वहाँ खालिस्तान जैसा पृथकतावादी आंदोलन उभरा और खत्म हो गया, हरित क्रांति की चमक धुंधली पड़ गयी लेकिन इन विषयों पर कोई व्यवस्थित अध्ययन सामने नहीं आया। शोध के संदर्भ में यह उदासीनता इस तरह भी देखी जा सकती है कि इस बीच देश के विभिन्न राज्यों में आर्थिक और सामाजिक विकास की गति अलग-अलग रही है, परंतु इस अंतर को शोध के स्तर पर समझने के प्रयास कुछ ख़ास नहीं कहे जा सकते।

भारत के समाज-विज्ञानों में अंतर-अनुशासनात्मक दृष्टि का शुरु से ही अभाव रहा है। समाजशास्त्र भी इसका अपवाद नहीं है। लेकिन इस बीच इतिहास और मानवशास्त्र, पर्यावरण के विषयों के बीच आवाजाही बढ़ रही है। जेंडर और दलित अध्ययन से मुख्यधारा के समाजशास्त्र को चुनौती

मिल रही है। हालाँकि चिकित्सा समाजशास्त्र/मानवशास्त्र के क्षेत्र में काम का परिमाण तो बहुत नहीं कहा जा सकता लेकिन वह बेशक एक नये सिलसिले की शुरुआत है। पिछले कुछ वर्षों में विज्ञान अध्ययन के अंतर्गत कृषि पूँजी तथा बायो-टैक्नॉलॉजी और पूँजी आदि विषयों पर महत्वपूर्ण कार्य हुआ है। लेकिन दिक्कत यह है कि समाजशास्त्र ऐसे अध्ययनों के प्रति संवादपरक रुख नहीं अपना रहा है। अगर समाजशास्त्रियों का रवैया थोड़ा खुला हो तो समकालीन भारत के अनेक मुद्दों को अंतरविषयकता के ऐसे वृहद सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य में रखकर समझना खासा सार्थक हो सकता है।

जाति-विषयक अध्ययन में एक खास तरह की दृष्टि को भारतीय समाजशास्त्र की जड़ता का स्थाई उदाहरण माना जा सकता है। विद्वानों के अनुसार सामाजिक परिवर्तन पर अतिरिक्त जोर दिये जाने के कारण भारतीय समाजशास्त्र में उन स्थाई सांस्कृतिक संरचनाओं की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया जिनके कारण तमाम बदलावों के बावजूद जाति की अहमियत बदस्तूर कायम है। अभी जबकि भारत में सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन के स्वरूप का ही पर्याप्त अध्ययन उपलब्ध नहीं है तो ऐसे में कुछ विद्वानों का संस्कृति के क्षेत्र में उभरे नये रुझानों को वैकल्पिक या क्षेत्रीय आधुनिकता बताना थोड़ी सी जल्दबाजी ही कही जाएगी। गैर-पश्चिमी अनुभवों और प्रवृत्तियों को आधुनिकता के खण्डन शास्त्र से जोड़कर देखना बेशक एक स्वागतयोग्य पहल है लेकिन उसे आधुनिकताओं की बहुलता का नारा देने से इन सामाजिक-सांस्कृतिक बदलावों के खास तर्क को समझने में मदद नहीं मिलती। इस संबंध में सामाजिक-सांस्कृतिक बदलावों की इस जटिलता पर अलग से ध्यान केंद्रित किया जाना चाहिए कि वे पूरी तरह न आधुनिकीकरण की ओर जाते हैं न निपट पश्चिमीकरण की ओर। इसके विपरीत उक्त बदलावों में जाति, धर्म और जातीयता की परम्पराएँ एक बहुलतावादी जीवन-संसार के आसंग के रूप में दिखायी देती हैं। लिहाजा ऐसे में उन्हें किसी तरह की आधुनिकता मानने के बजाय खुद इस बात की पड़ताल की जानी चाहिए कि बदलाव के इन रूपों को ही किस सीमा तक आधुनिक कहा जा सकता है।

भारत के इन जाति-विषयक अध्ययनों के बारे में यह बात लगातार दोहरायी जाती है कि प्रचुरता के बावजूद अंततः उनका जोर जाति की विलक्षणता पर ही रहता है। संक्षेप में कहें तो ऐसे अध्ययनों का निष्कर्ष यह रहता है कि एक संस्था, संरचना और विभाजक के तौर पर जाति ही भारतीय समाज का पारिभाषिक संदर्भ है। इसे एक तरह का अकादमिक असंतुलन कहा जाएगा कि भारतीय समाज-विज्ञान पर उस समूह का ही वर्चस्व रहा है जो जाति को

भारतीय समाज का सबसे विलक्षण तत्त्व मानता रहा है। इसका परिणाम यह हुआ है कि एक संदर्भ के तौर पर न केवल वर्ग की अवधारणा नेपथ्य में चली गयी है बल्कि बहुत से अन्य ज्वलंत विषय भी समाजशास्त्रीय कल्पना से छूट गये हैं। मसलन, समाजशास्त्र में शहरी अध्ययन का रुझान तो शुरू हुआ है लेकिन उसके चलते ग्रामीण मुद्दे पार्श्व में चले गये हैं। इसी तरह प्राथमिक शिक्षा को लेकर सार्वजनिक सरोकार और चिंताएँ तो बढ़ी हैं परंतु समाजशास्त्रीय अध्ययन के स्तर पर स्कूलों और शिक्षा व्यवस्था को संस्था के तौर पर देखने का काम सीमित ही कहा जा सकता है।

इस क्रम में दूसरा प्रसंग व विज्ञान के प्रौद्योगिकी के अध्ययन का लिया जा सकता है। राष्ट्र निर्माण और विकास की प्रक्रिया के तौर पर इस क्षेत्र में चंद्रमा अभियान, नाभिकीय कार्यक्रम, संकर बीजों और फसलों को वैधता देने की महाकाय परियोजनाएँ चल रही हैं। लेकिन इन कार्यक्रमों की व्यावहारिकता, महत्त्व और प्रभाव को लेकर मौजूदा समाजशास्त्र सक्रिय नहीं दिखायी दे रहा।

अंततः इस विवरण के बाद यह देखा जा सकता है कि भारतीय समाजशास्त्र को अपनी सीमाएँ खोलने यानी भारतीय समाज की बहुलताओं को अध्ययन क्षेत्र में लाने के लिए कई प्रस्थान बिंदुओं को चिह्नित करना होगा।

पहले तो शोध के अंतर्गत नये भौगोलिक क्षेत्रों और विषयों का विस्तार करना होगा ताकि उसमें देश और जनता की समकालीन परिस्थितियाँ प्रगट हो सकें। दूसरे, शोध कार्य में बहुलतावादी पद्धतियों का सूत्रपात करना होगा। तीसरे, समाजशास्त्रीय लेखन में भारतीय भाषाओं को प्रोत्साहन देने के अलावा उन भाषाओं में उपलब्ध सामग्री को स्रोत के रूप में समाहित करना होगा। चौथे, शोध संस्थाओं और विद्वानों के बीच सहयोग, सहकार और तालमेल का माहौल तैयार करना होगा।

देखें : इरावती कर्वे, जातियों का राजनीतीकरण, जाति और जाति-व्यवस्था-1, 2, 3 और 4, गोविंद सदाशिव घुर्गे, त्रिलोकी नाथ मदन, प्रभुत्वशाली जाति, भारतीय समाजशास्त्र-1 और 2, मैसूर नरसिम्हाचार श्रीनिवास, देवकी जैन, धीरूभाई शेट, धूर्जटि प्रसाद मुखर्जी, नीरा देसाई, राधा कमल मुखर्जी, योगेश अटल, वेरियर एलविन, संस्कृतीकरण, श्यामा चरण दुबे-1 और 2.

संदर्भ

1. शिव विश्वनाथन (2006), 'ऑफिशियल हेजेमनी ऐंड कंटेस्टिंग प्लूरलिज्म', गुस्तावो रिबेरा और आर्तुरो एस्कोबार (सम्पा.), *वर्ल्ड एंथ्रोपोलॉजीज़ : डिसिप्लिनरी ट्रांसफ़ॉर्मेशन विदिन सिस्टम्स ऑफ़ पॉवर*, बर्ग पब्लिकेशंस, ऑक्सफ़र्ड.
2. सैयद फ़रीद अलातास (1983), *ऑन द इण्डिजिनाइजेशन ऑफ़ एकेडेमिक डिस्कॉर्स, ऑल्टरनेटिव्ज़*, खण्ड 18 अंक 3.

3. वीणा दास (2003), 'सोशल साइंस ऐंड द पब्लिक', (सम्पा.), ऑक्सफर्ड इण्डिया कम्पैनिअन टू सोसियोलॉजी ऐंड सोशल एंथ्रोपोलॉजी, ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
4. सतीश देशपांडे (2006), 'कास्ट इनइक्वलिटी ऐंड सोशियोलॉजी: क्वेश्चन ऑफ़ डिसिप्लिनरी लोकेशन', मैत्रेयी चौधरी (सम्पा.), द प्रैक्टिस ऑफ़ सोसियोलॉजी, ओरिएंट लांगमैन, हैदराबाद.
5. गोपाल गुरु (2002), 'हाउ इगैलिटेरिअन आर द सोशल साइंसेज़ इन इण्डिया', इकोनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली, खण्ड 37, अंक 50.
6. कौंसिल ऑफ़ सोशल साइंस रिसर्च (2007), रिस्ट्रक्चरिंग द आइसीएसएसआर : रिपोर्ट ऑफ़ द कमेटी टू रिव्यू द आइसीएसएसआर, आइसीएसएसआर, नयी दिल्ली.
7. सुजाता पटेल (2007), 'बियॉन्ड बायनरीज : अ केस फ़ॉर सेल्फ-रिफ्लेक्सिव सोसियोलॉजी', करंट सोसियोलॉजी, खण्ड 54, अंक 3.

— नरेश गोस्वामी

भारतीय संविधान-1

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

(Indian Constitution-1)

भारत का संविधान 26 जनवरी, 1950 को लागू हुआ और इसकी रचना एक निर्वाचित संविधान सभा द्वारा तत्कालीन तीन वर्षों (9 दिसम्बर, 1946-26 नवम्बर, 1949) के दौरान की गयी। भारतीय संविधान और संविधान सभा के काम को सही तरीके से समझने के लिए यह आवश्यक है कि संविधान सभा के गठन के पहले के घटनाक्रमों की सही समझ बनायी जाए। इस संदर्भ में सिर्फ तत्कालीन घटनाओं पर नज़र डालने की ही आवश्यकता नहीं है, बल्कि संवैधानिक विकास के महत्वपूर्ण पड़ाव के रूप में काम करने वाले विभिन्न औपनिवेशिक अधिनियमों की समझ भी ज़रूरी है। इसका कारण यह है कि ये विभिन्न औपनिवेशिक अधिनियम उस समय के राजनीतिक आंदोलनों का परिणाम थे और आगे भारतीय संविधान की रूपरेखा तय करने में भी इन्होंने अहम भूमिका निभायी।

ब्रिटिश इण्डिया कम्पनी भारत में सत्रहवीं सदी की शुरुआत में आयी। 1757 तक इसने बंगाल में अपने राजनीतिक पैर जमा लिए। अगले सौ वर्षों के भीतर भारत के दो-तिहाई हिस्से को इसने अपने सीधे नियंत्रण में ले लिया और शेष बचे भाग पर इसका अप्रत्यक्ष नियंत्रण हो गया। 1857 के विद्रोह के बाद ब्रिटिश संसद ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी से भारतीय शासन का अधिकार ले लिया और इसे सीधे तौर पर ब्रिटेन की महारानी के अंतर्गत कर दिया गया।

इसके बाद शासन चलाने के लिए अंग्रेज़ों ने समय-समय पर कई अधिनियम बनाये। 1858 का गवर्नमेंट ऑफ़ इण्डिया ऐक्ट, 1861 का कौंसिल ऐक्ट, 1892 का कौंसिल ऐक्ट, 1909 का मोर्ले-मिंटो सुधार और कौंसिल ऐक्ट, 1919 का गवर्नमेंट ऑफ़ इण्डिया ऐक्ट और 1935 का गवर्नमेंट ऑफ़ इण्डिया ऐक्ट उल्लेखनीय हैं। इस पूरी अवधि के दौरान, खासतौर पर बीसवीं सदी की शुरुआत से भारत में उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन भी चलता रहा जिसके परिणामस्वरूप भारतवासी जोरदारी से 'स्वराज्य' स्थापित करने की माँग करते रहे।

1858 में यह प्रावधान किया गया कि भारत का शासन सेक्रेटरी ऑफ़ स्टेट फ़ॉर इण्डिया द्वारा 15 सदस्यों की एक परिषद् द्वारा चलाया जाएगा। इस परिषद् के सभी सदस्य अंग्रेज़ थे। सेक्रेटरी ऑफ़ स्टेट (या भारत सचिव) ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी था और यह गवर्नर जनरल के माध्यम से भारत का शासन चलाता था। 1861 के अधिनियम में यह प्रावधान किया गया कि देश के शासन के बारे में विधायी स्तर पर फ़ैसला करने वाली समिति में गवर्नर जनरल ग़ैर-सरकारी सदस्यों को भी शामिल कर सकता है। लेकिन इस समिति को कोई खास अधिकार नहीं था। इसके सदस्य गवर्नर जनरल द्वारा मनोनीत होते थे और उसके द्वारा पेश किये गये प्रस्तावों पर अपनी राय देते थे, जिसे गवर्नर जनरल मान सकता था या नकार सकता था। 1892 के ऐक्ट में भारतीय लोगों की भागीदारी को और ज़्यादा बढ़ाया गया। अब भी ग़ैर-सरकारी सदस्यों को मनोनीत करने की व्यवस्था जारी रखी गयी, लेकिन यह प्रावधान भी किया गया कि बहुत ही सीमित मतदाता मण्डल द्वारा कुछ सदस्यों का चुनाव भी किया जा सकता है। निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि भारत के साम्राज्यवादी क़ानूनों में इसी ऐक्ट के साथ भारतीय प्रतिनिधित्व की शुरुआत हुई। लेकिन औपचारिक रूप से 1909 के कौंसिल ऐक्ट द्वारा प्रांतीय और केंद्रीय स्तर पर चुनाव की प्रक्रिया स्थापित की गयी। इसे मोर्ले-मिंटो सुधारों के नाम से भी जाना जाता है, क्योंकि इसे तैयार करने में भारत सचिव लॉर्ड मोर्ले और वायसराय लॉर्ड मिंटो ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। इस अधिनियम की एक अन्य विशेषता यह थी कि इसने मुसलमानों के लिए पृथक मतदाता मण्डल के प्रस्ताव को भी स्वीकार किया। स्थानीय स्तर पर इसे 1893 में ही लागू किया जा चुका था लेकिन अब इसे केंद्रीय स्तर पर लागू किया गया। इसका मूल कारण यह था कि मुसलिम लीग सहित कई दूसरे संगठनों ने इसकी माँग की थी। ऐसा करना अंग्रेज़ों की 'बाँटो और राज करो' नीति के अनुरूप था।

मोर्ले-मिंटो सुधार भारत के राष्ट्रवादियों की अकांक्षाओं को संतुष्ट करने में नाकाम रहा। इस समय तक देश के राजनीतिक असंतोष में भी काफ़ी बढ़ोतरी हो गयी थी।

कांग्रेस, जिस पर लम्बे समय तक नरमपंथियों का कब्जा था, अब कई तरह के आंदोलनों (मसलन होमरूल आंदोलन) के माध्यम से ज्यादा सक्रिय हो गयी थी। इस तरह के राजनीतिक हालत में 20 अगस्त 1917 को ब्रिटिश सरकार ने यह घोषणा की कि 'वह ब्रिटिश साम्राज्य के अभिन्न भाग के रूप में भारत में, धीरे-धीरे उत्तरदायी सरकार की स्थापना करना चाहती है।' इसके बाद भारत सचिव ई.एम.एस. मॉन्टेग्यू और गवर्नर जनरल लॉर्ड चेम्सफ़र्ड को भारत में संवैधानिक सुधार के प्रस्ताव तैयार करने का जिम्मा दिया गया। इनके प्रस्तावों के आधार पर ही भारत शासन अधिनियम (या गवर्नमेंट ऑफ़ इण्डिया ऐक्ट) 1919 तैयार हुआ। इस अधिनियम की विशेषता यह थी कि इसमें प्रतिनिधित्व का स्तर बढ़ाया गया। मसलन, केंद्रीय स्तर पर द्वि-सदनीय विधायिका की व्यवस्था की गयी। इसमें तकरीबन साठ प्रतिशत से भी ज्यादा सदस्यों के चुनाव की व्यवस्था की गयी। लेकिन गवर्नर जनरल इसके प्रति उत्तरदायी नहीं था और सार्वभौम मतदान की भी व्यवस्था नहीं थी। इस अधिनियम की एक अन्य विशेषता 'द्वैध शासन' की स्थापना भी थी। इसमें शासन के विषयों को केंद्रीय और प्रांतीय दो भागों में बाँटा गया और प्रांतीय विषयों को 'स्थानांतरित' और 'आरक्षित' विषयों में बाँटा गया। 'स्थानांतरित' विषयों के बारे में गवर्नर के मंत्री शासन संबंधी फ़ैसला कर सकते थे, जो कि प्रांतीय विधायिका के प्रति जवाबदेह थे। लेकिन गवर्नर जनरल को यह अधिकार था कि वह इन सभी शक्तियों को कभी भी वापस ले सकता था। इसके कारण भारतीय संवैधानिक विकास के संदर्भ में एक मील का पत्थर होने के बावजूद इस ऐक्ट ने वास्तविक अर्थों में भारतीयों को कोई खास शक्ति प्रदान नहीं की।

इस समय तक राष्ट्रीय आंदोलन के बीच भारतवासियों द्वारा अपने लिए अपना संविधान बनाने का विचार भी जोर पकड़ने लगा था। बाल गंगाधर तिलक के निर्देशन में तैयार द कांस्टीट्यूशन ऑफ़ इण्डिया बिल, 1895 संविधान-निर्माण के इतिहास में मील का पहला पत्थर है। इस विधेयक के लेखक का नाम इतिहास को ज्ञात नहीं है। ऐनी बेसेंट ने इसे होम रूल बिल की संज्ञा दी थी। इसके अज्ञात लेखक ने 8 मई, 1895 को भूमिका में कहा था कि उसका मकसद ब्रिटिश हुकूमत से भारतवासियों के लिए कुछ नागरिक अधिकार प्राप्त करना है। विधेयक का मसविदा बनाने में लेखक ने ब्राजील और अमेरिका के संविधानों से मदद ली थी। विधेयक में दिलचस्प उल्लेख था कि जनता द्वारा निर्वाचित सांसद एक बार चुने जाने के बाद आजीवन निर्वाचित समझे जाएंगे। 1906 में कांग्रेस के अध्यक्ष दादाभाई नौरोजी ने सबसे पहले 'स्वराज्य' शब्द का उल्लेख सीमित आजादी के दायरे में ही परिभाषित किया। 1907 की सूरत कांग्रेस में नरम दल और गरम दल के बीच विभाजन मूलतः संवैधानिक आजादी

के सपने को लेकर हुआ। मोर्ले-मिंटो के सुझावों को भारतीय परिषद् अधिनियम, 1909 में शामिल किया गया। 1913 में मुसलिम लीग ने अपने लखनऊ जलसे में स्वराज के विचार का औपचारिक समर्थन किया। प्रथम विश्व-युद्ध के कुछ महीने बाद गोपाल कृष्ण गोखले ने युद्धोत्तर सुधारों के नाम पर एक दस्तावेज़-पॉलिटिकल टेस्टामेंट तैयार किया। इस दस्तावेज़ में भी सम्भावित संविधान रचने के संकेत निहित थे।

अक्टूबर-नवम्बर, 1916 में इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल (केंद्रीय धारा सभा) के 19 सदस्यों ने वायसराय को स्वशासन की परिकल्पना का एक स्मरण-पत्र भेजा। 1916 में कांग्रेस के मंच से जिन्ना ने राष्ट्रीय हित में कांग्रेस के साथ जुड़ कर काम करने के लिए मुसलिम लीग का आह्वान किया। ब्रिटिश मंत्रिमण्डल ने 'स्वशासन' के बदले 'उत्तरदायी शासन' की पैरवी की। भारत के सांविधानिक विकास में इसके बाद मॉन्टेग्यू-चेम्सफ़र्ड प्रतिवेदन का महत्वपूर्ण स्थान है। इसके कारण ही आगे चलकर भारत सरकार अधिनियम, 1919 (गवर्नमेंट ऑफ़ इण्डिया ऐक्ट) रचा गया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस प्रथम विश्व युद्ध के दौरान अधिक सक्रिय रही। उसने स्वराज का अभियान प्रारम्भ किया, जिसे होम रूल आंदोलन कहा गया। इस लोकप्रिय माँग के उत्तर में ब्रिटिश सरकार ने 20 अगस्त, 1917 को यह घोषणा की कि हिज़ मैजेस्टी की सरकार की नीति 'यह है कि प्रशासन की प्रत्येक शाखा में भारतीयों को अधिकाधिक सम्मिलित किया जाए और धीरे-धीरे स्वतंत्र संस्थाओं का विकास किया जाए, जिससे ब्रिटिश साम्राज्य के अविभाज्य अंग के रूप में ब्रिटिश-भारत में उत्तरदायी सरकार की स्थापना की जा सके।' लेकिन भारत शासन अधिनियम, 1919 द्वारा भारत की जनता की आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं हुई। 1919 में कांग्रेस के बाहर तेज बहादुर सप्रू और ऐनी बेसेंट ने मिलकर द कॉमनवेल्थ ऑफ़ इण्डिया विधेयक के नाम से एक औपचारिक दस्तावेज़ उपलब्ध करवाया। धारा सभा के सदस्य मोतीलाल नेहरू ने इस प्रस्ताव की मूल बातों को ध्यान में रखते हुए एक वैकल्पिक प्रस्ताव प्रस्तुत किया। बाद में उनकी ये माँगें 'नैशनल डिमांड' के नाम से मशहूर हुईं। इसके तत्काल बाद ब्रिटिश हुकूमत ने एलेक्जेंडर मूडीमेन की अध्यक्षता में एक सुधार जाँच समिति गठित की। उसे गवर्नमेंट ऑफ़ इण्डिया ऐक्ट, 1919 पर लगभग पुनर्विचार ही करना था। समिति ने 3 दिसम्बर, 1924 को अपनी यथास्थिति समर्थक रिपोर्ट सौंपी।

1922 में गाँधी ने रेखांकित किया कि सिर्फ़ भारतीयों को ही भारत की राजनीतिक क्रिस्मत के बारे में फ़ैसला लेने का हक है। राष्ट्रीय आंदोलन के बढ़ते प्रभाव को सीमित करने एवं लोगों की आकांक्षाओं को संतुष्ट करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने 1927 में साइमन कमीशन का गठन किया। चूंकि इस कमीशन में कोई भी भारतीय सदस्य नहीं



भारतीय संविधान सभा (9 दिसम्बर, 1946-26 नवम्बर, 1949)

था इसलिए कांग्रेस सहित अधिकांश प्रमुख दलों ने इसका विरोध किया। इन दलों ने मोतीलाल नेहरू के नेतृत्व में एक सर्वदलीय समिति का गठन किया, जिसने 1928 में अपनी रिपोर्ट के माध्यम से भारतीयों के लिए वैकल्पिक संविधान की रूपरेखा रखी। बाद में, इसकी कुछ सिफारिशों से असहमति होने के कारण मुसलिम लीग ने इसे पूरी तरह स्वीकार नहीं किया। लेकिन नेहरू कमिटी की रिपोर्ट भारतीय संवैधानिक विकास के इतिहास में एक महत्वपूर्ण दस्तावेज़ है।

1929 में ब्रिटिश सरकार ने यह घोषणा की कि भारतीय राजनीतिक विकास का उद्देश्य डोमिनियन प्रस्थिति है। आयोग के अध्यक्ष सर जॉन साइमन ने 1930 में अपना प्रतिवेदन सौंपा। उसकी सिफारिशों के बारे में गोलमेज़ सम्मेलनों (1930-32) में विचार किया गया। इन सम्मेलनों में गाँधी, आम्बेडकर, मदनमोहन मालवीय जैसे नेताओं ने भागीदारी की। लंदन में जनवरी में बुलायी गयी गोलमेज़ परिषद् के अंतिम दिन 19 फ़रवरी, 1931 को ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने नीति विषयक वक्तव्य दिया। इसके तारतम्य में मशहूर गाँधी-इरविन समझौता किया गया। यद्यपि ब्रिटिश लेबर पार्टी की पराजय के कारण गोलमेज़ परिषद् का विमर्श गोलमाल हो गया। उसके बाद 1931 की कराची कांग्रेस संवैधानिक आंदोलन के इतिहास में घुमावदार मोड़ पर गड़े मील के पत्थर की तरह याद की जाती रहेगी।

गोलमेज़ परिषद् की परिणति पर घाव पर नमक छिड़कने के अंदाज़ में मार्च, 1933 में ब्रिटिश सरकार ने भारत में प्रस्तावित संवैधानिक सुधारों को लेकर अपने काले इरादों

का श्वेत पत्र प्रकाशित किया। उसे कुछ संशोधनों के साथ भारत शासन अधिनियम, 1935 के रूप में पारित किया गया। उसमें भारतीय नरेशों का दखल बढ़ाने का कुचक्र था। कांग्रेस के पार्श्व संगठन स्वराज पार्टी ने एम.ए. अंसारी की अध्यक्षता में 3 मई, 1934 की बैठक में इसे रद्द कर दिया और संविधान सभा के गठन की माँग की। यह देश की ओर से पहली प्रत्यक्ष माँग थी। 17-18 जून, 1934 को कांग्रेस कार्य समिति ने भी ऐसी ही माँग की। संयुक्त संसदीय समिति की सिफारिशों को रद्द करते हुए कांग्रेस ने 5-6-7 दिसम्बर 1934 को पटना में यह माँग की कि संविधान रचना के लिए संविधान सभा का गठन ही एकमात्र विकल्प है। यही बात कांग्रेस के उनचासवें अधिवेशन में 12-14 अप्रैल, 1936 को दोहरायी गयी। अपने ऐतिहासिक भाषण में 27 दिसम्बर, 1936 को फ़ैज़पुर कांग्रेस के अध्यक्ष जवाहरलाल नेहरू ने संविधान सभा के गठन की पुरजोर माँग की। इसके अनुरूप अगस्त से अक्टूबर, 1937 के बीच कांग्रेस शासित बिहार, बम्बई, मध्य प्रांत, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश, पश्चिमोत्तर सीमांत प्रदेश तथा मद्रास के अतिरिक्त सिंध की विधान सभाओं ने 1935 के अधिनियम को वापस लेते हुए संविधान सभा के गठन के निर्णय पर स्वीकृति की मुहर लगायी। सुभाष चंद्र बोस की अध्यक्षता में हरिपुरा कांग्रेस में भी माँग एक बार फिर रखी गयी। इस माँग को प्रांतीय विधान सभाओं में 1939 को फिर पारित किया गया। 15 नवम्बर, 1939 को चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ने गोपाल कृष्ण गोखले के तर्ज़-ए-बयाँ पर एक विचारपत्र जारी किया।

1937 का चुनाव आज़ादी और संविधान के संदर्भ में मील का पत्थर साबित हुआ। इस चुनाव में विधान सभाओं

की 492 मुसलिम सीटों में मुसलिम लीग को 109 सीटें मिलीं। कांग्रेस ने उत्तर प्रदेश में 228 सदस्यों के सदन में 135 सीटें जीत ली थीं। उसने मिली-जुली सरकारों के प्रस्ताव को नामंजूर कर दिया। इस रुख के बाद 'इस्लाम खतरे में है' का नारा पहली बार राजनीतिक मंच पर गूँजा। अभियान का सीधा परिणाम यह हुआ कि कुछ ही दिनों के बाद हुए मुसलिम निर्वाचन क्षेत्रों के उपचुनावों में कांग्रेस उम्मीदवारों की क्ररारी हार हुई। विधायिकाओं में प्रतिनिधित्व के सवाल पर लंदन की गोलमेज़ परिषद् में सहमति नहीं बनी। उसका फलितार्थ यह हुआ कि ब्रिटिश प्रधानमंत्री रैम्से मैकडोनाल्ड ने अप्रैल 1932 में (कुप्रसिद्ध हो चुका) कम्युनल एवार्ड दिया। एवार्ड में यह प्रावधान था कि मुसलमानों, युरोपियों, सिक्खों, भारतीय ईसाइयों और एंग्लो इण्डियनों को अलग क्षेत्रों से प्रतिनिधित्व दिया जाए यहाँ तक कि तत्कालीन बम्बई प्रांत में मराठों को भी चुने हुए क्षेत्रों में आरक्षण दिया गया। दलितों के लिए भी आरक्षित सीटों की घोषणा की गयी, जिनमें केवल वे ही वोट कर सकते थे। अलबत्ता उन्हें सामान्य सीटों में भी मतदान का अधिकार दिया गया। दलितों के लिए पृथक मतदाता-मण्डल की व्यवस्था को गाँधी ने एक विभाजनकारी षडयंत्र घोषित करते हुए इसके खिलाफ आमरण अनशन शुरू कर दिया। दूसरी तरफ़ आम्बेडकर इस घोषणा को दलितों के राजनीतिक हक़ के लिए बुनियादी क़दम के रूप में देख रहे थे। दूसरी ओर, गाँधी का यह मानना था कि इससे भारतीय समाज में हमेशा के लिए विभाजन की दीवार खड़ी हो जाएगी और अछूत समुदाय अलग-थलग पड़ जाएंगे। आखिरकार आम्बेडकर गाँधी के आमरण अनशन के दबाव में 'पूना पैक्ट' पर हस्ताक्षर करने के लिए तैयार हो गये। भारतीय संवैधानिक विकास के संदर्भ में पूना पैक्ट काफ़ी महत्वपूर्ण है क्योंकि इसमें दलितों के लिए प्रतिनिधित्व के स्तर पर और नौकरियों आदि में आरक्षण देने के विचार को स्वीकार कर लिया गया। इसके अतिरिक्त कम्युनल एवार्ड में स्त्रियों, व्यापारिक और औद्योगिक हितों, खदानों और भूपतियों के लिए भी विशेष सीटें तय की गयी। इस कथित आरक्षण के अतिरिक्त गर्वनों को यह विशेष दायित्व दिया गया कि वे यह सुनिश्चित करें कि अल्पसंख्यक वर्ग विधायिकाओं में तयशुदा प्रतिनिधित्व के साथ-साथ शैक्षणिक, आर्थिक और अन्य जनकल्याणकारी शासकीय योजनाओं का पूरा लाभ उठायें।

1940 में इंग्लैण्ड में बहुदलीय सरकार ने पहली बार इस सिद्धांत को स्वीकार किया कि भारत के लिए नया संविधान भारत के लोग ही बनायेंगे। 23 मार्च, 1940 का वह दिन कैलेंडर की सतरों पर आया जब मुसलिम लीग के लाहौर अधिवेशन में स्वतंत्र पाकिस्तान के निर्माण का प्रस्ताव पारित किया गया। उपरोक्त प्रस्ताव में तब तक 'पाकिस्तान' शब्द का उल्लेख नहीं हुआ था। हिंदू-मुसलिम सामासिक एकता

की राजनीतिक बलि मार्च 1940 में चढ़ी। 6 अगस्त, 1940 को वॉयसराय लिनलिथगो ने मुसलमानों को ठोस और सीधा आश्वासन देते हुए कहा कि ब्रिटेन ऐसी किसी भारतीय संस्था को सत्ता हस्तांतरित नहीं करेगा जो राष्ट्रीय जीवन के शक्तिशाली तत्त्वों की अनदेखी करे। सेक्रेटरी ऑफ़ स्टेट एमरी ने तो इससे भी आगे बढ़कर कहा कि भारत में संवैधानिक गतिरोध ब्रिटिश हुकूमत और भारतीय राजनीतिज्ञों के बीच उतना नहीं है, जितना राष्ट्रीय जीवन के मुख्य घटकों के बीच। कैबिनेट मिशन के 16 मई, 1946 के वक्तव्य में एक दुर्बल केंद्र और मजबूत राज्यों की अवधारणा गूँथी गयी।

विश्व-युद्ध के दौरान मार्च, 1942 में जापान भारत के द्वार तक पहुँच गया था। तब सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स को (जो मंत्रिमण्डल के एक सदस्य थे) ब्रिटिश सरकार के प्रस्तावों की घोषणा के प्रारूप के साथ भारत भेजा गया। ये प्रस्ताव (युद्ध की समाप्ति पर) अंगीकार किये जाने वाले थे, बशर्ते दो प्रमुख राजनीतिक दल (कांग्रेस और मुसलिम लीग) उन्हें स्वीकार करने के लिए सहमत हो जाते। क्रिप्स के 1942 के प्रस्तावों में अल्पसंख्यकों के हितों की सुरक्षा को राजनीतिक सत्ता के हस्तांतरण का आधार बनाते हुए बहुत से सुरक्षात्मक उपाय गूँथे गये थे। संविधान के गठन को लेकर क्रिप्स की कोशिशें अपनी ऐतिहासिक भूमिका के लिए याद की जाती रहेंगी। अमेरिकी राष्ट्रपति रूज़वेल्ट के विशेष दूत लुई जॉनसन ने 3 अप्रैल, 1942 को दिल्ली में यह कहा कि यदि भारत मित्र-राष्ट्रों की मदद करे और खुद को जापान से अलग रखे तो रूज़वेल्ट भारत को आज़ादी देने के मामले में चर्चिल को प्रभावित करने का प्रयास कर सकेंगे। आनन-फानन में जवाहरलाल नेहरू और जॉनसन के बीच हुई बैठक में रूज़वेल्ट के लिए फ़ॉर्मूला बनाया गया।

बम्बई के ऐतिहासिक कांग्रेस अधिवेशन में 9 अगस्त 1942 को 'अंग्रेज़ो भारत छोड़ो' नारा बुलंद किया गया। अंग्रेज़ आज़ादी तो दूर संविधान सभा के गठन तक में छल किये पड़ा था। शीर्ष नेताओं की गिरफ़्तारियों के बाद तेज बहादुर सप्रू ने सितम्बर 1942 में देश के कुछ प्रमुख व्यक्तियों की बैठक के विमर्श को ब्रिटिश प्रधानमंत्री चर्चिल को भेजा गया, परंतु वह कूड़ेदान में फेंक दिया गया। राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के सपने को साकार करने की जिद की वजह से भारत-पाक विभाजन की पृष्ठभूमि सुदृढ़ होती चली गयी। गाँधी के भारत-पाक विभाजन रोकने के सारे प्रयत्न विफल रहे। सर्वदलीय सम्मेलन में तेज बहादुर सप्रू की अध्यक्षता में संविधान सभा निर्मित करने की एक और असफल कोशिश की गयी। भूलाभाई देसाई और लियाक़त अली ख़ान ने मिल कर एक और समझौता फ़ॉर्मूला निकाला, लेकिन खुद जिन्ना और लियाक़त अली ख़ान ने बाद में इस योजना को रद्द कर

दिया। ग़ैरदलीय सम्मेलन की स्थाई समिति ने नवम्बर 1944 में सर तेज बहादुर सप्रू की अध्यक्षता में संवैधानिक प्रस्ताव देने के लिए एक और समिति गठित की। यही पृष्ठभूमि थी जिसमें ब्रिटेन की लेबर सरकार ने सितम्बर, 1945 में यह घोषणा की कि वह भारत में संविधान निर्मात्री संस्था की परिकल्पना कर रही है और उसके गठन के लिए सर्दियों में ही चुनाव कराये जाएंगे। चुनाव की तारीखों और नीति की घोषणा वाइसराय लार्ड वैवेल ने आकाशवाणी दिल्ली से 19 सितम्बर, 1945 को की। कांग्रेस हर क़ीमत पर संविधान सभा के गठन के लिए ज़िद किये बैठी थी। वहीं दूसरी ओर जिन्ना के नेतृत्व में मुसलिम लीग ने यह ठान रखा था कि वह संविधान सभा के बहाने आज़ाद हिंदुस्तान में कांग्रेसी अर्थात् हिंदू हुकूमत को किसी भी क़ीमत पर नहीं आने देगी। भले ही भारत में ब्रिटिश राज क़ायम रहे।

— कनक तिवारी

भारतीय संविधान-2

संविधान सभा

(Indian Constitution-2)

जनवरी, 1946 को ब्रिटेन के संसदीय शिष्टमण्डल की भारत यात्रा के दो माह बाद ब्रिटिश सरकार ने भारत में कैबिनेट मिशन को भेजा। विफल हो जाने पर ब्रिटिश मंत्रिमण्डल ने अपने तीन सदस्य एक और गम्भीर प्रयत्न करने के लिए भेजे। इनमें क्रिप्स भी सदस्य थे। यह प्रतिनिधिमण्डल भी दोनों प्रमुख राजनीतिक दलों के बीच सहमति लाने में असफल रहा। परिणामस्वरूप उसे अपने ही प्रस्ताव रखने पड़े जिनकी भारत और इंग्लैण्ड में एक साथ घोषणा की गयी। कैबिनेट मिशन के प्रस्तावों में भारत का संघ बनाने और उसका विभाजन करने को लेकर समझौते का प्रयत्न किया गया। मिशन ने पृथक संविधान सभा और मुसलमानों के लिए पृथक राज्य के दावे को स्पष्टतः नामंजूर कर दिया। जिस स्कीम की सिफ़ारिश उन्होंने की, उसमें मुसलिम लीग के दावे में निहित सिद्धांत को लगभग स्वीकार कर लिया गया। 16 मई, 1946 को कैबिनेट मिशन की योजना को सार्वजनिक किया गया। उसके अनुसार भारत में संविधान निर्माण की प्रक्रिया को अंतिम रूप दिया गया। कैबिनेट मिशन की योजना को जिन्ना ने इसलिए स्वीकार किया, क्योंकि उसमें पाकिस्तान के निर्माण का स्वप्न साकार होता दिखाई दिया।

यह उल्लेखनीय है कि 1946 की शुरुआत में हुए

प्रांतीय चुनावों में कुल वयस्क लोगों के 28.5 प्रतिशत भाग ने ही अपने मताधिकार का प्रयोग किया था। कांग्रेस को 1946 के प्रांतीय चुनावों में ज़बरदस्त सफलता मिली थी और विभाजन के बाद मुसलिम लीग के सदस्यों की संख्या कम होने का फ़ायदा भी कांग्रेस को मिला। इन चुनावों में मुसलिम लीग को अधिकांश प्रांतों में अधिकांश मुसलिम सीटों पर जीत मिली और कुछ प्रांतों में तो इसने सभी मुसलिम सीटों पर जीत हासिल कर ली। कांग्रेस को पूरे देश के कुल 58 प्रतिशत सीटों पर जीत मिली, लेकिन ग़ैर-मुसलिम सीटों में से 85 प्रतिशत सीटों पर जीत मिली। कैबिनेट मिशन योजना के अनुरूप प्रांतीय विधानसभाओं के सदस्यों ने अप्रत्यक्ष तरीक़े से संविधान सभा के सदस्यों का चुनाव किया। स्पष्ट है कि संविधान सभा के सदस्य सीधे तौर पर जनता द्वारा नहीं चुने गये थे। हर भारतीय राज्य या राज्य के समूह को उसकी जनसंख्या के अनुपात में संविधान सभा में प्रतिनिधित्व दिया गया। इस संदर्भ में मोटे तौर पर दस लाख लोगों पर एक प्रतिनिधि के चुनाव का फ़ार्मूला अपनाया गया। हर प्रांत में सीटों को तीन मुख्य श्रेणियों में बाँटा गया— मुसलिम, सिक्ख और सामान्य; फिर जनसंख्या में इनके अनुपात के हिसाब से इनके लिए सीटें तय की गयीं। प्रांतीय विधानमण्डलों में हर समुदाय के प्रतिनिधियों ने आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली द्वारा अपने समुदाय से संविधान सभा के सदस्यों का चुनाव किया। साथ ही, यह भी तय किया गया कि रजवाड़ों से विचार-विमर्श के बाद उनकी तरफ़ से संविधान सभा में प्रतिनिधित्व के मसले को हल किया जाएगा। रजवाड़ों संविधान सभा में अपने सदस्य मनोनीत किये। 3 जून 1947 को भारत विभाजन की घोषणा हो जाने के बाद पाकिस्तान के लिए अलग संविधान सभा बनी। अविभाजित भारत के जो भाग पाकिस्तान के सदस्य बन गये, वहाँ से चुने गये भारतीय संविधान सभा के सदस्यों की सदस्यता ख़त्म हो गयी। अब भारतीय संविधान सभा में कुल 299 सदस्य बचे, जिसमें से 229 प्रांतों से चुने गये थे और 70 सदस्य भारतीय रजवाड़ों से संबंधित थे।

कैबिनेट मिशन की योजना के अनुसार जुलाई और अगस्त, 1946 में संविधान सभा के सदस्यों का चुनाव हुआ। औसतन दस लाख व्यक्तियों पर एक प्रतिनिधि चुना गया। प्रांतीय विधानसभाओं के गठन में लगभग 28.5 प्रतिशत मतदाताओं ने ही मत दिये थे। मुसलमानों को 78, सिक्खों को चार और सामान्य वर्ग को 210 सीटें आवंटित की गयी। तीस ग़ैर-कांग्रेसियों को भी उनकी गुणवत्ता के आधार पर पार्टी का टिकट देकर निर्वाचित किया गया। इस निर्णय के अनुसार पूर्व नौकरशाह गोपालस्वामी आयंगर, सर्वेंट्स ऑफ़ इण्डिया सोसाइटी के अध्यक्ष हृदयनाथ कुंजरू, प्रसिद्ध वकील अलादि कृष्णास्वामी अय्यर, प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री एच.सी. मुखर्जी और विख्यात दार्शनिक डॉ. राधाकृष्णन चुन लिए गये। संविधान

की प्रारूप समिति के सात सदस्यों में केवल के.एम. मुंशी और टी.टी. कृष्णामाचारी कांग्रेस के सदस्य थे। मोहम्मद सादुल्ला मुसलिम लीग के और अलादि कृष्णास्वामी अय्यर, माधवराव तथा डी. पी. खेतान निर्दलीय सदस्य थे। समिति के अध्यक्ष डॉ. भीमराव आम्बेडकर भी निर्दलीय सदस्य थे। ये सभी लोग वर्षों तक कांग्रेस की नीतियों और राजनीति के कटु आलोचक भी रह चुके थे। आम्बेडकर ने तो अपने निर्वाचन पर आश्चर्य भी व्यक्त किया।

संविधान सभा पर जो आग्रह छाया हुआ था वह था मजबूत केंद्र का। इसके पीछे कई कारण थे। मुसलिम लीग और जिन्ना का विभाजक दृष्टिकोण और उससे उपजी साम्प्रदायिक हिंसा तो थी ही। बंगाल और बिहार में हुए नरसंहार को नेहरू और राजेंद्र प्रसाद ने खुद अपनी आँखों से देखा था। इसके अतिरिक्त देसी रियासतों के शासकों तथा तेलंगाना विद्रोह (1948) आदि ने सरकार के सामने असरकारी खतरे उपस्थित किये थे। उत्तर-पश्चिम की सरहद पर पाकिस्तान की शह के कारण कश्मीर में घुसपैठियों का जमावड़ा हो रहा था। संविधान सभा का यह भी विचार था कि देश की आर्थिक प्रगति किसी केंद्रीकृत प्राधिकार के हवाले की जाए, जो योजनाओं, कृषि के आधुनिक उत्पादन प्रयोगों, यातायात और संचार माध्यमों, बड़े तथा छोटे उद्योगों, विद्युत ऊर्जा और तकनीकी प्रगति की समन्वित संरचना करे। नेहरू ने जुलाई 1946 में प्रांतों के समूहीकरण को लेकर अपने विवादास्पद भाषण में कहा, 'मजबूत केंद्र की व्याप्ति भले ही सीमित हो। वह उपजती ही है क्योंकि इसके बिना कोई विकल्प नहीं है।'

संविधान सभा में डा. राजेंद्र प्रसाद को अध्यक्ष निर्वाचित करने के बाद जवाहरलाल नेहरू के हाथों 13 दिसम्बर, 1946 को संविधान की उद्देशिका का प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया। उद्देशिका-भाषण उतना ही महत्वपूर्ण था जितना 15 अगस्त, 1947 को लाल किले की प्राचीर से दिया गया स्वतंत्रता-संदेश। अक्टूबर, 1947 से फ़रवरी, 1948 तक संविधान की प्रारूप समिति इस ऐतिहासिक दस्तावेज़ का मजमून लिखने में व्यस्त रही। ब्रिटिश और अमेरिकन संविधानों सहित गवर्नमेंट ऑफ़ इण्डिया एक्ट, 1935 से प्रेरणा ली गयी। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने संविधान सभा के निर्वाचन के लिए उम्मीदवार चुनने का यह कठोर मानक सिद्धांत बनाया था कि उसे स्वाधीनता आंदोलन का महत्वपूर्ण सिपाही होना चाहिए। कुछ दिग्गजों को अपने अपने प्रदेशों से भेजने के लिए निर्देश जारी करने के अतिरिक्त कांग्रेस ने ख्याति प्राप्त बुद्धिजीवियों अलादि कृष्णास्वामी अय्यर, हृदयनाथ कुंजरू, एन. गोपालस्वामी आयंगर, डॉ. आम्बेडकर, के. सन्थानम, एम. आर. जैकब, सच्चिदानंद सिन्हा और कांग्रेस विमुख कांग्रेसी के एम. मुंशी को संविधान

सभा की सदस्यता दिलाने के लिए व्हिप जारी किये।

भारत की संविधान सभा में कांग्रेस का जबरदस्त वर्चस्व था। संविधान सभा में कांग्रेस के जबरदस्त बहुमत का कारण यह था कि उसे 1946 के प्रांतीय चुनावों में भारी सफलता मिली थी। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि कांग्रेस ने प्रांतीय स्तर की इकाइयों को यह छूट दी कि वह संविधान सभा के लिए सदस्यों का चुनाव करे। लेकिन उसने कई ग़ैर-कांग्रेसी सदस्यों के संविधान सभा में प्रवेश को सुनिश्चित करने की भी कोशिश की। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि खुद नेहरू ने गाँधी की सलाह पर डॉ. भीमराव आम्बेडकर को संविधान सभा का सदस्य बनने और प्रारूप समिति का काम देखने के लिए आमंत्रित किया था। कांग्रेस नेतृत्व ने यह भी कोशिश की कि संविधान सभा में सभी अल्पसंख्यक समुदाय के लोगों को प्रतिनिधित्व मिले। यहाँ गौरतलब है कि तीन प्रमुख दलों सोशलिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी और हिंदू महासभा का संविधान सभा में कोई औपचारिक प्रतिनिधित्व नहीं था। बहरहाल, कुछ घोषित मार्क्सवादी और फ़ारवर्ड ब्लॉक जैसे दल के प्रतिनिधि संविधान सभा के भाग थे। इसी तरह, यद्यपि हिंदू महासभा संविधान सभा का भाग नहीं बनी लेकिन इससे विचारधारात्मक रूप से काफ़ी करीब माने जाने वाले डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी संविधान सभा के सदस्य बने। इसी तरह कई सदस्य हिंदुत्ववादी रुझान से प्रेरित थे। सोशलिस्ट पार्टी 1948 तक कांग्रेस के भीतर ही वामपंथी खेमे के रूप में काम करती थी। लेकिन कांग्रेस से अलग होने से पहले ही इसने यह तय कर लिया कि वह इस संविधान सभा का सदस्य नहीं बनेगी। बाद में, पार्टी के भीतर संविधान सभा में शामिल होने के मुद्दे पर विवाद भी रहा। नेहरू के कहने पर जयप्रकाश नारायण ने अपनी पार्टी के कुछ ऐसे सदस्यों की सूची भेजी जो संविधान सभा के सदस्य हो सकते थे। लेकिन चूँकि संविधान सभा अपना काम शुरू कर चुकी थी, इसलिए इन सदस्यों को सभा में समायोजित करना मुमकिन नहीं था। बहरहाल, कुछ समय बाद सोशलिस्ट पार्टी ने यह प्रस्ताव पारित कर दिया कि संविधान सभा भंग कर दी जानी चाहिए और इसकी जगह नयी संविधान सभा का चुनाव होना चाहिए।

संविधान सभा में कुल 15 से भी ज्यादा समितियाँ थीं। लेकिन इनमें से आठ समितियाँ काफ़ी महत्वपूर्ण थीं : नियम, स्टीयरिंग, सलाहकार, प्रारूप, संघीय विषय, संघीय संविधान, प्रांतीय संविधान और राज्य। इन समितियों में कुल तीन दर्जन सदस्य थे। जवाहरलाल नेहरू, वल्लभभाई पटेल, राजेन्द्र प्रसाद, अबुल कलाम आजाद और भीमराव आम्बेडकर ने इन समितियों में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। इन समितियों ने विभिन्न विषयों से जुड़े तमाम पहलुओं पर गहराई से विचार करने के बाद उसे पूरी संविधान सभा के सामने रखा। इससे विभिन्न विषयों पर गहराई से विचार करने में काफ़ी मदद

मिली। संविधान में मूल अधिकारों के रूप में व्यक्तियों और समूहों के लिए कुछ बुनियादी अधिकार सुनिश्चित किये गये। इस संदर्भ में उल्लेखनीय बात यह है कि संविधान सभा ने समाज अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए प्रतिनिधित्व के स्तर पर और नौकरियों आदि में आरक्षण के स्पष्ट प्रावधान किये। संविधान ने अनुसूचित जनजातियों के जीवन की स्वायत्तता को क्रायम रखने और सामुदायिक अधिकार देने के लिए विशेष प्रावधान किये। छठी अनुसूची उत्तर-पूर्व के राज्यों से संबंधित है। संविधान ने यहाँ लोगों को जिला परिषदों के माध्यम से अपनी स्वायत्ता क्रायम रखने का अधिकार दिया। इसी तरह, पाँचवीं अनुसूची में भी लोगों के जीवन के स्वायत्त रूप को सुनिश्चित करने के लिए यह प्रावधान किया गया कि राज्यपाल इस क्षेत्र की विशिष्टता को ध्यान में रखते हुए यहाँ विभिन्न केंद्रीय और राज्य स्तरीय कानूनों को लागू करने से मना कर सकता है। इस तरह, संविधान और संविधान सभा ने हर तबके के हितों की ओर ध्यान दिया और गहरे विचार-विमर्श के बाद उसके लिए ठोस प्रावधान किये।

ग्रेनविले ऑस्टिन ने भारतीय संविधान सभा के कार्यों का परीक्षण करते हुए यह रेखांकित किया है कि इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इसने आम-सहमति से अपने अधिकांश फैसले किये। ऑस्टिन के अनुसार, कांग्रेस अपने बहुमत के बल पर अपने मन के मुताबिक संविधान बना सकती थी। लेकिन इसके नेताओं ने हर पहलू पर खुलकर बहस होने दी और मतदान से फैसला करने के बजाय, आम-सहमति से फैसले को वरीयता दी। कांग्रेस नेताओं ने ग़ैर-कांग्रेसी नेताओं के विचारों को भी समायोजित करने की कोशिश की। ऑस्टिन यह भी मानते हैं कि भारतीय संविधान में बहुत सी चीजें बाहर से ली गयीं। लेकिन संविधान निर्माताओं ने बहुत ही गम्भीरता से और हर पहलू पर ग़ौर करने के बाद ही किसी भी प्रावधान को संविधान में शामिल किया।

शिवानी किंकर चौबे ने संविधान सभा के काम पर आलोचनात्मक तरीके से विचार करते हुए यह तर्क दिया है कि संविधान सभा का काम अपने समय की राजनीतिक स्थितियों, खासतौर पर देश के बँटवारे से बहुत ज्यादा प्रभावित हुआ। चौबे ग्रेनविले ऑस्टिन के इस तर्क को स्वीकार नहीं करते कि संविधान सभा की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इसने आम-सहमति से अपने फैसले लिए। चौबे मानते हैं कि दरअसल तत्कालीन स्थितियों के कारण कई मसलों पर वैचारिक मतभेदों को ज्यादा तूल नहीं दिया गया; इनके अनुसार, संविधान सभा ने आम-सहमति के बजाय समायोजन की रणनीति का सहारा लिया। यानी कांग्रेस ने अपने विरोधियों की कुछ बातों को भी समायोजित करने की कोशिश की, लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि वह

उनसे सहमत थी। तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति और सामाजिक शक्तियों के प्रभाव के कारण ही संविधान ने बहुत से ऐसे मसलों को अनसुलझा छोड़ दिया, जो राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान काफ़ी महत्वपूर्ण थे। इस संदर्भ में भूमि सुधार और भाषाई राज्यों के गठन जैसे मुद्दों को रेखांकित किया जा सकता है। कांग्रेस के वाम-रुझान वाले नेता भूमि सुधारों को प्राथमिकता देते थे। लेकिन संविधान सभा ने इस बारे में कोई स्पष्ट फैसला नहीं लिया। इसके विपरीत संविधान ने लोगों को सम्पत्ति अधिकार दे दिये जिससे ज़मीन के पुनर्वितरण का लक्ष्य और मुश्किल हो गया। चौबे के अनुसार भाषाई राज्यों के बारे में भी संविधान सभा में कोई स्पष्ट फैसला नहीं लिया गया, जबकि कांग्रेस 1920 से भाषाई आधार पर अपने प्रांतीय संगठनों को गठित करती आ रही थी।

दूसरी ओर, राजीव भार्गव ने संविधान सभा के काम पर तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक शक्तियों की तुलना में इसमें सामने आने वाले मानकीय राजनीति सिद्धांत के मुद्दों से संबंधित वाद-विवाद को महत्वपूर्ण मानते हैं। इनका मानना है कि भारतीय संविधान सभा की बहस भारत के राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान विभिन्न मुद्दों और विभिन्न राजनीतिक धाराओं के नेताओं के इन विचारों को समझने का एक बेहतरीन आधार उपलब्ध कराती है। इनके अनुसार, संविधान सभा के वाद-विवाद में कम-से-कम पाँच तरह के विजन या परिकल्पनाओं के बीच टकराव को देखा जा सकता है : पहली, नेहरू की सामाजिक-उदारवादी परिकल्पना, दूसरी आम्बेडकर की उदारवादी-लोकतांत्रिक परिकल्पना। ये दोनों परिकल्पनाएँ एक दूसरे से नज़दीकी रूप से जुड़ी हुई थीं। तीसरी, गाँधी की ग़ैर-उदारवादी और अर्ध-समुदायवादी परिकल्पना थी। चौथी के. टी. शाह जैसे लोग थे, जिन्होंने रैडिकल रूप से समतावादी परिकल्पना पेश की और उनका विचार वामपंथी परिकल्पना के काफ़ी नज़दीक था और पाँचवीं परिकल्पना हिंदुत्व की विचारधारा के नज़दीक थी। भार्गव इन्हीं पाँच आधारों पर संविधान सभा के काम और उसमें सामने आये मुद्दों पर राजनीतिक सिद्धांत के नज़रिये से विचार करने पर ज़ोर देते हैं। बहरहाल, संविधान सभा के कार्य और इसके सदस्यों की राजनीति के बारे में भार्गव के इस वर्णन पर कई लोगों ने बिल्कुल ही अलग तरह से विचार किया है। बहरहाल, भारतीय संविधान के अध्ययन में भार्गव का योगदान यह है कि इन्होंने संविधान सभा की बहसों को राष्ट्रीय आंदोलन की विरासत से जोड़ते हुए इसे मानकीय और देशज राजनीतिक सिद्धांत के आधार के तौर पर रेखांकित किया।

बहरहाल, संविधान सभा की कार्य प्रणाली की कई स्तरों पर आलोचना हुई है। मसलन, इसने बहुत से औपनिवेशिक कानूनों को क्रायम रखा। इस तरह के कानूनों

में भारतीय दण्ड संहिता और भारतीय वन क़ानून 1927 शामिल थे। ख़ासतौर पर वन क़ानून की वैधता क़ायम रखने का अर्थ था जंगल में बसे आदिवासियों को औपनिवेशिक क़ानून और वन विभाग जैसी संस्था के भरोसे छोड़ देना। दूसरा, संविधान में गांधीवादी मूल्यों की पूरी तरह अवहेलना की गयी। पंचायती राज का प्रावधान नीति निर्देशक सिद्धांतों की श्रेणी में शामिल किया गया, लेकिन यह मात्र दिखावा ही था। असल में, संविधान-सभा में एक मज़बूत और केंद्रीकृत राष्ट्र-राज्य के निर्माण के बारे में तक्ररीबन आम-सहमति थी।

— कनक तिवारी

भारतीय संविधान-3

उद्देशिका : लोकतंत्र, समाजवाद और सेकुलरवाद
(Indian Constitution-3)

संविधान की मौजूदा उद्देशिका में भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न, समाजवादी, सेकुलर, लोकतंत्रात्मक गणराज्य बनाने का दृढ़ संकल्प व्यक्त किया गया है। समाजवाद और सेकुलर शब्दों को बयालीसवें संशोधन द्वारा 1976 में जोड़ा गया था। इस उद्देशिका का मूल पाठ इस तरह था, 'हम भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न, लोकतंत्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए, तथा उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने के लिए तथा उन सबमें व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता और अखण्डता सुनिश्चित करने वाली बंधुता बढ़ाने के लिए दृढ़ संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में आज तारीख 26 -11-1949 (मिति मार्गशीर्ष शुक्ल सप्तमी, संवत् दो हजार छह विक्रमी) एतद् द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।' बयालीसवें संशोधन में 'प्रभुत्व सम्पन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य' के बदले तीन जनवरी, 1977 से प्रभुत्व सम्पन्न 'समाजवादी पंथनिरपेक्ष लोकतंत्रात्मक गणराज्य' जोड़ा दिया गया है। उद्देशिका संबंधी मूल प्रस्ताव में जवाहरलाल नेहरू ने भाव विह्वल होकर भारत के मेहनतकश किसानों और मज़दूरों के सपनों का हिंदुस्तान बनाने का रोमांटिक आह्वान किया था। नेहरू के ऐतिहासिक उद्देश्य-संकल्प को संविधान सभा ने 22 जनवरी, 1947 को अंगीकार किया। नेहरू के शब्दों में उपर्युक्त विचार-दर्शन 'संकल्प से कुछ अधिक है। यह एक घोषणा है, एक दृढ़

निश्चय है, एक प्रतिज्ञा है, एक वचन है और हम सभी के लिए यह एक समर्पण है।'

नेहरू ने संविधान सभा में उद्देशिका संबंधी प्रस्ताव जब प्रस्तुत किया तब उसमें लोकतंत्र जैसे शब्द का उल्लेख नहीं था। संविधान सभा की पूरी वर्ज़िश भारत को एक प्रभुत्वसम्पन्न गणतंत्र बनाने की थी। नेहरू ने लोकतंत्र शब्द को उद्देशिका में न रखने की सफ़ाई भी दी थी। भारत को शुरू से छोटे-छोटे गणतंत्रों या रिपब्लिक का समुच्चय कहा जाता रहा है। यूनानी दार्शनिक प्लेटो ने भी इसी तरह के किसी रिपब्लिक की परिकल्पना की थी। गाँधी को अंग्रेज़ी शब्द 'डेमोक्रेसी' के हिंदी अनुवाद के रूप में 'लोकतंत्र' नाम का शब्द अच्छा लगता था। गाँधी समझते थे कि भारत में राजनीतिक दृष्टि से आज़ाद लोगों का कोई नागर समाज नहीं रहा है। इसके बरक्स हिंदुस्तान में छोटी-बड़ी रियासतों अर्थात् सामंतवादी हुकूमतें रही हैं। इनकी रियाया अर्थात् प्रजा पूरे देश में सांस्कृतिक और धार्मिक आधार पर इस क्रूर एकजुट रही है कि वह अपनी-अपनी रियासतों के राजनीतिक वजूद का अतिक्रमण करते हुए एक तरह की भारतीय प्रजा बनी रही है। उसकी नियामक शक्ति धर्म और संस्कृति रही हैं। नये क्रिस्म की डेमोक्रेसी का उद्भव तो युरोप में हुआ है जहाँ से बालिग मताधिकार के आधार पर देश को चलाये जाने की तहज़ीब भारतीय संविधान में भी गूँथ दी गयी है।

उद्देशिका संविधान की सजावट नहीं, नीति विषयक घोषणा है। नीति निर्देशक तत्त्वों की तरह उद्देशिका को लागू करना संविधान के आदेशों में नहीं है। उद्देशिका दर्शन, सम्भावनाओं और परामर्श का रूपांतरण भर है। फिर भी उच्चतम न्यायालय ने आर.आर. दलवी बनाम तमिलनाडु राज्य वाले मामले में उद्देशिका के आधार पर महत्वपूर्ण निर्णय किया है। उच्चतम न्यायालय ने तमिलनाडु सरकार के हिंदी-विरोधी आंदोलनकारियों को पेंशन स्वीकृत करने वाले आदेश को संविधान की उद्देशिका में वर्णित एकता और अखण्डता के सिद्धांत का उल्लंघन करने के आरोप में निरस्त कर दिया। उच्चतम न्यायालय का यह आदेश अब्राहम लिंकन के उस प्रसिद्ध कथन की याद दिलाता है जिसके अनुसार उन्होंने किसी भी राज्य (प्रदेश) द्वारा संयुक्त राज्य अमेरिका से अलग होने की वृत्ति को राजद्रोह के अपराध के समकक्ष रखा था।

संविधान की मूल उद्देशिका में समाजवाद जैसा शब्द पारित न होने पर भी नेहरू के प्रस्तावों में सामाजिक न्याय के धूमिल संकेत पर कड़ी टिप्पणी करते हुए डॉ. आम्बेडकर ने समाजवाद की साफ़ व्याख्या किये जाने की पुरज़ोर वकालत की थी। आज पढ़ने में उत्तेजक लगता है कि संविधान सभा के एक अल्पनाम सदस्य विष्णुदत्त त्रिपाठी ने कहा था कि संविधान में इस बात का साफ़ उल्लेख होना चाहिए कि राज्य

किसी भी स्थिति में पूँजीवादी विचारधारा के आधार पर स्थापित नहीं किया जाएगा। सोवियत रूस के यू.एस.एस. आर. की तर्ज पर मौलाना हसरत मोहानी ने भारत का नाम यूनियन ऑफ इण्डियन सोशलिस्टिक रिपब्लिक अर्थात् यू.आई.एस.आर. सुझाया था। समाजवाद भारत की उद्देशिका के सात सुरों का शायद सप्तम सुर ही है। संविधान के रचनाकारों के एक बड़े वर्ग की बौद्धिक प्रतिबद्धता समाजवाद के प्रति रही है। इनमें कट्टर मार्क्सवादियों से लेकर प्रतिबद्ध गाँधीवादी-समाजवादी शामिल हैं। इनमें से अधिकांश इंग्लैण्ड के फ़ेबियन या लास्कीवादी समाजवाद से प्रभावित रहे हैं। संविधान सभा के गलियारे में यह अंतर्ध्वनि अब भी गूँजती है कि सरदार पटेल की वजह से नेहरू ने समाजवाद नामक शब्द को उद्देशिका के प्रारूप से हटा दिया था। दस्तावेजों में इस तथ्य का कोई सबूत नहीं है। 1947 तक यह समवेत विचार अभिव्यक्ति के आसमान में बुन गया था कि नागरिकों का कल्याण राज्य की बुनियादी जिम्मेदारी है। मार्क्स, टी.एच. ग्रीन, लास्की, सिडनी एवं बीट्रिस वैब वगैरह के युरोपीय विचार जवाहरलाल नेहरू सहित भारतीय समाजवादी चिंतकों को प्रभावित कर रहे थे। आइवर जेनिंग्स ने *सम कैरेक्टरिस्टिक्स ऑफ़ द इण्डियन कांस्टीट्यूशन* में कहा है कि संविधान के नीति निर्देशक सिद्धांतों वाले परिच्छेद में सिडनी और बीट्रिस वेब के विचारों की प्रेत छाया झिलमिलती रहती है। इस तरह के विचार उन्नीसवीं सदी में विवेकानंद, रमेशचंद्र दत्त और विश्वेश्वरैया के कथनों में गूँजते हैं। चूँकि संविधान सभा के विचारकों के सामने लागू किये जा सकने वाले समाजवाद की तस्वीर बहुत साफ़ नहीं थी। इसलिए समाजवाद की तरह-तरह की प्रजातियों की जानकारी के बावजूद संविधान सभा के सदस्य सीधे-सीधे समाजवाद रोपने के बदले भारत की धरती में उर्वरता के यौगिक पहले बिखेर देना चाहते थे। उनकी दृष्टि में समाजवाद केंद्रीय तत्त्व नहीं था, बल्कि क्रतार के अंत में खड़ा वह व्यक्ति था जिसकी आँख का आँसू पोंछा जाना था।

अधिकृत तौर पर समाजवाद का नारा प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने बुलंद किया था। *आफ़्टर नेहरू हू?* के लेखक वैलेस हैंगन के अनुसार नेहरू ने फ़ेबियन समाजवाद का पाठ कृष्ण मेनन से द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान खंदकों में बैठ कर सीखा था। संविधान के बयालीसवें संशोधन (1976) द्वारा उद्देशिका में समाजवाद शब्द स्थापित करके यह सुनिश्चित किया गया है कि भारतीय राज्य-व्यवस्था का ध्येय समाजवाद है। यह ध्यान देने योग्य है कि भारत के संविधान द्वारा परिकल्पित समाजवाद राजकीय समाजवाद का वह ढाँचा नहीं है जिसमें धन के सभी साधनों का राष्ट्रीयकरण किया जाता है और निजी सम्पत्ति खत्म कर दी जाती है। समाजवाद को उद्देशिका में शामिल करते समय इंदिरा गाँधी ने एक दूसरी प्रधानमंत्रीय व्याख्या की थी। उन्होंने कहा था,

हमने यह सदैव कहा कि हमारा समाजवाद अपने ढंग का है। हम उन्हीं क्षेत्रों में राष्ट्रीयकरण करेंगे, जिनमें हम आवश्यक समझते हैं। केवल राष्ट्रीयकरण हमारा समाजवाद नहीं है।

समाजवाद और सेकुलरवाद अस्पष्ट शब्द हैं। संविधान में इन शब्दों का स्पष्टीकरण नहीं दिया गया है। इसलिए इस अस्पष्टता का हितबद्ध राजनीतिक गुटों द्वारा लाभ उठाया गया है। जनता के मस्तिष्क में भ्रम भी उत्पन्न किया गया है। वांछित स्पष्टीकरण के अभाव में यह विवाद का विषय है कि भारतीय संविधान में 'समाजवाद' का अर्थ 'शोषण से मुक्ति' या राज्य-समाजवाद है या मार्क्सवाद। इसी प्रकार सेकुलरवाद का प्रयोग अनिर्बंधित साम्प्रदायिकता के अस्त्र के रूप में किया जा सकता है या धर्मांधता अथवा धर्माविरोधी रूप में भी इसका प्रयोग हो सकता है। इन शब्दों से संविधान के अनुच्छेदों का अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाता किन्तु इन शब्दों का अर्थ पूर्ववर्ती उपबंधों से समझा जा सकता है। विधिक निर्वचन के सिद्धांत के अनुसार उपबंधों के अर्थ को उद्देशिका से नियंत्रित नहीं किया जा सकता।

संविधान में पंथनिरपेक्ष राज्य का आदर्श रखा गया है। इसका अर्थ है कि राज्य सभी मतों की समान रूप से रक्षा करेगा और स्वयं किसी भी मत को राज्य के धर्म के रूप में नहीं मानेगा। राज्य के इस पंथनिरपेक्ष उद्देश्य को अब विनिर्दिष्ट रूप से उद्देशिका में संविधान (बयालीसवाँ संशोधन अधिनियम) द्वारा पंथनिरपेक्ष शब्द अन्तः स्थापित करके सुनिश्चित किया गया है। संविधान में किसी भी मत को राजकीय चर्च मानने की व्यवस्था नहीं है। ऐसा विश्व के कुछ अन्य संविधानों में भी है। दूसरी ओर उद्देशिका में जिस विशेष धर्म और उपासना की स्वतंत्रता का वचन दिया गया है उसे अनुच्छेद 25 से 28 में धार्मिक स्वतंत्रता से संबंधित सभी नागरिकों के मूल अधिकार के रूप में समाविष्ट करके क्रियान्वित किया गया है। ये अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को धर्म को मानने, आचरण करने और प्रचार करने का अधिकार देते हैं तथा राज्य की ओर से और इसके साथ ही राज्य की विभिन्न संस्थाओं की ओर से सभी धर्मों के प्रति पूर्ण निष्पक्षता सुनिश्चित करते हैं।

भारतीय लोकतंत्र की सफलता का यह एक जगमगाता हुआ उदाहरण है जब कि उसके पड़ोसी पाकिस्तान, बांग्लादेश, श्रीलंका, म्यांमार और नेपाल ने धर्म विशेष को राज्य का धर्म घोषित किया है। कुछ लोग अकारण ही राज्य के सेकुलर या पंथनिरपेक्ष होने का आशय राज्य के धर्म-विरोधी होने से लगाते हैं। संविधान के उद्देश्य स्वतंत्रता, समता और बंधुता फ्रांस की क्रांति के आदर्श रहे हैं। इन आदर्शों ने फ्रांसीसियों में मानवीय उत्साह और उत्सर्ग का संचार किया है। संविधान में परिभाषित 'स्वतंत्रता' का अर्थ सामान्य स्वतंत्रता नहीं है, बल्कि विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास और

उपासना की स्वतंत्रता है। धर्म की स्वतंत्रता का अनुच्छेद 25 का मूल अधिकार किसी भी व्यक्ति अर्थात् गैर-नागरिक को भी दिया गया है। संविधान के मूल निर्माताओं ने उसे उद्देशिका में रखने की जरूरत नहीं समझी थी। उनकी राय में इस देश के नागरिकों को मूल अधिकारों के तहत दी गयी धार्मिक स्वतंत्रता स्पष्ट और पर्याप्त थी।

भारत के पूर्व मुख्य न्यायाधीश रमेशचंद्र लाहोटी ने अपनी पुस्तक *प्रिअम्बल : द स्पिरिट ऐंड बैकबोन ऑफ द कांस्टिट्यूशन ऑफ इण्डिया* में लिखा है कि सेकुलरवाद को समझने के लिए संविधान के इन प्रावधानों को भी समेटकर देखना जरूरी होगा : अनुच्छेद 14 अर्थात् राज्य, भारत के राज्य क्षेत्र में किसी व्यक्ति को विधि के समक्ष समता या विधियों के समान संरक्षण से वंचित नहीं करेगा; अनुच्छेद 15 और 16 में वर्णित सिद्धान्त कि राज्य किसी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्मस्थान या इनमें से किसी के आधार पर कोई विभेद नहीं करेगा; अनुच्छेद 19 और 25 में वर्णित वाक-स्वातंत्र्य संबंधी सभी नागरिकों को प्राप्त मूल अधिकारों का अनुरक्षण किया जाएगा; अनुच्छेद 26, 27 तथा 28 भी इस संदर्भ में प्रसंगिक हैं। इसके अतिरिक्त अनुच्छेद 44 के अनुसार 'राज्य भारत के समस्त राज्य क्षेत्र में नागरिकों के लिए एक समान सिविल संहिता प्राप्त कराने का प्रयास करेगा। संविधान सभा में स्वतंत्र गणराज्य को सेकुलर बनाने के संबंध में व्यापक समर्थन था। अंग्रेजी के सेकुलरिज्म के लिए धर्मनिरपेक्षता के बदले संविधान में 'पंथनिरपेक्षता' शब्द का इस्तेमाल होने के बावजूद उसे नकली धर्मनिरपेक्षता बता कर कई बार जनता के गले उतार दिया जाता है। सेकुलरवाद के समर्थक भी इस संबंध में तात्त्विक बहसों से बचते हुए शुतुरमुर्ग की तरह साम्प्रदायिक आँधी को अपने ऊपर से गुजरते हुए देखने के आदी हो गये हैं। भारतीय संस्कृति और समाज की गुणात्मक समझ के चलते यह उचित है कि सेकुलरवाद को उसके वास्तविक व्याख्यात्मक अर्थों में इस तरह बूझा जाए जिससे संविधान, संस्कृति और धर्म की उपपत्तियों का मजाक न बन जाए। अपनी पुस्तक *कंटेस्टेड मीनिंग्स : इण्डियन नैशनल यूनियटी, हिंदू नेशनलिज्म ऐंड द पॉलिटिक्स ऑफ एंग्जाइटी* में आशुतोष वाष्णीय कहते हैं कि भारत जैसे संस्कृति-बहुल देश में उसकी असली पहचान अर्थात् सेकुलरवाद का चेहरा पीला पड़ गया है और वह थका-थका लगता है। कई बुद्धिजीवियों को सेकुलरिज्म पर बहस करना ठण्डा और उबाऊ लगता है। वे इतना कहकर संतुष्ट हो जाते हैं कि एक बहुलतावादी लोकतंत्र के लिए सेकुलरिज्म एक ठोस राजनीतिक सद्गुण है। गाँधी इस समस्या को बेहतर समझते हैं। गाँधी बाइबिल के गहन अध्येता थे। उनके लिए सर्मन ऑफ दी माउंट गीता के बराबर पवित्र है। दूसरी ओर धर्म-

परिवर्तन के आग्रह की गाँधी ने आलोचना भी की थी। गाँधी राजनीति और धर्म की अंतर्निर्भरता के पक्षधर थे, उसके घालमेल के नहीं। प्रसारवादी उद्देश्यों के लिए किये गये धर्म-परिवर्तन को गाँधी ईश्वर के खिलाफ किया गया अपराध मानते थे। गाँधी ने एक खतरे की ओर इशारा किया था। उन्होंने कहा कि ब्रिटिश हुकूमत धर्म के आधार पर ईसाइयत के पोषण के लिए ज्यादा फ़िक्रमंद है जबकि राज्य का कोई घोषित धर्म या प्रतिबद्धता नहीं होनी चाहिए।

उद्देशिका में भारत के समस्त नागरिकों को प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने का आश्वासन दर्ज है। हर तरह की समता का उल्लेख सकारण है। अमेरिका में काले नागरिक बहिर्वेशन और नस्ली हिंसा के शिकार रहे हैं। भारत में अछूतों पर धार्मिक आधार पर बहिर्वेशन, हिंसा, अन्याय और शोषण थोपा जाता रहा है। अमेरिकी संविधान के चौदहवें संशोधन तथा भारतीय संविधान की रचना द्वारा इन दोनों अभिशापों को खत्म करने का एलान किया गया है। असल में संविधान की उद्देशिका का रसायन उबालते समय अमेरिकी स्वतंत्रता की घोषणा (1776), स्विट्ज़रलैण्ड के संविधान (1874) की उद्देशिका, आयरलैण्ड के संविधान (1937) तथा 1789 में फ्रांस द्वारा की गयी मनुष्य की गरिमा की घोषणा के तत्त्व भारतीय मनीषा की कड़ाही में डाले गये हैं। हमारे संविधान निर्माताओं ने इसके अतिरिक्त जापान के संविधान (1946) का भी अवलोकन किया था। समानता की सामान्य समझ के तहत अनुच्छेद 17 के अनुसार छुआछूत के खात्मे का एलान करके संविधान के मूल अधिकार वाले परिच्छेद ने उद्देशिका को सूचित कर दिया है कि अब सब कुछ समान हो गया है। (अस्पृश्यता का अंत किया जाता है और उसका किसी भी रूप में आचरण निषिद्ध किया जाता है। अस्पृश्यता से उपजी किसी निर्योग्यता को लागू करना अपराध होगा जो विधि के अनुसार दण्डनीय होगा)। संविधान के उद्देश्य-संकल्प में 'बंधुता' का भी उल्लेख किया गया है। संविधान सभा में यह कहा गया था कि आजादी के आंदोलन के दौरान देश के लोगों में बंधुता की जरूरत भारत के इतिहास की भी जरूरत रही है। यह महत्त्वपूर्ण है कि संविधान सभा और आजादी के आंदोलन में देसी राजाओं के प्रतिनिधि और मुसलिम लीग के सदस्यों तथा उस विचारधारा के प्रतिनिधि बहुत कम संख्या में थे जिसे आजकल 'संघ परिवार' कहा जाता है।

भारत ने 1949 में संविधान की रचना के बाद से अपने आपको गणराज्य घोषित किया। फिर भी उसने ब्रिटिश राष्ट्रकुल से अपने सभी संबंध समाप्त नहीं किये। ब्रिटिश राष्ट्रकुल स्वाधीन राष्ट्रों का एक स्वतंत्र संघ हो गया है। यह निर्णय लंदन में 27 अप्रैल, 1949 को प्रधानमंत्रियों के सम्मेलन में लिया गया। इस सम्मेलन में प्रधानमंत्री नेहरू ने यह घोषणा की कि 'भारत के प्रभुत्वसम्पन्न स्वतंत्र गणराज्य

बन जाने के पश्चात भी भारत राष्ट्रकुल का पूर्ण सदस्य बना रहेगा और वह सम्राट के स्वाधीन राष्ट्रों के स्वतंत्र संगम के प्रतीक के रूप में और इस प्रकार राष्ट्रकुल के सदस्य के रूप में स्वीकृति देगा।' कॉमनवेल्थ कथित रूप से उन 52 स्वतंत्र राज्यों का संगठन है जो पहले ब्रिटेन के गुलाम थे। इसमें दो गैर-गुलाम राष्ट्र बाद में जुड़ गये। ये सभी राष्ट्र कॉमनवेल्थ के घोषणा-पत्रों के अनुसार लोकतंत्र, मानव अधिकार, सुशासन, क्रान्तिसम्मत राज्य, व्यक्तिगत आजादी, मुक्त व्यापार, विश्वशांति, समतावाद तथा बहुपक्षीय उद्देश्यों के लिए काम करने पर सहमत हैं। यह राजनीतिक विचारों का खुला मंच नहीं है, बल्कि सरकारों का संगठन है। इसके लिए एक स्थाई सचिवालय बनाया गया है। सबने यह स्वीकार किया है कि इंग्लैण्ड की महारानी एलिजाबेथ द्वितीय इस संगठन की अध्यक्ष रहेंगी। कॉमनवेल्थ के उद्देश्यों को महसूस करने के लिए सबसे ज्यादा जोर हर चौथे वर्ष आयोजित होने वाले खेल हैं। इनके साथ कभी कभी कुछ साहित्यिक, राजनीतिक और क्रान्ती सम्मेलन कर लिए जाते हैं।

संविधान को लेकर एक मिथक और गढ़ा गया है, जो न्यायविदों के जुमलों में निःसृत होता रहता है। वह यह है कि हमारा संविधान भारत की जनता के अनुदेश से लिखा गया है और इसलिए उसे जनसमर्थन प्राप्त है। संविधान की उद्देशिका इसीलिए 'हम भारत के लोग ... इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं' के उद्घोष में डूब जाती है। हमारे संविधान निर्माताओं ने 'हम भारत के लोग' वाला नारा अमेरिकी संविधान के उद्घोष से प्रेरणा लेकर लिखा था। सूक्ष्म पड़ताल से यह निष्कर्ष निकलता है कि भारत की महान जनता को संविधान रचना से कुछ लेना-देना नहीं था। 1935 के गवर्नमेंट ऑफ़ इण्डिया एक्ट की छठी अनुसूची के अनुसार मतदान का अधिकार सीमित लोगों को ही था। भारत के अधिकांश किसान, छोटे दुकानदार और सर्वहारा के लोग टैक्स, सम्पत्ति और शैक्षणिक योग्यताओं की कमी के आधार पर मतदाताओं के रूप में पंजीकृत नहीं थे। इसकी मार्मिक अभिव्यक्ति न्यायाधीश के.के. मैथ्यू ने 1973 के सर्वोच्च न्यायालय के केशवानंद भारती वाले मशहूर मुकदमे में की है। उन्होंने ग्रेनिवले ऑस्टिन और ब्राइस के उद्धरण देते हुए कहा कि यह संविधान ऐसी सभा द्वारा विरचित किया गया जो परिसीमित एकाधिकार के आधार पर प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित की गयी थी और वह सभा देश की जनता के विशाल समूह का प्रतिनिधित्व नहीं करती थी। अधिक से अधिक यह प्रांतों की वयस्क जनसंख्या के 28.5 प्रतिशत का ही प्रतिनिधित्व करती थी। कुछ संविधान निर्माताओं के ये प्राख्यान कि संविधान का जन्म जनता से हुआ है केवल अलंकृत भाषा के रूप में ही लिए जाने चाहिए।

— कनक तिवारी

भारतीय संविधान-4

मूल अधिकार

(Indian Constitution-4)

मूल अधिकारों का मसविदा पेश होने बाद संविधान सभा के सदस्यों ने उसे नैतिक समर्थन तो दिया, लेकिन उन अधिकारों पर व्यापक सामाजिक हित में अंकुश लगाने अथवा उन्हें लौकिक अधिकारों से समायोजित करने की बात कही। सदस्यों ने दार्शनिक बहस करके अमेरिकी संविधान सहित प्राचीन भारतीय न्यायिक उद्धरणों का हवाला दिया। उन्होंने प्रस्तावित मूल अधिकारों के लिए एक ऐसे क्षितिज गढ़ने का आह्वान किया जिसे उन्मुक्त तो समझा जाए, लेकिन वह समाज के गुरुत्वाकर्षण नियम से बेरुख न हो। आमतौर पर यह माना जाता है कि भारतीय संविधान में मूल अधिकारों को संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान की प्रेरणा से शामिल किया गया है। यह बात कुछ हद तक सही है। लेकिन इस संदर्भ में यह तथ्य रेखांकित करने की भी आवश्यकता है कि दरअसल, भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास में मूल अधिकारों पर 1920 के दशक से ही एक तरह से आम-सहमति रही है। नेहरू कमेटी रिपोर्ट (1928) में इसे शामिल किया था और फिर कांग्रेस ने अपने कराँची अधिवेशन (1931) में इसे औपचारिक रूप से स्वीकार किया। इसलिए इसे भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के अनुभवों और वाद-विवाद से सामने आये दस्तावेज की तरह देखना ही मुनासिब होगा। बहरहाल, मूल अधिकारों के संविधान का सबसे महत्वपूर्ण हिस्सा होने के बावजूद इसमें बहुत सारी सीमाएँ लगायी गयी हैं। इसी कारण कई मर्तबा इसकी आलोचना भी की जाती है।

संविधान के भाग-3 में मूल अधिकारों का सात समूहों में वर्गीकरण किया गया था। ये मूल अधिकार हैं : समता का अधिकार, स्वतंत्रता का अधिकार, शोषण के विरुद्ध अधिकार, धर्म की स्वतंत्रता का अधिकार, संस्कृति और शिक्षा संबंधी अधिकार, सम्पत्ति अधिकार और सांविधानिक उपचारों का अधिकार। इनमें से सम्पत्ति का अधिकार 44वें संशोधन अधिनियम द्वारा मिटा दिया गया है। यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि सम्पत्ति का अधिकार शुरू से ही विवादों के घेरे में रहा। यह माना गया कि ज़मींदारी जैसे प्रगतिशील सुधारों को लागू करने के रास्ते में यह बहुत बड़ी बाधा है, क्योंकि ज़मींदार सम्पत्ति अधिकार के नाम पर इस तरह के क़दम को अदालत में चुनौती दे देते थे। आखिरकार 1978 में इसे मूल अधिकारों की श्रेणी से हटा दिया गया। लेकिन छत्रपति सिंह जैसे विद्वान यह मानते हैं कि यह क़दम आदिवासी समूहों के पक्ष में नहीं था क्योंकि अब सरकार द्वारा अपनी ज़मीन या संसाधनों के अधिग्रहण को वे अपने मूल

अधिकारों के उल्लंघन के रूप में नहीं पेश कर सकते हैं।

इन अधिकारों का दूसरा वर्गीकरण उन व्यक्तियों के दृष्टिकोण से हो सकता है जिन्हें ये अधिकार उपलब्ध हैं। कुछ मूल अधिकार केवल नागरिकों को दिये गये हैं : धर्म, मूलवंश जाति, लिंग या जन्म स्थान के आधार पर विभेद की प्राप्ति (अनुच्छेद 15), लोक नियोजन के विषय में अवसर की समता (अनुच्छेद 16), वाक् स्वातंत्र्य, समवेत होने, संगम बनाने, संचरण, निवास और वृत्ति की स्वतंत्रताएँ (अनुच्छेद 19), अल्पसंख्यकों को संस्कृति और शिक्षा संबंधी अधिकार (अनुच्छेद 30)। कुछ मूल अधिकार भारत भूमि पर सभी व्यक्तियों को उपलब्ध हैं, चाहे वे नागरिक हों या विदेशी— विधि के समक्ष समानता और विधि का समान संरक्षण (अनुच्छेद 14), भूतलक्षी विधि के अधीन दोषसिद्धि की बाबत सुरक्षा, दोहरे दण्ड और स्वयं को अपराध में फँसाने के विरुद्ध संरक्षण (अनुच्छेद 20), विधि के प्राधिकार के बिना कार्यवाही के विरुद्ध प्राण और दैहिक स्वतंत्रता का संरक्षण (अनुच्छेद 21), शोषण के विरुद्ध अधिकार (अनुच्छेद 23), धर्म की स्वतंत्रता (अनुच्छेद 25), किसी विशिष्ट धर्म की अभिव्यक्ति में करों के संदाय से स्वतंत्रता (अनुच्छेद 27), राज्य की शिक्षा संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा या धार्मिक उपासना में उपस्थिति होने के बारे में स्वतंत्रता (अनुच्छेद 28)। कुछ मूल अधिकारों की अभिव्यक्ति नकारात्मक है। वे राज्य के विरुद्ध प्रतिषिद्ध हैं। उदाहरण के लिए अनुच्छेद 14 में यह कहा गया है कि 'राज्य-किसी व्यक्ति को विधि के समक्ष समता से वंचित नहीं करेगा'। इसी प्रकार का उपबंध अनुच्छेद 15(1), 16 (2), 18 (1), 20, 22(1), और 28 (1) में है। कुछ अन्य की अभिव्यक्ति सकारात्मक है और वे व्यक्ति को कुछ प्रसुविधाएँ प्रदत्त करते हैं। उदाहरण के लिए अनुच्छेद 25 के अधीन धर्म की स्वतंत्रता का अधिकार और अनुच्छेद 29(1), 30(1) के अधीन संस्कृति और शिक्षा संबंधी अधिकार।

एक और वर्गीकरण इस दृष्टि से किया जा सकता है कि विधायी शक्ति पर विभिन्न मूल अधिकारों ने किस विस्तार तक मर्यादाएँ अधिरोपित की हैं। कुछ मूल अधिकार ऐसे हैं, जैसे अनुच्छेद 21, जो कार्यपालिका के विरुद्ध हैं किंतु जो विधान मण्डल पर कोई मर्यादाएँ नहीं लगाते। उदाहरण के लिए अनुच्छेद 21 केवल यही कहता है कि 'किसी व्यक्ति को उसके प्राण या दैहिक स्वतंत्रता से विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार ही वंचित किया जाएगा, अन्यथा नहीं।' इसके विपरीत दूसरी ओर कुछ मूल अधिकार ऐसे हैं जो विधायी शक्ति पर आत्यंतिक मर्यादाएँ लगाते हैं जिससे विधान मण्डल पर उन अधिकारों के प्रयोग को विनियमित नहीं कर सकते। उदाहरण के लिए अनुच्छेद 15, 17, 18, 20, 24 के अधिकार प्रत्याभूत हैं। इन दो वर्गों के बीच अनुच्छेद 19 द्वारा प्रत्याभूत

अधिकार आते हैं। इस अनुच्छेद में ही विधान मण्डल को लोकहित में उन अधिकारों पर युक्तियुक्त निर्बंधन अधिरोपित करने की शक्ति दी गयी है। संक्षेप में ये आधार हैं— राज्य की सुरक्षा, लोक व्यवस्था, सदाचार आदि।

उपयुक्त सभी अधिकार राज्य के विरुद्ध उपलब्ध हैं। मूल अधिकारों के उल्लंघन के लिए राज्य के विरुद्ध याचिकाएँ दायर की जा सकती हैं। ऐसे अधिकारों का निजी व्यक्तियों द्वारा उल्लंघन होने पर सामान्य विधिक उपचार उपलब्ध होगा, सांविधानिक उपचार नहीं। भाग 3 में सम्मिलित कुछ अधिकार न केवल राज्यों के विरुद्ध उपलब्ध हैं, बल्कि निजी व्यक्तियों के लिए भी हैं। उदाहरण के लिए अनुच्छेद 15(2) (सार्वजनिक समागम के स्थानों में पहुँचने या उनके उपयोग के बारे में समता), अनुच्छेद 23 (मानव के दुर्व्यापार का प्रतिषेध), अनुच्छेद 24 (परिसंकटमय नियोजन में बालकों को लगाने का प्रतिषेध)। भाग 3 के ये उपबंध स्वयं ही स्पष्ट हैं अर्थात् यह अनुच्छेद प्रत्यक्षतः प्रवर्तनीय नहीं हैं। ये तभी प्रवर्तित किये जा सकेंगे जब उन्हें लागू करने के लिए कोई विधि बनायी जाए और उस विधि का उल्लंघन हो।

ब्रिटिश संविधान लिखित नहीं है। संविधान ब्रिटिश परम्पराओं का इतिहास महज़ एक पोथी के जरिये भारत में रूपांतरित नहीं कर सकता। सदियों से राजतंत्र और विदेशियों के कोड़ों से छिल चुकी भारतीय जनता की चमड़ी को विदेशी परम्पराओं की धूमिल याद के बदले टोस शब्दों का आश्वासन चाहिए था। इसलिए संविधान निर्माताओं ने कलाबाजी दिखाते हुए इस नवोन्मेषी प्रकल्प में अमेरिकी संविधान की उद्घोषणाओं को अतिथि भाव से जगह दी। उनकी ताज़ातरीन जानकारी में मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा (1948) का मज़मून हाज़िर था। उसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति की विधि के समक्ष मान्यता और क़ानून की निगाह में बराबरी की स्थिति तथा उसके संरक्षण का उल्लेख था। यह देखना दिलचस्प है कि पश्चिमी जर्मनी (1949) बांग्लादेश (1972) और पाकिस्तान (1973) के संविधानों में केवल यही उल्लेख है कि सभी व्यक्ति विधि के समक्ष समान होंगे। मोटे तौर पर आयरलैण्ड के लिखित संविधान (1937) से भी यही बात ध्वनित होती है। अपनी विख्यात कृति *लॉ ऑफ़ द कांस्टीट्यूशन* में डायसी कहते हैं कि इंग्लैण्ड में विधि के समक्ष समता का सामान्यजन का अधिकार कॉमन लॉ से पैदा होता है। अपनी तीखी व्याख्या में डायसी यह भी कहते हैं कि विधि के समक्ष समता का कथित सिद्धांत एक नकारात्मक परिकल्पना है। इसमें राज्य को किसी के लिए कुछ करने धरने की बात नहीं कही गयी है। इसमें यह निहितार्थ भी है कि सभी व्यक्ति राज्य के समक्ष बराबरी से नतमस्तक होंगे। इससे आगे बढ़ कर विधि के द्वारा संरक्षण देने की राज्य की प्रतिबद्धता एक सकारात्मक परिकल्पना है। वह एक तरह से

राज्य को कुछ करने के लिए बाध्य करती है। शुरू-शुरू में तो उच्चतम न्यायालय ने उद्देशिका को संविधान का हिस्सा भी नहीं माना था। उद्देशिका से आगे बढ़कर अनुच्छेद 14 में विधि के समक्ष समता का मूल अधिकार केवल नागरिकों को ही नहीं बल्कि किसी भी व्यक्ति को भारत के राज्यक्षेत्र में दिया गया है। वह इतिहास की उस अनुगूँज का ऋणी था जो अब्राहम लिंकन के गेटिस्बर्ग भाषण के कंठ से झर रहा था। एक तरह से अनुच्छेद 14 तरह तरह के वाक-स्वातंत्र्य के अनुच्छेद 19 वाले ताले की कुंजी है। अनुच्छेद 13 में हर व्यक्ति को समान बताये जाने का जो आग्रह है। वह नारियल की तरह ऊपर से कड़ा लेकिन अंदर से नर्म है। विशेषकर अनुच्छेद 19 में तो अभिव्यक्ति की आजादी को सीमित बनाने के लिए कई तरह के प्रतिबंध लिख दिये गये हैं। उस इबारत को साथ-साथ पढ़कर ही अनुच्छेद 14 में व्यक्त समानता का अर्थ समझा जा सकता है।

यह मनोरंजक है कि मूल अधिकारों संबंधी उपसमिति ने नागरिकों द्वारा हथियार रखने को मूल अधिकारों में शामिल किया था। हिंदू महासभा के प्रतिनिधि की हैसियत से आजादी मिलने के तीन महीने पहले श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने सलाहकार समिति की बैठक में शस्त्र रखने के अधिकार को मूल अधिकारों में शामिल किये जाने पर जोर दिया था। सलाहकार समिति के अध्यक्ष सरदार पटेल ने इस दलील को यह कहते हुए खारिज करा दिया कि मौजूदा हालात को देखते हुए यह एक खतरनाक काम होगा। संविधान सभा में ऐसे भी सदस्य थे जो तरह-तरह से वर्गीय या साम्प्रदायिक नफरत फैलाने के आधार पर मूल अधिकारों को ही प्रतिबंधित कर देना चाहते थे। वर्ग-संघर्ष से जूझ रहे समाज में वर्गों के विरुद्ध कथित विद्वेष पैदा करने वाली अभिव्यक्तियों को संविधान द्वारा कुंठित करने की बात का कड़ा विरोध किया गया। मूल अधिकारों को आपातकाल, आंतरिक सुरक्षा, लोक व्यवस्था और धार्मिक सद्भाव आदि सामाजिक आधारों पर समय समय पर प्रतिबंधित, सीमित या स्थगित करने के मुख्य पैरोकार के.एम. मुंशी और अलादि कृष्णास्वामी अय्यर थे।

संविधान के अनुच्छेद 21 में उसकी आत्मा गूँजती है जो कहती है कि किसी भी मनुष्य को मानवीय गरिमा के साथ जीने का अधिकार होगा। संवैधानिक सलाहकार बी.एन. राव को अमेरिकी जस्टिस फ़ेलिक्स फ़ैकफ़र्टर ने सलाह दी थी कि अनुच्छेद 21 में 'ड्यू प्रोसेस ऑफ़ लॉ' (क्रानून की उचित प्रक्रिया) वाक्यांश न लिखें, वरना मुश्किल होगी। उसे 'प्रोसीजर इस्टैब्लिशड बाई लॉ' (क्रानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया) लिखा गया। उसके बाद सत्तर, अस्सी के दशक में उच्चतम न्यायालय ने एस.पी. गुप्ता, मिनर्वा मिल्स, राजस्थान राज्य, इंटरनेशनल एयरपोर्ट अथॉरिटी, एम.पी. शुगर मिल्स, हुसैन आरा खातून, भागलपुर ब्लाइण्डिंग केस, मेनका गाँधी, बंधुआ

मुक्ति मोर्चा और डॉ. उपेंद्र बख्शी वगैरह प्रकरणों में एक के बाद एक फैसलों में इस बात को रेखांकित किया कि ज़िंदा रहना और गरिमामय जीवन जीने में फ़र्क है। संविधान जीवन की गारंटी देता है, ज़िंदा रखने की नहीं। संविधान और सरकार किसी व्यक्ति की आजादी को नियम बनाकर कुंठित नहीं कर सकते जब तक कि ऐसे प्रतिबंध राज्य के हित में न हों।

संविधान के बुनियादी अधिकारों पर अमल सबसे बड़ा सवाल बनकर उभरा। अधिकांश बुनियादी अधिकार अमेरिकी 'डिक्लेरेशन ऑफ़ राइट्स' और युरोपीय अवधारणाओं के प्रतिरूप हैं। इसलिए उन्हें लागू करने की ज़िम्मेदारी भी इसी पैटर्न से ली गयी। उन्हें सीधे उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय की जारी होने वाली रिटों या परमादेशों की संज्ञा दी गयी। संविधान के अनुच्छेद 32 में बंदी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, अधिकार पृच्छा और उत्प्रेषण का प्रावधान किया गया है। संविधान का अनुच्छेद 32(3) कहता है, 'उच्चतम न्यायालय को खण्ड (1) और खण्ड (2) द्वारा प्रदत्त शक्तियों पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना, संसद, उच्चतम न्यायालय द्वारा खण्ड (2) के अधीन प्रयोक्तव्य किन्हीं या सभी शक्तियों का किसी अन्य न्यायालय को अपनी अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के भीतर प्रयोग करने के लिए विधि द्वारा सशक्त कर सकेगी।' मूल अधिकारों की सलाहकार समिति के अध्यक्ष सरदार पटेल ने 29 अप्रैल 1947 को रिपोर्ट संविधान सभा को सौंपी। अपने पत्र में उन्होंने लिखा 'इन अधिकारों को वादयोग्य (जस्टिफ़ियेबल) बनाकर प्रस्तुत करने को हम बहुत महत्त्व देते हैं। कई मामलों को लेकर नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करना अमेरिकी संविधान और कई नये प्रजातांत्रिक संविधानों के प्रमुख लक्षण हैं।' यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि उच्चतम न्यायालय ने गोलकनाथ मामले (1964) में यह फैसला दिया था कि संसद मूल अधिकारों में संशोधन नहीं कर सकती है। इसके बाद, संसद ने कई संवैधानिक संशोधनों के माध्यम से अपने इस अधिकार को स्थापित करने की कोशिश की। इसने न्यायापालिका और विधायिका के बीच विवाद की स्थिति पैदा कर दी। 1973 में केशवानंद भारती केस के फैसले के बाद यह विवाद काफ़ी हद तक ख़त्म हुआ। इस फैसले में सर्वोच्च न्यायालय ने यह कहा कि संसद संविधान में कोई भी संशोधन कर सकती है, लेकिन वह संविधान के 'बुनियादी संरचना' में बदलाव नहीं कर सकती है। न्यायालय ने बुनियादी संरचना को स्पष्ट रूप से परिभाषित नहीं किया।

संविधान में दिये गये मूल अधिकारों की एक मुख्य विशेषता यह मानी जाती है कि इसमें एक साथ व्यक्तिगत और सामूहिक अधिकारों का प्रावधान किया गया है। इसमें विभिन्न समूहों को अपनी धार्मिक आस्था के पालन और अपनी भाषा के संरक्षण का अधिकार दिया गया है। इस संदर्भ

में यह उल्लेखनीय है कि पश्चिमी उदारवादी लोकतंत्रों में 1980 के दशक से समूह अधिकारों की बात होनी शुरू हुई। राजनीतिक सिद्धांत के संदर्भ में यह पूरा वाद-विवाद उदारवाद की समुदायवादी आलोचना और बहुसंस्कृतिवाद की अवधारणा के उभार के रूप में सामने आया। लेकिन भारतीय संविधान निर्माताओं ने अपनी समाज की हकीकत के आधार पर संविधान में इस तरह के अधिकारों का प्रावधान किया था।

यद्यपि मूल अधिकारों का अध्याय बहुत ही व्यापक है और संविधान लागू होने के बाद इसमें से कुछ अधिकारों को बाहर निकाला गया, जबकि कुछ नये अधिकार जोड़े गये (मसलन छियालिसवें संशोधन द्वारा संविधान में शिक्षा का अधिकार शामिल किया गया)। इसके अलावा, कुछ प्रावधान आज़ादी के बाद के दौर में गहरे सामाजिक बदलावों का आधार बने। मसलन, अनुच्छेद 16 के प्रावधानों के आधार पर ही पिछड़े वर्गों के लिए सरकारी नौकरियों में आरक्षण की माँग उठी और आरक्षण के लिए लड़े गये आंदोलनों ने भारत की राजनीति में पिछड़ी जातियों के उभार में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। फिर, मूल अधिकारों की सबसे बड़ी सीमा यह रही है कि खुद इसके भीतर 'प्रिवेंटिव डिटेन्शन' (अर्थात् किसी अपराध की आशंका होने पर कैद करने) का प्रावधान है। स्वतंत्र भारत में इसके आधार पर ही यूएपीए, टाडा, पोटा जैसे असाधारण और राक्षसी क़ानूनों का अस्तित्व रहा है। राष्ट्रीय सुरक्षा के नाम पर बने इन क़ानूनों के आधार पर लोगों की मौलिक स्वतंत्रता के हनन के हज़ारों में मामले सामने आये हैं। फिर भी, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि मूल अधिकार संविधान का सबसे महत्वपूर्ण भाग हैं। इन अधिकारों ने भारत में लोकतांत्रिक और सेकुलर शासन की स्थापना में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

— कनक तिवारी

भारतीय संविधान-5

नीति निर्देशक तत्त्व और मूल कर्तव्य

(Indian Constitution-5)

संविधान के भाग 4 में (अनुच्छेद 36-51) राज्य के नीति निर्देशक तत्त्व उपबंधित हैं। इन तत्त्वों को अनेक समूहों में वर्गीकृत किया जा सकता है। इनके तहत कुछ आदर्श, विशेषतः आर्थिक, निरूपित किये गये हैं जिनके लिए संविधान के रचयिताओं के अनुसार राज्य को प्रयास करना चाहिए। विधान मण्डल और कार्यपालिका को कुछ निर्देश

दिये गये हैं कि किस रीति से राज्य को अपनी विधायी और कार्यपालिका शक्तियों का प्रयोग करना चाहिए। नागरिकों के कुछ अधिकारों के संबंध में चर्चा है जो न्यायालयों द्वारा मूल अधिकारों के समान प्रवर्तित नहीं कराये जा सकते हैं किंतु राज्य अपनी विधायी और प्रशासनिक नीतियों का विनियमन करके उन्हें सुलभ कराने का प्रयास कर सकते हैं।

ये निर्देश संविधान के भाग 3 के मूल अधिकारों से या देश की सामान्य विधि से कुछ बातों में भिन्न हैं। मूल अधिकार, राज्य की कार्यवाही को परिसीमा में बाँधते हैं। निर्देशक तत्त्व तत्कालीन सरकार के लिए आदर्श प्राप्त करने का निर्देश देते हैं। निर्देश विधान द्वारा ही लागू किये जा सकते हैं। निर्देश न्यायालय में प्रवर्तनीय नहीं है। 'राज्य की नीति के निर्देशक तत्त्व' शीर्ष के अधीन जो घोषणाएँ हैं, वे मूल अधिकारों के रूप में की गयी घोषणा से कई मामलों में अधिक व्यापक हैं। लेकिन मूल अधिकारों और नीति निर्देशक तत्त्वों में विरोध होने पर न्यायालय मूल अधिकारों को ही महत्व देगा। संविधान-निर्माताओं ने यह प्रावधान अमेरिका, स्विट्ज़रलैण्ड, आस्ट्रेलिया और जर्मनी सहित कुछ अन्य देशों के संविधानों के समानांतर प्रावधानों के तहत रचा था। आइवर जेनिंग्स ने कहा है कि नीति निर्देशक तत्त्व तो 'पुण्यात्मा लोगों की महत्वाकांक्षा मात्र' हैं। उनके अनुसार उन्नीसवीं सदी के इंग्लैण्ड के फ़ेबियन समाजवाद में से समाजवाद निकाल कर भारत में आयातित करने का कोई औचित्य नहीं था। प्रोफ़ेसर व्हीयर ने तो और भी कठोर शब्दों में आलोचना की है, 'इन अनुच्छेदों को पढ़कर इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि इन विषयों को न्यायालयों पर छोड़ना मूर्खता होगी... यदि यह उद्देश्य है कि संविधान का सभी को समादर और स्नेह प्राप्त हो तो उसमें इन सामान्य सिद्धांतों का समावेश करके कुछ लाभ होगा ऐसा नहीं मालूम पड़ता।' ग्रेनिवले ऑस्टिन के विचार में निर्देशों का लक्ष्य सामाजिक क्रांति के उद्देश्यों की प्राप्ति है, '... इस क्रांति के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ उत्पन्न करके क्रांति को आगे बढ़ाना है।' वे स्पष्ट करते हुए यह कहते हैं—'राज्य की इन सकारात्मक बाध्यताओं की सर्जना करके, संविधान सभा ने भारत की भावी सरकारों को यह उत्तरदायित्व सौंपा है कि वे व्यक्ति-स्वातंत्र्य और लोकहित के बीच अथवा कुछ थोड़े से लोगों की सम्पत्ति और उनके विशेषाधिकार बनाये रखने और सामान्य हित के लिए सभी मनुष्यों को समान रूप से शक्ति देकर उन्हें स्वतंत्र करने के उद्देश्य से उन्हें कुछ लाभ देने के बीच मध्य मार्ग खोजें।'

अनुच्छेद 39 इस तरह है, 'राज्य द्वारा अनुसरणीय कुछ नीति निर्देशक तत्त्व ... राज्य अपनी नीति का, विशिष्टतः, इस प्रकार संचालन करेगा कि सुनिश्चित रूप से' पुरुष और स्त्री सभी नागरिकों को समान रूप से जीविका के पर्याप्त साधन

प्राप्त करने का अधिकार हो, समुदाय के भौतिक संसाधनों का स्वामित्व और नियंत्रण इस प्रकार बँटा हो जिससे सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप से साधन हो, आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले जिससे धन और उत्पादन-साधनों का सर्वसाधरण के लिए अहितकारी संकेंद्रण न हो, पुरुषों और स्त्रियों दोनों का समान कार्य के लिए समान वेतन हो। पुरुष और स्त्री कर्मकारों के स्वास्थ्य और शक्ति का तथा बालकों की सुकुमार अवस्था का दुरुपयोग न हो और आर्थिक आवश्यकता से विवश होकर नागरिकों को ऐसे रोजगारों में न जाना पड़े जो उनकी आयु या शक्ति के अनुकूल न हो। बालकों को स्वतंत्र और गरिमामय वातावरण में स्वस्थ विकास के अवसर और सुविधाएँ दी जाएँ और बालकों और अल्पवय व्यक्तियों की शोषण से तथा नैतिक और आर्थिक परित्याग से रक्षा की जाए।

इतिहास के कटघरे में आज हमारे संविधान निर्माता भी खड़े हैं। सर्वहारा वर्ग उनसे सवाल पूछ रहा है। इस देश के प्रत्येक श्रमिक के लिए चाहे वह बौद्धिक श्रमिक ही क्यों न हो काम की न्यायसंगत और मानवोचित दशा संविधान के स्वप्न वाले इस परिच्छेद में लिखी गयी है। जिस देश के कर्मकारों के लिए निर्वाह और मजदूरी का सवाल खण्डित स्वप्न के मर्सिया के रूप में लगातार रो रहा है, वहाँ सम्पत्ति के अबाधित अधिकार भी देश के भूखे पूँजीपतियों को संविधान के मूल पाठ में ही दिये गये हैं। अनुच्छेद 43 कहता है 'कर्मकारों के लिए निर्वाह मजदूरी आदि-राज्य, उपयुक्त विधान या आर्थिक संगठन द्वारा या किसी अन्य रीति से कृषि के, उद्योग के या अन्य प्रकार के सभी कर्मकारों को काम, निर्वाह मजदूरी, शिष्ट जीवन स्तर और अवकाश का सम्पूर्ण उपभोग सुनिश्चित करने वाली दशाएँ तथा सामाजिक और सांस्कृतिक अवसर प्राप्त कराने का प्रयास करेगा और विशिष्टतया ग्रामों में कुटीर उद्योगों को वैयक्तिक या सहकारी आधार पर बढ़ाने का प्रयास करेगा।' इसके बरक्स अनुच्छेद 19(1) (छ) के अनुसार 'सभी नागरिकों को कोई वृत्ति, उपजीविका, व्यापार या कारोबार करने का, अधिकार होगा।' कौटिल्य के निर्देश गर्भवती महिलाओं के जीवन की सुरक्षा की गारंटी देते हैं, लेकिन सहमता हुआ संविधान राज्य को कराहती हुई सलाह देता है कि हो सके तो वह प्रसूति सहायता के लिए कुछ कर दे (अनुच्छेद 42)। यह देखकर आश्चर्य होता है कि स्त्री और पुरुष को समान रूप से जीविका के पर्याप्त साधन बल्कि समान वेतन का अधिकार भी संविधान में नहीं है, लेकिन उसका खोखला वादा जरूर है (अनुच्छेद 39)। अर्थ यह है कि यदि आर्थिक असहायता के कारण अशिक्षा, बेकारी, बुढ़ापा, बीमारी और निःशक्तता आदि से पीड़ित कोई व्यक्ति राज्य की सहायता अधिकारों के तहत चाहता है (अनुच्छेद 41) तो उसकी व्यवस्था भी नहीं है। बच्चों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का प्रबंध करने की सरकार पर कोई

संवैधानिक ज़िम्मेदारी नहीं है। उसे नैतिक ज़िम्मेदारी के धर्मग्रंथ में उन आयतों की तरह लिख दिया गया था (अनुच्छेद 45) जिन्हें गाहे-बगाहे झाड़ू पोंछकर माथे पर इतिहास के अभिशप्त वचन का यश समझकर लगा लिया जाए। अब वह फ़रमान आधे-अधूरे निश्चय के साथ मौलिक अधिकारों के परिच्छेद में दिखाऊ आचरण के लिए आया है। नीति निर्देशक तत्त्वों के परिच्छेद का चमत्कार यह भी है कि भारत जैसे कृषि प्रधान देश में कृषि और पशुपालन का संगठन इसी परिच्छेद में रखा गया है। जो बुनियादी, आर्थिक अवधारणा सदियों से कारगर रही है, उसे स्वतंत्र भारत का यथार्थ बनाने के बदले संविधान सपने के रूप में देखना पसंद करता है। यह ब्रिटिश-दृष्टि के चश्मे से भारत को देखना नहीं था, तो क्या था? (अनुच्छेद 48 : कृषि और पशुपालन का संगठन-राज्य, कृषि और पशुपालन को आधुनिक और वैज्ञानिक प्रणालियों से संगठित करने का प्रयास करेगा और विशिष्टतया गायों और बछड़ों तथा अन्य दुधारू और वाहक पशुओं की नस्लों के परिक्षण और सुधार के लिए उनके वध का प्रतिषेध करने के लिए क्रम उठायेगा।) कृषि, पंचायत, पोषण आहार और मूक पशुओं से संबंधित राज्य के उत्तरदायित्वों को वैकल्पिक बना दिया गया है।

कर्मकारों के काम और मजदूरों की दशा अथवा दुर्भाग्यजनक परिस्थितियों में नौनिहालों को वहशी जीवन जीने की मजदूरियाँ, वांछित स्वास्थ्य सुविधाओं के अभाव में अकाल मौतें, कसाइयों के हाथों में कटते पशु, जंगली ठेकेदारों से बचने की कोशिश में हमारे हरे-भरे जंगल—इनमें से कोई भी राज्य व्यवस्था को न्यायालयों में कारगर चुनौती नहीं दे सकता। लगता है भारत का संविधान अपने आचरण में राजतंत्र के विकास, शक्ति संचय और बड़बोलेपन का रक्षाशास्त्र भी है। उसकी बुनियादी चिंता हुकूमत करने की रही है और वह भी बहुआयामी नवोन्मेष की ठसक के साथ।

जीवन-यापन और सांस्कृतिक अंतरिक्ष की तमाम स्वप्नमयी घोषणाओं के बीच 'समान नागरिक संहिता' लागू करने का वायदा भी इसी परिच्छेद में है। हैरत की बात है कि यह अधूरा वायदा राज्यसत्ता के लिए महत्त्वपूर्ण दायित्व और चुनौती बन गया है। वह राजनीतिक पार्टियों के चुनाव घोषणापत्र में भी शामिल किया जाता है। संविधान जिन वायदों को साधारण बहुमत द्वारा लागू करने के निर्देश देता है, उन्हें पूरा करने की सरकार की नीयत नहीं है। शायद उसे फुर्सत नहीं है। जो वायदा पेट से नहीं, जेहन की अय्याशी से संबंधित है, उसे लागू करने के लिए धरती आसमान एक किये जा रहे हैं। दो तिहाई बहुमत के वास्तविक अभाव के बावजूद समान नागरिक संहिता के मसले को गुप्त एजेंडे पर रखने के बाद प्रकट किया जा रहा है। इस प्रावधान को हमारे संविधान निर्माताओं का महत्त्वपूर्ण स्वप्न प्रचारित किया जा रहा है। देश

को यह जानना जरूरी है कि संविधान की अल्पसंख्यक सलाहकार उपसमिति ने यह सिफारिश की थी कि समान नागरिक संहिता का मुद्दा अल्पसंख्यकों के विवेक पर छोड़ दिया जाए। इस उपसमिति में अन्य लोगों के अलावा डॉ. आम्बेडकर और श्यामाप्रसाद मुखर्जी भी थे। आम्बेडकर के अनुयायी तो अपने पूर्वज के वचनों के प्रति प्रतिबद्ध हैं, लेकिन डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी की अपने उत्तराधिकारियों के आचरण के कारण बुरी हालत है।

स्वतंत्रता के बाद गाँधी जिन चौदह सूत्रों को रचनात्मक कार्यक्रम के द्वारा तात्कालिक आधार पर लागू करना चाहते थे, संविधान निर्माताओं ने उन्हें नीति निर्देशक सिद्धांतों के ठिकाने लगाया। उदाहरण के लिए पंचायतों की स्थापना जैसा महत्वपूर्ण उद्देश्य जिससे निचले दर्जे के लोकतंत्र को स्थापित करने का सपना आज़ादी के आंदोलन ने देखा था, नीति निर्देशक सिद्धांतों की क़ैद में रखा गया। इसी प्रकार हर तरह की आर्थिक ग़ैरबराबरी को दूर करने का ऐलान हमारे मूल कर्तव्यों में शामिल नहीं होकर नीति निर्देशक सिद्धांतों की गुमनाम झाड़ी में छुपा हुआ है। स्त्री और पुरुष की बराबरी, समान न्याय और मुफ्त क़ानूनी सहायता, काम, शिक्षा और राज्य की सहायता का मौलिक अधिकार, बच्चों को मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा का अधिकार तथा हरिजन आदिवासी एवं अन्य कमज़ोर वर्गों में शैक्षिक और आर्थिक सुधारों के अधिकार नीति निर्देशक सिद्धांतों के दलदल में फँस कर रह गये हैं। इससे क्या यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि आज़ादी की दहलीज़ पर गाँधी के सत्तासीन सहकर्मियों ने यह फ़ैसला कर लिया था कि उन्हें कम से कम गाँधी के सपनों का भारत तो नहीं ही बनाना है। संविधानसम्मत, संविधानआधारित और संविधानपोषित राज्य व्यवस्था में संविधान की उद्देशिकाओं से अलग हटकर गाँधी या अन्य देशभक्तों के सपने नहीं थे।

संविधान का अनुच्छेद 51-क 42वें संविधान संशोधन द्वारा अंतःस्थापित किया गया है। वह इस तरह है : भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य होगा कि वह संविधान का पालन करे और उसके आदर्शों, संस्थाओं, राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगान का आदर करे; स्वतंत्रता के लिए हमारे राष्ट्रीय आंदोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्शों को हृदय में संजोये रखे और उनका पालन करे; भारत की प्रभुता, एकता और अखण्डता की रक्षा करे और उसे अक्षुण्ण रखे; देश की रक्षा करे और आह्वान किये जाने पर राष्ट्र की सेवा करे; भारत के सभी लोगों में समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करे जो धर्म, भाषा और प्रदेश या वर्ग पर आधारित सभी भेदभाव से परे हो, ऐसी प्रथाओं का त्याग करे जो स्त्रियों के सम्मान के विरुद्ध है; हमारी सामासिक संस्कृति की गौरवशाली परम्परा का महत्त्व समझे और उसका परीक्षण

करे; प्राकृतिक पर्यावरण की, जिसके अंतर्गत वन, झील, नदी और वन्य जीव हैं, रक्षा करे और उसका संवर्धन करे तथा प्राणी मात्र के प्रति दया भाव रखे; वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद, और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करे; सार्वजनिक सम्पत्ति को सुरक्षित रखे और हिंसा से दूर रहे; व्यक्तिगत और सामूहिक गतिविधियों के सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष की ओर बढ़ने का सतत प्रयास करे जिससे राष्ट्र निरंतर बढ़ते हुए प्रयत्न और उपलब्धि की नयी ऊँचाइयों को छू ले; यदि माता-पिता या संरक्षक है, छह वर्ष से चौदह वर्ष तक की आयु वाले अपने, यथास्थिति, बालक या प्रतिपाल्य के लिए शिक्षा प्रदान करे।

यह अनुच्छेद (5) यद्यपि संविधान 86 वाँ संशोधन अधिनियम, 2002 की धारा 4 द्वारा अंतःस्थापित किया गया है। परंतु उसे 1 अप्रैल 2010 से प्रवृत्त किया गया है। यह उल्लेखनीय है कि संविधान में छह वर्ष से चौदह वर्ष की आयु के बच्चों के लिए शिक्षा देने का स्वप्न नीति निर्देशक तत्त्वों के तहत ही शामिल था। उसे पुनः अनुच्छेद 45 के अनुसार उल्लिखित किया गया है जो कहता है : 'राज्य सभी बालकों के लिए छह वर्ष की आयु पूरी करने तक, प्रारम्भिक बाल्यावस्था देख-रेख और शिक्षा देने के लिए उपबंध करने का प्रयास करेगा।' यह देखना भी दिलचस्प है कि संविधान के अनुच्छेद 21-क को 86वाँ संशोधन अधिनियम, 2002 द्वारा मूल अधिकार के रूप में इस तरह उल्लिखित किया गया है : 'राज्य, छह वर्ष से चौदह वर्ष तक की आयु वाले सभी बालकों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा देने का ऐसी रीति में, जो राज्य विधि द्वारा, अवधारित करे, उपबंध करेगा।' इस तरह तीन संवैधानिक प्रावधानों के अंतर्गत छह वर्ष से चौदह वर्ष की उम्र के बच्चों के लिए अनिवार्य शिक्षा का प्रबंध प्रावधानित तो है। लेकिन उसे मूल कर्तव्य और नीति निर्देशक तत्त्व के रूप में प्रवर्तनीय नहीं बनाया जा सकता। भाषा अनुच्छेद 21-क के अनुसार मूल अधिकार देती है। वहीं नीति निर्देशक तत्त्व तथा मूल कर्तव्य के परिच्छेद के अंतर्गत समानान्तर प्रावधान बच्चों के संदर्भ में निष्क्रिय भाषा के आभूषण की तरह हैं।

— कनक तिवारी

भारतीय संविधान-6

कार्यपालिका

(Indian Constitution-6)

कार्यपालिका नामक विनम्र-सा लगता एक शब्द संविधान के भाग 5 के अध्याय 1 में अनुच्छेद 52 से 78 तक है। उसमें राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, केंद्रीय मंत्रिपरिषद् और भारत के महान्यायवादी आदि के अधिकारों और कर्तव्यों का उल्लेख है। राष्ट्रपति की विधायी शक्तियों तथा भारत के नियंत्रक तथा महालेखापरीक्षक आदि को संघ का संवैधानिक उत्तरदायित्व सौंपते हुए भी कार्यपालिका से अलग रखा गया है। इसी तरह संविधान के भाग 6 के अध्याय 2 में राज्यपाल, राज्य (प्रदेश) की मंत्रिपरिषद् और राज्य के महाधिवक्ता अनुच्छेद 153 से 167 तक कार्यपालिका की परिधि में हैं। संविधान ने विधायिका को राष्ट्रपति (उपराष्ट्रपति) सहित केंद्रीय तथा प्रादेशिक मंत्रिपरिषदों और भारत के महान्यायवादी और राज्य के महाधिवक्ता सहित कार्य संचालन की जो ज़िम्मेदारी सौंपी थी उससे संविधान निर्माताओं ने ही अन्य प्रावधानों में किनाराकशी कर ली थी। मसलन राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति और राज्यपाल के लिए कह दिया गया कि वे व्यापक तौर पर मंत्रिपरिषद् की सलाह से ही काम करेंगे। तुरा यह कि ऐसा संविधान में राष्ट्रपति की पदस्थापना करने वाले अनुच्छेद 53 के बदले मंत्रिपरिषद् और उसके नेता प्रधानमंत्री के अधिकारों का ब्यौरा देने वाले अनुच्छेद 74 में लिखा गया है। ठीक ऐसा ही राज्यपाल के नियुक्त पत्र के अनुच्छेद 154 में शोभा के रूप में कुछ अलग कहा गया। उसका ठीक उल्टा मंत्रिपरिषद् की अधिकारिता की रचना करने वाले अनुच्छेद 163 में कहा गया।

भाषा यदि कहीं अर्थ से छल या रोमांस करती हुई पकड़ी गयी है तो उसका दस्तावेजी सबूत भारत का संविधान भी है। संविधान का अनुच्छेद 53 इस तरह है - 'संघ की कार्यपालिका शक्ति-(1) संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित होगी और वह इसका प्रयोग इस संविधान के अनुसार स्वयं या अपने अधीनस्थ अधिकारियों के द्वारा करेगा।' अब इसके ठीक विपरीत अनुच्छेद 74 इस तरह है: 'राष्ट्रपति को सहायता और सलाह देने के लिए मंत्रिपरिषद्—राष्ट्रपति को सहायता और सलाह देने के लिए एक मंत्रिपरिषद् होगी जिसका प्रधान, प्रधानमंत्री होगा और राष्ट्रपति अपने कृत्यों का प्रयोग करने में ऐसी सलाह के अनुसार कार्य करेगा।' भारत का संविधान एक ऐसा थिसारस है जिसमें 'सहायता' और 'सलाह' का अर्थ प्रतिबंध और मजबूरी से है। वह आज्ञा और आदेश की तरह है। संघ या राज्यों की मंत्रिपरिषद् राष्ट्रपति या राज्यपाल को सहायता और सलाह देती ही रहती है। राष्ट्रपति या राज्यपाल अमूमन उनकी सलाह

मानते ही रहते हैं। संविधान के मूल अंग्रेज़ी पाठ में भाषा कर्तृवाच्य के बदले कर्मवाच्य में लिखी है कि राष्ट्रपति में कार्यपालिका की शक्ति निहित होगी और उसके द्वारा उस शक्ति का प्रयोग स्वयं या अपने अधीनस्थ अधिकारियों द्वारा किया जाएगा। इसका हिंदी अनुवाद ग़लत ढंग से कर्तृवाच्य में किया गया है। हिंदी अनुवाद संविधान का मूल अर्थ ध्वनित नहीं करता। अनुच्छेद 74 के प्रावधान अनुच्छेद 53 के ऊपर भारी हैं। महान्यायवादी और महाधिवक्ता का काम वैधानिक सलाह देना और सरकार के मामलों की पैरवी करना है। उन पर अधिवक्ता अधिनियम के सामान्य प्रावधान भी लागू होते हैं। उन्हें पारिश्रमिक मिलता है। इससे संघ या राज्य की कार्यपालिका शक्ति का इन सरकारी वकीलों में निहित होना कैसे कहा जा सकता है? कुल मिलाकर प्रधानमंत्री और मुख्यमंत्री के हाथ में ही संघ अथवा राज्य की असल कार्यपालिका शक्ति होती है। एक व्यक्ति के हाथों में सभी सम्भावित शक्तियों के संचयन और केंद्रीयकरण को भारतीय संविधान में लोकतंत्र कहा गया है। हमारे संविधान निर्माता अपनी पश्चिमी शिक्षा-दीक्षा तथा ब्रिटिश संस्कृति से सहकार के कारण युरोपीय-हिंदुस्तानी बन गये थे। उन्होंने ब्रिटिश परम्पराओं, पूर्वोदाहरणों तथा रिवाजों के संदर्भ में विधायन किया था। ब्रिटेन में लिखित संविधान की ज़रूरत नहीं रही है। प्राचीन भारत में परम्पराओं और व्यवस्थाओं की पश्चिमी नस्ल की प्रजातंत्रिकता कहाँ रही है? इसलिए स्वातंत्र्योत्तर भारत के राजनेताओं ने कार्यपालिका की परिभाषा को निरंकुश राजशाही के अर्थ दिये हैं। आचरण की लोकतंत्रात्मकता संविधान का यूटोपिया है। वह राजदर्शन का यथार्थ नहीं बन सकता।

संविधान सभा ने भारत के इतिहास में पहली बार संसदीय-कार्यपालिका प्रयोग किया था। देश को पहली बार जनतांत्रिक अधिकारों से लैस किया जा रहा था। यह आशंका भी मूर्त थी कि कार्यपालिका कहीं अधिकारों का अतिक्रमण करने लगे। मैक्स बेलॉफ़ के शब्दों में अमेरिकी संविधान निर्माताओं का भी विधायिका के मुकाबले कार्यपालिका पर कभी न दूर हो सकने वाला अविश्वास था। असल में संविधान सभा की केंद्रीय चिंता मंत्रिपरिषदों के अराजक हो जाने से कहीं ज्यादा राष्ट्रपति के तानाशाह हो जाने की सम्भावना को लेकर रही है। इतिहास गवाह है कि संविधान सभा ने यह अनुमान लगाने में भारी ग़लती की। भारत का राष्ट्रपति निश्चित अंकुशों के कारण एक संवैधानिक रोबो बन गया प्रतीत होता है। यह अलग बात है कि अपने व्यक्तित्व के बल पर हमारे राष्ट्रपति अपने पद को महत्तर गरिमा देते प्रतीत होते हैं। हमारे मंत्रिमण्डल व्यवहार में कई बार तानाशाही के सामूहिक संस्करण की तरह काम करते नज़र आते हैं। ऐसे मौकों पर विधायिका का उनके ऊपर कथित नियंत्रण या पर्यवेक्षण एक संवैधानिक मिथक से ज्यादा कुछ नहीं लगता। अमेरिकी या स्विस प्रणाली में कार्यपालिका को मिली स्वायत्तता की थियरी

हमारे संविधान निर्माताओं के गले नहीं उतरी। मौजूदा मंत्रिमण्डलीय प्रणाली संविधान के गले जरूर पड़ गयी है। अपनी लाख बुराइयों के बावजूद समाज की दृष्टि में नौकरशाही की उतनी थुक्का-फ़ज़ीहत नहीं है जितने मंत्रियों की। ऐसा नहीं है कि संविधान सभा ने कोई तजवीज़ नहीं की थी। कार्यपालिका की शक्ति नियंत्रित करने के उद्देश्य से एक निर्देशावली को संविधान में शामिल करने का प्रस्ताव आया। संसदीय लोकतंत्र की ब्रिटिश एवं अन्य युरोपीय परिपाटी पर आधारित निर्देशावली सहित एक पर्यवेक्षण कौंसिल गठित कर देने से राष्ट्रपति/राज्यपाल सहित मंत्रिमण्डल की अति पर अंकुश लग सकता था। कौंसिल के रूप में अतिरिक्त संवैधानिक सत्ता निर्मित हो जाने का खतरा था। इसलिए प्रस्ताव को रद्द कर दिया गया। मूल सुझाव संविधान सभा के सलाहकार बी.एन. राव की तरफ से ही आया था। संघ संविधान समिति ने इसे निरस्त कर दिया। उसने राष्ट्रपति पर यह लिखित बंदिश लगाने से भी इनकार कर दिया कि उन्हें संसदीय शासन प्रणाली की परम्पराएँ माननी ही होंगी। राव के सुझाव के रद्द होने के बाद प्रारूप समिति के तीन सदस्यों आम्बेडकर, एन. माधवराव और मोहम्मद सादुल्ला ने राष्ट्रपति/राज्यपाल के लिए एक सलाहकार बोर्ड के गठन का सुझाव दिया। ये तीनों गैर-कांग्रेसी बल्कि कांग्रेस विरोधी थे। आनुपातिक प्रतिनिधित्व के अनुसार गठित पंद्रह सदस्यीय सलाहकार बोर्ड के ज़िम्मे महत्वपूर्ण संवैधानिक पदों जैसे उच्चतम और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीश, विदेशों में भारत के राजदूत, भारत के महालेखाकार तथा नियंत्रक, लोक सेवा आयोग के सदस्य तथा चुनाव आयोग आदि के सदस्यों की नियुक्ति के मामले शामिल होते।

आम्बेडकर के तर्क अनोखे और मौलिक थे। उनके अनुसार ब्रिटिश संसदीय लोकतंत्र के बहुमतीय सिद्धांतों को लागू करना भारत में सम्भव नहीं था। भारत में चुना जा रहा बहुमत वस्तुतः सर्वदेशीय (कास्मोपॉलिटन) नहीं साम्प्रदायिक बहुमत है। इसलिए अल्पसंख्यकों के वांछित और वास्तविक प्रतिनिधि चुने जाने सम्भव नहीं थे। अनुभव और सम्भावना के आधार पर सरकार में उन मुसलमानों का प्रतिनिधित्व ज़्यादा सुरक्षित है जो मुसलमानों के बहुमत के खिलाफ कांग्रेस जैसे संगठनों से जीतकर आते हैं। आम्बेडकर की सिफ़ारिशें सदन को मंज़ूर नहीं हुई। लम्बी बहस के बाद कुछ ब्रिटिश मान्यताओं का संविधान सभा में स्थिरीकरण हुआ। इनमें मंत्रिपरिषद् की लोकसभा के प्रति संयुक्त ज़िम्मेदारी, राष्ट्रपति द्वारा कतिपय दशाओं में पारित विधेयक को मंजूरी दिये बिना वापस लौटाना जैसे मानक सिद्धांत शामिल थे। यह बंदिश लगाने की कोशिश भी की गयी कि राष्ट्रपति को दो से अधिक कार्यकाल के लिए नहीं चुना जाना चाहिए। इस संदर्भ में केवल परम्परा पर निर्भर रहने वालों को यह सूचित किया गया कि अमरिकी राष्ट्रपति फ्रेंकलिन रूज़वेल्ट ने 1940 में अपना

दूसरा कार्यकाल खत्म होने के बाद परम्पराओं की अवहेलना करते हुए तीसरे और चौथे कार्यकाल के लिए सफलतापूर्वक चुनाव लड़ा था। देश को यह बात बाद में समझ आयी जब डॉ. राजेंद्र प्रसाद ने दो कार्यकाल के बाद भी राष्ट्रपति बने रहने की इच्छा व्यक्त की। इसी तरह राजेंद्र प्रसाद ने विशेषकर हिंदू कोड बिल जैसे क़ानून को मंजूरी देने की अनिच्छा व्यक्त करते हुए उसे वापस करने का इरादा भी किया था। दोनों मौक़ों पर डॉ. प्रसाद को बमुश्किल मनाया जा सका था। डॉ. राजेंद्र प्रसाद ने अनुच्छेद 105 तथा अनुच्छेद 254 आदि का हवाला देते हुए यह दलील दी कि राष्ट्रपति केवल कठपुतली नहीं है। संविधान-सलाहकार बी.एन. राव, अटॉर्नी जनरल एम.सी. सीतलवाड़ और संविधान सभा के महत्वपूर्ण सदस्य अलादि कृष्णा स्वामी अय्यर ने राष्ट्रपति की व्याख्या से साफ़ तौर पर असहमति व्यक्त की। इस तरह कुल मिलाकर कार्यपालिका का यंत्र, मंत्र और तंत्र यूरो-अमेरिकी संवैधानिक परम्पराओं का पिटारा है।

डॉ. आम्बेडकर के अनुसार राष्ट्रपति को दो महत्वपूर्ण अधिकार प्राप्त हैं-प्रधानमंत्री की नियुक्ति और प्रधानमंत्री की छुट्टी। इसलिए संविधान निर्माताओं ने प्रधानमंत्री की छुट्टी के लिए लोकसभा के बहुमत पर ज़्यादा भरोसा किया। राष्ट्रपति और उच्चतम तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों पर महाभियोग लगाने का प्रावधान रचकर कार्यपालिका और न्यायिक शक्तियों को भी संसदीय आचरण के साथ तालमेल बिठाने का सरअंजाम किया गया। राज्यपाल को बिना महाभियोग लगाये केवल राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त कार्यरत रखने का अनोखा प्रावधान भारतीय संविधान में है। रामजवाया कपूर बनाम पंजाब राज्य (ए. आई.आर. 1955 सुप्रीम कोर्ट 549) वाले प्रकरण में उच्चतम न्यायालय ने ब्रिटिश अवधारणाओं का क़र्ज स्वीकार किया था। अपने संविधान के जरिये ख़ुद को प्रभुत्वसम्पन्न घोषित करने वाले देश के लिए यह आत्मगौरव की बात नहीं थी कि वह उसी मुल्क की बौद्धिक परम्पराओं का अनुसरण करे जिसके राजतंत्र से पीड़ित होकर उसी देश से आज़ादी का युद्ध लड़ा गया था। उच्चतम न्यायालय ने राष्ट्रपति और राज्यपालों के अधिकारों की मीमांसा करते हुए यह ऐतिहासिक स्वीकारोक्ति की ' भारतीय संविधान में इंग्लैण्ड की तरह की संसदीय पद्धति का उल्लेख है। ग्रेनिवले ऑस्टिन ने बहुत सूक्ष्मता के साथ यह बात कही है कि भारतीय संविधान निर्माताओं के सामने दो विकल्प थे। एक यह कि वे राष्ट्रपति और राज्यपाल आदि के लिए मान्य परम्पराओं को स्वीकृत निर्देशावली की तरह लिख दें। दूसरा विकल्प यह था कि वे भारत के भावी नेताओं और सांसदों की देशभक्ति, ईमानदारी और संविधान निष्ठा में गहरा विश्वास रखें कि वे भविष्य की परिस्थितियों के अनुकूल निर्णय ले सकेंगे। संविधान निर्माताओं ने दूसरा विकल्प चुना और धोखा खाया। कुछ राज्यपालों ने परिस्थितिजन्य कारणों से

सद्भावनापूर्वक अथवा जानबूझकर अपने विवेकाधिकार की शब्दकोशीय व्याख्या करने की कोशिश की। उन्हें मुँह की खानी पड़ी। राज्यपाल को राजभवन के शीशमहल में बैठने की समझाइश देते हुए राष्ट्रपति राजेंद्र प्रसाद ने उन्हें अलग-अलग समय पर पत्र लिखकर इतना तटस्थ, निष्पक्ष और एकांकी बने रहने की सलाह दी थी जो विश्व इतिहास की नैतिकता का मानदण्ड स्थिर करता है।'

उच्चतम न्यायालय ने डॉ. रघुकुल तिलक के प्रकरण में यह मत प्रतिपादित किया है कि राज्यपाल का पद किसी भी स्थिति में भारत सरकार के अधीन नहीं है। राज्यपाल अपने कर्तव्यों के निर्वहन के लिए केंद्र शासन के प्रति उत्तरदायी होने तथा स्पष्टीकरण देने के लिए बाध्य नहीं है। यह विचित्र विरोधाभास है। राज्यपाल की नियुक्ति केंद्रीय मंत्रिपरिषद् की सलाह से राष्ट्रपति करते हैं। नियुक्ति के बाद राज्यपाल के प्रशासनिक और संवैधानिक क्षेत्राधिकार केवल राष्ट्रपति के अंतर्गत होते हैं। संविधान निर्माता सर्वोच्च राजनीतिक पदों को लेकर गतिज संतुलन के पक्ष में रहे हैं। ऐसी पेचीदगी विश्व के अन्य संविधानों में नहीं है। ऐसा नहीं कि भारतीय संविधान केवल विदेशी संविधानों की नकल है। विदेशी संविधानों के आयातित प्रावधान कच्चे माल की तरह हैं। उन्हें भारतीय प्रज्ञा की धमन भट्टी में गलाने की कोशिश जरूर की गयी। यह अलग बात है कि कच्चे माल के नाम पर बहुत सा विदेशी इस्पात कच्चे लोहे के ढेर में आ गया। उसकी गुणवत्ता को लेकर भारतीय हथौड़े प्रशस्ति-गायन करते रहे।

जस्टिस वी.आर. कृष्ण अय्यर ने शमशेर सिंह वाले प्रसिद्ध मुकदमे में सर्वोच्च कार्यपालिका सत्ता को लेकर ब्रिटिश परम्पराओं को मानने की मजबूरी के संबंध में तल्लख टिप्पणियाँ की हैं। इनसे संवैधानिक गरिमा, मंशा और उधार लेने की लाचारी स्पष्ट होती है। यह संविधान निर्माताओं द्वारा रचित विरोधाभास है कि जिन्हें भारत और प्रदेशों के लिए संसद तथा विधान मण्डलों की अपरिमित शक्ति से लैस कर संविधान का हृदय घोषित किया गया है, उन्हें ही संविधान के अनुच्छेद 100(3) तथा 18 9(3) के अनुसार संसदीय कार्यवाहियों में उपस्थिति की छूट दी गयी है। वर्ष में बमुश्किल छह माह भी संसद में उपस्थिति की जरूरत नहीं पड़ती। विधायकों को उससे भी आधी अवधि के लिए। यह कैसा संविधान है कि आधे या चौथाई वर्ष के लिए भी सांसदों और विधायकों की कुल दस प्रतिशत संख्या पर्याप्त होती है। दस प्रतिशत वांछित गणपूर्ति के बावजूद भी कई बार विधान मण्डलों की कार्यवाही स्थगित करनी पड़ती है। यही हाल स्पीकरों का है। देश के कई स्पीकर सदन के नेता के पिछलग्गू ही ज्यादा सिद्ध हुए हैं।

— कनक तिवारी

भारतीय संविधान-7

न्यायपालिका

(Indian Constitution-7)

संविधान सभा ने तीन वर्षों की बहस के बाद भारत के इतिहास में पहली बार स्वतंत्र न्यायपालिका की स्थापना की। प्राचीन भारतीय व्यवस्था में शासक ही न्याय-प्रमुख था। शासन प्रमुख के रूप में लिए गये निर्णयों और व्यवस्था के कार्यों की जवाबदेही लेते हुए उसे न्यायोन्मुख आत्म-समीक्षा करनी होती थी। उसे नैतिक बनाये रखने के लिए गुरुकुल, आश्रम, राजमहल और दरबार में निष्पक्ष लोगों की उपस्थिति होती थी। मौजूदा संविधान पूरी तौर पर युरो-अमेरिकी आधुनिक अवधारणा पर आधारित है। ब्रिटिश शासनकाल में प्रशासक ही निचले स्तर पर न्याय अधिकारी होते थे। कालांतर में न्यायपालिका और कार्यपालिका को अलग किया गया। हाईकोर्ट और सुप्रीम कोर्ट संविधानजनित होने के बावजूद संविधान की व्याख्या करने और जरूरत पड़ने पर विधायिकाओं के अधिनियमों को निरस्त करने में समर्थ हैं। अमेरिकी नस्ल के मूल अधिकारों के भारतीय रूपांतरण पर विचार करते हुए अंग्रेजी पद्धति के अनुतोष और राहत देने के अधिकार हैं। हाई कोर्ट और सुप्रीम कोर्ट पर बौद्धिक अकादमिक और नैतिक उत्तरदायित्व हैं। उनके पालन के जरिये संविधान के मकसदों को फलीभूत किया जा सकता है। संविधान की प्रारूप समिति के अध्यक्ष डॉ. भीमराव आम्बेडकर ने न्यायपालिका की भूमिका को जरूरत से ज्यादा अहमियत दी थी। उनका सद्भावनापूर्ण विश्वास था कि भविष्य में ऊँची अदालतों के न्यायाधीश अपेक्षित आदर्श आचरण करेंगे। यही वजह है कि संविधान में केंद्र सरकार या संसद का कोई मुख्यालय निर्धारित नहीं किया गया है लेकिन सुप्रीम कोर्ट को दिल्ली में ही स्थापित करने का उल्लेख है।

संविधान में हाईकोर्ट का क्षेत्राधिकार सुप्रीम कोर्ट से ज्यादा विस्तृत है। यह बात स्वयं सुप्रीम कोर्ट ने कही है। सुप्रीम कोर्ट केवल मूल अधिकारों के क्षतिग्रस्त होने पर हस्तक्षेप करता है। वैधानिक, नागरिक, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक आधारों पर हाईकोर्ट को अधिकारिता होती है। इन संविधान न्यायालयों को गठित करने का मकसद यही था कि आजाद देश में यह महसूस हो कि मनुष्य ज्यादा गरिमामय हो गया है। वह ब्रिटिश काल का दोयम दर्जे का भारतीय नहीं रहा। वह हर सरकारी अन्याय के खिलाफ अदालतों का दरवाजा खटखटा सकता है। अपेक्षा की गयी है कि अदालतें संविधान की आयतों के अनुरूप फ़ौरी न्याय भी देंगी। फिर भी, संविधान लागू होने के बाद न्यायपालिका ने अपने अधिकार-क्षेत्र का विस्तार किया है

और 'न्यायिक पुनरावलोकन' का सिद्धांत स्थापित किया है। इस संदर्भ में सबसे पहले गोलकनाथ मामले (1967) में अदालत ने यह फैसला दिया कि उसे मूल अधिकारों में संविधान में होने वाले संशोधनों का पुनरावलोकन का अधिकार है। यह संविधान की धारा 368 में संसद में दिये गये संविधान संशोधन के अधिकार पर सीमा लगाने जैसा था। संसद ने चौबीसवें और पच्चीसवें संविधान संशोधन के माध्यम से यह स्पष्ट किया कि उसे संविधान के किसी भी भाग में संशोधन करने का अधिकार है। बाद में, केशवानंद भारती (1973) फैसले के माध्यम से उच्चतम न्यायालय ने इस विवाद का अंत किया। उसने यह स्वीकार किया कि संसद संविधान के किसी भी भाग में संशोधन कर सकती है, लेकिन वह उसके बुनियादी ढाँचे में बदलाव नहीं कर सकती है। यद्यपि अदालत ने बुनियादी ढाँचे को पूरी तरह से परिभाषित नहीं किया, लेकिन इस फैसले से उसे हर संविधान संशोधन की पुनरीक्षा करने का अधिकार मिल गया।

संविधान निर्माताओं ने ऊँची अदालतों का आकाश बुनने में दुनिया के कई संविधानों से प्रेरणा ही नहीं बल्कि उधार लिया है। उनकी यह कोशिश भी रही है कि अदालतों को सम्मान की गरिमा से लीपा जाए। इससे कार्यपालिका और विधायिका सहित आम जनता को भी यह महसूस हो कि यह बेहद महत्वपूर्ण संस्था लोकतंत्र के विकास के लिए स्थापित की गयी है। विंस्टन चर्चिल ने कहा था कि न्यायाधीशों को जीवन और आचरण के मानदण्डों पर सामान्य लोगों से अधिक खरा उतरना होता है। भय, पक्षपात, स्नेह और दुर्भावना से परे जाकर न्यायाधीश को अंतरात्मा की आवाज पर न्याय करना होता है। अंग्रेजी जुमले में उसे सीज़र की पत्नी की तरह संदेह से परे रहना चाहिए। लेकिन संविधान निर्माताओं ने न्यायाधीशों की जवाबदेही का कोई समीकरण नहीं लिखा। निष्पक्षता न्यायप्रियता का समाप्त है। फिर भी न्यायाधीशों के लिए भ्रष्ट, बिकाऊ, दुराचारी और पक्षपाती जैसे बने बनाये लेबल दलाली के बाजार में सुनायी पड़ते हैं। सामान्य जाँच से परे रखे जाने वाले न्यायाधीश स्थाई मिस्टर क्लीन की भूमिका में समझे जाते हैं। जिन तार्किक हथियारों से न्यायाधीश किसी अन्य अधिकारियों को दोषी सिद्ध करते हैं, उन्हें अपने खिलाफ़ इस्तेमाल होने की सम्भावना को वे अन्याय के विद्रूप की तरह समझते हैं।

विधायिका और कार्यपालिका की तरह न्यायपालिका संविधान के त्रिभुज का महत्वपूर्ण अंग है। यूनान के सत्यशोधक दार्शनिक सुकरात ने न्यायाधीश के चार गुण बताये हैं : उदारतापूर्वक सुनना, बुद्धिमय उत्तर देना, संयमित विचार करना और निष्पक्षतापूर्वक फैसला करना। सदियों तक न्यायाधीशों के इन गुणों पर पुनर्विचार की ज़रूरत किसी को महसूस नहीं हुई है। भारतीय संविधान में भी अनेक जन-

अधिकार दर्ज हैं। उनकी व्याख्या करना विधायिका और कार्यपालिका के बदले न्यायपालिका की ज़िम्मेदारी है। क़ानून के समक्ष समता, अंतःकरण एवं अभिव्यक्ति की आज़ादी, धार्मिक स्वायत्तता वगैरह मनुष्य की संदर्भित गरिमाएँ न्यायपालिका की व्याख्याओं के हवाले हैं। लोगों को अपने अधिकारों के नष्ट होने या छिन जाने का लगातार ख़तरा बना होता है। अन्यायी हथियारों में नौकरशाही सबसे प्रमुख है। पीड़ित व्यक्ति अदालतों के दरवाज़ों पर दस्तक देता है। न्यायालयों को ऐसी हालत में जन-न्याय करने के लिए संविधान ने असाधारण अधिकार भी दिये हैं। वे संसद और विधानसभाओं में पारित अधिनियमों तक को रद्द कर सकते हैं। साथ ही न्याय-निर्णयों को लागू करने के आदेश भी दे सकते हैं। आवश्यक होने पर न्यायालयों की अवमानना करने के लिए दण्डित भी कर सकते हैं। यह कहना बेमानी, ग़लत और निरर्थक है कि न्यायाधीश राज्य सत्ता की शाही थैली और तलवार दोनों के दुरुपयोग पर नियंत्रण कर सकते हैं। लेकिन फिर भी विधायिका और कार्यपालिका से पिटा आम आदमी न्यायपालिका के विवेक पर ही निर्भर होता है।

एक अवधारणा न्यायालय की भाषा को लेकर भी है। अंग्रेज़ी के मुकाबले हिंदी अथवा प्रादेशिक भाषा में न्याय करते हुए हमारे संविधान न्यायालय भी भविष्य की पीढ़ियों के लिए सोच विचार और संवाद की एक ताज़ातरीन अभिव्यक्ति गढ़ सकते हैं। न्यायाधीश सामाजिक जीवन के विग्रह के कीचड़ में रहकर भी अपना यश बचाये रख सकते हैं। उन्हें निजी पुस्तकालय विकसित करना तथा न्यायिक क्षेत्र में किये जा रहे शोध-कार्यों से परिचित होना श्रेयस्कर है। कम्प्यूटर और इंटरनेट के युग में ऐसा करना ज़रूरी है। वरिष्ठ न्यायाधीशों, अधिवक्ताओं तथा विधि के प्राध्यापकों से सम्पर्क रखना भी कनिष्ठ न्यायाधीशों के लिए उचित होगा। निचली अदालतों में मातृभाषा गूँजती है। पक्षकार को कुछ-कुछ समझ में आता है कि क्या कुछ हो रहा है। लेकिन उच्चतम और उच्च न्यायालय तो अंग्रेज़ी के संगीत के रियाज़-घर हैं। वहाँ तरह तरह की अंग्रेज़ी चहकती है। कहीं पंजाबी, कहीं बंगाली या मद्रासी या बिहारी। पक्षकार को समझ ही नहीं आता कि जज साहब सहसा हँसने क्यों लगते हैं या फिर वह उसके वकील को डाँटने क्यों लगते हैं। अंग्रेज़ी फिल्मों के दर्शकों की तरह न्यायालय कक्ष में बैठे लोग थोड़े-थोड़े अंतराल में हँसते रहते हैं। बाहर निकलकर एक वकील साहब अपने पक्षकार को बताते हैं कि वह जीत गया। दूसरे वकील साहब अपने पक्षकार को बताते हैं कि वह हार गया।

सुप्रीम कोर्ट ने पिछले कई वर्षों से एक अनुदार संकोच भी ओढ़ लिया है कि उसे जनहित याचिकाओं को महत्व नहीं देना है। जनहित याचिकाओं का थोड़ा बहुत दुरुपयोग हुआ होगा। लेकिन इस नायाब नुस्खे ने भारतीय न्यायिक जीवन में

नयी आस्था का संचार भी किया है। जनहित याचिकाओं के विरोधी न्यायाधीश कृष्णा अय्यर और भगवती जैसे कालजयी न्यायविदों के मुक्क़ाबले कहाँ ठहर पायेंगे। न्यायिक सक्रियता के मौसम में देश और दुनिया को कुछ बेहतर महसूस होता रहा है।

स्वतंत्र न्यायपालिका की शुरुआत में उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों ने स्वस्थ परम्पराएँ विकसित की। कुछ विश्वस्तरीय प्रणम्य न्याय-निर्णय हुए। बहुत से उच्च कुलीन न्यायाधीश इंग्लैण्ड में ही पढ़े थे। उनकी तात्त्विक समझ बर्तानवी विधि में होने के बावजूद उन्होंने देशज तर्कशीलता के अच्छे उदाहरण प्रस्तुत किये। फिर प्रयोगधर्मी दौर आया। ब्रिटिश विधि में पारंगत न्यायविदों ने विशेषकर सम्पत्ति के अधिकार को अहमियत देनी शुरू की। इससे नवधनाढ्य उद्योगपतियों और भारतीय कम्पनियों को फ़ायदा हुआ। इंदिरा-युग में राष्ट्रीयकरण का नारा इसीलिए बुलंद हुआ। संविधान को ही बुनियादी तौर पर परिवर्तित करने के प्रयत्न हुए। लेकिन आपातकाल में सुप्रीम कोर्ट की मुश्कें कस दी गयीं। तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश वाई.वी. चंद्रचूड़ ने बाद में आत्मग्लानि के साथ यह स्वीकार भी किया कि न्यायपालिका आपातकाल में ख़ौफ़ज़दा हो गयी थी। देश और सुप्रीम कोर्ट एक साथ मिलकर कई अवरोधों से लड़ चुके हैं। जस्टिस कृष्णा अय्यर, पी.एन. भगवती, के.के. मैथ्यू, सगीर अहमद, चिनप्पा रेड्डी आदि ने कई मोर्चों पर जनहित याचिकाओं और न्यायिक सक्रियता के मानदण्ड स्थिर किये। फिर वैश्विक बाज़ारवाद का शिकंजा भारत पर कसता गया। उसके कारण ऐसी विचारधारा सत्तामूलक हुई जो वैश्विक बाज़ार के अनुकूल है। बाज़ारवाद की संस्कृति में भी कई न्यायाधीश हैं जो न्यायिक इतिहास के नये परिच्छेद लिख सकते हैं, बशर्ते उनमें वही कर्तव्य बोध, नैतिक शक्ति और सत्य के प्रति आग्रह की अंतःसलिला बहती रहे। सुप्रीम कोर्ट का काम केवल किसी की टाँग खिंचाई या जगहँसाई कराना नहीं है। कार्यपालिकाओं को गुमान हो गया है कि अदालतें उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकतीं। जब तक कार्यपालिका को यह अहसास रहेगा कि अदालतें उसके साथ हैं, तब तक लोकतंत्र के ऊपर विनाश के बादल मंडराते रहेंगे। एक बार इतिहास न्यायिक सक्रियता और जनहित याचिकाओं की वापसी के युग में फिर आ सकता है। कई न्यायाधीश वक्रत के साथ नहीं चल पा रहे हैं। उनका ज्ञान संकीर्ण, दृष्टिकोण बासी और सेवा भावना पूँजीपतियों की तरह है। लोकतंत्र में सुप्रीम कोर्ट को जनता पर हुकूमत नहीं, नुमाइंदगी करनी होती है। मौजूदा सुप्रीम कोर्ट के कई न्यायाधीश अपनी पीड़ा के साथ ऐसा इज़हार करते रहते हैं।

— कनक तिवारी

भारतीय संविधान-8

पंचायती राज

(Indian Constitution-8)

डॉ. राजेंद्र प्रसाद पहले अपवाद थे जिन्होंने बापू के पंचायती राज के संविधान के प्रारूप में विलोप के कारण कुछ खटपट की थी। प्रसाद ने 10 मई, 1948 को संविधिक सलाहकार बी.एन. राव को पत्र लिखा कि वे संविधान के प्रारूप में कुछ संशोधन प्रस्तुत करना चाहते हैं। इस पत्र के साथ राजेंद्र प्रसाद ने एक लेख की कतरन भी भेजी थी। यह लेख स्वतंत्र नामक पत्र में 24 अप्रैल, 1948 को किन्हीं के.एस. वेंकटरमणी के नाम से प्रकाशित हुआ था। प्रसाद ने दो टूक लहजे में लिखा, गाँव इस देश में हमारी बुनियादी इकाई रहे हैं और रहेंगे। राजेंद्र प्रसाद गाँधी की तरह बालिग मताधिकार के आधार पर केवल ग्राम पंचायतों का चुनाव कराये जाने के पक्षधर थे। उसके बाद पंचायतें प्रदेश और केंद्र की विधायिकाओं का निर्वाचन कर सकती थीं। जितनी दृढ़ता से राजेंद्र प्रसाद ने ग्राम पंचायतों की संसदीय गरिमा की वकालत की थी, लगभग उतनी ही दृढ़ता से सलाहकार ने उनके प्रस्ताव को खारिज कर दिया। उनके अनुसार निचले स्तर की स्वायत्त संस्थाओं की विधायन जैसे महत्वपूर्ण अधिकारों का सीधा निर्वाचक बनाना सम्भव और उचित नहीं होगा।

संविधान सभा में संविधान के उद्देश्यों तथा लक्ष्यों वाला प्रस्ताव 13 दिसम्बर, 1946 को लाया गया। अगस्त, 1947 में संविधान सभा में प्रस्तावित संविधान का प्रारूप बी.एन. राव के सलाहकार नेतृत्व की टीम ने प्रस्तुत किया। सदस्यों की खुसफुसाहट के बीच 29 अगस्त, 1947 को संसदीय कार्यमंत्री ने एक समिति गठित करने का प्रस्ताव रखा, जो संविधान के प्रस्तावित मूलपाठ के सूक्ष्म परीक्षण के बाद आवश्यकतानुसार संशोधन सुझाये। उपसमिति ने अंततः 4 नवंबर, 1948 को संशोधित प्रारूप बहस के लिए मुहैया कराया। इसी बीच उप-समिति द्वारा संविधान का प्रारूप सदस्यों के बीच विचारार्थ वितरित किया गया। संशोधित प्रारूप में पंचायती राज व्यवस्था के संबंध में कोई उल्लेख नहीं था। पूरे विषय का ही विलोप संविधान के मूलपाठ में शुरू से विद्यमान रहा। संविधान के उद्देश्यों तथा लक्ष्यों पर बहस के दौरान कई सदस्यों ने पंचायती राज के उल्लेख की उपेक्षा का पुरजोर सवाल उठाया।

संविधान सभा में 4 से 9 नवम्बर 1948 के बीच पंचायत व्यवस्था की उपेक्षा को लेकर एक जीवंत बहस हुई। अनेक सदस्यों ने गाँधी का उद्धरण देते हुए कठोर स्वरो में यह तर्क रखा कि जब तक संविधान में पंचायत व्यवस्था पर

आधारित स्वराज्य की परिकल्पना की प्रतिबद्धता परिभाषित नहीं की जाती, तब तक संविधान की रचना का ही कोई अर्थ नहीं है। सदस्यों की उत्तेजना का एक महत्वपूर्ण कारण डॉ. आम्बेडकर के भाषण का वह अंश था, जिसमें उन्होंने भारतीय गाँवों की राजनीतिक स्थिति का मर्माहत कर देने वाले शब्दों में खाका खींचा था। आम्बेडकर ने उन सदस्यों को आड़े हाथों लिया था जिन्होंने भावावेश में संसदीय बहस में यहाँ तक कह दिया था कि अगर पंचायती राज की व्यवस्था संविधान सभा में नहीं हो सकती तो वे केंद्र तथा राज्य सरकारों का गठन भी नहीं चाहते। आम्बेडकर ने तलखी में यह कहा कि बुद्धिजीवियों का ग्रामीण प्रेम असीम और कारुणिक दिखाई पड़ता है। उन्होंने व्यंग्य किया कि ऐसा प्रतीत होता है कि इन कथित बुद्धिजीवियों का ग्रामीण प्रेम सर चार्ल्स मेटकाफ़ नामक ब्रिटिश बुद्धिजीवी का भारत के गाँवों का वर्णन था (जिसे उसने इंग्लैण्ड में हाउस ऑफ़ कामन्स की विषय समिति के समक्ष रखा था)। आम्बेडकर ने कहा कि भारतीय गाँवों ने भले ही विदेशी आक्रमणकारियों के हमले झेले होंगे, परंतु उन्होंने लगभग शत्रुमर्ग की प्रवृत्ति का परिचय दिया और किसी तरह जीवित भर रहे हैं। आम्बेडकर ने बेलाग होकर यह कहा कि यह कथित ग्रामीण गणतंत्र भारत की बर्बादी रहे हैं। उन्होंने सदस्यों से मुखतिब होकर पूछा कि गाँव क्या हैं, सिवाय इसके कि स्थानीय झगड़ों के नाबदान के। वे अज्ञान, संकीर्णता तथा सम्प्रदायवाद की मांद हैं। आम्बेडकर ने यहाँ तक कहा कि उन्हें इस बात की प्रसन्नता है कि संविधान के प्रारूप में गाँवों की बुनियादी इकाइयों के रूप में उपेक्षा की गयी है और उसके बदले व्यक्तियों को इकाई बनाया गया है।

डॉ. आम्बेडकर के कथन की संविधान सभा में कड़ी आलोचना हुई। एक के बाद एक सदस्य ने उठकर उनके कथन का प्रतिकार किया। दामोदर स्वरूप सेठ, शिबनलाल सक्सेना, हरि विष्णु कामथ, लोकनाथ मिश्रा, काजी सैयद करीमुद्दीन, पंजाब राव देशमुख, अरुण चंद्र गुहा, टी. प्रकाशम, के. सन्थानम, आर.के. सिधवा, पं. ठाकुरदास भार्गव, चौधरी रणवीर सिंह, मुनिस्वामी पिल्लै, दक्षयानी वेलायुधन, गोकुल भाई दौलतराम भट्ट, अलादि कृष्णास्वामी अय्यर, एन.जी. रंगा, एम. अनंतशयनम आर्यंगार, महावीर त्यागी, कृष्णास्वामी भारती, किशोरीमोहन त्रिपाठी, विशम्भरदयाल त्रिपाठी, मोटूरी सत्यनारायण, सुरेश चंद्र मजूमदार, एम. माधवदास आदि ने डॉ. आम्बेडकर के कथन का कड़ा प्रतिवाद किया।

भारतीय संविधान की रचना का धूमिल खयाल शायद गाँधी के जेहन में उसी वक्त आ गया था, जब उन्होंने तिलक के अवसान के बाद कांग्रेस का एक वांछित संविधान के साथ परिष्कार किया था। गाँधी ने कांग्रेस के संविधान में इस बात

का प्रावधान किया था कि लगभग 80 प्रतिशत सदस्य अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति में केवल ग्रामीण चुनाव केंद्रों से निर्वाचित होकर जाएँ। उन्होंने अलग प्रस्ताव द्वारा अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संघ की स्थापना को भी कांग्रेस की केंद्रीय घोषणा में शामिल किया था। इसी कारण शायद गाँधी 1922 में अंग्रेज़ सरकार द्वारा छह वर्ष के लिए गिरफ्तार भी किये गये थे क्योंकि ब्रिटिश हुकूमत को इस बात का भय था कि गाँधी धीरे-धीरे (बल्कि शायद तेज़ी से) अपने पैर भारत के सात लाख गाँवों में पसार कर हुकूमत के लिए मुसीबत खड़ी कर सकते हैं। गाँधी हालाँकि दो वर्ष बाद रिहा कर दिये गये परंतु उन्होंने उपरोक्त ग्रामीण विचार-समुच्चय को अपने मस्तिष्क से कभी रिहा नहीं किया। ओडीशा के प्रतिनिधि माधवराव ने गाँधी के पुराने कथन को उद्धरित करते हुए याद दिलाया कि कांग्रेस के संविधान के संशोधन के पहले गाँधी ने खुलकर कहा था कि यदि कांग्रेस में अधिकांश सदस्य गाँवों से चुनकर आते हैं तब ही वे हमारे गाँवों के लिए कम से कम सफाई के आदर्श मॉडल अपने अनुभव के आधार पर बना सकेंगे। डॉ. आम्बेडकर की भारतीय ग्रामों के संबंध में की गयी तीखी टिप्पणी भले ही विवादग्रस्त मानी जाए, वह विचारोत्तेजक भी रही है। इसमें कोई शक नहीं कि अपनी तलखी, कटाक्ष, व्यंग्य और निष्कपट साफ़गोई के बावजूद आम्बेडकर की टिप्पणी तथ्यात्मक दृष्टि से पूरी की पूरी गलत नहीं थी।

पंचायत राज की परिकल्पना को लेकर एक ऐसा वक्तव्य भी संविधान सभा में दिया गया था जिसकी प्रासंगिकता आज कहीं अधिक गहरी दिखाई देती है। इस वक्तव्य में एक ओर तो संविधान निर्माताओं को चेतावनी दी गयी थी कि भारतीय आदर्शवादी और भावुक लोग हैं जिन्हें अपने अतीत और व्यतीत से गहरा प्रेम है। वहीं दूसरी ओर ग्राम पंचायत प्रणाली के आग्रही संस्थापकों को भी उन्होंने लगभग झकझोरते हुए कहा कि यदि ग्रामीणों को राज्य व्यवस्था के लिए पूरी तौर पर प्रशिक्षित नहीं किया गया तो उसके दुष्परिणाम भी उन्हें भोगने होंगे। पश्चिम बंगाल के डॉ. मनमोहन दास ने प्रारूप समिति और सदस्यों के बीच हुई सैद्धांतिक तकरार में लगभग मध्यस्थ की शक्ति में कहा कि यदि संविधान के मूल पाठ में ही ग्रामीण पंचायत का उल्लेख तक नहीं हुआ है तो शायद संविधान निर्माताओं का मकसद रहा होगा कि विधायन का यह दायित्व राज्यों पर छोड़ा जाए क्योंकि अनेक राज्यों ने इस संबंध में विधायन की प्रक्रिया शुरू भी की है। दास ने बेलाग होकर कहा कि जब तक हमारे ग्रामीण बंधु पर्याप्त शिक्षित और राजनीतिक दृष्टि से सजग तथा नागरिक अधिकारों के प्रति उत्तरदायी नहीं बन जाते तब तक उन्हें केवल अधिकार और सुविधाएँ देने से उत्तरदायी आचरण के योग्य नहीं बनाया जा सकता। उन्होंने एक खतरे की ओर भी संकेत किया था कि यदि ग्रामीणों को

पूरी तौर पर शिक्षित करने के पहले ही पंचायत की प्रशासनिक व्यवस्था लागू कर दी गयी तो सत्ता के दलालों की बन आयेगी। जमींदार, तालुकदार, महाजन और सभी तरह से सत्ता के दलाल ग्रामीण प्रतिनिधियों का मुखौटा लेकर इस पूरी प्रणाली का शोषण करेंगे।

संविधान सभा में कुछ ऐसे सदस्य भी रहे हैं जिन्होंने प्रारूप समिति द्वारा भारत के संविधान के मूल पाठ के प्रति एतराज नहीं किया बल्कि उसे समर्थन दिया। बालकृष्ण शर्मा नवीन, बेगम एजाज रसूल, सारंगधर दास, रामचन्द्र गुप्ता, ओ.पी. अलगेसन, दुर्गाबाई देशमुख, सरदार सोचेतसिंह, जसपतराय कपूर आदि ने एक मजबूत केंद्र की अवधारणा के पक्ष में अपने बयान किये। गाँधी के निधन के कुछ माह बाद हुए संवैधानिक वाद विवाद में गाँधी के विचार धूमिल भी हो रहे थे। आजादी के आंदोलन में सक्रिय हिस्सेदारी करने वाले कुछ सदस्यों को भी गाँधी का ग्राम्य विचार संदर्भहीन नजर आने लगा था। इस सिलसिले में हिंदी के समर्थक और लेखक बालकृष्ण शर्मा नवीन का यह कथन ध्यान देने योग्य है : 'महात्मा गाँधी अतिकेंद्रकरण, ओवर सेंट्रलाइजेशन के विरुद्ध थे। मेरे मित्र को यह पता होना चाहिए कि इंसेशियली महात्मा गाँधी वाज एन एनार्किस्ट। महात्मा गाँधी एक फिलॉसॉफिकल अनार्किस्ट, एक अराजकतावादी थे। तत्त्व रूप से वह अराजकता को हितकर समझते थे, क्योंकि वह व्यक्ति को इतना ऊँचा बना देना चाहते थे, जहाँ उसे किसी प्रकार के बाह्य नियंत्रणों की आवश्यकता न हो। हम और आप इतने ऊँचे प्राणी नहीं हैं। हमारे लिए अराजकतावाद और महात्मा गाँधी के शब्दों को दुहरा कर उनके अनुसार कार्य करने का प्रयास हास्यास्पद होगा, और इसलिए महात्मा गाँधी के शब्द यहाँ पर दुहराना व्यर्थ है।'

कुल मिलाकर संविधान सभा की केंद्रीय बहस में जब पंचायती राज की अवधारणा को मूल अधिकारों के परिच्छेद में उल्लेख नहीं होने पर नीति निर्देशक सिद्धांतों के खण्ड में रखा गया तब अधिकतर सदस्यों की चेतना एक गहरे अपराध बोध से ग्रस्त हो गयी थी। लगभग सभी सदस्यों ने इस बात पर क्षतिपूर्ति मिलने की शैली में संतोष व्यक्त किया कि भले ही स्वशासन की इस बुनियादी पाठशाला को मूलभूत अधिकारों में स्थान नहीं मिला, तब भी नीति निर्देशक सिद्धांतों के तहत उसे रखने से अब राज्य की विधायिकाओं का कर्तव्य होगा कि पंचायत राज की अवधारणा को गाँधी जी के सपनों के संदर्भ में बल्कि भारतीय राजनीतिक सिद्धांतों को पुष्ट किया जाए।

विकास की अवधारणा को लेकर संविधान में एक महत्वपूर्ण संशोधन तब हुआ जब नीति निर्देशक सिद्धांतों के अध्याय में उल्लिखित पंचायती राज और नगर पालिका

संस्थाओं को संविधान के 73वें और 74वें संशोधन के द्वारा संवैधानिक दर्जा किया गया। अनेक तरह के प्राथमिक और मैदानी विकासों की जिम्मेदारियों से इन संस्थाओं को युक्त घोषित किया गया ताकि उच्च कुलीन राजनीति संस्थाओं पर उनकी निर्भरता कम हो।

देखें : अनुसूचित जातियाँ, अनुसूचित जनजातियाँ, अन्य पिछड़े वर्ग, आदिवासी प्रश्न-1 से आरक्षण, कन्हैयालाल माणिक लाल मुंशी, भारत में सार्विक मताधिकार, भीमराव रामजी आम्बेडकर, रॉल्स का न्याय-सिद्धांत, अरस्तू, आदिवासी प्रश्न-1, 2, 3 और 4, भारत में स्त्री-आरक्षण-1 और 2, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1 से 3 तक।

संदर्भ

1. डॉ. दुर्गा दास बसु (2007), *इंड्रोडक्शन टू द कॉन्स्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया* (उन्नीसवाँ संस्करण), वाधवा, नागपुर.
2. शिवानी किंकर चौबे (2009), *द मेकिंग ऐंड वर्किंग ऑफ द कॉन्स्टीट्यूशन*, नेशनल बुक ट्रस्ट, नयी दिल्ली.
3. राजीव भार्गव (सम्पा.) (2008), *पॉलिटिक्स ऐंड इथिक्स ऑफ कॉन्स्टीट्यूशन*, ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
4. राजीव भार्गव (2008) 'इंट्रोडक्शन : आउटलाइन ऑफ अ पॉलिटिकल थियरी ऑफ कॉन्स्टीट्यूशन', राजीव भार्गव (सम्पा.), *पॉलिटिक्स ऐंड इथिक्स ऑफ कॉन्स्टीट्यूशन*, ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
5. भीखू पारिख (2008), 'द कॉन्स्टीट्यूशन ऐज अ स्टेटमेंट ऑफ आइडेंटिटी', राजीव भार्गव (सम्पा.), *पॉलिटिक्स ऐंड इथिक्स ऑफ कॉन्स्टीट्यूशन*, ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
6. थॉमस पैथम (2008), 'गाँधी ऐंड द कॉन्स्टीट्यूशन : पार्लियामेंटरी स्वराज ऐंड विलेज स्वराज', राजीव भार्गव (सम्पा.), *पॉलिटिक्स ऐंड इथिक्स ऑफ कॉन्स्टीट्यूशन*, ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
7. इवोर जैनिंगस (1953), *सम कैरेक्टरिस्टिक्स ऑफ कॉन्स्टीट्यूशन*, ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफर्ड.
8. सी. एच. अलेक्जेंडर (1957), *कॉन्स्टीट्यूशनल डिवलपमेंट इन इण्डिया*, ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफर्ड.
9. बी. शिवा राव, (1967), *द फ्रेमिंग ऑफ कॉन्स्टीट्यूशन : सेलेक्टेड डॉक्यूमेंट्स*, खण्ड 1, इंस्टीट्यूट ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, नयी दिल्ली.
10. सेसिल फ्रेबर (1999), *सोशल राइट्स अंडर द कॉन्स्टीट्यूशन*, ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफर्ड.
11. विभूति भूषण मिश्र (1987), *इवोल्यूशन ऑफ द कॉन्स्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, 1773-1945*, मित्तल पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली.
12. एस.वी. देशिका चर (1983), *रीडिंग्ज़ इन द कॉन्स्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, 1757-1947*, ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
13. विद्याधर महाजन (1971), *कॉन्स्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, इनक्लूडिंग द नेशनलिस्ट मूवमेंट*, एस. चाँद, नयी दिल्ली.
14. आर्थर बेरीडेल कीथ (1961), *ए कॉन्स्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, 1600-1935*, मेथ्युन, मिशिगन.
15. आर.सी. लाहोटी (2004), *द स्पिरिट ऐंड द बैकबोन ऑफ द*

- कांस्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया, ईस्टर्न बुक कम्पनी, लखनऊ.
14. एस.एन. मिश्रा और एस.एस. सिंह (1993), *रोड्स टू मॉडल पंचायती राज*, मित्तल पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली.
 15. एच. एम. सीरवई (1991), *द कांस्टीट्यूशनल लॉ ऑफ इण्डिया, अ क्रिटिकल कमेंट्री*, एम. एन. त्रिपाठी, बम्बई..
 16. दुर्गादास बसु (1982), *इंट्रोडक्शन टू द कांस्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया*, प्रेंटिस हॉल ऑफ इण्डिया, नयी दिल्ली.
 17. ऐलेन ग्लेडहिल (1955), *फंडामेंटल राइट्स इन इण्डिया*, स्टीवन ऐंड संज, न्यूयॉर्क.
 18. के.पी. कृष्णा शेटी (1969), *फंडामेंटल राइट्स ऐंड सोसियो-इकॉनॉमिक जस्टिस इन द कांस्टीट्यूशन*, चैतन्य पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.
 19. ग्रेनविले ऑस्टिन (1966), *द कांस्टीट्यूशन : कॉर्नरस्टोन ऑफ अ नेशन*, ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
 20. एन.वी. राजकुमार (1948), *डिवेलपमेंट ऑफ द कांग्रेस कांस्टीट्यूशन*, इण्डियन नेशनल कांग्रेस, नयी दिल्ली.
 21. मामीडिपुडी वेंकटरंगैया (1945), *द केस फॉर अ कांस्टीट्यूट एसेम्बली ऑफ इण्डिया : अ हिस्टोरिकल ऐंड कम्परेटिव स्टडी*, हिंद किताब, नयी दिल्ली.

— कनक तिवारी

भारतीय संघवाद

(Indian Federalism)

संघवाद भारतीय राजनीतिक प्रणाली का मुख्य लक्षण है। संविधान-निर्माताओं ने भारत की बहुजातीय, बहुसांस्कृतिक, बहुभाषी और बहुधार्मिक सामाजिक संरचना के मद्देनजर राजनीतिक प्रणाली की संकल्पना राज्यों के एक ऐसे संघ के रूप में की थी जिसे एक सुदृढ़ केंद्र के जरिये एकता के मजबूत बंधनों में बाँधना था। आज़ादी के फ़ौरन बाद भारतीय नेतृत्व ने बाहरी और भीतरी ख़तरों की चुनौतियों के साथ-साथ तेज़ विकास और आधुनिकीकरण की माँगों से निबटने के लिए केंद्र को ताक़तवर करने पर जोर दिया, और साथ में केंद्रीकृत नियोजित विकास की पद्धति अपनायी। इस तत्कालीन रुझान के कारण संवैधानिक और राजनीतिक धरातल पर भारतीय राजनीतिक प्रणाली में संघवाद का संस्थानीकरण पुष्ट नहीं हो पाया। लेकिन शुरुआती दौर की दुश्चिंताओं के गुज़र जाने के बाद इस प्रणाली ने क्षेत्रीय हितों और राज्यों के अधिकारों की चिंता करनी शुरू कर दी। आज का भारत संघात्मक तर्ज पर विकसित होते हुए एक बहुभाषी, बहुसांस्कृतिक और बहुजातीय संघ बन चुका है, एक ऐसा संघ जो राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय अभिव्यक्ति के लिए सुदृढ़ केंद्र पर निर्भर है।

संघात्मकता के विकास की प्रक्रिया कुल मिला कर तीन चरणों में चली। पहला दौर आज़ादी मिलने से लेकर साठ के दशक के मध्य तक रहा। राजनीतिशास्त्रियों के बीच यह अवधि 'कांग्रेस प्रणाली' के वर्चस्व के रूप में और संघवाद के लिहाज़ से यह भाषाई आधार पर राज्यों के पुनर्गठन के लिए भी जानी जाती है। मोटे तौर पर यह कांग्रेस-शासित केंद्र और उसी के प्रभाव में चलने वाले राज्यों का ज़माना था। प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू क्षेत्रीय राजनीति में सीधा हस्तक्षेप करने के बजाय मध्यस्थता का रवैया अपनाते थे। कांग्रेस ज़रूरत पड़ने पर स्थानीय नेतृत्व को राष्ट्रीय सत्ता की संरचना के साथ जोड़ने के लिए उन्हें रियायतें देने के लिए तैयार रहती थी। दूसरा दौर 1967 में चौथे लोकसभा चुनाव के बाद शुरू हुआ जिसके परिणामस्वरूप देश में कांग्रेस की राजनीतिक ताक़त काफ़ी घट गयी। उसमें सांगठनिक विभाजन भी हो गया। अस्सी के दशक तक चलने वाला यह दौर उदीयमान क्षेत्रीय राजनीतिक ताक़तों और केंद्र में सत्तारूढ़ शक्तियों के बीच एक संक्रमणकालीन क्रिस्म की आपसी होड़ का था। इस दौरान केंद्र ने कई बार संवैधानिक प्रावधानों का प्रयोग करके चुनी हुई राज्य सरकारों को भंग किया, और सत्तारूढ़ पार्टी के राजनीतिक स्वार्थों को सिद्ध करने के लिए राज्यपालों से मनमानी रपटें मँगायी गयीं। यही वह दौर था जब केंद्र और राज्यों के बीच संसाधनों के बँटवारे का विवाद उभरा और इस संबंध की जाँच करने के लिए सरकारिया आयोग बैठाया गया। तीसरा दौर अस्सी के दशक के आखिरी वर्षों से शुरू हुआ, जब क्षेत्रीय ताक़तों राज्यों के दायरे से निकल कर केंद्रीय राजनीति में हस्तक्षेप करने और कांग्रेस विरोधी राष्ट्रीय दलों के साथ गठजोड़ बना कर सत्तारूढ़ होने की स्थिति में आ गयीं। यह तीसरा दौर संघात्मकता को शिखर पर पहुँचाने वाला साबित हुआ।

इस समय भारत की शासन-प्रणाली दिल्ली स्थित केंद्र और संघीय इकाइयों (28 राज्यों और सात केंद्र शासित प्रदेशों) के बीच बँटी हुई है। संविधान पूरे देश के लिए एक ही नागरिकता का प्रावधान करता है। लोग केवल भारत के ही नागरिक हो सकते हैं, प्रदेशों की अलग से नागरिकता के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। संविधान ने अपने अनुच्छेद 5, 11, 14, 15, 44, 131-41 और 312 से भी साफ़ कर दिया है कि भारतीय राज्य संघात्मक होते हुए भी केंद्राभिमुख है। अनुच्छेद 365 के तहत संघीय संसद और कार्यपालिका को राज्यों के बरक्स सभी मामलों में बढ़ोतरी दी गयी है। चाहे राज्यों की सूची में दर्ज मामलों के बारे में क़ानून बनाने का सवाल हो, राज्यपालों की नियुक्ति और बर्खास्तगी का मुद्दा हो या राज्यों के हाई कोर्टों में जजों की नियुक्ति का प्रश्न हो।

केंद्र में लोकसभा और राज्यों में विधानसभाएँ प्रत्यक्ष निर्वाचन के जरिये चुनी जाती हैं। इन दोनों के बीच शक्तियों का विभाजन स्तम्भीय क्रिस्म का है। दिल्ली की सरकार के

हाथ में 'केंद्रीय सूची' में दर्ज शक्तियाँ (प्रतिरक्षा, आणुविक ऊर्जा, वैदेशिक मामले, नागरिकता, परिवहन, मुद्रा, डाक, बैंकिंग, बीमा, चुनावी कानून, सुप्रीम कोर्ट का संघटन, विभिन्न क्षेत्रों में कराधान, प्राकृतिक संसाधनों का बंदोबस्त, केंद्र शासित प्रदेशों के मसले) हैं। प्रदेशों के हाथ में 'राज्य की सूची' में दर्ज शक्तियाँ (शांति-व्यवस्था, पुलिस, जन-स्वास्थ्य, स्वशासी संस्थाएँ, कृषि, जल, भूमि, प्रादेशिक जन-सेवाएँ और राज्य स्तर पर कराधान) हैं। इसके अलावा एक तीसरी 'अनुवर्ती सूची' भी है जिसके तहत केंद्र और राज्य के परस्परव्यापी विषय आते हैं; जैसे, भूमि सुधार कानून, अल्पसंख्यकों से संबंधित मसले। टकराव होने पर केंद्र द्वारा बनाये गये कानून को प्राथमिकता मिलती है। प्रत्येक सूची में कराधान द्वारा आमदनी का उल्लेख है जिससे संबंधित विवाद की स्थिति में दोनों पक्ष सुप्रीम कोर्ट की शरण ले सकते हैं। शक्तियों के बँटवारे का एक चौथा स्वशासी संस्थाओं का स्तर भी है जिनके पास स्थानीय स्तर पर आर्थिक विकास के अधिकार हैं। शासन के इन स्तरों के बीच पुल के तौर पर काम करने वाली संस्थाएँ हैं : वित्त आयोग, अंतर्राज्यीय परिषद्, अंतर्राज्यीय पंचाट, राष्ट्रीय विकास परिषद् और कई तरह के अनौपचारिक मंच।

भारतीय संघवाद के अध्येताओं की मान्यता है कि भारत ने अपनी शुरुआत एक ऐसे संघात्मक राज्य के रूप में की थी जिस पर केंद्राभिमुखता की प्रवृत्तियाँ हावी थीं और जिसमें राज्य केंद्र के साथ मजबूत बंधनों में बँधे हुए थे। धीरे-धीरे (1956 के बाद से लगातार) संघात्मकता का प्रतिशत बढ़ा, लेकिन केंद्र के साथ राज्यों के बंधन कमजोर नहीं हुए। भारतीय संघवाद के विकास का अनुभव पश्चिमी (खासकर संयुक्त राज्य अमेरिका) अनुभव से अलग है। दोनों के बीच पाँच बड़े अंतरों की शिनाख्त की गयी है।

पहला, अमेरिका में ऐतिहासिक रूप से संघ के छोटे और कमजोर घटकों के पास भी बड़े और मजबूत घटकों के मुकाबले सत्ता और सम्प्रभुता के मामले में सौदेबाजी की ताकत है। इसके पीछे परस्पर सुरक्षा के मकसद से होने वाला लेन-देन रहा है। भारत की ऐतिहासिक स्थिति भिन्न थी। यहाँ संघ बनने से पहले ही देश का विभाजन और 586 देशी रियासतों का भारतीय संघ में विलय हो चुका था। केंद्र के मुकाबले राज्यों के पास सौदेबाजी की ताकत नहीं रह गयी थी।

दूसरा, भारतीय संविधान ने जिस तरह की संघीयता को अपनाया, उसके केंद्र में परस्पर सहयोगात्मकता का उसूल था, जबकि अमेरिकी संविधान ने अपनी संघात्मकता को विभिन्न इकाइयों के अलग-अलग प्राधिकार-क्षेत्रों के रूप में कल्पित किया था। अमेरिका के संघीय घटक अपने-अपने

दायरों में बिना एक-दूसरे से प्रभावित हुए सत्ता और अधिकारों का उपभोग करते रह सकते हैं। वहाँ किसी एक को अधिक ताकत का मतलब है दूसरे की ताकत में कमी। जबकि भारत में संघीय घटक सहयोगात्मक रवैया अख्तियार करते हुए अधिक शक्तियों के लिए होड़ कर सकते हैं। दूसरे, परिस्थिति के मुताबिक संविधान के केंद्रात्मक या संघात्मक पहलुओं पर जोर दिया जा सकता है।

तीसरा, अमेरिकी संघवाद का चरित्र संवैधानिक रूप से सुडौल और संतुलित है। इसके उलट भारतीय संघवाद संवैधानिक रूप से बेडौल और असंतुलित माना जाता है। उसके विभिन्न घटकों की कानूनी हैसियतों और विशेष सुविधाओं के बीच अंतर है। इस लिहाज से देखा जाए तो भारत अमेरिका के मुकाबले कम संघीय है, पर कुछ अर्थों में अपनी बेडौलता के कारण ही वह अधिक संघीय भी माना जा सकता है। मसलन, अनुच्छेद 370 के तहत जम्मू और कश्मीर की स्वायत्तता को विशेष दर्जा प्राप्त है। अनुच्छेद 371ए के तहत नगालैण्ड को भी विशेष दर्जा मिला हुआ है। सिक्किम के भारत के विलय के बाद उसे भी विशेष दर्जा दिया गया है। मिजोरम के लिए भी विशेष प्रावधान किये गये हैं। गोवा, महाराष्ट्र और गुजरात भी अनुच्छेद 370 के तहत लाभांशित हुए हैं।

चौथा, लोकसभा और राज्यसभा में भारत के विभिन्न राज्यों को आबादी के लिहाज से प्रतिनिधित्व मिला हुआ है जो असमान है। अमेरिका के उच्च सदन (जैसे कि भारत की राज्यसभा यानी कौंसिल फ़ॉर स्टेट्स) में सभी राज्यों को समान प्रतिनिधित्व है। इसलिए हुआ यह है कि व्योमिंग जैसे सबसे कम आबादी वाले राज्य की नुमाइंदगी कैलिफ़ोर्निया जैसे विशाल राज्य के बराबर है। दोनों के पास सिनेट की दो-दो सीटें हैं। भारत में कम आबादी वाले राज्य बड़े राज्यों के लोकतांत्रिक आग्रहों को अपनी नुमाइंदगी के दम पर सदन में निष्फल नहीं कर सकते। भारतीय संघवाद का यह चरित्र थोड़े से मतदाताओं को बहुमत की इच्छा नाकाम करने की इजाजत नहीं देता।

पाँचवाँ, भारतीय राजनीतिक चिंतन की विशेषता है संदर्भमूलकता जिसके कारण वह किसी भी तरह की राजनीतिक अनम्यता से मुक्त रहता है। यही खूबी भारतीय संघवाद में भी पायी जाती है। किसी एक मूल्य को लागू करने के लिए किसी दूसरे मूल्य का त्याग भारतीय विशेषता नहीं है। भारतीय राजनीतिक चिंतन तो दोनों मूल्यों में समरसता निकालने की कोशिशों का नाम है। इसीलिए भारतीय संघवाद केंद्रात्मकता के साथ सहअस्तित्व रख पाने में समर्थ रहा है।

देखें : अनुसूचित जातियाँ, अनुसूचित जनजातियाँ, अन्य पिछड़े वर्ग, आरक्षण, आधुनिकता, अरविंद घोष, आधुनिकीकरण, कन्हैयालाल

माणिकलाल मुंशी, जवाहरलाल नेहरू, जातियों का राजनीतिककरण, बंगाल का नवजागरण, भारतीय अभिजन, भारतीय आधुनिकता, भारतीय इसलाम, भारतीय उदारतावाद, भारतीय डायसपोरा, भारत में उपनिवेशवाद, भारतीय नवजागरण : तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य, भारत में नियोजन, भारत में प्रातिनिधिक प्रणाली, भारत में पृथकतावादी राजनीति, भारत में मतदान-व्यवहार-1 से 6 तक, भारत में सामाजिक आंदोलन, भारतीय राज्य, भारतीय राष्ट्रवाद, भारतीय लोकतंत्र, भारतीय लोकतंत्र का संस्थानीकरण-1 से 3 तक, भारतीय स्वभाव और राजनीति, भारतीय संविधान-1 से 8 तक, भारतीय सामाजिक आंदोलन, भीमराव रामजी आम्बेडकर, राज्यों का पुनर्गठन-1 से 3 तक, राजा राममोहन राय, विवेकानंद, विनायक दामोदर सावरकर, संघवाद, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1 से 3 तक, सामाजिक आंदोलन।

संदर्भ

1. राजीव भार्गव (2006), 'द इवोल्यूशन ऐंड डिस्टिक्टिवनेस ऑफ़ इण्डियाज़ लिंग्विस्टिक फेडरलिज़म', डेविड टर्टन (सम्पा.), *एथनिक फेडरलिज़म*, जेम्स करी, ऑक्सफ़र्ड.
2. सुब्रत के. दत्त और माल्ट पेल् (2010), 'फ़ेडरलिज़म', नीरजा गोपाल जयल और प्रताप भानु मेहता (सम्पा.), *द ऑक्सफ़र्ड कम्पैनिनियन टु पॉलिटिक्स इन इण्डिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
3. निर्मल बनर्जी और बलवीर अरोड़ा (सम्पा.) (1992), *फ़ेडरलिज़म इन इण्डिया : ओरिजिंस ऐंड डिवेलपमेंट*, विकास पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.
4. रशीदुद्दीन खान (1992), *फ़ेडरल इण्डिया : अ डिज़ाइन फ़ॉर चेंज*, विकास पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.

— अभय कुमार दुबे

भारतीय सामाजिक आंदोलन

(Indian Social Movements)

भारत में सामाजिक आंदोलनों की पुरानी परम्परा है। राजनीतिक भागीदारी के औपचारिक संस्थागत दायरों के बाहर रह कर लम्बे अरसे तक संगठित आंदोलनकारी गतिविधियाँ करने की राजनीतिक परम्परा की शुरुआत आज़ादी के पहले ही हो गयी थी। मद्रास प्रेसीडेंसी में चला ब्राह्मण विरोधी आंदोलन और दीर्घ काल तक चलने वाले कई किसान आंदोलन इसके प्रमाण हैं। आज़ादी के तुरंत बाद ज़मीन पर अधिकार के लिए चलाया गया तेलंगाना का संघर्ष और पचास के दशक में भाषावार राज्यों की रचना के लिए चलाये गये संघर्ष भी सामाजिक आंदोलनों की श्रेणी में आते हैं। यह अलग बात है कि अध्येताओं ने इन घटनाओं का अध्ययन करते हुए भी उन्हें किसी विशेष परिघटना के तौर

पर नहीं देखा। वैसे भी शुरुआत में भारतीय समाज-वैज्ञानिकों का ज़्यादातर ध्यान औपचारिक राजनीतिक संस्थाओं, चुनावी प्रतिनिधित्व, संघवाद और अंतर्राष्ट्रीय नीति से जुड़ी हुई प्रक्रियाओं को समझने पर ही था। इतिहासकारों ने भी आज़ादी से पहले होने वाली समाज की सामूहिक राजनीतिक कार्रवाइयों को उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रवादी आंदोलन की विभिन्न धाराओं की संज्ञा दे कर अपना काम चला लिया था। भारत में सामाजिक आंदोलनों की परिघटना पहली बार सत्तर के दशक में रेखांकित की गयी।

अमिता बाविस्कर ने अपने एक सर्वेक्षणत्मक लेख में बताया है कि सत्तर के दशक में एम.एस.ए. राव और घनश्याम शाह ने भारत के सामाजिक आंदोलनों को श्रेणियों में बाँट कर समझने की चेष्टा की। राव ने भारतीय सामाजिक आंदोलनों को चार भागों में बाँटा : पूरे समाज को बदल डालने के इच्छुक क्रांतिकारी आंदोलन (जैसे नक्सलवाद), सुधारवादी आंदोलन (जैसे पिछड़े वर्गों की मुहिमें), कुछ विशेष सामाजिक समूहों द्वारा अपनी विमुक्ति के लिए चलाई गयी रैडिकल मुहिमें और सीमित परिवर्तन के लिए कुछ खास समूहों द्वारा चलाये जाने वाले वैकल्पिक आंदोलन। शाह ने भी आंदोलनों का वर्गीकरण किया। उन्होंने यह देखने पर जोर दिया कि कोई आंदोलन राजनीतिक प्रणाली में किस तरह का परिवर्तन चाहता है। पचास और साठ के दशक में अमेरिकी समाज-वैज्ञानिकों द्वारा किये जाने वाले सिद्धांतीकरण का इन अध्ययनों पर असर भी था, और साथ में उनके प्रभाव से हट कर विश्लेषण करने की कोशिश भी थी। मसलन, शाह ने सत्तर के दशक में गुजरात और बिहार में चले छात्र आंदोलनों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए इस अमेरिकी थीसिस को नकार दिया कि सामाजिक आंदोलन वंचित होने की स्थितियों से उपजते हैं। कुल मिला कर भारतीय विद्वानों ने अमेरिकी विद्वानों द्वारा विकसित किये संसाधनों की लामबंदी के सिद्धांत को खास तरजीह नहीं दी और सिर्फ़ उसी के आईने में भारतीय स्थितियों को देखने से इनकार किया। घनश्याम शाह द्वारा किये गये छात्र आंदोलनों के अध्ययन की एक विशेषता यह भी थी कि उन्होंने इन मुहिमों को चला रही राजनीतिक शक्तियों की वर्गीय पृष्ठभूमि रेखांकित करते हुए दिखाया कि किस तरह उसके कारण आंदोलनकारी कार्यक्रम और रणनीति को एक खास दिशा मिल रही थी। वर्ग और सामाजिक आंदोलनों की इस अन्योन्यक्रिया ने आगे के कई विश्लेषणों को प्रभावित करना जारी रखा। इस जगह भी भारतीय समाज-वैज्ञानिक उस युरोपीय थीसिस से अलग नज़र आते हैं जो आंद्रे ग़्रोज़, रुडोल्फ़ बाहरो और युरगन हेबरमास वगैरह ने अस्सी के दशक में सूत्रबद्ध की थी कि सामूहिक राजनीतिक कार्रवाई के लिए वर्ग की श्रेणी कारगर नहीं रह गयी है।

भारतीय परिस्थितियाँ यूरोप से बहुत अलग भी थीं। सत्तर के दशक में भारतीय समाज पर संस्थागत दायरों के बाहर अपनी दावेदारी पेश करने वाली राजनीतिक गतिविधियों का ज़बरदस्त उभार हुआ। इसकी पृष्ठभूमि में कांग्रेस की तत्कालीन सरकार की विफलताएँ थीं। वह न तो आर्थिक संकट से निबट पा रही थी, न महँगाई रोक पाने में समर्थ थी और न ही भ्रष्टाचार पर लगाम लगाते हुए दिख रही थी। इसके फलस्वरूप फैले राजनीतिक असंतोष ने सात तरह के आंदोलनों को पानी दिया।

पहली प्रवृत्ति गुजरात में चले नवनिर्माण आंदोलन और बिहार में चले सम्पूर्ण क्रांति आंदोलन की थी जिस पर सर्वोदयी और समाजवादी विचार का मिला-जुला प्रभाव था। छात्रों और युवाओं की यह स्वतंत्र गोलबंदी दक्षिणपंथी और मध्यवर्ती राजनीतिक दलों से अलग क्रिस्म की थी। दूसरी प्रवृत्ति ज़मींदारों और ठेकेदारों द्वारा शोषित और दमित आदिवासियों-किसानों के बीच मार्क्सवादी-लेनिनवादी विचारधारा वाले वर्ग-आधारित नक्सलवादी आंदोलन की थी जो भारतीय राज्य को सीधी चुनौती दे रहा था। बंगाल, बिहार, आंध्र, केरल और महाराष्ट्र में फैली यह बगावत संगठित कम्युनिस्ट पार्टियों के सुविधाजनक वामपंथ का विकल्प देने का आग्रह भी कर रही थी। तीसरी आंदोलनकारी प्रवृत्ति महाराष्ट्र और तमिलनाडु में दलित पेंथरों की थी जो डॉ. आम्बेडकर द्वारा प्रवर्तित विमर्श से प्रभावित थे और वर्ग के बजाय जातिगत शोषण और दमन को केंद्र बना कर जुझारू राजनीतिक कार्रवाइयों में लगे हुए थे। चौथी प्रवृत्ति स्त्रियों की जत्थेबंदियों की थी जो अनुसंधान और सक्रियता के ज़रिये वर्ग और जेंडर का मुद्दा सामने रख रही थीं। संयुक्त राष्ट्र ने 1976 से 1985 के बीच स्त्री-दशक मनाने की घोषणा की थी, और भारत सरकार ने भी 1974 में भारत में स्त्रियों के हालात पर एक रपट प्रकाशित करने का मंसूबा बनाया था। पाँचवीं प्रवृत्ति पर्यावरण के मुद्दों के इर्द-गिर्द विकसित हो रही सक्रियता की थी। इसी दौरान उत्तर प्रदेश के पहाड़ी इलाकों में चिपको आंदोलन फूट पड़ा और केरल शास्त्र साहित्य परिषद् ने पायींट वैली में बाँध बनाने के खिलाफ़ मुहिम शुरू की। पर्यावरण आंदोलन की इन अनूठी अभिव्यक्तियों ने प्राकृतिक संसाधनों के असमान वितरण के सवाल उठाये जो वर्ग-संघर्ष तक जाते थे। उन्होंने विकास के मौजूदा प्रारूप को प्रश्नांकित किया और पारिस्थितिकी व सामाजिक न्याय के पहलुओं पर जोर दिया। छठी प्रवृत्ति आदिवासी राजनीतिक अस्मिता की थी जिसने अलग झाड़खण्ड प्रदेश बनाने की माँग बुलंद की। सत्तर के दशक में ही इंदिरा गाँधी द्वारा आपातकाल लगाने की घटना ने भी इन सामाजिक आंदोलनों को एक प्रतिरोधात्मक उछाल दिया। 1977 में आपातकाल के उठने और फिर कांग्रेस की चुनावी पराजय ने इन राजनीतिक

गतिविधियों में ज़बरदस्त उत्साह का संचार किया। इसी प्रक्रिया के गर्भ से सातवीं प्रवृत्ति ने जन्म लिया जो मानवाधिकार और नागरिक अधिकार आंदोलनों की थी।

इन सामाजिक आंदोलनों की विविध प्रकृतियों से अंदाज़ा लग सकता है कि ये सब मिल कर तत्कालीन राजनीतिक-सामाजिक व्यवस्था की व्यापक राजनीतिक-सांस्कृतिक आलोचना प्रस्तुत कर रहे थे। इनमें तरह-तरह की विचारधाराएँ, रणनीतियाँ और सांगठनिक रुझान डूब-उतरा रहे थे। कई विवाद भी थे। हिंसा-अहिंसा का विवाद था। संविधानोन्मुख रहने बनाम संविधानेतर हो जाने का विवाद था। क्रांतिकारी परिवर्तन बनाम तंत्र में सुधार तजवीज़ करने की बहस थी। चुनावी राजनीति में भाग लेने या ग़ैर-चुनावी संगठन बने रहने के बारे में ऊहापोह था। विकास योजनाओं को लागू करने में सरकार से सहयोग लेने या न लेने की दुविधा थी। किसी एक समाज-वैज्ञानिक सिद्धांत में इनका सूत्रीकरण एक बहुत बड़ी चुनौती थी।

अस्सी के दशक के आखिरी वर्षों में रजनी कोठारी और धीरूभाई शेट ने इस कमी की भरपाई ग़ैर-दलीय परिप्रेक्ष्य के सूत्रीकरण के रूप में की। इन विद्वानों ने ऐसे आंदोलनों को नागर समाज के ग़ैर-संस्थागत दायरे में सक्रिय 'ग़ैर-पार्टी राजनीतिक संरचनाओं' की तरह देखा। इनका मानना था कि आपातकाल की पराजय और फिर जनता पार्टी शासन की विफलता ने चुनावी लोकतंत्र में लोगों के विश्वास को हिला दिया है। चुनावी राजनीति के साथ जुड़े भ्रष्टाचार और अनैतिकताओं से लोगों का मोह भंग हो गया है जिसकी अभिव्यक्ति इन नयी राजनीतिक संरचनाओं में हो रही है। राज्य निरंकुश न हो जाए, इसलिए नागर समाज अपनी इन राजनीतिक संरचनाओं के ज़रिये उस पर जन-निगरानी रखना चाहता है। कोठारी और शेट के इस विमर्श को देख कर लगता था कि सभी सामाजिक आंदोलन सरकार के खिलाफ़ खड़े हुए हैं, लेकिन परिस्थिति इससे कहीं पेचीदा थी। पर्यावरण आंदोलन के साथ जुड़े कई संगठन प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी और कांग्रेस के नेतृत्व के साथ अपनी निकटता का इस्तेमाल भी कर रहे थे। इसी तरह से स्त्रियों का आंदोलन अपने हक़ में क़ानून बनाने के लिए सरकार को राज़ी करने में कामयाब हो गया, हालाँकि ऐसे क़ानूनों के लिए समाज के धरातल पर कोई व्यापक माँग नहीं हो रही थी।

कोठारी और शेट के अलावा गेल ऑम्बेत्त भी अपनी रचना *रिइन्वेंटिंग रेवोल्यूशन* में सामाजिक आंदोलनों की पड़ताल करती नज़र आयीं। हालाँकि गेल प्रशिक्षण से मार्क्सवादी थीं, पर उन्हें लगता था कि सामाजिक आंदोलन में सक्रिय शक्तियाँ विद्वानों द्वारा किये गये वर्गीकरण (किसी

को पर्यावरणवादी या किसी को नारीवादी की श्रेणी में फिट करके देखना) के प्रति असहज हैं। अपनी इस रचना में उन्होंने वर्ग, जाति, जेंडर और पर्यावरण के सवालियों के बीच संबंधों की अधिक बारीक व्याख्या पर जोर दिया। अस्सी के दशक के अंत में रामचंद्र गुहा ने चिपको आंदोलन का अध्ययन *द अनक्वायट वुड्स* पेश किया जो फ़ोल्ड वर्क के माध्यम से सहभागी प्रेक्षण का उदाहरण था। सहभागी प्रेक्षण की इस तकनीक का एक लाभ यह हुआ कि विद्वानगण आंदोलन की प्रस्तुत आत्म-छवि के परे जा कर उसके भीतर झाँक पाने में समर्थ हुए। वे यह दिखा पाये कि आंदोलन का कार्यकर्ताओं और नेताओं में किस तरह की संबंध है, और एकीकृत लगने वाले आंदोलन में विरोधाभास और अंतर्विरोध कैसे काम कर रहे हैं। अस्सी के दशक में चले नर्मदा बचाओ आंदोलन का अमिता बाविस्कर द्वारा किया गया अध्ययन *इन द वैली ऑफ़ द रिवर* भी एक ऐसा ही प्रयास था।

नब्बे के दशक में कई भारतीय सामाजिक आंदोलनों ने ग्लोबल नेटवर्कों और गठबंधनों के साथ संबंध स्थापित कर लिए। दलित संगठनों ने नस्लवाद विरोधी आंदोलन के साथ सूत्र बना लिया, पर्यावरण के आंदोलन नियोलिबरल भूमण्डलीकरण की विरोध करने वाली मुहिमों के साथ जुड़ गये, आदिवासी अधिकारों की माँग बुलंद करने वाले आंदोलनों ने देशज लोगों की अंतर्राष्ट्रीय मुहिमों का पल्ला थाम लिया। इसी के साथ नब्बे के दशक में देशी-विदेशी पूँजी से चलने वाले ग़ैर-सरकारी संगठनों यानी एनजीओ परिघटना ने भी सामाजिक आंदोलनों पर गहरा असर डाला है। आज एनजीओ, वर्ल्ड सोशल फ़ोरम जैसे मंच और सामाजिक आंदोलनों के बीच परस्पर-व्यापी संबंध हैं जिनका विश्लेषण और सूत्रीकरण किया जाना बाक़ी है।

देखें : अनुसूचित जातियाँ, अनुसूचित जनजातियाँ, अन्य पिछड़े वर्ग, आरक्षण, आधुनिकता, अरविंद घोष, आधुनिकीकरण, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, जवाहरलाल नेहरू, जातियों का राजनीतीकरण, धीरूभाई शेट, बंगाल का नवजागरण, भारतीय अभिजन, भारतीय आधुनिकता, भारतीय इस्लाम, भारतीय उदारतावाद, भारतीय डायसपोरा, भारत में उपनिवेशवाद, भारतीय नवजागरण : तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य, भारत में नियोजन, भारत में प्रातिनिधिक प्रणाली, भारत में पृथकतावादी राजनीति, भारत में मतदान-व्यवहार-1 से 6 तक, भारतीय राज्य, भारतीय राष्ट्रवाद, भारतीय लोकतंत्र, भारतीय लोकतंत्र का संस्थानीकरण-1 से 3 तक, भारतीय स्वभाव और राजनीति, भारतीय संविधान-1 से 8 तक, भारतीय सामाजिक आंदोलन, भीमराव रामजी आम्बेडकर, रजनी कोठारी, राजा राममोहन राय, विवेकानंद, विनायक दामोदर सावरकर, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1 से 3 तक, सामाजिक आंदोलन।

संदर्भ

1. अमिता बाविस्कर (2010), 'सोशल मूवमेंट्स' नीरजा गोपाल जयल और प्रताप भानु मेहता (सम्पा.), *द ऑक्सफ़र्ड कम्पैनिनन टु द पॉलिटिक्स इन इण्डिया*, आक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
2. रजनी कोठारी (1988), *स्टेट अगेंस्ट डेमोक्रेसी : इन सर्च ऑफ़ ह्यूमन गवर्नेंस*, अजंता पब्लिशर्स, नयी दिल्ली.
3. धीरूभाई शेट (2009), 'जमीनी आंदोलनों की परिघटना : नागर समाज में आलोड़न', धीरूभाई शेट, *सत्ता और समाज*, संकलन-सम्पादन : अभय कुमार दुबे, सीएसडीएस-वाणी, नयी दिल्ली.
4. गेल ऑम्बेत् (1993), *रिइन्वेंटिंग रेवोल्यूशन : न्यू सोशल मूवमेंट्स ऐंड द सोशलिस्ट ट्रेडिशन इन इण्डिया*, एम.ई. शार्प, न्यूयॉर्क.
5. एम.एस.ए. राव (सम्पा.) (1978-79), *सोशल मूवमेंट्स इन इण्डिया* (दो खण्ड), मनोहर, नयी दिल्ली.
6. घनश्याम शाह (सम्पा.) (2002), *सोशल मूवमेंट्स ऐंड द स्टेट, रीडिंग्स इन गवर्नमेंट ऐंड पॉलिटिक्स*, सेज, नयी दिल्ली.

— अभय कुमार दुबे

भारतीय सिनेमा-1

'भारतीय' सार और सौंदर्यशास्त्र की खोज

(Indian Cinema-1)

भारत में सिनेमा की शुरुआत सात जुलाई, 1896 से मानी जाती है जब युरोप में सनसनी मचाने के बाद लुमीरे ब्रदर्स ने अपने दूत मॉरिस सेस्टीयर के ज़रिये बम्बई में *सिनेमैटोग्राफी* का प्रदर्शन किया। चलती-फिरती तस्वीरों ने भारतवासियों की कल्पनाशीलता को छूने में देर नहीं लगायी और बीसवीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों में बम्बई, कलकत्ता और मद्रास में टेंट लगा कर फ़िल्में दिखाई जाने लगीं। इन टेंटों में एक बार में दस हजार दर्शक तक आ जाते थे। हीरालाल सेन भारत के पहले फ़िल्मकार थे जिन्होंने 1898 में 'प्र्लॉवर ऑफ़ पर्शिया' नामक फ़िल्म बनायी जो लघु फ़िल्म की श्रेणी में आती थी। सेन ने आगे चल कर 'अलीबाबा ऐंड फ़ोर्टी थीवज़' नामक फ़िल्म भी बनायी, पर पूरी लम्बाई का पहला भारतीय कथा-चित्र 'राजा हरिश्चंद्र' (1913) बनाने का श्रेय दुंदिराज गोविंद फालके (1870-1944) को मिला। दादासाहिब फालके भारतीय भाषाओं और संस्कृतियों के विद्वान होने के साथ-साथ स्टिल कैमरे से की जाने वाली कलात्मक फ़ोटोग्राफी के महारथी भी थे। उनके इस प्रयास के पीछे एक विशिष्ट वैचारिक राजनीति भी थी। वे 'भारतीय' सार और 'भारतीय' सौंदर्यशास्त्र से सम्पन्न एक 'भारतीय' सिनेमा की नींव रखना चाहते थे। इसी राष्ट्रीय जज़्बे को लेकर जीवट के

धनी फालके फ़िल्म-निर्माण की कला सीखने लंदन की यात्रा पर गये, द *बाइस्कोप* पत्रिका के सम्पादक से मशविरा लिया और वाल्टन स्थित सिनेमा कम्पनियों, स्टूडियोज़ और फ़ैक्ट्रियों का दौरा किया। जब वे भारत लौटे तो उनके पास फ़िल्म-निर्माण की जो सामग्री थी उसमें पच्चीस हजार रुपये की क्रीमत का हाथ से चलाया जाने वाला मूवी कैमरा भी था। इसके हैंडिल को एक बार क्लैंक करने से एक सेकण्ड में फ़ोटो के सोलह फ्रेम खिंचते थे। मूक फ़िल्मों के इस शुरुआती कैमरे से लेकर 1931 में आये सवाक् फ़िल्मों के बिजली की मोटर से चलने वाले कैमरे (ध्वनि की गति की बराबरी करने के लिए एक सेकण्ड में 24 फ़ोटो-फ्रेम) तक सिनेमा की प्रौद्योगिकी फालके द्वारा शुरू किये गये राष्ट्रवादी प्रोजेक्ट में पूरी तरह से गुँथ चुकी थी।

भारत में फ़िल्म थिएटरों की पहली शृंखला के मालिक कलकत्ता के व्यापारी जमशेदजी फ़्रामजी मदन थे। उनकी दिलचस्पी फ़िल्म-निर्माण में भी थी और वे हर साल क़रीब दस फ़िल्में बनाते थे। बीस के दशक में बम्बई (बाम्बे टाकीज़ स्टूडियो, कोहिनूर फ़िल्म कम्पनी, रंजीत मूवीटोन स्टूडियो और इम्पीरियल फ़िल्म कम्पनी), कलकत्ता (न्यू थिएटर्स स्टूडियोज़) और पूना (प्रभात स्टूडियो) में बड़े-बड़े स्टूडियोज़ की स्थापना हुई। तीस के दशक में मद्रास (यूनाइटेड आर्टिस्ट्स कॉरपोरेशन) ने इसी रास्ते पर अपने क़दम बढ़ाये। पंजाबी आधारित फ़िल्मों का एक केंद्र लाहौर (आजकल पाकिस्तान में) में उभरा। इम्पीरियल फ़िल्म कम्पनी ने ही 1931 में भारत की पहली बोलती हुई फ़िल्म 'आलमआरा' का निर्माण किया। आज्ञादी से पहले हिंमाशु राय और उनकी पत्नी देविका रानी ने युरोप में अपनी फ़िल्म 'कर्मा' के प्रदर्शन से हलचल मचा दी।

टेंटों में फ़िल्में दिखाने से लेकर मल्टीप्लेक्सों में किये जाने वाले फ़िल्म-प्रदर्शन तक की यह निरंतर विकासमान यात्रा अपने-आप में आश्चर्यजनक रूप से अनूठी और रोचक है। भारत में राष्ट्रीय चेतना के प्रसार, समाज सुधार की प्रक्रिया, राजनीति, समाज और संस्कृति के ऊपर फ़िल्मों के प्रभाव के बारे में न जाने कितना लिखा और कहा जा चुका है। सिनेमा के इस भारतीय प्रसंग को समझने के लिए केवल फ़्रांस और जर्मनी में विकसित

हुआ सिनेमा-सिद्धांत ही काफ़ी नहीं है। इसके लिए भारतीय सिनेमा की अपनी विमर्श-परम्पराएँ और अपने सिद्धांतों की मदद लेना भी ज़रूरी है। 1948 में ही सत्यजीत राय और चिदानंद दासगुप्ता के लेखन ने सिनेमा-सिद्धांत से जूझते हुए स्वातंत्र्योत्तर भारतीय सिनेमा की राष्ट्र के संदर्भ में एकताकारी

भूमिका पर जोर देना शुरू कर दिया था। इसके बाद साठ और सत्तर के दशक में ऋत्तिक घटक और कविता सरकार का लेखन सामने आया जिसके केंद्र में यथार्थवाद बनाम आधुनिकतावाद, आधुनिकतावाद बनाम अवागार्द और राष्ट्रीय सिनेमा बनाम क्षेत्रीय सिनेमा जैसी बहसें थीं। यह स्वाभाविक ही है कि इतने विविध और सफल सिनेमा के बारे में किये गये इस विमर्श के आधार पर एक समृद्ध भारतीय सिनेमा-अध्ययन भी विकसित होता। आशीष राज्याध्यक्ष, माधव प्रसाद, गीता कपूर, अनुराधा कपूर और रवि वासुदेवन जैसे समाज वैज्ञानिकों ने पत्रिका 'आर्ट्स ऐंड आइडियाज़' में लेखन के

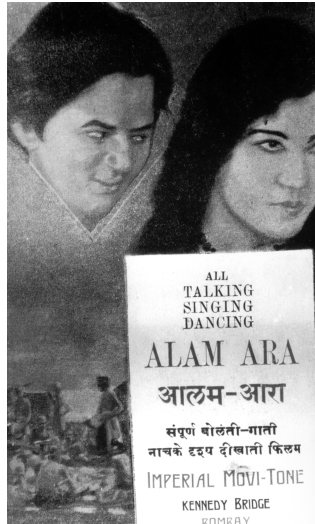
ज़रिये व्यावसायिक फ़िल्मों के गहन अध्ययन के माध्यम से भारतीय आधुनिकता के विभिन्न आयामों का संधान किया।, सुमिता एस. चक्रवर्ती के अध्ययन ने भी सिनेमा अध्ययन को समृद्ध किया। समाज मनोविद् आशिस नंदी और सुधीर कक्कड़ ने भी भारतीय सिनेमा के मनोवैज्ञानिक पहलुओं पर प्रकाश डाला है।

मोटे तौर पर फ़िल्म-अध्येताओं की मान्यता है कि भारतीय फ़िल्मों पर दिखने वाले प्रभावों को मुख्यतः सात श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। इन पर सरसरी नज़र डालने से ही स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय सिनेमा पश्चिम के सिनेमा से कितना अलग है। इस सिनेमा पर पहला प्रभाव 'रामायण' और 'महाभारत' जैसे महाकाव्यों का है जिसके आधार पर व्यावसायिक सिनेमा की वर्तमान संरचना तैयार हुई है। कहानी, उपकहानी और पृष्ठभूमि में चलने वाली कहानी का कथात्मक ढाँचा भारतीय फ़िल्मों ने वहीं से लिया है। दूसरा प्रभाव प्राचीन संस्कृत नाटकों का है। दृश्यगत भव्यता,

संगीत, नृत्य और आंगिक मुद्राओं का जो विलक्षण संयोग इन फ़िल्मों में दिखाया जाता है वह संस्कृत नाट्य-परम्परा की ही देन है। इन्हीं नाटकों से ली गयी प्रदर्शन की रस-पद्धति भारतीय फ़िल्मों को पश्चिमी फ़िल्मों से अलग कर देती है। रस-सिद्धांत के अनुसार अभिनेता मनोभावों का संचार करता



'अमर ज्योति' (वी. शांतराम : 1936)



'आलम आरा': पहली सवाक् फ़िल्म



'पाथेर पांचाली' (सत्यजीत राय : 1955)

है जो दर्शक द्वारा अनुभूत किये जाते हैं। पश्चिम में अभिनेता और दर्शक के बीच इस तरह का संबंध नहीं होता। स्टानिस्लाव्सकी पद्धति के अनुसार अपना किरदार निभाते समय पश्चिम का अभिनेता उसका मूर्तिमान और जीवंत स्वरूप बन जाता है। फ़िल्मों पर तीसरा प्रभाव पारम्परिक लोक-नाट्य का है। दसवीं सदी में संस्कृत रंगमंच की लोकप्रियता में गिरावट आने के बाद बंगाल में जात्रा, उत्तर भारत में रामलीला, महाराष्ट्र में तमाशा और तमिलनाडु में थेरुकुट्टु जैसी लोकनाट्य की शैलियाँ उभरीं। चौथा प्रभाव पारसी थिएटर का माना जाता है जिसमें यथार्थ की अभिव्यक्ति स्वैरकल्पना, संगीत, नृत्य, धमाकेदार संवाद और अतिनाटकीयता के संयोग के जरिये की जाती थी। भदेस हास्य और मधुर गीतों के जरिये दर्शकों का मनोरंजन करने की विरासत भी फ़िल्मों को पारसी थिएटर से ही मिली है। पाँचवाँ प्रभाव हॉलीवुड की फ़िल्मों का है। अमेरिका की धार्मिक, म्यूज़िकल, ऐतिहासिक और कॉस्ट्यूम ड्रामा फ़िल्मों का अनुगमन करते हुए भारतीय फ़िल्मकारों ने उन्हें अपनी शैली में ढाल कर पेश किया। हॉलीवुड में फ़िल्मकार अपनी कृति के गढ़े गये पहलुओं को ज़्यादा से ज़्यादा छिपा कर यथार्थ के पक्षों को उभारने की कोशिश करते थे, पर भारतीय फ़िल्मकारों ने स्क्रीन पर दिखाये जा रहे विभ्रम और कल्पना को यथार्थ के रंग में रँगने की कोशिश नहीं की जिससे भिन्न प्रभाव पैदा हुए। छठाँ प्रभाव पश्चिम के म्यूज़िकल टीवी, खासकर एम टीवी का है। नब्बे के दशक के बाद इस प्रभाव के कारण गति, कैमरा कोण, नृत्य संयोजन और संगीत के संदर्भ में भारतीय फ़िल्मों में कई तरह के परिवर्तन हुए।

भारतीय फ़िल्मों पर सातवाँ प्रभाव युरोपीय कला सिनेमा, अमेरिका के प्रति-सिनेमा और फ्रांस के अवाँगार्द

सिनेमा का है। भारत में जिस समांतर सिनेमा की रचना हुई, उसने व्यावसायिक फ़िल्मों की भाँति संस्कृत नाटक से संरचनात्मक प्रेरणा ली और भारतीय साहित्य से कथानक और घटनात्मकता उठायी। लेकिन शैलीगत रूप से वह इटली के नवयथार्थवाद और फ्रांस के काव्यात्मक यथार्थवाद से प्रेरित था। महान भारतीय फ़िल्मकार सत्यजीत राय स्वयं मानते थे कि उनकी फ़िल्म 'पाथेर पांचाली' (1955) पर इतालवी फ़िल्मकार विट्टोरियो डि सिका की कृति 'बाइसकिल थीफ़' (1948) और फ्रांसीसी फ़िल्मकार ज्यॉ रेनुआ की 'दि रिवर' (1951) का असर है। दूसरी तरफ़ राय ने अपनी फ़िल्म शैली पर प्राचीन रस-सिद्धांत का प्रभाव भी स्वीकार किया है। डि सिका के नवयथार्थवाद ने जिन उल्लेखनीय भारतीय फ़िल्मकारों को प्रभावित किया उनमें बिमल राय भी शामिल थे जिनकी फ़िल्म 'दो बीघा ज़मीन' (1953) ने सत्यजीत राय के उभरने से पहले ही भारतीय फ़िल्मों की पताका विश्व मंच पर फहरा दी थी।

लेकिन भारतीय और पश्चिमी फ़िल्मों के बीच आदान-प्रदान की यह कहानी एकतरफ़ा ही नहीं है। सत्यजीत राय की विख्यात त्रयी ('पाथेर पांचाली', 'अपराजितो' और 'अपूर संसार') के सिनेमैटोग्राफ़र सुब्रत मित्रा फ़िल्म के सेट पर दिन के प्रकाश का प्रभाव पैदा करने के लिए बाउंस लाइट की महत्वपूर्ण तकनीक विकसित करने के लिए जाने जाते हैं। राय ने अपनी फ़िल्म 'प्रतिद्वंदी' के फ़िल्मांकन के समय फ़ोटो निगेटिव फ़्लैशबैक और एक्स-रे डायग्रेसन जैसी तकनीकें भी विकसित कीं। 1967 में राय द्वारा रचित पटकथा पर हॉलीवुड 'एलियन' नामक फ़िल्म बनाने जा रहा था। बाद में यह प्रोजेक्ट आगे नहीं बढ़ पाया, पर समझा जाता है कि इसी पटकथा के महत्वपूर्ण तत्वों के आधार पर ही स्टीवन स्पीलबर्ग ने अपनी विख्यात फ़िल्म 'ई टी' की रचना की। ऋत्विक् घटक की फ़िल्मों में भी ऐसे तत्व थे जिनकी बाद में फ्रांसुआ त्रुफ़ो और मार्टिन स्कोरसीस की फ़िल्मों में शिनाख़्त की गयी। भारतीय फ़िल्मों की फ़ेंटेसी-गीत-संगीत-नृत्य संबंधी संरचना से प्रभाव ग्रहण करने वाली हॉलीवुड की फ़िल्मों में बाज़ लुथरमान की 'मौलाँ रूज़' (2001) प्रमुख है। खुद लुथरमान ने इस हकीक़त को स्वीकार किया है। इस फ़िल्म से पहले माना जाता था कि म्यूज़िकल शैली की फ़िल्मों को हॉलीवुड ने पूरी तरह से त्याग दिया है। डैनी बॉयल की ऑस्कर विजेता फ़िल्म 'स्लमडॉग मिलिनायर' की संरचना भी बम्बइया फ़िल्मों से मेल खाती है।

देखें : अतिनाटकीयता, अनुपस्थिति-उपस्थिति, कला सिनेमा, अवाँगार्द और प्रति-सिनेमा, टीवी और समाचार, टीवी और सेक्शुअलिटी, टीवी और टीवी-अध्ययन, तीसरा सिनेमा, तीसरी दुनिया का सिनेमा, दक्षिण भारतीय सिनेमा और राजनीति, दर्शक, श्रोता और पाठक, नारीवादी फ़िल्म-सिद्धांत, फ़िल्म और सेक्शुअलिटी, फ़िल्म और टीवी सेंसरशिप, फ़िल्मांतरण, फ़िल्म-सिद्धांत, फ़्लैश-बैक, भारतीय फ़िल्म-अध्ययन,

भारतीय स्टार सिस्टम, रियलिटी टीवी, विचारधारा और हिंदी सिनेमा, वृत्त-चित्र, सेलेब्रिटी, सोप ओपेरा, सिनेमाई यथार्थवाद, नव-यथार्थवाद, सोवियत सिनेमा, स्टार, हिंदी सिनेमा का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. कविता सरकार (1957), 'इनफ्लुएंसिज ऑन सिनेमा', *फिल्म क्वार्टरली*, जनवरी-मार्च.
2. आशीष राज्याध्यक्ष (1986), 'नियो-ट्रेडिशनलिज्म : फिल्म एज पॉप्युलर आर्ट इन इण्डिया', *फ्रेमवर्क*, अंक 32-33.
3. रवि वासुदेवन (सम्पा.) (2001), *मेकिंग मीनिंग्स इन इण्डिया सिनेमा*, ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
4. रवि वासुदेवन (2010), *द मेलोड्रैमेटिक पब्लिक : फिल्म फॉर्म ऐंड स्पेक्टेटरशिप इन सिनेमा*, परमानेंट ब्लैक, नयी दिल्ली.
5. एम. माधव प्रसाद (1998), *आइडियालॉजी ऑफ हिंदी फिल्मस : अ हिस्टोरिकल कंस्ट्रक्शन*, ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

— अभय कुमार दुबे

भारतीय सिनेमा-2

'नीचा नगर' से 'बॉम्बे नुआर' तक

(Indian Cinema-2)

लम्बे अरसे से एक राष्ट्र के रूप में भारत की छवि तीसरी दुनिया के देश की रही है। इसलिए उसके सिनेमा को भी तीसरी दुनिया के सिनेमा की श्रेणी में रख कर देखा जाता रहा है। लेकिन बीसवीं सदी के आखिरी पच्चीस वर्षों में यह छवि कुछ की कुछ हो चुकी है। आज संख्या और विस्तार की दृष्टि से भारतीय फ़िल्में बहुत आगे निकल चुकी हैं। हिंदी, तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालयम और बांग्ला समेत देश की विभिन्न भाषाओं में हर वर्ष एक हजार से ज्यादा फ़िल्में बनती हैं और इस मामले में हॉलीवुड भी भारत से पीछे है (2009 में भारत ने कुल 2,961 फ़िल्में बनायीं जिनमें 1,288 कथा-चित्र थे)। अमेरिकी और युरोपीय फ़िल्म उद्योग के बाद भारतीय फ़िल्म उद्योग एक भूमण्डलीय शक्ति में बदल चुका है। क़रीब नब्बे देशों में भारतीय फ़िल्में प्रदर्शित की जाती हैं। सिनेमा की हर श्रेणी में उल्लेखनीय योगदान करने वाले भारतीय फ़िल्मकारों के नाम अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर विख्यात हैं। विश्व की श्रेष्ठतम सौ फ़िल्मों, पाँच सौ फ़िल्मों या एक हजार फ़िल्मों की सूची में कई भारतीय फ़िल्मों के नाम शामिल किये जाते हैं। सौ फ़ीसदी प्रत्यक्ष विदेशी निवेश का प्रावधान होने के बाद इक्कीसवीं सदी में भारतीय फ़िल्म उद्योग

ट्वेंटियथ सेंचुरी फ़ॉक्स, वार्नर ब्रदर्स और सोनी पिक्चर्स जैसी अंतर्राष्ट्रीय फ़िल्म कम्पनियों के लिए निवेश का एक आकर्षक मुकाम बन चुका है। किसी ज़माने में भारतीय फ़िल्म उद्योग को पूँजी के नियमित प्रवाह की कमी से जूझना पड़ता था, लेकिन अब जी, यूटीवी, एडलैक्स और सन नेटवर्क जैसी बड़ी भारतीय मीडिया कम्पनियों ने फ़िल्म निर्माण में धन लगाना शुरू कर दिया है। 2003 में तीस फ़िल्म निर्माण कम्पनियाँ नैशनल स्टॉक एक्सचेंज में सूचीबद्ध थीं। कर रियायतों के फलस्वरूप देश में एक मल्टीप्लेक्स बूम आया हुआ है जिसने इस उद्योग में एक नयी व्यावसायिक और रचनात्मक ऊर्जा का संचार किया है। भारतीय डायसपोरा दुनिया का सबसे बड़ा डायसपोरा है जिसके कारण भी भारतीय फ़िल्मों को सारी दुनिया में अपना प्रसार करने का मौक़ा मिला है। मुख्यधारा की फ़िल्में जितना राजस्व कमाती हैं उसका बारह फ़ीसदी तो केवल विदेशों में रहने वाले भारतवर्शियों को फ़िल्में दिखा कर ही कमा लिया जाता है। भारतीय फ़िल्मों की आमदनी में उनके संगीत की बिक्री से भी क़रीब चार-पाँच फ़ीसदी का अहम योगदान होता है।

भारतीय सिनेमा के इस अभूतपूर्व विकास में भारतीय राज्य की भूमिका को नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता। आज़ादी मिलते ही भारत सरकार ने सिनेमा की स्थिति की जाँच-पड़ताल के लिए एस.के. पाटिल आयोग की नियुक्ति की। पाटिल ने भारतीय सिनेमा को कला, उद्योग और शोमैनशिप का संयोग करार देते हुए फ़िल्म वित्त निगम की स्थापना का सुझाव दिया जिस पर 1960 में अमल हुआ। 1949 में सरकार ने फ़िल्म्स डिवीज़न की स्थापना की जो जल्दी ही दुनिया का सबसे बड़ा वृत्त-चित्र फ़िल्म-निर्माता बना गया। वित्त निगम ने भारत में कला फ़िल्मों के उत्थान और प्रसार में प्रमुख भूमिका का निर्वाह किया। 1980 में फ़िल्म वित्त निगम को राष्ट्रीय फ़िल्म विकास निगम (एनएफडीसी) का रूप दे दिया गया। 1974 में मोशन पिक्चर्स एक्सपोर्ट एसोसिएशन ऑफ़ अमेरिका (एमपीईए) ने अपने क्रदम भारतीय बाज़ार से खींच लिए। नतीजे के तौर पर वित्त निगम को स्थानीय वितरण के लिए फ़िल्में आयात करने और मुनाफ़ा कमाने का मौक़ा मिला। इस रकम से भारत में समांतर सिनेमा जैसे प्रयोगों में निवेश किया गया। फ़िल्म के माध्यम की जटिलता और प्रौद्योगिकी पर निर्भरता को देखते हुए सरकार ने पुणे फ़िल्म इंस्टीट्यूट की स्थापना की जिसने पिछले चार दशकों में भारतीय फ़िल्मों को अनगिनत सक्षम निर्देशक, अभिनेता, अभिनेत्रियाँ और सिनेमैटोग्राफ़र दिये हैं। चालीस के दशक से साठ के दशक के बीच के काल को भारतीय सिनेमा का स्वर्ण युग माना जाता है जिसमें महबूब ख़ान ('अंदाज़', 'आन', 'अमर', 'मदर इण्डिया'), वी. शांताराम ('दुनिया न माने', 'आदमी', 'पड़ोसी', 'दो आँखें बारह हाथ', 'डॉ. कोटनीस की अमर कहानी'),



हुंहराज गोविंद फ़ालके (1870-1944)

राजकपूर ('आवारा', 'श्री चार सौ बीस', 'जागते रहो', 'जिस देश में गंगा बहती है', 'बूटपालिश'), के. आसिफ़ ('मुग़ल-ए-आज़म'), बिमल राय ('मधुमती', 'देवदास', 'परख', 'परिणीता', 'दो बीघा ज़मीन'), गुरुदत्त ('प्यासा', 'क्रागज़ के फूल', 'साहब बीवी गुलाम'), कमाल अमरोही ('महल', 'दायरा'), बी.आर. चोपड़ा ('नया दौर', 'क्रानून', 'धूल का फूल', 'धर्मपुत्र'), चेतन आनंद ('नीचा नगर', 'आख़िरी ख़त', 'हक़ीकत', 'अफ़सर'), विजय आनंद ('गाइड') और विजय भट्ट ('बैजू बावरा') ने व्यावसायिक रूप से सफल और आलोचनात्मक दृष्टि से सराही गयी फ़िल्मों का निर्माण किया।

यही वह अवधि थी जब हिंदी फ़िल्मों का केंद्र समझी जाने वाले मूलतः मराठी भाषी शहर बम्बई में विभिन्न भाषा-भाषी और विभिन्न धर्मावलम्बी प्रतिभाओं का संगम हुआ। पंजाबी पृष्ठभूमि के अभिनेताओं और निर्देशकों, बंगाली और गुजराती पृष्ठभूमि के संगीतकारों और निर्देशकों, हिंदीभाषी क्षेत्र से लेखकों और कवियों-शायरों, दक्षिण भारतीय पृष्ठभूमि के निर्माताओं, निर्देशकों और नायिकाओं के योगदान से जिस फ़िल्म उद्योग की रचना हुई उसे आज हॉलीवुड की तर्ज़ पर भारतीय डायसपोरा की शब्दावली में बॉलीवुड भी कहा जाता है।

साठ के दशक के आख़िरी वर्षों से लेकर अस्सी के दशक के बीच बॉलीवुड ने मनोरंजक फ़िल्मों के स्थापित फ़ार्मूले को एक नया आयाम दिया। शक्ति सामंत

('आराधना', 'अमर प्रेम'), मनमोहन देसाई ('अमर-अकबर-एंथनी'), प्रकाश मेहरा ('जंजीर', 'मुक़द्दर का सिकंदर'), यश चोपड़ा ('दीवार', 'दाग'), महेश भट्ट ('अर्थ', 'सारांश') और रमेश सिप्पी ('शोले', 'शक्ति') ने एक से ज्यादा फ़िल्मी सितारों को लेकर टिकट खिड़की पर बेहद सफल फ़िल्में बनायीं। इसी धारा के साथ-साथ नाच-गाने और मार-धाड़ के चित्रण से बचते हुए बासु भट्टाचार्य, बासु चटर्जी, हृषिकेश मुखर्जी और गुलज़ार जैसे फ़िल्मकारों ने बीच का रास्ता अपनाने वाली 'साफ़-सुथरी' फ़िल्मों की परम्परा स्थापित की।

भारत में तीसरे सिनेमा की संहिताओं की अभिव्यक्ति 1946 से ही चेतन आनंद द्वारा निर्देशित 'नीचा नगर' से होनी शुरू हो गयी थी। इसकी पृष्ठभूमि में चालीस के दशक में चले भारतीय जननाट्य संघ (इप्टा) का रंगमंच और फ़िल्म आंदोलन था जिसने 1946 में ख़्वाजा अहमद अब्बास के निर्देशन में 'धरती के लाल' जैसी चर्चित फ़िल्म बनायी थी। बिमल राय और राजकपूर की फ़िल्मों की रैडिकल विषयवस्तु को इस पृष्ठभूमि से अलग करके नहीं देखा जा सकता। हालाँकि भारतीय फ़िल्में 'नीचा नगर' (पहले कान फ़िल्म महोत्सव में ग्रांड प्राइज़) के समय से ही अंतर्राष्ट्रीय फ़िल्म महोत्सवों में पुरस्कार जीतने लगी थीं, पर पचास और साठ के दशक में बनायी गयी सत्यजीत राय की फ़िल्मों ने उन्हें निर्विवाद रूप से सार्थक विश्व सिनेमा के अभिन्न अंग के रूप में स्थापित कर दिया।

राय के समकालीन फ़िल्मकार ऋत्विक् घटक की रचनाओं को शुरू में उपेक्षा का सामना करना पड़ा, पर आगे चल कर उन्होंने भारतीय सिनेमा की रचनाशीलता को गहराई से प्रभावित किया। घटक ने 1952 में 'नागरिक' और 'अजांत्रिक' से शुरुआत की, पर इसके बाद उन्होंने 1943 में पड़े बंगाल के अकाल और 1947 में हुए भारत-विभाजन की त्रासदी के अपने आँखों देखे अनुभव के आधार पर गहरे राजनीतिक अर्थों से सम्पन्न फ़िल्म-त्रयी 'मेघे ढाके तारा' (1960), 'कोमल गांधार' (1961) और 'सुबर्णरेखा' (1962) का निर्माण किया। हालाँकि कुछ विमर्शकार मानते हैं कि भारतीय कला सिनेमा घटक के योगदान के बाद नये मुकामों को नहीं छू सका। पर इस अतिरेकपूर्ण निष्कर्ष के विपरीत साठ के दशक में मृणाल सेन ('भुवन शोम', 'खंडहर'), मणि कौल ('दुविधा' और 'उसकी रोटी') और कुमार शाहनी ('माया दर्पण', 'तरंग', 'खयाल गाथा') की फ़िल्मों में इसी परम्परा का अगला चरण दिखाई पड़ता है। कलात्मक सिनेमा की यह धारा सत्तर के दशक में फ़िल्मकारों की नयी पीढ़ी के रूप में विकसित हुई जिसके शीर्ष पर श्याम बेनेगल ('अंकुर', 'निशांत', 'मंथन', 'भूमिका', 'मण्डी'), एम.एस. सथ्यु ('गरम हवा'), सईद अख़्तर मिर्ज़ा ('अल्बर्ट पिंटो को गुस्सा क्यों आता है?'), 'अरविंद देसाई की अजीब

दास्तान', 'सलीम लंगड़े पर मत रो'), गोविंद निहलानी ('अर्धसत्य'), केतन मेहता ('मिर्च-मसाला', 'माया मेम साहब'), और कुंदन शाह ('जाने भी दो यारो') की फ़िल्में थीं। अन्य भारतीय भाषाओं में अदूर गोपालकृष्णन, गौतम घोष, बुद्धदेव दासगुप्ता, रामू करियट, शाज़ी एन. करुण, जॉन अब्राहम, जी. अरविंदन की फ़िल्मों को अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर भरपूर सराहना मिली।

नब्बे के दशक के उत्तरार्ध से भारतीय सिनेमा में कथ्य और शैली को लेकर एक पुनर्जागरण शुरू हुआ जो अभी तक जारी है। नये फ़िल्मकारों की ताज़ा खेप नयी रचनाशीलता के साथ सामने आयी है। इसने व्यावसायिक और कला फ़िल्मों की श्रेणियों को ख़त्म करके एक स्वायत्त और अपने निजी मुहावरे वाले भारतीय सिनेमा को जन्म दिया है। यह नया भारतीय सिनेमा एक साथ सार्थक भी है, और लोकप्रिय भी। यह अपना अलग दर्शक-वर्ग बनाने में समर्थ है। फ़िल्म-अध्ययन की भाषा में इसे 'बॉम्बे नुआर' जैसे सभी प्रवृत्तियों को समेटने वाले नाम से भी जाना जाता है। राजकुमार हीरानी, शेखर कपूर, मीरा नायर, दीपा मेहता, रामगोपाल वर्मा, मधुर भण्डारकर, विशाल भारद्वाज, अनुराग कश्यप, सुधीर मिश्रा, दिवाकर बनर्जी, अमोल पालेकर, राकेश ओमप्रकाश मेहरा, प्रकाश झा, राजकुमार संतोषी, अनुराग बसु, होमी अदजानिया, फ़रहान अख्तर और आशुतोष गौवारीकर जैसे फ़िल्मकार विभिन्न मिज़ाजों की फ़िल्में बना रहे हैं।

देखें : अतिनाटकीयता, अनुपस्थिति-उपस्थिति, कला सिनेमा, अवॉगार्ड और प्रति-सिनेमा, टीवी और समाचार, टीवी और सेक्शुअलिटी, टीवी और टीवी-अध्ययन, तीसरा सिनेमा, तीसरी दुनिया का सिनेमा, दक्षिण भारतीय सिनेमा और राजनीति, दर्शक, श्रोता और पाठक, नारीवादी फ़िल्म-सिद्धांत, फ़िल्म और सेक्शुअलिटी, फ़िल्म और टीवी सेंसरशिप, फ़िल्मांतरण, फ़िल्म-सिद्धांत, प्रलेश-बैक, भारतीय फ़िल्म-अध्ययन, भारतीय स्टार सिस्टम, रियलिटी टीवी, विचारधारा और हिंदी सिनेमा, वृत्त-चित्र, सेलेब्रिटी, सोप ओपेरा, सिनेमाई यथार्थवाद, नव-यथार्थवाद, सोवियत सिनेमा, स्टार, हिंदी सिनेमा का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. अमित खन्ना, सैबल चटर्जी, गोविंद निहलानी और अमिता मलिक की रचनाएँ, गुलज़ार, गोविंद निहलानी और सैबल चटर्जी (सम्पा.) (2003), *इनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ हिंदी सिनेमा*, इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका और पॉप्युलर प्रकाशन, दिल्ली और मुम्बई.
2. मृणाल सेन (1977), *व्यूज़ ऑन सिनेमा*, ईशान, कलकत्ता.
3. सत्यजित राय, *अवर फ़िल्म्स देयर फ़िल्म्स*, ओरिएंट लॉन्गमैन, हैदराबाद.
4. आसिश नंदी (1988-89), 'एन इंटेलेजेंट क्रिटिक्स गाइड टु सिनेमा', *डीप फ़ोक्स*, (तीन अंकों में)।

— अभय कुमार दुबे

भारतीय सिनेमा-3

क्षेत्रीय सिनेमा संस्कृतियाँ

(Indian Cinema-3)

क्षेत्रीय सिनेमा पर एक विहंगम दृष्टि डाले बिना भारतीय सिनेमा की कहानी अधूरी रह जाएगी। अगर 2009 में बनी भारतीय फ़िल्मों के आँकड़े लिए जाएँ तो हिंदी में बने 235 कथा-चित्रों के साथ-साथ तेलुगु में 218, तमिल में 190, कन्नड़ में 177, मराठी में 99, मलयालम में 94, बांग्ला में 84, भोजपुरी में 64, गुजराती में 62, उड़िया में 17, पंजाबी में 15, अंग्रेज़ी में 9, असमिया में 5, राजस्थानी में 5, कोंकणी में 4, संथाली में 2, हरयाणवी में 1, कोड़वा में 1, मैथिली में 1, नागपुरी में 1, राजबंसी में 1, सम्बलपुरी में 1, मिसिंग में 1 और नेपाली में भी 1 फ़िल्म का निर्माण किया गया। ये आँकड़े एक विविधतामूलक सिनेमाई राष्ट्रीयता के रूपक का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनके विन्यास पर पहली नज़र डालते ही साफ़ हो जाता है कि सिनेमाई संस्कृति के विस्तार के संदर्भ में दक्षिण भारतीय भाषाई क्षेत्र हिंदी से थोड़े ही पीछे है। मराठी, बांग्ला और भोजपुरी की दुनिया भी अपनी मात्रात्मक उपलब्धियों के कारण उल्लेखनीय बनी हुई है। लेकिन आँकड़ों से परे ग़ैर-हिंदी सिनेमाई परिदृश्य का इतिहास किसी भी दृष्टि से हिंदी के मुकाबले कम प्रभावशाली नहीं है।

बांग्ला और दक्षिण भारतीय सिनेमा का विकास न केवल हिंदी के साथ क्रम से क्रम मिलाते हुए हुआ है, बल्कि उसके बिना हिंदी सिनेमा अपने मौजूदा मुकाम पर पहुँच ही नहीं सकता था। क्षेत्रीय सिनेमा हिंदी सिनेमा को फ़िल्म निर्माण के विभिन्न क्षेत्रों में प्रतिभाओं की निरंतर आपूर्ति का स्रोत भी रहा है। दूसरे, व्यावसायिक सिनेमा के मामले में क्षेत्रीय फ़िल्में भले ही हिंदी से बाज़ी न मार पायीं हों, पर कला सिनेमा के संदर्भ में बांग्ला, मलयालम और कन्नड़ सिनेमा ने ही हरावल दस्ते की भूमिका निभायी है।

कलकत्ता के थिएटरों में 'बायस्कोप' पहली बार उन्नीसवीं सदी के आखिरी दशक में पहुँचा। दादा साहिब फाल्के से भी पहले फ़िल्म निर्माण शुरू कर देने वाले हीरालाल सेन ने रॉयल बायस्कोप कम्पनी स्थापित की जिसने मंचित नाटकों के दृश्यों को फ़िल्मा कर प्रदर्शित किया। फिर इण्डो-ब्रिटिश कम्पनी की नींव धीरे-धीरे नाथ गांगुली ने डाली। पहली बांग्ला फ़िल्म दूसरे दशक में मदन थिएटर के बैनर तले बनी। 1932 के बाद कलकत्ता में फ़िल्मों के निर्माण का केंद्र टॉलीगंज का नामकरण हॉलीवुड की तर्ज़ पर 'टॉलीवुड' कर दिया गया। उस ज़माने में हिंदी फ़िल्में बनाने का भी सबसे



क्षेत्रीय सिनेमा : प्रभावशाली उपस्थिति

बड़ा केंद्र बम्बई के बजाय टॉलीगंज ही था। न्यू थिएटर्स द्वारा बनायी गयी हिंदी फ़िल्मों को कौन भूल सकता है। हिंदी सिनेमा की गुणवत्ता में अभूतपूर्व बढ़ोतरी करने वाली समांतर फ़िल्म धारा की शुरुआत पहले पचास के दशक में बांग्ला सिनेमा में हुई थी जिसके शिखर पर सत्यजीत राय और ऋत्विक् घटक थे। बाद में इस बेहतर सिनेमा की कमान मृणाल सेन, बुद्धदेव दासगुप्ता और गौतम घोष जैसे फ़िल्मकारों ने संभाली। राय समेत इन सभी ने हिंदी में भी उल्लेखनीय फ़िल्में बनायीं। हिंदी सिनेमा के स्वर्ण युग का नेतृत्व जिन बिमल राय ने किया वे एक बांग्ला फ़िल्मकार ही थे। उनकी अनूठी सृजनशीलता ने न केवल बांग्ला साहित्य की कालजयी कृतियों का फ़िल्मांकन किया, बल्कि फ़िल्मकारों की एक पूरी क्रतार पैदा की जिसके शीर्ष पर हृषिकेश मुखर्जी, बासु चटर्जी और बासु भट्टाचार्य जैसे बंगाली पृष्ठभूमि फ़िल्मकार थे।

मराठी चित्रपट के नाम से मशहूर यह सिनेमा हिंदी सिनेमा जितना ही पुराना है। दादा साहिब फ़ाल्के द्वारा निर्मित पूरी लम्बाई का पहला भारतीय कथा-चित्र 'राजा हरिश्चंद्र' मूक फ़िल्म होने के बावजूद पूरी तरह से मराठी-भाषी निर्माण-दल की देन होने के कारण आज तक मराठी सिनेमा की श्रेणी में माना जाता है। मराठी की पहली सवाक् फ़िल्म होने का श्रेय 'अयोध्येचा राजा' को है जो पहली हिंदी सवाक् फ़िल्म 'आलमआरा' के साल भर बाद ही बनी थी। मराठी फ़िल्म उद्योग की नींव पहले कोल्हापुर में पड़ी, इसके बाद उसका केंद्र पुणे बना। आज इस फ़िल्म उद्योग का केंद्र भी हिंदी फ़िल्मों की तरह मुम्बई ही है। मराठी सिनेमा तरह-तरह के दर्शक वर्ग को आकर्षित करने वाली फ़िल्में बनाता है। इनमें दादा कोंडके द्वारा बनायी गयी भदेस हास्य की अत्यंत लोकप्रिय फ़िल्मों से लेकर 'शवास' और 'हरिश्चंद्राची फ़ैक्ट्री' जैसी उत्कृष्ट फ़िल्में भी हैं जिन्हें क्रमशः 2004 और 2009 में भारत की ऑस्कर प्रविष्टि बनने का मौक़ा मिल चुका है।

हिंदी सिनेमा की तरह तमिल सिनेमा ने भी दुनिया के कई देशों में अपनी पैठ बना ली है। श्रीलंका, सिंगापुर, दक्षिण कोरिया, मलेशिया, मॉरीशस, दक्षिण अफ़्रीका, पश्चिमी युरोप और उत्तरी अमेरिका के तमिल डायसपोरा के कारण ये क्षेत्र भी तमिल फ़िल्मों के वितरण नेटवर्क के दायरे में आते हैं। चेन्नई के कोडाम्बकम में केंद्रित हिंदी के बाद देश के सबसे बड़े इस फ़िल्म उद्योग को वह श्रेय प्राप्त है जो मुम्बई स्थित बॉलीवुड को भी नहीं है। तमिल सिनेमा उद्योग तेलुगु, मलयालम और कन्नड़ फ़िल्में तो बनाता ही है, वहाँ हिंदी और सिंहली फ़िल्में (श्रीलंकाई तमिल सिनेमा समेत) भी उल्लेखनीय संख्या में बनती हैं। दिलीप कुमार की पीढ़ी से लेकर हिंदी के लगभग सभी विख्यात अभिनेता 'मद्रास' की फ़िल्मों में काम कर चुके हैं। तमिल अभिनेता कमल हासन ने सबसे ज्यादा बार राष्ट्रीय फ़िल्म पुरस्कार जीता है। रजनीकांत देश के सबसे महंगे फ़िल्म कलाकार हैं। तमिल फ़िल्म उद्योग ने मणि रत्नम, बालु महेंद्र, कैलासम बालचंद्र, बाला, एस. शंकर जैसे विख्यात निर्देशक और इलइया राजा और अल्ला रक्खा रहमान जैसे संगीत निर्देशक दिये हैं। ऑस्कर पुरस्कार जीतने के बाद रहमान अंतर्राष्ट्रीय ख्याति के धनी हो चुके हैं। तमिल फ़िल्म उद्योग तमिलनाडु की संसदीय राजनीति के साथ अपने गर्भनाल के संबंधों के लिए भी जाना जाता है। ब्राह्मणवाद विरोधी आंदोलन, रैडिकल समाज सुधार और तमिल राष्ट्रवाद की झण्डा बुलंद करने वाला द्रविड़ आंदोलन तमिल सिनेमा का राजनीतिक उपयोग किये बिना कांग्रेस को चुनावी होड़ में मात नहीं दे सकता था (देखें : *तमिल सिनेमा और राजनीति*)।

आंध्र प्रदेश से ज्यादा सिनेमा हाल देश के किसी भी राज्य में नहीं हैं। हैदराबाद में भारत ही नहीं दुनिया का सबसे बड़ा फ़िल्म स्टूडियो कॉम्प्लेक्स रामोजी राव फ़िल्म सिटी है। चेन्नई में बनने वाली फ़िल्मों समेत तेलुगु में बनने वाली फ़िल्मों की संख्या हिंदी से कुछ ही कम है। तमिल सिनेमा के बाद अगर किसी भारतीय भाषा की फ़िल्म संस्कृति ने चुनावी राजनीति से अपना गहरा रिश्ता जोड़ा है, तो वह तेलुगु फ़िल्म उद्योग ही है। तेलुगु आत्मसम्मान के नाम पर अस्सी के दशक में कांग्रेस को पराजित करके सत्ता में आये सुपर स्टार नंदमूरि तारक रामराव (एनटीआर) की राजनीतिक सफलता एक किंवदंती का रूप ले चुकी है। एनटीआर से प्रेरणा लेकर कृष्णा, जयाप्रदा, जमुना, कृष्णम राजू, शारदा, रोज़ा, विजयशांति, कोटा श्रीनिवास राव, बाबू मोहन, हरिकृष्णा और चिरंजीवी जैसी विख्यात फ़िल्मी हस्तियाँ सक्रिय राजनीति में हिस्सा ले रही हैं।

आज़ादी से पहले मलयाली में बनने वाली फ़िल्में तमिल निर्माताओं द्वारा ही बनायी जाती थीं। 1947 के बाद केरल में पहले फ़िल्म स्टूडियो उदय की स्थापना हुई। पहली

प्रामाणिक मलयाली फ़िल्म होने का श्रेय 'नीलक्कुयिल' को है जिसे राष्ट्रपति के रजत पदक से सम्मानित किया गया था। 1965 में रामू करियट के निर्देशन में तकाशी शिवशंकर पिल्लै की कहानी पर बनी 'चेम्मीन' न केवल हिट साबित हुई, उसने सर्वश्रेष्ठ फ़िल्म का राष्ट्रीय पुरस्कार भी जीता। मलयाली सिनेमा का यह दौर प्रेम नज़ीर, सत्यन, शीला और शारदा जैसे कलाकारों के लिए भी जाना जाता है। सत्तर के दशक में मलयाली सिनेमा अदूर गोपालकृष्णन की कृति 'स्वयंवरम' के रूप में कला सिनेमा की नयी लहर ले कर आया। इसी दशक में एम.टी. वासुदेवन नायर की 'निर्मलयम', जी. अरविंदन की 'उत्तरायनम' और जॉन अब्राहम की फ़िल्म प्रदर्शित हुई। अस्सी से नब्बे के दशक के बीच की अवधि मलयाली सिनेमा का स्वर्ण काल मानी जाती है। इस बीच मलयाली सिनेमा ने मम्मूटी और मोहनलाल जैसे सक्षम अभिनेता दिये और आई.वी. सिसि, भरतन और शाज़ी एन. करुण जैसे सम्भावनाशील निर्देशकों की एक पूरी क्रतार पैदा की। इन फ़िल्मकारों ने रोज़मर्रा की ज़िंदगी को केंद्र करके सामाजिक और निजी धरातल पर मानवीय संबंधों का सिनेमाई संधान किया।

बांग्ला और मलयाली सिनेमा के बाद भारतीय कला सिनेमा की तीसरी उपलब्धि कन्नड़ फ़िल्म संस्कृति की देन है। 'संस्कार' और 'चोमना दुड़ी' जैसी सरहानीय फ़िल्में बनाने वाले 'संदलवुड' के नाम से मशहूर इस उद्योग ने गिरीश कासरवल्ली, जी.वी. अय्यर और गिरीश कर्नाड जैसे फ़िल्मकार दिये हैं। कन्नड़ सिनेमा ने अनंत नाग, शंकर नाग और बी. सरोजादेवी विख्यात एक्टरों को भी राष्ट्रीय मंच पर पेश किया है। जिस तरह एम.जी.आर. तमिल सिनेमा के, एन.टी.आर. तेलुगु सिनेमा के और प्रेम नज़ीर मलयाली सिनेमा के सुपरस्टार बने, उसी तरह डॉ. राजकुमार कन्नड़ सिनेमा के सुपरस्टार थे। उन्होंने न केवल सैकड़ों फ़िल्मों में विविध भूमिकाएँ निभायीं, बल्कि करीब तीन हजार गीत भी गाये। राजकुमार राजनीति में आने की योजना भी बना रहे थे। चंदन की लकड़ी के तस्कर वीरप्पन द्वारा उनके अपहरण की घटना राष्ट्रीय मीडिया द्वारा दिये गये कवरेज के कारण पूरे देश की चिंताओं के केंद्र में आ गयी थी।

इस क्षेत्रीय फ़िल्म संस्कृति की प्रतिभाओं से हिंदी सिनेमा को बेहद लाभ हुआ है। यह भी कहा जा सकता है कि अगर संजीव कुमार, बिंदु, आशा पारेख, जीवन, किरन कुमार, अरुणा ईरानी और असरानी जैसे अभिनेता, जयकिशन और कल्याणजी आनंदजी जैसे संगीतकार और केतन मेहता ('भावनी भवई') जैसे निर्देशक हिंदी फ़िल्मों को अपने करियर को न चुनते तो गुजराती सिनेमा और भी समृद्ध होता। 1932 में नानूबाई वकील द्वारा निर्देशित 'नरसिंह मेहता' पहली गुजराती फ़िल्म थी।

मुख्य तौर से बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश के दर्शकों

के लिए बनायी जाने वाली भोजपुरी फ़िल्में भारत से बाहर वेस्ट इंडीज, मॉरीशस, फ़ीजी और दक्षिण अमेरिका के भोजपुरी भाषियों के बीच भी लोकप्रिय हैं। इन फ़िल्मों का इतिहास 1962 में प्रदर्शित अत्यंत लोकप्रिय कुंदन कुमार द्वारा निर्देशित 'गंगा मइया तोहे पियरी चढ़इबो' और 1963 में प्रदर्शित एस.एन. त्रिपाठी निर्देशित 'बिदेसिया' से शुरू हुआ था। ये फ़िल्में सफल ज़रूर हुईं, लेकिन भोजपुरी सिनेमा के क्रदम नहीं जम पाये। इस उद्योग में नया उछाल 2001 में मोहन प्रसाद द्वारा निर्देशित 'सैंया हमार' की सफलता से आया। इसके बाद बेहद सफल फ़िल्मों का एक लम्बा सिलसिला शुरू हो गया। कई बार छोटे बजट में बनी भोजपुरी फ़िल्मों ने उत्तर प्रदेश और बिहार में हिंदी की बड़े बजट की फ़िल्मों से ज़्यादा पैसा कमा कर दिखाया। आज इस सिनेमा का निर्माण केंद्र मुम्बई है और अमिताभ बच्चन, अजय देवगन, नगमा, मिथुन चक्रवर्ती जैसे सितारे इन फ़िल्मों में काम कर चुके हैं।

देखें : अतिनाटकीयता, अनुपस्थिति-उपस्थिति, कला सिनेमा, अवाँगार्ड और प्रति-सिनेमा, टीवी और समाचार, टीवी और सेक्सुअलिटी, टीवी और टीवी-अध्ययन, तीसरा सिनेमा, तीसरी दुनिया का सिनेमा, दक्षिण भारतीय सिनेमा और राजनीति, दर्शक, श्रोता और पाठक, नारीवादी फ़िल्म-सिद्धांत, फ़िल्म और सेक्सुअलिटी, फ़िल्म और टीवी सेंसरशिप, फ़िल्मांतरण, फ़िल्म-सिद्धांत, फ़्लैश-बैक, भारतीय फ़िल्म-अध्ययन, भारतीय स्टार सिस्टम, रियलिटी टीवी, विचारधारा और हिंदी सिनेमा, वृत्त-चित्र, सेलेब्रिटी, सोप ओपेरा, सिनेमाई यथार्थवाद, नव-यथार्थवाद, सोवियत सिनेमा, स्टार, हिंदी सिनेमा का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. जिग्ना देसाई (2004), *बियॉन्ड बॉलीवुड : द कल्चरल पॉलिटिक्स ऑफ़ साउथ एशियन डायस्पोरिक फ़िल्म*, रॉटलेज, नयी दिल्ली.
2. सेल्वराज वेलायुतम (2008), 'द डायसपोरा ऐंड द ग्लोबल सर्कुलेशन ऑफ़ तमिल सिनेमा', *तमिल सिनेमा : द कल्चरल पॉलिटिक्स ऑफ़ इण्डियाज़ अदर फ़िल्म इंडस्ट्री*, रॉटलेज, नयी दिल्ली.
3. शांति कुमार (2008), 'बॉलीवुड ऐंड बियॉन्ड : द ट्रांसनेशनल इकॉनॉमी ऑफ़ फ़िल्म प्रोडक्शन इन रामोजी फ़िल्म सिटी, हैदराबाद', *ग्लोबल बॉलीवुड : ट्रेवल्स ऑफ़ हिंदी सोंग ऐंड डांस*, युनिवर्सिटी ऑफ़ मिनेसोटा प्रेस, न्यूयॉर्क.

— अभय कुमार दुबे

भारतीय स्टार सिस्टम

(Indian Star System)

भारतीय फ़िल्मों का स्टार-सिस्टम हॉलीवुड की तरह स्टूडियो-सिस्टम की देन नहीं है। इसकी पैदाइश बम्बई, कलकत्ता और मद्रास में पनपे स्टूडियो-सिस्टम के टूटने से हुई है। पश्चिमी सिनेमा और भारत के बीच का यह फ़र्क यहीं ख़त्म नहीं होता। हॉलीवुड में स्टारडम का विमर्श भारतीय परिदृश्य को समझने में आंशिक रूप से ही मदद कर सकता है। हालाँकि भारतीय फ़िल्म-स्टार भी अपने फ़िल्म-उद्योग पर हॉलीवुड जैसा ही प्रभाव डालता है, पर कुल मिला कर न केवल इस स्टार-सिस्टम का समाजशास्त्र अलग तरह का है, बल्कि संस्थागत स्तर पर उसकी राजनीतिक-सामाजिक और जेंडर संरचना भी भिन्न है।

हॉलीवुड के स्टार-सिस्टम में पुरुष और स्त्री अभिनेताओं की संयुक्त भागीदारी है, भले ही पुरुषों का हिस्सा अपेक्षाकृत काफ़ी भारी है। पर भारतीय स्टार-सिस्टम में अभिनेत्रियों को आज तक जगह नहीं मिल पायी है। प्रतिभा की धनी, लोकप्रिय और सफल अभिनेत्रियों की कोई कमी नहीं है, पर फ़िल्म-उद्योग को अपनी मर्जी ले चलाने की क्षमता उनमें से किसी की भी नहीं रही। कभी-कभी माधुरी दीक्षित का नाम पहले और अभी तक के अंतिम स्त्री-सुपरस्टार के रूप में लिया जाता है। ज़ाहिर है कि यह अपवाद भी स्टार-सिस्टम के पौरुषपूर्ण चरित्र के नियम को ही सिद्ध करता है।

इसमें कोई शक नहीं कि हॉलीवुड के स्टार भी हॉलीवुड की तर्ज़ पर अपने अति-उपभोग, विलासिता और सेक्शुअल अतिवाद के जरिये खुद को जन-साधारण से अलग करके आकर्षक और विचित्र बनाते हैं। लेकिन उनकी इस विशिष्टता के कुछ ख़ास भारतीय पहलू भी हैं। मसलन, हॉलीवुड सितारों के व्यक्तिगत जीवन में जिस तरह की धार्मिक समरसता व्यावहारिक ज़मीन पर देखने को मिलती है, बाक़ी समाज में वैसी स्थिति केवल सामासिक और सेकुलर थियरी के पृष्ठों पर ही सम्भव है।

भारत के फ़िल्मी सितारों और उनसे जुड़ा हुआ देह का सौंदर्यशास्त्र मोटे तौर पर उत्तर भारत और दक्षिण भारत के दो ध्रुवों में विभक्त है। बावजूद इसके कि उत्तर के तमाम फ़िल्मी सितारे दक्षिण भारत में बनने वाली हिंदी फ़िल्मों में सफलतापूर्वक काम करते हैं, और भले ही दक्षिण के अभिनेताओं को उत्तर के दर्शकों ने ज्यादा स्वीकार न किया हो (हालाँकि दक्षिण भारतीय अभिनेत्रियाँ उत्तर में हमेशा से ज़बरदस्त 'हिट' रही हैं), कहा यही जाता है कि जो दक्षिण

में चलता है, वह उत्तर में नहीं चलता। उल्टे उत्तर का अभिनेता अगर दक्षिण द्वारा बनायी गयी हिंदी फ़िल्मों में स्थापित होना चाहता है तो उसे अपने सिर पर ख़ूबसूरत बाल होते हुए भी विग पहनने के लिए मजबूर होना पड़ सकता है (जैसे जीतेन्द्र), क्योंकि वहाँ के ज्यादातर फ़िल्मी सितारे विग पहनते हैं और भड़कीला मेकअप करके पर्दे पर अवतरित होते हैं। एक मोटा-थुलथुल अभिनेता और बेहद मांसल अभिनेत्री दक्षिण में स्टार बने रह सकते हैं, पर उत्तर में वज़न बढ़ने का मतलब है धंधा चौपट हो जाना। दूसरे, दक्षिण के स्टारों का सामाजिक आधार विंध्याचल के उस पार दूर-दूर तक फैले हुए फ़ैन-क्लबों पर टिका हुआ है। इन फ़ैन-क्लबों की संरचना जातिगत, सामुदायिक और अर्ध-राजनीतिक क्रिस्म की होती है। प्रशंसकों के इन्हीं स्वायत्त संगठनों के दम पर दक्षिण के स्टार राजनीतिक गोलबंदी करते हैं और अपनी पार्टियाँ बना कर राजसत्ता तक पहुँचने में कामयाब रहते हैं। दक्षिण में फ़िल्मी सितारों के राजनीति में आगमन ने भारतीय राजनीति के क्षेत्रीयकरण में उल्लेखनीय भूमिका निभायी है। इसके विपरीत उत्तर भारत के फ़िल्मी सितारों के सार्वजनिक जीवन में इस तरह के पारिवेशिक सम्पर्कों की भूमिका न के बराबर ही है। उनकी लोकप्रियता और पहुँच अधिकांशतः वर्ग और समुदाय की सीमाओं से परे जाती है। वे भी राजनीति में भाग लेते हैं, पर उनकी कामयाबी का चरित्र व्यक्तिगत क्रिस्म का है।

हॉलीवुड के स्टूडियो-सिस्टम की ख़ास बात यह थी कि वह नीचे से ऊपर तक एकीकृत था, अर्थात् फ़िल्म-निर्माण, फ़ाइनेंसिंग, वितरण और प्रदर्शन तक सिनेमा के हर पहलू पर उनकी संस्थागत गिरफ्त रहती थी। वे स्टार बनाने और बिगाड़ने की क्षमता रखते थे। 1948 में अमेरिकी सुप्रीम कोर्ट के कुछ फ़ैसलों के बाद उनके हाथ से वितरण और प्रदर्शन की ताक़त छिन गयी। लेकिन फिर भी व्यवसाय और स्टारडम पर उनकी गिरफ्त कमज़ोर नहीं हुई। आज भी हॉलीवुड के बड़े स्टूडियो टॉम क्रूज़ जैसे सितारों को सालाना अनुबंधों के तहत अपनी फ़िल्मों में ही काम करने के लिए प्रतिबद्ध रखते हैं। भारत में भी फ़िल्म-व्यवसाय का विकास बड़े स्टूडियो की स्थापना के साथ जुड़ा हुआ है, लेकिन उनका दायरा मोटे तौर पर निर्माण तक और आंशिक रूप से फ़ाइनेंसिंग (बड़ी फ़िल्म कम्पनियाँ) तक सीमित रहा है। फ़ाइनेंसर, वितरक और प्रदर्शक की हैसियत अपेक्षाकृत स्वायत्त है। कुछ बड़े वितरक भी फ़िल्मों में पैसा लगाते हैं। इसका सबसे बड़ा कारण शायद यह है कि भारतीय फ़िल्मों के लिए ज़रूरी पूँजी के स्रोत कमोबेश अनिश्चित और अस्थिर हैं। सरकारी पूँजी से बनने वाला कला सिनेमा एक अपवाद था। हाल ही में कॉरपोरेट, संस्थागत और विदेशी पूँजी द्वारा फ़िल्म व्यवसाय में पदार्पण करने से पहले इस



महबूब खान की फ़िल्म 'अंदाज़' (1949) में नरगिस, राजकपूर और दिलीप कुमार।

उद्योग को अपराध जगत से मिलने वाली 'फ़ाइनेंसिंग' का भी इस्तेमाल करना पड़ा है।

पूँजी की कमी के कारण ही भारत में स्टूडियो-सिस्टम का बनता हुआ आधार द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद तेज़ी से दरकने लगा। पहले वे हॉलीवुड की ही तरह अभिनेताओं, निर्देशकों, संगीतकारों और लेखकों की टीम को नियमित तनख्वाह पर रखते थे। लेकिन आज़ादी के बाद अभिनेताओं, निर्देशकों, सिनेमैटोग्राफ़रों और अन्य तकनीशियनों का बाज़ार स्टूडियो-मालिकों और फ़िल्म-कम्पनियों के हाथ में नहीं रह गया। 'फ़्रीलांसिंग' का माहौल तैयार हुआ। कलाकारों और तकनीशियनों का पारिश्रमिक उनकी अंतिम फ़िल्म की व्यावसायिक सफलता के आधार पर निर्धारित होने लगा।

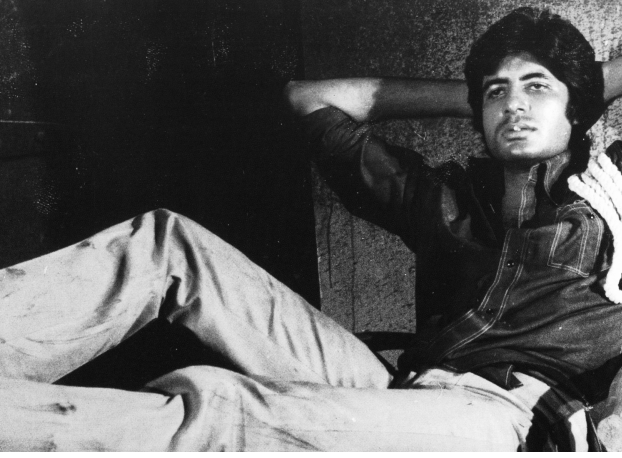
मुम्बई फ़िल्म-उद्योग के स्टार-सिस्टम ने तीन बड़े सितारों दिलीप कुमार, राजकपूर और देव आनंद को जन्म दिया। हिंदी सिनेमा के जिस स्वर्णयुग की चर्चा होती है, उसके केंद्र में इन्हीं तीनों की शिखरयुग और अभिनय-क्षमताएँ थीं। इस दौर में इन तीनों को मिले स्टारडम पर चालीस से साठ के दशक के बीच के महान निर्देशकों और निर्माताओं की गहरी छाप थी। दिलीप कुमार मानवीय जीवन के जिन दुःख भरे पहलुओं के पर्याय बने, वह मुख्य तौर पर बिमल राय द्वारा उकेरी गयी छवियों का नतीजा था। बाद में उन्होंने ग्रामीण जीवन की जिन त्रासदियों को व्यक्त किया, वे बलदेव राज चोपड़ा और नितिन बोस के निर्देशकीय कौशल की देन थीं। इसी तरह देव आनंद शहरी पृष्ठभूमि के जिस 'स्मार्ट हीरो' और 'लवर बॉय' का निरूपण करने में कामयाब रहे उनके पीछे गुरुदत्त, राज खोसला, चेतन आनंद और विजय आनंद का हुनर था। राजकपूर ने अपने 'आवारा चार्ली' वाले स्टार-बिम्ब को खुद रचा था, क्योंकि वे अपनी फ़िल्मों में खुद को ही निर्देशित करते थे। जहाँ तक व्यक्तिगत हस्तक्षेप करके अपने स्टार-बिम्ब को मनचाही दिशा देने का सवाल है, इसकी

भूमिका सीमित थी। इसके लिए या तो हीरो को अपने भाई या रिश्तेदारों से फ़िल्में बनवानी पड़ती थीं (जैसे देव आनंद ने बनवायीं), या फ़िल्मों को खुद प्रोड्यूस करना पड़ता था (समय-समय पर इन तीनों अभिनेताओं ने ऐसा किया भी)। इस स्टार-त्रयी में केवल एक उदाहरण दिलीप कुमार का है जिन्होंने फ़िल्म-उद्योग द्वारा उन पर आरोपित छवि से अलग हटने का चर्चित प्रयास किया। ट्रेजेडी-किंग कहे जाने वाले इस अभिनेता ने स्वयं योजना बना कर हल्की-फुल्की हास्य भूमिकाएँ करके अपनी स्टार-छवि

को बहुआयामी बना दिया।

स्टार-सिस्टम ने सत्तर के दशक से सुपर-स्टारडम के दौर में क्रमदम रखा। राजेश खन्ना (रोमानी फ़िल्में) और फिर अमिताभ बच्चन (विद्रोही छवि) के उदय ने निर्देशक की छाप को गौण कर दिया। हालाँकि इन छवियों को गढ़ा निर्देशकों ने ही था, पर उनसे जो स्टार बना वह मीडिया और व्यवसाय का सहारा ले कर निर्देशक की पकड़ से परे चला गया। आज शाहरुख खान, अमीर खान, संजय दत्त, अक्षय कुमार और सलमान खान सुपरस्टार की श्रेणी में हैं। ये सभी अपनी पसंद के आधार पर अपने लिए फ़िल्में प्रोड्यूस कराने की क्षमता रखते हैं। इनके बारे में तो यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ये फ़िल्मों में काम नहीं करते, बल्कि फ़िल्में इनकी स्टार-छवि का दोहन करने के लिए बनायी जाती हैं।

हालाँकि राजेश खन्ना पहले सुपरस्टार थे, पर इस परिघटना का अध्ययन अमिताभ बच्चन के उभार के साथ जुड़ा हुआ है। राजेश खन्ना को अगर रोमांस का वाहक माना गया, तो बच्चन की एक्टर-शिखरयुग को 'एंगरी यंगमैन' की विद्रोही छवि से जोड़ा गया। बौद्धिकों ने बॉक्स-ऑफ़िस पर बच्चन के बोलबाले को सामाजिक गोलबंदी की नयी सामाजिक विधियों की शुरुआत के रूप में देखा। इस तरह के निष्कर्ष आकर्षक तो लगते हैं, पर उन्हें सिर्फ़ मानकीय विमर्श के स्तर पर ही टिकाया जा सकता है। 'एंगरी यंगमैन' वाला विमर्श यह भूल जाता है कि बच्चन की असाधारण कामयाबी का शीराज़ा शुरू से ही दो समांतर धरातलों पर खड़ा हुआ। एक तरफ़ उन्होंने मुख्यतः हृषिकेश मुखर्जी के निर्देशन में कई रोमानी, बड़बोली, हास्य और गम्भीर-भद्र भूमिकाओं के कामयाब सिलसिले को जन्म दिया। दूसरी ओर उनके द्वारा की गयी ईमानदार या भ्रष्ट पुलिस वाले, कुली, अपराधी, बंडलबाज़, गुंडे, शराबी और रॉबिनहुड जैसी सबाल्टर्न



यश चोपड़ा की फ़िल्म 'दीवार' में अमिताभ बच्चन.

भूमिकाओं ने विद्रोही चरित्रों का सृजन किया। विमर्शकार अपनी थियरी साबित करने की सुविधा के तहत बच्चन के करियर के पहले धरातल को दूसरे में विलुप्त कर देते हैं। इसके लिए जो साक्ष्य जुटाये जाते हैं वे कमजोर क्रिस्म के हैं।

दिलचस्प बात यह है कि बच्चन जिस समय सफलता के शिखर पर थे, उस समय भी फ़िल्म उद्योग ऐसे कई अभिनेताओं से परिपूर्ण था जो लगातार बड़ी-बड़ी हिट फ़िल्मों दे रहे थे। पर मीडिया और समाज-वैज्ञानिकों ने मिल कर सिर्फ़ बच्चन को ही उस 'राष्ट्रीय' सामाजिक-राजनीतिक संकट की सिनेमाई अभिव्यक्ति का वाहक माना जिससे उनके अनुसार उस समय भारतीय समाज और राजनीति को गुज़रना पड़ रहा था। इस लिहाज़ से बच्चन का सुपरस्टारडम एक हद तक बौद्धिक कारीगरी भी था। अगर 'शासक अभिजनों' की वैधता संकटग्रस्त थी तो उसके प्रति गुस्से भरी सिनेमाई प्रतिक्रिया केवल हिंदी-सिनेमा ने ही क्यों की? दक्षिण भारत के शक्तिशाली फ़िल्म-उद्योग ने ऐसा क्यों नहीं किया? क्षेत्रीय सिनेमा-उद्योग भी बॉलीवुडीय मुहावरे की फ़िल्मों की कमाई पर टिका है। वहाँ भी ऐसा क्यों नहीं हुआ?

दक्षिण भारत का नज़ारा एकदम अलग है। वहाँ स्टारडम प्रांतीयता, सांस्कृतिक अस्मिता और सामुदायिकता से बँधा हुआ है। मसलन, आंध्र प्रदेश में तेलुगु-स्टारडम पर कम्मा जाति के अभिनेताओं का क़ब्ज़ा रहा है। दूसरी प्रभुत्वशाली जाति रेड्डियों के पास ऐसा कोई बड़ा फ़िल्म स्टार नहीं है जिसकी लोकप्रियता का उन्हें राजनीतिक फ़ायदा मिल सकता हो। इसी तरह आंध्र में चिरंजीवी और तमिलनाडु में विजयकांत का स्टारडम अपने-अपने समुदायों के साथ उनके गहरे सम्पर्कों की देन है। इसी आधार पर फ़िल्म-स्टारों के प्रशंसकों की एसोसिएशनें बनती हैं जिनका फ़िल्म हिट कराने से लेकर राजनीतिक गोलबंदी तक औज़ार की तरह प्रयोग किया जाता है। फ़ैन-क्लबों में स्त्रियाँ अपवादस्वरूप ही भाग लेती हैं। उनके ज़्यादातर सदस्य निचले तबके और

निचली समझी जाने वाली जातियों से आते हैं। ये प्रशंसक अपने नायक के लिए रास्ता रोको आंदोलन करने से लेकर दंगाई हिंसा करने की हद तक चले जाते हैं। प्रशंसकों के संगठन अपने नायक के बूढ़े होने पर यो उसके गंजे हो जाने पर भी उससे फ़िरंट नहीं होते। वे तो उसे भगवान मान चुके होते हैं और उसके मंदिर बना कर पूजा तक करते हैं। प्रशंसकों में नायक के नाम पर आत्मदाह कर लेने वाली दीवानगी तक होती है। तमिलनाडु में एमजीआर और कर्नाटक में डॉ. राजकुमार के देहांत पर उनके प्रशंसकों की दुःख भरी हिंसक प्रतिक्रिया इसका प्रमाण है।

दक्षिण भारत के फ़िल्मी सितारों का स्टारडम बनाये रखने के लिए प्रचारतंत्र का सुनियोजित उपयोग किया जाता है। फ़ैन-क्लबों की गतिविधियाँ चालू रखने और उनका प्रसार करने में स्टार खुद दिलचस्पी लेता है और उन पर पैसा खर्च करता है। साथ ही जीवनी-लेखकों की करामात के दम पर वह अपने निजी जीवन की घटनाओं का गढ़ा गया संस्करण जनता के सामने परोसता है। एमजीआर, उनकी पत्नी जानकी और उनकी राजनीतिक उत्तराधिकारी जयललिता के विवादास्पद अंतरंग जीवन को प्रशंसकों के लिए अनापत्तिजनक और आकर्षक बनाने में इस तरह की मीडिया इंजीनियरिंग का भारी हाथ है। द्रमुक की सदस्यता वाले दिनों में एमजीआर के आठ सौ प्रशंसक क्लब तमिलनाडु में सक्रिय थे। उधर शिवाजी गणेशन के फ़ैन-क्लबों के दम पर चुनाव में हार जाने के बावजूद कांग्रेस राज्य में टिकी हुई थी। आज रजनीकांत और कमल हासन के फ़ैन-क्लबों का ज़माना है। इन दोनों अभिनेताओं के प्रचारतंत्र का दावा है कि एक-एक ज़िले में उनके सैकड़ों फ़ैन-क्लब सक्रिय हैं।

देखें : अतिनाटकीयता, अनुपस्थिति-उपस्थिति, कला सिनेमा, अवाँगार्ड और प्रति-सिनेमा, टीवी और समाचार, टीवी और सेक्शुअलिटी, टीवी और टीवी-अध्ययन, तीसरा सिनेमा, तीसरी दुनिया का सिनेमा, दक्षिण भारतीय सिनेमा और राजनीति, दर्शक, श्रोता और पाठक, नारीवादी फ़िल्म-सिद्धांत, फ़िल्म और सेक्शुअलिटी, फ़िल्म और टीवी सेंसरशिप, फ़िल्मांतरण, फ़िल्म-सिद्धांत, फ़्लैश-बैक, भारतीय सिनेमा-1, 2 और 3, भारतीय फ़िल्म-अध्ययन, रियलिटी टीवी, विचारधारा और हिंदी सिनेमा, वृत्त-चित्र, सेलेब्रिटी, सोप ओपेरा, सिनेमाई यथार्थवाद, नव-यथार्थवाद, सोवियत सिनेमा, स्टार, हिंदी सिनेमा का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. गुलज़ार, गोविंद निहलानी और सैबल चटर्जी (सम्पा.) (2003), *इनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ हिंदी सिनेमा*, इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका और पॉप्युलर प्रकाशन, दिल्ली और मुम्बई.
2. सारा डिकी (1993), 'पॉलिटिक्स ऑफ़ एडुलेशन : सिनेमा ऐंड द प्रोडक्शन ऑफ़ पॉलिटिशियंस इन साउथ इण्डिया', *द जरनल ऑफ़ एशियन स्टडीज़*, खण्ड 52, अंक 2.
3. रॉबर्ट एल. हार्डग्रेव, (1973) जूनियर, 'पॉलिटिक्स ऐंड द फ़िल्म इन तमिलनाडु : द स्टार्स ऐंड द डीएमके', *एशियन सर्वे*, खण्ड 13, अंक 3.

4. एम. माधव प्रसाद (1998), *आइडियालॉजी ऑफ द हिंदी फिल्म: अ हिस्टोरिकल कंस्ट्रक्शन*, ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

— अभय कुमार दुबे

भारतीय स्वभाव और राजनीति

(Indian Nature and Politics)

क्या भारतीय समाज अपनी प्राचीनता और परम्परानिष्ठा के बावजूद औसत आधुनिक भारतीय व्यक्ति को ऐसा मानस मुहैया कराने में सफल है जो समाज को राजनीतिक आधुनिकीकरण की तरफ ले जा सके? राजनीति के जिन रूपों को हमने अपनाया है, उनका विकास मुख्यतः पश्चिमी सांस्कृतिक यथार्थ के तहत हुआ है। भारतीय सांस्कृतिक यथार्थ उससे कई मायनों में मेल नहीं खाता। भारत में औसत व्यक्ति के लालन-पालन और समाजीकरण के मानक न केवल आधुनिकता के आगमन से पहले भिन्न रहे हैं, बल्कि आज भी कमोबेश वे पश्चिमी मानकों से अलग हैं। आधुनिक राजनीति में सफलतापूर्वक भाग लेने के लिए जिन खूबियों की ज़रूरत होती है, उन्हें प्राप्त करने के दो स्रोत हो सकते हैं। पहला, राजनीति में भाग लेने के अनुभव से सीखते हुए क्रमशः उन गुणों को प्राप्त करना। यह व्यक्ति की अपनी क्षमताओं पर निर्भर करता है कि वह राजनीति की ज़रूरतों के हिसाब से खुद का पुनर्संस्कार किस तरह और किस हद तक करता है। दूसरा, वे बुनियादी और सहजात गुण जो पारिवारिक और सांस्कृतिक माहौल के कारण शुरू से ही व्यक्ति के मानस का अंग बन जाते हैं। प्रश्न यह है कि ये सहजात गुण भारतीय व्यक्ति को आधुनिक राजनीतिक संस्कृति का अनुभव प्राप्त करने में बाधा डालते हैं या उसकी मदद करते हैं। यह दूसरा स्रोत पहले को लाजमी तौर पर प्रभावित करता है।

भारतीय व्यक्तित्व के अध्ययन में कई अध्येताओं ने भारतीय परिवार में बच्चे की स्थिति पर खास तौर से विचार किया है। इन अध्ययनों की रोशनी में एक अंदाज़ा लगाया जा सकता है कि भारतीय परिवार और समाज का ढाँचा जन्म से वयस्क होने तक जिस व्यक्ति की रचना करता है, वह आधुनिक सामूहिक जीवन और प्राधिकार के आधुनिक रूपों की ज़रूरतों पर खरा उतर पाता है या नहीं? इससे यह भी पता चलता है कि मूलतः सांस्कृतिक और पश्चिमी अर्थों में अ-सेकुलर स्वभाव वाले समाज में विकसित होने वाले

राजनीतिक संस्कार जिस राजनीतिक शिखिसयत की रचना करते हैं, वह किन अर्थों में पश्चिमी समाजों में पनपे राजनीतिक व्यक्ति से अलग है?

अध्येताओं की मान्यता है कि पश्चिम के मुक्राबले भारत में बच्चे पर कहीं ज्यादा लम्बी अवधि तक वात्सल्य बरसाया जाता है। माता और परिवार के अन्य सदस्यों की संरक्षा में लगातार रहने के कारण भारतीय बच्चा अपेक्षाकृत वंचित होने की किसी कुंठा का अनुभव कम ही करता है। ऐसी स्थिति के कारण उसके स्वभाव को आंतरिक आक्रामकता का वह स्पर्श नहीं मिल पाता, जो आधुनिक राजनीति के लिए उपयोगी समझा जाता है। वह अपनी आक्रामक ऊर्जा को प्राधिकार के प्रतीकों के संदर्भ में व्यक्त करने में नाकाम रहता है। दूसरी तरफ़ यही प्रक्रिया उसके भीतर 'आत्म-विकास' की अंतर्मुखी प्रवृत्ति को बढ़ावा देती है। उसका अपना आदर्शीकृत अहं तो ताकतवर हो जाता है, पर समाज की वृहत्तर ज़रूरतों से जोड़ने वाला परा-अहं कमजोर बना रहता है।

परिणामस्वरूप भारतीय व्यक्ति जब अपने परा-अहं की अपेक्षाएँ पूरी नहीं कर पाता, तो उसकी नैतिक और रचनात्मक ऊर्जा में कोई खास बेचैनी पैदा नहीं होती। वह अपने स्व-विकसित अहं पर निर्भरता से काम चलाता रहता है। वह स्वनिर्धारित आदर्शों और लक्ष्यों से अधिक अनुप्राणित होता है, अपनी सामाजिक ज़िम्मेदारियों से कम। औसत भारतीय इसीलिए अंतर्मुखी हो कर श्रेष्ठता प्राप्त करने की कोशिश में लगा रहता है, पर उसमें समाज के लिए कुछ कर गुज़रने की खास इच्छा नहीं होती। अपनी इसी प्रकृति के कारण जब भारतीय संस्कृति उसके सामने ऊँचे और सार्वभौम आदर्श पेश करती है तो उसे हमेशा के लिए एक तरह के अंतर्विरोध का शिकार हो जाना पड़ता है। वह देखता है कि कुछ मुट्ठी-भर व्यक्ति सृजनशील और सत्ताकांक्षी व्यक्ति इन आदर्शों से जुड़ कर खुद को उच्चतर क्षमताओं से लैस करते चले जा रहे हैं। वह अपने और उनके बीच में एक बड़ी खाई पाता है। उस तरह का महामानव न बन पाने की मजबूरी उसे उत्तरोत्तर स्वतःस्फूर्तता और अनिश्चितता का शिकार बनाती चली जाती है। वह नेता को गुरु, ऋषि या योद्धा की निगाह से देखता है। उसके करिश्मे पर उसे हद से ज्यादा भरोसा होने लगता है। इन्हीं कारणों से भारतीय मानस के लिए राजनीतिक नेता की हैसियत माता-पिता या बड़े भाई या बहिन जैसी होती है। दूसरी ओर नेतागण भी चाहते हैं कि किशोरों और नवयुवकों में ऐसी ही मूल्यों का विकास हो।

भारतीय परिवार में बच्चे की मौजूदगी को एक व्यक्ति के रूप में स्वीकार न करके एक संक्रमणकालीन स्थिति के

रूप में देखा जाता है। परिवार में प्राधिकार की संरचना आम तौर से बिखरी हुई रहती है। भीड़ भरे माहौल में कुछ भी अलग और निजी धरातल पर सोचना मुश्किल होता है। बड़े संयुक्त परिवार में पिता की हैसियत कई वरिष्ठों के बीच एक वरिष्ठ से अधिक नहीं होती। चाचाओं, मामाओं, बुआओं और दादा-नाना सरीखे कौटुम्बिक संबंधों के जरिये भारतीय बच्चे को किसी न किसी प्रकार अपनी माँगें पूरी करवाने का मौका मिल ही जाता है। वह एक वरिष्ठ को दूसरे के मुकाबले इस्तेमाल करता रहता है। अनुकरण करने के लिए उसके पास एक नहीं, बल्कि कई तरह की छवियाँ होती हैं। ये तमाम पहलू उसके परा-अहं को कमजोर करते हैं।

सचेत रूप से सीखने की उम्र आने पर बच्चे को इस यक्रीन के तहत पाला जाता है कि वह औपचारिक निर्देशों के पालन के बजाय स्वयं देख-समझ कर ज़्यादा सीखेगा। इससे बच्चे के भीतर स्वायत्तता की प्रवृत्ति बढ़ती है, पर प्राधिकार के प्रतीकों के प्रति किसी विशेष अनुपालन की भावना से लैस नहीं हो पाता। पश्चिमी परिवारों के विपरीत परिवार में बच्चे का कोई निश्चित दायरा नहीं होता। वह कहीं भी और कभी भी जा-आ सकता है। वह बड़ों के साथ रात में देर तक जागता रहता है। बड़ों की चर्चा से बच्चे को अलग रखने की कोई विधि आम तौर पर नहीं अपनायी जाती।

पश्चिम में बच्चे का लालन-पालन कई पहलुओं से भारत के मुकाबले उल्टा है। पश्चिमी शैली के लालन-पालन के तहत बच्चे में जिस तरह की आंतरिक आक्रामकता विकसित होती है, उसका नम्यीकरण प्राधिकार के प्रति समर्पण में हो जाता है। बच्चों से प्रेम करना अलग बात है, पर वह संस्कृति वात्सल्य रस को कोई खास तरजीह नहीं देती (पश्चिम में वात्सल्य रस की कविता शायद ही लिखी गयी हो)। संयुक्त और विस्तारित परिवार के अभाव में वहाँ बच्चा पैतृक या मातृक अनुशासन के तहत केंद्र के महत्त्व को शुरू से ही समझना शुरू कर देता है, जबकि भारत में बच्चा न तो केंद्र पर जोर देता है और न ही दूसरों से ऐसी अपेक्षा करता है। उसकी ये प्रवृत्तियाँ राजनीतिक केंद्र के प्रति उसके अस्पष्ट रुख में व्यक्त होती हैं जिससे भारतीय राजनेताओं को अक्सर दिक्कत होती रही है। भारतीय जीवन-शैली की निगाह में प्राधिकार विखण्डित, बिखरी हुई और रुक-रुक कर गतिशील होने वाली संरचना की तरह है।

तो क्या इस विश्लेषण के तहत मान लेना चाहिए कि औसत भारतीय व्यक्ति आधुनिक राजनीति के लिए अनुपयुक्त है? ऐसी मान्यता एक ज़्यादाती होगी। हमें इस स्थापित तथ्य को नहीं भूलना चाहिए कि भारत जैसे परम्परानिष्ठ समाज के आधुनिकीकरण की प्रक्रिया राजनीतीकरण के जरिये चली है। भारतीय राजनीतीकरण पश्चिम में हुए राजनीतीकरण से लाज़मी तौर पर अलग है, क्योंकि उसकी इकाई यानी भारतीय

व्यक्ति ही एक भिन्न क्रिस्म की शै है। दरअसल, भारतीय व्यक्ति की सहजात और नैसर्गिक खूबियाँ एक अलग तरह की आधुनिक राजनीति की रचना-प्रक्रिया की तरफ़ इशारा करती हैं। भारतीय राजनीतिक संस्कृति के मानक अलग हैं। वह अस्पष्टता के प्रति सहिष्णुता, वैचारिक लचीलेपन, सत्ता के विखण्डित स्वभाव और समाज की राज्य से अपेक्षाकृत स्वायत्तता जैसे तत्त्वों से मिल कर बनी है। भारतीय राजनीतिक शिखिसयत के विकास को इसी की रोशनी में समझना श्रेयस्कर होगा।

देखें : अनुसूचित जातियाँ, अनुसूचित जनजातियाँ, अन्य पिछड़े वर्ग, आरक्षण, आधुनिकता, अरविंद घोष, आधुनिकीकरण, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, जवाहरलाल नेहरू, जातियों का राजनीतिककरण, धीरूभाई शेट, पार्थ चटर्जी, बंगाल का नवजागरण, भारतीय अभिजन, भारतीय आधुनिकता, भारतीय इस्लाम, भारतीय उदारतावाद, भारतीय डायसपोरा, भारत में उपनिवेशवाद, भारतीय नवजागरण : तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य, भारत में नियोजन, भारत में प्रातिनिधिक प्रणाली, भारत में पृथकतावादी राजनीति, भारत में मतदान-व्यवहार-1 से 6 तक, भारत में सामाजिक आंदोलन, भारतीय राज्य, भारतीय राष्ट्रवाद, भारतीय लोकतंत्र, भारतीय लोकतंत्र का संस्थानीकरण-1 से 3 तक, भारतीय संविधान-1 से 8 तक, भारतीय सामाजिक आंदोलन, भीमराव रामजी आम्बेडकर, रजनी कोठारी, राज्य, राज्य की मार्क्सवादी अवधारणा, राजा राममोहन राय, विवेकानंद, विनायक दामोदर सावरकर, सुदीप्त कविराज, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1 से 3 तक, सामाजिक आंदोलन।

संदर्भ

1. रजनी कोठारी, *भारत में राजनीति : कल और आज*, प्रस्तुति और सम्पादन : अभय कुमार दुबे, सीएसडीएस-वाणी, नयी दिल्ली, 2005
2. रजनी कोठारी, 'राजनीतिक संस्कृति और भारतीय व्यक्ति की राजनीतिक शिखिसयत का विकास', अभय कुमार दुबे (सम्पा.), *राजनीति की किताब : रजनी कोठारी का कृतित्व*, सीएसडीएस-वाणी, नयी दिल्ली, 2003

— अभय कुमार दुबे

भाववाद

(Idealism)

भाववाद मानता है कि भौतिक अस्तित्व को केंद्र बना कर यथार्थ की सच्ची प्रकृति को नहीं पहचाना जा सकता। वस्तुनिष्ठता के ऊपर आत्मनिष्ठता को प्राथमिकता देते हुए यह दर्शन दावा करता है कि मनुष्य के मानस को विज्ञान की कार्य-कारण कसौटियों पर नहीं कसा जाना चाहिए। मानस और जगत के संबंधों पर विचार करते हुए यह दर्शन इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि चेतना अस्तित्व पर निर्भर नहीं होती, बल्कि अस्तित्व चेतना पर निर्भर करता है। इस तरह भाववाद यथार्थवाद और भौतिकवाद का एंटीथीसिस बन गया। उसने विज्ञान सम्मत कार्य-कारण संबंधों का सहारा न लेकर प्रयोजनमूलकता के आधार पर राजनीतिक जीवन को समझने का प्रयास किया। आधुनिक सभ्यता में व्यक्तिवाद के बोलबाले के पीछे भाववाद के दार्शनिक तर्कों का उल्लेखनीय योगदान है। अट्टारहवीं सदी के आखिरी और उन्नीसवीं सदी के शुरुआती वर्षों के जर्मन दार्शनिकों ने इस वैचारिक आंदोलन की नींव डाली। बीसवीं सदी के आखिरी दशकों में भौतिकवाद और प्रत्यक्षवाद के असर में आने से पहले ब्रिटिश दर्शन भी भाववाद से काफी प्रभावित था। जर्मनी में हीगेल के अलावा कांट, फ्रिच, शेलिंग, लीबनिज़ और शॉपेनहॉवर भाववाद के प्रवर्तक माने जाते हैं। ब्रिटिश भाववादियों में टी.एच. ग्रीन, डब्ल्यू. वैलेस, ई. काइर्ड और एच. जॉस का नाम प्रमुख है। लेकिन भाववाद का इतिहास केवल तीन सौ साल पुराना ही नहीं है। सुकरात, प्लेटो और अरस्तू भी भाववादी ही थे। प्राचीन अद्वैतवाद भाववाद की श्रेणी में आता है। भारतीय दर्शन का एक बड़ा हिस्सा भाववादी है। वैदिक साहित्य, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और वेदांत ही नहीं, बौद्ध दर्शन की कुछ शाखाओं को भी भाववादी माना गया है। चीन में ताओ आधारित लाओ त्से का दर्शन इसी श्रेणी में आता है।

आधुनिक भाववादी विचारक अपने चिंतन की राजनीतिक निष्पत्तियों में भी दिलचस्पी रखते थे। उनका दावा था कि मनुष्य द्वारा राजनीतिक संबंध बनाने का कारण किन्हीं आर्थिक और सामाजिक कारकों में ही नहीं, बल्कि उससे भी कहीं ज्यादा उसके अपने स्वभाव, नैतिकता, इतिहास, कला और धर्म के दायरे में रेखांकित किया जाना चाहिए। इसी सूत्र के आधार पर भाववाद के प्रमुख प्रतिपादकों में से एक हीगेल ने आधुनिक राज्य को मानवीय स्वभाव की आवश्यकताओं के अनुकूल ठहराते हुए तर्क दिया कि यह संस्था कला, साहित्य, धर्म, दर्शन और आर्थिक गतिविधियों में हुए गहन परिवर्तनों के जरिये गढ़ी गयी है। इसी तर्ज पर हीगेल ने राजनीतिक संस्थाओं को मानवीय इयत्ता की विकासमान आवश्यकताओं और बोध का परिणाम करार दिया।

वस्तुनिष्ठता पर आत्मनिष्ठता को प्राथमिकता देने के कारण भाववाद पश्चिमी आधुनिकता के तहत विकसित हुए व्यक्तिवादी रुझानों को पुष्ट करने वाले प्रमुख विचार के तौर पर उभरा है। इतिहास की तरफ इशारा करते हुए भाववादी कहते हैं कि निजता, व्यक्तिगत स्वतंत्रता और गरिमा का निरंतर बढ़ता हुआ एहसास कोई नयी प्रक्रिया नहीं है। पश्चिमी संस्कृति इस बोध को प्राचीन यूनान के जमाने से ही पुष्पित-पल्लवित करती रही है। इसी के तहत सुकरात ने अपने समाज की नैतिक रीतियों को चुनौती दी थी। रोमन कानून निजता के इसी आयाम को व्यक्त करता है। प्रोटेस्टेंट ईसाइयत ईश्वर के साथ व्यक्ति के निजी रिश्ते पर मुहर लगा कर मनुष्य की निजता को ऊपर उठा देती है। नैतिक विचार और व्यवहार में आत्मनिष्ठता का लगातार बोलबाला होता गया है। भाववादी यह भी दावा करते हैं कि आधुनिक अर्थशास्त्र के विकास ने तो उनके दर्शन को सही साबित किया ही है, विज्ञान (जो मनुष्य के मानस की उपज है) के औजारों से बाह्य जगत को नियंत्रित करने का विचार भी एक भाववादी खयाल ही है।

भाववादियों के अनुसार इन्हीं सब कारणों से मनुष्य की आत्म-समझ में आमूल परिवर्तन हो गया है। अब जरूरत इस बात की है कि इसी ऐतिहासिक रूप से बदली हुई आत्म-पहचान के अनुकूल साबित हो सकने वाली सामाजिक-राजनीतिक संस्थाओं की रचना की जाए। हीगेल और अधिकतर ब्रिटिश भाववादी दार्शनिक इस सिलसिले में रूसो द्वारा की गयी तजवीज़ से सहमत नहीं हैं कि इसके लिए समाज की प्रकृति और राजनीति के ढाँचे को बुनियादी तौर पर बदलना होगा। न ही वे यह चाहते हैं कि आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ के बीच होने वाला यह ख़ास तरह का मेल-मिलाप विभिन्न राजनीतिक बंदोबस्तों पर प्रक्षेपित करके देखा जाए। उनका कहना है कि पश्चिम के विकसित समाजों में पनप रही आधुनिक राज्य के संस्थागत विन्यास में ही वे सम्भावनाएँ हैं जिनके तहत निजी नैतिकता और आर्थिक गतिविधियों के विविध दायरों के बीच एक ख़ास तरह का तालमेल बैठाया जा सकता है। न केवल व्यक्तिवाद पनप सकता है, बल्कि ऐसा राजनीतिक बंदोबस्त भी किया जा सकता है जिससे सामाजिक एकता और स्थिरता की गारंटी की जा सके।

हीगेल अपनी रचना *फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ राइट्स* में कहते हैं कि आधुनिक राज्य के आधारभूत उसूल में ही जरूरी ताक़त और गहराई निहित है। इससे न केवल आत्मनिष्ठता का चरम विकास होगा, बल्कि वह तात्विक एकता भी पैदा होगी जिससे आत्मनिष्ठता को बिखरने से रोका जा सके। लेकिन साथ में वे आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ के बीच हो सकने वाले इस मेल-मिलाप को धरती पर उतारने के लिए दार्शनिकों की भूमिका की तरफ़ भी इशारा करते हैं। उन्हें लगता है कि अगर

दार्शनिक व्याख्या नहीं करेंगे तो रोजाना की जिंदगी और उसकी गलतफ़हमियों के धुँधलके में यह सम्भावना छिप जाएगी। भाववादियों की इस तजवीज़ को कार्ल मार्क्स की आलोचना का सामना करना पड़ा। अपनी रचना *थीसिस ऑन फ़ायरबाख* में मार्क्स ने कहा कि यह मेल-मिलाप किसी दार्शनिक की समझ या व्याख्या का मोहताज नहीं रहना चाहिए। इसे तो मानवीय प्रकृति की वास्तविक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए की जाने वाली जद्दोजहद के दौरान एक बदले हुए संसार में हासिल किया जाना चाहिए।

मार्क्सवादियों की मान्यता है कि विचारों की दुनिया भाववाद और भौतिकवाद में बँटी हुई है और इन दोनों ध्रुवों के बीच लगातार युद्ध होता रहता है। ये दोनों विचार एक ही दार्शनिक के भीतर भी पाये जा सकते हैं, जैसे कि देकार्त। देकार्त सृष्टि के आधार के रूप में पदार्थ और चेतना दोनों को समान रूप से महत्वपूर्ण मानते थे। लेकिन वे एक तरफ़ प्रकृति को परमात्मा की माया न कह कर उसके वस्तुगत अस्तित्व का प्रतिपादन करते थे, और दूसरी तरफ़ ईश्वर को जगत का निमित्त-कारण सिद्ध करते हुए उस आत्मतत्व की महिमा गाते हैं जो अतीन्द्रिय है। मार्क्सवादी चिंतकों के अनुसार देकार्त के चिंतन का एक पक्ष वैज्ञानिकों को भौतिकवाद की तरफ़ ले जाता है, और दूसरा पक्ष रहस्यवाद का रास्ता खोल कर धर्म-आध्यात्म की पुष्टि करता है।

देखें : अस्तित्ववाद, आत्मनिष्ठता-वस्तुनिष्ठता, इयत्ता, इमैनुएल कांट, इन्द्रियानुभववाद, ईसैया बर्लिन, उत्तर-आधुनिकतावाद, उत्तर-औपनिवेशिकता, उदारतावाद, कल्पित समुदाय, ग्योर्ग विल्हेल्म फ्रेड्रिख हीगेल, घटनाक्रियाशास्त्र और एडमण्ड हसर, चेतना, जॉन लॉक, जाक लकाँ, ज्यॉ-फ्रांस्वा ल्योतर, ज्यॉ-पॉल सार्त्र, जाक देरिदा, जॉर्ज विल्हेल्म फ्रीड्रिख हीगेल, तत्त्वमीमांसा और अस्तित्वमीमांसा, तात्त्विकतावाद, थियोडोर लुडविग वीज़ेनग्रंड एडोर्नो, द्वैतवाद, नवउदारतावाद, परिणामवाद, फ्रांसिस बेकन, फ्रेड्रिख नीत्से-1 और 2, बुद्धिवाद, भौतिकवाद, मनोविश्लेषण, मिशेल पॉल फ़ूको-1 और 2, यथार्थवाद, युरोपीय पुनर्जागरण, युरगन हैबरमास, युरोपीय ज्ञानोदय, रेने देकार्त, लुई अलथुसे, संत ऑगस्टीन, सोरेन आबी कीर्केगार्द, संरचनावाद और उत्तर-संरचनावाद, हरबर्ट स्पेंसर, ज्ञानमीमांसा, ज्ञान का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. गॉडफ्रे वेज़ी (सम्पा.) (1982), *आइडियलिज़्म, पास्ट एंड प्रज़ेंट*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
2. जॉन फ़ोस्टर (1985), *द केस ऑफ़ आइडियलिज़्म*, लंदन.
3. जी.डब्ल्यू.एफ. हेगेल (1952), *फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ राइट्स*, टी.एम. नॉक्स (अनु.), क्लैरंडन प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.
4. ए.जे.एम. मिलन (1962), *द सोशल फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ इंग्लिश आइडियलिज़्म*, एलेन एंड अनविन, लंदन.

— अभय कुमार दुबे

भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत

(Marxist theories of language)

भाषा-विज्ञान की दृष्टि से मार्क्सवादी चिंतन का सरोकार सामाजिक संरचना में भाषा की प्रभावशाली भूमिका, उसके स्वरूप और भाषा की विभिन्न प्रवृत्तियों से है। इसके लिए मार्क्सवाद भाषा-विज्ञान के अंतर-संबंधों का मूल्यांकन करते हुए सामाजिक संबंधों के क्रमबद्ध अध्ययन के जरिये अपने निष्कर्षों तक पहुँचता है। भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत के अनुसार व्यक्ति का विश्वास, सामाजिक अनुभवजन्य ज्ञान, सांस्कृतिक व जीवन-मूल्य, मानव समुदाय के नियमन की पद्धतियाँ, नैतिकताएँ, प्रतिरोध तथा सामाजिक संघर्ष उसकी भाषा के माध्यम से ही सम्भव हो पाते हैं। इस परिप्रेक्ष्य में यह सिद्धांत शारीरिक श्रम और बौद्धिक कृत्यों के आपसी संयोजन पर गम्भीरता से विचार करता है। मार्क्स और एंगेल्स के साहित्य में भाषा-चिंतन के कई चमकदार टुकड़े मिलते हैं। *जर्मन आइडियाॅलॅजी* में एक जगह व्याख्या की गयी है कि किस तरह दूसरों से संबंध बनाने की प्रक्रिया में भाषा का उद्गम निहित है। इसी तरह *नेचर्स डायलेक्टिक* में एंगेल्स बंदर के मनुष्य बनने की प्रक्रिया के तहत भाषा और श्रम के आपसी संबंधों को रेखांकित करते नज़र आते हैं। परवर्ती मार्क्सवादी विद्वानों ने भाषा के सामाजिक चरित्र की व्याख्या करते हुए वर्ग-पूर्वग्रह की भूमिका पर प्रकाश डाला है। आगे चल कर इसी वर्ग-पूर्वग्रह का परिणाम यह हुआ कि कई बार 'समाजवादी' या 'क्रांतिकारी' भाषा-विज्ञान को 'पूँजीवादी' या 'प्रतिक्रियावादी' भाषा-विज्ञान के बरक्स रखने के अतिसरलीकरण भी हुए।

मार्क्सवाद और भाषा के संबंधों का जायज़ा इस क्षेत्र में स्तालिन के हस्तक्षेप पर प्रकाश डाले बिना नहीं लिया जा सकता। जून, 1950 में जोसेफ़ स्तालिन ने सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी के मुखपत्र *प्रावदा* में एक लम्बा लेख लिखा जिसका शीर्षक था *मार्क्सिज़्म ऐंड द प्रॉब्लम्स ऑफ़ जर्नल लिंग्विस्टिक्स* जो बाद में सारी दुनिया में अत्यंत लोकप्रिय हुई पुस्तिका के रूप में प्रकाशित भी हुआ। स्तालिन ने यह लेख निकोलाई मैर द्वारा प्रतिपादित *न्यू थियरी ऑफ़ लेंग्वेज* का खण्डन करने के लिए लिखा था। स्तालिन के इस लेख से पहले सोवियत संघ में मैर का विमर्श ही भाषा संबंधी नीति की आधिकारिक बुनियाद माना जाता था। मैर एक विख्यात पुरातत्त्वशास्त्री और भाषाविद् थे। अक्टूबर क्रांति के बाद उन्हें कम्युनिस्ट शासन में बेहद प्रमुखता मिली और उनके नेतृत्व में अलग से एक अकादमी भी स्थापित की गयी। मैर का विचार था कि भाषा का विकास मनुष्य की उत्पादक गतिविधियों के विकास के समांतर होता चलता है। यह कह

कर मैर ने सामाजिक क्रम-विकास के साथ भाषा को अनिवार्य रूप से जोड़ दिया था। उनके विमर्श में भाषा सामाजिक अधिरचना का हिस्सा थी और उसी तरह से विकास की क्रांतिकारी उछाल भर सकती थी जिस तरह से मानव समाज की उत्पादक शक्तियाँ एक झटके से विकास की एक मंजिल से दूसरी पर पहुँच जाती हैं।

स्तालिन ने मैर की थीसिस का खण्डन करने के लिए एक अनूठी विधि अखिलियार की। उनका लेख युवा कॉमरेडों के प्रश्नों के उत्तर के रूप में लिखा गया। दरअसल, स्तालिन के साथ युवा कॉमरेडों का ऐसा कोई इंटरव्यू नहीं हुआ था। काल्पनिक सवालों के जवाब में स्तालिन ने साबित किया कि भाषा समाज के आर्थिक आधार पर खड़ी अधिरचना का हिस्सा नहीं होती। न ही भाषा का कोई वर्गीय रूप होता है। वह तो पूरे समाज की होती है। सामाजिक द्वंद्व और वर्गीय आग्रह भाषा के समग्र समाज की थाती होने के तथ्य की पुष्टि ही करते हैं। स्तालिन ने स्पष्ट रूप से कहा कि भाषा-विज्ञान के प्रश्न मार्क्सवादी या गैर-मार्क्सवादी खानों में रख कर नहीं हल किये जा सकते। उन्हें खुले अकादमीय विचार-विमर्श के जरिये ही निबटया जाना चाहिए।

अपने इस लेख द्वारा स्तालिन ने भाषा संबंधी मैर के विमर्श का अंत कर दिया और उस ऐतिहासिक-तुलनात्मक पद्धति की स्थापना की जो क्रांति से पूर्व प्रचलित थी। स्तालिन ने किसी आदि-भाषा के अस्तित्व की अवधारणा को तो मान्यता नहीं दी, पर यह जरूर माना कि भाषाओं के बीच एक जैविक संबंध होता है। इससे पहले जब भी कोई भाषाशास्त्री यह बात कहता था, उसकी नस्लवादी या साम्राज्यवादी कह कर निंदा कर दी जाती थी। दिलचस्प बात यह है कि बीस के दशक से अपने इस लेख के प्रकाशन तक स्तालिन मैर की थीसिस का पूरा समर्थन करते थे। यहाँ तक कि उसे सोवियत संघ के आधिकारिक भाषा-विज्ञान का दर्जा देने में भी उन्हीं की भूमिका थी। इस बात पर काफ़ी विवाद है कि अचानक उन्होंने मैर का खण्डन करने का निश्चय क्यों किया। बहरहाल, कारण जो भी रहा हो, स्तालिन के इस लेख के बाद मैर या उनके भाषाई सिद्धांतों को मार्क्सवाद के क्षितिज से पूरी तरह लापता हो जाना पड़ा।

बीस के दशक के सोवियत संघ में मैर की थीसिस और स्तालिन के हस्तक्षेप के अलावा भाषा-चिंतन की एक तीसरी धारा भी थी जिसे 'लेनिनग्राद स्कूल' या बाख़िन सर्किल के नाम से जाना जाता है। इसके केंद्र में मिखाइल बाख़िन, वैंलेंतिन वोलोशिनोव और पावेल मेदवेदेव द्वारा विकसित किया गया विमर्श था। इन तीनों विद्वानों ने मार्क्सवादी सिद्धांतों पर आधारित संस्कृति के एक लाक्षणिक सिद्धांत के विकास का प्रयास किया। उनका अवधारणात्मक

प्रतिमान तीन व्याख्यात्मक मुकामों पर टिका था : भाषा में निहित बहु-स्वरीय संवादात्मकता, मानस के धरातल पर चलने वाली प्रक्रियाओं का ऐतिहासिक और सामाजिक रूप से तात्पर्यग्रहण, और साहित्यिक पाठ की समाजशास्त्रीय सीमाओं का संधान। दरअसल यह विमर्श अपनी मार्क्सवादी प्रासंगिकता विचारधारा के रूपों और उनके कारगर होने के तरीकों की आलोचना के जरिये हासिल करता था। वोलोशिनोव का विचार था कि भाषा-विज्ञान एक परिघटना के रूप में विचारधारा की लक्षण-प्रकृति स्पष्ट करने की माँग करता है। अर्थात् समाज के नैतिक, धार्मिक, न्यायिक, राजनीतिक और साहित्यिक संस्थानीकरण में अभिव्यक्त विचारधाराओं का पता उनके संघटक तत्त्वों को संचालित करने वाले लक्षणों के जरिये लगाया जा सकता है।

1929 में वोलोशिनोव की रचना *मार्क्सिज़म ऐंड द फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ लेंग्वेज : फंडामेंटल प्रॉब्लम्स इन द एप्लीकेशन ऑफ़ द सोसियोलॉजीकल मैथड एप्लायड टु द साइंसेज़ ऑफ़ लेंग्वेज* प्रकाशित हुई। वोलोशिनोव का खयाल था कि विचारधारात्मक लक्षण में एक ऐसी क्षमता होती है जिससे वह मानवीय चेतना में खुद को एक वस्तुनिष्ठ यथार्थ के रूप में स्थापित कर लेता है। परिणामस्वरूप चेतना को निर्देशित करने वाली एक विचारधारात्मक प्रवृत्ति या मूल्य का जन्म होता है। कुल मिला कर विचारधारात्मक लक्षण व्यक्ति की इयत्ता के परे जा कर एक ऐसे बोध या संज्ञान की रचना करता है जिसके माध्यम से एक सामूहिक अनुभव की अभिव्यक्ति की जा सकती है।

इससे एक साल पहले पावेल मेदवेदेव की कृति *द फ़ॉर्मल मैथड इन द हिस्ट्री ऑफ़ लिटरेचर : अ क्रिटिकल इंट्रोडक्शन टु सोसियोलॉजीकल पोयटिक्स* प्रकाशित हुई थी जिसमें रूसी रूपवाद की गहन और विस्तृत आलोचना प्रस्तुत की गयी थी। इस पुस्तक में मेदवेदेव ने 'आइडियॉलॉजेम' और 'सामाजिक मूल्यांकन' जैसे विचारों का सूत्रीकरण किया। आइडियॉलॉजेम का मतलब था वह दायरा जिसमें मनोवैज्ञानिक और सामाजिक के बीच भेद मिट जाता है। आइडियॉलॉजेम एक ऐसा मिलन-बिंदु बन जाता है जहाँ विचारधारात्मकता कलात्मक रूप के साथ गुंथ कर कलाकृति को जन्म देती है। मेदवेदेव ने आइडियॉलॉजीकल ब्रिज की अवधारणा भी पेश की जिसका मतलब था विमर्श के माध्यम से चेतना के इन दोनों रूपों का सम्पर्क और वक्ता और सम्बोधित के बीच का सूत्र।

कई विद्वानों की मान्यता है कि ऊपर से काफ़ी अलग-अलग लगने के बावजूद मैर, स्तालिन और लेनिनग्राद स्कूल के बीच एक तरह का अंतर्संबंध भी है। बाख़िन सर्किल के सैद्धांतिक चिंतन को सेर्गेई शोगोन्निकोव ने आठ सूत्रों में

व्याख्यायित करने की चेष्टा की है : व्यक्ति में उसका सामाजिक परिवेश लगातार भाषाई लक्षणों का निवेश करता रहता है, सामाजिक परिवेश दरअसल भाषाई लक्षण पैदा करने की एक मशीन की भाँति है, विमर्शी सक्रियता के दौरान व्यक्ति की अपनी इयत्ता की रचना उसके 'अन्य' द्वारा होती है, भाषाई जरियों से पैदा होने वाला 'अन्य' के साथ ही व्यक्ति की अपनी इयत्ता बनती है, वास्तविक सामाजिक परिवेश का प्रकार्यात्मक परिणाम है 'अन्य', विचारधारात्मक लक्षण बुनियादी रूप से एक भौतिक परिघटना है, किसी भी जैविक संरचना में हमेशा एक आध्यात्मिक केंद्र निहित रहता है ताकि उसका नियंत्रण और संचालन होता रहे और इसी केंद्र को आर्किटेक्टोनिक्स कहते हैं, विचारधारात्मक लक्षण वास्तविक जीवन-अनुभव में परिवर्तन के लिए एक आदर्श उपकरण की भूमिका अदा करता है लेकिन वह स्वयं लक्षण की सामग्री से कभी निर्धारित नहीं होता और लगातार होने की प्रक्रिया में रहता है।

साठ के दशक में पोलिश दार्शनिक ऐडम स्कॉफ़ ने एक और मार्क्सवादी सिद्धांत प्रतिपादन किया जो आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ, व्यक्तिगत और सामाजिक, जैविक और साहित्यिक के मध्य भाषा की मध्यस्थ भूमिका पर बल देता है। सजीव रूप में मनुष्य जो उत्तरदायी है, उसकी अवधारणा इस सिद्धांत के केंद्रीय अवलम्बन का कार्य करती है। तथापि आंतरिक तर्क के दृष्टिकोण से, साथ ही जातीय और वैयक्तिक अध्ययन संबंधी अधिग्रहण के स्तर पर कुछ भिन्नताएँ पायी जा सकती हैं जबकि सोचने-बोलने की प्रक्रिया तत्त्वतः एक ही हैं क्योंकि सजातीयता पर सामाजिक प्रथा का प्रभाव पड़ता है और सामुदायिक संबंध सजातीय सहमति से भरे होते हैं।

देखें : फ़र्दिनेंद द सॅस्यूर, मिखाइल मिखाइलोविच बाख़िन, स्तालिन और स्तालिनवाद।

संदर्भ

1. एम.सी. कोर्नफ़ोर्थ (1965), *मार्क्सिज्म ऐंड द लिंगुइस्टिक फ़िलॉसफ़ी*, लॉरेंस एंड विशार्ट, लंदन.
2. जे.एल. मे (1978), 'मार्क्सिज्म ऐंड लिंगुइस्टिक्स : फ़ैक्ट्स ऐंड फ़ैसीज़', *जर्नल ऑफ़ प्रैग्मैटिक्स*, बेंजामिंस, एमस्टर्डम.
3. सेर्गी शोगुनिकोव, 'एम. बाख़िंस सर्किल ऐंड द 'स्टैलिनिस्ट साइंस', *टोरंटो स्लैविक क्वार्टरली*, युनिवर्सिटी ऑफ़ टोरंटो, एकेडेमिक इलेक्ट्रॉनिक जर्नल इन स्लैविक स्टडीज़.

— अजय कुमार पाण्डेय

भीखू छोटालाल पारिख

(Bhikhu Chhotalal Parekh)

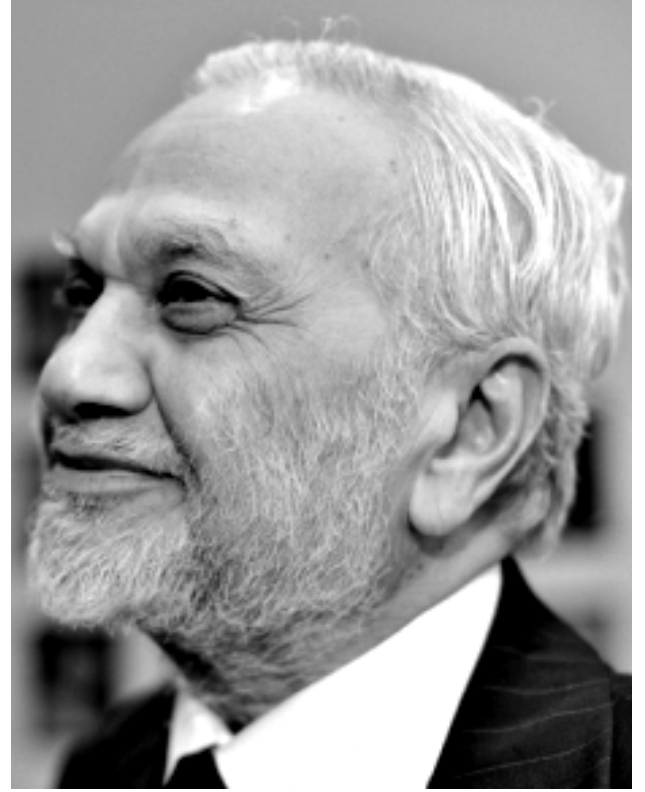
समकालीन पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन में अपने मौलिक चिंतन एवं सहज-सारगर्भित शैली के लिए विख्यात भीखू छोटालाल पारिख (1935-) को बहुसंस्कृतिवाद एवं गाँधी दर्शन की मीमांसा के लिए विशेष रूप से जाना जाता है। पारिख की अकादमिक रुचि के विषयों का दायरा अत्यंत विस्तृत है। इसमें राजनीतिक दर्शन, पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास, प्राचीन एवं आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन, गाँधी-दर्शन, पहचान आधारित राजनीति, और मानवशास्त्रीय अध्ययन जैसे विषय शामिल हैं। पारिख ने इन विषयों पर कई विख्यात ग्रंथों का प्रणयन किया है। पारिख की अंतर्दृष्टि अत्यंत व्यापक है, जिसमें एक ओर प्राचीन संस्कृति एवं समाज के ताने-बाने की समझ तथा दूसरी ओर आधुनिक संस्कृति एवं समाज के अंतर्द्वंद्व को बारीकी से उजागर करने की विशेषज्ञता सम्मिलित है। पारिख सांस्कृतिक विविधता (कल्चरल प्लुरलिटी) एवं साझा मानवता (शेयर्ड ह्यूमैनिटी) के प्रबल समर्थक हैं। पारिख का चिंतन एवं लेखन एकरेखीय नहीं है। वे ऑटोमन साम्राज्य के समाज एवं संस्कृति, प्राचीन भारतीय समाज एवं संस्कृति से अनेक उदाहरण लेते हैं पर तटस्थ भाव से; जिसमें न तो दुरास्था है न ही महिमामण्डन की संकीर्णता। यही दृष्टि पारिख ने आज की ग्लोबल और साइबर दुनिया के सामाजिक-सांस्कृतिक विश्लेषण में अपनायी है, परंतु उदारतावादी लोकतांत्रिक मूल्यों को वे मुक्तिदायक से कम नहीं मानते। लेकिन इसके बावजूद वे उदारतावाद के प्रति अन्य धाराओं से आने वाली आलोचना के प्रति असहिष्णु नहीं हैं। भीखू पारिख की यही प्रवृत्ति उन्हें अपने समकालीन बहुसंस्कृतिवादी चिंतकों से अलग दिखाती है।

अपनी कृति *रीथिंकिंग मल्टीकल्चरलिज्म* में पारिख लिखते हैं कि बहुसांस्कृतिक या बहुसंस्कृतिवाद सामान्यतः ऐसे समाज को इंगित करने वाला पारिभाषिक शब्द है जिसमें तीन तरह की विविधताएँ पायी जाती हैं : साम्प्रदायिक, उपसांस्कृतिक एवं परिप्रेक्ष्यात्मक विविधता। भीखू पारिख मानवीय एकता और मानवीय पहचान को समृद्ध करने वाले समाज को बहुसांस्कृतिक समाज मानते हैं। वे मनुष्य की पहचान में विशिष्ट और सार्वभौम दोनों को ही समाविष्ट मानते हैं। इसी कारण वे पहचान की राजनीति के न तो विशिष्टतावादी शिविर से अपने को जोड़ते हैं न ही सार्वभौमवादियों के साथ सम्बद्ध होते हैं। न्यू पालिटिक्स ऑफ़ आइडेंटिटी में उन्होंने अपना पक्ष स्पष्ट किया है। यहाँ

वे विशिष्टता एवं सार्वभौमिकता का समर्थन करते हैं, लेकिन विशिष्टतावाद और सार्वभौमवाद के साथ वे नहीं हैं। भीखू पारिख आज के सभी समाजों को विभिन्न स्तरों पर सांस्कृतिक विजातीयता से पूर्ण देखते हैं। लेकिन वे उद्योगीकरण के चलते लोगों एवं उत्पादों की सर्वत्र आसान पहुंच को तथा बहुराष्ट्रीय संचार माध्यमों के प्रभाव को ऐसे तत्त्व के रूप में स्वीकारते हैं जिनसे प्रभावित होते हुए भी लोग उनका संज्ञान तक नहीं लेते। पारिख स्वीकार करते हैं कि आज के समय में सांस्कृतिक रूप से ऐसा समजातीय समूह एक मानवशास्त्रीय कल्पना ही है जो यांत्रिक रूप से समान विश्वास एवं आचार का पालन करता हो। बहुसांस्कृतिक समाज की पहचान पारिख बहु-मानवशास्त्रीय और बहुधार्मिक और इन दोनों के सम्मिलित रूप में पहचान करते हैं। साथ ही वे यह भी कहते हैं बहुसांस्कृतिकता कोई नवीन तथ्य नहीं है। रोमन साम्राज्य, मध्यकालीन भारत और युरोप तथा ऑटोमन साम्राज्य में भी ऐसे विविध सांस्कृतिक समुदायों का अस्तित्व था, जिन्होंने सांस्कृतिक विविधता के आधार पर अपने रास्ते निर्धारित किये थे।

पारिख ने परम्परागत समाजों की बहुसांस्कृतिकता और आधुनिक समय की बहुसांस्कृतिकता में चार अंतर बताये हैं। पहला, आज की बहुसांस्कृतिकता अत्यधिक विस्तृत एवं गहरी है। यह इस दृष्टि से अत्यधिक विस्तृत है कि आज सांस्कृतिक विविधता पहले की अपेक्षा मानव अस्तित्व के अत्यधिक विस्तृत क्षेत्र को आच्छादित करती है और इसमें उत्तम जीवन की अवधारणा के बारे में गहरे सांस्कृतिक मतभेद भी सम्मिलित हैं। दूसरा, आज की बहुसांस्कृतिकता में प्रतिरोध के स्वर अत्यधिक हैं। प्रतिरोध के इस स्वर को उदारतावादी लोकतंत्र के विचार ने बढ़ावा दिया है। अल्पसंख्यक समूह, जो पहले प्रायः अधीनता की स्थिति स्वीकार कर लेते थे, अब समान अधिकार, शक्ति एवं व्यापक सामुदायिक जीवन को आकार प्रदान करने में अपनी भूमिका बढ़ाना चाहते हैं। तीसरा, समकालीन बहुसांस्कृतिकता बढ़ते हुए आर्थिक एवं सांस्कृतिक वैश्वीकरण के संदर्भ में विकसित हुई है। पारिख ने आज की बहुसांस्कृतिकता के साथ वैश्वीकरण के द्वंद्वत्मक अंतर्संबंध को दर्शाया है। जहाँ एक ओर यह विचारों, संस्थाओं, नैतिक मूल्यों एवं आचार के प्रसार का माध्यम बन कर समजातीयता को बढ़ावा देती है वहीं यह प्रव्रजन और सांस्कृतिक मूल्यों के क्षरण के प्रति भय, सांस्कृतिक प्रतिरोध आदि का माध्यम बन कर विजातीयता को भी प्रोत्साहित करती है। चौथा, आज की बहुसांस्कृतिकता विगत तीन शताब्दी से राष्ट्र-राज्य के सांस्कृतिक समरूपण से भिन्न पृष्ठभूमि में उत्पन्न हुई है।

पारिख ने जितनी स्पष्टता से समकालीन



भीखू छोटालाल पारिख (1935-)

बहुसांस्कृतिकता एवं पूर्व-आधुनिक बहुसांस्कृतिकता को समझा है उतनी ही स्पष्टता से वे आज के बहुसांस्कृतिक समाजों की समस्याओं को भी समझते हैं। एकता और विविधता की माँगों के संदर्भ में सामूहिक रूप से स्वीकार्य एवं अपनाने योग्य विकल्पों की तलाश को पारिख आज के बहुसांस्कृतिक समाजों की ऐसी आवश्यकता के रूप में देखते हैं जो पूर्व-आधुनिक समाजों में पूरी तरह नहीं उभरे थे। पारिख के अनुसार एकता और एकजुटता का लक्ष्य प्राप्त करने के इच्छुक बहुसांस्कृतिक समाज कम से कम तीन कारणों से विविधताजनित माँगों की उपेक्षा नहीं कर सकत। पहला, विविधता आज के बहुसांस्कृतिक सामाजिक जीवन का अभिन्न यथार्थ बन गयी है और आत्मसातीकरण के नाम पर विविधता को कमजोर करने के उल्टे परिणाम हो सकते हैं। साथ ही यह नैतिकता और राजनीतिक परिणाम की दृष्टि से भी उचित नहीं है। इससे प्रतिरोध की ज्वाला भड़क सकती है जो असुरक्षा एवं अंतर-सांस्कृतिक संदेह को जन्म देगी और आत्मसातीकरण द्वारा वांछित एकता को भी नष्ट कर देगी। दूसरा, मनुष्य गहरे स्तर तक अपनी सांस्कृतिक पहचान से जुड़े होते हैं और अपने साथी या पड़ोसी के प्रति मौलिक सम्मान के कारण भी उसकी उपेक्षा उचित नहीं है। तीसरे, सांस्कृतिक विविधता सामूहिक जीवन को समृद्ध करती है। इसी कारण विविधता की रक्षा न केवल मात्र अल्पसंख्यक समूह के हित में है, बल्कि इसमें सम्पूर्ण समाज की समृद्धि भी है।

पारिख ने स्वीकार किया है कि कोई भी बहुसांस्कृतिक समाज न तो एकता की उपेक्षा कर सकता है न ही विविधता की। वे इस तथ्य को भी स्वीकार करते हैं कि अलग-अलग इतिहास एवं परम्परा के प्रभाव के कारण बहुसांस्कृतिक समाजों में विविधता के प्रकार एवं स्तर भी अलग-अलग होते हैं। ऐसी स्थिति में बहुसांस्कृतिक समाजों के आंतरिक एवं बाह्य समस्याओं के समाधान के लिए कोई एक ही प्रतिमान उपयुक्त नहीं हो सकता। *रिथिंगिंग मल्टी कल्चरलिज्म* में पारिख ने समकालीन एवं पूर्व आधुनिक बहुसांस्कृतिक समाजों में पाये जाने वाले राजनीतिक एकीकरण के प्रतिमानों को तीन वर्गों में रखा है। इन्हें पारिख ने प्रक्रियात्मक प्रतिमान, नागरिक प्रतिमान और मिलेट प्रतिमान का नाम दिया है।

इन प्रतिमानों की कमियाँ बताते हुए पारिख ने निर्देशित किया है कि बहुसांस्कृतिक समाज जिस भी प्रतिमान को उपयुक्त समझता हो, उसमें तीन सामान्य सिद्धांत अवश्य होने चाहिए। प्रथम, एकता और विविधता दोनों ही महत्वपूर्ण हैं और कभी भी एक की क्रीमत पर दूसरे को अपनाने का प्रयास नहीं करना चाहिए। द्वितीय, विविधता जितनी गहरी और व्यापक होगी एकता एवं एकजुटता की आवश्यकता भी उतनी ही तीव्र होगी। इसी कारण पारिख बहुसांस्कृतिक समाज में आपसी प्रतिबद्धता और आपसी सम्बद्धता को दृढ़ करने वाले ऐसे सोच को बढ़ावा देने की बात करते हैं जिसमें व्यापक राष्ट्रीय संस्कृति और एकरूपता के आरोपण जैसे मूल्य न हों। तृतीय, एक बहुसांस्कृतिक समाज में एकता एवं विविधता को द्वंद्वत्मक रूप से संबंधित होना चाहिए जहाँ एकता का पोषण विविधता द्वारा होता हो, एकता विविधता में ही निहित हो तथा विविधता एकता में ही स्थित और उसी से निर्देशित होती हो।

भीखू पारिख ने पश्चिमी राजनीतिक चिंतन की समस्त धाराओं का अत्यंत बारीकी से विश्लेषण किया है। इसकी झलक उनकी पुस्तक *कंटेम्परेरी पॉलिटिकल थिंक्स* में मिलती है। उन्होंने समकालीन राजनीतिक चिंतन में तीन प्रवृत्तियों को रेखांकित किया है : समकालीन राजनीतिक दार्शनिक विचारधारा की बहस को नज़रअंदाज करते हैं, आज के राजनीतिक दार्शनिकों में उस सक्रियतावाद की कमी है जिसकी अपेक्षा प्लेटो और हान्ना एरेंट को थी, एवं आज के राजनीतिक दर्शन में स्पष्टता की अपेक्षा भटकाव अधिक है। पारिख आज की दुनिया के स्वरूप, प्रगति एवं लक्ष्य को देखते हुए कहते हैं कि आज राजनीति को सार्वदेशिक (कॉस्मोपॉलिटन) राजनीति के रूप में अग्रसर होना चाहिए।

भीखू पारिख ने पश्चिमी राजनीतिक चिंतन की सार्वभौमिकता की चर्चा करने के क्रम गाँधी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के प्रति वृहद आलोचनात्मक दृष्टि विकसित की है। उनके अनुसार ग़ैर-पश्चिमी विचारकों को दो वर्गों में बाँटा

जा सकता है। पहले वर्ग के अंतर्गत वे विचारक आते हैं जो पश्चिम से आने वाले चिंतन को ग़ैर-पश्चिमी समाज में ठीक उसी प्रकार प्रस्तुत कर देते हैं जिस प्रकार पश्चिमी चिंतकों ने अपने समाज एवं संस्कृति के संदर्भ में प्रस्तुत किया होता है। परिणामतः इन विचारकों के चिंतन में स्वदेशीयता का पूर्णतः अभाव दिखता है। ठीक इसी प्रकार दूसरी श्रेणी के अंतर्गत ग़ैर-पश्चिमी दुनिया के ऐसे विचारक आते हैं जिनका अपने समाज के व्यक्तियों के साथ संवाद-सम्पर्क कम है या नहीं के बराबर है। परिणामतः इन विचारकों के चिंतन में यथार्थ का समुचित चित्रण नहीं हो पाता है।

भीखू पारिख के अनुसार गाँधी आधुनिक युग के ऐसे ग़ैर-पश्चिमी विचारक हैं जिनकी राजनीतिक अवधारणाएँ उनके जीवन-अनुभवों में संतुष्ट हैं। यही कारण है कि उन्होंने जिन अवधारणात्मक शब्दों, जैसे स्वदेशी, स्वराज्य, सत्याग्रह इत्यादि, का प्रयोग किया वे अपने देशज-सांस्कृतिक संदर्भों में रची बसी हैं। यही नहीं महात्मा गाँधी ने स्वाधीनता संग्राम में जिन राजनीतिक आंदोलनों को चलाया वे भी अपने-आप में बेजोड़ हैं और ऐसा करते हुए भी गाँधी चिंतन न तो काल्पनिक बनता है और न ही आदर्शवादियों के समान अपनी प्रासंगिकता खोता है।

समुदाय-आधारित भारतीय चिंतन प्रणाली से प्रेरित होकर गाँधी-चिंतन जिस प्रकार आधुनिक सभ्यता की आलोचनात्मक व्याख्या करता है उससे गाँधी-दर्शन की व्यापकता एवं गहनता गम्भीर रूप में सामने आती है। गाँधी के अनुसार आधुनिक समाज एवं संस्कृति विभिन्न प्रकार के अंतर्द्वंद्वों से ग्रसित है और यह सभ्यता ऐसा कोई मार्ग भी नहीं दिखाती जहाँ समस्याओं का समुचित निस्तारण हो सके। आधुनिक सभ्यता के मशीनी विकास ने जहाँ एक ओर मानव-श्रम व समय को बचाने का उद्देश्य रखा है, वहीं दूसरी ओर लालच एवं शोषण को बढ़ावा दिया है। इसी प्रकार आधुनिक समाज संरचनात्मक व्यवस्था के सुगठित विकास पर तो बल देता है परंतु इन व्यवस्थाओं के बीच व्यक्ति की स्वायत्तता को किस प्रकार सुरक्षित किया जाए, इस प्रश्न पर सर्वथा असहाय दिखता है। भीखू पारिख के अनुसार गाँधी की आधुनिक सभ्यता की आलोचना इन्हीं खामियों को दूर करने का एक सकारात्मक व मानवीय उपाय है। ऐसा करते हुए यद्यपि वे भारतीय पारम्परिक मूल्यों के निकट दिखते हैं, परंतु उनका उद्देश्य कभी पश्चिम को नकारने का नहीं रहा है। न तो वे हिंदू परम्परा को नकारते हैं और न ही हिंदू परम्परा में व्याप्त संकीर्णता को अनदेखा करते हैं। बल्कि गाँधी का संघर्ष तो भारतीय समाज में व्याप्त विभिन्न बुराइयों, जैसे अस्पृश्यता, वैश्यावृत्ति इत्यादि को दूर करने से भी रहा है। वस्तुतः गाँधी सत्य एवं अहिंसा पर आधारित एक नवीन मानवीय समाज की स्थापना के पक्षधर रहे हैं।

भीखू पारिख ने इसी परिप्रेक्ष्य में गाँधी द्वारा विकसित विभिन्न राजनीतिक अवधारणाओं की भी समीक्षा की है। युगों पुराने राजनीतिक सिद्धांतों, जैसे समानता, स्वतंत्रता, अधिकार, न्याय इत्यादि को नये तरीके से प्रस्तुत करने का गाँधी का प्रयास उनके द्वारा प्रस्तुत दर्शन एवं उनके द्वारा किये गये जीवन के एक्य को विखण्डित नहीं होने देता। समानता से गाँधी तात्पर्य मात्र काल्पनिक समानता नहीं है। पारिख अपनी पुस्तक *क्रोलोनियलिज्म, ट्रेडिशन ऐंड रिफॉर्म : ऐन एनेलिसिस ऑफ गाँधीज पॉलिटिकल डिस्कॉर्स* में लिखते हैं कि जिस प्रकार गाँधी ने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में किसानों, मजदूरों, बुद्धिजीवियों के साथ ही महिलाओं को भी सहयोगी बनाया वैसा प्रयास न तो रूस में लेनिन के और न ही चीन में माओ के नेतृत्व में आहत स्वाधीनता संग्राम में सम्भव हो सका। इसी प्रकार राजनीतिक गतिविधि एवं धर्म के समन्वय एवं राजनीतिक कार्यकर्ता बनकर आध्यात्मिक मोक्ष प्राप्ति का प्रयास आधुनिक राजनीतिक समाज में गाँधी के अतिरिक्त अन्य किसी विचारक में नहीं दिखता।

किसी भी समीक्षक के लिए यह देखना आसान है कि पारिख के चिंतन में परस्पर विरोधी ध्रुवों में सामंजस्य स्थापित करने की उधेड़बुन है। मार्क्सवादी समीक्षक पारिख की आलोचना में कहते हैं कि पहचान की समस्या को पारिख ने इस तरह उलझा कर प्रस्तुत किया है जहाँ पहचान को बनाये रखने की प्रवृत्ति अंततः आर्थिक शोषण से मुक्ति के पक्ष को विस्मृत कर देती है। यद्यपि पारिख सांस्कृतिक पहचान के प्रश्न को दोनों ही रूपों, राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य, में विश्लेषित करते हैं, किंतु भूमण्डलीकरणजनित शक्तियों के निहित स्वार्थों और पहचान-संकट के अंतर-संबंध को वे अनुत्तरित छोड़ देते हैं।

गाँधी-दर्शन की मीमांसा के क्रम में भी पारिख गाँधी-चिंतन के गुण-दोष की सटीक समीक्षा तो जरूर करते हैं, पर बहुसांस्कृतिक समाज की समस्याओं के निदान के लिए इसे प्रतिमान के रूप में विकसित नहीं करते हैं। आधुनिक सभ्यता की आलोचना की गाँधी-दृष्टि की समीक्षा करते हुए पारिख गाँधी से सहमत होते हुए भी यह निष्कर्ष निकालते हैं कि गाँधी ने आधुनिक सभ्यता के दोषों पर अधिक ध्यान केंद्रित किया है और उसकी अच्छाइयों की अवहेलना की है। इससे यह ध्वनित होता है कि पारिख उद्योगीकरण और भूमण्डलीकरण के लाभों को अपनाने के पक्षधर भी हैं और गाँधी-दृष्टि पर आधारित सभ्यता के लाभों को भी वांछनीय बताते हैं। यह अलग बात है कि इन दोनों को एक साथ हासिल कर पाना व्यावहारिक नहीं है।

समग्र रूप से विचार करने पर कोई भी तटस्थ समीक्षक इस तथ्य से सहमत हुए बिना नहीं रह सकता है कि पारिख का चिंतन भविष्योन्मुखी है। उनकी संकल्पनाएँ उस

दिशा में जाती हैं जहाँ मानवजाति का अगला मुकाम है। इसी कारण पारिख को परम्परा-भंजकों एवं अतिवादियों की कटु तथा यथास्थितिवादियों की नम्र आलोचना का सामना करना पड़ता है। यही पारिख की ऐसी विशिष्टता है जो उन्हें समकालीन चिंतकों से अलग विशिष्ट पहचान दिलाती है।

देखें : गैर-सरकारी संस्थाएँ, गैर-सरकारी संस्थाएँ : भारत में, गैर-दलीय राजनीति, धीरूभाई शेट, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य, नागर समाज, नागरिक समाज पर भारतीय बहस, पार्थ चटर्जी, मानवाधिकार, भारत में उपनिवेशवाद, भारत में नागर समाज और गैर-दलीय राजनीति-1 से 3 तक, भारत में नागरिकता-विमर्श-1 से 3 तक, भारत में मानवाधिकार, भारत में मानवाधिकार आंदोलन, भारत में सार्विक मताधिकार, रजनी कोठारी, राजनीतिक समाज, स्वतंत्रता : भारतीय विचार, सुदीप्त कविराज।

संदर्भ

1. भीखू पारिख (2000), *रिथिंकिंग मल्टीकल्चरलिज्म*, मैकमिलन प्रेस, लंदन.
2. भीखू पारिख (1982), *कंटेम्पेरी पॉलिटिकल थिंक्स*, मार्टिन राबर्ट्सन एंड कम्पनी, ऑक्सफर्ड.
3. भीखू पारिख (1989), *गाँधीज पॉलिटिकल फ़िलॉसफ़ी*, मैकमिलन प्रेस, लंदन.
4. भीखू पारिख (1999), *क्रोलोनियलिज्म, ट्रेडिशन ऐंड रिफॉर्म : ऐन एनेलिसिस ऑफ गाँधीज पॉलिटिकल डिस्कॉर्स*, सेज, लंदन.

— विश्वनाथ मिश्र और उपासना पाण्डेय

भीड़

(Crowd)

समाज में जनसमूह का किसी स्थान पर किसी समय विशेष के लिए, अस्थाई तौर पर या यदा-कदा एकत्र होना एक सार्वभौम दृश्य है। मसलन, लोगबाग धार्मिक जलसों, सत्संग आदि से लेकर विरोध-प्रदर्शन तक के लिए एक जगह जमा होते रहते हैं। लेकिन लोगों का इस तरह भीड़ बनना राजनीतिज्ञों, धर्मप्रचारकों तथा प्रशासन के लिए अलग-अलग महत्त्व रखता है। लोगों को निर्देशित करना, उन्हें किसी प्रयोजन के लिए एकत्रित करना या उनके व्यवहार को नियंत्रित करना कुछ ऐसे पहलू हैं जो इस परिघटना के समाजशास्त्रीय अध्ययन की माँग करते हैं। जनसमूह के

अध्ययन में अधिकांश अध्येताओं ने राजनीतिक जनसमूहों पर ज्यादा ध्यान दिया है। उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के विद्वान राजनीतिक जमावड़े के प्रति पूर्वग्रह रखते थे। वे जनसमूह में शामिल लोगों और उनकी गतिविधियों से उपजने वाले घटनाक्रमों को हिकारत की नज़र से देखते थे। उन्हें भीड़ का व्यवहार अतार्किक और विवेकहीन लगता था। लेकिन अब समकालीन अध्येता इस तरह के राजनीतिक जमावड़े को खारिज करने के बजाय उसके बारीक विवरणों में जाकर उसकी व्याख्या करते हैं। सामूहिक कार्रवाई का अध्ययन करने वाले विद्वान तो बाकायदा सामाजिक आंदोलनों, अभियानों और विरोध प्रदर्शनों के संबंध में अखबारों की कतरनों का एक अभिलेखागार रखते हैं जिसके आधार पर उन्हें विरोध प्रदर्शनों की घटनाओं के उत्थान, पतन और आवृत्ति का ग्राफ़ तैयार करने में आसानी होती है। कई अन्य विद्वानों ने राजनीतिक प्रयोजन के लिए जुटने वाले जनसमूह के अलावा धार्मिक और खेल-आयोजनों पर जुटने वाली भीड़ के अध्ययन पर भी ध्यान दिया है।

विद्वानों का मानना है कि सामूहिक कार्रवाई के किसी भी सामान्य सिद्धांत को इस तथ्य की व्याख्या करने में सक्षम होना चाहिए कि सभा के आयोजन, विस्तार और अंततः उसके विसर्जन में व्यक्तियों की सामूहिक भूमिका क्या होती है। उल्लेखनीय है कि इस मामले में सामूहिक कार्रवाई के मौजूदा सिद्धांत खरे नहीं उतरते। एक सिद्धांत के मुताबिक भीड़ में व्यक्ति की अपनी विशिष्टता का लोप हो जाता है। वह स्थितियों को अपने ढंग से देखना बंद कर देता है और उसकी समझ कुंद हो जाती है। वह चमत्कारी नेताओं के सुझावों तथा अपने आसपास की भीड़ के व्यवहार की अनायास नक़ल करने लगता है। इस सिद्धांत के अनुसार संकट और आपदा की स्थितियों में व्यक्ति की यही विवेकहीनता बदहवासी के रूप में प्रकट होती है। लेकिन जनसमूह के पर्यवेक्षण या ऐसी सभा और प्रदर्शनों में शामिल होने वाले लोगों के साक्षात्कारों से इन दावों की पुष्टि नहीं होती। अध्ययनों से अभी तक यह साबित नहीं हो पाया है कि भीड़ में व्यक्ति अपना विवेक और बोध क्षमता खो देते हैं। उदाहरण के लिए 1998 में साठ प्रायोगिक अध्ययन किये गये थे जिसमें यह जानने का प्रयास किया गया था कि क्या भीड़ की स्थिति में व्यक्ति सचमुच विवेकहीन और अतार्किक हो जाता है। दिलचस्प है कि अध्ययन के नतीजे इस धारणा के खिलाफ़ गये।

भीड़ के एक महत्वपूर्ण शुरुआती अध्येता हरबर्ट ब्लूमर ने भीड़ के समाजशास्त्रीय अध्ययन में आने वाली समस्याओं का अवलोकन करते हुए इस बात की तरफ़ ध्यान दिलाया था कि समाजशास्त्री भीड़ के बारे में वस्तुनिष्ठ विवरण जुटाने से गुरेज़ करते हैं। उनके अनुसार उस दौर के

समाजशास्त्रियों के पास विश्लेषण की स्पष्ट योजना नहीं थी जिसके कारण वे एक सुसंगत संकल्पना का विकास नहीं कर पा रहे थे। उनका मानना था कि भीड़ के अन्यान्य पहलुओं को बारीकी से न देख पाने के पीछे भी यही वजह थी।

शुरुआती दौर में भीड़ का व्यवस्थित अध्ययन इसलिए भी एक दुसाध्य काम था क्योंकि भीड़ की अवधारणा उस परिघटना की पड़ताल करने के लिए एक नाकाफ़ी औज़ार साबित हो रही थी जिसकी व्याख्या करने का वह दावा कर रही थी। समझा जाता है कि अगर कहीं भीड़ होगी तो उसकी कार्रवाई में भाग लेने वालों और उनके उद्देश्यों में एकसारता भी होगी। परिणामतः भीड़ की कार्रवाई में एक नैरंतर्य दिखेगा। लेकिन विद्वानों द्वारा जुटाये गये विस्तृत वस्तुपरक विवरण भीड़ के इस विचार को झुठलाते प्रतीत होते हैं। पिछले दो दशकों के दौरान समाजशास्त्रियों ने भीड़ के लिए एक ज़्यादा तटस्थ और उपयोगी अवधारणा का प्रयोग करना शुरू किया है। अब वे भीड़ की जगह 'गैदरिंग' या एकत्रीकरण जैसी अभिव्यक्ति को ज़्यादा उपयोगी मानते हैं। गैदरिंग को कम से कम दो लोगों के एक समूह की तरह देखा जा सकता है जो किसी स्थान पर एक समय विशेष के लिए जमा होता है। ऐसे जनसमूह की एक विशेषता यह भी होती है कि वह अपने कार्यों या प्रेरणाओं को लेकर सचेत नहीं होते। अध्येताओं के अनुसार जनसमूह के इस अस्थाई जमावड़े की समयावधि दो चरणों में बँटी होती है। इसके पहले चरण में वह प्रक्रिया प्रमुख होती है जिसके तहत दो या दो से अधिक व्यक्ति किसी समान स्थान पर एकत्रित होते हैं। दूसरा चरण जनसमूह के विसर्जन या लोगों द्वारा उस स्थान विशेष को छोड़ने से जुड़ा है। ऐसे जमावड़े को सामूहिक कार्रवाई के प्रारम्भिक रूपों का खिचड़ी रूप कहा जा सकता है। अस्थाई जमावड़े के ये दोनों चरण एक दूसरे से स्वतंत्र नहीं होते। लेकिन उनसे भीड़ की जटिल परिघटना को शोध के दायरे में लाने की सहूलियत मिलती है। चरणबद्ध विभाजन के इस तरीके से उन्हें शोध-पद्धतियों में फ़िट करना भी आसान हो जाता है।

जनसमूह के कुछ अस्थाई जमावड़ों में बारम्बारता देखी जा सकती है। उदाहरण के लिए कुछ जमावड़े राष्ट्रीय मुक्ति दिवस मनाने के लिए इकट्ठा होते हैं तो कुछ उद्घाटन आदि के लिए जुटते हैं। गली, मुहल्लों और नुक्कड़ों पर जुटने वाली भीड़ को भी ऐसी श्रेणी में रखा जा सकता है। खेल के आयोजन तथा राजनीतिक रैली और धार्मिक जलसे आदि ऐसे कार्यक्रम हैं जिनमें बारम्बारता का तत्त्व तो नहीं होता लेकिन उनके आयोजन और तैयारी की घोषणा काफ़ी पहले कर दी जाती है। दुर्घटना या आपदा के समय जुटने वाली भीड़ तात्कालिक होती है।

राजनीतिक मज्जमे, धार्मिक जलसे तथा खेल में जीत के जश्न आदि में भाग लेने वाले लोगों के विस्तृत सर्वेक्षण से तीन महत्वपूर्ण तथ्य प्रकट होते हैं। एक, व्यक्ति के निजी गुणों, मानसिकता या उनके रवैये के आधार पर यह भविष्यवाणी नहीं की जा सकती कि इस तरह के सामूहिक कार्यक्रम में कौन शामिल होगा। दूसरे ऐसे कार्यक्रम में भागीदारी करने की प्रेरणा मित्रों, परिवार और परिचितों से मिलती है जो सामाजिक नेटवर्क के जरिये एक दूसरे से जुड़े होते हैं। इसमें अवसर पर उपलब्ध रहने की स्थिति और आयोजन स्थल पर पहुँचने की सहूलियत भी अहम भूमिका अदा करती है। तीसरे, ज्यादातर लोग सभाओं में अपने मित्रों और परिचितों और पारिवारिक सदस्यों के साथ शामिल होते हैं, कार्यक्रम के दौरान एक साथ रहते हैं तथा आयोजन की समाप्ति पर एक साथ ही विदा होते हैं। इस तरह ज्यादातर सभाओं में व्यक्ति बेशक निजी हैसियत से शामिल होते हैं परंतु मूलतः वे एक समूह का हिस्सा होते हैं। समूह के इन साथियों का व्यवहार अलग-अलग होता है। उनके व्यवहार का एक पहलू तो आपसी संबंधों तक सीमित रहता है लेकिन कभी कभी वे अन्य व्यक्तियों से एक समूह के तौर पर भी मिलते हैं। इस तरह तात्कालिक या अस्थायी सभाओं का चरित्र व्यक्तिगत और सामूहिक कार्रवाई का एक गतिशील मिश्रण होता है।

किसी एक प्रचलित गुण या प्रवृत्ति के आधार पर सभा के चरित्र का आकलन करना, दूसरे शब्दों में भीड़ को स्वतःस्फूर्त या प्रेरित आदि के खानों में बाँटना उपयोगी साबित नहीं हुआ है। यह इसलिए कि किसी भी सभा या जमावड़े की संरचना इकहरी नहीं होती। किसी धार्मिक जलसे, खेल के आयोजन और राजनीतिक सभा में लोगों का भावुक हो जाना अभिव्यक्तिमूलक कार्रवाई कही जा सकती है लेकिन इस तरह का भावोद्रेक समूचे समूह पर लागू नहीं किया जा सकता। अगर ऐसा होता भी है तो बहुत थोड़े वक्त के लिए।

मैकफ़ैल और स्वीनग्रूबर ने एक हालिया अध्ययन में प्रतिपादित किया है कि किसी जलसे, रैली या सभा में भीड़ लगातार एक ही तरह का व्यवहार नहीं करती। धार्मिक, खेल और राजनीतिक आयोजन से ठीक पहले और आमतौर पर बाद में एक चरण गहमागहमी का होता है। धार्मिक समागम के इस अध्ययन में किसी व्यक्ति के प्रति हिंसा या सम्पत्ति की तोड़फोड़ की घटना सामने नहीं आयी। यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि ज्यादातर सभाओं में हिंसा की घटनाएँ अपवाद ही कही जा सकती हैं। लंदन के पॉल टैक्स दंगों (1990) तथा अमेरिका में लॉस एंजेलिस के दंगों (1992) के वीडियो रिकॉर्ड देखने से पता चलता है कि हिंसा में लिप्त लोगों की संख्या बहुत कम थी और तमाशबीनों की संख्या

बहुत ज्यादा थी। इतना ही नहीं ये हिंसक तत्व भी लगातार तोड़फोड़ नहीं कर रहे थे। दूसरे शब्दों में हिंसा की इन घटनाओं को रुक-रुक कर अंजाम दिया जा रहा था। अध्येताओं का आकलन है कि युरोप में उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के दौरान होने वाली राजनीतिक सभाओं तथा अमेरिका में नागरिक अधिकारों के आंदोलन में केवल दस प्रतिशत ऐसी घटनाएँ थीं जिन्हें हिंसा की श्रेणी में रखा जा सकता है।

अभी तक इस बात का अध्ययन नहीं किया गया है कि जनसमूह, सभा या भीड़ किस तरह विसर्जित होती है। जबकि यह एक ऐसी परिघटना है जो हर दिन प्रकट होती है। मसलन, मैच खत्म होने पर लाखों की भीड़ दस से पंद्रह मिनट के भीतर स्टेडियम से बाहर हो जाती है। इसी तरह अगर किसी कक्षा में सौ विद्यार्थी हों तो लेक्चर खत्म होने के पाँच मिनट बाद कक्षा खाली हो जाती है। इस क्रम में सिनेमा हॉल का उदाहरण भी लिया जा सकता है।

भीड़ / जनसभा / जत्थे को ज़बरन हटाने या उसे नियत स्थान को छोड़ देने के निर्देश देते समय पुलिस या सेना इस धारणा से संचालित होती है कि ऐसे समूहों के सदस्य खुद को नियंत्रण या क्राबू में नहीं रख सकते। इस नज़रिये को रूढ़ बनाने में समाजशास्त्र के उन पारम्परिक मिथकों की भूमिका संदिग्ध मानी है जो भीड़ को लेकर उन्नीसवीं सदी से ही असहज रहे हैं। हाल के वर्षों में युरोप और उत्तरी अमेरिका के लोकतांत्रिक देशों में राजनीतिक सभाओं में आने वाली भीड़ को नियंत्रित करने के लिए पुलिस अब प्रतिरोध-रैली या सभा के संगठनकर्ताओं से मिलकर सभा के समय, आयोजन-स्थल, उसके प्रारम्भ और समापन के बारे में पहले से ही जानकारी जुटाने लगी है।

आपदा-नियोजन और प्रबंधन के अध्येताओं ने इस बात का व्यापक अध्ययन किया है कि आपात स्थिति में जनसमूह किस तरह का व्यवहार करता है। लोगों के अस्थायी जमावड़े के ऐसे अध्ययनों से एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह निकला है कि आमतौर पर संकट के समय लोगबाग भयभीत न होकर उस संकट का तत्काल हल निकालने की कोशिश करते हैं। ऐसे औचक संकटों से निपटने के लिए लोगबाग विलक्षण कल्पनाशीलता का परिचय देते हैं। शोध से यह बात लगातार साबित हुई है कि संकट की ऐसी परिस्थितियों में लोगबाग अपनी सुरक्षा के बारे में चिंतित न होकर अपने साथियों की हिफ़ाज़त करने की भावना दिखाते हैं।

इस मामले में बुद्धिसंगत चयन का सिद्धांत भीड़ की परिघटना को समझने में ज्यादा कारगर प्रतीत होता है। यह सिद्धांत इस तथ्य को तरजीह देता है कि सामूहिक कार्रवाई

के लाभ-हानि का गणित तय करने में लोगों का आपसी राय-मशविरा निर्णायक होता है। इस दायरे के सिद्धांतकार मानकर चलते हैं कि भीड़ का हिस्सा बनने पर व्यक्ति का अपने व्यवहार पर नियंत्रण खत्म नहीं हो जाता। पर इस वर्ग के विभिन्न मतों का एक बड़ा दोष यह है कि उनमें किसी एक्शन के वैकल्पिक प्रवाह के बारे में यह नहीं बताया जाता कि उनके संगठन की प्रक्रिया क्या होती है। उनके विश्लेषण में त्रुटियों, अनदेखे नतीजों तथा आवश्यक समायोजन जैसे मसले समाहित नहीं हो पाते। संक्षेप में कहें तो इस सिद्धांत के प्रयोगकर्ता बोधक्षमता और कार्रवाई के बीच संबंध स्थापित नहीं कर पाते।

भीड़ की परिघटना को समझने के लिए एक अन्य सिद्धांत इस बात पर जोर देता है कि भीड़ परिवर्तनशील और गतिशील होती है। लिहाजा उसके स्वरूप को समझने के लिए यह मानना ज़रूरी है कि उसमें शामिल लोग स्वायत्त, परस्पर निर्भर और परिवर्तनशील होते हैं। इस सिद्धांत के जरिये जनसमूह की सामूहिक कार्रवाई के तीन सर्वसामान्य रूपों को समझने का प्रयास किया गया है। इस मत के अनुसार जनसमूह में शामिल व्यक्ति किसी उद्देश्य से लैस होते हैं। मैकफ़ैल आदि विद्वानों ने अपने अध्ययन में यह जानने का प्रयास किया है कि किसी स्थान पर लोगों के इकट्ठा होने पर उनके बीच सामूहिक गतिविधि किस तरह पैदा होती है। उनके अनुसार ऐसे जमावड़ों में शामिल लोग अपने एक्शन को उद्देश्य के हिसाब से समायोजित करते रहते हैं। ऐसा करते हुए वे इस बात के प्रति भी सचेत रहते हैं कि खुद उनका और दूसरे लोगों का व्यवहार व गतिविधियाँ उक्त उद्देश्य की पूर्ति करते हैं या नहीं। उनका मानना है कि दो या दो से अधिक लोगों की सामूहिक गतिविधि के लिए भी ऐसे ही उद्देश्यों की ज़रूरत पड़ती है जिन्हें समूह के सदस्य व्यक्तिगत, एक दूसरे के परामर्श या फिर किसी तीसरे पक्ष के निर्देश या प्रेरणा के आधार पर तय करते हैं। उनके अध्ययन से यह प्रकट हुआ कि सामूहिक ढंग से किसी की हौसलाअफ़जाई करना या ताली बजाकर स्वागत या प्रशंसा करने जैसी गतिविधियों को अंजाम देने के लिए समूह के सदस्य अन्य साथियों से मशविरा करने या तीसरे किसी पक्ष से निर्देश लेना ज़रूरी नहीं मानते थे। जबकि रैली जैसी किसी परिघटना से पहले और बाद में फ़ुटपाथ आदि पर गहमागहमी करते लोगों की बातचीत से यह संकेत मिला कि उन्होंने रैली में शामिल होने और वहाँ से एक साथ निकलने को लेकर अपने अपने समूहों में विचार-विमर्श किया था। सामूहिक गतिविधियों के इस क्रम में यह भी पाया गया कि धार्मिक समागमों में लोगबाग व्यक्तिगत पहल या आपसी मंत्रणा के बजाय किसी तीसरे पक्ष के निर्देशों का स्वैच्छिक ढंग से पालन कर

रहे थे, परंतु इसे करिश्माई नेतृत्व के निर्देशों का अंधानुकरण नहीं कहा जा सकता। अध्ययन के अनुसार जो लोग ऐसे निर्देशों का पालन भी कर रहे थे उन सभी की राय एक समान नहीं थी।

सामूहिक गतिविधियों के ये तीन रूप अलग-अलग समय पर घट सकते हैं, और यदि जनसमूह विशाल हुआ तो ये तीनों रूप छोटे छोटे समूहों में एक साथ भी प्रकट हो सकते हैं। इससे एक हद तक यह समझने में मदद मिलती है कि लोगों के अस्थाई जमावड़े या सभा में प्रगट होने वाली विविध सामूहिक गतिविधियाँ सोदेश्य होते हुए भी एक दूसरे से आबद्ध और एक दूसरे की अनुगामी नहीं होती।

देखें : बुद्धिसंगत चयन का सिद्धांत।

संदर्भ

1. डी. डेला पोर्ता और एच. रीटर (सम्पा.) (1998), *पोलिसिंग प्रोटोस्ट : द कंट्रोल ऑफ़ मास डिमॉन्स्ट्रेशंस इन वेस्टर्न डेमोक्रेसीज*, युनिवर्सिटी ऑफ़ मिनिसोटा प्रेस, मिनियापोलिस.
2. आर. डार्स और के. टिरने (1994), *डिजास्टर, कलेक्टिव बिहेवियर एंड सोशल ऑर्गनाइजेशन*, युनिवर्सिटी ऑफ़ डेलावेअर प्रेस, नेवार्क.
3. सी. मैकफ़ैल (1991), *द मिथ ऑफ़ मैडनिंग क्राउड*, अल्टाइड, न्यूयॉर्क.
4. सी. मैकफ़ैल और आर.टी. वॉल्सटाइन (1973), 'द असेंबलिंग प्रोसेस', *अमेरिकन सोसियोलॉजिकल रिव्यू*, अंक 38.

— नरेश गोस्वामी

भीमराव रामजी आम्बेडकर

(Bheemrao Ramji Ambedkar)

बीसवीं सदी के सर्वाधिक प्रतिभाशाली और समाजद्रष्टा भारतीयों में से एक भीमराव रामजी आम्बेडकर (1891-1956) का जीवन एक के बाद एक उल्लेखनीय उपलब्धियों की महागाथा है। अछूत समझे जाने वाले समुदाय में जन्म के कारण सामाजिक भेदभाव से आजीवन संघर्ष करने के लिए अभिशप्त डॉ. आम्बेडकर प्रखर राजनेता और संगठक होने के साथ-साथ एक बहु-अनुशासनीय विद्वान भी थे। दलित समाज के उद्धारक और भारतीय संविधान के प्रमुख निर्माता के रूप में ऐतिहासिक भूमिका निभाने वाले आम्बेडकर को भारत में बौद्ध धर्म का जीर्णोद्धार करने का श्रेय भी जाता है। यह उनकी राजनीतिक और बौद्धिक विरासत का ही परिणाम है कि हज़ारों

साल से दबी-पिसी पूर्व-अछूत जातियाँ दलित राजनीतिक समुदाय के रूप में गोलबंद हो कर आज सिर उठा कर राजनीतिक-सामाजिक समानता की दावेदारी के साथ सार्वजनिक जीवन में हिस्सेदारी कर रही हैं। महात्मा फुले की ही तरह आम्बेडकर भी मानते थे कि ब्रिटिश राज धार्मिक और सामाजिक रूप से तटस्थ है, इसलिए सामाजिक संघर्ष में उसके प्रभाव का इस्तेमाल निचली जातियों के पक्ष में किया जा सकता है। अंग्रेजों के भारत छोड़ कर चले जाने के बाद आम्बेडकर ने संविधानकर्ता और आजाद भारत के पहले कानून मंत्री के तौर पर भारतीय राज्य को सामाजिक और धार्मिक रूप से तटस्थ बनाने के लिए काम किया। उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन के दौरान आम्बेडकर ने भारतीय राजनीति पर कांग्रेस और गाँधी के वर्चस्व के सामने कभी सिर नहीं झुकाया। अछूतों के प्रतिनिधित्व के प्रश्न पर गाँधी के साथ उनकी बहस इस आंदोलन का सबसे विचारोत्तेजक अध्याय है। एक प्रचुर लेखक के रूप में आम्बेडकर ने विशाल वांगमय की रचना की जिसके अध्ययन-मनन के बिना आधुनिक भारतीय राजनीतिक विचार अधूरा माना जाएगा। 1990 में आम्बेडकर को भारत-रत्न से सम्मानित किया गया।

आम्बेडकर का जन्म 14 अप्रैल, 1891 को वर्तमान मध्य प्रदेश के मऊ में रहने वाले एक महार परिवार में हुआ था। उनके कबीरपंथी पिता रामजी सकपाल फ़ौज में नौकरी करते थे। पिता के शिक्षित होने का लाभ बालक भीमराव को भी हुआ। उन्हें सरकारी स्कूल में पढ़ने का मौक़ा मिला। दसवीं पास करने के बाद जब उन्होंने बम्बई विश्वविद्यालय में दाखिला लिया तो उनकी बिरादरी ने इस अद्भुत घटना का समारोहपूर्वक स्वागत किया। 1908 में एलफ़िंस्टन कॉलेज के विद्यार्थी के रूप में उन्हें बड़ोदरा के शासक सैयाजीराव गायकवाड़ तृतीय की छात्रवृत्ति प्राप्त हुई। बीए के कोर्स में जब ब्राह्मणों ने उन्हें संस्कृत नहीं पढ़ने दी तो उन्हें फ़ारसी लेनी पड़ी। 1912 तक वे अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र में स्नातक बन चुके थे। अगले साल वे बड़ोदरा की राजकीय छात्रवृत्ति पर कोलम्बिया विश्वविद्यालय में पढ़ने चले गये। आम्बेडकर को लंदन स्कूल ऑफ़ इकॉनॉमिक्स और ग्रेज इन फ़ॉर लॉ में भी अध्ययन करने का मौक़ा मिला। भारत लौटने पर बड़ोदरा स्टेट के दीवान के रूप में काम करने पर आम्बेडकर को एक बार फिर छुआछूत का सामना करना पड़ा। उनका चपरासी भी उन्हें फ़ाइलें फेंक कर देता था ताकि उनका स्पर्श न करना पड़े। उनकी कुर्सी जिस जगह रखी होती थी, उसे धो कर पवित्र किया जाता था। अपनी आर्थिक हालत सुधारने के लिए आम्बेडकर को प्राइवेट ट्यूटर, एकाउंटेंट और निवेश सलाहकार का काम भी करना पड़ा। हर बार उनका अछूत होना उनकी कामयाबी में आड़े आया। 1918 से उन्होंने अछूतों की राजनीतिक गतिविधियों में हिस्सा लेना शुरू किया।

आम्बेडकर के घटनाप्रद कृतित्व को तीन चरणों में

बाँट कर देखा जा सकता है। पहले चरण में उन्होंने हिंदू धर्म को सुधारने की मुहिम चलाई। दूसरे चरण में अछूत जातियों के लिए एक स्वायत्त राजनीतिक दायरा विकसित करने का प्रयास किया। तीसरे चरण में उन्होंने बौद्ध धर्म का वैकल्पिक रूप अपनाने पर जोर दिया और रिपब्लिकन पार्टी की नींव डालते हुए राजनीतिक गतिविधियों का चरित्र बदलने की तजवीज़ की। आम्बेडकर की मान्यता थी कि प्रभुत्व और अधीनस्थता की संरचनाएँ किसी भी संस्कृति में अंतर्निहित होती हैं। उनके समीकरण अलग-अलग हो सकते हैं। आम्बेडकर संस्कृति के केवल उन्हीं रूपों को स्वीकार करते थे जो बुद्धिवाद और अधिकारों के विमर्श पर आधारित हों। इसीलिए उन्होंने संस्कृति की किसी भी तात्त्विकतावादी अवधारणा को स्वीकार नहीं किया। उनके लिए संस्कृति के केवल वही आयाम उपलब्ध करने योग्य थे जिन्हें बुद्धि, सेकुलरत्व और मानवीय पहलकदमी के प्रति आदर की कसौटियों पर कसा जा सके।

आम्बेडकर का बौद्धिक मानस बुद्धिवाद और सेकुलरत्व के घटकों से मिल कर बना था। परम्परा की उनकी समझ शास्त्रों की आलोचनात्मक जाँच-पड़ताल करते हुए वैज्ञानिक दृष्टि विकसित करने के आधार पर बनी थी। वे यह जानना चाहते थे कि आखिर हिंदू धर्म की खामियाँ इतनी भीषण क्यों हैं और वह क्या वजह है जो उनके निवारण की नैतिक प्रेरणाओं को इतना नैतिक और दुर्बल कर देती है। धर्मशास्त्रों की प्रासंगिक और समयानुकूल व्याख्या पर उन्हें आपत्ति नहीं थी, पर वे कहते थे कि आखिर किसी शास्त्र का वह केंद्रीय तर्क कैसे नज़रअंदाज़ किया जा सकता है जो अपने-आप में अपरिवर्तनीय रहता है। यह तो देखना ही होगा कि उसमें क्या छोड़ा गया है, कहाँ पर बल दिया गया है और उसका बुनियादी रुझान क्या है। आम्बेडकर का तर्क था कि विपक्षी के साथ संवाद क्रायम रखना तो ठीक है, पर संवाद की शर्तें तय करने में पिछले अनुभव, ऐतिहासिक और भौतिक आयामों का खयाल रखना पड़ेगा। यह भी देखना पड़ेगा कि विपक्षी आपको समान हैसियत देता है या नहीं। या उसका रवैया तर्कपूर्ण है या नहीं। आम्बेडकर सद्विवेक या अंतःप्रज्ञा जैसे किसी आग्रह के समर्थक नहीं थे। उनका प्रश्न था कि आखिर अंतःकरण या विवेक के पवित्र होने की गारंटी कैसे दी जाएगी? भारत में तो शास्त्रों के आधार पर ही सद्विवेक परिभाषित किया जाता है, जब कि वह वास्तव में धार्मिक कट्टरता का ही कुछ झाड़ा-पोंछा रूप होता है। आम्बेडकर ऐसे किसी अतीत में यकीन नहीं करते थे जो वर्तमान से पूरी तरह स्वतंत्र हो। इसलिए उनका लेखन वर्तमान की आवश्यकताओं के मुताबिक अतीत से खोजे गये प्रमाणों से भरा हुआ है।

धर्म के बुनियादी सार के सवाल पर आम्बेडकर का प्रश्न था कि किसी प्राधिकार की गैरमौजूदगी में धर्म के सार की अनिवार्यता और अ-अनिवार्यता में फ़र्क़ कैसे किया



भीमराव रामजी आम्बेडकर (1891-1956)

जाएगा, और सामाजिक बंदोबस्त अगर आवश्यकतानुसार न रह कर स्थायित्व प्राप्त कर ले (जैसे कि छुआछूत) तो उसे अनिवार्य सार से अलग कैसे देखा जाएगा? आम्बेडकर मानते थे कि छुआछूत का शास्त्रों में आधार नहीं है, पर उन्होंने अस्पृश्यता के संदर्भगत, परिस्थितिजन्य और तुलनात्मक प्रमाण खोज निकाले थे। वे कहते थे कि जाति प्रथा के केंद्र में पवित्रता और अपवित्रता की अवधारणाएँ हैं जिनके बिना छुआछूत की प्रथा नहीं टिकायी जा सकती।

अपनी रचना *एनिहिलेशन ऑफ कास्ट्स* में आम्बेडकर ने सुझाव दिया कि अंतर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन दे कर और अछूतों को पुरोहित बना कर हिंदू धर्म को उसकी बुराइयों से छुटकारा दिलाया जा सकता है। इसी चरण में उन्होंने महाड़ सत्याग्रह और मंदिर प्रवेश की मुहिमों का आयोजन किया। लेकिन इस प्रक्रिया में आम्बेडकर ने देखा कि संस्कृति के क्षेत्र में विभिन्न समुदाय स्वतंत्रता, भाईचारे और बराबरी के तीन अनिवार्य मूल्यों के आधार पर संवाद करने के लिए तैयार नहीं हैं। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि संस्कृति अपने-आप में अधिकारों की दावेदारी में बाधक बन गयी है और इसीलिए राष्ट्रीय पैमाने पर किसी सांस्कृतिक समुदाय की स्थापना करने का मतलब होगा धार्मिक कट्टरता को सत्तारूढ़ हो जाने का मौक़ा दे देना।

अछूतों के लिए अलग राजनीतिक दायरा विकसित करने के लिए आम्बेडकर ने कई प्रयोग किये। 1919 में साउथबरो कमीशन के सामने उन्होंने अछूतों के लिए पृथक मतदाता मण्डलों की माँग रखी। यही वह क्षण था जब आधुनिक भारतीय राजनीति में इन जातियों के हितों को

सुरक्षित करने का आंदोलन शुरू हुआ जो आज तक किसी न किसी रूप में जारी है। 1918 और 1920 में उन्होंने उत्पीड़ित वर्गों के दो सम्मेलनों में अछूतों के तत्कालीन नेतृत्व (जो गैर-दलित था) को खारिज करते हुए दावा किया कि अछूतों की बागडोर उन्हीं के बीच से निकले व्यक्तियों के हाथों में होनी चाहिए। उनकी लोकप्रियता तेज़ी से बढ़ी जिसके परिणामस्वरूप 1932 में हुई दूसरी गोलमेज़ कांफ्रेंस में भाग लेने का निमंत्रण मिला। लंदन में हुए इस सम्मेलन में उन्होंने पृथक मतदाता मण्डलों के प्रश्न पर गाँधी से जम कर लोहा लिया। गाँधी मुसलमानों और सिक्खों के अलग मतदाता मण्डलों के लिए तो तैयार थे, पर अछूतों के संदर्भ में उनका तर्क था कि छुआछूत हिंदुओं का अंदरूनी मामला है और अलग मतदाता मण्डलों से हिंदू धर्म में विभाजन हो जाएगा। अंग्रेज़ों ने जैसे ही आम्बेडकर की माँग मानी वैसे ही गाँधी ने पुणे की यरवदा जेल में आमरण अनशन शुरू कर दिया। गाँधी की मृत्यु के अंदेश और प्रतिक्रिया-स्वरूप अछूतों के खिलाफ हिंसा फूट पड़ने के डर से आम्बेडकर ने अपनी माँग वापिस ले ली। बाद में उन्होंने इस उपवास को गाँधी का हथकण्डा करार दिया जिसका मकसद अछूतों को उनके राजनीतिक अधिकारों से वंचित करना था।

1936 में आम्बेडकर ने इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी की स्थापना किसानों, मज़दूरों और अछूतों के व्यापक मोर्चे के रूप में की। बम्बई विधान परिषद के चुनावों में हिस्सेदारी करते इस पार्टी ने कम से कम इतनी सफलता (15 सीटें) हासिल करके दिखाई जिसके आधार पर वे दावा कर सकते थे कि कांग्रेस और गाँधी अछूतों के असली प्रतिनिधि नहीं हैं। इस पार्टी का कार्यक्षेत्र मध्य प्रांत और बरार के कुछ हिस्सों में था। इसी दौर में आम्बेडकर ने कम्युनिस्टों के साथ सहयोग का प्रयास किया लेकिन जाति के सवाल पर मतभेदों के कारण वे उनसे अलग हो गये। तभी उन्होंने कहा था कि 'कम्युनिस्ट पार्टी इज़ ए बंच ऑफ़ ब्रैह्मन बाँयज़'। 1938 में इस पार्टी ने अछूत खेतिहर मज़दूरों और गैर-दलित किसानों का ज़बरदस्त मोर्चा निकाला जिसकी माँगें थीं : बेगार और बँधुआ प्रथा ख़त्म की जाए, जंगलात और परती ज़मीन खेतिहर मज़दूरों में बाँटी जाए और उनका मेहनताना बढ़ाया जाए। इस पार्टी के ज़रिये उन्होंने अछूतों को मज़दूर वर्ग में समान हैसियत के साथ शामिल करने का अभियान चलाया जिसमें उन्हें ख़ास सफलता नहीं मिली। 1942 में उन्होंने इस पार्टी को भंग करके आल इण्डिया शेड्यूलड कास्ट्स फ़ेडरेशन का गठन किया जिसके घोषणापत्र में तीन बातें स्पष्ट रूप से उभरीं : लोकतंत्र के प्रति अटूट लगाव, दो दलीय शासन प्रणाली की वक़ालत, दलितों को हिंदू महासभा और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जैसी ताक़तों से दूर रहने की सलाह।

अपनी रचना *व्हाट कांग्रेस ऐंड गाँधी हैंड डन टु अनटचेबिल्स* के ज़रिये उन्होंने अपना पक्ष आक्रामक ढंग से

बुलंद करना जारी रखा। एक अन्य रचना *हू वर शूद्राज?* में उन्होंने चौथे वर्ण की उत्पत्ति पर प्रकाश डाला और *द अनचेबिलिटी : अ थीसिस ऑन द ऑरिजिंस ऑफ अनटचेबिलिटी* के जरिये छुआछूत के उद्गम की शिनाख्त की। 1941 और 1945 के बीच उन्होंने कई पुस्तकें और पर्वे प्रकाशित किये जिनमें *थॉट्स ऑन पाकिस्तान* भी शामिल है। इस रचना में आम्बेडकर ने मुसलिम लीग और अलग पाकिस्तान की माँग की आलोचना की, लेकिन साथ-साथ यह भी कहा कि अगर मुसलमान पाकिस्तान लेने के इतने इच्छुक हैं तो उनकी माँग मान लेनी चाहिए। भविष्य के भारत की सुरक्षा के लिए यही बेहतर होगा। आम्बेडकर ने मुसलमानों में प्रचलित पर्दा प्रथा और बहु-विवाह की कड़ी आलोचना की। उन्होंने यह भी कहा कि मुसलमान समाज हिंदू समाज से भी ज्यादा सामाजिक बुराइयों में घिरा हुआ है। उन्होंने भाईचारे के दावे के पीछे जाति-प्रथा छिपा रखी है।

संविधान सभा के सदस्य के रूप में संविधान का मसविदा तैयार करने वाली कमेटी के चेयरमैन के रूप में आम्बेडकर की भूमिका ने उन्हें संविधान-निर्माता की लोकप्रिय छवि प्रदान की। हालाँकि उन्होंने उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन में भाग नहीं लिया था, पर संविधान सभा में उन्होंने नेहरू व अन्य राष्ट्रीय नेताओं के साथ कंधे से कंधा मिला कर भविष्य के भारत की नींव डाली। संविधान की मसविदा समिति के चेयरमैन और बाद में नेहरू की सरकार के कानून मंत्री के रूप में काम करने के लिए आम्बेडकर क्यों राजी हुए, जबकि उसी दौरान उन्होंने बार-बार अपनी रचनाओं में कांग्रेस के नेतृत्व पर कड़े प्रहार किये थे? वैसे भी आम्बेडकर बहुमत-अल्पमत पर आधारित लोकतंत्र को अछूतों के लिए लाभदायक नहीं मानते थे, इसलिए उन्होंने संयुक्त राज्य अमेरिका के तर्ज पर यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ इण्डिया को परिकल्पित करने वाले एक संविधान का मसविदा भी तैयार किया था। इस संविधान में आनुपातिक चुनाव प्रणाली का प्रावधान किया गया था। इस प्रश्न का उत्तर 'तटस्थता की थीसिस' में खोजा जा सकता है जो आम्बेडकर ने महात्मा फुले से प्राप्त की थी। अंग्रेजों के चले जाने के बाद राष्ट्रीय मंच पर वह शक्ति नहीं रही जो 15 अगस्त, 1947 तक अछूतों की निगाह में सामाजिक रूप से तटस्थ समझी जाती थी। नये हालात में आज़ाद भारत को सामाजिक और आर्थिक रूप से तटस्थ तो नहीं बनाया जा सकता था, पर संवैधानिक रूप से तटस्थ बनाने की सम्भावनाएँ मौजूद थीं। आम्बेडकर ने छुआछूत पर पाबंदी, आरक्षण और सार्विक मताधिकार जैसे प्रावधानों के जरिये कम से कम समानता के संवैधानिक रूप की गारंटी तो कर ही दी। हिंदू कोड बिल के प्रश्न पर हिंदू परम्परानिष्ठ तत्त्वों के प्रतिरोध से व्यथित हो कर आम्बेडकर ने न सिर्फ कानून मंत्री का पद त्याग दिया, बल्कि 15 अक्टूबर, 1956 को अपने 38,000 समर्थकों के साथ नागपुर में बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया। पाँच दिसम्बर को उनका

देहांत हो गया, लेकिन इससे पहले उनके नक्शे-कदम पर चलते हुए लाखों अछूतों द्वारा सारे देश में बौद्ध धर्म अपना लिया गया। इससे पहले 1950 में आम्बेडकर महाबोधि पत्रिका में *बुद्धा ऐंड द फ्यूचर ऑफ हिज रिलीजन* शीर्षक से एक लेख लिख चुके थे। बुद्ध धर्म संबंधी उनके विचार उनकी मृत्यु के बाद 1957 में *द बुद्धा ऐंड हिज धम्मा* के रूप में प्रकाशित हुए। मृत्यु से पहले उन्होंने रिपब्लिकन पार्टी ऑफ इण्डिया की स्थापना की घोषणा भी की और अपने पीछे एक खुले पत्र के रूप में नयी पार्टी का लिखित घोषणापत्र छोड़ गये।

देखें : अनुसूचित जातियाँ, अस्मिता की भारतीय राजनीति, अन्य पिछड़े वर्ग, आयोतीदास पांडीतर, आयंकाली, आम्बेडकर-गाँधी विवाद, इरोड वेंकट रामस्वामी नायकर पेरियार, कांशीराम, गाड़गे बाबा, गोपाल बाबा वलंगकर, ज्योतिराव गोविंदराव फुले, जाति और जाति-व्यवस्था-1, 2, 3 और 4, बाबू मंगू राम, बहुजन समाज पार्टी-1 और 2, भदंत आनंद कौसल्यायन, भारतीय संविधान-1 से 8 तक, स्वामी अछूतानंद हरिहर।

संदर्भ

1. वामन नारायण कुबेर (1991), *डॉ. आम्बेडकर : अ क्रिटिकल स्टडी*, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.
2. भगवान दास (सम्पा.) (1963), *दस स्पोक आम्बेडकर*, भीम पत्रिका पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली.
3. धनंजय कीर (1983), *डॉ. आम्बेडकर : लाइफ ऐंड मिशन*, पॉप्युलर प्रकाशन, बम्बई.
4. क्रिस्टोफ जेफ़्रलो (1995), *डॉ. आम्बेडकर ऐंड अनटचेबिलिटी : फाइंडिंग द कास्ट सिस्टम*, कोलम्बिया युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क.

— अभय कुमार दुबे

भूमण्डलीकरण

(Globalization)

भूमण्डलीकरण आधुनिकता में अंतर्निहित एक अत्यंत शक्तिशाली प्रवृत्ति है। इसे ग्लोबलाइज़ेशन, ग्लोबीकरण, जगतीकरण या विश्वायन के नामों से भी जाना जाता है। आधुनिक युग के विभिन्न चरणों में यह प्रक्रिया भिन्न-भिन्न रूपों में चलती रही है। एक से अधिक भूमण्डलीकरण आपस में प्रतियोगिता भी करते रहे हैं। लेकिन इस बार इसका प्रभाव बुनियादी रूप से परिवर्तनकारी प्रतीत हो रहा है, क्योंकि इसके कारण सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन विभिन्न भू-क्षेत्रीय सीमाओं से परे जा कर अपनी अभिव्यक्ति करने लगे हैं। इस प्रक्रिया को डिटेरिटरियलाइज़ेशन की संज्ञा भी दी जाती है। समूचे विश्व

को एकल स्थान के रूप में देखने का एहसास बढ़ता जा रहा है जिसके परिणामस्वरूप 'ग्लोबल विलेज' या 'ग्लोबल इकॉनॉमी' जैसी अभिव्यक्तियों का इस्तेमाल होने लगा है। सूचनाओं और व्यक्तियों के आवागमन में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है : इंटरनेट के उद्भव और विकास ने सूचना समाज के उदय में प्रमुख भूमिका निभायी है। 1980 में करीब दस लाख लोग प्रतिदिन अंतर्राष्ट्रीय सीमाओं के आर-पार जाते थे, जिनकी संख्या 2000 में तीस लाख हो चुकी थी। गैर-सरकारीकरण की प्रक्रिया भी चल निकली है जिसका प्रमाण गैर-सरकारी संगठनों की तेजी से बढ़ती हुई संख्या में देखा जा सकता है। ये संगठन एनजीओ के नाम से जाने जाते हैं। बीसवीं सदी के शुरू में सारी दुनिया में केवल 170 एनजीओ थे। 1980 तक यह संख्या बढ़ कर 2,500 तक पहुँची, पर इसके बाद बीस साल में दूने से भी ज्यादा बढ़ कर 5,500 हो गयी।

भूमण्डलीकरण की परिघटना के तहत क्षेत्रीय अर्थव्यवस्थाएँ, समाज और संस्कृतियाँ समस्त भूमण्डल में फैले संचार और कार्रवाई के नेटवर्कों के तहत आपस में जुड़ते जा रहे हैं। हालाँकि इसका लोकप्रिय अर्थ आर्थिक संदर्भों के आईने में देख कर व्यक्त किया जाता है, पर इस प्रक्रिया को समझने के लिए वाणिज्य, प्रत्यक्ष विदेशी निवेश, पूँजी प्रवाह, आब्रजन और प्रौद्योगिकी से परे जाना भी ज़रूरी है। आर्थिक, प्रौद्योगिकीय, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और जैविक कारणों के संयोग पर विचार किये बिना भूमण्डलीकरण का मर्म नहीं समझा जा सकता। इसी तरह इस प्रक्रिया के तात्पर्यों और फलितार्थों की गहराई में जाने के लिए विचारों, भाषाओं, लोकप्रिय संस्कृतियों के परस्पर और गतिशील संक्रमण पर ध्यान देना भी आवश्यक है।

भूमण्डलीकरण को सामाजिक संबंधों के विश्वव्यापी सघनीकरण के रूप में भी परिभाषित किया जा सकता है। यह सघनीकरण दूर-दूर स्थित स्थानीयताओं को आपस में जोड़ देता है। इससे होता यह है कि स्थानीयताओं के दायरे में होने वाली घटनाओं की शक्ल-सूरत उनसे बहुत दूर चल रहे घटनाक्रम के आधार पर बनने लगती है। ऐसा ही असर स्थानीयताओं का घटनाक्रम स्वयं को प्रभावित कर रही सुदूर घटनाओं पर डालता है।

इस भूमण्डलीकरण के केंद्र में एक महाशक्ति (संयुक्त राज्य अमेरिका), एक महा-मुद्रा (अमेरिकी डॉलर), और इंटरनेट व उपग्रहीय चैनलों के रूप में हुई संचार क्रांति है। पूँजी का उन्मुक्त प्रवाह सुनिश्चित करने के लिए इसने पहले गैट और फिर विश्व व्यापार संगठन के अधीन एक नयी विश्व आर्थिक प्रणाली की रचना कर डाली है। यह प्रणाली मुक्त बाज़ार की थीसिस पर निर्भर न होते हुए भी बाज़ार के प्रभुत्व की पैरोकार है। इसीलिए इसे नियोज्ज्वल या नव-उदारतावाद का सैद्धांतिक नाम दिया गया है।

संचार के सैकड़ों गुणा बेहतर साधन होने के कारण यह भूमण्डलीकरण अतीत के सभी भूमण्डलीकरणों के मुकाबले अधिक ऊँचाई से शुरू करके अधिक गहराई तक जाने की इच्छा रखता है। अपने शुरुआती आवेग में आधुनिकता ने जिन पूँजीवाद विरोधी आवेगों और संरचनाओं को जन्म दिया था, वे आज थक कर बैठ चुके हैं या फिर उनकी संस्थागत अभिव्यक्तियाँ ध्वस्त हो चुकी हैं। असहमति, आलोचना और प्रतिरोध के जिन आंदोलनों में ऊर्जा बाक़ी थी (जैसे, नारीवादी आंदोलन, पर्यावरणवादी आंदोलन, मानवाधिकार आंदोलन, गैर-सरकारी स्वयंसेवी संस्थाओं की भागीदारी वाले नये सामाजिक आंदोलन आदि) की शब्दावली हड़प कर और उनकी माँगों के साथ ऊपरी तालमेल बैठा कर यह भूमण्डलीकरण एक घोड़े की दौड़ बन चुका है।

इस भूमण्डलीकरण के लिए ज़मीन सत्तर के दशक में पकनी शुरू हुई थी। इसी दशक में वित्तीय पूँजी स्थिर विनियम दरों की क़ैद से आज़ाद हुई, कम्युनिस्ट चीन पूँजीवाद के पाले में चला गया, अमेरिका के रैंड कॉरपोरेशन ने एक ऐसी संचार प्रणाली की रचना शुरू की जिसे आज हम सूचना महापथ या इंटरनेट के नाम से जानते हैं, और उदारतावादी लोकतंत्र के ढाँचे में ही मानवता का भविष्य देखने का बौद्धिक आग्रह प्रारम्भ हुआ। इस ज़मीन को बनाने में पूँजीवाद के समर्थक घोषित रूप से जुटे हुए थे, पर उसकी प्रतिक्रिया में पूँजीवाद के घोषित विरोधी भी जाने-अनजाने हालात को उसी ओर ले जा रहे थे। हथियारों को होड़ और अन्य बहुतेरे कारणों से जैसे पूँजीवादी भूमण्डलीकरण से प्रतियोगितारत समाजवादी भूमण्डलीकरण संकटग्रस्त हुआ, दुनिया एक-ध्रुवीय होने की तरफ़ बढ़ गयी।

अस्सी के दशक में उत्पादन का भूमण्डलीकरण हुआ जिसकी अगुआयी बहुराष्ट्रीय निगमों के हाथ में थी। इन निगमों ने अपना उत्पादन आधार उन विकासशील देशों में स्थानांतरित कर दिया जहाँ माल और सेवाओं का घरेलू बाज़ार चढ़ रहा था और सस्ते श्रम के कारण उत्पादन की लागत कम थी। इस औद्योगिक भूमण्डलीकरण के फलस्वरूप उत्पादन का एक विश्वव्यापी बाज़ार बना जिसने उपभोक्ताओं और कम्पनियों को कई क्रिस्म के विदेशी उत्पाद आसानी से उपलब्ध होने लगे। राष्ट्रीय सीमाओं के आर-पार सामग्री और बने हुए माल का आवागमन आसानी से होने लगा। नये ग्लोबल बिजनेस मार्केट में टिकने के लिए ज़रूरी हो गया कि कम्पनियाँ लगातार अपने उत्पाद को अपग्रेड करती रहें। इस बाध्यता ने उत्पादन प्रौद्योगिकी और कौशल के विकास के नये क्षितिज खोले।

नब्बे के दशक में वित्तीय पूँजी का भूमण्डलीकरण हुआ जिसके तहत यह परिघटना अपने चरम रूप में उभरी। विश्व व्यापी वित्तीय और मुद्रा बाज़ारों की रचना हुई जिनमें

चौबीस घंटे और 365 दिन तिजारत होने लगी। वाणिज्य और निवेश के स्तरों का विस्तार इतना अधिक हो गया कि इक्कीसवीं सदी के शुरुआती सालों में नित्य प्रति होने वाला मुद्रा व्यापार डेढ़ खरब डॉलर तक पहुँच गया। बाजारों के अंतर-सूत्र और परस्पर निर्भरता इस हद तक बढ़ गयी कि एक बाजार में होने वाली हलचल दूसरे बाजारों के उतार-चढ़ाव का कारण बनने लगी।

राजनीतिक रूप से विश्व सरकार बनाने की कल्पनाएँ की जाने लगीं ताकि सरकारों के बीच संबंधों और भूमण्डलीकरण के आवश्यक हुए नये अधिकारों को विनियमित किया जा सके। चूँकि ऐसी सरकार व्यावहारिक रूप से नहीं बन पायी इसलिए यह जिम्मेदारी मोटे तौर से अमेरिका ने निभानी शुरू कर दी। काँपीराइट क़ानूनों, पेटेंट और विश्व व्यापार समझौतों के रूप में ग्लोबल मानक स्थापित हुए जिन पर अमल के लिए मजबूर करने की जिम्मेदारी अमेरिका और उसकी चौधराहट में चलने वाले संगठनों ने उठानी शुरू कर दी। एक अंतर्राष्ट्रीय अपराध न्यायालय और अंतर्राष्ट्रीय न्याय आंदोलन की रचना की गयी। ग्लोबल प्रशासकीय क़ानून का उदय हुआ। ग्लोबल मानकों और नियम-क़ानूनों के बढ़ते दबावों ने राष्ट्रीय सम्प्रभुता को कमजोर कर दिया।

भूमण्डलीकरण ने सूचना क्रांति को जन्म दिया। भाषा के रूप में अंग्रेज़ी इस सूचना क्रांति की प्रधान वाहक बनी। आज दुनिया भर में 35 फ़ीसदी मेल, टेलिक्स और तार अंग्रेज़ी में भेजे जाते हैं। करीब चालीस फ़ीसदी रेडियो कार्यक्रम अंग्रेज़ी में प्रसारित होते हैं। पचास फ़ीसदी इंटरनेट ट्रैफ़िक अंग्रेज़ी में होता है।

सांस्कृतिक रूप से भूमण्डलीकरण ने पश्चिमी और अमेरिकी संस्कृति के निर्यात का रास्ता खोला। छोटे पैमाने पर भारतीय फ़िल्मों का निर्यात भी शुरू हुआ। अंतर्राष्ट्रीय यात्रा और पर्यटन की मात्रा बहुत बढ़ गयी। विमान यात्राएँ अतीत के किसी भी समय के मुकाबले कई गुना हो गयीं। एक ग्लोबल पॉप कल्चर का अविर्भाव हुआ जिसमें न्यू मीडिया की भूमिका प्रमुख साबित हुई। बहुराष्ट्रीय निगमों ने ग्लोबल संस्कृति के विभिन्न संरचनाओं और रूपों को प्रायोजित करने के जरिये उपभोक्ता क्रांति की प्रक्रिया के साथ उसे अनिवार्य रूप से जोड़ दिया। विज्ञापन और कामनाओं का सौंदर्यमूलक संसार चेतना के ऊपर हावी होने लगा। बाजार ने संस्कृति को जिंस बना कर उसे मुनाफे के स्रोत में बदल दिया। संस्कृति और अर्थतंत्र के बीच भूमण्डलीकरण के अभंग जाल की तरह काम करने लगा। भूमण्डलीकृत होते ही असहमति भी खुद एक सांस्कृति जिंस बनने के खतरे से ग्रस्त हो गयी।

इस संक्षिप्त विवरण से जाहिर है कि भूमण्डलीकरण

एक ताक़तवर परिघटना है जो सब कुछ बदले दे रही है। वह दोनों तरफ़ से बदलती है यानी वह हालात को अपने सार्वभौम ढाँचे में भी ढालती है, उसके प्रति विरोधियों की प्रतिक्रिया भी एक खास तरह के परिवर्तन को जन्म देती है जो शुरू में भूमण्डलीकरण के खिलाफ़ लगता है, पर अंतिम विश्लेषण में उसी की संरचनाओं की मदद करता पाया जाता है।

देखें : अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, पेटेंट, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, भूमण्डलीकरण : भारतीय अर्थव्यवस्था का, भारत में पेटेंट क़ानून, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भारत में शेर्य संस्कृति, भूमण्डलीकरण का इतिहास-1 और 2, भूमण्डलीकरण और पूँजी बाजार, भूमण्डलीकरण और लोकतंत्र, भूमण्डलीकरण और राज्य, भूमण्डलीकरण और राष्ट्रीय सम्प्रभुता, भूमण्डलीकरण और वित्तीय पूँजी।

संदर्भ

1. अभय कुमार दुबे (2003), 'भूमण्डलीकरण का संक्षिप्त इतिहास', अभय कुमार दुबे (सम्पा.), *भारत का भूमण्डलीकरण*, वाणी, नयी दिल्ली.
2. शिव विश्वनाथन (2001), 'द प्रॉब्लम', *सेमिनार*, ग्लोबलाइजेशन पर विशेषांक, नयी दिल्ली, 503, जुलाई.
3. एजाज़ अहमद (1001), 'संस्कृति और भूमण्डलीकरण', *आलोचना*, नयी दिल्ली, जुलाई-सितम्बर.
4. अर्जुन अप्पादुरै (1998), *मॉडर्निटी एट लार्ज : कल्चरल डाइमेंशन ऑफ़ ग्लोबलाइजेशन*, युनिवर्सिटी ऑफ़ मिनेसोटा प्रेस, चौथा मुद्रण.

— अभय कुमार दुबे

भूमण्डलीकरण का इतिहास-1

आधुनिकता और पहला भूमण्डलीकरण

(History of Globalization-1)

आधुनिकता भूमण्डलीकरण की वाहक है : यह पहलू उसकी व्याख्याओं में सबसे कम उभर कर आ पाता है। जब तक भूमण्डलीकरण का यथार्थ बीसवीं सदी से अंतिम दशकों में अपने पूरे विस्फोट के साथ प्रगट नहीं हुआ, विविधता और बहुलता को आधारभूत सिद्धांत मानने वाले चिंतक एकाधिक आधुनिकताओं का विमर्श चलाने में लगे हुए थे। दरअसल, इस विमर्श में आधुनिकता की वह प्रवृत्ति छिप जाती है जो सभी सभ्यताओं और संस्कृतियों को भूमण्डल के स्तर पर समरूपीकरण की तरफ़ धकेलती है। नब्बे के दशक में

भूमण्डलीकरण की शुरुआत के साथ ही यह असलियत निकल कर सामने आ गयी कि युरोपीय ज्ञानोदय की कोख से जन्मे आधुनिकता के सार्वभौम विचार में 'एक विश्ववाद' का पहलू एक शक्तिशाली अंतर्धारा के रूप में मौजूद है। चाहे किसी भी रंग के क्यों न हों, आधुनिकतावादी हमेशा एक 'ग्लोबल' प्रणाली, 'ग्लोबल' नागरिकता और 'ग्लोबल' राजनीति रचने की कल्पनाओं से प्रेरित होते रहे हैं। राष्ट्रीय, क्षेत्रीय और सांस्कृतिक सीमाएँ आधुनिकता के इस आयाम के ऊपर कभी हावी नहीं हो पायीं। सवा सौ साल से ज्यादा के अपने सफ़र में आधुनिकता ने अपनी इस मंजिल को कभी आँखों से ओझल नहीं होने दिया। वह लगातार कोशिश करती रही कि सत्ता की 'ग्लोबल' संरचनाएँ अन्य सरहदों की नियामक बनें, न कि उन्हें सरहदों के मुताबिक काम करने पर मजबूर होना पड़े। इसकी सबसे प्रभावशाली मिसाल उसने पूँजी और उसकी गतिशीलता के रूप में प्रस्तुत की है।

भूमण्डलीकरण की आधारशिला रखने में आधुनिकता के तहत प्रगति के विचार ने भी प्रमुख भूमिका निभायी है। प्रगति के दर्शन का विकास ज्ञानोदय की अवधि में हुआ। विज्ञान और वैज्ञानिक मानस की अवाधारणाओं के उदय को आधार बनाते हुए प्रगति के दर्शन में अपने समय के धार्मिक जड़सूत्रवाद की जकड़ से मुक्ति की सम्भावनाएँ जगार्यीं। फ्रांस से शुरू हो कर जल्दी ही यह विचार पूरे युरोप में फैल गया और फिर उसने सर्वाधिक प्रभावशाली विश्व-दृष्टिकोणों में से एक का रूप ग्रहण कर लिया।

उदारतावाद और उपयोगितावाद आधुनिकता के दो ऐसे सिद्धांत हैं जिन्होंने भूमण्डलीकरण के लिए ज़मीन तैयार की है। ये सिद्धांत राष्ट्र और राष्ट्रीय सरकारों के प्रभावक्षेत्र को सीमित करने की भूमिका निभाते हैं। इनका बुनियादी तर्क है कि जब तक किसी राष्ट्र में व्यापार और वाणिज्य को बिना सरकार की दखलअंदाजी के काम नहीं करने दिया जाएगा तब तक अधिकतम समृद्धि उपलब्ध नहीं की जा सकती। उदारतावाद स्व-हित के लिए प्रयासरत व्यक्ति को समाज के मर्म में रखता है और समुदाय या सामूहिकता को किनारे धकेल देता है। इसी तरह उपयोगितावाद सभी तरह के नीति संबंधी आग्रहों को सुख और दुःख की तर्कसंगत गणनाओं के अधीन कर देता है। ये दोनों विचार मिल कर व्यक्ति और उसके सुख को प्रबल प्राथमिकता देते हैं। भूमण्डलीकरण के आधारभूत तर्कों में इन प्रवृत्तियों की शिनाख़्त आसानी से की जा सकती है।

उदारतावाद की ख़ास बात यह भी है कि वह विज्ञान, पूँजीवाद और उद्योग के तीनों पहलुओं को एक साथ अभिव्यक्त करते हुए उन्हें मानवता की प्रगति के साथ जोड़

देता है। औद्योगिक क्रांति और पूँजीवाद को समाज की स्वाभाविक प्रगति का वाहक साबित करने के लिए उन्नीसवीं सदी से ही दुनिया के पैमाने पर दर्शन और अर्थशास्त्र का विस्तृत ढाँचा खड़ा किया गया है। इससे पैदा होने वाले वैचारिक मानकों को भूमण्डलीकरण के विरोधी भी बिना सवाल उठाये मानते हैं, बिना यह समझे हुए कि वे जिसका विरोध कर रहे हैं वह इन्हीं मानकों की बिना पर ही विकसित हो रहा है।

आधुनिकता के व्यावहारिक रूपों और उनसे संबंधित विचारों का विकास पश्चिमी देशों के राजनीतिक और संरचनात्मक घटनाक्रम के अनुभवों को केंद्र में रखते हुए हुआ है। इसलिए पश्चिमी अनुभव ही समग्र मानवता के आदर्श के रूप में मान लिए गये हैं। आधुनिकीकरण और पश्चिमीकरण एक दूसरे के पर्याय से बन गये हैं। भूमण्डलीकरण के ज़रिये यही पश्चिमीकरण आज गैर-पश्चिमी दुनिया का यथार्थ भी बनता जा रहा है। भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया में पश्चिम को प्रमुखता मिलने के इतिहास पर एक नज़र डालने से इस प्रक्रिया को कुछ-कुछ समझा जा सकता है।

भूमण्डलीकरण को अगर आधुनिकता की आर्थिक अभिव्यक्ति के रूप में देखा जाए तो अपने सफ़र के पहले पचास साल में वह काफ़ी तेज़ रफ़्तार से दौड़ता नज़र आता है। 1870 के 1914 के बीच के इस ज़माने को उन्मुक्त बाज़ार या अबाध वाणिज्य के युग की तरह परिभाषित किया जा सकता है। इस दौरान पूँजी या श्रम के आवागमन पर कोई ख़ास रोक नहीं थी। कोई कहीं भी बस सकता था और नागरिकता कमोबेश आसानी से मिल जाती थी। बाज़ार के कारोबार में सरकारी दखलअंदाजी न के बराबर थी। आज के भूमण्डलीकरण की ही तरह उन्नीसवीं सदी के उस भूमण्डलीकरण के तहत भी टेलीग्राफ़, रेलवे और भाप से चलने वाले जहाज़ एक तरह की संचार क्रांति के रूप में भूमण्डल के फ़ासलों को कम करने का काम कर रहे थे। आज अमेरिका भूमण्डलीकरण के केंद्र में है, पर उस समय राजनीतिक महाशक्ति के रूप में उसके केंद्र में ब्रिटिश साम्राज्य था। मुद्रा के रूप में वह भूमण्डलीकरण अमेरिकी डॉलर के बजाय पाउंड-स्टर्लिंग के इर्द-गिर्द संचालित होता था। इस पूरी प्रक्रिया का लाभ सबसे ज्यादा पश्चिम युरोप को हो रहा था। जो फ़ायदे मानवता को होने चाहिए थे, उनका ज्यादा बड़ा हिस्सा उपनिवेशवादी देश हड़प जाते थे। यही देश मुख्य तौर से पूँजी और ज़िंसों के आयातक थे। दक्षिण और पूर्वी युरोप समृद्धि की इस दौड़ में पिछड़ते जा रहे थे। एशिया, अफ़्रीका और लातीनी अमेरिका की हालत ख़राब थी। इसी दौरान भारत, चीन और इण्डोनेशिया जैसे देशों का वि-औद्योगिकीकरण हुआ और वे अविकसित की श्रेणी में

पतित होते चले गये। दिलचस्प बात यह है कि इन देशों के अर्थतंत्रों का संचालन मुक्त बाजार की अवधारणा के तहत किया जा रहा था और उन्हें उस ज़माने में विदेशी निवेश का अच्छा खासा हिस्सा भी मिल रहा था। फिर भी इन क्षेत्रों का विकास नहीं हुआ।

भूमण्डलीकरण की इस आदिम प्रक्रिया ने संयुक्त राज्य अमेरिका और कनाडा जैसे देशों की श्वेत आबादी को लाभ पहुँचाने के लिए उद्योगीकरण के हालात बनाने, कारखाना उत्पादन में सीधा निवेश करने, प्रौद्योगिकीय और प्रबंधकीय क्षमताओं को बढ़ावा देने की भूमिका निभायी। लगभग आधी सदी के इस दौर में गरीब और अमीर देशों की आमदनी का अंतराल 7:1 से बढ़ कर 11:1 हो गया। यह भूमण्डलीकरण अपने सारतत्त्व में विषमता का अर्थशास्त्र साबित हुआ। सैन्यवाद, साम्राज्यवाद, नस्लवाद और इजारेदारियों ने पूँजी की बेतहाशा ख़ुदगर्जी के साथ मिल कर एक विशाल अजगर पैदा किया, जिसने गरीब देशों और कमज़ोर देशों को सताया। आबादी के ज़्यादा बड़े हिस्से को कठोर परिश्रम करने के बाद भी निचले स्तर की जीवन-सुविधाओं में गुज़र-बसर करने के लिए मजबूर होना पड़ा।

देखें : अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, पेटेंट, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, भूमण्डलीकरण : भारतीय अर्थव्यवस्था का, भारत में पेटेंट क़ानून, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भारत में शेयर संस्कृति, भूमण्डलीकरण, भूमण्डलीकरण और पूँजी बाज़ार, भूमण्डलीकरण और लोकतंत्र, भूमण्डलीकरण और राज्य, भूमण्डलीकरण और राष्ट्रीय सम्प्रभुता, भूमण्डलीकरण और वित्तीय पूँजी, भूमण्डलीकरण और वित्तीय उपकरण, भूमण्डलीकरण के आलोचक, भूमण्डलीकरण के खिलाफ़ प्रतिरोध, विश्व बैंक, विश्व व्यापार संगठन।

संदर्भ

1. अविनाश झा (2000), *बेकग्राउण्ड टु ग्लोबलाइज़ेशन*, सेंटर फ़ार एजुकेशन ऐंड डॉक्युमेंटेशन, मुम्बई.
2. अभय कुमार दुबे (2003), 'भूमण्डलीकरण का संक्षिप्त इतिहास', अभय कुमार दुबे (सम्पा.), *भारत का भूमण्डलीकरण*, वाणी, नयी दिल्ली.
3. चार्ल्स फ़्रेंकेल (1969), *द फ़्रेथ ऑफ़ रीज़न : द आइडिया ऑफ़ प्रोग्रेस इन द फ़्रेंच इनलाइटेनमेंट*, ओक्टेगन बुक्स, न्यूयॉर्क.
4. दीपक नैयर (2002), 'ग्लोबलाइज़ेशन वंस मोर', *बिबलियो*, विशेषांक, मार्च-अप्रैल.

— अभय कुमार दुबे

भूमण्डलीकरण का इतिहास-2

भूमण्डलीकरणों की प्रतियोगिता

(History of Globalization-2)

पहले भूमण्डलीकरण (1870-1914) के दौरान असाधारण आर्थिक प्रगति हुई और साथ में विषमता का अर्थशास्त्र भी उभरा, पर वह सिलसिला प्रथम विश्व युद्ध के कारण थम गया। मार्क्सवादी और राष्ट्रीय क्रांतियों के युग ने साम्राज्य को पीछे धकेल दिया। राष्ट्रों की सरहदें पूँजी, श्रम, उत्पादन और व्यापार की नियामक हो गयी। किसी भी चीज़ का बेरोकटोक आवागमन मुश्किल हो गया। फिर द्वितीय विश्व युद्ध ने दुनिया को दो हिस्सों में बाँट दिया जिसके कारण भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया एक घोड़े की दौड़ नहीं रह गयी। दोनों ही हिस्से आधुनिकता के पैरोकार थे और दोनों ही अपने-अपने क्रिस्म का भूमण्डलीकरण करना चाहते थे। इस प्रक्रिया में आधुनिकता की दो परिभाषाएँ एक-दूसरे से होड़ करती हुई आयीं। इस प्रतियोगिता को हम वामपंथी बनाम दक्षिणपंथी या समाजवाद बनाम पूँजीवाद की प्रचलित श्रेणियों के नाम से जानते हैं। वामपंथी भूमण्डलीकरण को जिस विकास-क्रम से सबसे ज़्यादा उछाल मिला, वह था पूँजीवादी भूमण्डलीकरण द्वारा अपने ही गढ़ों को मंदी से न बचा पाना। तीस के दशक के महामंदी के कारण पूँजीवाद को प्रतिरक्षात्मक क्रदम उठाने पड़े और उसकी तरफ़ से राज्य के लोकहितकारी हस्तक्षेप का सिद्धांत प्रतिपादित किया गया। यह लोकहितकारी राज्य के उदय की शुरुआत थी। जान मेनार्ड कींस द्वारा सूत्रबद्ध की गयी यह थीसिस काफ़ी-कुछ नरम क्रिस्म के राजकीय समाजवाद जैसी लगती थी। इसने ग़ैर-पूँजीवादी भूमण्डलीकरण के लिए काफ़ी माहौल बनाया।

आधुनिकता के ग़ैर-पूँजीवादी वारिसों का दावा था कि वे पूँजीवाद के मुकाबले बेहतर क्रिस्म का लोकतंत्र, अधिक समतामूलक अर्थव्यवस्था और राष्ट्रों के बीच अपेक्षाकृत कम ऊँच-नीच के रिश्ते क़ायम कर सकते हैं। यानी वे जिस संकेंद्रित विश्व का सपना देख रहे थे, वह उनके मुताबिक़ परस्पर शोषण पर आधारित नहीं होने वाला था और उसमें हर राष्ट्र के लिए स्वतंत्र विकास करने का दावा अंतर्निहित था। इस दूसरे भूमण्डलीकरण को अंतर्राष्ट्रवाद कहा गया। एक ऐसा अंतर्राष्ट्रवाद जिसके केंद्र में बाज़ार न हो कर एक मानवीय समझौता दिख़ाई पड़ता था जो साज़ा मानवता की तलाश में नस्ल, धर्म, राष्ट्र के परे जाती एकता के तंत्र के रूप में परिभाषित हो रहा था।

ज़ाहिर है कि आधुनिकता का यह रूप अपना समरूपीकरण वित्तीय ताक़त के दम पर नहीं, बल्कि

विचारधारात्मक प्राथमिकताओं के दम थोपता था। इसके केंद्र में सोवियत संघ एक 'गैर-पूँजीवादी महाशक्ति' के रूप में मौजूद था। युरोप के कम विकसित हिस्से के साथ उसने एशिया और लातीनी अमेरिका के नवस्वतंत्र देशों के साथ आर्थिक-राजनीतिक-सामरिक संधियाँ करके सत्तर के दशक तक पूँजीवादी भूमण्डलीकरण के साथ प्रतियोगिता करने का भगीरथ प्रयास किया।

इसी दौरान पूँजीवादी भूमण्डलीकरण के पुराने और नये नियोजक ब्रेटन वुड्स समझौते के जरिये फिर से अपने बोलबाले को कायम करने की कोशिश करते रहे। 1944 में न्यू हैमशायर की पहाड़ी सैरगाह ब्रेटन वुड्स में बैठ कर ब्रिटेन और अमेरिका ने एक नयी अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का तानाबाना तैयार किया जिसे मुक्त बाज़ार प्रणाली की जगह काम करना था। इसके अनुसार राष्ट्रीय मुद्राओं को अमेरिकी डॉलर से निर्धारित विनिमय दर पर जोड़ दिया गया। ज़रूरत पड़ने पर डॉलरों को सोने में भुनाने का अधिकार दिया गया। अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक (इंटरनेशनल बैंक फ़ार रिकंस्ट्रक्शन ऐंड डिवेलपमेंट) की स्थापना की गयी। ज़ाहिर है कि द्वितीय विश्व युद्ध के कारण दुनिया के पैमाने पर बदली वर्चस्व की संरचनाओं के कारण पूँजीवादी भूमण्डलीकरण के केंद्र में औपचारिक रूप से ब्रिटेन की जगह अमेरिका आ चुका था और पाउंड की जगह डॉलर ने ले ली थी।

इस तरह भूमण्डलीकरणों का शीत युद्ध शुरू हो गया। पर ब्रेटन वुड्स समझौते के पाँच साल बाद एक नया गुल खिला। 1949 में सत्तारूढ़ होने के फ़ौरन बाद चीन की कम्युनिस्ट सरकार ने अपनी डॉलर आमदनी को अमेरिकी सरकार की पहुँच से बचाने के लिए पेरिस में *बांका क्रॉमर्सियाल पौर ल'युरोप द नॉर्ड* नामक बैंक में जमा करना शुरू कर दिया। खास बात यह थी कि इस बैंक की मिल्कियत सोवियत संघ के हाथ में थी और इसके बेतार के तार का पता था 'युरोबैंक'। चीनियों की देखा-देखी रूसियों ने भी अपनी डॉलर आमदनी या तो पेरिस के बैंक में या फिर लंदन के *मास्को नरोदनी बैंक* में जमा करनी शुरू कर दी। युरोप के बैंकरों ने देखा कि उनके बैंकों में एक ऐसी विपुल डॉलर राशि जमा है जो न तो जमा करने वाले देश के नियम-क़ानूनों से नियंत्रित होती है और न ही ब्रेटन वुड्स प्रणाली के तहत आती है। इस खास चरित्र के कारण यह विपुल राशि डॉलरों का व्यापार करने के लिए उपलब्ध थी। ये ही डॉलर पेरिस के बैंक के पते की तर्ज़ पर युरो डॉलर कहलाये। युरो डॉलर मार्केट का जन्म हुआ जिसकी कभी ख़ुफ़िया और कभी खुली गतिविधियाँ ब्रेटन वुड्स प्रणाली के नियामक अमेरिका को चिंतित करती रहीं। यह बाज़ार अमेरिका से भी डॉलरों को अपनी ओर खींचने में लगा हुआ था। अमेरिका ने इस प्रक्रिया को रोकने के लिए क़ानून तक बनाया, पर उससे भी काम

नहीं चला।

साठ के दशक में जब अमेरिका में मुद्रास्फीति बढ़ी और डॉलर कमज़ोर होना शुरू हो गया तो सारी दुनिया में डॉलरों को सोने में भुनाने की होड़ मच गयी। इस तरह के विनिमय का अधिकार ब्रेटन वुड्स समझौते के तहत उपलब्ध था। पर, अगस्त, 1970 में राष्ट्रपति निक्सन ने एकतरफ़ा कार्रवाई करके डॉलरधारियों से यह अधिकार छीन लिया जिससे ब्रेटन वुड्स प्रणाली ध्वस्त हो गयी। निर्धारित विनिमय दर के बजाय चलायमान विनिमय दर प्रारम्भ हुई। अर्थशास्त्र की भाषा में यह मुक्त बाज़ार के बिना वित्तीय पूँजी के भूमण्डलीकरण की शुरुआत थी। 1914 में ख़त्म हुए पहले भूमण्डलीकरण के दौर के बाद यह पहला मौक़ा था जब पूँजी किसी निश्चित नियम-क़ानून के अधीन नहीं थी।

वित्तीय पूँजी के इस भूमण्डलीकरण के सामने मुख्य तौर से दो रुकावटें थीं। पहली सबसे बड़ी रुकावट थी उसके मुकाबले खड़ा प्रतियोगी भूमण्डलीकरण, जिसके केंद्र में सोवियत संघ था। गैर-पूँजीवादी भूमण्डलीकरण के पैतरो के कारण पूँजीवाद अपनी विश्व व्यवस्था को ठीक से नहीं चला पा रहा था। दिलचस्प बात यह थी कि वित्तीय पूँजी के भूमण्डलीकरण की परिस्थितियाँ कम्युनिस्ट देशों के डॉलरों के कारण बनी थी। इस उन्मुक्त पूँजी की संरचना सोवियत संघ और चीन के 'राजकीय पूँजीवाद' के चरित्र के मुताबिक़ न थी। यह बहुराष्ट्रीय निगमों के उभार के साथ मिल कर विश्व बाज़ार के निर्माण में सहायक भूमिका निभा सकती थी। दूसरी रुकावट थी नयी संचार क्रांति की गैर-मौजूदगी। विज्ञान विश्व युद्धों के दौरान ऐसा कोई कारनामा नहीं कर पाया था जिससे भूमण्डल के पैमाने पर फ़ासले पहले से और कम हो सकते। नये ज़माने के भूमण्डलीकरण को विमान और टेलिफ़ोन के अलावा एक नये माध्यम की दरकार थी जिससे वास्तव में दुनिया मुट्टी में क़ैद नज़र आने लगे।

चूँकि राष्ट्रों की सीमाओं के कारण पहले की तरह श्रम और पूँजी का बेरोकटोक आवागमन सम्भव करना ज़रूरी थी इसलिए वित्तीय पूँजी का प्रवाह सुनिश्चित करने के लिए धीरे-धीरे आर्थिक-राजनीतिक दबाव डलवा कर बाधाएँ हटाना ज़रूरी था। राष्ट्रातीत पूँजी की संरचनाओं के रूप में बहुराष्ट्रीय निगमों का बोलबाला स्थापित किया जाना भी अनिवार्य था। पूरा सत्तर का दशक वित्तीय पूँजी के वर्चस्व के लिए ज़मीन तैयार करने में खप गया। इसी दौरान पूँजी स्थिर विनिमय दरों को क़ैद से छूटी, चीन अमेरिका के पाले में चला गया, अमेरिका के रैंड कॉरपोरेशन ने इंटरनेट की ईज़ाद किया, दुनिया के बड़े-बड़े बुद्धिजीवियों ने यह तर्क देना शुरू किया कि उदारतावादी लोकतंत्र ही सर्वाधिक श्रेयस्कर व्यवस्था है। भूमण्डलीकरण के पैरोकार बुद्धिजीवियों ने अपेक्षा करनी शुरू कर दी कि राष्ट्रीय सरकारें अपनी क्षमता

लोकतंत्रों को जनता के दबावों से मुक्त कराने में खर्च करेंगी, ताकि स्थिर और ग्लोबल पैमाने पर आपस में जुड़े बाजारों की रचना हो सके। आज हमारे पास घटनाओं की पश्चात-दृष्टि है। नब्बे के दशक के भूमण्डलीकरण की आहटें इन घटनाओं में सुनी जा सकती हैं।

देखें : अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, पेटेंट, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, भूमण्डलीकरण : भारतीय अर्थव्यवस्था का, भारत में पेटेंट कानून, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भारत में शेर संस्कृति, भूमण्डलीकरण, भूमण्डलीकरण और पूँजी बाजार, भूमण्डलीकरण और लोकतंत्र, भूमण्डलीकरण और राज्य, भूमण्डलीकरण और राष्ट्रीय सम्प्रभुता, भूमण्डलीकरण और वित्तीय पूँजी, भूमण्डलीकरण और वित्तीय उपकरण, भूमण्डलीकरण के आलोचक, भूमण्डलीकरण के खिलाफ प्रतिरोध, विश्व बैंक, विश्व व्यापार संगठन।

संदर्भ

1. फिदेल कास्त्रो (1999), *ऑन इम्पीरियलिस्ट ग्लोबलाइजेशन*, लेफ्टवर्ड बुक्स, नयी दिल्ली.
2. समीर अमीन (1997), *केपिटलिज्म इन द एज ऑफ ग्लोबलाइजेशन : द मेनेजमेंट ऑफ कंटेम्परेरी सोसाइटी*, जेड बुक्स, लंदन-न्यू जर्सी.
3. रजनी कोठारी (2003), 'जनता से डरते अभिजन और कमजोर होता हुआ राष्ट्र-राज्य', अभय कुमार दुबे (सम्पा.), *भारत का भूमण्डलीकरण*, वाणी, नयी दिल्ली.
4. दीपक नैयर (2002), 'ग्लोबलाइजेशन वंस मोर', *बिबलियो*, विशेषांक, मार्च-अप्रैल.

—अभय कुमार दुबे

भूमण्डलीकरण और लोकतंत्र

(Globalization and Democracy)

भूमण्डलीकरण के पैरोकारों की मान्यता है कि उदारतावादी लोकतंत्र और उसके बाजारोन्मुख पहलुओं के आधार पर ही आधुनिक राज्य का कामकाज ठीक से चलना सम्भव है। इस दावेदारी ने समाज-विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में बाजारोन्मुख बनाम जनोन्मुख लोकतंत्र के बीच एक बहस की शुरुआत कर दी है। यह विवाद भारतीय लोकतंत्र की गतिशीलता को भी प्रभावित कर रहा है।

बाजारोन्मुख लोकतंत्र के समर्थकों का कहना है कि लोकतंत्र का केवल यही रूप दुनिया के विभिन्न समाजों में तेजी से घटित हो रहे आर्थिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों की ताकतों

का माकूल जरिया बन सकता है। नब्बे के दशक की शुरुआत में सोवियत खेमे का विखण्डन होते ही पूँजीवादी भूमण्डलीकरण के एक प्रमुख भाष्यकार फ्रांसिस फुकुयामा ने अपनी विख्यात 'इतिहास का अंत' थीसिस में इस विचार का सुव्यवस्थित प्रतिपादन करते हुए कहा कि वह ऐतिहासिक प्रक्रिया शुरु हो चुकी है जिसके तहत राजनीतिक और आर्थिक समरूपीकरण की प्रक्रिया उदारतावादी लोकतंत्र को आधुनिक राज्यों के लिए एकमात्र विकल्प बना देगी। फुकुयामा ने भविष्यवाणी भी की कि समग्र मानवता के लिए इतिहास एकसार हो गया है और लोकतंत्र के इस रूप के तहत सामाजिक-विकासक्रम अपने चरम पर पहुँचता जा रहा है। इस ऐतिहासिक प्रक्रिया में जो कुछ बाकी बचा है वह भी जल्दी ही पूरा कर लिया जाएगा। सारी दुनिया के समाज उदारतावादी लोकतंत्र और बाजार आधारित अर्थव्यवस्था को अपने स्थाई बंदोबस्त के रूप में अपना लेंगे जिसके तहत मनुष्यों को अपनी इच्छाओं-आकांक्षाओं को पूरा करने में आसानी होगी।

हालाँकि नब्बे के दशक के बाद से यह विचार एक विजेता की तरह सामने आया है, पर यह कोई नया विचार नहीं है। सत्तर के दशक के मध्य में अमेरिका, युरोप और जापान के तीन बुद्धिजीवियों ने एक दस्तावेज़ प्रकाशित किया था जिसमें बदलते हुए घरेलू और अंतर्राष्ट्रीय माहौल के हवाले से पश्चिमी और जापानी लोकतंत्रों में जन-भागीदारी सीमित करने पर जोर दिया गया था। एक त्रिपक्षीय सम्मेलन में एक रपट की तरह पेश किये गये इस दस्तावेज़ का शीर्षक था : 'क्राइसिस ऑफ़ डेमोक्रेसी : रिपोर्ट ऑन द गवर्नेबिलिटी ऑफ़ डेमोक्रेसी टू द ट्राइलेटरल कमीशन'। इसके लेखक थे मिशले जे क्रोज़ियर (फ्रांस), सेमुअल पी. हटिंग्टन (अमेरिका) और जोजी वातानुकी (जापान)। इस रिपोर्ट के प्रभाव में विकासशील देशों के कई अकादमीशियनों ने भी इसी तर्ज़ पर सोचना शुरू कर दिया। प्रवासी हो चुके एक प्रमुख भारतीय राजनीतिशास्त्री अतुल कोहली ने 1990 में एक किताब लिखी जिसे हाथों-हाथ लिया गया। इसका शीर्षक था : 'डेमोक्रेसी ऐंड डिसकंटेंट : इण्डियाज़ ग्राइंग क्राइसिस ऑफ़ गवर्नेबिलिटी'। इसी से मिलती-जुलती चिंताएँ भारत के कई और भी बुद्धिजीवियों और पत्रकारों के लेखन में भी देखी गयीं। 1989 में बनी राष्ट्रीय मोर्चा सरकार द्वारा मण्डल आयोग की सिफ़ारिशों पर अपनी मुहर लगा देने की प्रतिक्रिया में शुरू हुए आरक्षण विरोधी आंदोलन की पृष्ठभूमि में इन बुद्धिजीवियों का यह तर्क और भी सफ़ाई और प्रबलता से उभर कर सामने आया कि लोकतंत्र को किसी न किसी प्रकार जनता की बढ़ती हुई माँगों के दबाव से मुक्त किया जाना चाहिए।

जनोन्मुख लोकतंत्र के पैरोकारों का तर्क है कि पिछली आधी सदी में तीसरी दुनिया के समाजों ने उदारतावादी

लोकतंत्र के अपने सांस्कृतिक-ऐतिहासिक रूप विकसित किये हैं। उनकी कोशिश रही है कि अपने-अपने समाजों में परम्परा से मौजूद लोकतांत्रिक रूपों का आधुनिक विकास की प्रक्रिया के साथ सामंजस्य बैठा कर सहभागिता आधारित जनोन्मुख लोकतंत्र की रचना की जाए ताकि बिना किसी व्यापक सामाजिक टूट-फूट के शासन चलाया जा सके। इस प्रक्रिया में इन देशों को लोकहितकारी राज्य का हस्तक्षेपकारी रूप काफी पसंद आया है। इसके जरिये उन्होंने निजी और सरकारी पूँजी के मिले-जुले प्रभाव वाली अर्थव्यवस्थाओं का ढाँचा तैयार किया, निर्यातोन्मुख विकास की जगह आयात प्रतिस्थापन की नीतियाँ अपनायीं और चुनावी राजनीति के जरिये सामाजिक संरचनाओं के आधुनिकीकरण की प्रक्रिया चलाई। व्यक्ति को ही नहीं, बल्कि समुदायों को भी अधिकार दिये गये। परम्परा के कारण अधिकारवंचित समाज के हिस्सों का सशक्तीकरण करने के लिए विशेष सुविधाओं का प्रावधान किया गया। इस प्रक्रिया में जन-महत्वाकांक्षाएँ उभर कर सामने आने लगीं और शासन की संरचनाओं पर दबाव बनने लगा। जनोन्मुख लोकतंत्र के समर्थक इस तरह के दबाव से चिंतित होने के बजाय इसमें अधिक सहभागी लोकतंत्र के लिए सम्भावनाएँ देखते हैं। उनकी निगाह में जनता की माँगों के कारण लोकतंत्र के कमजोर होने का खतरा नहीं है, बल्कि उदारीकरण और भूमण्डलीकरण की नीतियों के कारण राज्य की ताकत में क्षय हो रहा है। इन बुद्धिजीवियों का तर्क है कि भूमण्डलीकरण के विविध दबावों के कारण राज्य और राष्ट्रीय अभिजन कमजोर पड़ते जा रहे हैं। अब वे न तो पहले की तरह राष्ट्रीय प्राथमिकताएँ निर्धारित करने के क्राबिल रह गये हैं और न ही उनकी सत्ता अपने मातहतों पर पहले की तरह चलती है। नौकरशाही अब बाहरी एजेंसियों की तरफ से आने वाले इशारों का ज्यादा ध्यान रखती है।

इस बहस का सैद्धांतिक सार यह प्रश्न है कि जन-गोलबंदी और सीधी कार्रवाई सरीखी आंदोलनकारी राजनीति को लोकतांत्रिक सरकार की निर्णय प्रक्रिया प्रभावित करने का मौका देना चाहिए या नहीं? जनोन्मुख लोकतंत्र के आलोचक चाहते हैं कि राजनीतिक सहभागिता को नागरिकता के वैधानिक-संवैधानिक अधिकारों के रूप में परिभाषित किया जाए ताकि वह चुनाव में हिस्सा लेने, पार्टियों और दबाव समूहों के जरिये हित-साधन तक सीमित रह जाए। ऐसा होने पर लोकतांत्रिक व्यवस्था की संस्थागत मजबूती तो सुनिश्चित हो जाएगी, पर लोकतांत्रिक विचार लोकतंत्र की उदारतावादी क्रिस्म से आगे नहीं जा पायेगा। यह रवैया नये और विकसित होते हुए लोकतंत्रों को नये-नये संस्थागत प्रयोग करने से भी रोकता है। इसके विपरीत जनोन्मुख लोकतंत्र के समर्थकों का तर्क है कि जनांदोलनों की राजनीति अपना क्षैतिज प्रसार करते हुए सत्ता की वर्चस्वी संरचनाओं और विचारधाराओं को चुनौती देती है जिससे लोकतंत्र के मर्म में एक नयी अर्थवत्ता

का प्रवेश होता है। इससे लोकतंत्र की व्यापकता और गहनता में वृद्धि होती है। सहभागी लोकतंत्र 'डेमोक्रेसी' की जगह 'मैरिटोक्रेसी' की माँग करने वाले अभिजनों की आलोचना करता है। ये अभिजन तर्क देते हैं कि आधुनिक युग में समस्याएँ और मुद्दे बेहद पेचीदा हो गये हैं। साधारण नागरिकों की तो छोड़ ही दीजिए, चुने हुए प्रतिनिधि भी उनसे नहीं निबट सकते। इसीलिए आधुनिक सरकारों को विशेषज्ञों की जरूरत पड़ती है। इसलिए मैरिट वाले ऐसे विशेषज्ञों के अधिकारों और जिम्मेदारियों में बढ़ोतरी करते हुए चुने हुए प्रतिनिधियों के अधिकारों को नौकरशाही और न्यायपालिका के जरिये और सीमित कर देना चाहिए। इस तर्क के उलट सहभागी लोकतंत्र को बढ़ावा देने की दलील उदारतावादी विमर्श को उलटने की पेशकश के साथ सामने आती है। उसका तर्क है कि अधिक खुले जनोन्मुख लोकतंत्र के विमर्श की स्थापना की जानी चाहिए ताकि विचारधारात्मक और संरचनागत रूप से भूमण्डलीय चौधराहट के बजाय निर्णयकारी प्रक्रिया जनता के हाथ में देने का प्रावधान किया जा सके।

देखें : अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, पेटेंट, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, भूमण्डलीकरण : भारतीय अर्थव्यवस्था का, भारत में पेटेंट कानून, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भारत में शेयर संस्कृति, भूमण्डलीकरण, भूमण्डलीकरण का इतिहास-1 और 2, भूमण्डलीकरण और पूँजी बाजार, भूमण्डलीकरण और राज्य, भूमण्डलीकरण और राष्ट्रीय सम्प्रभुता, भूमण्डलीकरण और वित्तीय पूँजी, भूमण्डलीकरण और वित्तीय उपकरण, भूमण्डलीकरण के आलोचक, भूमण्डलीकरण के खिलाफ प्रतिरोध, विश्व बैंक, विश्व व्यापार संगठन।

संदर्भ

1. डेविड हेल्ड (1991), 'डेमोक्रेसी ऐंड ग्लोबलाइजेशन', *आल्टरनेटिव्स : सोशल ट्रांसफॉर्मेशन ऐंड ह्यूमन गवर्नेंस*, खण्ड 16, अंक 2.
2. धीरूभाई शेट (2003), 'बाजारोन्मुख या सहभागी लोकतंत्र?', अभय कुमार दुबे (सम्पा.), *भारत का भूमण्डलीकरण*, वाणी, नयी दिल्ली.
2. रजनी कोठारी, (2003) 'जनता से डरते अभिजन और कमजोर होता हुआ राष्ट्र-राज्य', अभय कुमार दुबे (सम्पा.), *भारत का भूमण्डलीकरण*, वाणी, नयी दिल्ली.
4. फ्रांसिस फुकुयामा (1992), *द ऐंड ऑफ हिस्ट्री ऐंड द लास्ट मेन*, पेंगुइन, न्यूयॉर्क.
5. मानफ्रेड स्टेगर (2002), *ग्लोबलिज्म : द न्यू मार्केट आइडियॉलॉजी*, राउमेन ऐंड लिटिलफील्ड पब्लिशर्स, लैनहैम, एमडी.

—अभय कुमार दुबे

भूमण्डलीकरण और पूँजी बाज़ार

(Globalization and Capital Markets)

भूमण्डलीकरण के दबावों के तहत पिछले बीस वर्षों में विकासशील देशों के पूँजी बाज़ारों की संरचना और उनका आकार बहुत तेज़ी से बदला है। पूँजी बाज़ारों से नियंत्रण हटाने पर जोर देना अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक द्वारा समर्थित ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम का प्रमुख पहलू रहा है। इसी दौरान कई विकासशील देशों ने समायोजन कार्यक्रम लागू किया और विदेशी मुद्रा विनिमय दर से पाबंदियाँ हटायीं। उन्होंने अंतर्राष्ट्रीय पूँजी प्रवाह भी सुलभ किया ताकि घरेलू बाज़ार अंतर्राष्ट्रीय पूँजी से जुड़ सके। कई अंतर्राष्ट्रीय करारों में भी विकासशील देशों के पूँजी बाज़ारों को खोलने पर जोर दिया जाता है। वित्तीय सेवाओं से संबंधित विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यूटीओ) का करार इसका सबूत है। मुद्रा कोष का अनुच्छेद आठ भी चालू खाते को विदेशी मुद्रा के लिए पूरी तरह परिवर्तनीय (पूँजी का मुक्त अंतर्वाह और बहिर्वाह) बनाने की शर्त लगाता है। इस शर्त के सामने झुकने वाले देशों की संख्या भी बढ़ती जा रही है। कई अंतर्राष्ट्रीय क्रानुओं और समझौतों में इस तरह के प्रावधान हैं जिनके तहत निवेशकों और निवेश प्राप्त करने वाले देशों के बीच विभिन्न तौर-तरीकों के जरिये विवादों का निबटारा किया जा सकता है। इसमें दोनों पक्ष बराबर की भागीदारी कर सकते हैं। इस पहलू ने भी विकासशील देशों में विदेशी संस्थागत निवेशकों का विश्वास बढ़ाया है।

शेयरों के पोर्टफोलियो में लगने वाली पूँजी पर पाबंदियों के उदारीकरण का नतीजा विकासशील देशों के शेयर बाज़ारों में महत्वपूर्ण परिवर्तनों के रूप में निकला है। अंतर्राष्ट्रीय पूँजी से पूरी तरह एकाकार हो चुके देशों की संख्या 1985-87 के बीच केवल दो थी जो 1992-94 में बढ़ कर 13 हो गयी और इस पूँजी के लिए अपने दरवाज़े बंद रखने वाले देशों का प्रतिशत केवल दो रह गया। चूँकि विकासशील देश कर रियायतें और अन्य लाभ देने में काफ़ी उदार साबित हुए इसलिए भी उनके बाज़ारों की तरफ़ पोर्टफोलियो निवेश अधिक आकर्षित होता है। इन देशों में पब्लिक सेक्टर कम्पनियों के निजीकरण से भी शेयरों में लगने वाली विदेशी पूँजी में आये उछाल को जोड़ा जा सकता है।

पूँजी बाज़ार के ग्लोबल नेटवर्क के विकास का एक महत्वपूर्ण पहलू यह भी है कि पूँजी का प्रवाह केवल विकसित से विकासशील देशों की तरफ़ ही नहीं हो रहा है। बल्कि, नयी विश्व व्यवस्था ने विकासशील देशों से विकासशील देशों की तरफ़ पूँजी प्रवाह भी सुलभ हुआ है।

पिछली प्रविष्टियों में चर्चा की गयी थी कि किस तरह कम्युनिस्ट डॉलरों के युरोपीय बैंकों में जमा होने से युरो डॉलर की परिघटना प्रकाश में आयी, बहुत से फ्री डॉलर व्यापार के लिए उपलब्ध हो गये और उसने ब्रेटन वुड्स प्रणाली के ख़ात्मे की भूमिका अदा की। भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया समझने के लिए मुद्रा के धंधे पर गौर करना आवश्यक है। विश्व भर की मुद्राओं का नित्य प्रति अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा बाज़ारों में व्यापार होता है। इसका प्रभाव निवेशकों के रुझान पर पड़ता है।

मुद्रा का व्यापार चौबीसों घंटे चलता रहता है। चौबीस घंटे की एक अवधि अंतर्राष्ट्रीय व्यापार दिवस के बराबर समझी जाती है। इसकी शुरुआत उस समय होती है, जब न्यूजीलैण्ड का बाज़ार खुलता है और ख़त्म तब होता है जब न्यूयॉर्क में व्यापार ख़त्म हो जाता है। मुद्रा की प्रकाशित दरों लगातार संशोधन किया जाता है। मूल्यों में जरा सा फ़र्क़ पड़ने पर क्षण भर में जोरदार मुनाफ़ा कमा लेने की स्थितियाँ बन जाती हैं। व्यापार की ये गतिविधियाँ तीन तरह से चलती हैं : हाज़िर डिलीवरी जिसमें फटाफट व्यापार होता है और दो दिन के भीतर सौदा निबटा दिया जाता है। यह लेन-देन इलेक्ट्रॉनिक काउंटर पर ही हो जाता है। इसके लिए मुद्रा बाज़ार जाने की भी ज़रूरत नहीं रहती। यह व्यापार बैंकों अथवा दूसरे निगमों द्वारा नियंत्रित किसी नेटवर्क के जरिये इलेक्ट्रॉनिक या फ़ोन के माध्यम से किया जाता है। माना जाता है कि सकल मुद्रा व्यापार के आधे से कुछ कम का व्यापार हाज़िर डिलीवरी के रूप में ही होता है। दूसरा तरीका है वायदा सौदा यानी फ़्यूचर ट्रेड। बड़े पैमाने पर एक मुद्रा के बदले दूसरी मुद्रा अर्थात् स्वाप। इन दोनों में आगे की तारीख पर पहले से तय मूल्य के आधार पर व्यापार होता है।

मुद्रा के मूल्य का अर्थ यह है कि दूसरी मुद्राओं के मुकाबले उसकी क़ीमत क्या है। यह क़ीमत बाज़ार में इस बात पर निर्भर करती है कि बाज़ार की निगाह में मुद्रा कितनी आकर्षक है। अगर किसी मुद्रा की माँग बहुत है तो उसकी माँग अन्य मुद्राओं के मुकाबले बढ़ जाएगी। युद्ध होने, आंतरिक अशांति, आदि की स्थिति में किसी देश की मुद्रा का आकर्षण कम हो जाता है। ऊँची मुद्रास्फीति और ज्यादा व्यापार घाटे से भी मुद्रा की क़ीमत गिर जाती है। निवेशक ज्यादा स्थिर समझी जाने वाली विदेशी मुद्रा में अपनी मुद्रा को परिवर्तित करने में लग जाते हैं जिससे उस स्थिर विदेशी मुद्रा की क़ीमत बढ़ जाती है। अमेरिकी डॉलर, जर्मन मार्क और जापानी येन की चौधराहट विश्व मुद्रा बाज़ार पर हावी रहती है। अपने देश से बाहर के बैंकों में जमा मुद्रा को युरो करेंसी कहा जाता है। जैसे युरोडॉलर या युरोयेन। इस धन से ब्याज कमाया जा सकता है, इसका निवेश किया जा सकता है, व्यापार करने वालों के बीच सौदे किये जा सकते हैं, इसे

ऋण के रूप में उठाया जा सकता है। युरोकॉरेंसी की लोकप्रियता का एक बड़ा कारण यह है कि अंतर्राष्ट्रीय बाजार के बीच यह बड़ी उपयोगी है। इस व्यापार में बिलों की भुगतान एक खास मुद्रा में ही करना पड़ता है।

भूमण्डलीकरण अगर विदेशी पूँजी के निवेश का आख्यान है तो यह पूँजी के पलायन का आख्यान भी है। यह उल्टा प्रवाह दो तरीके से समझा जा सकता है: निवेशित पूँजी का पलायन, और देश की अपनी पूँजी का बाहर जाना। निवेशित पूँजी के पलायन के अंदर निवेश में ही निहित होते हैं। भूमण्डलीकरण के तहत प्रत्यक्ष विदेशी निवेश करने वाले राष्ट्रीय सरकारों से गारंटी माँगते हैं कि वे निवेश तभी करेंगे जब उन्हें मनचाहे समय पर विनिवेश की सुविधा प्रदान की जाए। अगर कोई सरकार ऐसी गारंटी देने में हिचकती है तो उसे निवेश आसानी से प्राप्त नहीं होता। फिर भी प्रत्यक्ष विदेशी निवेश करने पर उसे तुरंत बेच कर पलायन करना आसान नहीं होता, लेकिन संस्थागत विदेशी निवेश को फ़ौरन बेच कर पलायन की सुविधा होती है। इसलिए संस्थागत विदेशी निवेश प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की तुलना में अधिक अस्थिर प्रकृति का होता है। पोर्टफ़ोलियो निवेशकों के लिए तो यह गारंटी माँगना भी ज़रूरी नहीं होता। लगातार सट्टेबाजी में लगे हुए ये निवेशक ज़रा सा अंदेशा होने पर ही तेज़ी से बिकवाली करके बाज़ार से निकल जाते हैं और उस देश के पूँजी बाज़ार का भट्टा बैठ जाता है। किसी देश की अपनी पूँजी का पलायन देश के बाहर मौजूद निवासियों के ज़रिये तो होता ही है, उसी देश की कम्पनियों की विदेशों में गतिविधियों के ज़रिये भी होता है। स्विस् बैंकों में जमा काला धन भी पूँजी पलायन का ही एक भ्रष्ट रूप है।

देखें : अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, पेटेंट, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, भूमण्डलीकरण : भारतीय अर्थव्यवस्था का, भारत में पेटेंट क़ानून, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भारत में शेयर संस्कृति, भूमण्डलीकरण, भूमण्डलीकरण का इतिहास-1 और 2, भूमण्डलीकरण और लोकतंत्र, भूमण्डलीकरण और राज्य, भूमण्डलीकरण और राष्ट्रीय सम्प्रभुता।

संदर्भ

1. मिशेल चोसुदोव्स्की (1997), 'द आईएमएफ़ज़ 'सोशल सेफ़्टी नेट' फ़ार द इंस्टीट्यूशनल स्पेकुलेटर', *थर्ड वर्ल्ड रिसर्च*, अंक 86.
2. एन.सी. मेनन (1998), 'वल्चर केपिटलिज़्म', *द हिंदुस्तान टाइम्स*, 12 जनवरी.
3. कवलजीत सिंह (1999), *पूँजी का भूमण्डलीकरण*, ऋतिका प्रकाशन, नयी दिल्ली.
4. अंकटाड (1996), *ट्रेड एंड डिवेलपमेंट रिपोर्ट, 1996*, संयुक्त राष्ट्र, न्यूयॉर्क और जिनेवा.

— अभय कुमार दुबे

भूमण्डलीकरण और राज्य

(Globalization and State)

भूमण्डलीकरण एक जारी प्रक्रिया है। इस परिघटना और इसके प्रभावों के बारे में अभी काफ़ी-कुछ अध्ययन किया जाना बाकी है। भूमण्डलीकरण के तहत राज्य की संस्था के भविष्य पर समाज-विज्ञान के क्षेत्रों में व्यापक बहस को जन्म दिया है। इसमें अब किसी को कोई शक नहीं रह गया है कि वित्तीय पूँजी के नये निज़ाम के असर में राष्ट्रातीत सत्ता का प्रोटोकाल तैयार हो रहा है। सत्ता की मौजूद संरचनाओं के साथ इसका टकराव है। इस नये प्रोटोकाल के शीर्ष पर अमेरिका के नेतृत्व में पश्चिमी युरोप और जापान हैं। चीन सत्ता की इस नयी संरचना में अपनी जगह बनाने की कोशिश में लगा हुआ है। समझा जा रहा है कि अगर भूमण्डलीकरण का सफ़र इसी तरह चलता रहा तो राज्य की संस्था वैसी नहीं रह जाएगी जैसी बीसवीं सदी के आख़िरी पचास-साठ साल में बनी है। राज्य और भूमण्डलीकरण के बीच हो रही अन्योन्यक्रिया के परिणामों पर हो रही बहस के विभिन्न आयामों को इस प्रकार सूत्रबद्ध किया जा सकता है :

राज्य के मौजूदा रूप से असंतुष्ट कुछ अध्येता इस संस्था की संरचनाओं में आ सकने वाले परिवर्तनों का श्रेय भूमण्डलीकरण को देने के लिए तैयार नहीं हैं। उनके अनुसार होने वाला परिवर्तन विश्व अर्थव्यवस्था के आपस में जुड़ते चले जाने के बजाय राज्यों के भीतर चल रहे घटनाक्रम का परिणाम होगा। भूमण्डलीकरण हो या न हो, इस संस्था को बदलना ही होगा, क्योंकि यह अपना आश्वासन पूरा करने में नाकाम रही है। शांति, विकास और समानता को जन्म देने के बजाय आधुनिक राज्य ने नागरिक कलह, सामाजिक टकराव, व्यापक भ्रष्टाचार और बुनियादी सुविधाओं के अभाव की समस्याएँ पैदा की हैं। इसलिए गरीबों के आंदोलन पहले से राज्य की संस्था पर बदलने का दबाव डाल रहे हैं। भूमण्डलीकरण के विकास के साथ गरीबों का यह दबाव और बढ़ेगा, जिसके नतीजे के तौर पर राज्य को सत्ता के नये ग्लोबल प्रोटोकाल के खिलाफ़ संघर्ष करना पड़ेगा। भविष्य के राज्य का जन्म इसी टकराव से होगा।

अध्येताओं का एक दूसरा हिस्सा भूमण्डलीकरण को एक विचारधारात्मक परियोजना के रूप में देखता है जो ऐतिहासिक रूप से विकसित हो रही है। राज्य की संस्था का उसके साथ टकराव नहीं है, बल्कि वह खुद इस परियोजना का ही हिस्सा है। भूमण्डलीकरण राज्य की शक्तियों में कटौती करता हुआ लग सकता है, पर वास्तव में वह उसे पूरी तरह शक्तिहीन नहीं करना चाहता। भूमण्डलीकरण ने जो भी

परिवर्तन किये हैं, वे राज्य की संस्था द्वारा उठाये गये क्रमों या उसकी निष्क्रियता के परिणाम भी हैं।

तीसरा विचार यह है कि राज्य की संस्था के कुछ हिस्सों का पहले से ही काफी अंतर्राष्ट्रीयकरण हो चुका था, इसलिए वे भूमण्डलीकरण से ज़्यादा प्रभावित दिख रहे हैं। आर्थिक गतिविधियों में राज्य के हस्तक्षेप पर भूमण्डलीय ताकतें इसीलिए निगरानी रख पा रही हैं, क्योंकि वित्तीय पूँजी का चरित्र शुरू से ही अंतर्राष्ट्रीय था और उसे आसानी से ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम और डब्ल्यूटीओ जैसी व्यवस्थाओं के तहत लाया जा सकता था।

चौथा विचार यह है कि भूमण्डलीकरण के तहत भविष्य के राज्य के बारे में सोचते समय केवल शोषक-शोषित और गरीब-अमीर देशों के संदर्भ में ही नहीं सोचना चाहिए, बल्कि लोकतांत्रिक, विविधतामूलक, लैंगिक, नस्ली और पर्यावरणीय-पारिस्थितिकीय परिप्रेक्ष्य पर भी निगाह रखनी चाहिए। केवल साम्राज्यवाद बनाम अन्य की मोर्चेबंदी के लिहाज़ से देखने पर इन आयामों की उपेक्षा हो जाती है।

पाँचवाँ विचार यह है कि भूमण्डलीकरण का कोई विकल्प नहीं है। राज्य को उसके सामने घुटने टेकने ही होंगे। भविष्य का राज्य और भविष्य का लोकतंत्र नियोक्लासिकल आर्थिक सिद्धांत के तहत ही गठित होगा। मौजूदा राज्यों के सामने जो नीतिगत कार्यक्रम रखा जा रहा है वह इसी क्रिसम का है। उन्हें सबसिडी खत्म करने, विदेश व्यापार पर किसी भी तरह की बंदिश हटाने, निजीकरण को किसी भी क्रीमत पर तेज़ रफ़्तार से चलाने, विदेशी पूँजी के लिए अपने दरवाजे पूरी तरह से खोलने और राष्ट्रीय महत्त्व के कई प्रश्नों को ऐसे अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर हल करने के लिए लाने का दबाव बढ़ रहा है जिनमें गरीब देशों की नुमाइंदगी पर्याप्त नहीं है। यह प्रक्रिया राज्य के प्राधिकार को भूमण्डलीकरण के नीतिगत ढाँचे के तहत लाती जा रही है। इसे राज्य का कमज़ोर रूप न समझ कर नये ज़माने के राज्य के रूप में ग्रहण करना चाहिए।

छठा विचार लोकहितकारी राज्य की विफलता को भूमण्डलीकरण की कामयाबी के साथ जोड़ता है। इसके पैरोकार मानते हैं कि प्रबंधकीय और प्रौद्योगिकीय प्रतिमान राज्य और समाज पर हावी हो गया है जिससे 'अराजनीतिक राजनीति' मज़बूत हुई है। यह प्रतिमान बहुलता और विविधता के प्रति असहिष्णु है, इसलिए वह जातीय राजनीति, बहुसंख्यकवाद और कुछ देशों में साम्प्रदायिकता के उभार के रूप में ख़ुद को व्यक्त करता है। यह प्रतिमान उदारतावादी लोकतंत्र की संस्था पर दबाव डालता है कि वह अपनी लोकहितकारी प्रवृत्तियों को त्याग कर बाज़ार के एजेंट की भूमिका निभाने पर सहमत हो जाए। इस प्रतिमान ने राजनीति के लोकलुभावन पक्षों को बेअसर कर दिया है। अब सड़कों

पर जुलूस निकालने और 'संघर्ष करने' का लाभ विधायिकाओं के चुनाव जीतने में नहीं निकलता। पुराने क्रिसम के मज़दूर आंदोलन, किसान आंदोलन या छात्र राजनीति का ज़मान लद गया है।

सातवाँ विचार यह है कि भूमण्डलीकरण के तहत एक नये क्रिसम की राजनीति के जन्म लेने की सम्भावनाएँ पैदा हो गयी हैं। इस राजनीति के केंद्र में वे तबक़े होंगे जिन्हें लोकहितकारी राज्य ने उपेक्षित कर दिया था। अर्थात् उसमें असंगठित क्षेत्र के श्रमिक, असमान विकास से पीड़ित देशज समूह, पर्यावरण के विध्वंस से तबाह लोगों, बहुराष्ट्रीय पूँजी के प्रकोप से रोज़ी-रोटी खोने वाले किसानों और कारीगरों, राष्ट्रों से बहिष्कृत शरणार्थियों, जनांदोलनों और क्रांतियों में लैंगिक परिप्रेक्ष्य के लिए जगह तलाशती महिलाओं का बोलबाला होगा। इनकी मिली-जुली लड़ाई भूमण्डलीकृत व्यवस्था द्वारा प्रदत्त इंटरनेट जैसी प्रौद्योगिकी की मदद से भूमण्डलीय शैली और स्पेस में ही लड़ी जाएगी। अर्थात् राष्ट्र और आधुनिक राज्य भूमण्डलीकरण के खिलाफ़ होने वाली लड़ाई का स्थान ही नहीं रह गया है। इस विचार को आधुनिकता और राष्ट्र-राज्य के आलोचकों द्वारा काफी महत्त्व दिया जा रहा है।

देखें : अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, पेटेंट, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, भूमण्डलीकरण : भारतीय अर्थव्यवस्था का, भारत में पेटेंट क़ानून, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भारत में शेरर संस्कृति, भूमण्डलीकरण, भूमण्डलीकरण का इतिहास-1 और 2, भूमण्डलीकरण और पूँजी बाज़ार, भूमण्डलीकरण और लोकतंत्र, भूमण्डलीकरण और राष्ट्रीय सम्प्रभुता, भूमण्डलीकरण और वित्तीय पूँजी, भूमण्डलीकरण और वित्तीय उपकरण, भूमण्डलीकरण के आलोचक, भूमण्डलीकरण के खिलाफ़ प्रतिरोध, विश्व बैंक, विश्व व्यापार संगठन।

संदर्भ

1. सास्किया सासेन (1996), 'हूज़ सिटीज़ इज़ इट : ग्लोबलाइज़ेशन एंड द फ़ार्मेशन ऑफ़ न्यू क्लेस', *पब्लिक कल्चर : सिटीज़ एंड सिटीज़नशिप*, युनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, न्यूयॉर्क।
2. मिशेल चोसुदोव्स्की (1997), *ग्लोबलाइज़ेशन ऑफ़ पॉवर्टी : इम्पेक्ट ऑफ़ आईएमएफ़ एंड वर्ल्ड बैंक रिफ़ार्म्स*, द अदर इण्डिया प्रेस और माध्यम बुक्स, नयी दिल्ली।
3. जॉर्ज सोरोस (2002), 'बोल्ड स्ट्रोकस फ़ॉर न्यू ऑर्डर', *इकॉनॉमिक टाइम्स*, नयी दिल्ली, 4 अक्टूबर।

— अभय कुमार दुबे

भूमण्डलीकरण और राष्ट्रीय सम्प्रभुता

(Globalization and National Sovereignty)

भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया ने राष्ट्रीय सम्प्रभुता को कमजोर करके विश्व में सत्ता की संरचना पर युगांतरकारी असर डाला है। प्रथम विश्व युद्ध के बाद उपनिवेशवाद विरोधी संघर्षों के कारण हुई जन-क्रांतियों ने दुनिया को राष्ट्रों की सीमाओं में बाँट दिया था। अपने भू-क्षेत्रीय दायरे में राष्ट्रीय सम्प्रभुता औपचारिक रूप से सर्वोच्च समझी जाने लगी थी। परस्पर सम्प्रभुता का सम्मान करने वाले अंतर्राष्ट्रवाद ने भूमण्डलीकरण की शब्दावली को प्रतिस्थापित कर दिया था। लेकिन, भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया के तत्करीबन ढाई दशक बाद आज यह नहीं कहा जा सकता कि राष्ट्रीय सम्प्रभुता की संरचना वैसी ही है जैसी द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के वर्षों में थी। यह मानना एक तरह का सरलीकरण होगा कि भूमण्डलीकरण ने केवल गरीब देशों की सम्प्रभुता का ही क्षय किया है। दरअसल, इसने विकसित देशों की राष्ट्रीय सम्प्रभुता के दावों को भी कमजोर कर दिया है। सम्प्रभुता के इस क्षय के कारणों पर नज़र डालने के लिए हमें बीसवीं सदी के आखिरी पचास वर्षों के आर्थिक इतिहास पर एक सरसरी नज़र डालनी होगी।

इस इतिहास का सर्वाधिक विशिष्ट पहलू यह है कि इन पचास वर्षों में विश्व का निर्यात करीब साठ गुना बढ़ा, लेकिन दुनिया के कुल घरेलू उत्पाद में केवल छह गुना इजाज़ा ही हुआ। यानी उत्पादन की एक इकाई के मुकाबले विश्व-वाणिज्य का हिस्सा कहीं ज़्यादा रहा। इस प्रक्रिया के फलस्वरूप सदी के आखिरी बीस सालों में निर्यातोन्मुख विकास अपने-आप में एक वैचारिक मानक बन गया। इसमें आयात प्रतिस्थापन की नीतियों की अपेक्षाकृत विफलता भी एक महत्वपूर्ण कारण रही। ये नीतियाँ विकासशील देशों में न तो समाजवाद की रचना कर पायी और न ही उन्हें ठीक से आत्मनिर्भर बना पायी। न वे राष्ट्रीय तौर पर प्रबल हो पाये, और न ही ग़ैर-पूँजीवादी भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया स्वस्थ ढंग से आगे बढ़ सकी। इसलिए अधिकाधिक विकासशील देश निर्यातोन्मुख विकास को प्रोत्साहन देने वाली नीतियाँ अपनाते लगे जिनका नतीजा पूँजी की सघनता वाले रास्ते पर चलने में निकला। विकासशील देशों को विशाल मात्रा में पूँजी की ज़रूरत पड़ने लगी, जबकि उनके पास पहले से ही पूँजी की कमी थी। इस विषमता ने इन देशों की अर्थव्यवस्था में निवेश अंतराल की समस्या को जन्म दिया। पूँजी के नये और सतत अंतःप्रवाहों के बिना यह अंतराल नहीं भर सकता था। पूँजी के इस संकट का लाभ उठा कर पूँजीवादी

भूमण्डलीकरण की ताकतों ने विश्व व्यापार के दायरे में लगभग पूरी दुनिया को ही घसीट लिया। निर्यात के लिए दबाव डालने वाले हितों और बाज़ार को संरक्षित रखने के इच्छुक तत्त्वों में होड़ होने लगी।

इस सिलसिले में राष्ट्रीय सम्प्रभुता के वाहक राज्य को तय करना था कि वह किसका पक्ष लेगा। जब व्यापार की वैश्विक आकांक्षाएँ राष्ट्रों की सामाजिक और वैकासिक ज़रूरतों से टकरायीं तो भूमण्डलीकरण की राष्ट्रातीत ताकतों ने स्वाभाविक रूप से विश्व व्यापार का पक्ष लिया। इस प्रक्रिया में राष्ट्रों ने पाया कि अगर वे समृद्धि की दौड़ में हिस्सा लेना चाहते हैं तो उन्हें विश्व व्यापार की नियामक बन चुकी राष्ट्रातीत रेटिंग एजेंसियों की सनद लेनी पड़ेगी। आर्थिक सत्ता की इस नयी संरचना के खिलाफ़ बगावत करने वाले देशों को अनुशासित करने के लिए अमेरिका ने सुपर 301 जैसे क्रान्तियों का इस्तेमाल किया। भारत और थाईलैण्ड जैसे देशों पर अपने पेटेंट क्रान्तियों को बदलने का दबाव डाला गया ताकि उनकी प्राकृतिक सम्पदा भूमण्डलीकरण के दायरे में आ सके। गैट के इर्द-गिर्द चलने वाली प्रक्रियाओं के गर्भ से विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यूटीओ) की रचना हुई। इसके बाद किसी भी बहुपक्षीय समझौते के लिए राष्ट्रों को अपने राष्ट्रीय हितों की कसौटियों के बजाय इस संगठन की कसौटियों पर खरा उतरना अनिवार्य हो गया। उत्पादन प्रणाली इस क्रूर राष्ट्रातीत हो गयी कि जिसे पूरी तरह उत्पादित होने से पहले ही अधबनी हालत में राष्ट्रों की सीमाओं के आर-पार जाने लगीं। एक उत्पाद एक जगह बनने के बजाय कई देशों में मिल कर बनने लगा, लेकिन उस पर नियंत्रण एक ही बहुराष्ट्रीय कम्पनी का रहा। विश्व व्यापार में फ़र्मों के बीच होने वाले विनिमय का हिस्सा पाँचवें से बढ़ कर तीसरा हो गया।

पचास और साठ के दशक में कम्युनिस्ट डॉलरों की मदद से जन्मे युरो मार्केट की तर्ज़ पर सारी दुनिया में मुद्रा बाज़ार सक्रिय हो गये जिन्होंने शेयर बाज़ारों के साथ वित्तीय पूँजी के नियमहीन खुले खेल का समाँ बना दिया। तीसरी दुनिया और नवविकसित देशों की अर्थव्यवस्थाएँ चंचल और सट्टेबाज़ पूँजी की कृपा की मोहताज़ हो गयीं। मलेशिया जैसे देश के चालीस साल के आर्थिक लाभ इस पूँजी ने अपनी आर्थिक कार्रवाइयों से सिर्फ़ एक मुद्रा संकट में साफ़ कर दिये। राष्ट्रीय सम्प्रभुता की अवधारणा और उसकी संरचनाओं पर होने वाला यह सबसे बड़ा व्यावहारिक आघात था।

भूमण्डलीकरण ने उन देशों की सम्प्रभुता को भी सीमित किया, जो खुद उनके प्रमुख पैरोकार थे। मसलन, फ़्रांस की मितराँ सरकार ने अपने देश में सामाजिक सुरक्षा का एक महत्वाकांक्षी कार्यक्रम लागू करना चाहा जिसे बाज़ार की ताकतों ने सफल नहीं होने दिया। इन ताकतों ने फ़्रांस से पूँजी वापिस ले जाने की धमकी दी। इस घटना से तय हो गया कि

खर्चा बढ़ा कर आर्थिक जीवन में लोकहितकारी हस्तक्षेप करने वाले राज्य का जमाना चला गया है। ब्रिटेन में चुनाव जीतते ही लेबर पार्टी को सबसे पहले बाज़ार की ताकतों को आश्वस्त करना पड़ा कि वह अब पहले जैसी लेबर पार्टी नहीं रह गयी है, बल्कि वह 'ज़िम्मेदाराना' तौर-तरीके अपनायेगी।

ये उदाहरण बताते हैं कि भूमण्डलीकरण के तहत सरकारों को यह तय करने का हक नहीं रह गया है कि उनके देशों की जनता के लिए क्या अच्छा है। इस परिस्थिति ने राष्ट्रों के भीतर एक विचित्र क्रिस्म की राजनीति को जन्म दिया है। इसके तहत मौजूदा सरकारों की छवि बाहर से थोपी जा रही आर्थिक नीतियों की वाहक लगती है, और विपक्ष के साथ-साथ सत्तारूढ़ दल के कुछ हिस्से भी उनकी आलोचना करते हुए दिखते हैं। पर, जैसे ही विपक्ष सत्ता में आता है, वह वही सब कुछ करता पाया जाता है जो पिछली सरकार कर रही थी। उसके पास भूमण्डलीकरण से टकराने का कोई कार्यक्रम नहीं होता, उसके विकल्प का तो सवाल ही नहीं उठता। भारत का उदाहरण ही बताता है कि आर्थिक नीतियों पर पक्ष-विपक्ष में बहस केवल इतनी है कि बाज़ारोन्मुख नीतियों को कैसे लागू किया जाए। उनके विकल्प के सवाल पर तो कोई सोच ही नहीं रहा है। इस तरह की विकल्पहीन राजनीति किसी क्रिस्म के परिवर्तन को जन्म न दे कर केवल सत्ता परिवर्तन को जन्म देती है जिसका परिणाम अंततः निराशा पैदा करते हुए अराजनीतीकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहन देता है। प्रबंधन और प्रौद्योगिकी के दम पर समाज को चलाने और निजी पूँजी को केंद्र में रखने वाले कॉर्पोरेट मॉडल को मानने का तंत्र मज़बूत होता है।

देखें : अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, पेटेंट, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, भूमण्डलीकरण : भारतीय अर्थव्यवस्था का, भारत में पेटेंट क़ानून, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भारत में शेयर संस्कृति, भूमण्डलीकरण, भूमण्डलीकरण का इतिहास-1 और 2, भूमण्डलीकरण और पूँजी बाज़ार, भूमण्डलीकरण और लोकतंत्र, भूमण्डलीकरण और राज्य, भूमण्डलीकरण और वित्तीय पूँजी, भूमण्डलीकरण और वित्तीय उपकरण, भूमण्डलीकरण के आलोचक, भूमण्डलीकरण के खिलाफ़ प्रतिरोध, विश्व बैंक, विश्व व्यापार संगठन।

संदर्भ

1. लियोनिड ग्रिनिन, *ग्लोबलाइज़ेशन एंड सोवरिनिटी : व्हाई डू स्टेट्स एबंडन देयर सोवरिन प्रेरोगेटिव्स?*, एचटीटीपी://ओल्ड. यूचिटेला इज़्ड. आरयू/इंडेक्स.पीएचपी?ऑप्शन=कंटेंट एंड टास्क =व्यूएंडआईडी=155एंडआईटीमिड=97
2. मानफ्रेड स्टेगर (2002), *ग्लोबलिज़म : द न्यू मार्केट आइडियालॉजी*, राउमेन एंड लिटिलफ़ील्ड पब्लिशर्स, लैनहैम, एमडी.
3. रजनी कोठारी (2003), 'जनता से डरते अभिजन और कमजोर

होता हुआ राष्ट्र-राज्य', अभय कुमार दुबे (सम्पा.), *भारत का भूमण्डलीकरण*, वाणी, नयी दिल्ली.

4. जगदीश भगवती, *इन डिफ़ेंस ऑफ़ ग्लोबलाइज़ेशन*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क.
5. थॉमस एल. फ़्रीडमेन (2005), *द वर्ल्ड इज़ फ़्लैट*, फ़रार, स्ट्रॉस एंड ज़िरोक्स, न्यूयॉर्क.

— अभय कुमार दुबे

भूमण्डलीकरण और वित्तीय पूँजी

(Globalization and Finance Capital)

सत्तर के दशक में ब्रेटन वुड्स प्रणाली के ध्वस्त होने के परिणामस्वरूप जैसे ही वित्तीय पूँजी बंधनों से आज़ाद हुई, अंतर्राष्ट्रीय वित्त विनिमय में तेज़ रफ़्तार से बढ़ोतरी होने लगी। व्यापार में, खासकर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों बीच होने वाले व्यापार में बहुत तेज़ी आ गयी। प्रत्यक्ष विदेशी निवेश में ज़बरदस्त उछाल आया और अंतर्राष्ट्रीय गतिविधियाँ तेज़ी से बढ़ीं। अस्सी और नब्बे के दशक में विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की हिदायतों के तहत चलाये गये ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम ने भी इस प्रक्रिया का रास्ता साफ़ किया। पहले गैट, और बाद में विश्व व्यापार संगठन यानी डब्ल्यूटीओ द्वारा थोपे गये बहुपक्षीय समझौतों के कारण भूमण्डलीकरण की रफ़्तार बहुत बढ़ गयी। इन्हीं प्रक्रियाओं के कारण विकासशील देशों ने उत्तरोत्तर अपनी अर्थव्यवस्थाएँ बहुराष्ट्रीय पूँजी के लिए खोलनी शुरू कर दीं। वे धीरे-धीरे पूँजी के ग्लोबल नेटवर्क में शामिल होते चले गये।

नतीजे के तौर पर दो प्रमुख परिघटनाएँ प्रकाश में आयीं। एक थी उत्पादन का भूमण्डलीकरण। बहुराष्ट्रीय निगमों के लिए ज़रूरी था कि वे अपने गृह देशों में माँग की जड़ता और लागत में बढ़ोतरी से बचने का कोई रास्ता निकालें। इसलिए उन्होंने उन देशों में अपनी इकाइयाँ लगानी शुरू कर दीं जहाँ कच्चा माल और मज़दूरी सस्ती थी, एवं जहाँ का बाज़ार अभी विकास के दौर में था। दूसरी थी वित्त का भूमण्डलीकरण। यह परिघटना उत्पादन के भूमण्डलीकरण से भी ज़्यादा असरदार और नयी साबित हुई। अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूँजी की मात्रा और गति में अनाप-शनाप बढ़ोतरी हो चुकी है। 1986 में हर रोज़ न्यूयॉर्क, लंदन और टोक्यो के मुद्रा व्यापारियों के हाथों से एक खरब 88 अरब डॉलर गुज़र रहे थे जो 1995 तक बढ़ कर दस खरब 20 अरब डॉलर हो चुके थे।

विदेशी मुद्रा का ज्यादातर लेन-देन अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की जरूरतों को पूरा करने के लिए होता रहा है। खरीदारों और विक्रेताओं को विदेशी माल व सेवाओं के सौदे करने के लिए तरह-तरह की मुद्राओं की आवश्यकता पड़ती रही है। लेकिन, अब मुद्रा व्यापार का संबंध इस तरह के पुराने क्रिस्म की अंतर्राष्ट्रीय तिजारत से बहुत कम रह गया है। ऐसी तिजारत को अब केवल अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा व्यापार के दो फ्रीसदी तक ही सीमित रह गयी है। जाहिर है कि वित्त के भूमण्डलीकरण की मौजूदा प्रक्रिया अंतर्राष्ट्रीय व्यापार और निवेश की पूरक न रह कर अपना स्वतंत्र अस्तित्व बना चुकी है। वित्तीय प्रवाह का रिश्ता अब पहले की तरह वास्तविक संसाधनों और दीर्घकालीन उत्पादक निवेश के प्रवाह से नहीं है। नया वित्तीय प्रवाह ज्यादातर तरल रूप में (नक़दी के रूप में) है और सट्टेबाजी के जरिये फटाफट मुनाफ़ा कमा लेने के मक़सद से हो रहा है। यह नया वित्त जिस तेज़ी से किसी देश में जाता है, उतनी ही तेज़ी से उस देश से बाहर भी जा सकता है। मुद्रा व्यापार के साथ-साथ बांड्स, म्युचुअल फ़ण्ड्स, जीडीआर और इन सबसे निकले अन्य वित्तीय उपादानों के इस्तेमाल ने भी वित्त के भूमण्डलीकरण में योगदान किया है।

नब्बे के दशक में आये परिवर्तनों ने वित्तीय पूँजी के प्रवाहों का चरित्र बदल दिया। विकासशील देशों की तरफ़ जाने वाली पूँजी का अधिकांश हिस्सा अब निजी पूँजी का होने लगा। सरकारी स्रोतों से जाने वाली पूँजी निजी के मुकाबले पाँच गुना से भी कम हो गयी। 1996 तक आते-आते नये बाज़ारों की तरफ़ होने वाला निवल सरकारी पूँजी का प्रवाह नकारात्मक हो गया। निजी पूँजी दशक की शुरुआत के मुकाबले छह गुना ज्यादा रफ़्तार से प्रवाहित होने लगी। पहले यही पूँजी कम मात्रा में ही सही, पर अधिकतर सरकारों के पास जाती थी, अब ज्यादा बड़े पैमाने पर निजी क्षेत्र को मिलने लगी। व्यापारिक बैंक जम कर ऋण देने लगे। इस प्रकार के क्रज़ों का एक उल्लेखनीय पहलू यह था कि इनका तक्ररीबन आधा हिस्सा बिजली निर्माण सरीखी अधिसंरचनात्मक परियोजनाओं में खपाया गया। सरकारों और बहुपक्षीय संस्थाओं ने इस तरह के निवेश का रास्ता साफ़ करने के लिए विस्तारित गारंटियाँ दीं। भूमण्डलीकरण के शीर्ष पर मौजूद बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ चाहती हैं कि विकासशील देशों में अधिसंरचनात्मक सुविधाएँ विकसित हों ताकि वहाँ वे अपने उत्पादन के अड्डे ठीक से बना सकें। इस दृष्टि से वित्त और उत्पादन के भूमण्डलीकरण के बीच संबंध स्पष्ट होता है।

वित्तीय पूँजी के प्रवाह को दो रूप हैं। प्रत्यक्ष विदेशी निवेश और पोर्टफ़ोलियो निवेश। प्रत्यक्ष विदेशी निवेश में निवेशक प्रबंधन के ऊपर नियंत्रण रखता है। पोर्टफ़ोलियो निवेशक केवल पूँजी उपलब्ध कराता है और प्रबंधन से कोई वास्ता नहीं रखता। दोनों तरह के निवेशकों की क्रिस्म भी

भिन्न है। पोर्टफ़ोलियो निवेशकों में ज्यादातर संस्थागत निवेशक होते हैं, जैसे मेरिल लिंच, मोर्गन स्टेनली और फ़िडेलिटी इन्वेस्टमेंट। प्रत्यक्ष निवेश शैल, माइक्रोसॉफ़्ट, कोक, नेस्ले आदि बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ करती हैं।

पोर्टफ़ोलियो निवेश थोड़ी अवधि के लिए होता है। कुछ हफ़्तों से लेकर कुछ वर्षों तक। जितनी तेज़ी से यह आता है उतनी ही तेज़ी से देश छोड़ कर भाग भी सकता है, क्योंकि संस्थागत निवेशक अपने शेयर बेच कर फटाफट पल्ला झाड़ लेते हैं। इसीलिए इस तरह के निवेश को हॉट मनी या उड़न-छू पूँजी कहा जाता है। प्रत्यक्ष विदेशी निवेश दीर्घावधि के लिए होता है। यह भारी मशीनी माल और कारखानों में किया जाता है। इसे आसानी से बेच कर बहुराष्ट्रीय निगम अपनी पूँजी नहीं निकाल सकते।

वित्तीय पूँजी के इस दोतरफ़ा प्रवाह के लिए राजनीतिक स्थिरता बहुत महत्वपूर्ण है। पोर्टफ़ोलियो निवेशक का मक़सद केवल पूँजीगत मुनाफ़ा और लाभांश कमाना होता है। इसलिए वे मुनाफ़े से प्राप्त पूँजी को अपने देश ले जाने और ऊँचे मानकों ज्यादा महत्व देते हैं। दूसरी तरफ़ प्रत्यक्ष विदेशी निवेश करने वाले निवेशक बाज़ार, श्रम, उत्पादन लागत और अधिसंरचनात्मक सुविधाओं के विकास और आकार में ज्यादा दिलचस्पी रखते हैं।

पोर्टफ़ोलियो पूँजी प्रवाह अधिक अस्थिर और चंचल होता है। इसमें बढ़ोतरी आने के पीछे प्रमुख कारण यह रहा है कि प्रमुख विकसित देशों में निवेश पर मुनाफ़े की दरें अपेक्षाकृत घट गयी थीं। इसलिए निवेशकों ने उन देशों में अपना धन लगाने का फ़ैसला किया जहाँ ब्याज दरें कुछ ज्यादा थीं। दूसरा कारण यह था कि पिछले दस वर्षों में विकसित देशों में बचत का संस्थानीकरण होने के कारण निवेश के लिए पूँजी भारी पैमाने पर जमा हो गयी थी। यह रुझान संस्थागत निवेशकों के उदय से और मज़बूत हुआ है। ये निवेशक शेयर बाज़ारों में कारोबार के जरिये अपना धंधा करते हैं।

दुनिया के अलग-अलग देशों में घड़ी की सुइयों जिस तरह हमेशा चलती रहती हैं, उसी तरह इन शेयर बाज़ारों में भी कहीं न कहीं लेन-देन चलता रहता है। एक शहर में लेन-देन बंद होता है तो गतिविधियों का केंद्र दूसरा शहर बन जाता है। न्यूयॉर्क में बाज़ार बंद होते ही विलिंगटन में लेन-देन शुरू हो जाता है। टोक्यो का बाज़ार बंद होते ही लंदन का खुल जाता है जिसके बंद होने के ढाई घंटे पहले न्यूयॉर्क में धंधा शुरू हो जाता है। प्रौद्योगिकी के बढ़ते क्रदमों, खासकर संचार और सूचना प्रणाली में हुई प्रगति ने भी पूँजी बाज़ारों के भूमण्डलीकरण में योगदान किया है। दिक् और काल की प्राकृतिक बाधाओं को लाँघ जाने वाली प्रौद्योगिकीय प्रगति का सबसे ज्यादा असर इन बाज़ारों के भूमण्डलीकरण पर

देखा जा सकता है। दस साल पहले चौबीस घंटे जारी रहने वाली ट्रेडिंग नामुमकिन थी, लेकिन आज यह आम बात है।

देखें : अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, पेटेंट, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, भूमण्डलीकरण : भारतीय अर्थव्यवस्था का, भारत में पेटेंट कानून, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भारत में शेयर संस्कृति, भूमण्डलीकरण, भूमण्डलीकरण का इतिहास-1 और 2, भूमण्डलीकरण और पूँजी बाज़ार, भूमण्डलीकरण और लोकतंत्र, भूमण्डलीकरण और राज्य, भूमण्डलीकरण और राष्ट्रीय सम्प्रभुता, भूमण्डलीकरण और वित्तीय उपकरण, भूमण्डलीकरण के आलोचक, भूमण्डलीकरण के खिलाफ प्रतिरोध, विश्व बैंक, विश्व व्यापार संगठन।

संदर्भ

1. कवलजीत सिंह (1999), *पूँजी का भूमण्डलीकरण*, अनुवाद : अभय कुमार दुबे, ऋतिका प्रकाशन, नयी दिल्ली.
2. मारिस डी. लेवी (1996), *इंटरनेशनल फ़ाइनेंस*, मैकग्रा-हिल इंक, न्यूयॉर्क.
3. केनेथ एम. मारिस, एलन एम. सीगल और बेवर्ली लार्सन (1997), *गाइड टु इंटरनेशनल मनी ऐंड इन्वेस्टिंग*, डो जॉस पब्लिशिंग कम्पनी (एशिया) इंक, बैंकांक.
4. वर्ल्ड बैंक (1997), *प्राइवेट कैपिटल फ़्लोज़ टु डिवेलपिंग कंट्रीज़*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, यूएसए.

— अभय कुमार दुबे

भूमण्डलीकरण और वित्तीय उपकरण

(Globalization and Financial Instruments)

भूमण्डलीकरण के तहत अंतर्राष्ट्रीय पूँजी का स्रोत केवल बैंक ही नहीं रह गये हैं। कुछ नये क्रिस्म के वित्तीय साधन उभर आये हैं। पूँजी वित्तीय डेरिवेटिव्स, अंतर्राष्ट्रीय बॉण्ड्स, युरोबॉण्ड्स, ग्लोबल डिपोजिटरी रिसीट्स (जीडीआर), म्युचुअल फ़ण्ड्स और ईक्विटी शेयरों में निवेश के ज़रिये निजी क्षेत्र तक पहुँच रही है। इन वित्तीय साधनों की जानकारी के बिना वित्तीय पूँजी के भूमण्डलीकरण की तस्वीर पूरी नहीं हो सकती।

वित्तीय डेरिवेटिव्स मुद्रा और ब्याज के रूप में, स्टॉक और बाण्ड सूचकांक के रूप में, एवं बॉण्ड्स और बिल के रूप में सामने आये हैं। डेरिवेटिव का मतलब होता है एक

तरह का करार जिसका मूल्य किसी संबंधित परिसम्पत्ति के आधार पर निर्भर करता है। यानी डेरिवेटिव को किसी ब्याज-स्तर और शेयर बाज़ार के सूचकांक के ज़रिये हासिल किया जाता है। ये डेरिवेटिव तीन तरह के होते हैं : वायदा सौदे, भविष्य के सौदे और अदला-बदली (स्वाप) सौदे। डेरिवेटिव्स की ख़ास बात यह होती है कि उनकी आधारभूत परिसम्पत्ति को ख़रीदे या बेचे बिना उसके समस्त जोखिम का उनके ज़रिये क्रय-विक्रय किया जा सकता है। दूसरी तरफ़ शेयरों अथवा मुद्रा जैसी किसी चीज़ को एक निर्धारित अवधि के लिए पहले से तय मूल्य पर ख़रीदा या बेचा जा सकता है। भविष्य के सौदे और ऑप्शन शेयरों, बॉण्ड्स और म्युचुअल फ़ण्ड्स से भिन्न होते हैं क्योंकि इनके बाज़ार का जोड़-बाकी शून्य के बराबर होता है। एक ओर कोई डॉलर कमाता है, तो दूसरी ओर कोई उतने ही डॉलर खो देता है।

डेरिवेटिव्स का इतिहास पुराना है। उन्नीसवीं सदी में कच्चे माल और खनिजों के क्षेत्र में भी डेरिवेटिव्स हुआ करते थे। वित्तीय डेरिवेटिव्स की शुरुआत 1972 में हुई जब मुद्रा का व्यापार प्रारम्भ हुआ। शेयर बाज़ार के सूचकांकों का वायदा बाज़ार 1982 में शुरू हुआ। ब्याज दरों के वायदा सौदे 1988 में शुरू हुए। इनका भूमण्डलीकरण होने के बाद से बकाया डेरिवेटिव्स करारों की क्रीमत बीसवीं सदी ख़त्म होते-होते पचास खरब से ज़्यादा मानी जा रही थी। भूमण्डलीकरण के तहत पूँजी बाज़ारों में सबसे ज़्यादा वृद्धि वायदा सौदों और अदला-बदली के सौदों में हुई है। मुद्रा बाज़ारों के अलावा सबसे बड़ा बाज़ार डेरिवेटिव्स का ही है। बैंकिंग और प्रतिभूतियों की तरह वित्तीय डेरिवेटिव्स की दुनिया में फ़ासलों और राष्ट्रों की सीमाएँ कोई मायने नहीं रखतीं। अधिकांश व्यापार अंतर्राष्ट्रीय प्रतिभूति कम्पनियों करती हैं और दुनिया के कई बाज़ारों में चौबीसों घंटे कई तरह के डेरिवेटिव्स का व्यापार चलता रहता है।

सट्टेबाज़ों और अफ़वाहों की भूमिका के कारण डेरिवेटिव्स का बाज़ार अस्थिर और जोखिम भरा होता है। सारे बाज़ार आपस में जुड़े हुए हैं इसलिए एक बाज़ार में हुआ बड़ा घाटा दुनिया भर पर असर डालता है। इसकी मिसाल निक लीसन के मामले से देखी जा सकती है। सिंगापुर में वायदे सौदे करने वाले इस सट्टेबाज़ को हुए 1.3 अरब डॉलर के घाटे से बारिंग इन्वेस्टमेंट बैंक का अंतर्राष्ट्रीय रूप से पतन हो गया था। अंतर्राष्ट्रीय बॉण्ड्स का अर्थ होता है ऋज लेना, ऋज लेने वाले को पूँजी और देने वाले को ब्याज। चूँकि शेयर बाज़ार में निवेश करने के साथ जोखिम जुड़ा होता है इसलिए निवेशक बाण्ड्स में निवेश को प्राथमिकता देते हैं ताकि उनकी पूँजी सुरक्षित रहे और निर्धारित ब्याज के रूप में आमदनी होती रहे। परिवक्वता की तारीख़ पूर्व-निर्धारित होती है जिसके अनुसार मूल धन का भुगतान हो जाता है।

बाण्ड जारी करते समय ही उसकी अवधि (एक वर्ष से तीस या उससे भी ज्यादा वर्ष) तय कर दी जाती है (जितनी लम्बी अवधि उतना ही ज्यादा आमदनी)।

कोई भी कम्पनी, कॉरपोरेशन, एशियाई बैंक या विश्व बैंक जैसी किसी भी संस्था द्वारा पूँजी उगाहने के लिए अपने बाण्ड्स जारी किये जा सकते हैं। सरकारें भी बाण्ड्स जारी करती हैं ताकि सड़कें बनवाने और अन्य विकास कार्यों में खर्च करने के लिए राजस्व के अतिरिक्त धन उगाह सकें। बाण्ड्स की कुछ महत्वपूर्ण श्रेणियाँ इस प्रकार हैं : घरेलू बाण्ड्स अपने देश के भीतर ही जारी किये और बेचे जाते हैं। विदेशी बाण्ड्स कोई देश अपनी मुद्रा में जारी करता है पर दूसरे देश में उसकी मुद्रा में बेचता है। इन बाण्ड्स को दो देशों से खरीद कर तीसरे देश में भी बेचा जा सकता है। मानक अंतर्राष्ट्रीय बाण्ड्स के रूप में युरोबाण्ड्स जिस देश से जारी होते हैं उसकी मुद्रा में नहीं होते और दुनिया भर के पूँजी बाजारों में बेचे जाते हैं। भारतीय कम्पनियों द्वारा जारी युरोबाण्ड्स को आम तौर पर फ़ारेन करेंसी कंवर्टेबिल बाण्ड्स की संज्ञा दी जाती है। विदेशी ऋण प्राप्तकर्ता अमेरिकी निवेशकों के लिए याँकी बाण्ड्स जारी करते हैं। इनका भुगतान डॉलरों में होता है और इन्हें अमेरिकी सिक्कुरिटीज़ ऐंड एक्सचेंज कमीशन में पंजीकृत किया जाता है। जापान में विदेशी कम्पनियों और सरकारों द्वारा समुरायी बाण्ड्स जारी किये जाते हैं। इनका निपटान केवल जापान में ही हो सकता है। इनमें दोहरी मुद्रा चलती है, यानी भुगतान और ब्याज येन में पर मूल धन की अदायगी किसी विदेशी मुद्रा में हो सकती है। इनके अलावा बाजार में ड्रेगन बाण्ड्स, सबाडीनेट बाण्ड्स, सीनियर बाण्ड्स, परिवर्तनीय बाण्ड्स, कालबेल बाण्ड्स, जीरो-कूपन बाण्ड्स और इंफ्लेशन इंडेक्स्ड बाण्ड्स भी प्रचलित हैं। म्युचुअल फ़ण्ड्स का अर्थ होता है निवेशकों के किसी समूह द्वारा जमा किया गया शेयरों, प्रतिभूतियों और बाण्ड्स का संग्रह जिसका एक पेशेवर निवेश कम्पनी प्रबंधन करती है। इन फ़ण्ड्स को युनिट ट्रस्ट्स भी कहते हैं। इनसे निवेशकों को बेहतर आय होती है, क्योंकि इनकी प्रबंधक कम्पनी बाजार के हालात का पूरी ध्यान रख कर इनका बंदोबस्त करती है। सीधे बाजार से जुड़ कर जोखिम में फँसने के बजाय निवेशक अपना धन म्युचुअल फ़ण्ड्स में लगाना बेहतर समझते हैं। बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ, ब्रोकरेज हाउस और बैंक भी म्युचुअल फ़ण्ड्स खड़े करते हैं।

पेंशन फ़ण्ड्स और हेज़ फ़ण्ड्स का भी चलन है। कर्मचारियों के वेतन से होने वाले स्वैच्छिक कटौती तथा योगदानों के ज़रिये पेंशन फ़ण्ड्स का निर्माण होता है। सारी दुनिया में इस समय इन फ़ण्ड्स में अरबों डॉलर जमा हैं। हालाँकि ये अत्यधिक नियंत्रित, अपेक्षाकृत कम भूमण्डलीकृत

और अधिक दीर्घकालिक होते हैं, पर इसके बावजूद इन्हें भी तेज़ी से निवेश के महत्वपूर्ण स्रोत के रूप में विकसित किया जा रहा है।

हेज़ फ़ण्ड्स को समझने के लिए हेज़िंग को समझना ज़रूरी है। हेज़िंग का मतलब है शेयरों के स्टॉक के क्रय-विक्रय से संबंधित व्यवहार प्रक्रिया। अगर किसी मुद्रा के मूल्य में अन्य मुद्राओं की अपेक्षा वृद्धि होती है तो उनके मूल्य-वर्ग में किये गये निवेश कोष को उस बढ़ी हुई मुद्रा में परिवर्तित करने पर उस निवेश की क्रामत घट जाती है। इसी से बचने के लिए फ़ण्ड्स द्वारा हेज़िंग की जाती है। हेज़िंग की प्रक्रिया में फ़्यूचर्स अनुबंध खरीदे जाते हैं अर्थात् किसी मुद्रा को पूर्व-निर्धारित विनिमय दर पर खरीद कर सौदे में हो सकने वाले घाटे की भरपाई की पेशबंदी कर ली जाती है।

इन फ़ण्ड्स के अलावा स्टॉक फ़ण्ड्स, बाण्ड फ़ण्ड्स, पूँजी बाजार फ़ण्ड्स, अनियतकालीन फ़ण्ड्स, नियतकालीन फ़ण्ड्स, ग्लोबल फ़ण्ड्स, रीजनर फ़ण्ड्स, कंट्री फ़ण्ड्स और ऑफ़शोर फ़ण्ड्स भी प्रचलित हैं।

ग्लोबल डिपॉजिटरी रिसीट्स (जीडीआर) उन वित्तीय उपकरणों को कहते हैं जिनका मोल-तोल किया जा सकता है और जिनसे अंतर्राष्ट्रीय पूँजी बाजार में इक्विटी पूँजी उगाही जा सकती है। जीडीआर जारी करने वाली कम्पनियाँ इन बैंकों को अपने देश से बाहर जीडीआर जारी करने के लिए अधिकृत करती हैं। इन्हें किसी भी विदेशी शेयर बाजार में अधिसूचित किया जा सकता है और अनिवासी इन्हें विदेशों में खरीद या स्थानांतरित कर सकते हैं।

देखें : अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, पेटेंट, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, भूमण्डलीकरण : भारतीय अर्थव्यवस्था का, भारत में पेटेंट क़ानून, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भारत में शेयर संस्कृति, भूमण्डलीकरण, भूमण्डलीकरण का इतिहास-1 और 2, भूमण्डलीकरण और पूँजी बाजार, भूमण्डलीकरण और लोकतंत्र, भूमण्डलीकरण और राज्य, भूमण्डलीकरण और राष्ट्रीय सम्प्रभुता, भूमण्डलीकरण और वित्तीय पूँजी, भूमण्डलीकरण के आलोचक, भूमण्डलीकरण के खिलाफ़ प्रतिरोध, विश्व बैंक, विश्व व्यापार संगठन।

संदर्भ

1. ए.वी. रजवाड़े (1996), *फ़ारेन एक्सचेंज इंटरनैशनल फ़ाइनेंस ऐंड रिस्क मैनेजमेंट*, एकेडमी ऑफ़ बिजनेस स्टडीज़, नयी दिल्ली।
2. रिजर्व बैंक ऑफ़ इण्डिया (1996), *रिपोर्ट ऑन करेंसी ऐंड फ़ाइनेंस*, बाम्बे, वार्षिक।
3. कवलजीत सिंह (1999), *पूँजी का भूमण्डलीकरण*, ऋतिका प्रकाशन, नयी दिल्ली।

— अभय कुमार दुबे

भूमण्डलीकरण, भारतीय अर्थव्यवस्था का

(Globalization of Indian Economy)

भारत ने भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया में अपनी भागीदारी घोषणापूर्वक 1990 में शुरू की, पर उसकी भूमिका दुनिया के अन्य हिस्सों के भूमण्डलीकरण की तरह अस्सी के दशक में ही बननी शुरू हो चुकी थी। अस्सी के दशक में ही अनिवासी भारतीय (एन.आर.आई) नामक समुदाय का भारतीय अर्थतंत्र के लिए महत्त्व बढ़ा। यह राष्ट्रवाद की पारम्परिक अवधारणा में तब्दीली का संकेत था। इसका मतलब था कि भारतीय राष्ट्र के हित देश की भौगोलिक सीमाओं के परे भी स्थित हो सकते थे। जो इस देश को छोड़ कर कभी न वापस आने के लिए चले गये थे, वे बिना वापसी किये इस देश में रहने वालों से केवल इसलिए महत्त्वपूर्ण लगने लगे थे कि उनके पास पूँजी, आधुनिक प्रौद्योगिकी और प्रबंधन की तकनीकें थीं। इसी दशक में भारत ने निकनेट के जरिये इंटरनेट की दुनिया में क़दम रखा। उपग्रहीय चैनलों ने इसी दशक में शहरी मध्यवर्ग के ड्राइंग रूमों में प्रवेश किया। नेहरू युग में अपनायी गयी विकास नीति आयात प्रतिस्थापन के सिद्धांत पर आधारित थी, पर अस्सी के दशक में राजीव गाँधी के नेतृत्व में अर्थव्यवस्था ने निर्यातोन्मुख विकास के रास्ते पर क़दम बढ़ा दिये थे। निर्यात योग्य जिंसों के उत्पादन के लिए आयात बढ़ाना ज़रूरी था। इसके परिणामस्वरूप विदेशी मुद्रा का खर्च बढ़ा। विदेशी मुद्रा कोष की हालत यह हो गयी कि भारत के पास केवल दो हफ्ते के आयात बिल का भुगतान करने की क्षमता रह गयी।

विदेशी मुद्रा संकट गहराते ही तत्कालीन कांग्रेस सरकार (जिसने जून, 1990 में ही शपथ ली थी) ने प्रमुख विपक्षी नेताओं की एक कमरा बंद बैठक बुलायी जिसमें उन्हें सूचना दी गयी कि देश दिवालिया होने के कगार पर खड़ा है। तत्कालीन प्रधानमंत्री और कांग्रेस के नेतृत्व में अल्पमतीय सरकार की अगुआयी कर रहे पी.वी. नरसिंह राव का कहना था कि अब अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से क़र्ज लेने के अलावा उनके सामने कोई चारा नहीं है। राव ने विपक्ष से समर्थन माँगा कि वे अर्थव्यवस्था को पटरी पर लाने के लिए कुछ कड़े क़दम उठाना चाहते हैं। विपक्ष इस प्रश्न पर ज़्यादा कुछ कहने की स्थिति में नहीं था। पिछली सरकार विश्वनाथ प्रताप सिंह की थी जिसे मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी और भारतीय जनता पार्टी ने संयुक्त रूप से समर्थन दिया था। वह सरकार पहले से ही मुद्रा कोष से इस तरह की बातचीत चला रही थी।

मुद्रा कोष से क़र्ज लेने का मतलब था अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूँजी द्वारा निर्देशित ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम

अपनाने का फ़ैसला करना। अर्थात् लोकहितकारी राज्य की संरचना की जगह बाज़ारोन्मुख नीतियाँ अपनाना, आयात प्रतिस्थापन की जगह निर्यातोन्मुख विकास की रणनीति अख़्तियार करना, बड़े पैमाने पर निजीकरण का कार्यक्रम चलाना, विदेशी पूँजी को प्रोत्साहन देने वाली नीतियों का सूत्रीकरण करना और लाइसेंस-परमिट राज ख़त्म करके वाणिज्य और उद्योग नीति में भारी बदलाव करना।

राव सरकार ने इस व्यापक और दूरगामी परिवर्तन की घोषणा करने से पहले उसकी ज़मीन बनाने के लिए क़दम उठाये। जून, 1990 में शपथ लेने वाली सरकार ने जुलाई के पहले तीन दिनों में रुपये का दो चरणों में बीस फ़ीसदी अवमूल्यन किया। निर्यात सबसिडी ख़त्म करने का फ़ैसला किया, और फटाफट नयी वाणिज्य नीति बना डाली जिस पर सरकार के अन्य सदस्यों ने आसानी से अपनी मुहर लगा दी। नयी उद्योग नीति पर पहले कांग्रेस की मंत्रिपरिषद् में चर्चा हुई, और नीति-प्रस्ताव की भाषा में दिखावे के लिए नेहरू का लिखा हुआ एक पैरा, इंदिरा गाँधी के कुछ वाक्य और राजीव गाँधी के कुछ कथन जोड़ दिये गये। ऐसा दिखाया गया कि मानो यह नीति नेहरू के समाजवाद का ही अगला क़दम है। चौबीस जुलाई, 1991 को इस उद्योग नीति की घोषणा हुई और इसी दिन दोपहर बाद पेश किये गये केंद्रीय बजट द्वारा भारत ने भूमण्डलीकरण के रास्ते पर चलने का एलान कर दिया। यह परिघटना इतनी व्यापक थी कि जीवन का कोई भी क्षेत्र इससे अछूता न रह सका। पुराने जमे हुए राष्ट्रवादी पूँजीपतियों से लेकर सूचना प्रौद्योगिकी के व्यवसाय से बने नये उद्योगपतियों तक, पब्लिक सेक्टर के नौकरशाहों से लेकर राजनीतिक दलों और जनपक्षीय आंदोलनकारियों तक, हाशियाग्रस्त समुदायों के पक्ष में सोचने वालों, मार्क्सवादियों, नक्सलवादियों, आधुनिकता के आलोचकों, नागरिक अधिकारवादियों, गाँधीवादियों और पर्यावरणवादियों तक को इसके पक्ष-विपक्ष में अपनी राय बनानी पड़ी। मार्क्सवादियों ने इसे पूँजीवाद का सर्वव्यापकीकरण बताते हुए साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष के दायरे में व्यूह रचना का ऐलान किया। गाँधीवादियों ने देखा कि भूमण्डलीकरण गाँव की जगह शहर और नागरिक की जगह उपभोक्ता को स्थापित करने का आग्रह लेकर आया है। राष्ट्रवादी भी चिंतित हुए। उनके एक हिस्से को लगा कि यह परिघटना तो राष्ट्र की आधारभूत संरचना को ही सत्ता और प्राधिकार से वंचित कर देगी। लेकिन, उनके एक दूसरे हिस्से ने कुछ दिनों के बाद भूमण्डलीकरण की ताकतों के साथ सौदेबाज़ी भी शुरू कर दी। सूचना क्रांति की प्रौद्योगिकी का सहारा लेकर वे जनता को नये तरीकों से नियंत्रित करने के प्रयोजन में लग गये। राष्ट्रवादियों की इस क्रिस्म का खयाल था कि वे अपनी सम्प्रभुता का एक हिस्सा त्याग कर उसके बदले

भूमण्डलीकरण से कहीं ज्यादा हासिल कर सकते हैं। आधुनिकता के आलोचकों ने कुछ खुशी और कुछ संदेह के मिले-जुले स्वरो के साथ भूमण्डलीकरण का स्वागत किया। उन्हें एक तरफ तो भूमण्डलीकरण का फायदा उठा कर राष्ट्रवाद के कारागार के खिलाफ बग़ावत की उम्मीद थी, दूसरी तरफ़ कुछ डर भी लग रहा था कि कहीं भूमण्डलीकरण अपनी पश्चिम केंद्रीयता और चरम बाज़ारवाद के कारण विकल्पों की सम्भावनाओं को ही नष्ट न कर दे। भूमण्डलीकरण को सकारात्मक निगाहों से देखने वालों की मान्यता थी कि सूचना क्रांति के आयाम, सूचना समाज की रचना और साइबर स्पेस की निराकार दुनिया भारतीय समाज को एक नयी नागरिकता की सौगात देगी।

इस वाद-विवाद के बीच कुछ बातें व्यावहारिक रूप से स्पष्ट थीं। नये आर्थिक निज़ाम का मतलब था भारतीय अर्थव्यवस्था का विश्व बाज़ार के साथ जुड़ते चले जाना, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व व्यापार संगठन को अपने कामों और नीतियों का हिसाब देना, अंतर्राष्ट्रीय रेटिंग एजेंसियों से सनद प्राप्त करते रहना, अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूँजी की गतिविधियों से भारतीय अर्थव्यवस्था को प्रभावित होने देना, सामाजिक-आर्थिक जीवन के गठन के लिए एंग्लो-अमेरिकी कॉरपोरेट मॉडल को आदर्श मान लेना और अमेरिकीकरण की संस्कृति के बुलडोज़र के नीचे विविधताओं और बहुलताओं की प्रतीक भारतीय संस्कृति को कुचलने के लिए छोड़ देना।

24 जुलाई, 1991 को पेश किये गये उस ऐतिहासिक बजट के लगभग दो दशक बाद स्थिति यह है भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया अपने तमाम आलोचकों, प्रतिरोध में खड़ी शक्तियों और लोकतंत्र के तबाह-बर्बाद हो जाने की भविष्यवाणियों को धता बताते हुए तक्ररीबन अबाध गति से चल रही है। भारतीय समाज अपने जीवन में शायद ही कभी इतनी तेज़ गति से बदला हो, जितना इस दौर में उसने परिवर्तन देखा है। मध्य वर्ग का खान-पान, रहन-सहन, स्त्री-पुरुष संबंध, परिवार की संस्था, अन्य नाते-रिश्ते, राजनीतिक कार्रवाई के स्वरूप, विचारधाराओं का प्रभाव, मीडिया और मनोरंजन के दायरे, शहरीकरण की रफ़्तार और कुल मिला कर भारतीय आधुनिकता का स्तर पहले जैसा नहीं रह गया है। इन परिवर्तनों को परिभाषित करना आसान नहीं है। लगभग हर परिवर्तन पर स्वतंत्र शोध की ज़रूरत है।

लेकिन, जिस तरह भूमण्डलीकरण के तहत हुए परिवर्तन की व्यापकता और तेज़ रफ़्तार की हकीकत से इनकार नहीं किया जा सकता, उसी तरह इस यथार्थ की उपेक्षा भी नहीं की जा सकती कि उसका लाभ अधिकांशतः अमीरों और साधनसम्पन्नों को ही नसीब हुआ है। अभी भूमण्डलीकरण अपना वह वायदा पूरा करने से काफ़ी दूर है

जिसके मुताबिक़ उसकी पैरोकार ताक़तों ने वायदा किया था कि उसके कारण भारत को उसका राजनीतिक-आर्थिक और सांस्कृतिक मोक्ष मिल जाएगा। अभी तक तो वह बाज़ारों को एक करने वाले और मनुष्य को बाँटने वाले तंत्र के रूप में उभरा है। उसके तहत बाज़ार की ताक़त को अंतिम सत्य मान लिया गया है, पर वह अभी तक सामाजिक क्षेत्र की ज़रूरतों के साथ संतुलन बैठा पाने में नाकाम साबित हुआ है। इसने समाज के ग़रीब और निचले तबक़े को और अधिक विपन्न करके विषमता को बढ़ाया है।

देखें : अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, पेटेंट, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, भारत में पेटेंट क़ानून, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भारत में शेयर संस्कृति, भूमण्डलीकरण, भूमण्डलीकरण का इतिहास-1 और 2, भूमण्डलीकरण और पूँजी बाज़ार, भूमण्डलीकरण और लोकतंत्र, भूमण्डलीकरण और राज्य, भूमण्डलीकरण और राष्ट्रीय सम्प्रभुता, भूमण्डलीकरण और वित्तीय पूँजी, भूमण्डलीकरण और वित्तीय उपकरण, भूमण्डलीकरण के आलोचक, भूमण्डलीकरण के खिलाफ़ प्रतिरोध विश्व बैंक, विश्व व्यापार संगठन।

संदर्भ

1. गुरुचरण दास (2000), *इण्डिया अनबाउंड*, वाइकिंग, नयी दिल्ली.
2. निर्मल कुमार चंद्रा (2002), 'इण्डिया इन द नाइटीज़ : द इम्पेक्ट ऑफ़ ग्लोबलाइज़ेशन', *चाइना रिपोर्ट*, खण्ड 38, अंक 1.
3. कुमार मंगलम बिड़ला (2002), 'नो व्हेयर क्लोज़ टु रियल ग्लोबलाइज़ेशन', *इकॉनॉमिक टाइम्स*, नयी दिल्ली, 4 नवम्बर.
4. अभय कुमार दुबे (सम्पा.) (2003), *भारत का भूमण्डलीकरण*, वाणी, नयी दिल्ली.

— अभय कुमार दुबे

भूमण्डलीकरण के आलोचक

(Critics of Globalization)

बीसवीं सदी में नब्बे के दशक से नयी सदी के पहले दशक के आखिरी सालों के बीच भूमण्डलीकरण सबसे ज्यादा बहसतलब परिघटना रही है। इस विवाद ने विचार, राजनीति और अर्थव्यवस्था के दायरों को भूमण्डलीकरण के समर्थकों और आलोचकों में बाँट दिया है। भूमण्डलीकरण विरोधी ध्रुव पर जमी हुई शक्तियाँ वैसे तो अलग-अलग दृष्टिकोणों से इस परिघटना के खिलाफ़ हैं, पर उनके बीच कुछ विचारों के मामले में स्पष्ट समानता है। मसलन, ये सभी आलोचक मानते

हैं कि बीसवीं सदी के आखिरी सालों में दुनिया के बड़े 'शासक अभिजनों' ने अपने निजी हितों की खातिर विश्व बाजार का विस्तार करने के लिए पूँजीवादी भूमण्डलीकरण का ताना-बाना बुना है। ब्रेटन वुड्स संस्थाओं, पश्चिम और पूर्व के विकसित पूँजीवादी देशों और बहुराष्ट्रीय निगमों के तिगड्डे ने मिल कर ग्लोबल संरचनाएँ खड़ी की हैं, जिनकी कारिस्तानी के तहत एक अनिच्छुक संसार पर ऊपर से भूमण्डलीकरण थोपा जा रहा है।

भूमण्डलीकरण के आलोचक बड़ी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की अनियंत्रित सत्ता, व्यापार समझौतों और कमजोर नियंत्रण वाले वित्तीय बाजारों के जरिये उस सत्ता के कार्यान्वयन का विरोध करते हैं। इन आलोचकों का बहुराष्ट्रीय निगमों पर आरोप है कि वे अपना मुनाफ़ा बढ़ाने के लिए श्रम सुरक्षा की स्थितियों और मानकों, श्रमिकों को काम पर लगाने और मुआवज़ा देने के मानकों, पर्यावरण संरक्षण के सिद्धांतों, राष्ट्रीय विधायी प्राधिकार, स्वतंत्रता और सम्प्रभुता की शर्तों का उल्लंघन करते हैं। भूमण्डलीकरण विरोधी आंदोलन ग्लोबल जस्टिस मूवमेंट, आल्टर-ग्लोबलाइजेशन मूवमेंट, एंटी-कॉर्पोरेट ग्लोबलाइजेशन मूवमेंट जैसे नामों से जाना जाता है।

भूमण्डलीकरण के आलोचकों ने नियोजित आर्थिक सिद्धांत के आधार पर काम कर रहे इस ग्लोबल निज़ाम पर 'ट्रबो-कैपिटलिज़्म', 'मार्केट फ़ंडामेंटलिज़्म', 'कैसीनो कैपिटलिज़्म', 'कैसर-स्टेट कैपिटलिज़्म' और 'मैक-वर्ल्ड' जैसे लक्रब चर्चाएँ किये हैं। उनकी आलोचना का मुख्य निशाना विश्व बैंक (आईबीआरडी), अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (आईएमएफ़), ऑर्गनाइजेशन फ़ॉर इकॉनॉमिक कोऑपरेशन ऐंड डिवेलपमेंट (ओईसीडी), विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यूटीओ), नॉर्थ अमेरिकन फ्री ट्रेड एग्रीमेंट (नाफ़्टा), फ्री ट्रेड एरिया ऑफ़ अमेरिकाज़ (एफ़टीए), मल्टीलेटरल एग्रीमेंट ऑफ़ इन्वेस्टमेंट (एमआई) और जनरल एग्रीमेंट ऑफ़ ट्रेड इन सर्विसेज़ (गेट्स) जैसी संस्थाएँ और संधियाँ हैं। आलोचक वर्ल्ड इकॉनॉमिक फ़ोरम (डब्ल्यूईएफ़), ट्रांस अटलांटिक बिजनेस डायलॉग (टीएबीडी) और एशिया-पैसिफ़िक इकॉनॉमिक कोऑपरेशन (एपीईसी) जैसे व्यापारिक गठजोड़ों का भी विरोध करते हैं जिनकी वजह से ग्लोबल निज़ाम को प्रोत्साहन मिलता है।

भूमण्डलीकरण विरोधी कार्यकर्ताओं और नेताओं का तर्क है कि अगर राष्ट्रीय सीमाएँ वित्तीय पूँजी के आवागमन के लिए खुली होनी चाहिए, तो उन्हें साधारण व्यक्तियों के आने-जाने के लिए खोलने में आपत्ति क्यों की जानी चाहिए, किसी भी व्यक्ति को कहीं भी आने-जाने और बसने की इजाज़त क्यों नहीं दी जानी चाहिए। भूमण्डलीकरण विरोधी मानते हैं कि नये ग्लोबल आर्थिक निज़ाम में अमेरिका का

वर्चस्व है। अमेरिकी डॉलर के प्रभुत्व का कारण अमेरिका की आर्थिक श्रेष्ठता ही नहीं है, बल्कि इस मुद्रा का प्रभुत्व हासिल करने के लिए ब्रेटन वुड्स प्रणाली और तेल का केवल डॉलर में व्यापार करने के नियमों का इस्तेमाल किया गया है।

भूमण्डलीकरण के आलोचक जैसे ही आलोचना से परे जा कर विकल्प के प्रश्न पर अपनी राय पेश करते हैं, उनके बीच समानताएँ खत्म हो जाती हैं और विभेद शुरू हो जाते हैं। इनका एक हिस्सा राष्ट्रवादी क्रिस्म का है, जैसे फ्रेंच नेशनलिस्ट फ्रंट। ऐसे समूहों का तर्क है कि भूमण्डलीकरण के विकल्प में राष्ट्र-राज्य की संस्था को खड़ा करना चाहिए। इनमें से कुछ समूह तो नस्लवादी और फ़ासीवादी तर्क देते भी नज़र आते हैं। भूमण्डलीकरण के आलोचकों का दूसरा हिस्सा राष्ट्रवाद या संरक्षणवाद का समर्थन करने के बजाय दुनिया को राष्ट्रीय सीमाओं में बाँटने के खिलाफ़ है। उन्होंने 'नो बोर्डर नेटवर्क' जैसी संस्थाएँ बना रखी हैं। ये लोग ऊपर से थोपे गये पूँजीवादी भूमण्डलीकरण के खिलाफ़ एक ऐसी ग्लोबल एकजुटता के रूपों के समर्थक हैं जिससे बेहतर लोकतांत्रिक प्रतिनिधित्व, मानवाधिकारों की प्रगति और बेहतर लोक-कल्याणकारी सत्ता के विकास का रास्ता साफ़ होता हो। भूमण्डलीकरण विरोधी चिंतन के परिणामस्वरूप ऐसी कई रचनाएँ सामने आयी हैं जिन्होंने इस आंदोलन को प्रेरणा और गति प्रदान की है। ऐसी सर्वप्रमुख रचनाओं में से एक है कनाडा की पत्रकार नओमी क्लिन की पुस्तक 'नो लोगो' जिसमें बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा अपनायी जाने वाली उत्पादन रणनीतियों और लोकप्रिय संस्कृति पर छापी ब्रांड प्रधान मार्केटिंग की आलोचना की गयी है। यह पुस्तक भूमण्डलीकरण के आलोचकों का घोषणापत्र जैसा बन गयी है। भारत की विख्यात इको-फ़ेमिनिस्ट बंदना शिवा की रचना 'बायोपाइरेसी' में दिखाया गया कि कैसे देशज लोगों की प्राकृतिक पूँजी को बौद्धिक सम्पदा के रूपों में बदल दिया जाता है ताकि उसे किसी की व्यापारिक मिल्कियत बनाया जा सके। फ़्रांस में मासिक पत्र *ल मोंद डिप्लोमैतिक* ने भूमण्डलीकरण विरोधी विचारों को प्रकाशित करने में अग्रगामी भूमिका का निर्वाह किया है। यह पत्र भूमण्डलीकरण के खिलाफ़ आंदोलन को संस्थागत रूप देने के लिए भी जाना जाता है। ट्रांसनेशनल इंस्टीट्यूट की सूसन जॉर्ज 1986 से ही भूख, ऋण, अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं और पूँजीवाद के बारे में लगातार पुस्तकें लिख रही हैं। ज्याँ जीगलर, क्रिस्टोफ़र चेस-डन और इमैनुएल वालस्टीन ने अपनी रचनाओं में पूँजीवादी प्रणाली के कारण पैदा हुए विकास और निर्भरता के संकट की ओर लगातार ध्यान खींचा है। भूमण्डलीकरण के संदर्भ में नोआम चोमस्की और सूसन सोंटाग अमेरिकी विदेश नीति की आलोचना के लिए चर्चित हैं।

नियोलिबरल उसूलों को मानने वाले अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संगठनों की कार्रवाई को आलोचनात्मक निगाह से देखने वाले कई अर्थशास्त्रियों ने भी भूमण्डलीकरण विरोधी आलोचना को बल प्रदान किया है। जरूरी नहीं कि ये सभी विद्वान खुद को भूमण्डलीकरण की आलोचना करने वालों की श्रेणी में रखते हों। इनमें अमर्त्य सेन, जेम्स टोबिन और जोसेफ ई. स्टिगलिट्ज प्रमुख हैं जिन्हें अर्थशास्त्र में नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया जा चुका है। अमर्त्य सेन ने अपनी रचना 'डिवेलपमेंट एज प्रीडम' में तर्क दिया है कि विकास की अवधारणा को राष्ट्रीय आमदनी या प्रति व्यक्ति आय या कुल घरेलू उत्पाद के रूप में परिभाषित करने के बजाय मानवीय क्षमता के विस्तार के रूप में समझना चाहिए। इसके लिए स्वास्थ्य और शिक्षा पर जोर देने वाली नीतियों को प्रमुखता देनी होगी। जेम्स टोबिन ने प्रत्येक वित्तीय लेन-देन पर एक खास तरह का टैक्स लगाने का सुझाव पेश किया है जिसके कारण वित्तीय पूँजी के बेरोकटोक प्रवाहों को कुछ न कुछ नियंत्रित किया जा सकता है। टोबिन टैक्स नामक यह प्रस्ताव भूमण्डलीकरण के आलोचकों के एजेंडे में शामिल हो चुका है। इसी तरह से जॉर्ज सोरोस और डेविड कोर्टन के साथ जोसेफ स्टिगलिट्ज ने ग्लोबल अर्थव्यवस्था में पारदर्शिता लाने, ऋण राहत के प्रावधान करने, भूमि सुधारों की नीतियाँ लागू करने और कॉरपोरेट उत्तरदायित्व की प्रणाली में सुधार करने की वकालत करके भूमण्डलीकरण के आलोचकों को कई तर्क प्रदान किये हैं।

देखें : अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, पेटेंट, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, भूमण्डलीकरण : भारतीय अर्थव्यवस्था का, भारत में पेटेंट कानून, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भारत में शेरर संस्कृति, भूमण्डलीकरण, भूमण्डलीकरण का इतिहास-1 और 2, भूमण्डलीकरण और पूँजी बाजार, भूमण्डलीकरण और लोकतंत्र, भूमण्डलीकरण और राज्य, भूमण्डलीकरण और राष्ट्रीय सम्प्रभुता, भूमण्डलीकरण और वित्तीय पूँजी, भूमण्डलीकरण और वित्तीय उपकरण, भूमण्डलीकरण के खिलाफ प्रतिरोध, विश्व बैंक, विश्व व्यापार संगठन।

संदर्भ

1. डोनाटेला डेला पोर्ट (सम्पा.) (2006), *द ग्लोबल जस्टिस मूवमेंट: क्रॉस-नैशनल एंड ट्रांसनैशनल पर्सपेक्टिव्स*, पैराडाइम, न्यूयॉर्क.
2. सूजन स्ट्रेंज (1986), *कैसिनो कैपिटलिज्म*, ब्लैकवेल, ऑक्सफर्ड.
3. पॉल किंग्सवर्थ (2004), *वन नो, मेनी यसिज : अ जर्नी टु द ग्लोबल रजिस्टेंस मूवमेंट*, फ्री प्रेस, लंदन.
4. नाओमी क्लिन (2000), *नो लोगो, प्रलेमिंगो*, न्यूयॉर्क.
5. डेविड कोर्टन (1995), *व्हेन कॉरपोरेशंस रूल द वर्ल्ड*, अर्थस्केन पब्लिकेशंस, न्यूयॉर्क.

— अभय कुमार दुबे

भूमण्डलीकरण के खिलाफ प्रतिरोध

(Resistance Against Globalization)

पूँजीवादी भूमण्डलीकरण के खिलाफ सारी दुनिया में दो स्तरों पर संघर्ष चलाया जा रहा है। एक तरफ तो ग्रासरूट्स (ज़मीनी) गोलबंदियाँ की जा रही हैं, और दूसरी तरफ ग्लोबल पैमाने पर सीधी कार्रवाई और नागरिक अवज्ञा की विकेंद्रीकृत जन-मुहिमें चलाई गयी हैं। कुछ प्रमुख ग्रासरूट्स संगठन इस प्रकार हैं : दक्षिण अफ्रीका में वेस्टर्न केप एंटी-एक्शन कैम्पेन, भारत में नर्मदा बचाओ आंदोलन और आज़ादी बचाओ आंदोलन, संयुक्त राज्य अमेरिका में मूवमेंट फ़ार जस्टिस ऐन अल बारियो, ब्राज़ील में होमलैस वर्कर्स आंदोलन, मैक्सिको में ईज़ैडएलएन, हैती में फ़ानमी लावालास, दक्षिण अफ्रीका में लैण्डलैस पीपुल्स मूवमेंट। भूमण्डलीय स्तर पर पीपुल्स ग्लोबल एक्शन नेटवर्क और वर्ल्ड सोशल फ़ोरम के जरिये भूमण्डलीकरण के खिलाफ सक्रिय विभिन्न शक्तियों को बड़े-बड़े विरोध प्रदर्शनों और एकजुटता प्रदर्शित करने वाले जन-समारोहों में उतारा जाता है। भूमण्डलीकरण विरोधी आंदोलन का एक बड़ा माध्यम इंटरनेट और न्यू मीडिया भी है। नब्बे के दशक में जब अमीर देशों के संगठन ओईसीडी ने सीमाओं के आर-पार निवेश और व्यापार पर लगी पाबंदियों को हटाने के लिए मल्टीलेटरल एग्रीमेंट ऑन इन्वेस्टमेंट (एमएआई) जैसे बहु-पक्षीय समझौते की पहलकदमी ली तो राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय पैमाने पर सक्रिय नागर समाज समूहों ने इसके विरोध में नेट पर ज़बरदस्त मुहिम चलाई। 1998 में बढ़ते हुए विरोध और आलोचना के सामने ओईसीडी देशों को यह पहलकदमी छोड़नी पड़ी।

ग्लोबल स्तर पर होने वाली भूमण्डलीकरण विरोधी आंदोलनकारी कार्रवाई की खास बात यह है कि वह किसी एक विकल्प या किसी एक नारे और लक्ष्य या किसी एक संगठन के तहत एकताबद्ध होने से बचती है। उसका मकसद वित्तीय पूँजी की ग्लोबल ताकतों के खिलाफ प्रतीकात्मक विरोध दर्ज कराना तो है ही, साथ ही वह अपने विशाल जमावड़ों के जरिये सारी दुनिया में स्थानीय स्तर पर संघर्ष कर रहे अनगिनत संगठनों को आपस में नेटवर्किंग का मौक़ा भी देती है। किसी एक विचारधारा और किसी एक मसीहाई नेता के नेतृत्व से बचने के आग्रह के कारण इस संघर्ष के भीतर कार्रवाई के रूपों को लेकर एक तरह की जद्दोजहद चलती रहती है। कहा जाता है कि अपनी इन्हीं प्रवृत्तियों के कारण यह संघर्ष एकता की कमी, संकेंद्रित और प्रभावी संगठन के

अभाव का शिकार है। लेकिन दूसरी तरफ़ एंतोनियो नेगरी और माइकेल हार्ट जैसे भूमण्डलीकरण विरोधी सिद्धांतकारों ने इस साझा लक्ष्यों के लिए की जाने वाली ऐसी विशाल कार्रवाइयों की संज्ञा दी है जिसमें जनता सांगठनिक एकता न होते हुए भी एक साथ मार्च करती है। ऐसे सिद्धांतकारों का तर्क है कि औपचारिक समन्वयकारी संस्थाओं की गैर-मौजूदगी के कारण ही नियोलिबरल आर्थिक सिद्धांत के खिलाफ़ संघर्षरत ताकतें अपनी राजनीतिक और सांगठनिक अस्मिता खोने के खतरे का सामने किये बिना एक मंच पर आने के लिए तैयार हो पाती हैं। उनके बीच में सूचनाओं और साहित्य का आदान-प्रदान करने की सुविधा सूचना प्रौद्योगिकी के कारण उपलब्ध हो जाती है। आंदोलनकारी खुद को अस्थायी तौर पर साझी प्रकृति के 'एफ़िनटी समूहों' में संगठित कर लेते हैं। इन समूहों में किसी क्रिस्म की पदानुक्रम आधारित सांगठनिक व्यवस्था नहीं होती। ये एफ़िनटी ग्रुप संघर्ष की योजना बनाने वाली बैठकों में अपने प्रतिनिधि भेजते हैं। प्रवर्तन एजेंसियों द्वारा घुसपैठ के अंदेशों को नाकाम करने के लिए राजनीतिक कार्रवाई की योजनाएँ आखिरी मिनट में ही बनायी जाती हैं।

भूमण्डलीकरण विरोधी संघर्ष ग्लोबल कॉरपोरेट सम्मेलनों और बैठकों को अपना निशाना बनाता है। उसका मकसद होता है सम्मेलन की जगहों के बाहर बहुत बड़े पैमाने पर लाखों की संख्या में जमा हो कर प्रदर्शन करना और सम्मेलन के भीतर चल रही समझौता वार्ताओं को प्रश्नांकित करते हुए वर्ल्ड मीडिया के जरिये दृश्यमानता हासिल करना। हालाँकि इस तरह के प्रदर्शनों से कॉरपोरेट सम्मेलनों की कार्यवाही में कोई वास्तविक विघ्न तो नहीं पड़ता, लेकिन ऐसे हर विरोध प्रदर्शन से भूमण्डलीकरण विरोधी कार्रवाइयों को दुनिया के पैमाने पर नयी ऊर्जा मिलती है। हालाँकि इन विरोध प्रदर्शनों का रवैया आम तौर पर लोकतांत्रिक और शांतिपूर्ण होता है, पर जिनेवा, सिएटल और लंदन में बहुराष्ट्रीय निगमों के खिलाफ़ प्रदर्शनकारियों का गुस्सा दंगों की शकल में भी फूटता देखा गया है। मैकडोनाल्ड और स्टारबक्स रेस्त्राँओं पर हमले किये गये हैं। प्रदर्शन के दौरान पुलिस और क्रानून-व्यवस्था क्रायम करने वाली एजेंसियों से टकराव की नौबत भी आती है।

संघर्ष के तौर-तरीकों और रणनीतियों का मुज़ाहिरा सितम्बर, 2000 में आईएमएफ़ और विश्व बैंक के खिलाफ़ प्राग में किये जाने वाले प्रदर्शनों की मिसाल से लिया जा सकता है। इस संघर्ष के दौरान प्रदर्शनकारियों ने तीन समूहों में बँट कर तीन दिशाओं से सम्मेलन स्थल की तरफ़ बढ़ना शुरू किया। एक समूह यलो मार्च के नाम से सविनय अवज्ञा के विभिन्न रूपों का इस्तेमाल कर रहा था। दूसरा समूह पिंक-सिल्वर मार्च के रूप में नाच-गाना-नाटक-संगीत-

कला आदि का प्रदर्शन करते हुए आगे बढ़ रहा था। तीसरी समूह ब्ल्यू मार्च के रूप में बख़्तर और डण्डाधारी पुलिस से पथराव के जरिये टकराव के लिए कमर कसे हुए था। कई प्रदर्शनकारियों ने घायल हो जाने वाले साथियों की मरहमपट्टी के लिए फ़र्स्टेड की ट्रेनिंग भी ले रखी थी। भूमण्डलीकरण विरोधी वकीलों के संगठनों ने गिरफ़्तार होने वाले प्रदर्शनकारियों को क्रानूनी मदद देने का इंतज़ाम कर रखा था। चूँकि प्रदर्शनकारियों को मीडिया पर भरोसा नहीं था, इसलिए उन्होंने अपने स्वतंत्र मीडिया सेंटर भी बना रखे थे।

इस तरह के प्रदर्शनों की शुरुआत 1988 में बर्लिन से हुई जहाँ आईएमएफ़ और विश्व बैंक की सालाना बैठक आयोजित की गयी थी। इसके बाद 1994 में मैड्रिड में इन दोनों संगठनों की पचासवीं वर्षगाँठ के मौक़े पर एक अस्थायी गठजोड़ ने प्रदर्शन आयोजित किये। उनका नारा था : '50 इयर्स इज़ इनफ़'। जिस समय स्पेन के नरेश जुआन कार्लोस सम्मेलन के प्रतिनिधियों को सम्बोधित कर रहे थे, उसी समय दो ग्रीनपीस कार्यकर्ता हाल की छत से उन पर नक़ली डॉलरों की बारिश करने लगे जिन पर नारा लिखा था : 'नो डॉलर्स फ़ार ओज़ोन लेयर डिस्ट्रक्शन'। इस कार्रवाई में कई प्रदर्शनकारी गिरफ़्तार करके जेल भेजे गये। इसी तरह 18 जून, 1999 को लंदन, यूजेन, ओरेगाँव और ऐसे ही कई शहरों में भूमण्डलीकरण विरोधी प्रदर्शन आयोजित किये गये। इसे 'कार्निवाल अगेंस्ट कैपिटलिज़्म' की संज्ञा दी गयी। इस गोलबंदी को संक्षेप में जे-18 के नाम से भी जाना जाता है। इसी वर्ष तीस नवम्बर को एन-30 नामक गोलबंदी भी हुई। इसमें प्रदर्शनकारियों ने सिएटल, वाशिंगटन में डब्ल्यूटीओ की बैठक में जाने वाले प्रतिनिधियों का रास्ता रोक दिया। इसके कारण कार्यक्रम का उद्घाटन समारोह रद्द कर देना पड़ा। ये प्रदर्शन तीन दिसम्बर तक होते रहे। इस घटनाक्रम के बाद से अब आम तौर पर किसी भी बड़े कॉरपोरेट सम्मेलन के मौक़े पर पुलिस और अन्य एजेंसियाँ भूमण्डलीकरण विरोधी प्रदर्शनकारियों से निबटने के लिए ऑसू गैस, लाठियों, रबर और लकड़ी की गोलियों, पानी को तोपों, कुत्तों और घोड़ों से लैस हो कर आती हैं। आंदोलनकारियों को गिरफ़्तार किया जाता है, उन पर मुक़दमे थोपे जाते हैं और कभी-कभी तो नागरिक अधिकारियों द्वारा शहर के चारों तरफ़ दस फुट ऊँची दीवार तक खड़ी कर दी जाती है ताकि केवल सम्मेलन में भाग लेने वाले प्रतिनिधियों, मान्यता प्राप्त पत्रकारों और परिचित नागरिकों को ही भीतर जाने दिया जाए।

भूमण्डलीकरण विरोधी संघर्षों को एक स्थाई फ़ोरम देने का श्रेय विश्व सामाजिक मंच (डब्ल्यूएसएफ़) को जाता है। दावोस में होने वाले भूमण्डलीकरण समर्थक वर्ल्ड इकॉनॉमिक फ़ोरम के मुक़ाबले एक प्रति-फ़ोरम खड़ा करने के मक़सद से संकल्पित किये गये डब्ल्यूएसएफ़ के लिए

2001 में ओडेड ग्रेज्यू, फ्रांसिस चीको व्हिटेकर और बर्नार्ड कैसेन ने पहलकदमी ली। ब्राजीलियन वर्कर्स पार्टी और पोर्टो अलेगरो की शहर कौंसिल ने इसका समर्थन किया। पोर्टो अलेगरो में ही पहले विश्व सामाजिक मंच का सफल आयोजन हुआ। इसका नारा था 'अनदर वर्ल्ड इज पॉसिबिल'। इसके बाद 2002 और 2003 में फिर से पोर्टो अलेगरो में ही इसके आयोजन हुए। इराक़ पर अमेरिकी हमले के खिलाफ़ गोलबंदी में इसकी प्रमुख भूमिका रही। 2004 में विश्व सामाजिक मंच का मुम्बई में आयोजित हुआ ताकि एशिया और अफ्रीका की भागीदारी बढ़ायी जा सके। इसमें करीब 75,000 प्रतिनिधियों ने भाग लिया। 2006 में इसका आयोजन तीन शहरों (वेनेजुएला के काराकास, माली के बमाको और पाकिस्तान के कराची) में हुआ। 2007 में फ़ोरम नैरोबी (केन्या) में किया गया और 2011 का फ़ोरम डाकार (सेनेगल) में प्रस्तावित है।

धीरे-धीरे विश्व सामाजिक मंच एक ऐसा मिलन स्थल बनता जा रहा है जहाँ नियोलिबरल भूमण्डलीकरण के खिलाफ़ संघर्षरत ताक़तें जमा होती हैं, आपस में अनुभवों का आदान-प्रदान करती हैं और एक-दूसरे से सीखती हैं। 2002 से ही युरोप के पैमाने पर भी अलग से सोशल फ़ोरम (पेरिस, लंदन, एथेंस, मालमो) आयोजित किये जा रहे हैं।

देखें : अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, पेटेंट, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, भूमण्डलीकरण : भारतीय अर्थव्यवस्था का, भारत में पेटेंट क़ानून, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भारत में शेर संस्कृति, भूमण्डलीकरण, भूमण्डलीकरण का इतिहास-1 और 2, भूमण्डलीकरण और पूँजी बाज़ार, भूमण्डलीकरण और लोकतंत्र, भूमण्डलीकरण और राज्य, भूमण्डलीकरण और राष्ट्रीय सम्प्रभुता, भूमण्डलीकरण और वित्तीय पूँजी, भूमण्डलीकरण और वित्तीय उपकरण, भूमण्डलीकरण के आलोचक, विश्व बैंक, विश्व व्यापार संगठन।

संदर्भ

1. जॉन होलोवे (2002), *चेंज द वर्ल्ड विदाउट टेकिंग पाँवर : द मीनिंग ऑफ़ रेवोल्यूशन टु डे*, प्लूटो प्रेस, न्यूयॉर्क.
2. नोट्स फ़्रॉम नोव्हेयर (2003), *वी आर एवरीव्हेयर : द इररेजिस्टिबिल राइज़ ऑफ़ ग्लोबल एंटी-कैपिटलिज़्म*, वरसो बुक्स, लंदन.
3. जेफ़री एस. ज़ुरिस (2998), *नेटवर्किंग फ़्यूचर्स : द मूवमेंट अगेंस्ट कॉरपोरेट ग्लोबलाइज़ेशन*, ड्यूक युनिवर्सिटी प्रेस, डरहम.

— अभय कुमार दुबे

भौतिकवाद

(Materialism)

इस जगत का कारण क्या है : अस्तित्व या चेतना? भौतिकवाद इस प्रश्न का उत्तर अस्तित्व यानी पदार्थ के पक्ष में देते हुए दावा करता है कि यथार्थ की रचना भौतिक वस्तुओं और उनके विभिन्न संयोगों से होती है। भौतिकवाद एक प्राचीन दर्शन है और उसकी कई क्रिस्में प्रचलित हैं। हालाँकि उसके अपेक्षाकृत नरम संस्करण भौतिक के साथ-साथ मानसिक आयाम को भी दूसरे दर्जे की अहमियत देते हैं, लेकिन कुल मिला कर पदार्थ को सर्वोच्च महत्त्व देने के कारण भौतिकवाद एक तरफ़ प्राकृतिक विज्ञानों से घनिष्ठ संबंध रखता है, और दूसरी ओर किसी भी तरह की आध्यात्मिक और अलौकिक शक्ति का अस्तित्व सख्ती से नकारता है। प्राचीन भौतिकवादी दार्शनिक डेमॉक्रिटस की मान्यता थी कि इस जगत की रचना अनगणित परमाणुओं के मिलन से हुई है। ये परमाणु जब मिलते हैं तो निर्माण होता है, और अलग-अलग होने पर विनाश होता है। एम्पेडोक्लिस ने जीव-जगत की भौतिकवादी व्याख्या करते हुए उसे पृथ्वी, हवा, आग और पानी के चार तत्वों के मिल कर बनी रचना बताया। एपीक्यूरस के दर्शन ने भौतिकवाद को धर्म-विरोधी आयाम दिया। उन्होंने भौतिक यथार्थ पर आधारित और अंध-आस्थाओं का विरोध करने वाले नीतिशास्त्र की वकालत की। एपीक्यूरस का कहना था कि चूँकि इस भौतिक जगत से परे कुछ नहीं है, इसलिए मनुष्य को अपना जीवन ज़्यादा से ज़्यादा सुखमय बनाने का प्रयास करना चाहिए। प्राचीन भारत में चार्वाकों की दार्शनिक परम्परा भी इसी से मिलते-जुलते भौतिकवाद का प्रतिपादन करती है।

मध्य-युग में ईसाई दार्शनिक सेंट ऑगस्टाइन के साथ-साथ अरस्तू के विमर्श से ईसाई चिंतन का जोड़ बैठाने वाले सेंट थॉमस एक्विना के प्रभाव ने भौतिकवाद की दावेदारियों को पीछे धकेल दिया। सत्रहवीं सदी में भौतिकवाद का उभार एक बार फिर थॉमस हॉब्स के विमर्श में हुआ। हालाँकि हॉब्स 'सर्वोच्च अस्तित्व' में विश्वास करते थे, पर उनकी यह अवधारणा ईश्वर की ईसाई अवधारणा से बहुत अलग थी। उन्होंने न्यूटन और गैलीलियो की वैज्ञानिक धारणाओं के आधार पर अपने राजनीतिक सिद्धांत की भित्ति खड़ी की। हॉब्स ने देकार्त द्वारा प्रतिपादित काया और मस्तिष्क के द्वैत का खण्डन करते हुए विशुद्ध भौतिकवाद की पेशकश की।

अट्ठारहवीं और उन्नीसवीं सदी के दौरान प्राकृतिक विज्ञानों द्वारा की गयी व्याख्याओं के साथ-साथ डार्विन के

सिद्धांत की ऐतिहासिक कामयाबी ने भौतिकवाद की दावेदारियों को और पुष्ट किया। विज्ञान के बौद्धिक वर्चस्व को खारिज करना किसी भी दार्शनिक प्रतिपादन के लिए उत्तरोत्तर मुश्किल होता चला गया। ह्यूम, लॉक और कांट जैसे चिंतक सीधे-सीधे भौतिकवादी दार्शनिक परम्परा के अंग नहीं थे, लेकिन उनका विमर्श भी विज्ञान-प्रदत्त कार्य-कारण संबंध के सामने भौतिकवादियों की ही तरह सिर झुकाता है। हीगेल को आधुनिक भाववाद का पितामह माना जाता है, पर उनके विमर्श में भौतिकवाद की परिष्कृत व्याख्या मिलती है। वे उसे यथार्थ की द्वंद्वत्मक समझ बनाने की प्रक्रिया के दौरान एक महत्वपूर्ण पक्ष के तौर पर ग्रहण करते हैं।

मार्क्स और एंगेल्स के चिंतन में ऐतिहासिक भौतिकवाद और द्वंद्वत्मक भौतिकवाद का सूत्रीकरण किया गया है। लुडविग फ्रायरबाख़ पर लिखी हुई थीसिस में मार्क्स द्वारा भौतिकवाद की सर्वश्रेष्ठ व्याख्या मिलती है। इसी प्रक्रिया में वे दर्शन के सूत्रों को मानवीय व्यवहार और आचरण के साथ जोड़ते हुए कहते हैं कि सत्य केवल सिद्धांत संबंधी ऊहापोह नहीं है, बल्कि एक व्यावहारिक प्रश्न है। उसकी खोज दार्शनिकों द्वारा तरह-तरह से की गयी इस जगत की व्याख्याओं से ही नहीं हो सकती, वह दुनिया बदलने के लिए की गयी गतिविधियों के दौरान हासिल होता है। बीसवीं सदी में लेनिन ने मार्क्स के नक्शे-क़दम पर चलते हुए भौतिकवाद को समाजवादी प्रतिबद्धता के साथ जोड़ दिया। 1909 में प्रकाशित अपनी रचना *मैटीरियलिज़म एंड एम्पीरियो-क्रिटिसिज़म* में उन्होंने भाववाद के सभी रूपों की कड़ी आलोचना करते हुए चेतना के ऊपर पदार्थ की सत्ता स्थापित करने के लिए दलीलें दीं। लेनिन के अतिरिक्त ग्योर्गी लूकाच और लुई अलथुसे ने भी मार्क्सवाद की भौतिकवादी विचार परम्परा को समृद्ध किया है।

मार्क्सवाद के गर्भ से सांस्कृतिक भौतिकवाद का भी जन्म हुआ है। सत्तर और अस्सी के दशक में कला और साहित्य के क्षेत्र को प्रभावित करने वाली इस धारणा के प्रमुख व्याख्याता रेमण्ड विलियम्स हैं। विलियम्स का कहना है कि रहस्यवाद और भाववाद का खण्डन करने के कारण भौतिकवाद रैडिकल राजनीतिक परियोजनाओं के साथ जुड़ गया है, लेकिन उसे अपने सहजात रूप में रैडिकल नहीं माना जा सकता। वह 'जड़ हो चुके भौतिक नियमों' की भींच में फँसने के खतरे से ग्रस्त है। विलियम्स की थियरी मानवीय अस्मिता की रचना में महज़ भौतिक उत्पादन की परिवर्तनकामी क्षमता पर ही यक्रीन करते रहने के बजाय सांस्कृतिक प्रक्रियाओं की संस्थागत शक्ति को भी महत्त्व देने के पक्ष में है।

बीसवीं सदी में सार्वभौम सत्य के वाहक के तौर पर प्राकृतिक विज्ञानों की प्रतिष्ठा बढ़ने से साथ ही भौतिकवाद

की ग़ैर-मार्क्सवादी व्याख्याएँ सामने आयीं। धर्मशास्त्र और तत्त्वमीमांसा को भौतिकवाद की तरफ़ से आड़े हाथों लेने का मोर्चा प्रत्यक्षवाद की तर्कपरक शाखा ने सम्भाला। बर्टेंड रसेल और विट्गेंस्टाइन के शुरुआती विमर्श पर इसकी छाप दिखाई देती है। इन लोगों ने इंद्रियानुभववाद को आधुनिक तर्कशास्त्र और गणित की रोशनी में नयी शकल-सूरत देने का प्रयास किया। इन विचारकों का कहना था कि किसी भी वक्तव्य के तात्पर्य को स्पष्ट करना दार्शनिक का प्रमुख सरोकार होना चाहिए। इसलिए जब तक किसी दावेदारी की इंद्रियानुभव द्वारा पुष्टि न हो जाए तब तक उसकी किसी भी तत्त्वमीमांसक व्याख्या को निरर्थक ही मानना चाहिए। विट्गेंस्टाइन चूँकि भाषा को सामाजिक और पार्थिव मानते थे इसलिए उनके कई अध्येता उन्हें भौतिकवाद के नज़दीक मानते हैं।

ग़ैर-मार्क्सवादी भौतिकवादी चिंतन की श्रेणी में जिग्मण्ड फ़्रायड का विमर्श भी आता है। मानस और जगत की किसी भी तत्त्वमीमांसक व्याख्या की उपेक्षा करते हुए फ़्रायड ने मनोविश्लेषण संबंधी कार्य-कारण की स्थापना भौतिक परिस्थितियों के तहत ही की है। आधुनिक साहित्यिक और सांस्कृतिक सिद्धांतशास्त्र का भौतिकवाद काफ़ी-कुछ मार्क्सवादी और फ़्रायडवादी अंतर्दृष्टियों से अनुप्राणित है। इसी तरह नारीवादी आलोचना भी जेंडर-संबंधों की व्याख्या भौतिक स्थितियों की ज़मीन पर ही करना पसंद करती है। विखण्डनवाद के संस्थापक ज़ाक देरिदा भी पश्चिमी तत्त्वमीमांसा की आलोचना करते हुए अनुभवातीत चिंतन को खारिज कर देते हैं, क्योंकि उसके कारण विभेद का विचार अवकरण का शिकार हो जाता है।

देखें : अस्तित्ववाद, आत्मनिष्ठता-वस्तुनिष्ठता, इयत्ता, इमैनुएल कांट, इंद्रियानुभववाद, ईसैया बर्लिन, उत्तर-आधुनिकतावाद, उत्तर-औपनिवेशिकता, उदारतावाद, कल्पित समुदाय, ग्योर्ग विल्हेल्म फ्रेड्रिख हीगेल, घटनाक्रियाशास्त्र और एडमण्ड हसर, चेतना, जॉन लॉक, ज़ाक लकाँ, ज्यॉ-फ्रांस्वा ल्योतर, ज्यॉ-पॉल सार्त्र, ज़ाक देरिदा, जॉर्ज विल्हेल्म फ्रीड्रिख हीगेल, तत्त्वमीमांसा और अस्तित्वमीमांसा, तात्त्विकतावाद, थियोडोर लुडविग वीजेनग्रंड एडोर्नो, द्वैतवाद, नवउदारतावाद, परिणामवाद, फ्रांसिस बेकन, फ्रेड्रिख नीत्शे-1 और 2, बुद्धिवाद, भाववाद, मनोविश्लेषण, मिशेल पॉल फूको-1 और 2, यथार्थवाद, युरोपीय पुनर्जागरण, युरगन हैबरमास, युरोपीय ज्ञानोदय, रेने देकार्त, लुई अलथुसे, संत ऑगस्तीन, सोरेन आबी कीर्केगार्द, संरचनावाद और उत्तर-संरचनावाद, हरबर्ट स्पेंसर, ज्ञानमीमांसा, ज्ञान का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. एफ़.ए. लांगे (1974), *द हिस्ट्री ऑफ़ मैटीरियलिज़म*, अनु. ई.सी. थॉमस, एर्नो प्रेस, न्यूयॉर्क.
2. बर्टेंड रसेल (1949), *इज़ मैटीरियलिज़म बैक़रप्ट? माइंड एंड मैटर इन माडर्न साइंस*, हैल्डमेन-जूलियस पब्लिकेशंस, जिर्हार्ड,

केए.

3. एलन सिनफ्रील्ड (1992), *फॉल्टलाइंस : कल्चरल मैटीरियलिज्म एंड द पॉलिटिक्स ऑफ डिसेंट रीडिंग्ज*, ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफर्ड.
4. रेमण्ड विलियम्स (1980), *प्रॉब्लम्स ऑफ मैटीरियलिज्म एंड कल्चर : सिलेक्टड एसेज*, वरसो, लंदन.

— अभय कुमार दुबे

भ्रष्टाचार-1

परिभाषा और विमर्श

(Corruption-1)

आम तौर पर सरकारी सत्ता और संसाधनों के निजी फ़ायदे के लिए किये जाने वाले बेजा इस्तेमाल को भ्रष्टाचार की संज्ञा दी जाती है। एक दूसरी और अधिक व्यापक परिभाषा यह है कि निजी या सार्वजनिक जीवन के किसी भी स्थापित और स्वीकार्य मानक का चोरी-छिपे उल्लंघन भ्रष्टाचार है। लेकिन भ्रष्टाचार की परिभाषा इतनी सीधी, सरल और एकांगी नहीं है। सरकारी दायरा निजी जीवन, सामाजिक-सामुदायिक प्रक्रियाओं और उद्योग-व्यापार जगत के साथ घुला-मिला रहता है जिसके कारण यह परिभाषा नाकाफ़ी हो जाती है। स्थापित और स्वीकार्य समझे जाने वाले मानकों पर प्रश्न-चिह्न लगते रहते हैं। यह पूछा जाता रहता है कि क्या केवल रिश्वत लेना या अवैध कमीशन खाना ही भ्रष्टाचार है, जातिगत, नस्लगत, लैंगिक और सेक्सुअल भेदभाव करना भ्रष्टाचार की श्रेणी में नहीं आता? विभिन्न मानकों और देशकाल के हिसाब से भी इसमें तब्दीलियाँ होती रहती हैं। मसलन, भारत में रक्षा सौदों में कमीशन खाना अवैध है इसलिए इसे भ्रष्टाचार और राष्ट्र-विरोधी कृत्य मान कर घोटाले की संज्ञा दी जाती है। लेकिन दुनिया के कई विकसित देशों में यह एक जायज़ व्यापारिक कार्रवाई है। संस्कृतियों के बीच अंतर ने भी भ्रष्टाचार के प्रश्न को पेचीदा बनाया है। उन्नीसवीं सदी के दौरान भारत पर औपनिवेशिक शासन थोपने वाले अंग्रेज़ अपनी विक्टोरियाई नैतिकता के आर्ने में भारतीय यौन-व्यवहार को दुराचरण के रूप में देखते थे। जबकि बीसवीं सदी के उत्तरार्ध का भारत किसी भी युरोपवासी की निगाह में यौनिक-शुद्धतावाद का शिकार माना जा सकता है।

भ्रष्टाचार का मुद्दा एक ऐसा राजनीतिक प्रश्न है जिसके कारण कई बार न केवल सरकारें बदल जाती हैं। बल्कि यह बहुत बड़े-बड़े ऐतिहासिक परिवर्तनों का वाहक

भी रहा है। रोमन कैथलिक चर्च द्वारा अनुग्रह के बदले शुल्क लेने की प्रथा को मार्टिन लूथर द्वारा भ्रष्टाचार की संज्ञा दी गयी थी। इसके ख़िलाफ़ किये गये धार्मिक संघर्ष से ईसाई धर्म-सुधार निकले। परिणामस्वरूप प्रोटेस्टेंट मत का जन्म हुआ। इस ऐतिहासिक परिवर्तन से सेकुलरवाद के सूत्रीकरण का आधार तैयार हुआ।

समाज-वैज्ञानिक विमर्श में भ्रष्टाचार से संबंधित समझ के बारे में कोई एकता नहीं है। पूँजीवाद विरोधी नज़रिया रखने वाले विद्वानों की मान्यता है कि बाज़ार आधारित व्यवस्थाएँ 'ग्रीड इज़ गुड' के उसूल पर चलती हैं, इसलिए उनके तहत भ्रष्टाचार में बढ़ोतरी होनी लाज़मी है। दूसरी तरफ़ खुले समाज की वकालत करने वाले और मार्क्सवाद विरोधी बुद्धिजीवी सर्वहारा की तानाशाही वाली व्यवस्थाओं में कम्युनिस्ट पार्टी के अधिकारियों द्वारा बड़े पैमाने पर राज्य के संसाधनों के दुरुपयोग और आम जनता के साधारण जीवन की क्रीमत पर खुद के लिए आरामतलब जिंदगी की गारंटी करने की तरफ़ इशारा करते हैं।

भ्रष्टाचार की दूसरी समझ राज्य की संस्था द्वारा लोगों की आर्थिक गतिविधियों में हस्तक्षेप की मात्रा और दायरे पर निर्भर करती है। बहुत अधिक टैक्स वसूलने वाले निज़ाम के तहत कर-चोरी को सामाजिक जीवन की एक मजबूरी की तरह लिया जाता है। इससे एक सिद्धांत यह निकलता है कि जितने कम क़ानून और नियंत्रण होंगे, भ्रष्टाचार की ज़रूरत उतनी ही कम होगी। इस दृष्टिकोण के पक्ष पूर्व सोवियत संघ और चीन समते समाजवादी देशों का उदाहरण दिया जाता है जहाँ राज्य की संस्था के सर्वव्यापी होने के बावजूद बहुत बड़ी मात्रा में भ्रष्टाचार की मौजूदगी रहती है। 'ज़्यादा नियंत्रण-ज़्यादा भ्रष्टाचार' के समीकरण को सही ठहराने के लिए तीस के दशक के अमेरिका में की गयी शराब-बंदी का उदाहरण भी दिया जाता है जिसके कारण संगठित और आर्थिक भ्रष्टाचार में अभूतपूर्व उछाल आ गया था।

साठ और सत्तर के दशक में कुछ विद्वानों ने अविकसित देशों के आर्थिक विकास के लिए एक सीमा तक भ्रष्टाचार और काले धन की मौजूदगी को उचित करार दिया था। अर्नोल्ड जे. हीदनहाइमर जैसे सिद्धांतकारों का कहना था कि परम्पराबद्ध और सामाजिक रूप से स्थिर समाजों को भ्रष्टाचार की समस्या का कम ही सामना करना पड़ता है। लेकिन तेज़ रफ़्तार से होने वाले उद्योगीकरण और आबादी की आवाज़ाही के कारण समाज स्थापित मानकों और मूल्यों को छोड़ते चले जाते हैं। परिणामस्वरूप बड़े पैमाने पर भ्रष्टाचार की परिघटना पैदा होती है। सत्तर के दशक में हीदनहाइमर की यह सिद्धांत ख़ासा प्रचलित था। भ्रष्टाचार विरोधी नीतियों और कार्यक्रमों की वकालत करने के बजाय हीदनहाइमर ने निष्कर्ष निकाला था कि जैसे-जैसे समाज में

समृद्धि बढ़ती जाएगी, मध्यवर्ग की प्रतिष्ठा में वृद्धि होगी और शहरी सभ्यता व जीवन-शैली का विकास होगा, इस समस्या पर अपने आप क्राबू होता चला जाएगा। लेकिन सत्तर के दशक में ही युरोप और अमेरिका में बड़े-बड़े राजनीतिक और आर्थिक घोटालों का पर्दाफाश हुआ। इनमें अमेरिका का वाटरगेट स्कैंडल और ब्रिटेन का पौलसन एफेयर प्रमुख था। इन घोटालों ने मध्यवर्गीय नागरिक गुणों के विकास में यक्रीन रखने वाले हीदनहाइमर के इस सिद्धांत के अतिआशावाद की हवा निकाल दी।

साठ के दशक के दौरान ही कुछ अन्य विद्वानों ने भी हीदनहाइमर की तर्ज पर तर्क दिया था कि भ्रष्टाचार की समस्या की नैतिक व्याख्याएँ करने से कुछ हासिल होने वाला नहीं है। इनमें सेमुअल हंटिंग्टन प्रमुख थे। इन समाज-वैज्ञानिकों की मान्यता थी कि भ्रष्टाचार हर परिस्थिति में नुकसानदेह नहीं होता। विकासशील देशों में वह मशीन में तेल की भूमिका निभाता है और लोगों के हाथ में खर्च करने लायक पैसा आने से उपभोक्ता क्रांति को गति मिलती है। लेकिन अफ्रीका में भ्रष्टाचार के ऊपर विश्व बैंक द्वारा 1969 में जारी रपट ने इस धारणा को धक्का पहुँचाया। इस रपट के बाद भ्रष्टाचार को एक अनिवार्य बुराई और आर्थिक विकास में बाधक के तौर पर देखा जाने लगा। विश्व बैंक भ्रष्टाचार के खिलाफ मुहिम चलाने में जुट गया। इस विमर्श का एक परिणाम यह भी निकला कि समाज-वैज्ञानिक अपेक्षाकृत कम विकसित देशों में भ्रष्टाचार की समस्या के प्रति ज्यादा दिलचस्पी दिखाने लगे। विकसित देशों में भ्रष्टाचार की समस्या काफ़ी-कुछ नज़रअंदाज़ की जाने लगी।

यह दृष्टिकोण भूमण्डलीकरण के दौर में और प्रबल हुआ। उधार देने वाली अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं, उन पर हावी विकसित देशों और बड़े-बड़े कॉरपोरेशनों ने यह गारंटी करने की कोशिश की कि उनके द्वारा दी जाने वाली मदद का सही-सही इस्तेमाल हो। इसका परिणाम 1993 में ट्रांसपेरेंसी इंटरनैशनल की स्थापना में निकला जिसमें विश्व बैंक के कई पूर्व अधिकारी सक्रिय थे। इसके बाद सर्वेक्षण और आँकड़ों के जरिये भ्रष्टाचार का तुलनात्मक अध्ययन शुरू हो गया। लेकिन इन प्रयासों के परिणाम किसी भी तरह से संतोषजनक नहीं माने जा सकते। 2007 में डेनियल ट्रीज़मैन ने 'व्हाट हैव वी लर्नड अबाउट द काज़िज़ ऑफ़ करप्शन फ्रॉम टेन इयर्स ऑफ़ क्रॉस नैशनल इम्पिरिकल रिसर्च?' लिख कर नतीजा निकला है कि परिपक्व उदारतावादी लोकतंत्र और बाज़ारोन्मुख समाज अपेक्षाकृत कम भ्रष्ट हैं। उनके उलट तेल निर्यात करने वाले देश, अधिक नियंत्रणकारी क़ानून बनाने वाले और मुद्रास्फीति को क़ाबू में न करने वाले देश कहीं अधिक भ्रष्ट हैं।

ज़ाहिर है कि ये निष्कर्ष किसी भी कोण से नये नहीं हैं। हाल ही में जिन देशों में आर्थिक घोटालों का पर्दाफाश हुआ है उनमें छोटे-बड़े और विकसित-अविकसित यानी हर तरह के देश (चीन, जापान, स्पेन, मैक्सिको, भारत, चीन, ब्रिटेन, ब्राज़ील, सूरीनाम, दक्षिण कोरिया, वेनेज़ुएला, पाकिस्तान, एंटीगा, बरमूडा, क्रोएशिया, इक्वेडोर, चेक गणराज्य, वगैरह) हैं। भ्रष्टाचार को सुविधाजनक और हानिकारक मानने के इन परस्पर विरोधी नज़रियों से परे हट कर अगर देखा जाए तो अभी तक आर्थिक वृद्धि के साथ उसके किसी सीधे संबंध का सूत्रीकरण नहीं हो पाया है। उदाहरणार्थ, एशिया के दो देशों, दक्षिण कोरिया और फ़िलीपींस, में भ्रष्टाचार के सूचकांक बहुत ऊँचे हैं। लेकिन, कोरिया में आर्थिक वृद्धि की दर ख़ासी है, जबकि फ़िलीपींस में नीची।

भ्रष्टाचार की समस्या से निबटने के लिए आम तौर पर जिन उपायों की तजवीज़ की जाती है, उन्हें इस तरह देखा जा सकता है : भ्रष्टाचार विरोधी कड़े क़ानून बनाने और संस्थागत उपाय (जैसे, भारत में लोकपाल और लोकायुक्त बनाने के लिए चलाई जाने वाली मुहिम, अमेरिका में फ़ॉरेन करप्ट प्रेक्टिसिस एक्ट बना कर अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर रिश्वतखोरी को ग़ैरक़ानूनी करार देना, हांगकांग में इंडिपेंडेंट कमीशन अगेंस्ट करप्शन), अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भ्रष्टाचार विरोधी नियम-क़ानून और संस्थाओं का निर्माण, ट्रांसपेरेंसी इंटरनैशनल जैसी ग़ैर-सरकारी संस्थाओं द्वारा चलाई जाने वाली मुहिमें, एकाउंटिंग विधियों में सुधार, सरकारी ठेके देने आर्बंटित करने की प्रक्रियाओं को उत्तरोत्तर पारदर्शी बनाना, संगठित अपराध का मुक़ाबला करने के लिए राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर बेहतर प्रयास, अधिकारियों को बेहतर वेतन देना ताकि उन्हें भ्रष्टाचार करने की ज़रूरत ही महसूस हो, नियंत्रणकारी क़ानूनों को कम से कम करते चले जाना और बाज़ार को हर सम्भव तरीक़े से खोलना, क़ानून लागू करने वाले और प्रवर्तनकारी अधिकारियों को बेहतर प्रशिक्षण देना, अधिकारियों के नैतिक और नीतिगत संस्कारों को स्पर्श देना, मानहानि और अन्य प्रेस संबंधी क़ानूनों को सुधारना ताकि पत्रकार भ्रष्टाचार का ज्यादा से ज्यादा पर्दाफाश कर सकें, भ्रष्टाचार के खिलाफ़ उचित क्रदम न उठा पाने वाली सरकारों को आर्थिक सहायता रोक देने की धमकी देना और काले धन के अंतर्राष्ट्रीय लेन-देन और हवाला इत्यादि पर रोक लगाने के उपाय। इनके अलावा राजनीतिक दलों के संचालन और चुनाव लड़ने के लिए वैध कोष और अनुदान की व्यवस्था करने को भी एक महत्त्वपूर्ण उपाय की तरह चिह्नित किया गया है ताकि अवैध स्रोतों से धन उगाहने की प्रवृत्ति को हतोत्साहित किया जा सके।

देखें : भ्रष्टाचार का समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य-1 और 2.

संदर्भ

1. प्रणव वर्धन (1997), 'करण एंड डिवेलपमेंट : अ रिव्यू ऑफ़ इशूज़', *जरनल ऑफ़ इकॉनॉमिक लिटरेचर* 35.
2. एम. रोबिंसन (सम्पा.) (1998), *करण एंड डिवेलपमेंट*, फ्रैंक कैस, एबिंग्डन, यूके.
3. ए.जे. हीदनहाइमर (सम्पा.) (1970), *पॉलिटिकल करप्शन : रीडिंग्स इन कम्परेटिव एनालैसिस*, ट्रांजेक्शन, न्यू ब्रंसविक, एन.जे.
4. माइकल जांस्टन (2005), *सिडॉम्स ऑफ़ करप्शन : वेल्थ, पावर, एंड डेमोक्रेसी*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
5. डैनियल ट्रीज़मान (2007), 'व्हाट हैव वी लर्नड अबाउट द काज़िज़ ऑफ़ करप्शन फ्रॉम टेन इयर्स ऑफ़ क्रॉस-नैशनल इम्पिरिकल रिसर्च?', *एनुअल रिव्यू ऑफ़ पॉलिटिकल साइंस* 10.

— अभय कुमार दुबे

भ्रष्टाचार-2

राजनीतिक और प्रशासनिक

(Corruption-2)

भ्रष्टाचार की कई क्रिस्में और डिग्रियाँ हो सकती हैं, लेकिन समझा जाता है कि राजनीतिक और प्रशासनिक भ्रष्टाचार समाज और व्यवस्था को सबसे ज़्यादा प्रभावित करता है। अगर उसे संयमित न किया जाए तो भ्रष्टाचार मौजूदा और आने वाली पीढ़ियों के मानस का अंग बन सकता है। मान लिया जाता है कि भ्रष्टाचार ऊपर से नीचे तक सभी को, किसी को कम तो किसी को ज़्यादा, लाभ पहुँचा रहा है। राजनीतिक और प्रशासनिक भ्रष्टाचार एक-दूसरे से अलग न हो कर परस्पर गठजोड़ से पनपते हैं। 2004 की ग्लोबल करप्शन रिपोर्ट के मुताबिक इण्डोनेशिया के राष्ट्रपति सुहार्तो, फ़िलीपींस के राष्ट्रपति मार्कोस, जैरे के राष्ट्रपति मोबुतो सेकू, नाइजीरिया के राष्ट्रपति सानी अबाका, सरबिया के राष्ट्रपति मिलोसेविच, हैती के राष्ट्रपति डुवेलियर और पेरू के राष्ट्रपति फ़ुजीमोरी ने सैकड़ों से लेकर अरबों डॉलर की रकम का भ्रष्टाचार किया।

ये भ्रष्ट नेता बिना नौकरशाही की मदद के सरकारी धन की यह लूट नहीं कर सकते थे। खास बात यह है कि इस भ्रष्टाचार में निजी क्षेत्र और कॉर्पोरेट पूँजी की भूमिका भी होती है। बाज़ार की प्रक्रियाओं और शीर्ष राजनीतिक-प्रशासनिक मुकामों पर लिए गये निर्णयों के बीच साठगाँठ के बिना यह भ्रष्टाचार इतना बड़ा रूप नहीं ले सकता। आज़ादी के बाद भारत में भी राजनीतिक और प्रशासनिक भ्रष्टाचार की यह परिघटना तेज़ी से पनपी है। एक तरफ़ शक किया जाता

है कि बड़े-बड़े राजनेताओं का अवैध धन स्विस बैंकों के खुफ़िया खातों में जमा है, और दूसरी तरफ़ तीसरी श्रेणी के क्लर्कों से लेकर आईएस अफ़सरों के घरों पर पड़ने वाले छापाओं से करोड़ों-करोड़ों की सम्पत्ति बरामद हुई है।

राजनीतिक और प्रशासनिक भ्रष्टाचार को ठीक से समझने के लिए अध्येताओं ने उसे दो श्रेणियों में बाँटा है। सरकारी पद पर रहते हुए उसका दुरुपयोग करने के ज़रिये किया गया भ्रष्टाचार और राजनीतिक या प्रशासनिक हैसियत को बनाये रखने के लिए किया जाने वाला भ्रष्टाचार। पहली श्रेणी में निजी क्षेत्र को दिये गये ठेकों और लाइसेंसों के बदले लिया गया कमीशन, हथियारों की ख़रीद-बिक्री में लिया गया कमीशन, फ़र्जीवाड़े और अन्य आर्थिक अपराधों द्वारा जमा की गयी रकम, टैक्स-चोरी में मदद और प्रोत्साहन से हासिल की गयी रकम, राजनीतिक रुतबे का इस्तेमाल करके धन की उगाही, सरकारी प्रभाव का इस्तेमाल करके किसी कम्पनी को लाभ पहुँचाने और उसके बदले रकम वसूलने और फ़ायदे वाली नियुक्तियों के बदले वरिष्ठ नौकरशाहों और नेताओं द्वारा वसूले जाने वाले अवैध धन जैसी गतिविधियाँ पहली श्रेणी में आती हैं। दूसरी श्रेणी में चुनाव लड़ने के लिए पार्टी-फ़ण्ड के नाम पर उगाही जाने वाली रकम, वोटों को ख़रीदने की कार्रवाई, बहुमत प्राप्त करने के लिए विधायकों और सांसदों को ख़रीदने में खर्च किया जाने वाला धन, संसद-अदालतों, सरकारी संस्थाओं, नागर समाज की संस्थाओं और मीडिया से अपने पक्ष में फ़ैसले लेने या उनका समर्थन प्राप्त करने के लिए खर्च किये जाने वाले संसाधन और सरकारी संसाधनों के आबंटन में किया जाने वाला पक्षपात आता है।

राजनीतिक-प्रशासनिक भ्रष्टाचार को समझने के लिए ज़रूरी है कि इन दोनों श्रेणियों के अलावा एक और विभेदीकरण किया जाए। यह है शीर्ष पदों पर होने वाला बड़ा भ्रष्टाचार और निचले मुकामों पर होने वाला छोटा-मोटा भ्रष्टाचार। सूज़न रोज़ एकरमैन ने अपनी रचना *करण एंड गवर्नमेंट : काज़िज़, कांसिक्वेसिंज़ एंड रिफ़ॉर्म* में शीर्ष पदों पर होने वाले भ्रष्टाचार को 'क्लेप्टोक्रेसी' की संज्ञा दी गयी है। किसी भी तंत्र के शीर्ष पर बैठा कोई बड़ा राजनेता या कोई बड़ा नौकरशाह एक निजी इजारेदार पूँजीपति की तरह आचरण कर सकता है। हालाँकि एकरमैन ने भारत के उदाहरण पर न के बराबर ही ग़ौर किया है, पर भारत में पब्लिक सेक्टर संस्थाओं के मुखिया अफ़सरों को 'सरकारी मुग़लों' की संज्ञा दी जा चुकी है। न्यायाधीशों द्वारा किये जाने वाले न्यायिक भ्रष्टाचार की परिघटना भारत में अभी नयी है लेकिन उसका असर दिखाई देने लगा है। दिल्ली में हुए राष्ट्रमण्डलीय खेलों के आयोजन में हुए भीषण भ्रष्टाचार के पीछे भी नेताओं और अफ़सरों का शीर्ष खेल ही था। टू जी स्पेक्ट्रम के आबंटन में हुए भ्रष्टाचार को भी क्लेप्टोक्रेसी के

ताजे उदाहरण के तौर पर लिया जा सकता है। निचले स्तर पर होने वाला भ्रष्टाचार 'स्पीड मनी' या 'सुविधा शुल्क' के तौर पर जाना जाता है। थाना स्तर के पुलिस अधिकारी, बिक्री कर या आय कर अधिकारी, सीमा और उत्पाद-शुल्क अधिकारी और विभिन्न क्रिस्म के इंस्पेक्टर इस तरह के भ्रष्टाचार से लाभांशित होते हैं। इसी तरह जिला स्तर पर दिये जाने वाले ठेकों के आबंटन में पूरे जिला प्रशासन में कमीशन की रकम का बँटना एक आम बात है।

यहाँ इन दोनों तरह के भ्रष्टाचारों के मूल्यांकन संबंधी विवाद का जिक्र करना जरूरी है। सार्वजनिक जीवन में अक्सर यह बहस होती रहती है कि क्लेप्टोक्रेसी ज्यादा बड़ी समस्या है, या फिर सुविधा शुल्क? समाज शीर्ष पदों पर होने वाले भ्रष्टाचार से अधिक प्रभावित होता है, या निचले स्तर पर होने वाले अपेक्षाकृत छोटे भ्रष्टाचार से? इस बहस के पीछे एक विमर्श है जो क्लेप्टोक्रेसी से जुड़ा हुआ है। सत्तर और अस्सी के दशकों में देखा यह गया था कि कई बार शीर्ष पर बैठे हुए क्लेप्टोक्रेटिक शासक या अफसर निचले स्तर पर होने वाले भ्रष्टाचार को नापसंद करते हैं। उन्हें लगता था कि इस छुटभैये भ्रष्टाचार से व्यवस्था बदनाम होती है, और अवैध लाभ उठाने की खुद उनकी क्षमता घट जाती है। इस दृष्टिकोण में निचले स्तर का भ्रष्टाचार प्रशासनिक अक्षमता का द्योतक था।

यह सही है कि छोटे स्तर का भ्रष्टाचार रिश्वतखोरी को पूरे समाज में विकेंद्रित कर देता है। एकरमैन ने भी अपनी रचना में इस पहलू की शिनाख्त की है। भारत में इसके सामाजिक प्रभाव का एक उदाहरण विवाह के बाजार में लाभ के पदों पर बैठे वरों की ऊँची दहेज-दरों के रूप में देखा जा सकता है। लेकिन दूसरी तरफ भारतीय उदाहरण ही यह बताता है कि भ्रष्टाचार का यह रूप न केवल शीर्ष पदों पर होने वाली कमीशनखोरी, दलाली और उगाही से जुड़ा है, बल्कि दोनों एक-दूसरे को पानी देते हैं। पिछले बीस वर्षों से भारतीय लोकतंत्र में राज्य सरकारों के स्तर पर सत्तारूढ़ निजाम द्वारा अगला चुनाव लड़ने के लिए नौकरशाही के जरिये नियोजित उगाही करने की प्रौद्योगिकी लगभग स्थापित हो चुकी है। इस प्रक्रिया ने क्लेप्टोक्रेसी और सुविधा शुल्क के बीच का फ़र्क काफ़ी हद तक कम कर दिया है।

भारत जैसे संसदीय लोकतंत्र में चुनाव लड़ने और उसमें जीतने-हारने की प्रक्रिया अवैध धन के इस्तेमाल और उसके परिणामस्वरूप भ्रष्टाचार का प्रमुख स्रोत बनी हुई है। यह समस्या अर्थव्यवस्था पर सरकारी नियंत्रण के दिनों में भी थी, लेकिन बाजारोन्मुख व्यवस्था के ज़माने में इसने पहले से कहीं ज्यादा भीषण रूप ग्रहण कर लिया है। एक तरफ़ चुनावों की संख्या और बारम्बारता बढ़ रही है, दूसरी तरफ़ राजनेताओं को चुनाव लड़ने और पार्टियाँ चलाने के लिए धन की जरूरत। नौकरशाही का इस्तेमाल करके धन उगाहने के

साथ-साथ राजनीतिक दल निजी स्रोतों से बड़े पैमाने पर खुफ़िया अनुदान प्राप्त करते हैं। यह काला धन होता है। बदले में नेतागण उन्हीं आर्थिक हितों की सेवा करने का वचन देते हैं। निजी पूँजी न केवल उन नेताओं और राजनीतिक पार्टियों की आर्थिक मदद करती है जिनके सत्ता में आने की सम्भावना है, बल्कि वह चालाकी से हाशिये पर पड़ी राजनीतिक ताकतों को भी पटाये रखना चाहती है ताकि मौक़ा आने पर उनका इस्तेमाल कर सके। राजनीतिक भ्रष्टाचार के इस पहलू का एक इससे भी ज्यादा अँधेरा पक्ष है। एक तरफ़ संगठित अपराध जगत द्वारा चुनाव प्रक्रिया में धन का निवेश, और दूसरी तरफ़ स्वयं माफ़िया सरदारों द्वारा पार्टियों के उम्मीदवार बन कर चुनाव जीतने की कोशिश करना। इस पहलू को राजनीति के अपराधीकरण के रूप में भी देखा जाता है।

चुनाव प्रणालियों का भ्रष्टाचार की समस्या के आईने में तुलनात्मक अध्ययन भी किया गया है। कई विद्वानों ने एक अध्ययन में दिखाया है कि आनुपातिक प्रतिनिधित्व (जैसे अमेरिकी चुनावी प्रणाली) फ़र्स्ट-पास्ट-दि-पोस्ट (जैसे भारतीय चुनावी प्रणाली) के मुक़ाबले राजनीतिक भ्रष्टाचार के अंदेशों से ज्यादा ग्रस्त होती है। इसके पीछे तर्क दिया गया है कि आनुपातिक प्रतिनिधित्व के माध्यम से सांसद या विधायक चुनने वाली प्रणाली बहुत अधिक ताक़तवर राजनीतिक दलों को प्रोत्साहन देती है। इन पार्टियों के नेता राष्ट्रपति के साथ, जिसके पास इस तरह की प्रणालियों में काफ़ी कार्यकारी अधिकार होते हैं, भ्रष्ट क्रिस्म की सौदेबाज़ियाँ कर सकते हैं।

इस विमर्श का दूसरा पक्ष यह मान कर चलता है कि अगर वोटों को नेताओं के भ्रष्टाचार का पता लग गया तो वे अगले चुनाव में उन्हें सज़ा देंगे और ईमानदार प्रतिनिधियों को चुनेंगे। लेकिन, ऐसा हमेशा नहीं होता। अक्सर वोटों के सामने एक तरफ़ सत्तारूढ़ भ्रष्ट और दूसरी तरफ़ विपक्ष में बैठे संदिग्ध चरित्र के नेता के बीच चुनाव करने का विकल्प होता है। एक अध्ययन में तथ्यगत विश्लेषण करके यह भी दिखाया गया है कि फ़ायदे के पदों से होने वाली कमायी, विपक्ष की कमज़ोरी और पूँजी की शक्तियों के बीच गठजोड़ के कारण सार्वजनिक जीवन में एक ऐसा ढाँचा बनता है जिससे राजनीतिक क्षेत्र को भ्रष्टाचार से मुक्त करना तक्ररीबन असम्भव लगने लगता है।

बीसवीं सदी के आखिरी दशक में राजनीतिक-प्रशासनिक भ्रष्टाचार को नापने के भी कुछ संस्थागत उपाय हुए हैं। लेकिन, किसी देश में सार्वजनिक जीवन की पारदर्शिता का सूचकांक क्या होना चाहिए— यह विवाद का विषय बना हुआ है। ट्रांसपैरेंसी इंटरनेशनल करप्शन परसेप्शंस इनडेक्स, ब्राइब पेयर्स इनडेक्स और ग्लोबल करप्शन बैरोमीटर तैयार किया है। दूसरी तरफ़ एकाउंटेंसी फ़र्म प्राइस वाटरहाउस कूपर्स ने ओपेसिटी इनडेक्स की रचना की है।

सेंटर फ़ॉर पब्लिक इंटेग्रिटी ने इंटेग्रिटी इनडेक्स तैयार की है। समझा जाता है कि इस समय कोई बीस सूचकांक एक-दूसरे के साथ प्रतियोगिता कर रहे हैं। सबकी अलग-अलग रपटें जारी होती हैं। 2009 में करप्शन परसेप्शन इनडेक्स ने 180 देशों की पारदर्शिता का अध्ययन करके न्यूजीलैण्ड को सबसे कम भ्रष्ट और सोमालिया को सबसे अधिक भ्रष्ट देश करार दिया था।

देखें : भ्रष्टाचार का समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य-1 और 2.

संदर्भ

1. सूज़न रोज़-एकरमैन (1999), *करप्शन एंड गवर्नमेंट : कॉजिज़, कांसिक्वेंसिज़, एंड रिफॉर्म*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
2. जोंग-सुंग यू और संजीव खग्राम (2005), 'ए कम्परेटिव स्टडी ऑफ़ इनयीक्वलिटी एंड करप्शन', *अमेरिकन सोसियोलॉजिकल रिव्यू* 70.
3. रोज़र मेयरसन (1993), 'इफ़ेक्टिवनेस ऑफ़ इलेक्टोरल सिस्टम फ़ॉर रिड्यूसिंग गवर्नमेंट करप्शन : अ गेम-थियरिटिक एनालिसिस', *गेम्ज़ एंड इकोनॉमिक बिहेवियर* 5.
4. जेम्स स्कॉट (1972), *कम्परेटिव पॉलिटिकल करप्शन*, प्रेंटिस-हॉल, एंगिलवुड क्लिफ़्स, एन.ज.
5. आर. क्लिटगार्ड (1988), *कंट्रोलिंग करप्शन*, युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस, बर्कले.

— अभय कुमार दुबे

भ्रष्टाचार का समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य-1

(Corruption: Sociological Perspective-1)

अंग्रेज़ी में भ्रष्टाचार के लिए करप्शन शब्द का प्रयोग होता है जो लैटिन भाषा के शब्द करप्टियो की व्युत्पत्ति है और जिसका अभिप्राय नैतिकता का हास, सड़ना, सामान्य स्तर से नीचे गिरना, स्थिति का बिगड़ना आदि है। ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी में इसे सार्वजनिक क्षेत्र में विश्वसनीयता का लोप, रिश्ततखोरी और पक्षपात कहा गया है। यह अस्वीकरणीय व्यवहार है। लेकिन, भ्रष्टाचार और उसे पानी देने वाली जटिल प्रक्रिया आम तौर से समाजशास्त्रीय चिंतन के केंद्र में नहीं रही है। दरअसल भ्रष्टाचार पर मिलने वाला अधिकतर लेखन उसके उजागर होने पर रचा गया है, और उसके प्रभावों की ओर इंगित करता है। संदेश यही मिलता है कि यह अवांछित है, और इसका निराकरण होना चाहिए। लेकिन

समाज-विज्ञान में ऐसे साहित्य का अभाव है जो इसके उदय और प्रसार की प्रक्रिया का वस्तुपरक अध्ययन करता हो। सरकारी आँकड़े और निरीक्षकों की रपटें इस कमी को पूरा नहीं कर सकतीं। समाज-विज्ञान को इसके अध्ययन के लिए नयी तकनीक का विकास करना होगा। सर्वेक्षण की पद्धति इसके लिए उपयुक्त नहीं है। इसके पर्यवेक्षण में कई बाधाएँ हैं। स्थिति यह है कि भ्रष्टाचार पर अनुसंधान करने के सर्वांग परिप्रेक्ष्य का भी अभाव है।

भ्रष्टाचार प्रत्येक समाज में व्याप्त है— चाहे वह लघु समुदाय हो या वृहद समाज; पारम्परिक हो या अधुनातन, पाश्चात्य हो या तीसरे विश्व का सदस्य। किंतु जिन कृत्यों को भ्रष्टाचार की संज्ञा दी जाती है वे सभी समाजों में एक से नहीं होते, क्योंकि भ्रष्ट व्यवहार को समाज की संस्कृति द्वारा परिभाषित आदर्श व्यवहार का विलोम माना जाता है। सैद्धांतिक दृष्टि से ऊँचे धरातल पर भ्रष्टाचार को आदर्श और अपेक्षित व्यवहार के विपरीत माना जा सकता है। ऐसा व्यवहार क्यों होता है? कैसे पनपता है? इसका वर्गीकरण किस प्रकार किया जाए? ये प्रश्न बहुत कुछ अनुत्तरित ही हैं।

समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में भ्रष्टाचार को समझने के लिए यह मान कर चलना होगा कि भ्रष्टाचार एक अपरिहार्य प्रक्रिया है जो सार्वभौम है। किसी एक प्रकार के आचरण को, या किसी एक व्यक्ति या समूह में प्रचलित आचरण को, बदला जा सकता है, पर उसका यह अर्थ कदापि नहीं कि किसी दूसरे क्षेत्र में, या अन्य व्यक्तियों या समूह में, अथवा अन्य स्वरूप में उसकी आवृत्ति नहीं हो सकती। लेकिन, इस मान्यता का यह अर्थ भी नहीं लगाया जाय कि समाज-विज्ञान भ्रष्टाचार का पक्षधर है। भ्रष्टाचार का वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य तैयार करने में जो कठिनाइयाँ रही हैं, वे इस प्रकार हैं : पहला, यह कई दृष्टियों से गुप्त व्यवहार है और इसकी प्रत्यक्ष गवेषणा नहीं की जा सकती। दूसरा, भ्रष्टाचार उन क्षेत्रों में पनपता है जो सामाजिक निगरानी के दायरे से बाहर होते हैं। तीसरा, भ्रष्टाचार से पीड़ित व्यक्ति उसे उजागर करने से सकुचाते हैं, जानबूझ कर उसे झेलते हैं और उसका दुराव करते हैं। अंग्रेज़ी में इस तीसरी समस्या को 'विलिंग सस्पेंशन ऑफ़ ग्रीफ़' अर्थात् डब्ल्यूएसजी कहा जा सकता है। जैसे नाटक में डब्ल्यूएसजी होता है— 'विलिंग सस्पेंशन ऑफ़ डिसबिलिफ़', वैसे ही डब्ल्यूएसजी है। नाटक में जो रंगमंच पर घटित होता है वह हम जानते हैं कि यथार्थ नहीं है फिर भी हम उस पर विश्वास कर लेते हैं, इसी प्रकार भ्रष्टाचार की पीड़ा से ग्रसित होने पर भी हम उसे सार्वजनिक नहीं होने देते। हम रिश्तत देते हैं, पर रिश्तत का भंडाफोड़ नहीं करते। और रिश्तत का धन कई तरीकों से श्याम से श्वेत हो जाता है। चौथा, भ्रष्टाचार से आम आदमी का पीड़ित होना और समस्त समाज को विशाल स्तर पर हानि होना दोनों का बोध

होता है। लेकिन आम आदमी डब्ल्यूएसजी के कारण उस पर पर्दा डाल देता है। व्यापक स्तर पर भ्रष्टाचार करने वाले समाज के क्रायदे-क्रानून पर पर्दा डाल कर उसे आम आदमी के लिए अ-दर्शनीय बना देते हैं।

भ्रष्टाचार को सामाजिक विपथगमन का विस्तारित स्वरूप माना जा सकता है। सामाजिक विपथगमन सामान्यकों (जो लक्ष्य और उनकी प्राप्ति के माध्यम नियत करते हैं) और वास्तविक व्यवहार के बीच अंतर्विरोध का द्योतक है। इस अंतर्विरोध से ऐसे रोगों का जन्म हो सकता है जिससे पूरी समाज-व्यवस्था ही हिल जाए। विपथगमन का यह दूसरा प्रकार ही भ्रष्टाचार है जो सामाजिक लक्ष्यों और व्यक्तिगत लक्ष्यों के बीच टकराव का सूचक है। सार्वजनिक और राजकीय क्षेत्र में भ्रष्ट पदाधिकारियों को कौटिल्य ने 'मत्स्य' कहा है। 'जैसे गहरे पानी में रहने वाली मछली पानी पीती है या नहीं पीती, इसका पता लगाना कठिन है, वैसे ही सरकारी कर्मचारी ने कैसे चुराये या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता।'

कौटिल्य ने इस कठिनाई को ऐसे भी व्यक्त किया 'जैसे ज़बान पर लगे शहद या ज़हर का स्वाद लेना असम्भव है वैसे ही सरकारी नौकर का राजकोष से थोड़ा सा धन न चुराना भी है।' आज के युग में जब राजा-महाराजा न रहे, तो अब न केवल ऊँचे सरकारी अधिकारी वरन् नेता और मंत्रीगण भी इसका आस्वाद लेने से नहीं चूकते। पाँच वर्ष की अवधि के लिए चयनित राजनेताओं के लिए तो यह ऐसा अवसर है कि जितना हो सके लूट लो, फिर पता नहीं चुने जाएं या नहीं। बढ़ते हुए भ्रष्टाचार से न केवल लालप्रीता-शाही से त्रस्त जनता अपना आक्रोश व्यक्त करने लगी है, बल्कि परोक्ष रूप से सरकारी धन लूटने वाले बड़े अफसरों और नेताओं पर भी उँगली उठाने लगी है।

भ्रष्टाचार के दुष्परिणामों की गिनती की जाने लगी है। उनमें से मुख्य ये हैं :

1. भ्रष्टाचार के विश्वव्यापी दुष्परिणाम हुए हैं जो सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक अंसतोष के जन्मदाता हैं।
2. भ्रष्टाचार न केवल गरीबी का मूल कारण है, बल्कि वह गरीबी निवारण में एक बड़ी बाधा भी है।
3. भ्रष्टाचार के प्रसार से मानवाधिकारों का हनन होता है।
4. भ्रष्टाचार जनतंत्र विरोधी है।
5. भ्रष्टाचार से राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय व्यापार कुप्रभावित होता है।
6. भ्रष्टाचार से दुःशासन पनपता है।

7. भ्रष्टाचार से देशी और अंतर्राष्ट्रीय सुरक्षा को खतरा है और इसका नतीजा प्राकृतिक संसाधनों के शोषण में निकलता है।

सामाजिक संबंधों की दृष्टि से देखें तो इसमें तीन भूमिकाएँ प्रमुख होती हैं : भ्रष्ट व्यक्ति, भ्रष्ट करने वाला, और भ्रष्टाचार का शिकार या पीड़ित। ये तीनों भूमिकाएँ विश्लेषण के लिए आवश्यक हैं। लेकिन ये साथ-साथ भी पायी जाती हैं। जैसे भ्रष्टाचार का शिकार व्यक्ति स्वयं ही भ्रष्टाचार का जन्मदाता हो सकता है, या फिर भ्रष्ट व्यक्तियों की सोहबत एक कारण हो सकती है जिसमें फँसने वाले को भी भ्रष्ट होना पड़ सकता है। इसी प्रकार जो भ्रष्टाचार से पीड़ित होता है उसे स्वयं ही किसी अन्य को भ्रष्ट करना पड़ता है ताकि उसके स्वार्थ की सिद्धि हो सके। यह स्वार्थ-सिद्धि भी दो प्रकार की होती है : एक तो वह जो अपने आप में लक्ष्य होती है जैसे पासपोर्ट का बनवाना, लाइसेंस लेना; दूसरी वह जो लक्ष्य सिद्धि का माध्यम होती है। उदाहरण के लिए पेट्रोल पम्प के लाइसेंस के लिए एक व्यक्ति सरकारी अधिकारियों को रिश्वत देता है, पर वह रिश्वत का पैसा उसे पीड़ा नहीं पहुँचाता, वरन रिश्वतदाता के लिए वह उसके व्यापार की लागत का एक अंश होता है। यह लागत पेट्रोल पम्प लग जाने पर ब्याज स्वरूप लागत से कहीं अधिक लाभ पहुँचाती है। यह बीच का पैसा दलाली को भी बढ़ावा देता है और इस प्रकार रिश्वत की प्रक्रिया में मध्यस्थों की क्रतार सी बन जाती है। अंग्रेज़ी राज्य में सरकार स्वयं अपने अधिकारियों को ठेकेदारों से रिश्वत लेने के लिए प्रेरित करती थी और यह पैसा नीचे के कर्मचारी वसूल कर ऊपर तक के अधिकारियों तक बँटवारे के किसी फ़ार्मुले के तहत पहुँचाते थे। इस प्रकार औपचारिक तंत्र के साथ-साथ रिश्वत का अनौपचारिक तंत्र भी चला करता था। वही परिपाटी आज भी क्रायम है। विकास के लिए ज़िलों और ब्लॉकों तक पहुँचा हुआ पैसा एक निश्चित प्रतिशत में सरकारी अधिकारियों के पास वापस लौटता है और चपरासियों और खण्ड विकास अधिकारियों से लेकर सीधे मंत्री तक उसका आनुपातिक बँटवारा होता है। राजीव गाँधी ने जब यह कहा कि विकास के लिए आबंटित एक रुपये का दस से बारह प्रतिशत ही विकास पर खर्च होता है उसके पीछे उनका यही आशय था।

जब हम सरकारी पैसे और रिश्वत की बात कर रहे हैं तो हमें भ्रष्टाचार के वर्गीकरण पर भी ध्यान देना चाहिए। जैसा हम कह ही चुके हैं कि भ्रष्टाचार एक सार्वभौम विपथगमन है जो समाज के हित में नहीं हो सकता। अनिष्टकारी (जिसे अ-प्रकार्यात्मक भी कहा जाता है) परिणाम वाले कृत्य ही भ्रष्टाचार की श्रेणी में आते हैं और ये समाज के हर पहलू और दायरे में पाये जाते हैं। भ्रष्टाचार

व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह द्वारा किया जाता है। नैतिक दृष्टि से भ्रष्टाचार व्यक्ति के आचरण से संबंधित होता है जिसे अनाचार या दुराचार या पाप की संज्ञा भी दी जाती है। आज जिस भ्रष्टाचार का जिक्र किया जा रहा है वह सरकार और प्रशासन से जुड़ा भ्रष्टाचार है। इसके दो पक्ष हैं : कुशासन और सार्वजनिक सम्पत्ति और धन-राशि का निजी हितों के लिए दोहन एवं शोषण। कुशासन से आम व्यक्ति को पीड़ा पहुँचती है। कार्य-कुशलता का अभाव इसका एक लक्षण है : निर्णय में विलम्ब, जन-सुविधाओं की देख-रेख और प्रबंधन में ढील, सरकारी कर्मचारियों द्वारा प्रत्येक कार्य के लिए ली जाने वाली जबरन रिश्वत इसके उदाहरण हैं। जब आम आदमी किसी सरकारी कामकाज में उलझता है तभी उसे इसका आभास होता है। तब लोग उसे यह दिलासा दिलाते हैं कि यही वास्तविकता है उसे स्वीकारो। इसीलिए असुविधाओं से पीड़ित होते हुए भी वह कुछ कर नहीं पाता। वस्तुस्थिति से समझौता कर लेता है और डब्ल्यूएसजी का आश्रय लेता है। लोगों के मन में पनप रहा असंतोष और आक्रोश तब तक दबा रहता है जब तक कि कोई जयप्रकाश नारायण या अन्ना हजारे जैसा व्यक्ति उसे सामूहिक आक्रोश में बदल कर आंदोलन का आह्वान नहीं करता।

सार्वजनिक सम्पत्ति का दोहन ऊँचे स्तरों पर होता है और उसकी दर्शनीयता पर कई प्रकार के आवरण पड़े होते हैं। आवरणों का उद्घाटन इतना सहज नहीं होता, पर जब होता है तो आँखें फटी रह जाती हैं जन-आक्रोश में ऐसे रहस्योद्घाटन आहुति की भूमिका निभाते हैं। भ्रष्टाचार की चरम सीमा के रूप में प्रभावित करने वाले ऐसे कृत्य ही आंदोलन की प्रक्रिया को आगे बढ़ाते हैं।

देखें : अर्थव्यवस्था का समाजशास्त्र, अभिजन, अभिरुचि, आत्महत्या, उन्मूलनवाद, एजेंसी, कर्मकाण्ड, कारागार, गोपनीयता, गृहविहीनता, जादू, जीवन-शैली, टेलरवाद, परम्परा, परस्पर विपरीत द्विभाजन, प्रति- (संस्कृति, विमर्श, इतिहास, वर्चस्व, स्मृति), प्राइवेटिजी, प्रौद्योगिकी, फुरसत, बचपन, बहुपत्नी प्रथा, बहुपति प्रथा, बुद्धिसंगत चयन का सिद्धांत, बुजुर्गियत का समाजशास्त्र, बेगानगी, भीड़, मानव-प्रकृति, मानवशास्त्र और मार्क्सवाद, मानवशास्त्र और संस्कृति की राजनीति, समाज-विज्ञान, समाज-कार्य, समाजीकरण, समुदायवाद, सामाजिक आंदोलन, सामाजिक बहिर्वेशन, सामाजिक पूँजी, सामाजिक स्तरीकरण, सामाजिक एकजुटता, सामाजिक चयन का सिद्धांत, सांस्कृतिक मानवशास्त्र, सांस्कृतिक सापेक्षतावाद, सांस्कृतिक पूँजी, सेवानिवृत्ति, वाचिकता, विचलन, ज्ञान का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. सूजन रोज एकरमैन (1999), *करप्शन ऐंड गवर्नमेंट : कॉर्जेज, कांसिक्वेसेज ऐंड रिफॉर्म*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
2. फ़िलिप एल्स्टन और मैरी रॉबिंसन (सम्पा.) (2005), *ह्यूमैन राइट ऐंड डिवेलपमेंट टुवर्ड्स म्युचुअल रिइनफोर्समेंट*, ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफर्ड.

3. हामिद दावूदी (2000), *करप्शन ऐंड द प्रोविजन ऑफ हेल्थ केयर ऐंड एजुकेशन सर्विसेज*, आईएमएफ वर्किंग पेपर नं. 00/116. डब्ल्यूडब्ल्यूडब्ल्यू. आईएमएफ. ओआरजी/ एक्सटर्नल/ पी यूबीएस/ डब्ल्यूपी/2000/ डब्ल्यूपीओओ116. पीडीएफ.

— योगेश अटल

भ्रष्टाचार का समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य-2

(Corruption: Sociological Perspective-2)

भ्रष्टाचार के उदय के कई माध्यम हैं। जब हम इसे विपथगमन मानते हैं तो उसका अभिप्राय है कि समाज द्वारा प्रस्तावित और निर्देशित पथ से भटकाव। समाजशास्त्री रॉबर्ट मर्टन ने इसे उस पथ के साथ अनुकूलन की प्रक्रिया का अंग बताया है। प्रत्येक समाज के अपने सांस्कृतिक लक्ष्य होते हैं और साथ ही उन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए अपनाये जाने वाले उचित माध्यम भी। जब उचित माध्यमों से लक्ष्यों की प्राप्ति होती है तो उसे अनुरूपता या संगति कहा जा सकता है। बाकी सभी प्रयास असंगति के द्योतक हैं। भ्रष्टाचार मुख्यतः नवाचार और कर्मकाण्ड के बीच कहीं घटित होता है। जब लक्ष्यों को मान्यता देते हुए भी उन्हें प्राप्ति के निदेशित तरीकों से भिन्न मार्ग अपनाया जाता है तो वह विपथगामी व्यवहार ही होता है। एक कुशल प्रशासनिक अधिकारी जब यह पाता है कि प्रचलित नियम और कानून लक्ष्य-प्राप्ति में बाधा डाल रहे हैं तो वह जान-बूझ कर उन नियमों की अवहेलना करता है और नये ढंग से कुशलता-पूर्वक लक्ष्य-सिद्धि का मार्ग अपनाता है। यदि वह लक्ष्य सिद्धि सामाजिक दृष्टि से हितकारी है तो उसका यह प्रयास एक नवाचार माना जाएगा; और यदि इससे लक्ष्यों को, या समाज को क्षति पहुँचती है तो उसकी निंदा की जाएगी। इस दृष्टि से नवाचार एक प्रकार का प्रवेशार्थी है। पर जब ऐसा नवाचार व्यक्तिगत लाभ के लिए किया जाए, या सार्वजनिक हित की पूर्ति कम व्यय में करते हुए लाभ-राशि को अपने हित के लिए चुरा लिया जाए तो फिर ऐसा कृत्य भ्रष्टाचार की श्रेणी में आता है। स्थिति कौटिल्य की उसी मछली की भाँति है जो पानी में है और उसे पीती भी है। अब कितना पानी स्वयं के लिए पीना उचित है और कितना अनुचित यह विवाद का विषय ही है। बड़े-बड़े घोटाले जो आजकल उजागर हो रहे हैं उनका उद्गम यहीं से होता है।

कर्मकाण्ड से अभिप्राय हमारा नियमबद्धता से है। जब

अधिकारीगण नियमपूजक हो जाते हैं, और उस दौर में इन लक्ष्यों को भूल जाते हैं जिनकी प्राप्ति हेतु माध्यम रूप में उन नियमों को ढाला गया था, तो वह स्थिति अंधानुकरण की हो जाती है। कई बार जानबूझ कर नियमों की आड़ लेकर बाधाएँ भी खड़ी की जाती हैं। नियमों के लचीलेपन को ताक में रख दिया जाता है। आम आदमी जब सरकार से जुड़े अपने निजी हितों के लिए दफ्तरों का चक्कर लगाता है तो इन्हीं नियमों की आड़ में उसे प्रताड़ित होना पड़ता है। अपना काम निकलवाने के लिए उसे रिश्वत का मक्खन चटाना पड़ता है। इस सबसे एक ओर तो आम व्यक्ति को कष्ट झेलने पड़ते हैं, और रिश्वत न देने पर उसका काम भी अटका पड़ा रहता है, पर साथ ही कार्यालय की कार्यकुशलता पर भी असर पड़ता है। जो नियम कुशलता और प्रभावात्मकता बढ़ाने के लिए बनाये जाते हैं, उन्हीं का अंधानुकरण विपरीत परिणाम देने लगता है।

भ्रष्टाचार से मुक्ति पाने के लिए जब भी सरकार क्रदम उठाती है तो उसमें अधिकांश ऐसे होते हैं जो प्रचलित नियमों और कार्य-पद्धतियों से संबंधित नहीं होते। भ्रष्टाचारी को दण्ड देना या घोटालों की जाँच करना एक बात है और भ्रष्टाचार को प्रश्रय देने वाले जो ढाँचागत कारक हैं, उनकी जाँच करना और उनमें आवश्यक सुधार लाना दूसरी बात है। इस पक्ष पर ध्यान नहीं जाता। जाँच की विधि और जाँचकर्ता वही होते हैं जिनके होते हुए भ्रष्ट आचरण प्रश्रय पाता है। यही बड़ी विडम्बना है। सामाजिक शोधकर्ताओं को भ्रष्टाचार से जुड़े अनुसंधान में इस बात का ध्यान रखना होगा और ऐसी तकनीकें निकालनी होंगी जो इन पक्षों को भी देख-परख सकें।

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कि लक्ष्यों और लक्ष्य-पूर्ति के माध्यमों के बीच पनपने वाले असंतुलन से भ्रष्टाचार का उदय होता है। कुछ विद्वान यह भी मानते हैं कि भ्रष्टाचार का संबंध समाज की संस्कृति से जुड़ा हुआ है। उनके तर्क का आधार यह तथ्य है कि संसार के विभिन्न देशों को भ्रष्टाचार की दृष्टि से अलग-अलग श्रेणियों में वर्गीकृत किया जाता है और इस दृष्टि से कुछ समाज भ्रष्टाचार-मुक्त और कुछ समाज भ्रष्टाचार-लिप्त के रूप में सामने आते हैं— इन दो परस्पर विरोधी ध्रुवों के बीच ही अधिकांश समाजों को रखा जाता है। तर्क यह दिया जाता है कि कुछ समाजों में भ्रष्टाचार की परम्पराएँ रही हैं या उपनिवेशवादी सरकारों ने भ्रष्टाचार को फैलाया है, इसलिए परम्परावादी और विदेशियों के दास रहे समाजों में भ्रष्टाचार का आधिक्य है और उससे मुक्ति प्राप्त करने का माध्यम उनका आधुनिकीकरण ही हो सकता है। इसके विपरीत यह तर्क भी दिया जाता है कि आधुनिक समाज भी भ्रष्टाचार से सर्वथा मुक्त नहीं हैं। प्रौद्योगिकी के विकास से आज ऐसे बड़े और भारी घोटाले सम्भव हैं जिनकी पहले कल्पना भी नहीं की जा सकती थी

और ये सब पढ़े-लिखे लोग करते हैं।

भ्रष्टाचार के पनपने के अन्य जो कारण गिनाये जाते हैं वे इस प्रकार हैं :

1. प्रणाली में भ्रष्टाचार को पकड़ न पाने और भ्रष्ट व्यवहार के लिए दण्ड देने की असमर्थता।
2. भ्रष्टाचार पीड़ित द्वारा अपनी व्यथा का अप्रसार अर्थात् डब्ल्यूएसजी की प्रवृत्ति।
3. छोटे-मोटे घोटालों की प्रणाली द्वारा अनदेखी।
4. नियमों और कार्यप्रणाली के भिन्न-भिन्न अर्थ लगाना अर्थात् उनके अभिप्रेत के विषय में मतभेद।
5. नियमों की लीपा-पोती जो ऊपर से लगे कि नियम का पालन किया गया है पर उसकी आड़ में नियमों का उल्लंघन।
6. नियमों के लचीलेपन को नज़रअंदाज़ कर उनकी कठोरता से पालन करने की चेष्टा।
7. पदाधिकारियों के अपने व्यवहार से होने वाला भ्रष्टाचार का पोषण।
8. कार्यालय में पदाधिकारियों की कमी, गोपनीयता के नियम और प्रणाली के दोष के कारण भ्रष्टाचार को मिलने वाला बढ़ावा।
9. भ्रष्टाचार को बढ़ावा देने में निजी क्षेत्र की बड़ी कम्पनियों का भी हाथ रहता है जो घूस के रूप में अफसरों और मंत्रियों को भारी राशि देती हैं ताकि उसके एवज में उनसे अपना काम निकलवाया जा सके। उनके लिए यह पैसा देना डब्ल्यूएसजी का अंग नहीं है, वरन् यह उनकी लागत का एक भाग है जो अंततः क्रेताओं से वसूल किया जाता है।

मलेशिया के समाजशास्त्री सैयद हुसैन अलातास ने भ्रष्टाचार के निम्नलिखित लक्षणों का उल्लेख किया है :

1. भ्रष्टाचार में एक से अधिक व्यक्ति सम्मिलित होते हैं। अकेले व्यक्ति द्वारा किया हुआ व्यवहार धोखाधड़ी की श्रेणी में आता है।
2. साधारणतः भ्रष्टाचार गोपनीयता की आड़ में किया जाता है। अर्थात् यह छिप कर किया जाने वाला ऐसा अपराध है जो साधारणतः लोगों की नज़रों में नहीं आता।
3. भ्रष्टाचार में पारस्परिक लाभ का आदान-प्रदान होता है।
4. भ्रष्ट व्यवहार की पद्धति अपनाने वाले लोग उसके न्यायसंगत होने के दावे पेश करते हैं।
5. भ्रष्टाचार का कोई भी कृत्य विश्वसनीयता पर एक आक्षेप होता है।
6. इसी प्रकार इस कृत्य के दो पक्ष होते हैं : सौंपे गये कार्य का सम्पादन और व्यक्तिगत स्वार्थ की आपूर्ति।

लाइसेंस को ही लीजिए— लाइसेंस देना सरकारी अधिकारी का कर्म है, पर उसके लिए रिश्वत लेना स्वार्थपूर्ति;

इसी प्रकार लाइसेंस की अर्जी देना नागरिक का अधिकार है पर उसको पाने के लिए रिश्वत देना ग़ैर-क्रानूनी। इस दृष्टि से लाइसेंस पाना न्यायसंगत है, पर उसे पाने के लिए पदों के पीछे की सारी कार्रवाई अनैतिक और भ्रष्टाचारी है। एक भ्रष्ट व्यवहार अपने कर्तव्य और दायित्व के नियमों का उल्लंघन है और इसलिए वह नागरिकता सम्मत व्यवहार नहीं है।

भ्रष्टाचार के राजकीय कार्यों में कई स्वरूप देखने को मिलते हैं। जैसे : परिचितों को लाभ पहुँचाना या क्रोनीइज़्म, भाई-भतीजावाद या नेपोटिज़्म, संरक्षण या पेट्रोनेज, भीतर ही भीतर लेन-देन या इनसाइडर ट्रेडिंग, सुविधा शुल्क या स्पीड मनी, गबन या घोटाला और सार्वजनिक सम्पदा का दुरुपयोग।

मानवाधिकारों की सूची में ऐसा कोई भी अधिकार नहीं है जो स्पष्टतः भ्रष्टाचार के विरुद्ध हो। किन्तु भ्रष्टाचार के कारण जब व्यक्ति का कोई मानवाधिकार छिनता है तो फिर उस दृष्टि से ऐसे विशिष्ट भ्रष्टाचार को रोकना आवश्यक हो जाता है। यदि न्यायपालिकाओं में भ्रष्टाचार फैलने लगता है तो फिर उससे न्याय मिलने के अधिकार पर असर पड़ सकता है। यदि सरकारी अस्पतालों में डॉक्टर और अन्य कर्मचारी धनी व्यक्तियों से पैसा लेकर उनके उपचार को प्राथमिकता देते हैं तो ग़रीब व्यक्ति को उपेक्षा भोगनी पड़ती है। यदि सार्वजनिक वितरण प्रणाली द्वारा ग़रीबों को वितरित किया जाने वाला अनाज ज़्यादा पैसे लेकर समृद्ध वर्ग में बेच दिया जाता है तो दरिद्र वर्ग के मानव अधिकार पर चोट पहुँचती है। यही बात शिक्षा के क्षेत्र में भी लागू होती है।

भ्रष्ट समाज में, अर्थात् ऐसे समाजों में जहाँ सरकारी कामकाज में भ्रष्टाचार चरम सीमा पर पहुँच चुका है, सरकार लोगों के मानवाधिकारों की रक्षा करने में अपने को असमर्थ पाने लगती है। यह सही है कि भ्रष्टाचार की निरंतर वृद्धि से अंततः मानव-अधिकारों पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। किन्तु यह कहना ग़लत होगा कि भ्रष्टाचार का प्रत्येक कृत्य मानव अधिकार का उल्लंघन है। इसलिए हमें भ्रष्टाचार व उनके कृत्यों को चिह्नित करना होगा जिनके कारण मानव-अधिकारों का सीधा उल्लंघन होता है। साथ ही उन कृत्यों को अलग श्रेणी में रखना होगा जिनके कारण मानव अधिकार अंततः प्रभावित हो सकते हैं। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर समस्त सदस्य राष्ट्रों से अपेक्षा की जाती है कि वे मानवाधिकारों से सम्बद्ध अपने दायित्वों का निर्वाह करें। सरकारों के इस संदर्भ में तीन दायित्व हैं— (1) मानव अधिकारों के सम्मान का दायित्व, (2) मानव अधिकारों की रक्षा का दायित्व, और (3) मानव अधिकारों को पूरा करने का दायित्व। जिस किसी भ्रष्टाचारी कृत्य से मानव

अधिकारों की हत्या होती है, या उनका अनादर होता है उन पर रोक लगाना किसी भी सरकार का दायित्व बनता है। साथ ही उसका यह भी दायित्व है कि यदि मानव अधिकारों की रक्षा के लिए नये विधि-विधान की आवश्यकता हो तो उन्हें वह पारित करे और उनके पालन की उचित व्यवस्था करे।

देखें : अर्थव्यवस्था का समाजशास्त्र, अभिजन, अभिरुचि, आत्महत्या, उन्मूलनवाद, एजेंसी, कर्मकाण्ड, कारागार, गोपनीयता, गृहविहीनता, जादू, जीवन-शैली, टेलरवाद, परम्परा, परस्पर विपरीत द्विभाजन, प्रति- (संस्कृति, विमर्श, इतिहास, वर्चस्व, स्मृति), प्राइवेटि, प्रौद्योगिकी, फुरसत, बचपन, बहुपत्नी प्रथा, बहुपति प्रथा, बुद्धिसंगत चयन का सिद्धांत, बुजुर्गियत का समाजशास्त्र, बेगानगी, भीड़, मानव-प्रकृति, मानवशास्त्र और मार्क्सवाद, मानवशास्त्र और संस्कृति की राजनीति, समाज-विज्ञान, समाज-कार्य, समाजीकरण, समुदायवाद, सामाजिक आंदोलन, सामाजिक बहिर्वेशन, सामाजिक पूँजी, सामाजिक स्तरीकरण, सामाजिक एकजुटता, सामाजिक चयन का सिद्धांत, सांस्कृतिक मानवशास्त्र, सांस्कृतिक सापेक्षतावाद, सांस्कृतिक पूँजी, सेवानिवृत्ति, वाचिकता, विचलन, ज्ञान का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. सैयद हुसैन अलातास (1968), *द सोसियोलॉजी ऑफ़ करप्शन*, मूर प्रेस लि., सिंगापुर.
2. जाक हैलेक और मुरील पाँइज़ोन (2007), *करप्ट स्कूल्स, करप्ट युनिवर्सिटीज़ : व्हाट कैन बी डन ?*, यूनेस्को इंटरनेशनल इंस्टीट्यूट फ़ॉर एजुकेशन, पेरिस.
3. ए.जे. हीदनहीमर वगैरह (सम्पा.) (2002), *पॉलिटिकल करप्शन: कम्पेय्ट्स ऐंड टेक्स्ट्स*, ट्रांज़ेक्शन पब्लिशर्स, न्यू ब्रंसविक.
4. इंटरनेशनल कौंसिल ऑन ह्यूमैन राइट्स पॉलिसी (2009), *करप्शन ऐंड ह्यूमैन राइट्स : मेकिंग द कनेक्शन*, आईसीएचआरपी, जिनेवा.
5. माइकल जांस्टन (2005), *सिंड्रॉम्स ऑफ़ करप्शन : वेल्थ, पाँवर ऐंड डेमाँक्रेसी*, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज.
6. रॉबर्ट मॉर्टन (1957), *सोशल थियरी एज़ सोशल स्ट्रक्चर*, फ्री प्रेस, ग्लेंको.

— योगेश अटल

भ्रांत चेतना

(False Consciousness)

मार्क्सवादी विचारधारा के अंतर्गत भ्रांत चेतना को ऐसी अवस्था माना जाता है जिसमें सर्वहारा वर्ग को स्वयं यह ज्ञात नहीं होता कि उसके हित वास्तव में किस राजनीतिक दल-समूह, विचारधारा से जुड़े हुए हैं और इतिहास में उसकी वास्तविक भूमिका क्या है। वे ऐसी विचारधारा के प्रभाव में रहते हैं जो उनके हितों के विरुद्ध होती है। भ्रांत चेतना पैदा करके शासक वर्ग सर्वहारा के उत्पीड़न और शोषण की स्थितियाँ बनाये रखता है और सर्वहारा स्वयं उस शोषण को सही मानने लगता है। मार्क्स ने अपनी प्रसिद्ध कृति *कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो* में लिखा है कि किसी भी दौर के शासक वर्ग के विचार ही शासक-विचार होते हैं। यानी सत्तारूढ़ वर्ग के विचार ही सर्वाधिक प्रभावशाली विचार बन जाते हैं। इस सामाजिक चेतना तथा प्रभावशाली विचारों का संबंध भी भ्रांत चेतना से है क्योंकि सर्वहारा निजी चेतना के विकास के स्थान पर शासक वर्ग द्वारा विकसित चेतना को अपना लेता है। मार्क्स के अनुसार यह थोपी हुई अर्थात् झूठी चेतना होती है। कालांतर में सर्वहारा यह समझने लगता है कि सत्तारूढ़ वर्ग ने वास्तविकता के प्रति जो चेतना पैदा की है, वह उनके वर्ग हितों के अनुरूप नहीं है और फिर भ्रांत चेतना के स्थान पर वास्तविक वर्ग-चेतना पैदा हो जाती है।

इस अवधारणा का विश्लेषण वर्ग-चेतना और विचारधारा की व्याख्या के अंतर्गत भी किया जाता है। वर्ग-चेतना वह दशा है जिसमें सर्वहारा स्वयं को विशेष वर्ग का सदस्य मानता है। मार्क्स ने इस वर्ग-चेतना को क्लास इन इटसेल्फ़ और क्लास फ़ार इटसेल्फ़ की श्रेणियों में विभक्त किया है। इसमें पहली श्रेणी वह दशा है जिसमें कोई सामाजिक समूह एक साझी आर्थिक स्थिति का अंग होता है और वह उस स्थिति को स्वीकार करके चलता है। स्थिति को स्वीकार करने और प्रतिरोध न करने की अवस्था के निर्माण में भ्रांत चेतना का सबसे बड़ा योगदान होता है, जबकि क्लास फ़ार इटसेल्फ़ वर्ग चेतना की वह दशा है जिसमें सर्वहारा किसी भी प्रकार की भ्रांत चेतना व विचारधारा से मुक्त होकर वास्तविक वर्ग-चेतना का विकास करता है और वह अपने ऐतिहासिक शोषण के बारे में सजग हो जाता है। मार्क्स के मुताबिक यह परिवर्तन खास भौतिक परिस्थितियों के अधीन होता है जिसमें पूँजीवाद प्रधान होता है और पूँजीवाद के कारण ही उत्पादन पद्धति सामूहिक हो जाती है और इस सामूहिकता के कारण व्यक्तिवाद का विचार सर्वहारा की दृष्टि में महत्वपूर्ण नहीं रह जाता है।

मार्क्स के ग्रंथों में भ्रांत चेतना शब्द का व्यवहार नहीं मिलता। दरअसल, मार्क्स के ही अभिन्न सहयोगी एंगेल्स ने सर्वप्रथम इसका प्रयोग किया था। पर मार्क्स द्वारा प्रयुक्त विचारधारा तथा पण्य-पूजा शब्दों के अर्थ इसी के निकट माने जाते हैं। मार्क्स ने मूलतः वर्ग की एक वस्तुगत धारणा प्रस्तुत की जो कि समाज के आर्थिक संबंधों पर टिकी व्यवस्था के वस्तुगत विवेचन पर आधारित थी। किसी भी व्यक्ति के सामाजिक वर्ग का निर्धारण समाज में मौजूद उत्पादन एवं सम्पत्तिगत संबंधों के आधार पर होता है। पर एक सामाजिक वर्ग का सदस्य होते हुए भी व्यक्ति की बहुत सारी निजी विशेषताएँ तथा निजी धारणाएँ होती हैं जो विचारों, मनोरचना एवं अस्मिताओं के रूपों पर आधारित होती हैं। ये मनोगत धारणाएँ ही किसी व्यक्ति को ऐसा वैचारिक ढाँचा उपलब्ध कराती हैं जिसके अंतर्गत व्यक्ति समाज में अपनी भूमिका को समझता है और अपने जीवन के प्रभावित करने वाली शक्तियों के बारे में राय कायम करता है। पर किसी भी वर्ग-विभाजित समाज में समाज के विशेषाधिकार प्राप्त तथा अधीनस्थ वर्ग के बीच द्वंद्वपूर्ण संबंध मौजूद रहते हैं। मार्क्स के अनुसार समूचा सामाजिक तंत्र इस प्रकार का होता है कि वह सर्वहारा की चेतना में बड़े व्यवस्थित तरीके से वास्तविकता की गलत, विकृत छवियाँ निर्मित करता है। अगर ऐसा नहीं किया जाएगा तो समाज का शोषित वर्ग अपने शोषण के वास्तविक कारणों का जान लेगा तथा दमन व उत्पीड़न की व्यवस्था को उखाड़ फेंकेगा। इसलिए राजनीति, धर्म, व्यापार, अध्यात्म आदि के स्तर पर ऐसी व्यवस्था खड़ी की जाती है जिससे भ्रांत चेतना तथा विचारधारात्मक वर्चस्व को पैदा किया जा सके।

उल्लेखनीय है कि मार्क्स ने विचारधारा का सिद्धांत अपनी पुस्तक *द जर्मन आइडियालॉजी* में प्रस्तुत किया है और विचारधारा को ऐसा माध्यम बताया है जो मनुष्य को अपनी सृष्टि तथा समाज को समझने में सहायता प्रदान करती है। मार्क्स के पूरे दर्शन में विचारधारा को अन्य चीजों से स्वतंत्र नहीं बल्कि उन पर निर्भर बताया गया है। खास तौर पर किसी काल विशेष में भौतिक स्थितियों तथा उत्पान संबंधों पर विचारधारा का स्वरूप निर्भर होता है। इसीलिए मार्क्स ने अपनी इस रचना में पहले से चले आ रहे भाववादी दर्शन सम्प्रदायों का विरोध करते हुए लिखा : 'चेतना मनुष्य के सामाजिक अस्तित्व को निर्धारित नहीं करती बल्कि सामाजिक अस्तित्व ही उसकी चेतना का निर्धारण करता है। उत्पादन के रूप बदलने के साथ नये वर्ग और स्वामित्व भी पैदा होते हैं।' मार्क्स के ही शब्दों में : 'हथकरघे वाले समाज में सामंत शासक होते हैं जबकि भाप आधारित मिलों के विकास के बाद औद्योगिक पूँजीपतियों के हाथ में सत्ता आ जाती है। वर्गों के इस रूपांतरण में विचारधारा एक वर्ग का

दूसरे वर्ग पर वर्चस्व बनाये रखने में बड़ी भूमिका अदा करती है और उसी से भ्रांत चेतना का भी निर्माण होता है।'

मार्क्स ने पण्य-पूजा की अवधारणा का विकास अपने प्रसिद्ध ग्रंथ *दास कैपिटल* में किया है। इस अवधारणा के माध्यम से उन्होंने उन स्थितियों की व्याख्या की है जो पण्य-उत्पादन में लगे समाज में यथार्थ को धुंधला, अस्पष्ट तथा भ्रमपूर्ण बनाने में योगदान देती हैं। किसी वस्तु के बारे में नजरिये तथा बोध का निर्माण केवल उसके मूल्य से किया जाता है और किन उत्पादन संबंधों के बीच उस वस्तु का उत्पादन हुआ, इसे अनदेखा कर दिया जाता है। जूतों की सिलाई के कारखाने में बने जूते का बाजार में केवल मूल्य देखा जाता है जबकि जूते बनाने वाले मजदूर के श्रम को अनदेखा कर दिया जाता है। मार्क्स के मुताबिक इस तरह का रहस्यीकरण सामाजिक उत्पादन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है और इसी के जरिये बाजार आधारित समाज दमन और शोषण पर आधारित उन मालिक-मजदूर संबंधों पर पर्दा डाल देता है, जिसपर वह स्वयं निर्भर होता है।

भ्रांत चेतना की अवधारणा को मार्क्स द्वारा प्रतिपादित आधार एवं अधिरचना की सैद्धांतिकियों से भी समझा जा सकता है। समाज की भौतिक दशाएँ ही आधार होती हैं और उनमें आने वाले परिवर्तनों से ही सामाजिक संबंधों में भी परिवर्तन आते हैं। जबकि अधिरचना में शैक्षणिक, वैधानिक, राजनीतिक संस्थाएँ, मूल्य, चिंतन के तरीके, धर्म, विचारधाराएँ और दर्शनशास्त्र इत्यादि आते हैं। इन्हीं के माध्यम से भौतिक स्थितियों में मौजूद सामंत-किसान, मजदूर-मालिक आदि शोषणपरक संबंधों की हिफाजत की जाती है और जब समाज के सभी सदस्य अधिरचना में मौजूद इन शोषणप्रद विचारों को स्वीकार कर लेते हैं तो उसे ही भ्रांत चेतना की अधीनता स्वीकारने के रूप में देखा जाता है।

परवर्ती विचारकों जैसे कार्ल मैनहीम, एंतोनियो ग्राम्शी, लुई अलथुसे आदि ने विचारधारा तथा राजनीतिक संस्थाओं का विस्तार से विश्लेषण कर भ्रांत चेतना के बारे में प्रकाश डाला। फ्रेंच दार्शनिक लुई अलथुसे ने इसे श्रम-शक्ति के पुनरुत्पादन के जरूरी उपकरण के रूप में विश्लेषित किया है। अलथुसे के अनुसार श्रम शक्ति का पुनरुत्पादन दो चीजों पर निर्भर करता है। पहला, आवश्यक हुनर का पुनरुत्पादन और दूसरा, शासक वर्गीय विचारधारा व श्रमिकों के खास समाजीकरण का उत्पादन जिससे तकनीकी रूप से दक्ष एवं आज्ञाकारी-पराधीन श्रमशक्ति का निर्माण होता है। अलथुसे ने यह भी कहा कि कोई भी वर्ग महज शक्ति-प्रयोग से अपना वर्चस्व नहीं क्रायम रख पाता बल्कि वर्गीय शासन के लिए भी विचारधारात्मक नियंत्रण करना होता है। अलथुसे के अनुसार शासकवर्गीय विचारधारा का पुनरुत्पादन खास तरीके

से होता है जिसे उन्होंने आइडियॉलॉजिकल स्टेट अप्रेटस का नाम दिया जिसमें जनसंचार माध्यम, कानून, धर्म, शिक्षा आदि सभी सम्मिलित हैं। आइडियॉलॉजिकल स्टेट अप्रेटस ही शिक्षा आदि के जरिये शासकवर्गीय विचारधारा का प्रसार कर अधीनस्थ वर्गों में भ्रांत चेतना पैदा करता है और उन्हें अधीनता की अवस्था में रखता है। इटली के वामपंथी विचारक ग्राम्शी ने भ्रांत चेतना तथा वर्ग चेतना को विचारधारा तथा प्रभुत्व के संदर्भ में विशेष तौर पर व्याख्यायित किया और कहा कि सर्वहारा अपने सांस्कृतिक-सामाजिक प्रतीकों का प्रयोग कर वर्चस्ववादी विचारधारा का प्रतिरोध कर सकता है और इस प्रकार इतिहास में शक्तिशाली वर्ग की विचारधारा की निष्क्रियतापूर्ण तरीके से अधीनता स्वीकार करने से इनकार कर सकता है।

देखें : अर्नेस्टो चे ग्वेवारा, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, आंगिक और पारम्परिक बुद्धिजीवी, एंतोनियो ग्राम्शी, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-1, 2, 3 और 4, क्रांति, क्रांति : मार्क्सवादी विमर्श, क्यूबा की क्रांति, ग्योर्गी लूकाच, नयी सदी में मार्क्सवादी विमर्श-1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8 और 9, निष्क्रिय क्रांति, फ्रेड्रिख एंगेल्स, भारत में किसान संघर्ष-2 और 4, कम्युनिस्ट पार्टियाँ-1, 2 और 3, फ्रांस्वा-चाल्स मारी फूरिये, फ्रेंज़ फ़ानो, बेगानगी, बोल्शेविक क्रांति, भारतीय इतिहास लेखन-4 और 5, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, मानवेंद्र नाथ राय, माओ त्से-तुंग, माओवाद और माओ विचार, मार्क्सवाद-1, 2, 3, 4 और 5, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन, मार्क्सवादी समाजशास्त्र, मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, लेनिनवाद, लियोन ट्रॉट्स्की, लियो अलथुसे, लिबेरेशन थियोलॉजी, वर्चस्व, वर्ग और वर्ग-संघर्ष, व्लादिमिर इलिच लेनिन, समाजवादी वसंत-1, 2, 3, और 4, सांस्कृतिक क्रांति, स्तालिन और स्तालिनवाद, सोवियत समाजवाद-1, 2 और 3, सोवियत सिनेमा, हिंसा-1 और 2.

संदर्भ

1. कार्ल मार्क्स (1971), *द पावर्टी ऑफ़ फ़िलॉसफ़ी*, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मास्को.
2. कार्ल मार्क्स (1977), *कैपिटल, खण्ड-1*, विंटेज, न्यूयार्क.
3. कार्ल मार्क्स और फ्रेड्रिख एंगेल्स (1970), *द जर्मन आइडियॉलॉजी*, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मास्को.
4. एंतोनियो ग्राम्शी (1971), *सेलेक्शंस फ्रॉम द प्रिज़न नोटबुक ऑफ़ एंतोनियो ग्राम्शी*, इंटरनेशनल, न्यूयार्क.
5. लुई अलथुसे (1971), *लेनिन ऐंड फ़िलॉसफ़ी ऐंड अदर एसेज़*, न्यू लेफ़्ट बुक्स, लंदन.
6. लुई अलथुसे (1971), *आइडियॉलॉजी ऐंड आइडियॉलॉजिकल स्टेट अप्रेटस*, न्यू लेफ़्ट बुक्स, लंदन.
7. कार्ल मैनहीम (1959) *आइडियॉलॉजी ऐंड यूटोपिया : ऐन इंट्रोडक्शन टू द सोसियॉलॉजी ऑफ़ नालेज*, ए हारवैस्ट बुक, एचबी 3, न्यूयार्क.

— वैभव सिंह